हिन्दी समिति ग्रन्थमाला सं० : २३८

कन्नौज का इतिहास

तथा

महाराज जयचन्द्र की सत्य कहानी

लेखक
आनन्द स्वरूप मिश्र
अवकाश प्राप्त उप सचिव, उत्तर प्रदेश शासन

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन,
महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला सं० : २६८

कन्नौज का इतिहास

तथा

महाराज जयचन्द्र की सत्य कहानी

लेखक
आनन्द स्वरूप मिश्र
अवकाश प्राप्त उप सचिव, उत्तर प्रदेश शासन



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन,
महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक
विनोद चन्द्र पाण्डेय
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

प्रथम संस्करण : १९९०
द्वितीय संस्करण : १९९२
प्रतियाँ : २१००
मूल्य १७५.०० रुपये
मुद्रक : गोपाल आफसेट प्रिन्टर्स
लखनऊ-६

प्रकाशकीय

श्री आनन्द स्वरूप मिश्र द्वारा लिखित पुस्तक 'कन्नौज का इतिहास' विद्यार्थियों, इतिहास के विशेषज्ञों और शोधार्थियों के लिए एक उपयोगी प्रकाशन है यह ग्रन्थ कन्नौज के उज्ज्वल इतिहास, उसके उत्थान तथा पतन की रोमांचकारी तथा तथ्यपूर्ण गाथा है। इसका प्रथम संस्करण १९९० में प्रकाशित हुआ था। कुछ समय के अनन्तर ही द्वितीय संस्करण का प्रकाशन इसकी लोकप्रियता एवं उपादेयता को सिद्ध करता है। मुझे विश्वास है कि इस संस्करण का भी उसी प्रकार स्वागत होगा, जिस प्रकार प्रथम संस्करण का स्वागत हुआ है।

२ जून, १९९२

विनोद चन्द्र पाण्डेय
निदेशक

आशुतोष अवस्थी
अध्यक्ष
श्री नारायणेश्वर वेद प्रचार समिति (उ.प्र.)

दो शब्द

'कन्नौज' या 'कान्यकुब्ज' शब्द के साथ ही भारतीय इतिहास के महान् योद्धा, परम धार्मिक, उदार एवं सर्वस्वदानी, स्वयं साहित्य, स्वयं साहित्यस्रष्टा एवं बाण, मयूरादि जैसे महान् साहित्यकारों के सम्पोषक, कला-मर्मज्ञ, कुशल शासक एवं विशाल साम्राज्य के संस्थापक सम्राट् हर्षवर्धन का सहसा स्मरण हो आता है। उन्हीं के शासन काल में कन्नौज को चरमोत्कर्ष प्राप्त हुआ, जिसे भारतीय इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर सकता।

सम्राट् हर्ष से पूर्व भी मौखरिवंश का यह राज्य केन्द्र था और उनके बाद भी यहाँ गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट एवं गाहरवाल वंश के शासकों ने इसे गौरव प्रदान किया। यहाँ की समृद्धि विदेशी आक्रान्ताओं की आँखों की कांटा थी, इसीलिए मोहम्मद गौरी ने महाराज जयचन्द्र पर आक्रमण कर इस महान् शासन-केन्द्र को भूमिसात् ही कर दिया। परस्पर विभक्त भारतीय राजा कभी सम्मिलित होकर इन आक्रमणकारियों का सामना न कर सके, फलतः भारत के प्रायः सभी राज्य क्रमशः पराजित होते गए। 'कन्नौज' की तो, उसके पश्चात्, जैसे राज्यश्री सदा के लिए ही विदा हो गई।

'कन्नौज का इतिहास' कन्नौज के उस वैभवपूर्ण अतीत का, विभिन्न स्रोतों से दोहन कर, गरिमामय चित्र प्रस्तुत करता है। भारतीय इतिहास के आदिकाल से लेकर उसके उत्कर्ष काल तक और उसके बाद भी आज तक 'कन्नौज' का सम्पूर्ण इतिहास इसमें प्रस्तुत किया गया है। पौराणिक स्रोतों से प्राप्त सामग्री भी महत्व की है, विचारणीय है।

'कन्नौज' आज भले ही एक अति सामान्य-सा नगर हो परन्तु प्राचीन काल में राज्य-केन्द्र होने के अतिरिक्त यह देश का महान् सांस्कृतिक केन्द्र भी रहा है। कान्यकुब्ज प्रदेश के आचार, व्यवहार, विद्वत्ता, संस्कृति, की अपनी विशेषताएँ हैं। इसके अवशेषों में आज भी उत्कृष्ट कला विद्यमान है। यहाँ रचित साहित्य विश्व-साहित्य की श्रेणी का है। इसका अवदान अतुलनीय है, अतः इसका इतिहास सभी के लिए पठनीय है।

कन्नौज के इतिहास की एक विशेषता और है। इस भूमि में जितने वीर योद्धा और निर्माता हुए हैं, उतनी ही जहाँ - तहाँ ऐसी छाप मिलती है कि यहाँ के व्यक्तियों ने शत्रुओं को आमंत्रित किया या परस्पर चुगलखोरी की। 'जयचंद' और 'माहिल' इन नामों में ही कुछ ऐसे प्रतीक सिमट गये हैं। लेखक ने स्वयं इन प्रश्नों को सावधानीपूर्वक उठाया है और जहाँ आवश्यकता अनुभव हुई है, साक्ष्य देकर इन प्रवादों का खंडन भी किया है। जहाँ ये तथ्य हैं भी, वे हमें सीख देने के लिए हैं क्योंकि सृष्टि स्वयं भिन्न प्रकृतियों से बनी है और इस प्रकार के लोग कहाँ नहीं होते ?

जो हो, इतिहासकार की कन्नौज और उसके गौरव के प्रति गहरी आत्मीयता है। इसी ने उसे सामग्री-संकलन एवं इतिहास-लेखन के लिए प्रेरित किया है। इस ग्रंथ में अनुसंधाताओं के लिए भारत के एक महान् सांस्कृतिक-राजनीतिक केन्द्र के सम्बन्ध में पर्याप्त तथ्य उपलब्ध होंगे, ऐसा विश्वास है।

इस इतिहास-ग्रंथ की लोकप्रियता इसी बात से सिद्ध है कि केवल कुछ ही दिनों में इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। अब ग्रंथ का द्वितीय संस्करण आपकी सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है।

डॉ॰ शरण बिहारी गोस्वामी

कार्यकारी उपाध्यक्ष

प्रस्तावना

यह जानकर सन्तोष हुआ कि हिन्दी संस्थान निज लिखित पुस्तक 'कन्नौज का इतिहास' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित कर रहा है। प्रबुद्ध पाठकों ने इस पुस्तक में अतिशय रुचि दर्शाकर उसकी उपयोगिता सिद्ध की है। गौरवपूर्ण इतिहास से ही हम वर्तमान् का सही मूल्यांकन कर सकते हैं।

विश्वास है कि विद्वान पाठकों का स्नेह मुझे इसी भांति भविष्य में भी प्राप्त होता रहेगा तथा उनकी सद्भावनाओं से मुझे सदैव प्रोत्साहन मिलता रहेगा

१५ दुर्गापुरी, लखनऊ

१ जून १९९२

आनन्द स्वरूप मिश्र

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

सर्वविदित है कि भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन देश है किन्तु आमतौर पर यह जानकारी नहीं है कि देश के अन्तर्गत पूर्वकालिक कन्नौज राज्य का भूभाग प्राचीनतम क्षेत्र है। पौराणिक कथाओं के अनुसार सृष्टि की रचना ब्रह्मावर्त तीर्थ में प्रारम्भ हुई थी जो कन्नौज से मिले हुए कानपुर जनपद में गंगातट पर स्थित है और जो कन्नौज राज्य का भाग था। यहीं पर ब्रह्मा जी ने अश्वमेघ यज्ञ करके संसार की रचना का श्रीगणेश किया था। अतः भारत के इतिहास में कन्नौज राज्य के इतिहास का विशेष महत्त्व है। इस इतिहास की काल अवधि पौराणिक समय से प्रारम्भ होकर लगभग सन् १२०० तक है जबकि यवन विजेता मोहम्मद गोरी ने पहले महाराज पृथ्वीराज को और बाद में कन्नौज नरेश जयचन्द्र को पराजित करके उत्तर भारत में मुसलमानी सल्तनत की नींव डाली। तभी स्वतंत्र रूप से कन्नौज का राज्य समाप्त हो गया। इस दीर्घकाल का इतिहास रोचक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद है और देश के गौरव का प्रतीक भी।

२. प्रस्तुत पुस्तक को स्वतःपूर्ण करने का प्रयास किया गया है। आदिकाल से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तक की बातों का सविस्तार विवरण यहाँ मिलेगा जैसा कि विषय सूची से ज्ञात होगा। इसी कारण पुस्तक का आकार बड़ा हो गया है, तथापि इसमें एकत्रित सामग्री प्रबुद्ध पाठकों को रुचिकर प्रतीत होगी।

३. कन्नौज के इतिहास में इस राज्य के अन्तिम स्वतन्त्र शासक महाराज जयचन्द्र का नाम सर्वविदित है। दुर्भाग्यवश उनके बारे में आम धारणा यह है कि परमवीर दिल्ली नरेश महाराज पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए उन्होंने सुल्तान मोहम्मद गोरी को आमन्त्रित किया। इस धारणा का कारण कुछ भारतीय लेखकों का अप्रमाणित कथन है जो भ्रमपूर्ण तथा निराधार है। एक पृथक अध्याय में इस आरोप का विवेचन किया गया है और महाराज की निर्दोषिता ससाक्ष्य सिद्ध की गई है। आरोप के खंडन में इतने सबल प्रमाण हैं कि उन पर ध्यान देने से उक्त बहुचर्चित धारणा का लोप हो जाता है और महाराज के चरित्र की उज्ज्वलता सिद्ध हो जाती है।

४. इस पुस्तक का श्रेय श्री पं० चन्द्र मनोहर मिश्र, एडवोकेट (अब स्व...) को है कि जिन्होंने इसकी प्रारम्भिक सामग्री एकत्रित की थी तथा कतिपय प्रारम्भिक अध्यायों की प्रथम पांडुलिपि भी तैयार की थी। इतिहास

में उन्हें विशेष रुचि थी तथा कन्नौज नगर क्षेत्र के निवासी होने की हैसियत से उन्हें कन्नौज के इतिहास तथा उससे सम्बन्धित पौराणिक बातों की प्रगाढ़ जानकारी थी। उनके असामयिक निधन के बाद अधोहस्ताक्षरी पर इस पुस्तक को पूर्ण करने तथा प्रकाशित करवाने की जिम्मेदारी आ पड़ी जिसे निबाहने के लिए उसने अपनी योग्यतानुसार प्रयास किया है। लेखक के रूप में तथा पूज्य पं० चन्द्र मनोहर जी से सम्बन्धित कुटुम्ब का सदस्य होने का जो गौरव मुझे प्राप्त है उसे विनीत भाव से यहाँ प्रदर्शित कर रहा हूँ। पूज्य श्री चन्द्र मनोहर जी मिश्र का निवास स्थान ग्राम सरायँमीरा था जो कन्नौज नगर के पास ही है और जो अब कन्नौज नगर पालिका में सम्मिलित हो गया है। लेखक भी वहीं का मूल निवासी है।

आभार प्रदर्शन

५. श्री पं० शिवकंठ लाल मिश्र, एडवोकेट सरायँमीरा (कन्नौज), के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए मुझे यह कहना है कि उन्हीं के सौजन्य से मुझे वह सब सामग्री प्राप्त हुई जिसे विद्वान वकील पं० चन्द्रमनोहर जी ने बड़े प्रयत्न से एकत्र किया था तथा कतिपय अध्यायों के प्रारूप भी बनाए थे। समय-समय पर पं० शिवकंठ जी से मुझे इस लेखन में प्रोत्साहन भी मिलता रहा। इसी क्रम में श्रीमती चन्द्रमनोहर मिश्र का योगदान भी उल्लेखनीय है कि जिन्होंने उक्त सामग्री श्री शिवकंठ द्वारा सहर्ष उपलब्ध करा दी।

६. डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी, अवकाश प्राप्त टैगोर प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष (प्रा० इति० विभाग), सागर विश्वविद्यालय तथा (रीडर, प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) के विद्वत्तापूर्ण प्राचीन इतिहास ग्रन्थों से सम्प्रति पुस्तक के लिखने में विशेष सहायता मिली है जिसके लिए प्राचीन इतिहास विशेषज्ञ डॉ० अवस्थी अति धन्यवाद के पात्र हैं।

७. पुस्तक के लेखन में स्वर्गीय डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी (भूतपूर्व) प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, इतिहास विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, की विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ कन्नौज (History of Kanauj) में दिए हुए तथ्यों का बहुल उपयोग किया गया है जिसके लिए यहाँ आभार प्रदर्शन किया जा रहा है।

८. इसके अतिरिक्त कुछ विभिन्न मदों पर निम्नांकित महानुभावों से भी सहायता एवं सहयोग प्राप्त होता रहा जिनको भी हार्दिक धन्यवाद देना आवश्यक है :—

- ० श्री काली चरण टण्डन, सामाजिक कार्यकर्ता तथा भूतपूर्व विधायक, उत्तर प्रदेश विधान सभा तथा भूतपूर्व अध्यक्ष, जिला परिषद्, फर्रुखाबाद, जिन्होंने ग्रन्थ पूरा करने में प्रोत्साहन दिया।
- ० श्री पं० त्रिवेणी प्रसाद बाजपेयी, अवकाश प्राप्त प्राचार्य, माधो पोस्ट ग्रैजुयट कालेज, उज्जैन, कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों के निरूपण में योगदान किया।
- ० डॉ० उपेन्द्र नन्दन शुक्ल, प्रवक्ता, रसायन विभाग, श्रीनारायण डिग्री कालेज, लखनऊ, जिन्होंने प्रेस के लिए टंकित प्रतियों को सम्पादित करने में सहायता की।
- ० श्री पं० आदित्य नारायण मिश्र, अवकाश प्राप्त भूमि सर्वेक्षण अधिकारी, कृषि विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, तथा सम्पादक, कान्यकुब्ज विज्ञान, लखनऊ, जिन्होंने कतिपय मदों पर विशेष सामग्री उपलब्ध कराई।

१५, दुर्गापुरी,
लखनऊ।
मई, १९८१

आनन्द स्वरूप मिश्र

प्रशस्ति वाचन

कन्नौज प्रदेश (कान्यकुब्ज देश) की प्रशस्ति में डॉ० एल० डी० बार्नेट ने डॉ० रमा शंकर त्रिपाठी की अंग्रेजी पुस्तक History of Kanauj (कन्नौज का इतिहास) की भूमिका में अपने विचार व्यक्त किए हैं। डॉ० बार्नेट प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रख्यात विद्वान थे और वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्ध में उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय को सुशोभित किया था। अंग्रेजी में उल्लिखित उसी भूमिका के कुछ अंश का भावार्थ निम्नांकित है :—

"कान्यकुब्ज का राज्य अत्यन्त प्राचीन तथा अपने समय में व्यापक प्रसिद्धि का क्षेत्र था। कीर्तिवान हर्षवर्धन के विस्तृत शासनकाल से लेकर शताब्दियों तक उत्तर भारत में उसकी सार्वभौम महत्ता थी। प्रकृति की उस पर असीम अनुकम्पा थी और उसी के फलस्वरूप जब जब उसके सिंहासन पर शक्तिशाली तथा मेधावी शासक अभिषिक्त हुए तब तब अनिवार्य रूप से उसे वांछित सफलता प्राप्त होती रही। गंगा-मैदान के मध्य में अवस्थित होने के कारण सभी दिशाओं के व्यापार पथों पर, विशेषकर पूर्व में बंगाल और पश्चिम में पंजाब की ओर जाने वाले मार्गों पर, उसका परमावश्यक नियंत्रण था। मुख्यतः इसी कारण बंगाल के प्रभावशाली शासक शशांक के समय से लेकर हिन्दू शासन के अन्तिम दिनों तक उत्तर भारत में कन्नौज और बंगाल के बीच भीषण संघर्ष चलता रहा। साथ ही उसका दूसरा कारण स्थानीय शासकों की व्यक्तिगत गतिविधियों एवं महत्त्वाकांक्षाओं से उत्पन्न हुए प्रतिरोध भी थे। इस प्रकार कन्नौज राज्य का इतिहास अपने उत्कर्ष तथा अवनति दोनों ही के प्रसंगों में भारतीयता का घनिष्ट प्रतीक है और साथ ही परम रोचक भी।"

मूल रूप में डॉ० बार्नेट की उक्त भूमिका का उद्धरण निम्न प्रकार है :—

Extract from the foreword by Dr. L. D. Barnett, M. A., LL. D., to Dr. Rama Shankar Tripathi's *History of Kanauj* :

"The realm of Kanyakubja is a land of old and high renown, and from the spacious days of the great Harsha Vardhan onwards for many centuries it held a dominant position in northern India. Nature favoured it, and indeed made its success almost inevitable as soon as strong and wise rulers

ascended its throne. Lying in the centre of the Gangetic Valley, it held vital control over the trade routes on all sides, and especially those reaching eastward into Bengal and westward into the Punjab; and to this fact, no less than to the personal feuds and ambitions of their kings, may be ascribed the fierce antagonism which prevailed between Kanauj and Bengal from the time of Sasanka until almost to the end of Hindu rule in Northern India. Thus, in its splendours and tragedies alike, the history of Kanauj is intensely Indian and profoundly fascinating.—L. D. BARNETT."

इसी अनुक्रम में डॉ० रमा शंकर त्रिपाठी का कथन भी उल्लेखनीय है। अपनी History of Kanauj (कन्नौज का इतिहास) के प्राक्कथन दिनांक १-१-१९३७ में विद्वान ग्रन्थकार ने कन्नौज की प्रशंसा में अनेक बातें लिखी हैं। उनमें से कुछ का भावार्थ नीचे दिया जा रहा है :—

"कन्नौज अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर है। ईसवी सन् प्रारम्भ होने के बहुत पहले ही उसकी स्थापना हो चुकी थी किन्तु उसकी ऐतिहासिक महत्ता ई० बा० छठी शताब्दी में प्रकाश में आई जब कि मौखरियों ने उसे अपनी राजधानी बनाया। मौखरि शासक ईशानवर्मन और सर्ववर्मन के राज्यकाल में मौखरि वंश की सत्ता और राजनैतिक प्रभाव की विशेष वृद्धि हुई जब कि उक्त शासक मगध के गुप्तवंशीय अन्तिम सम्राटों के संघर्ष में आए। इन दोनों शक्तियों के बीच हुए अभियानों में मौखरियों को सफलता मिलती रही तथा अन्य कारणों से भी मगध साम्राज्य की अवनति होती रही। अन्ततः उत्तर भारत की सत्ता एवं राजनीति का केन्द्र मगध से कन्नौज स्थानान्तरित हो गया।"

"तत्पश्चात् सातवीं सदी के प्रारम्भ में मौखरियों के भाग्यचक्र में ऐसा प्रबल फेर हुआ कि जिसके फलस्वरूप थानेश्वर राज्य के नवयुवक उत्तराधिकारी महाराज हर्षवर्धन को कन्नौज राज्य को भी अपने संरक्षण में लेना पड़ा। शनैः शनैः हर्ष ने समस्त उत्तर भारत में अपने प्रभुत्व का सम्प्रसार किया जो दीर्घ काल तक कायम रहा। उनकी मृत्यु पर कन्नौज का भाग्य अंधकारमय हो गया और देश में अराजकता फैल गई। यह स्थिति लगभग आधी शताब्दी तक व्याप्त रही। तदनन्तर महाराज यशोवर्मन इस राज्य के शासक हुए और उनके राज्यकाल में कन्नौज का भाग्योदय हुआ किन्तु यह सुसमय अधिक दिन

नहीं चला क्योंकि बाद में कश्मीर के ललितादित्य द्वारा उन्हें पददलित होना पड़ा।"

"उसके बाद गुर्जर-प्रतिहार वंश का आधिपत्य आया जिसमें कुछ उल्लेखनीय शासक हुए। इस वंश का सर्वोत्तम स्वरूप महाराज भोज प्रथम तथा महेन्द्रपाल प्रथम के राज्यकाल में विकसित हुआ। इनकी सुदीर्घ रणयात्राओं के परिणाम स्वरूप कन्नौज राज्य की सीमाएँ दूरस्थ क्षेत्रों तक विस्तृत हुई। इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति वह त्रपक्षीय संघर्ष था जो प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों के बीच प्रायः निरन्तर चलता रहा। तदनन्तर महमूद गजनवी के दो आक्रमणों के फलस्वरूप कन्नौज के वैभव को बड़ी क्षति पहुँची और उसके सहस्त्रों भव्य मन्दिर और गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ ध्वस्त हो गई।"

"कालान्तर में गाहरवाल वंश के शासन काल में महाराज गोविन्दचन्द्र द्वारा कन्नौज नगर व देश की लुप्त मर्यादा पुनर्स्थापित हुई। उन्होंने मगध पर भी विजय प्राप्त की और इस प्रकार गंगा नदी का दक्षिणी क्षेत्र उनके अधिकार में आ गया जो कन्नौज के वाणिज्य के प्रसार और राजनैतिक समृद्धि के लिए संजीवनी शक्ति था।"

"अन्ततः शहाबुद्दीन गोरी ने सभी समकालीन उत्तर भारतीय हिन्दू राज्यों को पददलित किया और उसी उपक्रम में कन्नौज राज्य भी अपने उच्चासन से अपदस्थ हो गया।"

"संक्षेप में यही है प्राचीन कन्नौज राज्य के राजनैतिक परिवर्तनों एवं वैभव की रोचक कहानी। आज दिन कन्नौज एक नगण्य नगर मात्र है तथापि गुप्त राजवंश के अवसान से लेकर मुस्लिम आक्रमणकारियों की अन्ततीय सफलता के समय तक यह नगर संस्कृति और शिल्प, धर्म और ऐश्वर्य, शक्ति और राजनीति का केन्द्र रहा। साथ ही उस पर अधिकार प्राप्त करना उन सभी शासकों का लक्ष्य था जो उत्तर भारत में सर्वोत्तम गरिमा अर्जित करने के अभिलाषी थे।"

मूल अंग्रेजी में उक्त प्राक्कथन का प्रश्नगत उद्धरण निम्न प्रकार है :—

Extract from the preface dated 1. 1. 1937 to the *History of Kanauj* by Dr. Rama Shankar Tripathi.

"Kanauj is of high antiquity and renown. Founded long before the dawn of the Christian era, it first rose to importance in the sixth century A. D., when it became the capital of the Maukharis. Under Isanvarman and Sarvavarman, this

dynasty rapidly grew in authority and influence, which brought them into conflict with the later Guptas. The struggle between the two powers had far-reaching effects, for it ended in transferring the centre of political gravity from Magadha to Kanauj.

"In the beginning of the seventh century, however, the fortunes of the Maukharis took such a sudden and catastrophic turn that Harsa of Thanesvar had to assume control of the affairs of Kanauj. It is usually asserted that he extended his suzerainty throughout Northern India···· . His death plunged Kanauj into anarchy and darkness that lasted for about half-a-century. When the curta in rises again, a striking figure flits across the political stage. Yasovarman gained some success at the start of his career, but was ultimately reduced to subservience by Lalitaditya of Kashmir.

The next rulers of note were the Pratiharas, whose power reached its zenith during the time of Bhoj I and Mahendrapal I. As a result of their protracted campaigns; the empire of Kanauj grew to enormous dimension···· . The most interesting feature of this epoch is the tripartite struggle that continued intermittently between the Pratihārs, the Pālās and the Rāshtrakūtās. Later on, the prosperity of Kanauj received a rude shock from the ever-victorious arms of Mahmūd, but it partially revived its glories under the Gāhadwāls, who after Govind-Chand's conquest of Magadha once more regained control of the lower course of the Ganges, which was so vital to its trade and political ascendancy, Eventually, Sihābuddin Ghori involved the contemporary Hindu states in one common ruin, and thus Kanauj fell from its high position.

"Such in short is the fascinating story of this ancient realm, full of political vicissitudes and ephemeral grandeur.

To-day, Kanauj is an insignificant town, but from the downfall of the Guptas until the avalanche of the Moslem invasions it was the centre of culture and crafts, religion and riches, power and politics, and was the *ultima thule* of each aspirant to supreme dignity in Northern India.---R. S. TRIPATHI."

संकेत सूची

हिन्दी संकेत

इपि० इण्डिका	—	इपिग्राफिया इण्डिका (Epigraphia Indica]
ई०	—	ईसवी सन् ।
ई० पू०	—	ईसा पूर्व ।
ई० बा०	—	ईसा बाद ।
उ०	—	उच्छ्वास (हर्ष-चरित का उच्छ्वास) ।
त्रिपाठी	—	डा० राम शंकर त्रिपाठी कृत हिस्ट्री आफ कन्नौज (History of Kanauj)
दृष्ट०	—	दृष्टव्य; देखिए ।
प० पु० कु० खं० क० कु० मा०	—	पद्म पुराण, कुमारिका खंड, कन्याकुब्ज माहात्म्य ।
पृ०	—	पृष्ठ ।
पा० टि०	—	पाद टिप्पणी ।
प्रो०	—	प्रोफेसर ।
मं० मू० क०	—	मंजुश्री मूल कल्प ।
ह० च०	—	हर्ष-चरित (बाणभट्ट कृत)
ह० च० उ०	—	हर्ष चरित का उच्छ्वास ।

English Abbreviations

Ann. Rep. Arch. Surv. Ind.	—	Annual Report of the Archeological Survey of India.
Arch. Surv. Ind. Rep.	—	Archeological Survey of India Report. (These are annual reports, the year of the report comes after the abbreviation).
Briggs	—	History of the Rise of Mahomedan Power in India, by John Briggs, being the English translation of *Tarikh-i-Firishta*.

Cir. (Latin *circa, circiter*)	—	**About; लगभग ।**
Elliot and Dowson	—	**History of India as told by its own Historians by Sir H. M. Elliot and John Dowson, in two volumes.**
Ed. Ind.	—	**Epigraphia Indica.**
Ind. Ant. (or Antq.)		**Indian Antiquary.**
J. A. S. B.	—	**Journal of the Asiatic Society of Bengal.**
J. B. B. R. A. S.	—	**Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society.**
J. R. A. S.	—	**Journal of the Royal Asiatic Society.**
Smith	—	**Early History of India by Dr. Vincent A. Smith.**
Watters	—	**On Youn Chwaṇg's Travels-(*Si-Yu-Ki*) by Thomas Watters.**

विषय-सूची

भाग १—विषय प्रवेश

१. अखिल भारतीय तथा कन्नौजीय इतिहास सम्बन्धी प्रारम्भिक बातें १
२. कान्यकुब्ज देश : उसके प्राचीन नाम और विस्तार २०
३. कन्नौज नगर के पूर्व नाम तथा प्रतिष्ठा ३७
४. कन्नौज दर्शन : वर्तमान नगर का वृतान्त ५२
५. कन्नौज राज्य के इतिहास का कालक्रम ७६

भाग २—वैदिक, पौराणिक तथा महाभारत काल

६. मूत्रपात ८९
७. सम्राट बलि : कान्यकुब्ज नगर बलि की राजधानी; बलि और वामन की कथा ९८
८. कुशिक वंश १२०
९. कुशिक वंशीय विश्वामित्र, कान्यकुब्ज देश के शासक, वाहद्र ब्रह्मर्षि १४५
१०. महाभारत काल में कन्नौज १७६

भाग ३—प्राचीन काल अथवा हिन्दू काल

(ई० पू० ६०० से ई० बा० ६००)

११. महाजनपद युग : बुद्धोत्तर तथा मगध साम्राज्य अनुकाल १९१
१२. कन्नौज का मौखरि वंश [हरिवर्मन; आदित्यवर्मन; ईश्वरवर्मन; ईशानवर्मन; सर्ववर्मन; अवन्तिवर्मन; गृहवर्मन; सुचन्द्रवर्मन तथा भोगवर्मन] २०१

भाग ४—मध्यकाल अथवा राजपूत काल
(ई० ६००-१२००)

१३. सम्राट हर्षवर्धन २२९

१४. हर्ष के ७५ साल बाद तक अन्धकारमय समय ३१९

१५. सम्राट यशोवर्मन और उसके उत्तराधिकारी ३२८

१६. आयुधवंश (बज्रायुध; इन्द्रायुध; चक्रायुध) ३४५

१७. गुर्जर-प्रतिहार वंश—(नागभट्ट; रामभद्र; भोज प्रथम; महेन्द्रपाल प्रथम; भोज द्वितीय; विनायकपाल प्रथम; महेन्द्रपाल द्वितीय; देवपाल; विनायकपाल द्वितीय; विजयपाल; राज्यपाल; त्रिलोचनपाल, यशपाल) ३५३

१८. कन्नौज के राष्ट्रकूट तथा अन्य सम्बन्धित शासक ४१३

१९. गाहरवाल वंश—पूर्वार्ध—(चन्द्रदेव; मदनपाल; गोविन्दचन्द्र; विजयचन्द्र; जयचन्द्र; हरिश्चन्द्र) ४२१

२०. गाहरवाल वंश—अनुक्रम—महाराज जयचन्द्र अन्तिम स्वतन्त्र शासक ४७४

२१. गाहरवाल वंश—उत्तरार्ध—हरिश्चन्द्र; जयचन्द्र का उत्तराधिकारी; वंश का अन्त ५११

२२. यह आरोप असत्य कि जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया ५१९

भाग ५—आधुनिक काल तथा भारत महिमा एवं उपसंहार

२३. यवन काल में कन्नौज तथा आस-पास का भूभाग ५५९

२४. ब्रिटिश काल में कन्नौज का क्षेत्र ५६९

२५. स्वतन्त्रता के बाद का कन्नौज ५७७

२६. कन्नौज राज्य के सन्दर्भ में भारत का गौरव तथा मौलिक एकता; उपसंहार ५८१

भाग ६—परिशिष्टियाँ

१. श्री हर्ष मिश्र; कन्नौज के राज-कवि ५९५

२. कन्नौज के अन्य उच्चकवि, ग्रन्थकार तथा विद्वान् ६०७

३. कला, संस्कृति, विद्वत्ता और व्यापार में कन्नौज का स्थान ६१७

४. कान्यकुब्ज देश सम्बन्धी कुछ विभिन्न बातें ६४१

५. कन्नौज का राजपूत काल—राजपूतों की उत्पत्ति तथा प्रशस्ति; उनकी प्रशासनिक व्यवस्था, धार्मिक प्रवृत्ति आदि ६५७

६. कन्नौज के समकालीन राज्यों, राजवंशों आदि का विवरण ६८४
७. कन्नौज से सम्बन्धित प्रशस्तियों, अभिलेखों, ताम्रपत्रों आदि का संदर्भ ६९५
८.. कुछ विशेष शब्दों, स्थानों आदि का परिचय ७१०
९. आधार ग्रन्थ सूची ७१८
१०. चित्र संग्रह ७२७
उत्तर प्रदेश का ऐतिहासिक मान चित्र,
पश्चिमी उत्तर प्रदेश का प्राचीन मान चित्र,
सन् ७५०-११७५ ई० का भारत,
कन्नौज नगर का ऊँचा भाग

(ग) प्राचीन मूर्तियों के चित्र

पृथिवी का उद्धार करते हुए वीर भाव में वराह भगवान की मूर्ति (लगभग ७०० ई०)
चतुर्भुज शिवलिंग (७ वीं सदी)
चतुर्भुज शिवलिंग (दूसरा चित्र)
चतुर्भुज शिवलिंग (तीसरा चित्र)
एक मुख शिवलिंग (८ वीं सदी ई०)
कल्याण सुन्दर मूर्ति—शिव-पार्वती परिणय (८ वीं सदी ई०)
नृत्य करते हुए चतुर्भुज गणेश (पूर्व मध्य काल)
विविध आयुधधारी विष्णु भगवान का विराट रूप (८ वीं सदी)
श्री तथा भूदेवी के साथ खड़े विष्णु भगवान (८ वीं सदी)
चतुर्भुजी विष्णु भगवान
मयूरारूढ़ कार्तिकेय का अभिषेक

अन्य चित्र

सम्राट हर्षवर्धन के हस्ताक्षर

अध्याय–१

अखिल भारतीय तथा कन्नौजीय इतिहास सम्बन्धी प्रारम्भिक बातें

सारपत्रक

१. इतिहास क्यों पढ़ा जाए ?
२. प्राचीन इतिहास की सामग्री की कमी ।
३. कन्नौज, कान्यकुब्ज आदि शब्दों का प्रयोग ।
४. ऐतिहासिक साक्ष्य ।
५. कन्नौज के इतिहास का भारतीय इतिहास से सम्बन्ध ।
६. भारतीय तथा कन्नौजीय इतिहास का काल विभाजन ।
७. भारतीय इतिहास की कुछ विशेष घटनाओं की सूची ।
८. निष्कर्ष ।

१. इतिहास क्यों पढ़ा जाए ?

कुछ लोगों का विचार है कि इतिहास का विषय केवल विशेषज्ञों तथा विद्वानों की चीज़ है न कि आम लोगों की । इस धारणा का एक कारण कदाचित यह है कि अपने क्षात्रीय समय में उन्होंने यही समझा था कि इतिहास केवल एक सूची है कि जिसमें दी गयी हैं लड़ाइयों की तारीखें, राजाओं के शासन तथा राजवंशों के उत्कर्ष और पतन की घटनाएँ ।

यह विचारधारा भ्रमात्मक है । इतिहास क्यों पढ़ा जाय, इसका उत्तर इस प्रश्न के उत्तर में निहित है कि कोई भी विषय क्यों पढ़ा जाए ? बात यह है कि मनुष्य की विभिन्न इच्छाओं में एक प्रबल इच्छा कथा सुनने की इच्छा है जो प्रायः अतृप्तीय है । साथ ही मनुष्य की सहगामी इच्छा इस तथ्य को भी जानने की रही है कि घटनाएँ आदि क्यों होती हैं और कैसे । 'कैसे' की तलाश में मनुष्य ने वैज्ञानिक आविष्कार किए, अन्य प्रगति भी । अपने क्षेत्र में इतिहासकार ने 'क्यों' पर अधिक बल दिया न कि 'कैसे' पर । उसने पूछा कि मनुष्य के द्वारा पूर्व में किए गए कार्य क्यों किए गए—इस प्रश्न के उत्तर को ही इतिहास कहा गया है ।

इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त दिया जा सकता है । गौतम बुद्ध के तीन चित्र

मस्तिष्क में आते हैं, प्रथम एक नवयुवक राजकुमार का चित्र है जो एक विदुषी रमणी का पति है और एक शिशु का पिता। दूसरा, जब रात्रि के अनजाने में वह राजमहल त्याग कर दूरस्थ स्थान पर जाकर एक भिक्षु से अपने राजसी कपड़े बदलकर सत्य की खोज में अग्रसर होता है। तीसरे चित्र में वह परम शान्ति के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, जबकि दीर्घ तपस्या के बाद उन्हें ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् 'बुद्ध' (जागृत) पद। ये तीनों चित्र हृदय में एक अलौकिक करुणा तथा विस्मय उत्पन्न करते हैं। इतिहास बताता है कि यह सब क्यों हुआ।

अन्य दृष्टान्त के सन्दर्भ में एक दूसरा चित्र ध्यान में आता है जो अद्वितीय वीर महिला झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई का है। घोड़े पर सवार, पीठ पर अपने दत्तक बालक को बाँधे हुये, तलवार घुमाते हुए, पुरुष की पोशाक में, इस विख्यात नवयुवती महिला का चित्र हृदय विदारक है। कई अंगरेज़ सैनिकों को मारने के बाद स्वयं घायल होकर वे वीरगति को प्राप्त करती हैं। इतिहास के पन्ने बताते हैं कि यह घटना क्यों घटी।

सम्प्रति शताब्दी में मनुष्य जाति ने सभी क्षेत्रों में अतुलनीय प्रगति की है तथा ज्ञान का भण्डार प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इतिहास का विषय इस ज्ञान का एक खण्ड है जो मनुष्य के कामों में निहित 'क्यों' प्रश्न का उत्तर देता है, सत्य कथा के रूप में। इसके पढ़ने से कथानक सम्बन्धी तृष्णा की तृप्ति होती है और इतिहास पढ़ने का यही कारण है। अस्तु

इतिहासकारों का निराशावादी दृष्टिकोण—सभ्यता एक नदी के समान है कि जिसके दोनों ओर किनारे हैं। यह नदी कभी-कभी लोगों द्वारा मारकाट, ईर्षा, द्वेष, घृणा आदि के रक्त से भर जाती है जिसे इतिहासकार आम तौर पर लिपिबद्ध करते हैं. किन्तु उसके किनारों पर लोग आवास बनाते हैं, सन्तान उत्पन्न करते हैं, एक दूसरे से स्नेह करते हैं, गायन करते हैं, कविता लिखते हैं, मूर्तियाँ बनाते हैं। किनारों पर हुई बातों की कथा सभ्यता का इतिहास है। इतिहासकार केवल नदी को देखते हैं तथा किनारों की उपेक्षा कर देते हैं। अतः वह निराशावादी होते हैं और उनके इतिहास में यही बात लक्षित होती है।

उक्त कथन विख्यात पत्रकार तथा इतिहासज्ञ विल डूरन्ट के निम्न उद्धरण पर आधारित है—

"Civilisationl is a stream with banks. The stream is sometimes filled with blood from people killing, stealing,

shouting and doing the things historians usually record, while on the banks, unnoticed, people build homes, make love, raise children, sing songs, write poetry and even carve statues. The story of civilization is the story of what happened on the banks. Historians are pessimists because they ignore the banks for the river.—*Will Durant*.

२. प्राचीन इतिहास की सामग्री की कमी

भारतीय राजनैतिक इतिहास का आरम्भ गौतम बुद्ध के समय से होता है अर्थात् ई० पू० ६०० के लगभग से। क्रमबद्ध तथा प्रामाणिक जानकारी उसके कई सदियों बाद मिलती है अर्थात् लगभग १२वीं सदी से जबकि मुसलमानी शासन प्रारम्भ हुआ। पुराने समय के इतिहास की सामग्री बहुत कम है और जो है भी वह ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया प्रामाणित नहीं मानी जाती। इसका एक कारण यह है कि पूर्व काल में आधुनिक ढंग से इतिहास लिखने की प्रथा नहीं थी। कथाओं, काव्यों तथा प्रशस्तियों द्वारा सम-सामयिक घटनाओं का उल्लेख कर दिया जाता था जिनमें बहुत सी बातें काल्पनिक होती थीं। दूसरा कारण यह है कि प्राचीन लेखों, इमारतों, मन्दिरों, स्तूपों आदि पर समय ने प्रतिकूल प्रभाव डाला जिससे कि वे अधिकांश ध्वस्त या जीर्ण-शीर्ण हो गए।

प्राचीन समय की ऐतिहासिक सामग्री की कमी का कारण कर्नल सर थामस हन्गरफोर्ड होल्डिच (Col. Sir Thomas Hungerford Holdich)[1] ने अपनी इंडिया नामक पुस्तक में निम्न प्रकार बताया है :—

"The profound philosophy of the Brahmanical School which, in weaning men from the pomps and vanities of an evanescent world, weaned them also form trivial contemplation of the world itself, also forbid such authentic records of the actual facts of human existence as might have been expected from a highly advanced Aryan community.[2]

उक्त उद्धरण का आशय यह है कि प्राचीन भारतीय धारा मूलतया आध्यात्मिक थी कि जिसके कारण लोग सांसारिक उपलब्धियों के प्रति उदासीन रहते थे। संसार की सभी अविनाशी वस्तुओं, घटनाओं आदि न्यूनतम बातों में उनकी

---

१. यह इतिहासकार अंगरेजी शासन में भारत सरकार के सर्वे आफ इंडिया विभाग में उप-अधीक्षक के पद पर थे।

२. पृ० १२, संदर्भित पुस्तक का।

अभिरुचि न थी। यही कारण था कि विद्वता तथा प्रचुर लेखनशक्ति के होते हुए भी उन्होंने मानव जीवन की क्षणिक घटनाओं को लिपिबद्ध करने में अपने समय को नहीं लगाया।

'इतिहास' पद का अर्थ—इस सम्बन्ध में भारतीय विचारधारा में 'इतिहास' शब्द का अर्थ भी प्रचलित अर्थ से भिन्न है। भारतीय ग्रंथों में 'इतिहास' दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। एक मुख्यार्थक इतिहास शब्द है और उसका अर्थ है—**ऐसा निश्चय ही था।** यह प्राचीन सत्य कथा अथवा घटना का पर्याय वाचक है।

दूसरे अर्थ में उसके माने हैं—इतिहास के सदृश जो काल्पनिक कथा पुरानी कथा के रूप में कही जाती है। इस अर्थ में कल्पना ही कथा का आधार होती है। इस सन्दर्भ में महाभारत का निम्न श्लोक दृष्टव्य है :—

अत्राऽप्युदाहरन्ती मम् इतिहासं पुरातनम्।
सम्वादं भरतश्रेष्ठ शाल्मलेः पवनस्य च[1]॥

अर्थात् भरतश्रेष्ठ इस विषय में शाल्मलि वृक्ष और वायु का पुराना इतिहास मैं वर्णन करता हूँ।

इससे विदित होता है कि पशु-पक्षी या जड़ पदार्थों का सम्वादरूप इतिहास कोई घटित घटना नहीं है। केवल इस प्रकार काल्पनिक कथा के आश्रय से जनता की ज्ञानवृद्धि के ग्रन्थों में ध्यान आकर्षक बातें लिखी जाती हैं। इसी प्रकार शब्द 'आख्यान' का भी सत्य तथा काल्पनिक कथा के अर्थ में प्रयोग होता है।

ऐतिहासिक सामग्री की श्रेणियाँ—उक्त कठिनाइयों की पृष्ठभूमि में भारतीय तथा अंगरेज विद्वानों ने प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने का अथक परिश्रम किया है और मुख्य-मुख्य बातों को प्रामाणिक ढंग से स्थापित किया है। उन्होंने जिस सामग्री को अपना साधन बनाया उन्हें निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) प्राचीन ब्राह्मण, जैन और बौद्ध साहित्य। ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत आते हैं वेद, उपनिषद्, पुराण। अठारह पुराणों में मत्स्य पुराण, विष्णु पुराण तथा भागवत में राजाओं की वंशावलियाँ भी हैं।

(२) पुरातत्व सामग्री जिसमें शिलालेख, ताम्रपत्र और मुद्राएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। कान्यकुब्ज प्रदेश की ऐतिहासिक घटनाओं पर वहाँ के शासकों के तांबे पर खुदे दानपत्र तथा प्रशस्तियाँ प्रकाश डालती हैं। साहित्यिक ग्रंथों

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, १५४।४।

में उल्लिखित प्रशस्तियाँ भी इस शृंखला में आती हैं। पुरातत्व विभाग द्वारा खुदाई से प्राप्त अन्य वस्तुएँ भी इसी श्रेणी की हैं।

(३) विदेशी यात्रियों का वर्णन। चीनी यात्री हुएन सांग का वर्णन कन्नौज के इतिहास में विशेष स्थान रखता है।

(४) सम सामयिक साहित्य। कन्नौज के इतिहास में संस्कृत कवि वाणभट्ट रचित 'हर्ष चरित' द्वारा सम्राट हर्ष के समय की घटनाओं पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

(५) प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन इमारतें, मन्दिर, मस्जिद, राजप्रासाद, दुर्ग एवं वास्तुकला की अन्य चीजें। प्राचीन खण्डहर तथा खुदाई द्वारा इमारतों के भग्नावशेष भी।

३. कन्नौज, कान्यकुब्ज, मध्यदेश, आर्यावर्त, हिन्दुस्तान, आदि शब्दों का प्रयोग

अखिल भारतीय तथा कन्नौजीय इतिहास के सन्दर्भ में उपरलिखित शब्दों का आशय निम्न प्रकार है—

कन्नौज—यह कान्यकुब्ज नगर का आधुनिक नाम है। कान्यकुब्ज नाम १२वीं सदी तक प्रचलित रहा, अर्थात् जब तक कि कान्यकुब्ज प्रदेश राजपूतों के शासन में रहा तथा मुसलमानी शासन का प्रारम्भ हुआ। संक्षिप्तता हेतु कन्नौज शब्द कन्नौज राज्य अथवा कन्नौज प्रदेश के लिए भी प्रयुक्त हुआ है यद्यपि वास्तव में यह नाम सम्बन्धित समय में चालू न थे—उस समय कान्यकुब्ज राज्य, कान्यकुब्ज प्रदेश ही अस्तित्व में थे, न कि कन्नौज राज्य, आदि। उसके शासक कान्यकुब्जेश्वर कहलाते थे। संक्षेप में कन्नौज शब्द को कान्यकुब्ज शब्द का पर्यायवाची समझना चाहिये उस काल तक के लिए कि जबतक कान्यकुब्ज राज्य का अस्तित्व था। प्रस्तुत पुस्तक का नाम भी इसी आशय में समझना चाहिए।

कान्यकुब्ज—यह शब्द, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, कान्यकुब्ज नगर (आधुनिक कन्नौज) के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा कान्यकुब्ज राज्य के लिए भी। तुलना के लिए अंगरेजी शासनकाल के बम्बई और मद्रास शब्द हैं—बम्बई एक नगर भी था (और है) तथा एक प्रदेश भी, यही बात मद्रास के लिए भी।

मध्यदेश—कान्यकुब्ज प्रदेश तथा मध्यदेश लगभग एक ही भूभाग थे—अर्थात् गंगा-यमुना का दोआब तथा निकटवर्ती क्षेत्र। अतः कहीं-कहीं कान्यकुब्ज प्रदेश के लिए मध्यदेश नाम का भी प्रयोग हुआ है—प्रस्तुत पुस्तक में तथा अन्य पुस्तकों में भी।

आर्यावर्त—अति प्राचीन काल में इस देश के संगठित जीवन व्यतीत करने वाले निवासी अपने को आर्य कहते थे। प्रथमतम यह उत्तर भारत ही में बसे थे और वहीं राज्य करते थे। अपने अन्तर्गत भाग को, अर्थात् उत्तर भारत को, यह लोग आर्यावर्त, यानी आर्यों का स्थान कहते थे। यह नाम इसी अर्थ में ऐतिहासिक तथा अन्य ग्रंथों में प्रयुक्त हुआ है।

हिन्दुस्तान—देश का यह प्राचीन नाम नहीं है। इरानियों ने सिन्धु नदी का नाम बदल कर हिन्दु रख दिया और उसके आस पास के रहने वालों को हिन्दू की संज्ञा दी और उस भूभाग को हिन्दुस्तान कहा। अतः प्रारम्भ में हिन्दुस्तान शब्द से तात्पर्य केवल उत्तरी भारत से था अर्थात् उत्तर का वह भूभाग जो दक्षिण की ओर विन्ध्याचल पर्वत तक विस्तृत था। मुसलमानों ने भी प्रारम्भ में उक्त शब्द के यही अर्थ लगाए। शनैं शनैः यह शब्द पूरे देश के लिए प्रयुक्त होने लगा।

जम्बूद्वीप, भरतखण्ड, भारतवर्ष, भारत, इंडिया—कुछ इतिहासकारों ने लिखा है कि प्राचीन काल में इस देश का नाम जम्बूद्वीप था क्योंकि संकल्प मंत्र में यह नाम अब भी आता है, किन्तु यह मत सही नहीं जान पड़ता क्योंकि संकल्प में निम्न शब्द आते हैं :—

"जम्बूद्वीपे, भरतखण्डे, आर्यावर्तैक देशे....."

जिनसे क्रमशः तात्पर्य होता है एशिया (द्वीप या महाद्वीप) भारतवर्ष तथा आर्यावर्त देश (उत्तर भारत)।

भरतखण्ड अथवा भारतवर्ष इस देश के प्राचीन नाम हैं। यह नाम महाराज भरत के नाम से पड़े जो राजा दुष्यन्त और शकुन्तला के पराक्रमी पुत्र थे। उनके तेज से देश का प्रत्येक भाग उद्दीप्त था अतः देश को उक्त नामों से पुकारा जाने लगा। भारत के संविधान में देश को भारत की संज्ञा दी गयी है।

यूनानियों ने सिन्ध नदी को इन्दु (इन्डस) नाम दिया और देश को इण्डिया कहना शुरू किया। अंग्रेजों के वक्त में अंग्रेजी भाषा में इसी शब्द का प्रयोग होता था। अब भी ऐसा ही है। भारत के संविधान (अंग्रेजी संस्करण) में भी यह नाम आया है और भारत शब्द का पर्यायवाची माना गया है। उसमें यह शब्द आते हैं, "India, that is Bharat", अर्थात् इण्डिया, यानी भारत।

४. ऐतिहासिक साक्ष्य

ऐतिहासिक साक्ष्य से तात्पर्य उन प्रमाणों से है कि जिनके आधार पर भूतकाल की घटनाओं का सत्य ज्ञान हो सके। प्रश्न यह है कि क्या ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं ?

यह सही है कि इतिहास में वर्णित अधिकांश बातों पर मतभेद नहीं है फिर भी बहुत सी बातें ऐसी हैं जो सत्यता की कसौटी पर उत्तीर्ण नहीं होतीं। यह भी कहा गया है कि सर्वांशतः सत्य परायण, तटस्थ और वस्तुनिष्ठ इतिहास संभव नहीं है।[1] इसका कारण यह है कि इतिहास का मूल आधार लिखित सामग्री है जो किसी व्यक्ति द्वारा सृजित की गयी है और वह व्यक्ति अपने विचारों तथा पूर्वाग्रह का रंग अपने विवरण में भरे बिना नहीं रह सकता। फलतः सर्वथा तटस्थ और वस्तुनिष्ठ इतिहास सम्भव नहीं है। इतिहासकार उतने ही तटस्थ माने जा सकते हैं जितने कि अदालत में गवाही देने वाले गवाह। किसी भी घटना का हुबहू एक जैसा वर्णन दो भिन्न गवाहों के मुँह से नहीं मिलता।

ऐसी स्थिति में साधारण पाठक इस दुविधा में पड़ जाता है कि विभिन्न इतिहासकारों के एक ही घटना के विभिन्न विवरणों में किसको सत्य माना जाए अथवा घटना का होना भी यथार्थ में सत्य है अथवा नहीं। इस दुविधा को दूर करने का कोई सैद्धान्तिक मार्ग नहीं है अतः प्रबुद्ध पाठक को अपनी सद्‌बुद्धि पर ही निर्भर रहना पड़ेगा।

ऐतिहासिक सत्यता के बारे में एक कठिनाई और भी है, वह यह है कि किसी असत्य बात को बारम्बार दोहराने से वह सत्य का रूप धारण कर लेती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार केवल भारत के इतिहास ही में नहीं अपितु अन्य देशों के इतिहास में भी ऐसी अनेकों बातों को सही मान लिया गया है जो वास्तव में असत्य हैं। यह इस प्रकार हुआ कि किसी प्रारम्भिक साहित्यिक लेखक अथवा आइतिहासकार ने बिना समुचित साक्ष्य के किसी बात का उल्लेख कर दिया यह समझकर कि वह सत्य है या किसी अन्य कारण से। बाद में इतिहासकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उसी कथन के आधार पर वही बात लिख दी। इसी प्रकार बारम्बार दोहराये जाने से किसी को उसकी सत्यता पर सन्देह न हुआ और उस असत्य ने सत्य का जामा पहन लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि एक बार किसी गलत धारणा के स्थापित हो जाने पर उसको सही रूप में बदलना बहुत कठिन हो जाता है।

उपरिलिखित तथ्य के अनेकों उदाहरणों में से एक रोमन सम्राट नीरो से सम्बन्धित है जो ई० पू० कई सदी में रोमन साम्राज्य का शासक था। एक के बाद दूसरे इतिहासकारों ने लिखा है कि एक ओर रोम नगर जल रहा था और दूसरी ओर नीरो फिडिल (Fiddle) बजाने में मग्न था और जलते हुए रोम को देखकर

---

१. इतिहासज्ञ ई० यच० डान्स का मत।

खुश हो रहा था। यह कथन असत्य है, प्रथम इसलिए कि १६वीं सदी के पहले संसार में फिडिल का अस्तित्व ही न था और दूसरे इसलिये कि जिस समय रोम जल रहा था उस समय नीरो उस नगर से लगभग ५० मील की दूरी पर अपने एक अन्य महल में था। यह सही है कि नीरो व्यसनी और व्यभिचारी था तथा उसमें और दुर्गुण भी थे, कदाचित इसी कारण उस पर यह आरोप भी लगा दिया गया। आरोप की सत्यता पर लेखकों को सन्देह इसी कारण नहीं हुआ चरित्रहीन नीरो द्वारा इस प्रकार अपनी खुशी का इजहार करना स्वाभाविक बात हो सकती थी।

दूसरा उदाहरण प्रस्तुत पुस्तक से ही सीधे सम्बन्धित है और वह है कन्नौज के शासक महाराज जयचन्द्र का। कतिपय इतिहासकारों ने महाराज पर यह असत्य आरोप लगाया है कि उन्होंने महाराज पृथ्वीराज पर दूसरी बार सन् ११९२ में आक्रमण करने के लिये सुलतान मोहम्मद गोरी को आमंत्रित किया था। यह आरोप एक पुराने कविता-ग्रन्थ में उल्लिखित वर्णन पर आधारित है और जो अप्रमाणित भी है। वह ग्रन्थ महाराज पृथ्वीराज की प्रशस्ति में उनके ही राजकवि चन्द बरदायी ने पृथ्वीराज रासो के नाम से लिखा था। इतिहासकारों ने उक्त आधार को इसलिए भी सत्य मान लिया कि जयचन्द्र और पृथ्वीराज में आपसी रंजिश थी जिससे कि उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि अवश्य ही बदले की भावना से जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को बुलाया। इस सम्बन्ध में उन लेखकों ने अनेक ऐसी अन्य बातों पर ध्यान ही नहीं दिया कि जिनसे इस आरोप की असत्यता प्रमाणित होती है। आगे के एक पृथक अध्याय में इस आरोप का विवेचन किया गया है कि जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि महाराज जयचन्द्र निर्दोष थे।

५. कन्नौज के इतिहास का भारतीय इतिहास से सम्बन्ध

कन्नौज राज्य की सीमाएँ लगभग वही थी जो वर्तमान उत्तर प्रदेश की हैं। पुरातन काल में कन्नौज राज्य का क्षेत्र मध्य देश के नाम से भी जाना जाता था। कन्नौज क्षेत्र दो विभिन्न दृष्टिकोणों से समझा जाता है, यानी ——

कन्नौज (कान्यकुब्ज) प्रदेश, तथा
कन्नौज (कान्यकुब्ज) साम्राज्य।

कन्नौज प्रदेश से तात्पर्य कन्नौज राज्य से है अर्थात् जिस भूभाग पर कन्नौज के शासक स्वतंत्र रूप से राज्य करते थे। साथ ही साथ समय-समय पर कन्नौज राज्य के शासकों ने अन्य भूभाग भी विजित कर लिए और इस प्रकार एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की—उदाहरणार्थ सम्राट हर्षवर्धन का साम्राज्य।

इस प्रकार के साम्राज्य को कन्नौज (कान्यकुब्ज) साम्राज्य की संज्ञा दी जाती है।

अपनी स्थिति के फलस्वरूप कन्नौज प्रदेश (मध्यप्रदेश) उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रामकों के मार्ग में पड़ता था। इस कारण तथा दिल्ली और पाटलिपुत्र (पटना) (मगध साम्राज्य की राजधानी) के बीच का उपजाऊ तथा धनाढ्य भूभाग होने के कारण भी कन्नौज प्रदेश का इतिहास भारतीय इतिहास से निकटतम सम्बन्धित है।

इसके अतिरिक्त कन्नौज प्रदेश, जो मध्यदेश का लगभग पर्यायवाची है, भारत का एक प्रमुख तथा अतिपवित्र भूभाग माना जाता रहा था और उत्तर भारत का अभिन्न भाग भी। साथ ही साथ रामायण (बाल्मीकि कृत) और महाभारत में जिन महान् व्यक्तियों का वर्णन आया है वे यहीं के थे। आर्यों में सर्वाधिक सुसंस्कृत लोग यहीं के निवासी थे और उनका व्यवहार उत्तर भारत में आदर्श माना जाता था। कन्नौज के शासक यदा-कदा उत्तर भारत के भी सम्राट रहे और जब इस स्थिति में नहीं रहे तब अन्य सम्राटों के सम्पर्क में रहा अथवा सम्बन्धित रहे।

एक बात और भी। यद्यपि ऐतिहासिक काल में ईसा की पाँचवीं सदी तक कन्नौज का स्थान प्रायः नगण्य रहता है परन्तु पाँचवीं सदी से लेकर बारवीं सदी तक कन्नौज नगर उत्तर भारत का राजनीतिक केन्द्र रहा और कभी-कभी पूर्ण भारत का भी। उक्त पाँच छः सदियों में इस नगर को वही ऐश्वर्य और समृद्धि प्राप्त थे जो गुप्तों के समय में पाटलिपुत्र (पटना) और मुसलमानों के समय में दिल्ली को प्राप्त थे।

इन्हीं कारणों से भारत के इतिहास की कुछ बातें इस पुस्तक के अन्तर्गत आती हैं जिनका सूक्ष्म विवरण इस अध्याय के आगे के शीर्षकों में दिया जा रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य बातें सम्बन्धित अध्यायों में मिलेंगी।

६. भारतीय तथा कन्नौजीय इतिहास का काल विभाजन

कालों का नामकरण तथा दौरान—इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को कतिपय युगों/कालों में विभाजित किया है। वह विभाजन कई दृष्टिकोणों से किया गया है। अतः विभिन्न इतिहासकारों ने अपने-अपने मत के समर्थन में अलग-अगल विभाजन किया है। इसी कारण उन विभाजनों तथा उनके नामों में समानता नहीं है। इन विभाजनों को ध्यान में रखते हुए निम्न तालिका बनाई गई है जिसमें विभिन्न मतों को समावेश करने का प्रयास किया गया है। प्रागऐतिहासिक युग तथा वैदिक काल के दौरान का समय विवादास्पद है तथापि जो दौरान सामान्यतः ठहराया गया है वही इस तालिका में उल्लिखित है। इसी

प्रकार अन्य कालों के विषय में भी अधिक प्रचलित मत को अपनाया गया है—

प्रागऐतिहासिक युग
सिन्धु घाटी सभ्यता } ई० पू० ३०००—ई० पू० १५००

ऐतिहासिक युग

(क)	(ख)	(ग)	(घ)	(ङ)
वैदिक काल ई० पू० २०००- ई० पू० १०००	पौराणिक तथा महाकाव्य (महाभारत) काल ई० पू० १०००- ई० पू० ६००	प्राचीन काल (हिन्दू काल) ई० पू० ६००- ई० बा० १२००	मध्य काल १२००- १७०७	आधुनिक काल १७०७ से अब तक

मध्य काल:

पूर्व मध्य काल (राजपूत काल) ई० पू० ६०० से १२०० तक	उत्तर मध्य काल (मुसलमानी काल) १२००- १७०७ तक

सिन्धु घाटी सभ्यता तथा उक्त पाँचों कालों व युगों की व्याख्या निम्न प्रकार है—

सिन्धु घाटी सभ्यता

(ई० पू० ३०००–ई० पू० १५००)

सन् १९२१ के पहले वैदिक काल के पूर्व का इतिहास प्रायः अन्धकार मय था। उक्त वर्ष तथा उसके बाद सिन्धु नदी की घाटी में पुरातत्व विभाग द्वारा बड़े पैमाने पर खुदाइयाँ की गयीं। परिणामस्वरूप अतीत के कुछ ऐसे भग्न स्मारक प्राप्त हुए हैं कि जिनसे यह सिद्ध हो गया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता वैदिक काल की सभ्यता से अधिक प्राचीन है। यह खुदाइयाँ हरप्पा और मोहनजोदरों स्थानों में हुई हैं। प्रथम स्थान पंजाब और दूसरा स्थान सिन्ध में स्थित था। दोनों अब पाकिस्तान में हैं। इन ख़ुदाइयों से दो बड़े-बड़े नगरों के स्मारक प्रकाश में आए। यह नगर ई० पू० लगभग २५०० तक बसे हुये थे।

खुदाई में तरह तरह की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं जिनसे यह आभास मिलता है कि इस युग के लोग कला और विज्ञान में उच्च स्तर तक उन्नति कर चुके थे। इन के द्वारा निर्माणित नगरों में प्रत्येक प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध थीं जैसे

जल-निकासी की व्यवस्था, अन्न भण्डार घर, जन स्नानगृह, कुएँ, बाजारें, मन्दिर आदि। निवास स्थान दो-मंजिला होते थे जिनमें नल द्वारा जल-व्यवस्था शौचालय, स्नानगृह, कूड़ा-दान, लम्बे-चौड़े आँगन तथा अन्य सुविधाएँ, होती थीं। कला के क्षेत्र में उच्च कोटि के बढ़ई, लोहार, संगतराश, सोनार, जौहरी, हाथी दाँत तराश आदि होते थे। दक्षिण भारत तथा चीन और दूरस्थ देशों से व्यापार होता था। संक्षेप में आर्थिक तथा आध्यात्मिक समृद्धि में किसी प्रकार की न्यूनता न थी।

यह सभ्यता सिन्ध घाटी ही में सीमित न थी बल्कि दक्षिण की ओर खम्भात की खाड़ी तक और पूरब की ओर गंगा-यमुना के दोआब तक फैली थी। इसका अर्थ यह है कि जो भूभाग प्राचीन कन्नौज राज्य के अन्तर्गत था उसमें भी इस सभ्यता का पदार्पण हुआ था। कन्नौज नगर के आस पास के भग्नावशेषों की खोदाई होने पर इस विषय पर भी प्रकाश पड़ेगा। ई० पू० लगभग १५०० तक ही यह सभ्यता कायम रही। उसके बाद किस प्रकार इसका लोप हुआ यह केवल अटकल की बात है। एक विचारधारा यह है कि इसका विनाश आर्यों द्वारा हुआ जबकि वे मध्य एशिया से सैनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित भारत भूमि में आए। कुछ अन्य कारण भी बताए जाते हैं तथा इस विषय में इतिहासकारों में खोज जारी है।

(क) वैदिक काल

(ई० पू० २०००–ई० पू० १०००)

लगभग १००० वर्ष का यह समय वैदिक काल माना जाता है। इस काल में आर्य लोगों का उत्तर भारत में पदार्पण हुआ, और शनैः शनैः वह यहाँ बस गए। इसी काल में वेदों की रचना हुई। आर्यों का मूल स्थान मध्य एशिया माना जाता है जहाँ से वे पहले ईरान और मेसोपोटामिया में जा बसे और बड़े-बड़े नगर बनाए। बाद में वे उत्तर पश्चिमी भारत में आए। उस समय अफगानिस्तान भारत का भाग था और गांधार प्रदेश के अन्तर्गत था। यह लोग इस इलाके में आकर धीरे-धीरे सिन्धु और गंगा नदियों के मैदानों में बस गए। इन स्थानों में वह भूभाग भी था जो प्राचीन काल में कान्यकुब्ज के नाम से विख्यात था। आर्यों के आने के पहले भारत में सभ्यता की कमी न थी। उत्तर-पश्चिमी तथा मध्य भूभाग में सिन्धु घाटी कालीन सभ्यता के लोग थे कि जिनका अस्तित्व कदाचित आर्यों के आने पर मिट गया। दक्षिण भारत में और कदाचित उत्तर भारत के भागों में भी उच्च कोटि की द्रविण सभ्यता चालू थी। दक्षिण भारत में यह सभ्यता अब भी बरकरार है। उनकी भाषाएँ, तमिल, तेलगू आदि बड़ी प्राचीन हैं और उनमें उच्च कोटि के साहित्यिक ग्रन्थ हैं।

यह भी अनुमान किया जाता है कि कुछ आर्य लोग दक्षिण भारत में भी गए होंगे। इस उद्देश्य से कि उनके व्यापार को सहायता मिले और आर्य परम्पराओं का वहाँ प्रचार हो। प्राचीन कथानक के अनुसार सर्व प्रथम कान्यकुब्ज देश के अगस्त ऋषि दक्षिण भारत गए थे जहाँ उन्होंने वैदिक धर्म तथा आर्य शिष्टता का प्रचार किया।

शनैः शनैः आर्यों ने ग्राम प्रथा की उन्नति की और अपने शासन को प्रमुख सिद्धान्तों पर आधारित किया। संक्षेप में उनके राजनैतिक प्रबन्ध में गणतंत्रता का समन्वय था और जनता का उस प्रबन्ध में कुछ हद तक बोल बाला था। कालान्तर में आर्य संस्कृति और समृद्धि का केन्द्र गंगा-यमुना का दोआब बना जो बाद में कान्यकुब्ज देश या प्रदेश के नाम से जाना जाने लगा। इसका पहले का नाम मध्यदेश था। उस समय के प्रमुख राज्यों में थे मगध (दक्षिण-बिहार), विदेह (उत्तर-बिहार), काशी (वाराणसी), कौशल (राजधानी अयोध्या, फैजाबाद) तथा पांचाल (गंगा-यमुना का दोआब)। पांचाल में दो मुख्य नगर थे, मथुरा और कान्यकुब्ज। बाद के इतिहास में यह प्रसिद्ध नगर हुए। उन दिनों उज्जैन भी एक प्रमुख नगर था।

ऋग्वेद—वैदिक सभ्यता वेदों के काल की अभ्यता है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद। इनमें सबसे पुराना ऋग्वेद है। यह अनिश्चित है कि यह वेद कब लिखा गया। विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग समय बताया है जिन सबको ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ई० पू० १५०० के लगभग इसकी रचना हुई उस समय आर्य लोग पंजाब ही में कदाचित सीमित थे। अन्य वेद बहुत बाद में लिखे गये। वेदों में आर्यों के जीवन और विचार सम्बन्धी बातों का उल्लेख है। उनके शत्रुओं का भी जिक्र है जिन्हें 'दस्यु' की संज्ञा दी गयी है किन्तु यह जानकारी नहीं है कि यह लोग कौन थे—देश की जंगली जातियाँ या मोहेनजोदारों के लोग या और कोई। वेदों में उस समय के समाज की पूरी तसवीर नहीं है और न उनमें ऐतिहासिक बातें ही हैं। वस्तुतः हिन्दू लोग आध्यात्मिक बातों मे ही विश्वास करते थे। इतिहास, आर्थिक तथा लौकिक आदि विषयों में उनकी रुचि न थी।

ऋग्वेद के समय में समाज कुलों में आवन्टित था जो बाद में अलग-अलग इकाइयों के रूप में समाहित हो गए। मोटे तौर पर समाज के लोग तीन स्तरों में विभाजित थे—(१) अमीर लोग और सैनिक, (२) आचार्य (पूजा-पाठ कराने वाले) और साधुजन, तथा (३) किसान और कारीगर (चीजें बनाने वाले, बढ़ई, लोहार, राज, कुम्हार आदि)। व्यापार उन्नतिशील था और जहाजरानी

का ज्ञान था। धर्म के दायरे में प्राकृतिक शक्तियों का पूजन वेद, पाठ, यज्ञ आदि थे।

ऋग्वेद के अनुसार आर्यों ने सबसे पहले 'सप्त सिन्धु' या सात नदियों द्वारा सिंचित क्षेत्र (आधुनिक पंजाब) में बस्तियाँ बनाई। प्रारम्भ में कुछ प्रमुख कुलों (घरानों) के नाम थे पुरु, तुर्वसु, यदु अनु और द्रुह्यु। यह पाँच घराने पंच जन कहलाते थे। इनके अतिरिक्त अन्य प्रमुख वर्ग 'भरत' कहलाता था।

धीरे-धीरे आर्यों ने अपने क्षेत्र का पूर्व की ओर विस्तार किया, नए राज्य बनाए और नए केन्द्र स्थापित किए। सप्त सिन्धु का महत्व फलतः कम होता गया और आर्य संस्कृति और समृद्धि का केन्द्र बना गंगा-यमुना का दोआब जो बाद में कान्यकुब्ज प्रदेश के नाम से विख्यात हुआ। पहले यह मध्य देश के नाम से अभिहित था।

अन्य वेद तथा उपवेद—ऋग्वेद के बाद अन्य तीनों वेदों (सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद) का सृजन हुआ। यह ई० पू० लगभग १५०० तक पूर्ण हो गये थे। तब तक आर्यजन उत्तर भारत में पूरी तौर से बस गये थे। उसके बाद उपवेद आए यानी वह ग्रन्थ जिसको ब्राह्मणों की संज्ञा दी जाती है तथा कतिपय उपनिषद ग्रन्थ। अगले ५०० वर्षों में यह पूरे हो गये थे अर्थात् ई० पू० १००० वर्ष तक।

उक्त काल में राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में बहुत बदलाव हुए। जाति प्रथा को बल मिला तथा इन स्थलों के मूल निवासी आर्यों में समाहित हो गए। महाभारत के इतिहास का प्रारम्भ इसी समय से समझा जाता है।

वैदिक काल में दक्षिण भारत—जैसा पहले कहा जा चुका है आर्यों के पहले दक्षिण भारत में और प्रायः उत्तर भारत के मुख्य भाग में द्रविण सभ्यता चल रही थी। आर्यों के उत्सर्ग पर द्रविण लोग दक्षिण में, अर्थात् नर्मदा नदी के दक्षिण के पूरे भूभाग में, चले गए और अपनी सभ्यता की उन्नति करते रहे। इस भूभाग में अब भी प्रायः द्रविण जन ही बहुसंख्यक है तथा अधिकतर द्रविण भाषाएँ जैसे तामिल, तेलुगू आदि ही वहाँ प्रचलित हैं और उन्हीं में विद्वतापूर्ण साहित्य भी है जो संस्कृत साहित्य के दर्जे का ही माना जाता है।

(ख) पौराणिक अथवा महाकाव्य (महाभारत) काल

(लगभग ई० पू० १०००—ई० पू० ६००)

वैदिक काल ई० पू० १००० वर्ष के लगभग तक समाप्त माना जाता है किन्तु इस सम्बन्ध में तथा पहले कहे गये कालों के दौरान में विद्वानों में

मतभेद है। वैदिक काल के बाद पौराणिक काल भी आता है जिसे महाकाव्य (महाभारत) काल भी कहा जाता है। इस काल में महाभारत का युद्ध हुआ तथा श्री मद्भागवत की रचना हुई जिसे महाकाव्य भी कहा जाता है। महाभारत के पहले का इतिहास वाल्मीक रामायण में वर्णित है जो भी एक महाकाव्य है किन्तु पुराण नहीं है। अन्य पुराण भी इसी काल के हैं।

रामायण तथा महाभारत में वर्णित घटनाएँ पहले केवल मस्तिष्क-कृत कथाएँ समझी जाती थीं किन्तु अब पुरातत्व विभाग द्वारा की गयी खोजों के आधार पर यह माना जाने लगा है कि जिस समाज तथा मुख्य घटनाओं का वर्णन उनमें आया है वास्तविक थीं। हिन्दुओं के जीवन पर खासकर रामायण का यथेष्ट प्रभाव है और उनमें दर्शाए हुए आदर्श हिन्दुत्व के स्तम्भ माने जाते हैं। साथ ही हिन्दुओं के आध्यात्मिक क्षेत्र में भगवत गीता का विशिष्ट स्थान है जो महाभारत का अंग है और जिसे बाद में आदि शंकराचार्य ने पृथक् ग्रन्थ का रूप दिया। उसमें प्रतिपादित मूल सिद्धान्त निष्काम कर्म का है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुसार अपने दायित्व को निभाना चाहिए तथा ऐसा करने में क्या परिणाम होगा इससे विचलित न होना चाहिए। यह भी कि प्रत्येक अवसर व स्थिति में उसे समत्व भाव रखना चाहिए अर्थात् अच्छाई अथवा खराबी जैसे भी आवें एक ही भावना से स्वीकार की जावें, प्रशंसा से प्रसन्न और अप्रशंसा से अप्रसन्न होने का प्रश्न न उठना चाहिए। किसी से राग तथा किसी से द्वेष भी नहीं।

पौराणिक युग की यही देन है। जहाँ तक इस काल की ऐतिहासिक तथा तथा अर्ध ऐतिहासिक बातों का सम्बन्ध है वे रामायण और महाभारत में संग्रहीत हैं और प्रायः सर्वविदित हैं।

(ग) प्राचीन काल अथवा हिन्दू काल
(ई० पू० ६००–ई० बा० ६००)

यह ई० पू० ६०० से प्रारम्भ होता है जबकि मगध राज्य की स्थापना हुई और ई० बा० ६०० के लगभग तक रहता है जबकि हर्षवर्धन ने कन्नौज साम्राज्य की स्थापना की तथा गुप्त साम्राज्य का अन्त हुआ। इसके अन्तर्गत निम्न विषय आते हैं :—

(१) बुद्ध के पहले का भारत
(२) बुद्ध का समय—जैन स्वामी महावीर, गौतम बुद्ध
(३) बिम्बिसार, शिशुनाग, नन्द वंश
(४) मौर्य वंश

(५) शुंग, कण्व, आन्ध्र शासक
(६) शक, कुषाण, नाग
(७) गुप्त वंश, हूण शासक
(८) मौखरि वंश (कन्नौज)
(९) कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन तथा यशोवर्मन
(१०) आयुध, गुर्जर प्रतिहार, गाहरवाल शासक, आदि ।

(घ) मध्य काल
(सन् १२००–१७०७)

इसका दौरान ई० बा० १२०० से १७०७ तक माना जाता है । यानी गुप्त साम्राज्य के अन्त से औरंगजेब की मृत्यु तक । आम तौर पर इसे दो उप-विभागों में बाँटा जाता है—यथा पूर्व मध्य काल और उत्तर मध्य काल जिनका विवरण निम्न प्रकार है :—

कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन तथा यशोवर्मन, शंकराचार्य आयुध, गुर्जर, प्रतिहार गाहरवाल आदि पृथ्वीराज, जयचन्द्र	पूर्व मध्य काल अथवा राजपूत काल (६००–१२००)
सल्तनत काल (सन् १२००–१५२६) (अर्थात् लगभग पृथ्वीराज की पराजय से मुगल राज्य की स्थापना तक) गुलाम वंश, खिलजी वंश । तुगलक वंश, जौनपुर राज्य का शर्की वंश । सैय्यद बन्धु, लोदी वंश । मुगल काल (सन् १५२६–१७०७), अर्थात्,बाबर के राज्य-काल से औरंगजेब की मृत्यु तक । मुगल वंश–पहला दौर । सूर वंश (शेर शाह सूर) । मुगल वंश–दूसरा (अन्तिम) दौर ।	उत्तर मध्य काल अथवा मुसलमानी एवं महाराष्ट्र काल (सन् १२००–१७०७)

(ङ) आधुनिक काल
(सन् १७०७ से अब तक)

यह तीन उपखण्डों में विभाजित होता है :—

(१) मराठा और सिख = १७०७–१८१८ (जब पेशवा बाजी राव अंगरेजों से पराजित हुआ) ।

(२) ब्रिटिश शासन = १७५७ (पलासी के युद्ध में अंगरेजों की विजय)
१९४७ (उपनिवेशिक स्वतंत्रता)।

(३) पूर्ण गणतान्त्रिक स्वतंत्रता = १९५० से अब तक।

७. भारतीय इतिहास की कुछ विशेष घटनाओं की सूची

तारीख	घटना
१	२
ई० पू० ३,०००	सिन्धु घाटी सभ्यता।
ई० पू० २,०००	वैदिक सभ्यता।
ई० पू० ५६३ ई० पू० ४८३	गौतम बुद्ध का जन्म तथा निर्वाण।
ई० पू० ५४० ई० पू० ४६८	महावीर (जैन) का जन्म तथा निर्वाण।
ई० पू० ३२६	सिकन्दर का भारत पर आक्रमण।
ई० पू० ३२४	मौर्य वंश का उत्कर्ष।
ई० पू० ३०५	चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा सिकन्दर के उत्तराधिकारी सेल्यूकस निकाटोर की पराजय।
ई० पू० २७३ ई० पू० २३२	सम्राट अशोक का राज्य काल।
ई० बा० ३२०–५००	गुप्त वंश का शासन काल, कला, विज्ञान और साहित्य का स्वर्ण युग।
ई० बा० ४५०–४५७	हूणों के आक्रमण।
४८०–४९० ई०	गुप्त साम्राज्य का विघटन।
७११ ई०	मोहम्मद बिन कासिम द्वारा सिन्ध पर अरबों का अधिकार।
१०००–१०२६	महमूद गजनवी द्वारा भारत पर १७ आक्रमण।
११९२	महाराज पृथ्वीराज की मोहम्मद गोरी द्वारा पराजय तथा मृत्यु।
११९३	महाराज जयचन्द्र की उसी के द्वारा पराजय, मृत्यु।
११९२–१२९०	उत्तर भारत में मुसलमानी शासन की स्थापना, गुलाम वंश।
१३२०–१४१४	दिल्ली के तुगलक सुल्तान।
१३९८	तैमूर लंग का आक्रमण।

तारीख	घटना
१४५१–१५२६	दिल्ली के लोदी सुल्तान।
१४६९	गुरु नानक का जन्म।
१५२६	बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना।
१५९७	राणा प्रताप की मृत्यु।
१६००	ब्रिटिश शाही फरमान द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना।
१६१२	सूरत में अंग्रेजों का पहला कारखाना।
१६२७	शिवाजी का जन्म।
१६५८	औरंगजेब का राज्याभिषेक।
१६७५	सिखों के दसवें गुरु, गुरु तेग बहादुर का कत्ल।
१६८०	शिवाजी की मृत्यु।
१७०७	औरंगजेब की मृत्यु।
१७३९	नादिरशाह द्वारा दिल्ली का लुन्टन।
१७५७	पलासी का युद्ध।
१७६१	पानीपत की तीसरी लड़ाई; अहमद शाह अब्दाली और मराठों के बीच। मराठों की पराजय।
१७६५	शाह आलम द्वारा अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दी गई।
१७७४–१७८५	वारेन हेस्टिंग्स भारत का प्रथम गवर्नर जनरल।
१७९२	महाराजा रंजीत सिंह द्वारा सिख राज्य की स्थापना।
१८२९	सती प्रथा का निषेध।
१८५३	रेल और तार व्यवस्था का प्रारम्भ।
१८५६	अवध राज्य का अंग्रेजी हुकूमत में मिलाया जाना।
१८५७	प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम; नाना साहेब; रानी झाँसी, बेगम हजरत महल; तातिया टोपे, बहादुरशाह बादशाह, राना बेनी माधव सिंह।
१८५८	ब्रिटिश ताज द्वारा भारतीय शासन का हस्तगत होना, कम्पनी का अन्त।

तारीख			घटना
१८६९	....	....	महात्मा गाँधी का जन्म।
१८८५	....	....	भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन।
१९०५	....	....	बंगाल का विभाजन।
१९११	....	....	बंगाल का विभाजन निरस्त।
१९१४	....	....	महात्मा गाँधी का दक्षिण अफ्रीका से लौटना।
१९१९	....	....	माण्टेगू-चेम्सफोर्ड नामक राजनैतिक सुधार—भारतीयों को कुछ नए हक। अमृतसर में जलियानवाला बाग का कत्ल आम (१३-४-१९१९)।
१९१९	....	....	लोकमान्य तिलक की मृत्यु।
१९२०	....	....	महात्मा गाँधी द्वारा असहयोग आन्दोलन (non-cooperation movement)
१९३०–१९३५		....	महात्मा गाँधी द्वारा सत्याग्रह आन्दोलन, लन्दन में गोलमेज परिषद का प्रथम सत्र।
१९३७	....	....	गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, १९३५, (भारत शासन अधिनियम, १९३५), लागू हुआ। सात प्रान्तों में कांग्रेसीय मंत्रिमण्डल बने।
१९४२	....	....	क्रिप्स मिशन, महात्मा गाँधी द्वारा 'भारत छोड़ो' आन्दोलन।
१९४६	....	....	ब्रिटिश कैबिनेट मिशन योजना, पं० जवाहर लाल नेहरू के प्रधान मन्त्रित्व में भारत की अन्तरिम सरकार।
१९४७	....	....	भारत का विभाजन। स्वतन्त्रता प्राप्ति। पाकिस्तान का काश्मीर पर हमला।
१९४८	....	....	महात्मा गाँधी का बलिदान (३०-१-१९४८)।
१९४९	....	....	भारत का संविधान पारित हुआ।
१९५०	....	....	भारतीय गणतंत्र राज्य की स्थापना (२६-१-१९५०)। पं० जवाहर लाल नेहरू प्रथम प्रधान मंत्री।
१९५२	....	....	स्वतन्त्र भारत में प्रथम आम चुनाव।

८. निष्कर्ष

मनुष्य के अध्ययन के विभिन्न क्षेत्र हैं, जैसे विज्ञान, साहित्य, कला, आध्यात्म, इतिहास। इन सभी का एक ही ध्येय है—सत्य की खोज। इतिहास-

कार का भी यही लक्ष्य है किन्तु इसे प्राप्त करने में उतनी ही कठिनाइयाँ हैं जितनी कि अन्य क्षेत्रों में। इन कठिनाइयों को पूर्व के शीर्षकों में वर्णित किया गया है यानी प्राचीन इतिहास की सामग्री की कमी तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों की निर्बलता। तथापि प्रस्तुत पुस्तक में प्रयत्न किया गया है कि किसी घटना के विभिन्न वर्णनों में केवल उसी को अपनाया जाए जो सत्य के अधिक से अधिक निकट हो। फिर भी सम्भव है कि विद्वान पाठक किसी किसी घटना के वर्णन से सहमत न हों अथवा उसको संतोषजनक न समझें। ऐसी स्थिति में सुहृद पाठक अवश्य ही उक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुये सहानुभूतिक दृष्टिकोण अपनायेंगे।

आशा है इस पुस्तक को उपरिलिखित बातों को ध्यान में रखते हुये पढ़ा जायगा। पुस्तक की उपयोगिता प्रबुद्ध पाठकों की उदारता पर ही आश्रित है।

अध्याय-२

कान्यकुब्ज (कन्नौज) देश, उसके प्राचीन नाम और विस्तार

सारपत्रक

१. प्रारम्भिक ।
२. कान्यकुब्ज देश के प्राचीन नाम ।
३. 'कान्यकुब्ज' देश के नामकरण की कथा ।
४. देश दर्शन, विस्तार आदि ।

१. प्रारम्भिक

कन्नौज राज्य के इतिहास को वर्णन करने के पूर्व यह वांछनीय है कि उसकी भौगोलिक स्थिति की जानकारी दी जाय और यह बताया जाए कि वह क्या है, कब से है और भूतकाल में किस रूप में था ।

आज दिन वह प्राचीन तथा विख्यात राज्य अतीत के गर्भ में विलीन हो गया है । अब उसकी प्राचीन व्यापकता तथा समृद्धि के द्योतक केवल इतिहास के पृष्ठ हैं । अतः उक्त प्रश्नों के उत्तर केवल रुचिकर ही नहीं वरन् ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भी हैं ।

साथ ही यह भी दर्शाना आवश्यक है कि कान्यकुब्ज देश तथा कान्यकुब्ज नगर की प्रतिष्ठा के बारे में क्या सामग्री उपलब्ध है क्योंकि इस सम्बन्ध में केवल उनकी संस्तुति में दो शब्द कह देने से जिज्ञासु पाठकों को सन्तोष नहीं हो सकता ।

अतः उक्त विषयों पर अब विवेचन किया जयागा । प्रथम बात यह है कि कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज शब्द दो अर्थों को सूचित करता है, यथा—

(क) कान्यकुब्ज देश अथवा कन्नौज देश, तथा

(ख) कान्यकुब्जपुरी (नगर), अथवा कन्नौज नगर । सम्प्रति अध्याय कान्यकुब्ज देश से सम्बन्धित है । अगला अध्याय नगर के बारे में है ।

कान्यकुब्ज (कन्नौज) राज्य की स्थिति—कान्यकुब्ज राज्य भारत का अत्यन्त प्राचीन भाग है और इसका इतिहास पौराणिक काल से प्रारम्भ होता है । इसका क्षेत्र समय-समय पर बदलता रहा है और नाम भी । मोटे तौर पर इस समय के उत्तर प्रदेश राज्य की सीमाएँ कन्नौज राज्य की सीमाओं के समानान्तर समझी

जा सकती हैं। यह स्थिति मात्र कन्नौज राज्य के सम्बन्ध में है किन्तु कतिपय अवसरों पर कन्नौज राज्य के शासकों ने अन्य क्षेत्र अथवा प्रदेश या राज्य विजित कर लिए और सम्राट कहलाए—उदाहरणार्थ सम्राट हर्ष वर्धन (राज्यकाल ६०६–६४८ ई०)।

कन्नौज राज्य की राजधानी अपर्वर्दित रही है यद्यपि उसके नाम बदलते रहे हैं—जैसे उसका प्राचीन नाम महोदय था बाद में कान्यकुब्ज नगर हुआ और अन्त में कन्नौज हुआ। इसका पूर्व वैभव अब विलीन हो गया है और सम्प्रति यह केवल कन्नौज तहसील का मुख्यालय है जो फर्रुखाबाद जनपद के अन्तर्गत है। कन्नौज नगर के बारे में ब्योरेवार विवरण आगे के दो अध्यायों में मिलेगा।

२. कान्यकुब्ज (कन्नौज) देश के विभिन्न नाम

कान्यकुब्ज देश के प्राचीन तथा अर्वाचीन नाम निम्न प्रकार हैं—

ब्रह्मर्षि देश,
ब्रह्मावर्त,
कुशस्थली,
कान्यकुब्ज,
दक्षिण पांचाल,
मध्यदेश,
अन्तर्वेदि,
माकन्दी,
द्वाव,
उत्तर-पश्चिमी प्रान्त,
(North-Western Province)[1]
संयुक्त प्रान्त, आगरा व अवध
संयुक्त प्रान्त (१९३७) (आगरा व अवध शब्द छोड़ दिये गये हैं)
उत्तर प्रदेश (वर्तमान नाम)।

समय समय पर प्रत्येक नाम के क्षेत्र में भी सामयिक परिवर्तन होता रहा।

३. 'कान्यकुब्ज' देश के नामकरण की कथा

महाराज कुशनाभ की पुत्रियों का कुब्जा होना, 'कान्यकुब्ज' नामकरण— इस क्षेत्र का नाम 'कान्यकुब्ज' क्यों पड़ा इसकी कथा वाल्मीक रामायण में निम्न प्रकार है—

१, सन् १८७७ में अंग्रेजों द्वारा इस इलाके की रचना हुयी थी। तब इसका यह नाम रखा गया था।

जैसा कि अन्य अध्याय में लिखा गया है महाराज कुशनाभ (जो इस क्षेत्र के शासक थे) के १०० कन्याएँ थीं। वे घृताची नाम की अप्सरा से जन्मी थीं और परम रूपवती थीं। ऐसे धर्मवान राजा से उत्पन्न संतति को राजधर्म और कुलधर्म में आदर्श होना ही चाहिये। सबका पालन-पोषण, आहार-विहार एक सा, राजसी भाव से हुआ। वयस्क होने पर आपद ग्रसित हुई किन्तु पितृच्छा के विरुद्ध आचरण करने का किसी ने स्वप्न में भी मन न किया। कालान्तर में इन कन्याओं ने इस नगर और प्रदेश को अमर नाम 'कान्यकुब्ज' प्रदान किया। अतः इन कन्याओं की कुब्जता की कथा पर अब हम आते हैं।

रूप यौवन सम्पन्न ये कन्याएँ उद्यान में स्वच्छन्द रूप से क्रीड़ा किया करती थीं। 'एक दिन पवन देव ने मुग्ध होकर उनसे विवाह करने की इच्छा व्यक्त की और कहा कि तुम सब मनुष्यों को अनुराग त्यागो जिससे तुम दीर्घ जीविनी हो सको। यदि तुम मेरी पत्नी बनोगी तो तुम्हारा यौवन अक्षय होगा और तुम अमर भी हो जाओगी। उत्तर में कन्याओं ने कहा कि आप हमारा अपमान क्यों करते हैं। हे वायुदेव, हम सब महाराज कुशनाभ की कन्याएँ हैं। अपने तपोबल से हम तुम्हें तुम्हारे लोक से नीचे गिरा सकती हैं, पर ऐसा इसलिए नहीं करतीं कि उससे हमारा तपोबल घट जाएगा और तप घटाना हमको अभीष्ट नहीं है। यह असम्भव है कि हम अपने सत्यवादी पिता की अवहेलना कर स्वयं अपने लिए वर तजबीज करें क्योंकि—

पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं हि नः।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति ॥

वा० रा० ३२।२२

अर्थात् हमारे पिता हमारे लिए परम देवता स्वरूप हैं और वे हमारे लिए मालिक हैं। वे हमें जिसे दे देंगे वही हमारा पति होगा।'[1]

कन्याओं की इन अपमान जनक बातों को सुन पवन देव कुपित हुए और उनको कुब्जा (कुबड़ी) बना दिया। यथा—

प्रविश्य सर्व गात्राणि बंभज भगवान्प्रभुः ॥ वा० रा० ३२।२३

अर्थात् उनके शरीर में प्रवेश कर उनके अंगों को टेढ़ा-मेढ़ा कर दिया। सम्भव है वात रोग से विकलांग होने का काव्यमय वर्णन वायुदेव के परम कोप (वायुः

---

१. इससे स्पष्ट है कि उस काल में पुत्री का विवाह अपनी रुचि के अनुसार करना पिता का अधिकार था—कन्या अपना वर स्वयं पसन्द करना अनुचित समझती थी।

परमकोपनः) के मिस किया गया हो। सबको एक सा ही रोग हो जाना भी आश्चर्यजनक नहीं। कारण युवतियों में हिस्टीरिया 'जैसे संक्रामक रोग देखे गये हैं अर्थात् एक को आपस्मारिक दशा में देखते ही दूसरी मूर्छित हो गिरने लगती हैं और उनके अंग ऐंठने लगते हैं। इसके अतिरिक्त इन सबका आहार विहार एक सा था तथा अहर्निशि प्रीतिमय एक साथ रहाइश। अतः ऐसी सहानुभूतिक (sympathetic) भावनाएँ सब ही में होना अचरज की बात नहीं।

साथ ही वह ऐसा युग भी न था जब स्त्री चरित्र रक्षा के लिए परदा आविष्कार की आवश्यकता होती। स्वभाव से सच्चरित्र कन्याओं को देवता भी न छू सकते थे। उस युग के निश्छल हृदयों में असत्य का भी संचार न हो सकता था।

महाराज कुशनाभ ने अपनी पुत्रियों की यह दशा देखकर उनसे प्रश्न किया। बालिकाओं ने स्पष्ट कह दिया कि यह सब वायु का दोष है, हम आपकी अनुमति के बिना कोई इस प्रकार का कार्य नहीं करना चाहतीं। जिन राजकुमारियों को स्वच्छन्द होते हुए पापाचरण की अपेक्षा कष्ट सहन स्वीकार था, उनकी धर्म-क्षमता पर पिता को क्यों न गर्व हो। फिर राजा ने उनकी इस प्रकार प्रशंसा की—

क्षान्तं क्षमावतां पुत्र्य कर्तव्यं सुमहत् कृतम्।
एकमत्यमुपानस्य कुलानुरूपं कृतम्॥ वा०रा० ३३।६॥

अर्थात् तुमने पवन देव के प्रति क्षमा प्रदर्शित कर बहुत अच्छा काम किया है—हे पुत्रियों क्षमाशीलों को ऐसा ही करना चाहिये। तुमने हमारे कुल के अनुरूप ही काम किया है। तथा—

अलंकारों हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा।
दुष्करं तच्च यत् क्षान्तं त्रिदशेषु विशेषतः॥३३।७॥

अर्थात् स्त्रियों अथवा पुरुषों के लिए क्षमा ही आभूषण है। तुमने पवन देव को क्षमा कर दुष्कर काम किया है। रूप और ऐश्वर्य सम्पन्न लोगों के लिए तो अपराध-सहिष्णुता विशेष करके दुष्कर है। और भी—

यादृशी वः क्षमा पुत्र्यः सर्वासामविशेषतः।
क्षमा दानं क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञश्च पुत्रिकाः॥३३।८॥

अर्थात् जैसी क्षमा तुमने दिखाई विशेषकर वैसी क्षमा सब में नहीं होती। हे पुत्रियों! क्षमा ही दान है, क्षमा ही सत्य है और क्षमा ही यज्ञ है। (यानी जो पुण्य दान देने, सत्य बोलने और यज्ञ करने से होता है, वही क्षमा से प्राप्त होता है।

थोड़ी नहीं अपितु सभी १०० सगी बहिनों के कुब्जा हो जाने के कारण राजा कुशनाभ की राजधानी तथा राज्य का नाम क्रमशः कान्यकुब्ज नगर तथा कान्यकुब्ज देश पड़ गया। यथा—

कुशनाभ कृता तत्र पूर्व देशे महापुरी।
ते नैब नाम्ना दिव्यातु कान्यकुब्जेति विश्रुता ॥
(शिव पुराण धर्म संहिता, १२।५२)

भावार्थ, पूर्व देश में कुशनाभ ने एक महापुरी बसाई। वह नगरी कान्यकुब्ज नाम से जानी जाती है और वह उनके नाम के अनुरूप ही दिव्य है।

राजकुमारियों के स्वस्थ हो जाने के बाद भी यही नाम प्रचलित रहा। बहुत समय बाद अपभ्रंश रूप में यह नाम बदल कर कनौज/कनउज/कन्नौज हो गया। इस समय अन्तिम नाम ही प्रचलित है।

ब्रह्मदत्त की कथा—एक तो उस युग में अल्पायु में विवाह होते ही न थे, दूसरे राजपुत्रियों के योग्य वर मिलने का संकट, तीसरे इतनी संख्या में कुमारियों के वरों की योजना, चौथे राजा और रानी की धार्मिक संलग्नता जिससे लौकिक कार्य उपेक्षित रहते हैं। जब उपरलिखित स्थिति आ पहुँची तब महाराज कुशनाभ की उचक गयी और पुत्रियों के विवाह की मंत्रणा सचिवों से होनें लगी।

इन राजकुमारियों के रुग्न हो जाने के कारण अथवा अन्य किसी विचार विशेष से उनका विवाह किसी राजपुत्र से अथवा पृथक-पृथक न कर मंत्रियों ने यह निश्चित किया कि सबका सौभाग्य किसी कुलीन ऋषि संतान से सम्बन्ध करके बनाया जाए। सुतरां उन सबका पाणिग्रहण ब्रह्मदत्त से होना निश्चित हुआ। ब्रह्मदत्त का जन्म निम्न प्रकार हुआ—

कुशनाभ कें राज्यत्व काल में चूलि नाम के एक तेजस्वी महर्षि ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए तप किया। उस समय उनकी सेवा सोमदा नाम की एक गंधर्वी कन्या करने लगी। वह गंधर्वी उर्मिला की पुत्री थी। उसकी दीर्घकालीन सेवा से मुनि प्रसन्न हुए और उससे कहा—जो काम तू कहे सो मैं तेरे लिए करूँ। उत्तर में उसने कहा कि ब्रह्मतेज से युक्त और धार्मिक श्रेष्ठ एक पुत्र मैं चाहती हूँ। किन्तु—

अपतिश् चास्मि भद्रं ते भार्या चास्मि न कस्यचित्।
ब्राह्मेणोपगतायाश्च दातुमर्हसि में सुतम् ॥३३।१७॥

अर्थात् न तो मेरा कोई पति है और न मैं किसी की पत्नी होना चाहती हूँ।

क्योंकि मैं ब्रह्मचारिणी हूँ, इससे मुझे अपने तपोबल से ऐसा मानस[1] पुत्र दीजिए जो धार्मिक हो।

प्रश्न हो महर्षि चूलि ने अपने तपोबल से ब्रह्मचारिणी सोमदा को ब्रह्मदत्त नामक एक मानस पुत्र दिया। बाद में—

स राजा सौमदेयस्तु पुरीमध्य वसत् तदा
काम्पिल्यां परया लक्ष्म्या देव राजो यथा दिवम् ॥३३।१९॥

अर्थात् वह ब्रह्मदत्त कम्पिला का राजा हुआ और वहाँ की राज्यलक्ष्मी से ऐसा विभूषित हुआ जैसे इन्द्र सुरपुर में विभूषित होते हैं।

कम्पिला किसी समय दक्षिण पांचाल की राजधानी थी। इस समय भी कम्पिल के नाम से प्रसिद्ध है और जैन तीर्थ भी है। फर्रुखाबाद जिले में गंगा के दाहिने तट पर यह एक कस्बा है। द्रोपदी का जन्म यहीं हुआ था। वहाँ द्रोपदी कुण्ड अब भी देखा जा सकता है।

ब्रह्मदत्त द्वारा पाणिग्रहण से उन राजकुमारियों का कुब्जापन दूर होना—कुशनाभ ने इन्हीं ब्रह्मदत्त को अपनी पुत्रियों को देने का निश्चय किया। ब्रह्मदत्त ने उन्हें स्वीकार कर लिया और यथाक्रम उन १० राजकुमारियों का पाणिग्रहण[2] किया। तब—

स्पृष्ट मात्रे ततः पाणौ विकुब्जा विगत ज्वराः।
युक्ताः परमया लक्ष्म्या बभुः कन्याः शतं तथा ॥३३।२३॥

अर्थात् ब्रह्मदत्त द्वारा पाणिग्रहण होते ही उन सबका कुबड़ापन जाता रहा और वे पहले की तरह परम सुन्दरी हो गयीं।

इसी आशय का श्लोक शिव पुराण धर्म संहिता (१२।५१) में आता है—

दत्तश्च ब्रह्मपुत्राय कदाचित् स्त्री शतन्तु तत्।
कुशेन मुनिना सृष्टं स्वास्थ्यं च लब्धवत् ॥

भावार्थ—किसी समय महाराज कुश ने ब्रह्मपुत्र को १०० कन्याएँ दीं। मुनि की कृपा से कन्याएँ पुनः उत्तमांग हो गयीं।

महाराज कुशनाभ पुत्रियों के शरीर से वायु का विकार दूर हुआ देख प्रसन्न हुए। फिर उन्हें विदा किया और उनके साथ उपाध्याओं को भी भेजा।

---

१. जैसे सनक, सनन्दन सनातन और सनतकुमार ब्रह्मा के चार मानस पुत्र थे वैसे ही एक मानस पुत्र।

२. विवाह के समय श्रीवर उस कन्या का जिसके साथ उसका विवाह होता है, हाथ पकड़ता है। यही पाणिग्रहण है अर्थात् हाथ का पकड़ना।

ब्रह्मदत्त की माता सोमदा अपनी सुन्दर बहुओं को देखकर प्रसन्न हुई और यथाविधि उनका सत्कार किया। बहुओं को बर्त कर उसने कुशनाभ की सराहना की।

ब्रह्मदत्त का कम्पिला का राजा होने का एक दूसरा वृतान्त इस प्रकार है—महाराज कुशनाभ ने अपनी पुत्रियों को ब्रह्मदत्त के साथ व्याह देने के साथ ही उनके निवास तथा आय-व्यय के लिए भूमि दी। उसके प्रबन्ध के लिए उपाध्याओं को पुत्रियों के साथ भेज दिया। ब्रह्मदत्त ने कम्पिला नगर की प्रतिष्ठा की और उसे राजधानी बनाकर सुख से राज्य करने लगे।

कान्यकुब्ज नामकरण की एक अन्य कथा—उपरिलिखित कथा पौराणिक तथ्यों पर आधारित है और ऐतिहासिक कसौटी पर परखने पर प्रमाणित भी मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त प्रश्नगत नामकरण सम्बन्धित एक और कथा भी है जो प्रायः दीर्घकालीन प्रचलित किम्बदन्ती पर आधारित है और जिसका उल्लेख एक प्रकाशित पुस्तक में भी है। उस पुस्तक में उल्लिखित बातें भी करीब करीब प्रमाणित ही समझी जाती हैं। उक्त पुस्तक का सन्दर्भ आगे दिया जा रहा है।

कथा इस प्रकार है—प्रश्नगत नगर में दो तपस्वी, विद्वान और श्रेष्ठ ब्राह्मण निवास करते थे। वे दोनों भाई-भाई थे जिनमें से एक का नाम कान्य तथा दूसरे का नाम कुब्ज था। इन्हीं दोनों के नाम पर प्रश्नगत नगर का नाम कान्यकुब्ज पड़ा। यह कोई अनहोनी बात नहीं कही जा सकती क्योंकि पूर्व काल में नगरों के नाम व्यक्तियों के नाम पर भी होते थे यद्यपि अधिकतर वे व्यक्ति शासक होते थे किन्तु यदा कदा प्रतिष्ठित व्यक्तियों के नाम पर भी नगरों के नाम रखे जाते थे। उदाहरणतः गोरखपुर जो प्रसिद्ध संत गोरखनाथ के नाम पर है।

इस नामकरण के सम्बन्ध में कान्यकुब्ज वंशावली नामक प्राचीन पुस्तक में निम्न विवरण दिया गया है—

तत्रयज्ञे समायातौ द्वौ द्विजौ कान्य कुब्ज को।
कान्यकुब्जाख्य देशस्थो, राम यज्ञादिदृक्षया॥

भावार्थ—अपने राज्याभिषेक के बाद रामचन्द्र जी ने एक यज्ञ किया। उसमें बृहत् ब्राह्मण समुदाय को आमंत्रित किया अतः यह दोनों भाई अपने नगर के अन्य ब्राह्मणों के साथ वहाँ गए (दोनों ब्राह्मण कान्य और कुब्ज अन्य ब्राह्मणों के साथ)।

जब यह लोग यज्ञस्थल पर पहुँचे तब छोटे भाई कुब्ज ने विचार किया कि

श्री राम ने ब्रह्मदवध किया है (क्योंकि रावण ब्राह्मण था) अतः इनके यज्ञ में हमें दान नहीं लेना चाहिए। कान्य इस विचार से सहमत नहीं हुए। अतः कान्य को वहीं छोड़कर कुब्ज अपने नगर में लौट आए और उनके साथ में कुछ अन्य ब्राह्मण भी लौटे। शेष कान्य के साथ वहीं रुके रहे तथा श्रीराम द्वारा प्रचुर धनादि तथा सरयू नदी के उस पार ग्राम भी दक्षिणा में प्राप्त किये। बन्धुओं के बहिष्कार के भय से कान्य तथा उनके अनुयायी स्वदेश वापस नहीं लौटे अपितु सरयू के पार जाकर वहीं बस गए।

कुब्ज और उनके सहयोगी जो बिना दान लिए स्वदेश लौट आए उनके वंशज कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहलाए और अब भी कहे जाते हैं। कान्य तथा उनके सहयोगी जो सरयूपार चले गए और उनके वंशज सरयूपारी ब्राह्मण कहलाए। सरयूपारी ब्राह्मणों को सानाढ्य भी कहते हैं।

उक्त कथन का समर्थन विलियम क्रुक ने अपनी पुस्तक Ethnographical Hand book for North-Western Provinces and Oudh में निम्न शब्दों में किया है—

'*Kanaujiya*—(Kanauj, Kanyakubja the famous city)........ The Country of the Sanadh and the Kanaujiya may be roughly represented as a triangle having for its western side a line drawn from Pilibhit to the South-West of Muttra and for its eastern a line from Pilibhit to Allahabad and for its base the country bordering on the Jumna and Chambal rivers. of this triangle the western half forms the country of the Sanadhs and the eastern that of the Kanaujiyas. The Sandhs are said to have separated from the original stock because their founder officiated at a sacrifice (*Jag*) performed by Ram Chandra after the defeat and death of Ravana, an act which alienated them from their stricter brethren who, from the murdered Ravana having been himself a Brahman, refused to take part in it.''[१]

४. देश दर्शन, देश का विस्तार आदि

पूर्व काल में 'कान्यकुब्ज' शब्द एक देश का बोधक था। उसके शासक

---

१. पृ० ५७, विलियम क्रुक बंगाल सिविल सर्विस का एक अफसर था। उसकी पुस्तक सन् १८९० में प्रकाशित हुई थी।

'कान्यकुब्जेश्वर' के नाम से भी सम्बोधित होते थे जैसा कि महाकवि श्रीहर्ष विरचित नैषध काव्य के अन्तिम श्लोक से स्पष्ट है जो इस प्रकार है—

ताम्बूलंद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् ।[1]

ऊपर-कथित शब्द 'देश' से मुल्क अथवा country का अभिप्राय नहीं है। देश शब्द से उस क्षेत्र का संकेत होता है जहाँ के निवासियों की वेष-भूषा, भाषा तथा सभ्यता एक हों। साथ ही स्थल के विचार से पृथ्वी की उपज में सादृश्य का भी ध्यान है, अर्थात् जनसमूह तथा जलवायु एक देशता के सूचक हैं। सभ्यता से देश का स्तर ज्ञात होता है और इसी प्रकार देश से सभ्यता का अनुमान होता है। यही इतिहास का एक उद्देश्य है। अतः देश निर्धारित करना आवश्यक है।

आदि कवि वाल्मीकि ने कान्यकुब्ज देश का वर्णन किया है और उस कथन से देश की एक सीमा निश्चित होती है। सोन नदी के तट पर श्री राम विश्वामित्र से पूछते हैं कि 'यह सामने वनशोभित समृद्ध देश कौन है ?' मुनि का उत्तर होता है कि 'यह विख्यात कान्यकुब्ज देश है।' यथा—

यदेवेताः समुद्भूतां कन्याः कुब्जाः शतं पुरा ।
तदादि कान्यकुब्जोऽयं देशो विख्यातिमापृवान् ।।[2]

भावार्थ, जिस क्षेत्र में १०० कन्याएँ कुब्जा हुयी थी उस कान्यकुब्ज देश के नाम से विख्यात हुआ।

इस प्रकार प्राचीन कान्यकुब्ज देश की पूर्वी सीमा सोन नदी ठहरती है।

वाल्मीक ही के एक दूसरे पद से इस देश की पश्चिमी सीमा का भी संकेत होता है, यथा—

कन्या कुब्जाऽभवन् यत्र कान्यकुब्जस्ततो भवत् ।
देशो यं कान्यकुब्जाख्यः सदा ब्रह्मर्षि सेवितः ।।[3]

अर्थात् जहाँ पर यमुना नदी टेढ़ी हो जाती है। वहाँ तक कान्यकुब्ज की सीमा

---

१. अर्थात् कान्यकुब्जेश्वर (कान्यकुब्ज देश के शासक) से मुझे (राजसभा में) दो पान और आसन प्राप्त होते हैं। यह बात श्री हर्ष ने अपना परिचय देते हुए कही है। शासकों के दरबार में दो पान विशिष्ट जनों को ही दिये जाते थे; अन्य को केवल एक ही पान। यही बात आसन के लिये भी लागू है।

२. वा० रा०, वा० सर्ग, ३१

३. वा० रा० वा० सर्ग, ३२

है। यह कान्यकुब्ज देश सदा ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित है यानी जहाँ ब्रह्मर्षि निवास करते हैं। (यमुना आगरा[1] के पास टेढ़ी हो जाती है। कन्या शब्द यमुना के लिए भी प्रयुक्त होता है।) ब्रह्मर्षि सेवित देश ही का नाम 'ब्रह्मर्षि देश' है। सरस्वती नदी से पूर्व दक्षिण भूभाग की संज्ञा 'ब्रह्मर्षि देश' है जिसमें गंगा यमुना का द्वाव तथा कुरुक्षेत्र का भाग आ जाता है। यह ब्रह्मर्षि देश कान्यकुब्ज देश से पृथक नहीं क्योंकि कान्यकुब्ज देश को ही कवियों ने महात्माओं का निवासस्थान कह के पुकारा है।

इस प्रकार कान्यकुब्ज देश की पश्चिमी सीमा कुरुक्षेत्र तक पहुँच कर सरस्वती नदी होती है। अन्य विचार से जाँच करने पर भी यही सीमा सत्य प्रतीत होती है। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों[2] के निवास स्थान इतने भूभाग में पाए जाते हैं जैसे वैदिक महात्माओं का ऊपर उल्लेख आया है।

कण्व ऋषि का निवास सरस्वती नदी के पास कुरुक्षेत्र में कहा गया है— 'सरस्वती नदी रुपा कुरुक्षेत्रे निवासिनाम्।''[3]

ऋषिवर की कथा प्रसंग में जो वैवाहिक कृत्य आदि वर्णन हैं वे सब एतद्-देशीय हैं। आस्पदों के नाम भी कान्यकुब्जी ही हैं।[4]

इसी प्रकार जो पूर्व में ऋषि स्थान ढूँढते हैं, तो वाराणसी, मिर्जापुर तक साधारण पता चलता है। कंतित[5] (राज्य) कात्यायन ऋषि[6] के वंशज 'कनतिथि' का स्मारक समझा जाता है। इस भाँति पूर्व पश्चिम देश की लम्बाई का ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार ब्रह्मर्षि देश से कान्यकुब्ज देश पृथक् नही उसी भाँति 'पांचाल' 'कान्यकुब्ज' का पर्यायवाची सा है।

द्रोणाचार्य तथा राजा द्रुपद के बटवारे में पांचाल के दो भाग उत्तर पांचाल और दक्षिण गंगा को सीमा रखकर किये गये।[7] किन्तु इससे एकदेशीयता विभक्त नहीं होनी—जैसे अंग्रेजों द्वारा लार्ड कर्जन के समय में बंग विच्छेद (सन् ११०५)

---

१. आगरा कन्नौज के पश्चिम ओर है।
२. ''देशभेदाद द्विघा भवति'' अर्थात देश से जाति का नाम पड़ता है। इसलिये उनके निवास स्थान से देश क्षेत्र जाना जा सकता है।
३. भविष्य पुराण, ३।२१
४. कलि के प्रारम्भ से १००० वर्ष पश्चात् इन आस्पदों का नाम कर्ण होना कहा जाता है।
५. मिर्जापुर जिले में है।
६. कान्यकुब्जों के षट्कुल सम्प्रदाय के गोत्र कर्ता थे।
७. महाभारत की प्रसिद्ध कथा है।

से बंगाल की एकदेशीयता भंग नहीं हुई—बाद में विच्छेद रद्द कर दिया गया था। इसलिए पांचाल देश का फैलाव जैसा कि चम्बल नदी से गंगोत्री माना जाता है वह ठीक है।

ब्राह्मण निवासियों की जाँच से भी इन दोनों सीमाओं की सत्यता प्रतीत होती है। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की उत्कृष्टता[1] जहाँ कही गयी है वहाँ उनके आचारों को दूसरे देश वालों के लगाव के साथ कहा गया है, और उन देशों को पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी कह कर अलग कर दिया है।

प्राची प्रतीता तथा दक्षिणात्म देशों की सीमाओं से उदीचियों का इसी देश वासियों का अर्थ सिद्ध होता है। उदीचियों की विशेषता भी रखी गयी है।

कान्यकुब्ज बनाम पांचाल—द्वापर के अन्त में कान्यकुब्ज देश में पांचालों का राजस्थापन हुआ और तभी उसका नाम बदल कर पांचाल हुआ था। इसी प्रकार ऐतिहासिक काल में उसका नाम फिर बदला और वह मध्यदेश कहा जाने लगा। उसके बाद परिवर्तन होने पर पुराना कान्यकुब्ज नाम फिर प्रयोग होने लगा। उक्त मध्यदेश के प्रसंग में उत्तर पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी देशों का भी वर्णन आता है।

कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन (सन् ६०६-६४८) को चीनी यात्री हुएन सांग ने मध्यदेश का शासक लिखा है। इस मध्यदेश के अन्तर्गत कुरु, मत्स्य और पांचाल देशों की गणना की गयी है।[2] पांचाल कान्यकुब्ज देश में था यह ऊपर कहा जा चुका है और यह भी कि कुरुक्षेत्र तक उसका प्रसार था। प्राचीन ग्रंथों में कुरुओं की गणना मध्यदेशवासियों में की गयी है।

प्राचीन पांचाल के अन्तर्गत प्रधानतः बरेली, बदायूं, एटा, फर्रुखाबाद, रुहेलखण्ड के अन्य जिले तथा मध्य दोआब का भाग आते हैं। इस देश के पूर्व में गोमती नदी, दक्षिण में चम्बल, उत्तर पश्चिम में कुरुदेश तथा पश्चिम में सूरसेनों का देश था। महाभारत में पांचाल के दो भागों का उल्लेख है यानी उत्तरा पांचाल तथा दक्षिणी पांचाल जो गंगा नदी द्वारा विभाजित होते थे। इनकी राजधानियाँ क्रमशः अहिच्छत्रा तथा कापिल्य (आधुनिक कम्पिल जो कन्नौज नगर से कुछ दूरी पर है) थीं। इसी काम्पिल्य नगर में द्रोपदी का स्वयंवर हुआ था जिसमें अर्जुन उत्तीर्ण हुए थे।

प्राचीन इतिहास के कुछ काल में पांचाल एक स्वाधीन राज्य रहा तथा कुछ

---

१. कान्यकुब्जा द्विजाः श्रेष्ठाः (वामन पुराण ८९-५१)।

२. वाराह संहिता अ० ११४। वाराहमिहिर का समय छठी शताब्दी माना जाता है।

समय दूसरों के आधिपत्य में। गुप्तकाल (३२०-६०० ई०) में वह फिर एक स्वतंत्र राज्य हो गया। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया जिनमें से एक मौखरि राज्य था जिसकी राजधानी कन्नौज थी। उसके बाद कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन के अधिकार में आया (६०६-६४८ ई०)।

मत्स्य देश इन्द्रप्रथ (इस समय की दिल्ली) के दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम भूभाग को कहते हैं—भरतपुर और उसके निकट। उक्त देश में उत्तरी-पूर्वी राजस्थान की भूमि, अलवर, कुछ जयपुर, तथा भरतपुर हैं। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र में थानेश्वर से सरस्वती नदी की तराई होते हुए कुछ पंजाब का भाग भी आता है। अतः यह दोनों क्षेत्र पूर्णतया कान्यकुब्ज देश के ही अंग थे।

एक तर्क और है। भरतपुरियों की गणना ब्रजवासियों में है और ब्रज सर्वथा कान्यकुब्ज देश के अन्तर्गत था। फर्रुखाबादी बंगेश नवाब (पठान वंशी) और भरतपुर नरेश सुजान सिंह (सूरज मल जाट) के युद्ध प्रसंग में सूदन कवि ने सुजान सिंह की प्रशंसा करते हुए उन्हें "ब्रजवासी" लिखा है—

> आइ भिरे ते उछाह भरे नहिं नेक डरे रनवीर विलासी,
> खाइ के घाय अघाय गए तरवारि की घारलही तिनुकासी।
> सूदन सोइ सराहि करें मुखते उचरें धनि रे ब्रजवासी,
> तोहि आसीसत सिंह सुजान पठान भए जे विमान के वासी॥

और भी। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की प्राचीन वसति तथा यज्ञ स्थलियाँ अर्थात् यमुना नदी के दक्षिण किनारे-किनारे का बहुत सा भूभाग (काल्पी, मदावर, हमीरपुर आदि) इसी कान्यकुब्ज देश में था।

विनयपिटक के निम्न वाक्य भी कान्यकुब्ज देश (मध्यदेश) को इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

'मध्यदेशो भवन्तो देशनामग्रः। इक्षु-शालि-गो-महिषी स्न पन्नो भेक्षुक शतकलितो दस्युजनविर्वजित आर्यजनाकीर्णो विद्वज्जन निषेनितः। यत्र नदी गंगा पुण्या मंगल्या शुचि शोचेय-सम्मता उभयतः कूलान्मभिष्यन्दमाना आवहति। अष्टादशवक्रो नाम ऋषीणामग्र पदः। यत्र ऋषयः तपश्चर्यया स्व शरीरं स्वर्ग कामयमानाः।'

भावार्थ—एक भिक्षुक अपने स्थान का परिचय इस प्रकार होता है—हे महात्मागण! देशों में मुख्य मध्य देश है। ईख, धान, गाय, भैंस से सम्पन्न, अनेक भिक्षुओं से सुभूषित, डाकुओं से रहित, आर्यों से भरपूर विद्वानों से सेवित, जहाँ पुण्य मंगलदायिनी पावन करने वाली गंगा नदी दोनों तटों से विमंकित होकर बह रही है, महर्षियों में अग्रगण्य ऋषि अष्टावक्र जहाँ हुए, जहाँ अन्य तपोधन स्वर्ग

की कामना से तपश्चर्या करते-करते अपने कलेवर को पुनीत करते हैं (उस पवित्र तथा प्रसिद्ध देश से मेरा यहाँ आना हुआ है)।

विश्वामित्र ने सोन नदी के पार तथा विंध्याचल के पूर्वी सिरे पर 'सिद्धाश्रम' में यज्ञ किया था जैसा कि वाल्मीकीय रामायण तथा भागवत् की कथानक से जान पड़ता है। वही असुर द्वार समझ पड़ता है। इस दृष्टि से भी विंध्य के दक्षिण तथा सोन के पूर्व विजातियों का निवास पाया जाता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्थूल रूप से कान्यकुब्ज देश पाटलिपुत्र[1] तथा सोन से पश्चिम और विन्ध्य तथा नर्मदा[2] से उत्तर होता हुआ तथा यमुना का दक्षिणी भूभाग लेता हुआ राजपुताना से सरस्वती के किनारे-किनारे तक था।

यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि वाराणसी के आगे का पूर्वी प्रदेश तथा मध्य भारत का दक्षिणी प्रदेश अथवा उत्तराखण्ड[3] के निवासियों की सभ्यता और एतद्देशीय में अन्तर है। इसका उत्तर यह है कि सीमान्त प्रदेशों में केन्द्रभूती सभ्यता का आदर्श नहीं मिल सकता। वे प्रदेश दो भिन्न सभ्यताओं के उतार-चढ़ाव में निमग्न होते रहने के कारण दोनों से विलग और साथ ही दोनों में सम्मिलित कहे जा सकते हैं।

पद्म पुराण के निम्न श्लोक से भी कान्यकुब्ज देश की सीमा निर्धारित होती है—

कन्याकुब्जेति विख्यातं गुह्य तीर्थं सदा मम।
वार्षमती च पुरी प्राच्यां दक्षिणेतु कलापपूः ॥१५॥
भूमिग्राम पश्चिमे च उत्तरे नैमिषालयम्।
एतन्नाभ्यंतरं विद्धिन प्रकाश्यं मयाक्वचित ॥१६॥[4]

अर्थात् (श्री विष्णु जी कहते हैं) विख्यात कान्यकुब्ज हमारा गुह्यतीर्थ है। इसके पूर्व में वार्षमतीपुरी और दक्षिण में कालपी है। पश्चिम में भूमिग्राम[5] तथा उत्तर में नैमिष क्षेत्र है।[6] इसका पृथ्वी की नाभि (केन्द्र स्वरूप) जानना

---

१. गंगा और सोन के संगम पर था, जो गंगा से विमग्न हो चुका है।
२. नर्मदा नदी को माहिष्मती भी कहा गया है। माहिष्मती नगरी भी थी जो हैहय वंशी (कलचुरियों) की राजधानी थी। जबलपुर के नीचे भरे गढ़ के पास विन्ध्य और ऋक्ष पर्वतों मध्य नर्मदा तट पर कही जाती है।
३. पहाड़ी ब्राह्मण और पहाड़ी क्षत्री अपने को कान्यकुब्ज बतलाते हैं।
४. प० पु० कु० ख० क० मा० ५।१५-१६।
५. यह एक प्राचीन तीर्थस्थली थी जिसका ठीक स्थान निश्चित नहीं है।
६. नैमिषारण्य।

चाहिए। हमने किसी पर यह प्रकाशित नहीं किया है। (इन श्लोकों के पूर्व के श्लोक में कन्याकुब्ज को पृथ्वी का 'नाभिभूत' कहा गया है)।

नोट—समय के परिवर्तन से अनेक स्थानों के नामों में भी विशेष परिवर्तन हो गया है जिससे उनका निश्चय करना कठिन है। तदनुसार 'वार्षमती' स्थान का भी ठीक निश्चय नहीं किया जा सका है यद्यपि कुछ विद्वानों का मत है कि बिठुर (ब्रह्मावर्त) (जिला कानपुर) का नाम वार्षमती है। यदि वार्षमती प्राचीन नगरी वसुमती[1] का रूपान्तर है तो वाराणसी जनपद के नीचे पूर्व तक यह प्रदेश पहुँचता है। इन सीमाओं को मिलाने से कन्नौज (कान्यकुब्ज) के अन्तर्गत सीतापुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, कानपुर, फतेहपुर, इटावा, हमीरपुर, इलाहाबाद और वाराणसी के जनपद आते हैं।

कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की वसीत भी इन्हीं जिलों में रही है जिससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। जो आर्य ब्राह्मणों का मुख्य और पवित्र स्थान था उसी की संज्ञा 'अन्तर्वेद' थी।[2] यज्ञादि के बाहुल्य से इसका यह नाम हुआ—'अन्तर्गता वेदिर्यत्रदेशे' अर्थात् जहाँ पर यज्ञ की वेदियाँ अन्तर्गत थी यानी जहाँ यज्ञें होती रहती थीं। देवताओं की प्रिय भूमि वही है जहाँ से आर्य जाति का अभ्युदय है और वेदोक्त ब्रह्मयज्ञ की प्रतिष्ठा है। कहा भी है 'एतेभगवत्यो' भूमि देवानां मूलमायनम् अन्तर्वेदि—(अन्तर्वेद भगवान और देवताओं का मूलस्थान माना जाता था)।

उसी भूभाग का नाम ब्रह्मावर्त है।

इस द्वाब के पूर्वी भाग को लेते हुए गंगातट को, जो उर्वरा और समृद्धशाली था, महाभारत में माकन्दी कहा है। वह पांचाल देश का अंग मात्र था।

कान्यकुब्ज अथवा मध्यदेश[3] कोई अमुख्य या छोटा कभी नहीं समझा गया। पद्म पुराण के अनुसार गंगा और यमुना के बीच का प्रदेश मध्यदेश कहा जाता था, यथा—

गंगा यमुनयोर् मध्ये मध्यदेशोऽतिविश्रुतः।[4]

(गंगा और यमुना के मध्य का प्रदेश मध्यदेश कहलाता था।)

---

१. कुशिक वंश के वसु नामक राजा ने यह नगरी बसाई थी जो वाराणसी और नदी सोन के बीच में अनुमानित होती है।

२. आप्टे ने कुल हरद्वार तक के द्वाब भूभाग को 'अन्तर्वेद' बताया है।

३. अंगरेजों के समय मध्य भारत (Central India) और प्राचीन मध्यदेश (Mid India) में भ्रम न रहना चाहिए।

४. प० पु० कु० खं० क० मा० १५।२।

कान्यकुब्ज क्षेत्र एक समय मध्य देश के नाम से भी जाना जाता था। इस प्रकार कान्यकुब्ज क्षेत्र भारत का एक बड़ा भूभाग था।

भारत के ज्योतिष शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य वराहमिहिर (छठी सदी) ने अपनी पुस्तक पंचसिद्धान्तिका में पृथ्वी के नवखण्डों की नामावली दी है जिनमें कान्यकुब्ज भी एक कहा गया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि कान्यकुब्ज एक विस्तृत भूभाग था। ज्योतिष के अरबी विद्वान अलबुर्जवी (ग्यारहवीं सदी) के अनुसार भी पृथ्वी के नव खण्डों में कान्यकुब्ज भी एक था यद्यपि दोनों नामावलियों के नामों में अन्तर है।

कान्यकुब्ज प्रदेश के विस्तार के साक्ष्य निम्न उद्धरण भी हैं—

[१]

पद्म पुराण के अन्तर्गत कुमारिका खण्ड (कान्यकुब्ज माहात्म्य) के अध्याय ५ के निम्न श्लोकों से इस प्रदेश के परिमाण का आभास मिलता है—

कियत् परिमितं तीर्थं कुत्र तिष्ठन्ति देवताः।
तीर्थानि कानि कानीह तानि नौवद विस्तरात् ॥९॥

× × ×

मैरोर्वे दक्षिणे कुले पर्वतत्रयमुत्तमम्।
निषधो हेमकूटश्च हिमवांश्च ततः परम् ॥१२॥
योजनं पंच पंचाशत् नैमिषं शौनकालयम्।
हिमालयाद् दक्षिणे कूले गौतम्याश्च तटे शुभे ॥१३॥
सरयू भागीरथीः मध्ये सर्व तीर्थाश्रयं भुवि।
नैमिषद् योजने पंच नाभि भूमेः सनातनम् ॥१४॥
कन्याकुब्जेति विख्यातं गुह्यं तीर्थं सदामम।
वार्षमती च पुरो प्राच्यां दक्षिणेतु कलाप पूः ॥१५॥

भावार्थ—(श्लोक ९)—नारद जी ने सनातन मुनि से इस प्रकार पूछा—इस (कान्यकुब्ज तीर्थ) का परिमाण क्या है तथा इसमें देवताओं का निवास कहाँ कहाँ पर है और कौन-कौन तीर्थ यहाँ पर है ? उनका सविस्तार वर्णन कीजिये।

तब सनातन मुनि ने कहा कि विष्णु भगवान द्वारा जो हमसे प्रथम माहात्म्य कहा गया है वह हम संक्षेप में तुम्हारे सम्मुख वर्णन करते हैं।

(श्लोक १२)—सुमेरु (पर्वत) के दक्षिण की ओर निषध, हेमकूट तथा हिमालय नामक तीन उत्तम पर्वत हैं। (श्लोक १३)—हिमालय के दक्षिण की

ओर ५५ योजन[1] के अन्तर पर गोमती के तटपर शौनकादिकों का निवास स्थान नैमिष क्षेत्र हैं। (श्लोक १४)—सरयू और भागीरथी (गंगा) के मध्य में यह नैमिष क्षेत्र है। हे सनातन् नैमिष से ५ योजन (४० मील) के अन्तर पर पृथ्वी का नाभिभूत (खेन्द्र स्वरूप) (श्लोक १५)—हमारा विख्यात कन्याकुब्ज गुह्य तीर्थ है। इसके पूर्व में वार्षमतीपुरी और दक्षिण में कालपी है।

[२]

महाभारत्, आदिपर्व अध्याय १७४, श्लोक ३–
कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थि वो भरतर्षम।
गाधीति विश्रुतोलोके कुशिकस्याऽऽत्मसम्भवः ।।

अर्थात्, भरतवंश शिरोमणे (अर्जुन), कान्यकुब्ज देश में एक बहुत बड़े राजा थे, जो इस लोक में गाधि के नाम से विख्यात थे। वे कुशिक के औरस पुत्र बताये जाते हैं। (आगे के श्लोक में बताया गया है कि गाधि के पुत्र तथा उत्तराधिकारी विश्वामित्र थे)।

[३]

कवि राजशेखर (८५७-८८४ ई०) ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में भारत की महिमा के सम्बन्ध में कुछ श्लोक लिखे हैं जिनमें से एक नीचे उद्धृत किया जाता है। इस श्लोक की पृष्ठभूमि में उन्होंने पहले सात महाद्वीपों का उल्लेख किया है जिनमें एक जम्बूद्वीप भी है जिसके अन्तर्गत भारतवर्ष आता है। फिर बाद में लिखा है—

मध्ये जम्बूद्वीपमाद्यो गिरीणां
मेरुर्नाम्ना कांचनः शैलराजः।
यो मूर्त्तानामोषधीनां निधानं
यश्चावासः सर्ववृन्दारकाणाम् ।।

अर्थात् जम्बूद्वीप के मध्य में पर्वतों का प्रथम राजा सुवर्णमय मेरु पर्वत है जो मूर्तिमान औषधियों का आकार और समस्त देवताओं का आवास स्थल है।

वाराणसी (प्राचीन काशी) भी कान्यकुब्ज राज्य के अन्तर्गतः

प्राचीन काल की काशी नगरी, बाद में बनारस और अब वाराणसी, एक अत्यन्त धार्मिक स्थल तथा संस्कृत विद्यापीठ के रूप में प्रतिष्ठित थी तथा अब भी है। यदा कदा यह एक छोटे से राज्य की राजधानी भी रही किन्तु अधिकतर यह कान्यकुब्ज राज्य के अन्तर्गत रही। कन्नौज के गाहरवाल वंश के शासक

१. योजन का परिमाण ८ मील के बराबर माना जाता है।

(सन् १०८५-१२००) अपने को काशिराज भी कहते थे। उसके पूर्व काशी का राज्य कौशल राज्य के उत्कर्ष के समय उसी राज्य में विलीन हो गया था। गौतम बुद्ध के समय (ई० पू० ५६३-ई० पू० ४८३) में वाराणसी धर्म, संस्कृति और ज्ञान का इतना महत्त्वपूर्ण केन्द्र था कि बुद्ध ने अपना प्रथम धर्मोपदेश यहाँ ही किया था।

मुसलमानी काल—इस काल में भी कन्नौज 'सरकार' पद को प्राप्त कर चुका था, अर्थात् वह एक बड़ा सूबा था और कन्नौज नगर सेबेदार की राजधानी थी। उस समय इसमें ३० मुहाल अथवा परगने लगते थे। उनके नामों से ज्ञात होता है[1] कि निम्न स्थल परगनों के रूप में इसी सरकार या सूबे में लगते थे :

फर्रुखाबाद के कतिपय स्थल,
कानपुर के कस्बे, यानी बिठुर या
ब्रह्मावर्त, बिल्होर, नारामऊ,
हरदोई (बिलग्राम),
मयनपुरी अथवा मैनपुरी (कुरावली, भूगाँव),
एटा (सकीट, से हावर, पटियाली,
इटावा (फफूंद)।

यवन काल का अवसान होने के पहिले ही इस प्रान्त ने अपने फैले पंखों को संकुचित कर लिया था, मानों उसके उर्ध्वगामी होने का समय निकल गया है। जौनपुर साम्राज्य होने का दावा करके इधर अग्रसर होने लगा। लखनऊ और फैजाबाद दिल्ली के जर्जरित कोटरों से बाहर आने लगे। परिणाम यह हुआ कि कन्नौज एक राजहीन सरकार सा स्वयं बना रहा। राजकीय दृष्टि से वह महत्व-शून्य नहीं रहा। किन्तु आज दिन वह नाम केवल एक तहसील के रूप ही में सन्तोष कर रहा है।

---

१. आईने अकबरी।

अध्याय-३

कन्नौज नगर, पूर्व नाम तथा प्रतिष्ठा

सारपत्रक

१. पूर्वाङ्ग
२. पहले के नाम
३. उन नामों की व्याख्या :—
   (१) महोदय;
   (२) कुशस्थली;
   (३) गाधिपुरी;
   (४) कान्यकुब्जपुर;
   (५) कुसुमपुर;
   (६) शाहाबाद;
   (७) जाफराबाद;
   (८) कन्नौज (वर्तमान नाम)।
४. नगर की पूर्व प्रतिष्ठा

१. पूर्वांग

आज दिन कन्नौज नगर गुणहीन, गौरवहीन और अगण्य सा है। जिस नगर को एक विस्तृत साम्राज्य की राजधानी का गौरव प्राप्त था अब वह एक जनपद भी नहीं है अपितु फर्रुखाबाद जनपद का केवल एक तहसीली मुख्यालय (तहसील या Sub-division) ही है। मद्रस, बम्बई, दिल्ली आदि की तुलना में कन्नौज नाम का कहीं अधिक विकास प्राचीन काल में था किन्तु सम्प्रति क्षीणता के कारण वह अपना पूर्व बल–वैभव प्रदर्शित करने में असमर्थ है। उसकी महानता केवल विद्वानों के मस्तिष्क तथा ऐतिहासिक पुस्तकों तक ही सीमित है।

अब का कन्नौज एक साधारण कोटि का शहर है जो कानपुर के पश्चिम और लगभग ६० क्रिलोमीटर पर राष्ट्रीय मार्ग ग्रान्ड ट्रंक रोड के समीप स्थित है। पूर्व काल में यह गंगा के दक्षिण तट पर बसा हुआ था किन्तु अब पानी का बहाव, वर्षा ऋतु को छोड़कर, बस्ती से लगभग ५-६ किलोमीटर की दूरी पर है।

अनैतिहासिक काल से लगाकर अद्यावधि जीवित रूप में बना रहना—चाहे वह जीर्ण दशा ही में क्यों न हो—यह सौभाग्य कन्नौज को अवश्य प्राप्त है जबकि कतिपय प्राचीन स्थानों का अस्तित्व ही मिट गया है। यथा—

रहे नहीं वे दारा[1] सिकन्दर, रही नहीं वे बारादरी,
अजल[2] के मुँह में चले गए सब, न खुश्की रही न रही वह तरी।

२. पहले के नाम

कन्नौज नगर का अस्तित्व सत्ययुग से है जबकि इसका नाम महोदय था। उसके बाद इसका नाम क्रमशः कुशस्थली, गाधिपुरी तथा कान्यकुब्ज हुआ। यथा—

कृते महोदयं नाम त्रेतायां च कुशस्थली।
पुनर्गाधिपुरं जातं कन्याकुब्ज यतः परम्॥[3]

अर्थात् सतयुग में इसका नाम महोदय विख्यात था, त्रेता में प्रथम कुशस्थली फिर गाधिपुरी हुआ, उसके पश्चात् उसका नाम कन्याकुब्ज (अथवा कान्यकुब्ज) हुआ।

काल के परिवर्तन से इसके नाम फिर बदलते रहे और उपलब्ध जानकारी के अनुसार इसके निम्नलिखित नाम आमतौर पर प्रमाणित माने जाते हैं :—

१. महोदय,
२. कुशस्थली,
३. गाधिपुरी,
४. कान्यकुब्जपुर,
५. कुसुमपुर,
६. शाहाबाद,
७. जाफराबाद,

---

१. दारा का अभिप्राय फारस (अब ईरान) के एक महान् शक्तिशाली सम्राट से है जिसका राज्यकाल ई० पू० ५२२ से ४८९ तक था। इसे डेरियस (अंग्रेजी में Darius) तथा दारायवहु भी कहते हैं। उसके साम्राज्य का एक प्रान्त सिन्धु घाटी भी था। यह दारा, शाहजादा दारा शिकोह से भिन्न है जो शाहजहाँ का जेष्ठ पुत्र था और जो उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब द्वारा मारा गया था।
२. अजल का अभिप्राय काल से है, वक्त मुकर्रर, मौत का वक्त, तकदीर।
३. प० पु० कु० सं० क० मा० १५।१७।

८. कनउज, (कनौज)

९. कन्नौज (वर्तमान नाम)।

इन नामों की उत्पत्ति आदि नीचे के अविभावों में वर्णित है।

३. पहले के नामों की व्याख्या

(१) **महोदय**--कन्नौज नगर का बाल रूप हम उसके सर्वप्रथम नाम महोदय से अनुमान कर सकते हैं। यह सत्ययुग में बसाया गया था और तभी इसका नामकरण हुआ (कृते महोदयम्[1] अर्थात् कृतयुग (सत्ययुग) में महोदय)।

आसुरी आतंक से आर्य (अथवा सुर) समुदाय नष्टप्राय हो चुका था। धरातल में उनके लिए पग धरने का ठौर न था। असुर स्वामित्व से बचने का कोई उपाय दृष्टगत न था। राजा बलि उस समय असुरों का सरगना था और लगभग समस्त भूभाग पर उसका आधिपत्य था। शारीरिक बल से बलि को दबाना असम्भव था।

ऐसी नैराश्य दशा में भगवान वामन का अवतार हुआ गीता में कहे गए अभिप्राय से :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत्।
अभ्युथानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४।७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मं संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥४।८॥

[हे भारत (अर्जुन)! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ, अर्थात् प्रकट करता हूँ (७)। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ।]

जब बालविप्र वामन सुरवृन्द के संकट मोचन में सफल मनोरथ हुए और राजा बलि से यह भूभाग भी प्राप्त कर लिया[2] तब एक विशद ब्रह्म यज्ञ की आयोजना की गयी। ब्रह्मावर्त (बिठुर, जिला कानपुर)[3] में बड़े समारोह से यह यज्ञ सम्पन्न हुआ। इसी महोत्सव के उपलक्ष में महोदय[4] नगर का निर्माण

---

१. प० पु० कु० खं० क० मा०, १५।१७।

२. इसका सविस्तार कथन अगले अध्याय मे होगा।

३. यहाँ कवि वाल्मीक ऋषि का आश्रम भी बना है। कन्नौज से यह लगभग ४० किलोमीटर है। जलमार्ग (गंगानदी) से फासला कम है।

४. यह शब्द परम उन्नतिसूचक है। आप्टे के कोष में उसे "Very glorious; lucky; of great prosperity; great elevation or rise" की संज्ञायें दी गयी हैं।

हुआ जो आर्य विजय का स्मारक है। नगर उस स्थान पर बसाया गया जहाँ ऋषिवृन्द का निवास ब्रह्मयज्ञ के समय रहा था। इसी से बिठूर[1] और प्रदेश की संज्ञा ब्रह्मावर्त होना भी सिद्ध है।

इस आख्यायिका से प्रगट है कि मन्दाकिनी के रम्य कूल से मोहित हो वे ही ब्रह्मवर्धन वेदज्ञ ऋषिकुल अनुयायियों सहित वहाँ के मुख्यवासी हुए होंगे। उनकी संख्या कम नहीं हो सकती, इसका अनुमान इतने से ही हो जाता है कि रंग भूमि बिठूर और कन्नौज के बीच कितना फासला है।

प्राचीन राजधर्म के अनुसार महर्षियों की सुविधा और शान्ति का ध्यान रखना अपेक्षित था। इस प्रकार महोदय नगर की नींव पड़ते दृष्टिगोचर होती है।

नोट :—पद्म पुराण के अनुसार कन्नौज नगर का नाम महोदय होने के बाद वाराणसीपुरी था। यथा—

पूर्व महोदयं जातं पश्चाद् वाराणसीपुरी।[2]

(अर्थात् पहले इसका नाम महोदय हुआ, उसके पश्चात् वाराणसीपुरी हुआ।) किन्तु अन्यत्र इस कथन का प्रमाण नहीं मिलता। अतएव यह नाम कदाचित् सूक्ष्म कालिक था।

(२) कुशस्थली (शशस्थली) :—धार्मिक वातावरण में पोषित इस जनसमूह ने इतनी उन्नति की कि सारा प्रदेश एक रूप कर दिया और वैदिक कर्मकाण्ड ने उसे अन्तर्वेदि की उपाधि प्रदान की। शशस्थली भी इसी प्रदेश का नाम था। यह नामकरण ख्यात निवासियों के सद्‌गुणों से है जैसा कि शब्द से स्वयं स्पष्ट है।

जब शशस्थली धर्म, विद्या और सभ्यता का केन्द्र बनने लगी तब महोदय की विकसित समृद्धि ने धार्मिक राजाओं की दृष्टि को आर्कषित किया और त्रेतायुग में कुशिक राजवंश ने इसे अपनी राजधानी बनाया और उसका नामकरण कुशस्थली[3] किया, यथा—

त्रेतायां च कुशस्थली।

अर्थात् त्रेता युग में उसका नाम कुशस्थली हुआ।

---

१. यहाँ ब्रह्मा ने अश्वमेध किया था, इस जन श्रुति का उल्लेख Kanpur Gazetteer में है।

२. प० पु० कु० ख० क० मा० १५।२२।

३. कुशस्थली नाम की एक दूसरी भी नगरी थी—का० कु० भ०।

(३) गाधिपुरी :—उसी राजवंश के महाराज गाधि की राजश्री से सम्पन्न हो गाधिपुरी भी इसका नाम हुआ। यथा—

कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवो भरतवर्षभ।
गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्यात्म सम्भवः।।

—महाभारत, आदि पर्व, चैत्र० १७४।३

अर्थात्, भरतवंश-शिरोमणि (अर्जुन), कान्यकुब्ज देश में एक बहुत बड़े राजा थे जो इस लोक में गाधि के नाम से विख्यात थे। वे कुशिक के औरस पुत्र बताए जाते हैं।

महोदय, गाधिपुरी तथा कान्यकुब्ज (कन्याकुब्ज) नाम प्रायः ग्रन्थों में पाए जाते हैं।

(४) कान्यकुब्जपुर :—गाधिपुरी के बाद इस नगर का नाम कन्याकुब्जपुर (कन्याकुब्ज नगर) अथवा कान्यकुब्जपुर (या कान्यकुब्ज नगर) पड़ा। यह नाम इस कारण हुआ कि महाराज गाधि की १०० पुत्रियाँ जो प्रारम्भ में बड़ी स्वरूप-वान थीं वायु के प्रकोप से कुब्जा (कुबड़ी) हो गयी थीं। बाद में तेजस्वी और परम धार्मिक चूलि ऋषि के पुत्र ब्रह्मदत्त से उन सबका पाणिग्रहण होते ही वे सब पुनः स्वस्थ हो गयी। उन सबों के एक साथ कुब्जा हो जाने पर इस नगर को (जिसमें वे रहती थीं) कन्या-कुब्जपुर की संज्ञा दी गयी। इसी का विकल्प कान्य-कुब्जपुर अथवा कान्यकुब्ज नगर है।

उक्त कन्याओं का वृतान्त अध्याय २ (कान्यकुब्ज देश, उसके प्राचीन नाम और विस्तार) में दिया गया है।

इस नाम से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियाँ भी हैं जिनमें से एक इस प्रकार है :—महाराज भरत (श्रीराम के भाई नहीं) की माता शकुन्तला के पालनकर्ता महात्मा कण्व मुनि के अनुयायियों ने गंगा तट पर कुब्जक पुष्प वृक्षों से परिवेष्ठित एक कुटीर बनाई थी जो कण्व कुब्जिका के नाम से विख्यात हुयी। कालान्तर में वह कान्यकुब्जिक क्षेत्र की सूचक बन गयी।[1]

एक दूसरी जनश्रुति 'कुब्जिका' शब्द पर आधारित है। कुब्जिका का अर्थ आठ वर्ष की अविवाहित कन्या होता है ऐसा तंत्र ग्रन्थों में लिखा है। यथा "सप्तभिर्मालिनी साक्षादष्टवर्षा च कुब्जिका" अर्थात् आठ वर्ष की कन्या को कुब्जिका कहते हैं। ये कुब्जिका कन्यायें कन्नौज के चारों ओर फैले हुए मल्लिका,

---

१. इस जनश्रुति का जिक्र पं० हनुमान प्रसाद बाजपेयी ने अपने एक लेख में किया है जो दिल्ली से प्रकाशित "कान्यकुब्ज दर्पण" नामक पत्रिका में छपा था।

चमेली आदि के उपवनों से फूल चुन कर देवालयों के पुजारियों को लाकर देती थीं और यह एक व्यवसाय बन गया था। इन्हीं कानन कुब्जिका कन्याओं से कान्यकुब्ज शब्द बन गया। इस जनश्रुति की पुष्टि इस बात से होती है कि वर्तमान कन्नौज भारतीय सुगन्ध का केन्द्र आज भी है और इस व्यापार में एक अग्रगणीय नगर है।[1]

ऐसा भी कहा जाता है कन्नौज क्षेत्र में गंगा की तलहटी में स्थान-स्थान पर कुण्ड थे जिनमें सिंघाड़े की बेलों को लगाने तथा सिंघाड़े का व्यवसाय होता था। सिंघाड़े की बेलों के जंगल अथवा स्थान "कानन कुब्जकम्' कहे जाते थे और इसी आधार पर कान्यकुब्ज नगर तथा देश की उत्पत्ति हुयी।[1]

(५) **कुसुमपुर** :—यह नाम यहाँ की उद्यानावली के कारण पड़ा हुआ जान पड़ता है अर्थात् यह नाम स्थान की शोभा का सूचक था। जयपाल[2] के इतिहास में ऐसा वर्णन मिलता है। इस नाम का एक और भी नगर था। पाटलिपुत्र (आजकल का पटना) को भी विशाखदत्त ने कुसुमपुर, पुष्पपुर के नाम से उल्लिखित किया है।[3] यह नाम अल्पजीवी रहा।

(६) **शाहाबाद** :—सम्राट शाहजहाँ ने कुछ समय तक यहाँ निवास किया था। उसका मनसूबा इसे राजधानी बनाने का भी समझ पड़ता है किन्तु यह हुयी नहीं। यह नाम भी केवल कुछ दिन ही चला।

(७) **जाफराबाद** :—कतिपय पुराने कागजों में कन्नौज के किसी भाग का यह नाम लिखा मिलता है। किन्तु इसका भी कोई महत्व नहीं है।

(८) **कन्नौज (वर्तमान नाम)** :—ऊपर हुए नामों में कुछ दीर्घ काल तक चले, कुछ अल्पजीवी रहे जैसे कुसुमपुर, शाहाबाद, जाफराबाद। केवल कन्या-कुब्ज (या कान्यकुब्ज) अपने अपभ्रंश के रूप में अब भी जीवित है। अपभ्रंश का रूप सामान्यतः कन्नौज है किन्तु इसके विकल्प भी हैं अर्थात् कनोज, कनउज, कनवज। आसपास के क्षेत्र में और जिले (फर्रुखाबाद) में आम तौर पर इसे कनउज कह कर सम्बोधित करते हैं।

११. नगर की पूर्व प्रतिष्ठा

कान्यकुब्ज नगर को विष्णुपुरी की मर्यादा—प्राचीन काल में कान्यकुब्ज नगर को विष्णुपुरी की मर्यादा प्राप्त थी। कान्यकुब्जपुरी सिद्ध पीठ की भाँति

१. उक्त कथन का आधार श्री सुनील दत्त मिश्र (कन्नौज निवासी) का एक लेख है जो लखनऊ से प्रकाशित "कान्यकुब्ज विज्ञान" में छपा था।

२. जयपाल प्राचीन काल में कान्यकुब्ज राज्य के शासक थे। बाद में राज्य परित्याग कर विरक्त हो गये थे।

३. मुद्रा राक्षस।

पूजित थी जहाँ ऋषि मुनि निवास कर ब्रह्मविद्या का अध्ययन करते थे तथा मार्मिक तत्त्वों के आधार पर जीवन व्यतीत करते थे। यहाँ मनुष्यों को देवत्व प्राप्त होता था। इसे अति पवित्र धार्मिक तीर्थों का केन्द्र माना जाता था जहाँ उत्तर भारत के सभी मुख्य तीर्थ सांकेतिक रूप से एक ही क्षेत्र में स्थापित किये गये थे। पद्मपुराण के कुमारिका खण्ड में कन्याकुब्ज माहात्म्य के अन्तर्गत इस क्षेत्र के धार्मिक स्थानों तथा उनके माहात्म्य का विस्तृत वर्णन है।

उक्त पुराण के निम्न पदों से ज्ञात होता है कि श्रीविष्णु भगवान् ने कान्यकुब्जपुरी को अपना ही तीर्थ माना है। यह पद स्वयं विष्णु जी द्वारा उच्चारित हुए हैं—

कन्याकुब्जेति विख्यातं गुह्य तीर्थं सदा मम ॥[1]
(विख्यात कान्यकुब्ज हमारा गुह्य तीर्थ है।)
कन्याकुब्जं पर स्थानं मम प्रातिकरं सदा ॥[2]
(यह कन्याकुब्ज स्थान श्रेष्ठ तथा हमारा प्रिय स्थान है)
कन्याकुब्जं महापीठ धरण्यां पावनं परम् ॥[3]
(कन्याकुब्ज महापीठ पृथ्वी पर अत्यन्त पवित्र स्थान है।)
गंगा कृष्णा द्वयोः संगम मम दान स्थली वले ॥[4]

(गंगा और काली नदी का संगम हमारी दान स्थली है। नोट—यह संगम वर्तमान नगर से लगभग ६ मील पूर्व की ओर है।)

काशी तो द्विगुणं पुण्यं स्नान दान जपादिषु ।[5]

(कन्यकुब्ज में स्नान दान जपादि करने का पुण्य काशी से दूना होता है।)

कन्याकुब्जस्य माहात्म्यं विष्णुनभाषितं तुयः।
श्रणुयाद् धर्म निरतः सर्वार्थं फल भाग्भवेत् ॥[6]

(विष्णु का कहा हुआ कन्याकुब्ज का माहात्म्य धर्मयुक्त हो जो व्यक्ति सुनता है वह सब फलों को प्राप्त करता है।)[7]

---

१. प० पु० कु० ख०, क० मा०, ५।१५।
२. वही, ५।१७।
३. वही, १२।२।
४. वही, १२।४२।
५. वही, १५।३१।
६. वही, १५।३१।
७. पद्मपुराण अन्तर्गत कन्याकुब्ज माहात्म्य श्री विष्णु भगवान तथा सनातन (ब्रह्मा के पुत्र) आदि के बीच प्रश्नोत्तर रूप में वर्णित है। प्रश्नों के उत्तर में श्री विष्णु ने सभी सम्बन्धित बातें बताई हैं।

उक्त पदों के अतिरिक्त उसी पुराण में सनातन जी ने निम्न श्लोक नारद मुनि को सम्बोधित करके कहा है :—

यत्र सन्निहितो विष्णुः चतुर्षु च युगेषु च।
यत्र ब्रह्मादयो देवास् सिद्धाः च कपिलादयः ॥[१]

अर्थात्, वहाँ (कान्याकुब्ज में) चारों युगों में श्री विष्णु भगवान् का निवास रहता है तथा वहाँ ब्रह्मादिक देवतागण और कपिलादिक सिद्धगण निवास करते हैं।

उक्त पुराण में यह भी कहा गया है कि कान्यकुब्ज नगर श्री विष्णु भगवान का परम प्रिय स्थल था, यथा—

सर्वसिद्धं करं क्षेत्रं सद्यो मुक्ति प्रदायकम्।
तत्र जाता मनुष्याये मम नित्यं महत्प्रियाः।[२]

अर्थात् श्री विष्णु भगवान कहते हैं कि यह क्षेत्र सर्व सिद्धियों का देने वाला और शीघ्र ही मुक्ति दाता भी है। यहाँ के उत्पन्न हुए व्यक्ति हमें अत्यन्त प्रिय हैं।

विद्यापीठ अथवा विद्या केन्द्र—कान्यकुब्ज नगर विद्या का केन्द्र भी था जहाँ देश के स्नातक वेद विद्या, शब्द विद्या, हेतु विद्या, चिकित्सा विद्या, अथर्ववेद, तंत्रविद्या, जंत्रमंत्र, इन्द्रजाल आदि अध्ययन करने आते थे। ज्ञानार्जन के उपरान्त वे परम तत्व के सार को देश विदेश में वितरित करते थे।

पं० गिरिजा शंकर त्रिपाठी (गिरिजेश) कान्यकुब्ज क्षेत्र पर एक काव्य लिखा है जिसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं :—

भारतीय संस्कृति सुजान के प्रदान हेतु
विश्वबीच कान्यकुब्ज का महान नाम था।
काव्यकला कौशल का केन्द्र था सुकीर्तिमान
साधना समृद्धि का विशेष धैर्य धाम था।
धर्मनिष्ठ कर्मनिष्ठ शासक सुयोग्य रहे
देश और विदेश का सुधार मुख्य काम था।

× × ×

कान्यकुब्ज गौरव प्रशंसनीय बड़े बड़े
धीर वीर और कर्मवीर विद्यमान थे।

---

१. प० पु० कु० खं० क० मा०, ५।२।

२. प० पु० कु० खं० क० मा० १५।१६।

आन वान शान खानदान में महत्वपूर्ण
गुणी ज्ञानवान एक एक से महान थे।
राजकाज साज का समाज था सराहनीय
धर्मवीर धारन महान धनवान थे।
गिरिजेश भाँति भाँति के बने सुउच्चकोटि
चारुचन्द्र चूमते मकान आसमान थे।

सन् १९७४ में कन्नौज नगर में एक पुरातत्व संग्रहालय की स्थापना हुयी थी जिसमें आस पास के इलाके में पुरातत्व विभाग द्वारा सन् १९५५ में खुदाई के फलस्वरूप प्राप्त प्राचीन सामग्री संग्रहीत है। उसी सामग्री के आधार पर पुरातत्व वेत्ताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि कन्नौज की सभ्यता कम से कम ३००० वर्ष पुरानी है।

पौराणिक काल में भी कन्नौज नगर विभिन्न शासकों की राजधानी थी। उन शासकों में से निम्न नाम पुराणों में मिलते हैं :—

अमावसु,
भीम,
कंच,
अनप्रभू,
सुहोत्र।

बौद्ध काल में भी यहाँ राजप्रासाद बनने का अनुमान है जैसा कि राजगिरि नाम से सिद्ध होता है। यह स्थान कन्नौज से लगभग ४ किलोमीटर पूर्व की ओर है। कान्यकुब्ज महात्म्य में इसके निर्माता बौद्ध धर्मावलम्बी समझ पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त इसी राजगिर में तथा पड़ोस के अन्य ठिकानों में भी बुद्ध मूर्तियों के खंडावशेष पाए गए हैं जो उक्त कथन को पुष्ट करते हैं। तथापि यह निश्चित नहीं कि मुख्य या अमुख्य राजधानी रूप में यह नगर रहा या नहीं रहा।

अनैतिहासिक काल में नगर की यथोचित शोभा का वर्णन अप्राप्य है। तत्कालीन वर्णन के अभाव में वह इतने ही अनुमान पर अवलम्बित है कि जिसकी उत्पत्ति उक्त प्रकार से हुई तथा जहाँ अनेक राजाओं ने नए नए नगर निर्माण किए उसका विस्तृत क्षेत्र कितना हो गया होगा। इस सन्दर्भ में नई दिल्ली और पुरानी दिल्ली की अनन्य पूर्व बस्तियों के नामों से उस क्षेत्र के विस्तार का जो अनुमान लगाया जा सकता है वही स्थिति कन्नौज के पूर्व विस्तार के सम्बन्ध में लागू होती है।

नगर के प्राचीन अस्तित्व और ऐश्वर्य समझने के लिए जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनका उपयोग आगे होगा।

सम्राट अशोक के इतिहास से ज्ञात होता है कि २५०० वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने यहाँ अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रचार किया था, अर्थात् प्राणिमात्र पर दया करते हुए शान्ति प्राप्त करना आदि। इससे सूचित होता है कि बुद्ध के समय में भी यहाँ विद्या का विस्तृत विकास था। बुद्ध के चिह्नों (दन्त, नख, केश) के मन्दिरों के उल्लेखों से आभास होता है कि तथागत ने यहाँ वास किया था।

इससे दो तीन सौ वर्ष पर्यन्त फिर हम नगर को वैसा ही महत्वपूर्ण पाते हैं। स्वयं अशोक ने यहाँ एक गगनचुम्बी स्तूप बनवाया था जो कपटेश्वरी (कबतिया, कनपटियापुर) ग्राम में बतलाया जाता है। अनेक हिन्दू मन्दिरों के अतिरिक्त उस समय यहाँ अन्य बौद्ध मन्दिर भी थे। उनमें से एक में बुद्ध की विशाल मूर्ति स्थापित थी और दो पुराने आश्रम थे। इन सब बातों से नगर की सम्पन्नता तथा विद्याभिरुचि प्रकट है।

इसके दो शताब्दी पश्चात् चीनी यात्री फाहियान ((Fa Hian, 405 A. D.) ने नगर कोट के नीचे कल्लोलिनी गंगा जी का वर्णन किया है। अशोक का बनवाया हुआ २०० फुट ऊँचा मीनार उस समय उपस्थित था।

उक्त तथ्यों से प्रतीत होता है कि उस समय तक नगर अज्ञात अवस्था में था।

इसके अनन्तर विदेशी यात्रियों के और लेखों के आधार पर नगर के अस्तित्व को कहा गया है। दूसरी शताब्दी में ग्रीस (Greece) देश के विद्वान टाल्मी (Ptolemy, 140 A. D.) ने अपनी पुस्तक कनौजिजा (Kanogiza) में कन्नौज का उल्लेख किया है।

इसके ५०० वर्ष पश्चात् हर्षवर्धन के समय (सातवीं शताब्दी) में दूसरा चीनी यात्री यूवान च्वांग आया। इसने देश का बहुत विशद् वर्णन किया है। बहुत समय तक यह सम्राट हर्ष के यहाँ कन्नौज में रहा। इसने नगर की लम्बाई ४ किलोमीटर से अधिक और चौड़ाई २ किलोमीटर के ऊपर लिखी है। बौद्ध चिह्नों में उसने दो स्तूपों और एक उस मन्दिर का कथन किया है जिसमें महात्मा बुद्ध के अंग चिह्न थे।

तत्पश्चात् जिन यवनों ने कन्नौज की श्री का वर्णन किया है उनमें इवन् वहाब, इवन, हौकल, अल्म सूदी और अबूजैद हैं। अबूजैद ने कन्नौज को भारत का प्रधान नगर बताया है।

यवन पदार्पण के पूर्व नगर की क्या दशा थी यह उन्हीं के वचनों से उद्धृत करना उचित है जिन्होंने इसका मूलोच्छेदन किया है। ग्यारहवीं शताब्दी के

प्रारम्भ में सुल्तान महमूद गजनवी यहाँ आता है, आक्रमण करने के आघात से निरीक्षण कर वह अपने गजनपति (Governor of Ghazani) के पत्र लिखते हुए कन्नौज का वर्णन करता है। उस वर्णन के बारे में उत्तर-पश्चिम प्रान्त के गजटीयर में निम्न उल्लेख है :—

"In 1017, when Mahmud of Ghazani-approached Kannauj, 'he saw there a city which raised its head to the skies, which in strength and structure might justly boast to have no equal.' But Mahmud's own impressions have been preserved in a letter to the Governor of Ghazni. 'Here', he writes' there are a thousand edifices firm as the faith of the faithful, most of them marble, besides innumerable temples. Nor is it likely that this city has attained its present condition but at the expense of many millions of denaria. Nor could such another be constructed under a period of two centuries."—North-Western Provinces Gazetteer, Vol. VII (1884), p. 296.

अर्थात् सन् १०१७ में जब महमूद गजनवी कन्नौज के निकट पहुँचा तब वहाँ उसने एक नगर को देखा जो अपना मस्तक आकाश में उठाए हुए था और जिसकी तुलना का कोई अन्य नगर न था। महमूद उस दृश्य से कितना प्रभावित हुआ था उसका उल्लेख उसने स्वयं एक पत्र में किया था जो उसने गजनी के राज्यपाल को लिखा था और जो पत्र अब भी उपलब्ध है। वह निम्न शब्दों में है :—

> "यहाँ पर एक हजार विशाल अट्टालिकाएँ हैं जो इतनी ही दृढ़ हैं कि जितना दृढ़ विश्वास इस्लाम धर्मावलम्बी का अपने धर्म में। इनमें से अधिकांश संगमरमर की हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ अगणित मन्दिर भी हैं। इस नगर की यह भव्यता लाखों दीवारों (उस समय के ईरान का एक स्वर्ण सिक्का) के व्यय से ही सम्भव जान पड़ती है। इस प्रकार का नगर दो सदियों से कम समय में निर्मित नहीं हो सकता।"

एक स्थान पर फिरिश्ता से और कथन मिलता है जिससे नगर के जन समूह और सघन आवादी का अनुमान होता है। इस नगर में ६०००० कथिक (गायक और नर्तक) परिवार और ३०००० तमोलियों की दूकानें थीं।[१] प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्मिथ ने १०००० देव मन्दिरों का उल्लेख किया है।[२]

---

१. N. W. P. Gazetteer, Vol. VII (1884), p. 287.
[उत्तर पश्चमी प्रान्त का गजेटियर, जिल्द सात (१८८४), पृ० २८७]।

२. वही पृष्ठ २९८।

टाड साहब[1] ने भी ३०००० तमोलियों की दूकानों का उल्लेख किया है और नगर की लम्बाई ३० मील लिखी है। इस ३० मील के सीमा स्थान नहीं दिये गये हैं। कन्नौज से पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओर यह सम्भव है। जनश्रुति से पूर्व दिशा में शिवराजपुर में नगर का एक फाटक बतलाया जाता है। इधर पश्चिम में भोजपुर तक हिन्दू राजाओं के किलों और प्रासादों के चिह्न अब तक हैं जो कन्नौज से लगभग ३० मील से अधिक ही हैं। उत्तरोत्तर जो नए नए नगर राजाओं द्वारा बसाये गये वे इसी क्षेत्र में विस्तार करते चले आए।

कथिक और तमोलियों का व्यवसाय केवल सम्पन्न स्थानों में ही चल सकता है। अनिवार्य उद्यमियों की संख्या इससे कई गुनी होनी चाहिए। जिस स्थान में सौ दो सौ से कम घर हैं वहाँ एक तमोली परिवार का निर्वाह नहीं हो सकता। यही बात उन लोगों पर भी लागू होती है जिनका सम्बन्ध गाने बजाने से है। इस सब बातों पर विचार कर यदि नगर के रूप का अनुमान किया जाए तो आज भी संसार का बड़े से बड़ा नगर आर्यकाल के कन्नौज नगर की अवहेलना नहीं कर सकता। जो बातें उस समय देख कर महमूद गजनवी ने लिखी थीं उनसे नगर की अद्वितीयता अमिट सी जान पड़ती है। क्या पेरिस या लन्दन उक्त वर्णन से अधिक श्री रखते हैं ?

यवन युग में इस नगर की गिरी दशा में भी यहाँ सम्राट अकबर के समय तक एक ईंटों का किला रहा है और सेना बल में ३,७६५ सवार और ८८,३५० पैदल, सिपाही रहा करते थे।[2] वही कन्नौज जो मुसलमानी समय में भी भारत का प्रधान नगर माना जाता रहा।[3] अठारहवीं शताब्दी में निर्जन कानन का वीहड़ दृश्य देने लगता है। इस सम्बन्ध में पादरी टेनेट साहब ने लिखी है—

"For many miles before you enter the present town you travel through jungles interpersed with small fields of tobacco that consist of brick-dust and mortar. To remove all doubt that the rubbish consists of the remains of a town, walls and broken gateways here and there raise their head in defiance of time. The greatest part of the standing buildings are runious, uninhabited, rent and tottering to decay. The few poor people now in the place accommodate themselves under mud-huts buttressed up against the old walls. Not a great many buildings

१. Annals and Antiquities of Rajasthan.

२. ग्लैडबिन अनुवादित आईन अकबरी, पृ० ४९२।

३. वही पृष्ठ ३२९।

are entire. Whole mountains of unhappy ruins meet your eye in every direction upon a space of ground much larger than the site of London." [N. W. P. Gazetteer, Vol . VII (1884), p. 298.]

भावार्थ :—नगर में दाखिल होने के कई मील आगे से ऐसे जंगल में होकर चलना पड़ता है जिसमें यत्र तत्र छोटे-छोटे राडों से और चूना से भरे तमाखू के खेत हैं। यह ईट समूह किसी नगर का उजाड़ खण्ड है इसमें कोई सन्देह नहीं। मानों इसी बात को पुष्ट करने के लिये जगह-जगह दीवारों और फाटकों के भग्नावशेष काल की अवहेलना करते हुए शिर उठाए खड़े हैं। जो इमारतें खड़ी हुयी हैं वे बरबाद, उजड़ी, टूटी फूटी नष्टप्राय होती जा रही हैं। इस क्षेत्र में जिन किंचित गरीबों के निवास स्थान हैं उनके कच्चे झोपड़ों के छप्पर पुरानी दीवालों के सहारे टिके हुए हैं। सावित मकान इने गिने ही हैं। लन्दन से कहीं अधिक घेरे में चारों ओर बेडौल खण्डहर के पहाड़ दृष्टिगत होते हैं।

कन्नौज नगर के आस-पास ऊपर वर्णित जैसे दृश्य आज भी मौजूद हैं।

सन् १८०० से १८०५ ई० तक कई अंग्रेजों ने कन्नौज नगर को, स्वयं देखा जिनमें हैं डेनियल, लार्ड वेलेन्शिया तथा मेजर थार्न प्रमुख थे। थार्न साहब ने इस बीहड़ की भयंकरता यहाँ तक बताई है कि किले के नीचे गंगा जी दो मील पूर्व को हट गयी हैं। उस कछार में ऐसा निर्जन वन उत्पन्न हो जाता है कि वहाँ व्यांघ्र मृगया सुलभ हो जाती है। सन् १८०३ में कन्नौज के पास गंगा के किनारे शेर मारे जाते थे।[1]

जो स्थली जयपाल के कुसुमोद्यानों से परिवेष्टित थी, जहाँ राजभवनों में अहर्निशि आनन्दोत्सव हुआ करते थे, जहाँ के अनन्त मन्दिरों के शंखनाद से आकाश गूंजता था, जिस स्थान पर सम्राट हर्ष के धार्मिक सम्मेलन महीनों हुआ करते थे, जहाँ महाराज जयचन्द की दल पंगुल का निवास था, उसी स्थान को काल की गति ने जंगली हिंसक जन्तुओं का विश्राम क्षेत्र बना दिया।

यह दुर्दशा किन हाथों की करतूत थी, किस क्रूर हृदय ने इस सौन्दर्य को नष्ट-भ्रष्ट किया—इन्हीं विचारों के पश्चाताप आवेश में गजेटियरकार निम्न भाव प्रगट करता है :—

"Such is the Kannauj of today—a country town, whose chief claims to interest are the traces of the mighty

1. "In 1803 tigers were shot along the Ganges below Kannauj"—N. W. P. Gazetteer, vol. VII (1884), p. 32. (उत्तर-पश्चिम प्रान्त का गजटीयर जिल्द सात (१८८४), पृ० ३२।

past. Strong in numbers, those traces are weak in their indi stinctiveness—miles of broken bricks convey little meaning to the antiquity....The relics of Hindu dynasties were demolished by the arrogant intolerance of Islam, and by destroying the later marks of Muslim powers, time is avenging the Hindus." (N. W. P. Gazetteer (1884), Vol. VII, p. 288.

अर्थात्, कन्नौज आज एक देहाती कस्बा है। किसी विस्मृत युग में शक्ति-शाली होने के चिह्न प्रदर्शित करना, बस यही मनोरंजक तथ्य उसका एक मात्र दावा रह गया है। ये चिह्न संख्या में बहुत हैं। किन्तु अस्पष्टता से क्षीण हैं। मीलों तक ईंटों के रोड़े उसकी प्राचीनता का अर्थ बतलाने में असमर्थ हैं।... इस्लाम की क्रूर असहिष्णुता ने हिन्दू राज वंशों के अवशिष्ट चिह्नों को भी पूर्णतया नष्ट कर दिया। आज उस इस्लामी शक्ति के चिह्नों को भी समय ने मिटा दिया है मानो उसने हिन्दुओं की ओर से बदला लिया है।

प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ (Vincent Smith) ने भी इस प्राचीन तथा विशद नगर पर अपने उद्गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

"A petty Muhammadan country town....Kanauj of high antiquity....alluded to by Patanjali[1] in the 2nd century B.C. as a well known place. It has been so completely destroyed that nothing beyond rubbish remains to testify to the former existence of its gorgeous temples, monastries and palaces.... The city, which was strongly fortified, then extended along the east bank of the Ganges for about 4 miles and was adorned with lovely gardens and clear tanks. The inhabitants were well-to-do, including some families of great wealth. They dressed in silk and were skilled in learning and arts........ Although it had been captured several times........during the 9th and 10th centuries, it recovered quickly. When Mahmud

१. पतन्जलि संस्कृत के विख्यात विद्वान तथा व्याकरणाचार्य थे जिन्होंने पाणिनि की प्रसिद्ध व्याकरण पुस्तक अष्टाध्यायी की ठीका की जो महाभाष्य के नाम से जानी जाती है। वे शुंग राजा पुष्प मित्र शुंग के समसामयिक थे जो ई० पू० दूसरी सदी में हुआ था।

appeared.... ...(it) was still a great and stately city, defended by seven distinct forts........, reputed to sustain ten thousand temples. The Sultan destroyed the temples ....''[1]

(भावार्थ) ई० पू० दूसरी सदी में पतन्जलि ने कन्नौज का उल्लेख करते हुए कहा है कि उस समय वह एक अत्यन्त परातन नगर था। उसके बाद स्मिथ साहब लिखते हैं कि वह इतनी पूर्णता से नष्ट किया गया कि अब उन स्थानों के केवल खंडहर रह गये हैं कि जहाँ पर विशाल मन्दिर, पुण्य स्थान तथा महल बने हुए थे। यह नगर दृढ़ किलों से सुरक्षित था और गंगा के दाहिने किनारे पर चार मील की लम्बाई तक बसा हुआ था। मनोहर उद्यानों तथा स्वक्ष जल के तालाबों से सुशोभित था। नगरवासी सम्पन्न थे। वे रेशमी वस्त्र पहने थे तथा विद्या और कला में निपुण थे। यद्यपि नवीं और दसवीं सदियों में यह नगर कई बार विजित हो गया था तथापि शीघ्र ही उसने अपना पुराना वैभव प्राप्त कर लिया था। महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भी वह एक बड़ा तथा शानदार नगर था और जिसके सात दुर्ग उसकी रक्षा करते थे। यह अपने दस हजार मन्दिरों के लिए विख्यात था।[२]

उक्त कथन से स्पष्ट है कि हिन्दू काल के चिह्नावशेष अब नहीं रह गये हैं जिनसे जिज्ञासु पाठकों का साक्षात्कार कराया जा सके। यत् किंचित हैं भी तो उनका कायाकल्प हो चुका है। अगले अध्याय में पाठकों को उनका परिचय कराया जायगा।

---

१. History of India by V. S. Smith, (1912), P. 391.

२. विन्सेन्ट स्मिथ विरचित भारतवर्ष का इतिहास (१९१२ ई०) पृ० ३९२।

अध्याय-४

कन्नौज दर्शन, वर्तमान नगर का वृतांत

सारपत्रक

१. वर्तमान कन्नौज नगर जो तीर्थ भी है।
२. कन्नौज के धार्मिक तथा ऐतिहासिक ठिकानों का वर्णन।
३. कन्नौज के आसपास के तीर्थ तथा ऐतिहासिक स्थान।

१. वर्तमान कन्नौज नगर जो तीर्थ भी है

स्थिति—उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जनपद में कन्नौज नगर एक तहसील के रूप में है। उत्तर पूर्वी रेलवे की छोटी लाइन जो कानपुर से आगरा की ओर जाती है इसी नगर के पास से गुजरती है। कन्नौज रेलवे स्टेशन से नगर लगभग दो मील की दूरी पर स्थित है। ग्रान्ड ट्रङ्क रोड भी इसी स्टेशन के बगल से गुजरती है। नगर के पूर्व में गंगा नदी है जो पहले नगर से लगकर बहती थी किन्तु अब उसकी धारा लगभग २-३ मील हट गयी है। उसी ओर काली नदी भी है जो भी अब नगर से दूर बहती है।

वर्तमान नगर पुराने नगरों के खण्डहरों पर तथा उनके आस-पास बसा है। बड़े-बड़े ऊँचे टीलों के अतिरिक्त अब ऐसे कोई विशेष चिह्न दृष्टिगोचर नहीं हैं कि जिनसे इस स्थान की प्राचीनता का अन्दाज लगाया जा सके। इसका पूर्व इतिहास अब इन्हीं टीलों के नीचे दबा हुआ है। मुसलमानी काल की कुछ इमारतें अवश्य शेष हैं और जो अधिकतर हिन्दू काल की इमारतों के सामान से निर्मित हुयी थीं। सन्तोष इस बात पर है कि बहुत सी प्राचीन देवमूर्तियाँ यहाँ प्राप्त हुयी हैं जो अपने ढंग की निराली हैं और इस प्रकार के नमूने बहुत कम देखने में मिलते हैं। विशेषकर यह मूर्तियाँ भगवान विष्णु, शिव, पार्वती, राम, गणेश तथा शक्ति की हैं। साथ ही आश्चर्य इस बात का है कि महात्मा बुद्ध की कुछ ही प्रतिमाएँ अब तक प्राप्त हुई हैं यद्यपि इस देश में उस समय बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार था।

जो नगर पूर्व काल में उत्तर की ओर ३६ मील और दक्षिण की ओर २४ मील[1] तक फैला हुआ था वह इस समय त्रिभुज आकार में बसा हुआ है जिसकी

१. उत्तर नव गव्यूत दक्षिणे योजनात्रयम्—का० कु० मा०, २१।१ (गव्यूत = २ कोस=४ मील, योजन = ४ कोस=८ मील)

प्रत्येक भुजा ४००० फुट लम्बी लिखी है। मुख्य नगर के तीन फाटक थे जो इस प्रकार बतलाए जाते हैं—

एक अजयपाल के निकटतम,

दूसरा क्षेमकरी देवी के मन्दिर के समीप,

तीसरा हाजी हरमैन।[1]

भूगोल में नगर का परिचय २७.३ अक्षांस (latitude) ७९.५९ देशान्तर (longitude) से होता है। इसका प्रदेश उत्तर प्रदेश तथा जिला फरुखाबाद है। पूर्व काल में जो एक विशाल देश की उन्नतशील राजधानी थी वह अब केवल एक तहसील मात्र रह गयी है।

जिस नगर की प्राचीन बसति में १७ गाँव इधर-उधर बसे हुए थे तथा उन्हीं खण्डहरों में १००० वाटिकाएँ खड़ी थीं[2] उस नगर की जनसंख्या पूर्ण करने को अब भी पाँच ग्राम मिलते हैं, जो हैं—(१) कन्नौज, (२) कन्दरौली, (३) ताजबाज-नोकाश्त, (४) अलाउद्दीनपुर, और (५) ओमरपुर।

इस नगर में ८४ मुहल्ले थे जिनमें से ६१ के नाम लिखे मिलते हैं, किन्तु यह लिस्ट पूरी नहीं समझ पड़ती।

यहाँ की मुंसफी, तहसील व रेलवे स्टेशन ढाई मील की दूरी पर ग्रांड ट्रंक सड़क पर सरायमीरा नामक मौजे में स्थित हैं।

इत्र फुलेल का केन्द्र—इत्र-फुलेल का व्यवसाय यहाँ का पुराना धन्धा है। इस उद्यम के लिये अनेकों फैक्टरियाँ हैं जिनमें से लगभग एक दर्जन तो ऐसी हैं जहाँ लाखों रुपये का माल हर समय तैयार रहता है। इनके स्वामियों के पास अनेकों प्रशंसापत्र व पदक हैं जो भारतीय, अंगरेजी, अमेरिकन, फ्रान्सीसी एवं जर्मन सरकारों द्वारा तथा इन देशों में हुई प्रदर्शिनियों द्वारा दिए गये हैं। इसके अतिरिक्त गवर्नरों, कलेक्टरों, राजा-महाराजाओं, ताल्लुकेदारों आदि द्वारा दिये गये प्रमाणपत्रों की गिनती नहीं है।

इत्र—तेल के निर्माण के लिए कन्नौज अब भी प्रसिद्ध है। वस्तुतः सम्पूर्ण भारत में कन्नौज ही इस व्यवसाय का एक मात्र केन्द्र है यद्यपि लखनऊ में भी एक दो कोठियाँ इस काम में लगी हुई हैं। विदेशों में भी कन्नौज के इत्रों की पूर्व काल से खपत रही है और कुछ हद तक अब भी है। यह रोजगार इन दिनों अवनति दशा में है तथापि देश की नाक में बसा हुआ है। अवनति का मुख्य कारण आधुनिक शैली से बने हुए सेन्टों (sceents) और विविध सुगन्धि

---

१. फरुखाबाद गजेटियर।

२. वही।

के केश तैलों का प्रचार है। यद्यपि यह सेन्ट हानिकर भी हैं तथापि देशी इत्रों से कम मूल्य के होने के कारण आम जनता अधिकतर उन्हीं का प्रयोग करती हैं। सन्दल पर बने हुए इत्र टिकाऊ के अतिरिक्त स्वास्थ्यप्रद भी होते हैं किन्तु कुछ ही लोग इन बातों पर ध्यान देते हैं। यही स्थिति तिल्ली पर बसाये हुए केश तेलों की भी है जिनका एक केन्द्र जौनपुर भी है।

इनके अतिरिक्त यहाँ सन्दल का एक मील भी है जिसमें पहिले तो छोटे परिमाण में पुराने ढङ्ग से बड़ी-बड़ी डेगों व भमकों द्वारा जमीन सन्दल और तेलसन्दल तैयार किये जाते थे जो प्रायः कन्नौज की कोठियों में ही खप जाते थे क्योंकि यहाँ और बहुमूल्य इत्र सन्दली जमीन पर ही बनाये जाते हैं। धीरे-धीरे इस मील का विस्तार बढ़ गया है और अब इसका माल विदेशों में भी जाता है।

कन्नौज के गट्टे—खाद्य वस्तुओं में कन्नौज के गट्टे भी विख्यात हैं। यह शक्कर पर बनते हैं। पहले शक्कर का गाढ़ा जलाव बनाया जाता है और उसे बड़े-बड़े पत्थर के साँचों में डाल कर ठंडा कर लिया जाता है। जलाव में कन्द[1] भी डाला जाता है। ठंडा हो जाने पर जलाव कुछ कड़ा हो जाता है और रंग में मटमैला गुलाबी। फिर उसे लकड़ी के खम्भे में गड़ी एक सरिया पर बहुत देर तक ऐंठते-गुमठते हैं जिसमें बड़ी मेहनत पड़ती है। उक्त क्रिया से जलाव खूब कड़ा होकर दूध के समान श्वेत हो जाता है। तब उसे हाथों में एक यंत्र लगाकर सुडोल रूप के बड़े-बड़े टुकड़ों में तोड़ लिया जाता है। फिर उनपर किशमिश, चिरोंजी और गरी के बारीक छोटे लच्छे चिपका दिये जाते हैं और उन्हें सुगन्धित भी किया जाता है।

इस प्रकार निर्मित गट्टे खाने में बड़े स्वादिष्ट होते हैं। मुँह में रखते ही गल जाते हैं। बनाने के ढंग से वे बड़े हल्के हो जाते हैं और उनकी मिठास भी कम हो जाती है। अतएव वे पेड़ा-बर्फी के भाँति खाए जाते हैं। दूध में डालने से दूध बड़ा स्वादिष्ट हो जाता है।

लोग इनको तोहफों के तौर पर बाहर ले जाते हैं। इस हेतु ये मोटे कागज के पैकटों में तौल के हिसाब से भरे जाते हैं। जैसे १/२ किलो या एक किलो के पैकेट।

गट्टों के अतिरिक्त यहाँ का गुलकन्द भी एक मशहूर खाद्य वस्तु है। यह देशी गुलाब के फूलों पर बनता है और खाने में बड़ा स्वादिष्ट होता है। यह

---

१. एक मोटी गांठोदार जड़ जिसे सुखा लिया जाता है। गट्टोंकी चाशनी में उसे डालने से गट्टों में मुलायमियत आ जाती है।

औषधि के रूप में भी प्रयोग होता है। इसकी तासीर रेचक है। इसका व्यापार बड़े पैमाने पर होता है और प्रचुर मात्रा में बाहर जाता है।

कान्यकुब्ज तीर्थ—कन्नौज (कान्यकुब्ज) एक तीर्थ स्थान भी है जो अश्वतीर्थ अथवा ह्यतीर्थ के नाम से कहा जाता है। नरसिंह पुराण में द्वादश अरण्यों, पंच सरोवरों तथा अनेकानेक ऋषि आश्रमों का वर्णन हुआ है। अन्त में ६५वें अध्याय में ६८ मुख्य तीर्थों का एक बार पुनः परिगणन किया गया है। इसी प्रकार ६८ तीर्थों का वर्णन अनेकानेक ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। स्कन्ध पुराण, काशी खण्ड के ६९वें अध्याय में भी ६८ तीर्थों का सविस्तार वर्णन आया है। श्री विष्णुधर्मोत्तर महापुराण, खण्ड ३, अध्याय १२५ में भी तीर्थों का वर्णन है।

इन तीर्थों में कन्नौज के अश्वतीर्थ का भी जिक्र है जो गंगा तट पर स्थित है। महाभारत वन पर्व (९५।३) में भी इसी अश्व तीर्थ का जिक्र है।

(कल्याण मार्च १९७१ पृ० ८२६–७)

अग्नि पुराण में तीर्थ का माहात्म्य इस प्रकार कहा गया है—

तीर्थाभिगमने तत स्याद् यन् यज्ञेनाप्यते फलम्। (१०९।४)।

अर्थात् यज्ञ से जिस फल की प्राप्ति होती है वही फल तीर्थ—सेवन से मिलता है।

कन्नौज की दिव्य शक्ति स्थानों में गणना—देवी भागवत् तथा मत्स्यपुराण में देवी भगवती के १०८ नाम बताए गए हैं तथा साथ ही १०८ तीर्थों का निर्देश किया गया है जहाँ प्रत्येक नाम का माहात्म्य स्थान है। और उस नाम से वहाँ वे दिव्य शक्ति रूप में विराजमान हैं यथा :—

"वाराणस्यां विशालाक्षी नैमिषे लिंगधारिणी।
प्रयागे ललिता देवी कामाक्षी गन्ध मादने ॥१॥
मानसे कुमुदा नाम विश्वकाया तथाम्बरे।
गोमन्ते गोमती नाम मन्दरे काम चारिणी ॥२॥
मदोत्कटा चैत्र रथे जयन्ती मथुरा हस्तिनापुरे।
कान्यकुब्जे तथा गौरी रम्भा मलयपर्वते" ॥३॥

अर्थात् मंगलमयी भगवती दुर्गा काशी (वाराणसी) में विशालाक्षी के रूप में नैमिषारण्य में लिंग धारिणी के रूप में, प्रयाग में ललिता नाम से, गंधमादन पर्वत पर कामाक्षी के रूप में, मान सरोवर में कुमुदा नाम से तथा अम्बर (आमेर, ज यपुर के पास) विश्व-काया नाम से प्रसिद्ध हैं। वे गोमन्त पर्वत पर गोमती

नाम से, मन्दराचल पर काम चारिणी, चैत्ररथ वन में मदोत्कटा, हस्तिनापुर में जयन्ती, कान्यकुब्ज (कन्नौज) में गौरी, मलयाचल पर्वत पर रम्भा नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार १०८ नाम मय स्थान के गिनाए गये हैं। अन्त में :—

अष्टोतरं च तीर्थानां शतमेत दुदाहृतम्।
यः पठेच्छृणुयाद् वाग्नि सर्वं पापै प्रमुच्यते ॥
एषु तीर्थेषु यः कृत्वा स्नानं पश्यति मां नरः।
सर्वं पापविनिर्मुक्तः कल्पं शिवपुरे वसेत् ॥

अर्थात् जो इन नामों और तीर्थों को पढ़ता या सुनता है वह सब पापों से छूट जाता है। इन तीर्थों में स्नान करके जो मेरा दर्शन करता है वह सभी पापों से सर्वथा निःशेष रूप में मुक्त होकर कल्प पर्यन्त शिवलोक में वास करता है।[1]

कन्नौज एक शक्ति पीठ भी है—भारतवर्ष भर में ५१ शक्ति पीठियाँ हैं। सती के शरीर के ५१ टुकड़े हुए; जहाँ जहाँ एक टुकड़ा गिरा वहाँ वहाँ एक मन्दिर, एक तीर्थ बना। उनके वामकर्ण के पतन स्थान में काश्मीर पीठ हुआ, वहाँ "उकार" का उत्पत्ति स्थान है, वहाँ सर्वविध मंत्रों की सिद्ध होती है। दक्षिण कर्ण के पातस्थल में कान्यकुब्ज पीठ (कन्नौज) हुआ और 'ऊकार' की उत्पत्ति हुयी। गंगा-यमुना के मध्य में अन्तर्वेदी नामक पवित्र स्थल में ब्रह्मादि देवों ने स्वस्वतीर्थों का निर्माण किया है जहाँ वैदिक मंत्रों की सिद्धि होती है।

इन पीठों की कथा इस प्रकार है। देवी भगवती महाराज दक्ष प्रजापति को कन्या रूप में अवतीर्ण हुई और सती नाम से विख्यात हुई। छोटी अवस्था ही में शिव को पति रूप में पाने के लिए तप करने लगीं। बाद में शिव उनको पत्नी बनाने के लिए सहमत हो गए और विवाह सम्पन्न हुआ। सहस्त्रों वर्षों बाद दक्ष प्रजापति ने एक यज्ञ का आयोजन किया किन्तु उसमें शिव जी को आमंत्रित नहीं किया। पति के इस अपमान से सती ने योगबल से दग्ध होकर देह त्याग दी।[2] शिव जी ने क्रोधित हो दक्ष-यज्ञ को नष्ट कर दिया और सती के शव को लेकर घूमते रहे। शव की भिन्न-भिन्न अंग ५१ स्थलों में गिरे। वे ही ५१ पीठ हुए। यह स्थान (तीर्थ) शक्ति पीठ के नाम से जाने जाते हैं।

सती के भिन्न-भिन्न अवयवों में उनकी विशेषता प्रकट होती है। जैसे हींग के निकल जाने पर भी उसके अधिष्ठान में उसकी गंध या वासना रहती है वैसे

---

१. देवी भागवत, ७।३०।५५-८४, मत्स्यपुराण, १३।२६-५६।
२. अगले जन्म में हिमवत पुत्री पार्वती के रूप में पुनः शिव पत्नी हुई।

ही सती की महाशक्तियों के अन्तर्हित होने पर भी उन अधिष्ठानों में वह प्रभाव रह गया। जैसे सूर्यकान्त[1] पर सूर्य की रश्मियों का सुन्दर प्राकट्य होता है वैसे ही उन शक्तियों के अधिष्ठानभूत अंगों में उनका प्राकट्य अति सुन्दर होता है—यहाँ तक कि जहाँ-जहाँ उन अंगों का पात हुआ वे स्थान भी दिव्य शक्तियों के अधिष्ठान माने जाते हैं। वहाँ भी शक्तितत्व का प्राकट्य अधिक है। अतएव उन पीठों पर शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती हैं।, सती का शरीर यद्यपि मृत हो गया तथापि वह महाशक्ति का निवास स्थान था अतः उक्त तीर्थों में शक्ति का कुछ अंश मिश्रित हो गया।

पीठों के अतिरिक्त उपपीठें भी हैं। अंग सम्बन्धी कोई अंश या भूषण-वसनादि का जहाँ पात हुआ वह उपपीठें हुई। उनमें भी उन-उन विशेष शक्ति तत्वों का आविर्भाव होता है। अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति को जो अधिष्ठान हो चुका है उनमें एवं तत्सम्बन्धी समस्त वस्तुओं में शक्ति तत्व का बाहुल्य होना ही चाहिये।

प्राणी की तपस्या एवं आराधना से ही शक्ति उत्पन्न होती है और उसे परमेश्वर से सम्बन्धित कर लेने से सौभाग्य प्राप्त होता है। परन्तु यदि बीच में प्रमाद से अहंकार उत्पन्न हो जाता है तो शक्ति उससे सम्बन्ध तोड़ लेती है।[2]

कन्नौज में गौरी शंकर, क्षेमकरी देवी, फूलमती देवी तथा सिंहवाहिनी देवी के मन्दिर हैं।

कल्याण के तीर्थांक (जनवरी १९५७ ई०) में श्री बी० आर० सक्सेना ने 'कान्यकुब्ज (कन्नौज) शीर्षक लेख लिखा है जिसमें उक्त बातें लिखी हैं। यह भी लिखा है—महर्षि ऋचीक ने यहाँ के महाराज गाधि की कन्या से विवाह किया था। महाराज गाधि ने शुल्क रूप में एक सहस्र श्यामकर्ण घोड़े माँगे जो ऋषि ने वरुणदेव से कहकर यहीं प्रकट कर दिए। महाराज गाधि के पुत्र विश्वामित्र जी हुए और महर्षि ऋचीक के पुत्र जमदग्नि ऋषि। जमदग्नि के पुत्र परशुराम जी थे। पहले कन्नौज वैभवपूर्ण नगर रह चुका है। गंगा जो इसके पास से बहती थीं, किन्तु अब धारा लगभग ६ किलोमीटर दूर चली गयी है। कन्नौज में अब प्राचीन चिह्न मात्र अवशेष हैं।

२. कन्नौज के धार्मिक तथा ऐतिहासिक ठिकानों का वर्णन

कन्नौज नगर में तथा उसके आस पास प्राचीन काल में बहुत से देवमन्दिर

---

१. आतशी शीशा, स्फटिकमणि।

२. उक्त शक्ति पीठों का वर्णन श्री स्वामी करपात्री जी के एक लेख पर आधारित है। शक्ति पीठ-रहस्य शीर्षक वह लेख कल्याण के तीर्थांक (जनवरी, १९५७) में, पृ० ५२२-२७ पर प्रकाशित है।

तथा तीर्थ थे जिनका विवरण पद्मपुराण के कुमारिका खण्ड के अन्तर्गत कन्या-कुब्ज माहात्म्य में दिया हुआ है। इनमें से अधिकतर या तो कालान्तर के कारण क्षत हो गए या आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट किए गए। बहुतों का अब कोई चिह्न अवशेष नहीं है किन्तु कुछ स्थान विकृत रूप में आज भी अपने प्राचीन गौरव का संस्मरण कराते हैं। उन स्थानों, देवमन्दिरों, राजपूतकालीन स्थलों तथा मुसलमानी काल की कुछ महत्वपूर्ण इमारतों का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

नोट—उन स्थानों आदि की तालिका जिनका अब कोई चिह्न बाकी नहीं है सम्प्रति उपशीर्षक के अन्त में सूक्ष्म विवरण के साथ दे दी गयी है।

महाराज जयचन्द्र का किला

नगर के पूरब की ओर गंगा की पुरानी धारा के किनारे महाराज जयचन्द्र के किले के भग्नावशेष हैं। इसके सभी भाग भूमि चुम्बन कर रहे हैं। जहाँ-तहाँ पाषाण निर्मित नीवें निकली दिखाई पड़ती हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक इसका कुछ भाग शेष था जिसमें सरकारी तहसील की कचहरी होती थी। किन्तु उसी साल तहसील के लिए नई इमारत बन गयी और तभी सरकार ने किले को नीलाम कर दिया। एक धानुक ने उसे ६००) में क्रय किया। शीघ्र ही उसने खड़ी इमारत को गिराकर उसका मलबा बेच लिया। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा जयचन्द्र का किला मिट्टी का ढूहा-मात्र रह गया। काल की गति का यह एक दुःखद नमूना है।

इसी किले की भूमि में सन् १८३२ ई० में कन्नौज निवासी मीर खुरशेद अली नामक व्यक्ति को सोने की २२ ईंटें मिली थीं। तौल में प्रत्येक ईंट लगभग ५० तोले की थी और हर एक का एक-एक कोना काटा हुआ था। उन सब पर पुरानी लिपि में 'गाधि'[1] लिखा हुआ था। यह गाधि विश्वामित्र के पिता थे और त्रेता युग में कन्नौज राज्य के शासक थे जैसा कि एक आगे के अध्याय से विदित होगा। इनमें से सात ईंटें तो सरकारी कोष में पहुँच गयी, शेष पाने वाले के पास रहीं।

दूसरे साल अर्थात् सन् १८३३ में हंसा नामक एक कुर्मी खेत जोतते समय रत्नों की एक मंजूषा मिली जिसमें नीलम, चुन्नी, पन्ना आदि रत्न थे। सोने के दस-दस तोले के टुकड़े तो लोगों को अनेकों बार मिल चुके हैं। इसी खेड़े से भिन्न-भिन्न प्रकार के टुकड़े एक लाख के ऊपर की संख्या में अब तक निकल चुके हैं।

---

१. महाराज गाधि प्राचीन काल में कन्नौज राज्य के शासक थे।

सन् १९५५ में उस समय के उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल श्रीमान् का० मा० मुंशी के अनुरोध पर भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा किले की भूमि आदि की खुदाई की गयी थी। उसके फलस्वरूप जो सामग्री प्राप्त हुई थी उससे पुरातत्वीय विशेषज्ञों ने यह अनुमान निकाला कि यह स्थान लगभग ३०० वर्ष पुराना है। वह सब सामग्री तथा अन्य पुरातन सामग्री एक संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

राजगृह (रजगिर)

यह क्षेत्र वर्तमान नगर के दक्षिण-पूर्व में लगभग तीन-चार मील की दूरी पर गंगा के दाहिने तट के समीप है। पद्म पुराण के अनुसार प्राचीन काल में राजा प्रियव्रत ने त्रिकोण की आकृति का राज सदन इसी क्षेत्र में बनवाया था तथा अनेकों चक्रवर्ती शासकों ने भी उसी आकृति के महल बनवाए थे। इसी क्षेत्र में राजा बलि ने राजसूय यज्ञ किया था जहाँ श्री विष्णु वामन अवतार लेकर आए थे। यहीं पर इसी क्षेत्र में कुश की यज्ञशाला थी जहाँ प्रियव्रत आदि राजाओं ने अनेक यज्ञ किये थे तथा जहाँ विद्वानों का आदर होता था और धार्मिक गोष्ठियाँ होती रहती थीं।[1] इस प्रकार के त्रिकोण राजसदन आर्य साम्राज्य के अधःपतन और जयचन्द्र के समरशायी होने के बाद समाप्त हो गए। कुछ तो अतीत में विलीन हो गए तथा कुछ आक्रमणकारियों द्वारा ध्वस्त हुए। अब वह स्थान ऊँचे-ऊँचे टीलों की आकृति में पड़ा हुआ आर्य जाति के हत गौरव का परिचय दे रहा है।

इसी क्षेत्र में कान्यकुब्ज नृपतिगण का निवास भवन एवं अन्तःपुर था। कन्नौज के अन्तिम शासक कान्यकुब्जाधिपति महाराजा जयचन्द्र के समय में भी राज कुटुम्ब वहीं पर निवास करता था। आकाश चुम्बन करने वाले स्वर्णमयी कलशियों से युक्त सुन्दर धवल राजप्रासाद की शोभा और उन्हीं राजमहलों के नीचे काली नदी और गंगा जी की विमल धाराओं से यह स्थल अति आकर्षक था। समय के परिवर्तन से यह रम्य स्थान अब खण्डहरों और टीलों के रूप में पड़ा है तथा वहीं पर रजगिर नामक एक छोटा सा ग्राम बसा हुआ है।

गोवर्द्धनी देवी

इन देवी का स्थान वर्तमान शहर से लगभग ४ मील के अन्तर पर पश्चिम

---

१. प० पु० कु० खं० क० मा० ७।४५-५० जहाँ पर ऊपर की कुछ बातों का उल्लेख है। कुश की यज्ञशाला का अब कोई चिह्न नहीं है। या तो वह काल की गति से शनैःशनैः क्षतिग्रस्त हो गयी अथवा आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट हुयी।

को और गुधनी नामक ग्राम के निकट है। गोवर्द्धनी जी का असली प्राचीन मन्दिर मुसलमानी आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट हो गया। मुसलमानी राज्य के पतन और महाराष्ट्रों एवं सिखों के अभ्युदय के समय जैसे भारत के अन्य तीर्थों और देव मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ वैसे ही श्री गोवर्द्धनी जी के स्थान का भी पुनः स्थापन एवं निर्माण किया गया। किसी महाराष्ट्र वीर द्वारा ही उक्त स्थान निर्मित हुआ था। लगभग ७० वर्ष का समय हुआ उक्त पुराने संकीर्ण मन्दिर के स्थान पर एक भक्त ने नवीन विशाल मन्दिर निर्माण कराया। अन्यान्य भक्तों द्वारा भी समय-समय पर मन्दिर और स्थान की मरम्मत होती रहती है जिससे उसकी दशा उन्नत होती जाती है। अब मन्दिर की भूमि में संगमरमर का फर्श जड़ा हुआ है। यह स्थान आस-पास की भूमि की अपेक्षा बहुत ऊँचे पर है और मन्दिर के चतुर्दिक दालान और कमरे व मजबूत छालदीवारी बनी हुयी है।

मन्दिर में भगवती जी की जो मूर्ति स्थापित है वह प्राचीन है क्योंकि भग्नावस्था में है। देवी के दर्शनार्थ नित्य भक्तों और यात्रियों का गमनागमन हुआ करता है तथा पूजा प्रति समय होती रहती है। प्रति मंगलवार को यहाँ मेला लगता है और हवन भी होता है। एक वार्षिक मेला भी चैत्र शुक्ल पक्ष में मंगलवार के दिन बड़ी धूमधाम के साथ होता है। दूर-दूर के ग्रामवासी लोगों के अतिरिक्त शहर के अधिकांश लोग इस मेले में उपस्थित होते हैं।

गोवर्द्धनी देवी की उत्पत्ति किस प्रकार हुयी और कैसे वे यहाँ स्थापित हुईं इसका वर्णन पद्मपुराण में आता है। सूक्ष्म में इनका प्रादुर्भाव ब्रह्माजी के सुझाव से ब्रह्मा के पुत्रों की उपासना से हुआ। पुत्रों के आग्रह पर ब्रह्मा ने उनसे सिद्ध पीठ महोदय में जाकर योग माया की उपासना करने को कहा। विधिवत उपासना के उपरान्त नौमी की तिथि को देवी जी प्रकट हुईं। यथा—

दिव्यरूपधरा देवी प्रत्यक्षं समजायत्।
सर्वालंकार संयुक्ता सर्व शक्ति समन्विता ॥[1]

[अर्थात्, सब अलंकारों से सुसज्जित तथा सब शक्तियों से युक्त दिव्य रूप धारण कर (देवी जी) प्रकट हुईं]। ब्रह्मा के पुत्रों को वांछित वरदान देने के बाद देवी जी ने कहा कि हमारा नाम गोवर्द्धनी है।[2]

क्षेमकरी देवी का मन्दिर

किले के पूर्वोत्तर कोण पर यह प्राचीन मन्दिर स्थित था। महाराज जयचन्द्र

१. पद्म पुराण, कु० खं० कन्याकुब्ज माहात्म्य, ११।११।
२. वही, ११।१५।

के रनिवास की यह पूज्य देवी थीं। पद्म पुराण में क्षेमकरी देवी के सम्बन्ध में निम्न पद आया है—

क्षेमंकरी महादेवी मातृभिः परिवारिता।[1]

अर्थात्, क्षेमकरी देवी अन्य देवियों सहित यहाँ पर स्थित हैं। महाराज जयचन्द्र के राज्यकाल तक यह एक विशाल मन्दिर था। राजदुर्ग के नष्ट होने के साथ ही यह मन्दिर भी नष्ट हो गया। वर्तमान में जो स्थान विद्यमान है वह एक साधारण चबूतरे की दशा में है।

पद्म पुराण के अनुसार क्षेमकरी देवी की पूजा से अनिष्ट से बचाव होता है, यह सदैव क्षेम अर्थात् रक्षा करती हैं। यथा—

भक्तानां सुखनादित्यं पूजिता सर्व भूमिपैः।
ता सांच पूजना देव क्षेमं भवति नित्यशः॥[2]

अर्थात् भक्त जनों को सदैव सुख देने वाली तथा सब राजाओं से पूजित उन देवी के पूजन मात्र से सदैव क्षेम होती है।

उक्त पुराण में इन देवी के पूजन की कुछ विधियाँ लिखी हैं जिनमें एक यह है कि छठि को प्रातःकाल उठ दिशा बाधा से निवृत हो स्नान कर चन्दन अक्षतादि से क्षेमकरी देवी का पूजन करे।[3]

चिन्तामणि

यह स्थान जयचन्द्र के किले के पूर्व की ओर गंगा की पुरानी धार के किनारे स्थित है। महाराज विजय चन्द (११५५-११६९ ई०, जयचन्द्र के पिता) के समय में इस स्थान पर सन्त चिन्तामणि का आश्रम था। वे बहुत पहुँचे हुए फकीर थे और देवी सरस्वती के उपासक थे। इन्हीं महात्मा से नैषधचरित्र महाकाव्य के रचयिता महाकवि श्री हर्ष को सरस्वती देवी का चिन्तामणि नामक मंत्र प्राप्त हुआ था। महात्मा चिन्तामणि के आदेशानुसार श्री हर्ष ने उस मंत्र का एक साल तक जप किया था। उस समय वे युवा अवस्था में थे और संस्कृत भाषा का ज्ञान करने के अत्यन्त इच्छुक थे। कारण कि उनके पिता हीर पंडित को जो महाराज विजयचन्द के राज पण्डित थे, एक बाहर से आए हुए विद्वान ने शास्त्रार्थ में चालाकी से पराजित कर दिया था। इससे क्षुब्ध होकर हीर पण्डित ने शरीर त्याग दिया। उसके पहिले उन्होंने श्री हर्ष से कहा था कि पर्याप्त विद्या

---

१. प० पु०, कुमारिका खण्ड, ७।५५।
२. वही, ७।५७।
३. वही, ८।१।

उपार्जन करके उक्त पण्डित से शास्त्रार्थ में बदला लेना। उस मंत्र के द्वारा श्री हर्ष ने सरस्वती देवी को सिद्ध किया और संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान हुए। बाद में उक्त पण्डित ने इनकी विद्वता और अपूर्व प्रतिभा को स्वीकार किया। फिर राजा से आग्रह करके राज पण्डित के पद पर इन्हें आरूढ़ करवाया और स्वयं उस पद से विलग हो गया जो हीर पण्डित के मरणोपरान्त उसे प्राप्त हुआ था।[1]

इस समय उस स्थान पर एक मन्दिर में महात्मा चिन्तामणि की चरण पादुका स्थापित हैं। पास ही एक शिव मन्दिर भी है और दो तीन समाधियाँ भी। उनमें से एक समाधि महात्मा चिन्तामणि की कही जाती है।

कन्नौज और आस-पास के क्षेत्र के लोग चिन्तामणि की जातें[2] करते हैं—प्रति सप्ताह में, जब यहाँ एक छोटा सा मेला लगता है। जातें करने वालों में महिलाएँ विशेष कर हैं। उनका विश्वास है कि जातें करने वाले की मनोकामना चिन्तामणि बाबा पूरी करते हैं।

सौरिह्रद (सूर्यकुण्ड) तीर्थ

यह स्थान नगर के उत्तर पश्चिम की ओर करीब दो मील की दूरी पर वर्तमान मकरन्दनगर मौजे के पास था। यहाँ सूर्य देवता का पूजन करने से पुत्र की प्राप्ति होती थी और ऐश्वर्य के साथ सुन्दर स्वास्थ्य भी मिलता था तथा विद्यार्थी विद्या प्राप्त करता था।[3] कुष्ट रोग भी नष्ट हो जाता था।[4] इस समय सूर्यकुण्ड नामक तड़ाग मकरन्द नगर के निकट जीर्ण दशा में है। इसके इधर-उधर इमारत के जो कुछ चिह्न शेष हैं वह अनुमानतः दो-तीन सौ वर्ष से अधिक पुराने प्रतीत नहीं होते।

नोट १—पद्म पुराण में कुष्ट रोग निवारण हेतु कुछ परहेज भी उल्लिखित हैं, यथा लवण वर्जित अन्न का भोजन पाना तथा निम्न चीजों का त्याग-तक्र (मट्ठा), तेल, ताम्बूल, मांस, रात्रि भोजन, भोजन के पश्चात् पुनः भोजन, दुष्टान्न, दुष्टात्माओं से सम्भाषण, काम, क्रोध। रविवार को व्रत करें।[5]

---

१. इस विषय पर विस्तृत वर्णन महाकवि श्री हर्ष सम्बन्धित आगे के एक अध्याय में मिलेगा।

२. दर्शन, पूजा के लिए जाना।

३. वही, ५।२५-३८ यहाँ पर पूजन विधि भी विस्तार से बताई गयी है।

४. वही, ९।१०।

५. वही, ९।३६-३८।

नोट २—सूर्यकुण्ड का नाम पहले मणिकुण्ड था जिसे महाराज गाधि (विश्वामित्र के पिता) ने प्रतिष्ठित किया था।

वनमायी महादेव

चित्रा नदी (जो अब केवल एक बरसाती नदी के रूप में है) के पास वनमायी महादेव का मन्दिर था। उनकी पूजा से व्यक्ति का गृह गोधन से पूरित हो जाता था।[1] यह प्राचीन स्थान अब नष्ट हो गया है किन्तु वहाँ पर एक बाग में "वनखंडीनाथ" महादेव के नाम से एक साधारण शिवालय अब भी बना हुआ है किन्तु वह मन्दिर प्राचीन नहीं है।

शीतला देवी (सियरमऊ गाँव में)

इन देवी का स्थान भी अति प्राचीन काल से है। इस समय वह शहर से लगभग ८ मील के अन्तर पर सियरमऊ नामक ग्राम में विद्यमान है। समय के फेर से यह स्थान अब बस्ती से इतने अन्तर पर हो गया है जो कि किसी समय नगर के बीच ही में था। स्थान की दशा देखने से ज्ञात होता है कि आक्रमणकारियों के समय में शीतला जी का प्राचीन असली मंदिर नष्ट कर दिया गया था। बाद में किसी धर्मात्मा द्वारा उसका पुनरोद्धार हुआ। विद्यमान मन्दिर अनुमानतः ३०० वर्ष का बना हुआ है। लगभग ४० वर्ष पूर्व उसका फिर जीर्णोद्धार हुआ है और मन्दिर पर अस्तरकारी और उसके चतुर्दिक छालदीवारी बनाई गयी है।

मन्दिर में प्रतिष्ठापित मूर्ति के कुछ अंग भंग हैं जो मूर्ति की प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। मन्दिर में पूजा आदि का उचित प्रबन्ध नहीं है किन्तु भक्त जन नित्य दर्शनार्थ आते हैं। अनेकों लोग दूर-दूर से इस स्थान पर आकर निज बालकों का अन्नप्राशन तथा चूड़ा-कर्म संस्कार भी करते हैं, अपनी वंश परम्परा के अनुसार। चैत्र शुक्ल अष्टमी और चैत्र कृष्ण अष्टमो को यहाँ मेला लगता है जिनमें नगर वासियों की अपेक्षा देहाती लोग अधिकता से एकत्र होते हैं।

शीतलाजी के मन्दिर के पास ही एक दूसरा मन्दिर भी साधारण दशा में है जिसमें दुर्गा जी की एक संगमरमर की अच्छी मूर्ति स्थापित है। यह मूर्ति प्राचीन नहीं है।

ऐसी मान्यता है कि शीतला देवी के पूजन से ज्वर, अतिसार, विस्फोटक, नेत्ररोग, गलगंड तथा इसी प्रकार के अन्य कठिन रोग नाश हो जाते हैं। इनका उल्लेख पद्मपुराण में आया है जिसका निम्न पद दृष्टव्य है—

---

१. वही, ७।२२-२३।

बहुरोगैः समायुक्ता शान्तिदातत्र तिष्ठति ।।

अर्थात् बहु प्रकार के रोगों से ग्रसित व्यक्तियों को शान्ति देने वाली देवी (शीतला) उस स्थान पर निवास करती हैं ।

कन्याकुब्जेश्वर महादेव (अब गौरीशंकर महादेव)

प्राचीन काल में गंगा के तट पर वर्तमान नगर से लगभग ४-५ मील पूर्व की ओर कन्याकुब्जेश्वर महादेव का विख्यात मन्दिर था । यह स्थान अब गौरी शंकर महादेव के नाम से प्रसिद्ध है । मुगल राज्य के क्षीण होने और महाराष्ट्र एवं सिख जाति के अभ्युदय होने पर भारत में आर्यों के अनेक प्रतिष्ठित भग्नप्राय देवमन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ था । उस समय इस प्राचीन स्थान का भी जीर्णोद्धार किसी महाराष्ट्र शासक द्वारा किया गया था । तत्पश्चात् समय-समय पर आवश्यकतानुसार कन्नौज के धर्म्मानुरागियों द्वारा मरम्मत होती आती है । एक पक्की चहारदीवारी के अन्दर भगवान गौरीशंकर का मन्दिर उत्तम दशा में है । शिव जी की मूर्ति दिव्य एवं प्राचीन है । पद्म पुराण के अनुसार कन्याकुब्जेश्वर (अब गौरी शंकर) सब सिद्धियों के देने वाले हैं तथा राजा उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने उनकी पूजा कर सिद्धि प्राप्त की थी ।[१]

सन्दोह देवी

नगर के दक्षिण ओर सन्दोह देवी का स्थान था जहाँ पर तड़ाग भी थे जिनमें लोग स्नान करके दान जपादि करते थे और देवी की कृपा से भक्तजन लाभान्वित होते थे ।[२] समय के परिवर्तन से यह स्थान नष्ट होकर लुप्तप्राय हो गया है और पूर्व चिह्नों का अवशिष्ट नहीं है । अब उक्त स्थान पर केवल एक साधारण मन्दिर है और एक कच्चा ताल है । उक्त मन्दिर लगभग २०० साल पुराना है ।

स्वामकार्तिक का मन्दिर

यह मन्दिर नगर के पूर्व की ओर काली नदी के दाहिने तट के समीप था । स्वामकार्तिक महादेव जी के पुत्र तथा देवताओं के सेनापति हैं । पद्मपुराण के अनुसार जो व्यक्ति स्वामकार्तिक की पूजा करता है वह सिद्धियों को प्राप्त करता है ।[3] यह स्थान अब नष्ट हो गया है किन्तु स्वामकार्तिक नाम का एक छोटा सा टीला अब भी विद्यमान है ।

---

१. पद्म पु०, कु० खं०, का० मा० ७।५१-५२ ।
२. प० पु० कु० खं० क० मा० ५।२०-२३ ।
३. प० पु०, कु० खं० क० मा० ८।४ ।

अजयपाल का मन्दिर

वर्तमान नगर के मध्य में लगभग पूर्व की ओर बड़ी ऊँचाई पर यह मन्दिर स्थित है। पूज्यपाद श्री अजयपाल महाराजा जयचन्द के गुरु थे और उन्हीं की स्मृति में महाराज ने यह मन्दिर बनवाया था। मन्दिर के भीतर महात्मा अजयपाल की मूर्ति स्थापित है। लाल पत्थर में बनी हुयी यह मूर्ति हाथ में शूल (त्रिशूल) पकड़े है। श्रद्धावान जन श्रावण के माह में इस पर शरबत और बताशे चढ़ाते हैं। वर्तमान मन्दिर तीन-चार सौ साल से अधिक पुराना नहीं है किन्तु उक्त स्थान प्राचीन है।

पद्मपुराण में जयपाल (पूर्वलिखित अजयपाल नहीं) का निर्देष आता है और यह लिखा है—

जयपालो महावीरश्चक्रवर्ती धनेश्वरः ।
आसीत्पुरा कृत युगे राज्यं त्यक्त्वा महीपतिः ॥[1]

अर्थात् जयपाल महावीर चक्रवर्ती तथा धन सम्पन्न नृपति सत्ययुग में हुये थे और जो राज्य को त्याग कर विरक्त हो गये थे। उक्त पुराण में यह भी लिखा है उन्होंने योग कर सब सिद्धियों को प्राप्त किया था तथा वह सब सिद्धियों सहित चारों युगों में वहाँ निवास करते हैं। वहाँ स्नान कर पक्वान्न द्वारा महात्मा जयपाल की पूजा करने से सिद्धि प्राप्त होती है।[2]

उपरलिखित विभिन्न विवरणों से ऐसा समझ पड़ता है कि चक्रवर्ती महाराज जयपाल जयचन्द्र के गुरु अजयपाल से भिन्न थे। यह भी सम्भव है कि आदि जयपाल स्वामी के उत्तराधिकारी इस स्थान (पीठ) के मठाधीश होते रहे हों और जयपाल (अथवा अजयपाल) के नाम से विख्यात रहे हों। इस प्रकार जो मठाधीश महाराज जयचन्द के समय में विराजमान रहे हों उन्हें महाराज ने अपना गुरु माना हो। आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित परिपाटी भी इसी प्रकार की है जिसके अनुसार भारत की चारों पीठों के पीठाधीश शंकराचार्य के नाम से जाने जाते हैं। उक्त बात का समर्थन इससे होता है कि पद्म पुराण के अनुसार महात्मा जयपाल सदैव वहाँ निवास करते हैं। यथा—

चतुर्य्यंगेषु वसितः सर्वं सिद्धैर्निषेवितः ॥[3]

अर्थात् सब सिद्धियों के सहित वे चारों युगों में वहाँ निवास करते हैं।

---

१. पद्मपुराण, कुमारिका खण्ड, क० मा० ७।४२।
२. वही, ४३-४४।
३. वही, ४३।

बाराह भगवान की मूर्ति

नगर के पास बाराह भगवान की पत्थर की मूर्ति है जो ५½ फुट ऊँची है। इस मूर्ति में बाराह भगवान को पृथ्वी का उद्धार करते हुए बनाया गया है। मूर्ति में देव, गन्धर्व और दो नाग स्त्रियाँ भी स्तुति मुद्रा में दिखाई गयी हैं। मूर्ति अत्यन्त रोचक और कलापूर्ण है। बाराह भगवान की ऐसी अनोखी मूर्ति शायद ही किसी अजायबघर में हो। यह मूर्ति लगभग ८० वर्ष पूर्व वर्षाकाल में गंगा जी के किनारे निकली थी।

विश्वनाथ का शिव मन्दिर, चौधरियापुर

चौधरियापुर कन्नौज से लगभग ८ मील की दूरी पर पूर्व की ओर गंगा के दाहिने तट पर एक पुराना गाँव है। वहाँ एक बहुत ऊँचे टीले पर एक सुन्दर शिवालय श्री विश्वनाथ के मन्दिर के नाम से विद्यमान है। ऐसा अनुमान है कि यह शिवाला उसी क्षेत्र में है जो पूर्व काल में वाराणसी कहा जाता था और जो शिव जी का स्थान था तथा जिसका उल्लेख पद्म पुराण में आया है, यथा—

तत्र वाराणसीरम्या रिश्चीकाश्रम सन्निधौ।[1]

(अर्थात् रिचीक आश्रम के सन्निकट वाराणसी नामक स्थान है।) लगभग ७५ वर्ष पहले यह मन्दिर जीर्ण अवस्था में था जिसे उक्त ग्राम के विख्यात महात्मा ब्रह्मचारी जी ने जीर्णोद्धार कर उत्तम रूप में कर दिया था।

चन्द्रनवन अथवा चन्दनाख्य वन

पद्मपुराण के अनुसार नगर के समीप एक चन्दन वन भी था जिसे प्राचीन काल में राजा जयपाल ने सिद्धि प्राप्त कर चन्दन के वृक्षों से परिपूरित किया था और जो चन्दनाख्य वन के नाम से विख्यात था। यह एक प्रमुख देवस्थान था जहाँ जनता स्नानादि पूजन करती थी। इस स्थान के अवशेष अब मौजूद नहीं हैं किन्तु नागरिकों की धारणा है कि यह स्थान उसी क्षेत्र में था जहाँ कि अब चन्दनपीर दरगाह स्थित है। यह भी कहा जाता है कि चन्दनपीर नाम चन्दन वन से ही निकला है। चूँकि इस क्षेत्र में पीर साहब रहते थे अतः वह चन्दन पीर के नाम से विख्यात हुए। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रहे कि 'चन्दन' नाम इस्लामी नाम नहीं है। अतः सुविधा के लिये जनता उनको चन्दनपीर के नाम से कहने लगी। इसी प्रकार का एक नाम कलियार पीर है। कलियार नाम का एक मौजा रुड़की और हरद्वार के बीच मोटर रोड पर स्थित है। यहाँ पर एक सूफी सन्त शाह अलाउद्दीन साबिर का मजार है जो लगभग ८०० वर्ष पूर्व यहाँ हुए

---

१. प० पु०, कुमारिका खण्ड ६।१०।

थे। उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त थीं इस कारण आज भी कलियार एक पूज्य स्थान माना जाता है और दूर-दूर से यात्री यहाँ आते हैं। फिर भी लोग पीर साहब के असली नाम से अवगत नहीं हैं। कलियार मौजे के नाम से वे कलियार पीर के नाम से ही विख्यात हैं तथा उनका दरगाह 'कलियार पीर का दरगाह' के नाम से जाना जाता है।

सीता रसोई या जामा मसजिद

नगर के बाहर एक विशाल भवन है जिसको हिन्दूजन 'सीता की रसोई' संज्ञा देते हैं तथा मुसलमान उसे जामा मसजिद कहते हैं। सम्प्रति यह मुसलमानों के अधिकार में है और इसमें नमाज़ पढ़ी जाती है। शान शौकत में यह इमारत मखदूम जहानियाँ से दूसरे नम्बर की है। सम्पूर्ण इमारत श्वेत पत्थर के ५६ खम्भों पर बनी हुई है। इसकी छत चौरस है और पीठ काबे की ओर न होकर ठीक पश्चिम की ओर है। द्वार पर फारसी में इबारत लिखी है जो नागरी अक्षरों में इस प्रकार है :

शुक्रे अल्लाह कि व तौफीक खुदावन्द करीम,
अबुल मुजफ्फर शहे शाहीने जहाँ इब्राहीम।—(१)
हम दमे ईसा व हम नामे खलीलुल् रहमान,
आं कि बिनमूद जहाँरा यदे बैंजा च कलीम।—(२)
मसजिदे साख़्त मुरत्तब कि बदी रफ अनो औज,
च असास अस्त मुअल्ला च बिना अस्त अज़ीम।—(३)
सल्खे जीकाद् सन् हफ्त सद व नवद,
सर्फरा जे हमा ज़ेर क़शमश गश्त मुकीम।—(४)

अर्थात्, (१)—उस अल्लाह की महान कृपा है कि 'जिसने, जिनका नाम है अबुल मुजफ्फर, शाहों और संसार के शाहान्शाह, इब्राहीम, उनको ईश्वर ने यह शक्ति दी कि उस—(२) इब्राहीम जिसकी एक-एक साँस हजरत ईसा की साँस की तरह मसीहा है और जो हजरत इब्राहीम (खलीलुल्लाह) के नाम राशि हैं जिन्होंने सारे संसार के लिए हजरत मूसा की हथेली के जैसे चमकदार छाले की तरह की—(३) मसजिद बनवाई है और पूरी की, कि आने वाली और मौजूदा जनता वहाँ जाएँ और उसकी बुलन्दियों को समझें। यह मसजिद उन्होंने अपनी निजी पैदा की हुई दौलत से बनवा कर एक बहुत बड़ा काम किया है।—(४) ३० तारीख जीकाद महीने की ८वीं सप्ते हीजरी को खुदा इज्जत दी और मैं कसम खाकर कहता हूँ कि मस्जिद को कायम किया।

इस प्रकार यह इमारत सन् १३९३ ई० (७९० हिजरी) में जीकाद महीने की पहली तारीख को मसजिद के रूप में आई।

इब्राहिम शाह जिसने इस मसजिद को बनवाया जौनपुर का शरकी सुलतान था जो दिल्ली साम्राज्य से स्वतंत्र हो गया था। जैसा कि एक आगे के अध्याय से विदित होगा कन्नौज क्षेत्र कुछ समय तक जौनपुर राज्य के अधीन रहा (पन्द्रहवीं सदी)।

बालापीर

जयचन्द्र के किले के पश्चिम की ओर उतनी ही ऊँचाई पर दो रौजे बने हुए हैं जो बालापीर के नाम से विख्यात हैं। इनको ऊपरी बुर्ज संगमरमर की है तथा अन्य भाग लाल पत्थर के। यह इमारत सन् १६६० (१०५७ हिजरी) में बनी। बालापीर चुनारगढ़ वाले कासिम सुलेमान के लड़के थे। इनकी जन्म तिथि व रौजे की निर्माण तिथि द्वार पर के पत्थर पर फारसी अक्षरों में अंकित हैं। नागरी लिपि में उसका रूपान्तर नीचे दिया जाता है :—

उनबाने फैज़ बूद सनीने तवल्लुदाशत,
आमद कि शुद हबीब हम इस्मे मुहम्मदी।—(१)
करद इख्तयार योमे आहद वा सबज़ सफर,
तारीखे खत्म याफ्त व खतमें मुहम्मदी।—(२)
ब अहदे सल्तनत अबुल मुजफ्फर शहाबुद्दीन[1]
साहबे कुर् आने सानी तामीर याफ्त।—(३)

अर्थात्, (१)—नाम फैज़ था उनका समनन पैंदाइस। जब वह दुनियाँ पर आए तो उनका नाम हजरत मोहम्मद साहब के चाहने वाले, अर्थात् हबीब मोहम्मद (या मोहम्मद हबीब) रखा गया। (२) अख्तयार किया ब योम आहद सफर और वह सफर खत्म हुआ हिजरी सन्............में। (३) अहद सल्तनत अबुल मुजफ्फर शहाबुद्दीन (शाहजहाँ) में साहब कुर्आन सानी में तामीर हुआ।

इन दोनों रौजों में से एक में बालापीर की कब्र है और दूसरे में उनके पुत्र शेख मेहदी की।

मखदूम जहानियाँ

नगर में पूर्व की ओर से प्रवेश करने पर मखदूम जहानियाँ नाम की इमारत स्थित है। बड़ी ऊँचाई पर बनी हुयी यह भव्य इमारत है। दक्षिण की ओर

---

१. शहाबुद्दीन सम्राट शाहजहाँ का नाम था। उसी के राज्यकाल में बालापीर और उनके पुत्र शेख मेहदी कन्नौज में थे।

इसमें तीन द्वार हैं जिन पर संग तराशी का दर्शनीय काम है। गुम्बददार बाहरी दीवार दिल्ली के लाल किले के ढंग की है। सुलतान बहलोल लोदी के समय में (१४५१–१४८९ ई०) जलालुद्दीन सालिस नामक एक पहुँचे हुए फकीर थे जिन्होंने पैदल ही विश्व भ्रमण किया था। बादशाह ने उन्हें "मखदूम जहानियाँ जहाँ गश्त" की उपाधि दी थी। कन्नौज में उनका शरीर छूटा और वे इसी स्थान पर दफन किये गये। उनकी कब्र पर बादशाह ने यह इमारत बनवा दी। सुन्दरता और विशालता में यह इमारत दिल्ली के हुमायूँ के मकबरे के टक्कर की है।

नोट—सुलतान बहलोल लोदी पवित्र विचारों वाला धार्मिक व्यक्ति था। वह शाही शान-शौकत के प्रदर्शन से दूर रहता था और सन्तों तथा विद्वानों के सत्संग का प्रेमी था। उक्त फकीर की स्मृति में सुलतान ने यह रौजा बनवाया था।

मीर बंगाली की हवेली

सीता रसोई (या जामा मसजिद) के पश्चिम में मीर बंगाली की हवेली है। इसकी केवल उत्तरी दीवार शेष है। मीर बंगाली मीर शरफउद्दीन का नाम था और वे कन्नौज के सूबेदार के रिसालदार थे।

मीर सैयद मुहम्मद का रौजा

मीर सैयद मुहम्मद औरंगजेब के उस्ताद थे। वे उन तीन व्यक्तियों में थे जिन्हें शाहजहाँ के साथ कैद रहने की आज्ञा औरंगजेब ने दे दी थी। इमारत सफेद पत्थरों की है और विशाल गुम्बददार आकार की। नगर के उत्तर में यह स्थित है।

बाबन पीर का मज़ार

यह इमारत भी नगर के उत्तर में है। पीर साहब बाबर के गुरु थे। यह इमारत भी उच्च कोटि की है और कंकड़ के पत्थरों की गुम्बददार आकार की बनी है। मज़ार के दरवाजे पर फारसी भाषा में लिखा हुआ एक पत्थर लगा है जिस पर हिजरी सन् ९३६ लिखा है जिसके अनुसार वह ईसवी सन् १५३९ होता है।

मखदूम अखाई जमशेद

यह भी एक मकबरा है जो नगर से तीन मील को ओर स्थित है।

तालिका

प्राचीन कन्नौज नगर में तथा उसके आस पास के क्षेत्र में स्थित उन

पुरातन धार्मिक स्थानों (तीर्थों) की तालिका कि जिनका अब कोई चिह्न, अवशेष नहीं है

नोट—यह तालिका पद्म पुराण के कुमारिका खण्ड के अन्तर्गत कन्याकुब्ज माहात्म्य पर आधारित है। उसमें वर्णित स्थलों में से अधिकांश इस तालिका में दिखाए गए हैं।

देव मन्दिर, तीर्थ अथवा स्थान का नाम	सूक्ष्म विवरण
१	२
प्रभाकर तीर्थ	यह तीर्थ पुण्य एवं सन्तान देने वाला था।
सिद्धपीठ तथा सिद्ध कूप (सिद्धेश्वरी देवी का मन्दिर एवं कूप)	केवल एक मास पर्यन्त सिद्ध कूप का जल पीने और शारदा देवी का मंत्र जपने तथा श्री सरस्वती का पूजन करने से मनुष्य वाग्मी होता था। पूर्व काल में विद्वानों ने उन्हीं की कृपा से विद्या तथा सिद्धि प्राप्त की। सिद्ध कूप का जल अमृत सदृश था।
चक्रनाभ तीर्थ	इस स्थान में कूप, बावली तथा जलाशय थे। यहाँ पर भोजन अति स्वादिष्ट लगते थे। यहाँ दान पूजन करने से ज्वर, अतिसार, विस्फोटक, नाक, गले, हाथ-पाँव आदि के रोग शान्त हो जाते थे।
रिचीक आश्रम (रसाद्वार), ब्रह्मकुंड	यहाँ स्थित ब्रह्मकुण्ड पर स्नान पूजन करने से वांछित फल प्राप्त होते थे। ब्राह्ममुहूर्त में मौन होकर स्नान करने का विधान था।
हरिद्वार, कनखल आदि अनेकों तीर्थ	भारत के सभी तीर्थ एक बड़े क्षेत्र में यहाँ सांकेतिक रूप से प्रतिष्ठित किये गये थे। वहीं पर अनेकों बावली, कूप, तड़ाग, झरना, छोटे सरोवर आदि थे। वहाँ पर स्नान, दान, श्राद्ध, हवन तथा विष्णु का अर्चन करने से अक्षय फल प्राप्त होता था। इन तीर्थों के नाम पद्म पुराण में गिनाए गये हैं जो निम्न प्रकार हैं :— हरिद्वार, कनखल, कुशावर्त, अमर कंटक, पुष्कर, पुष्करावर्त, नैमिष क्षेत्र, कुरुजांगल, भूमिग्राम, हरिग्राम, नन्दिग्राम, विशालिका, पंच प्रयाग, शूकर क्षेत्र, विष्णु मन्दिर, पृथूदक, द्वारिका, अयोध्या, तीनों कांची,

देव मन्दिर, तीर्थ अथवा स्थान का नाम	सूक्ष्म विवरण
	मथुरा, काली, सिन्धु, दुर्दर क्षेत्र, बटेश्वर, अवन्ती, बुदबुद क्षेत्र, कर्णतीर्थ, रेणुका, उलू क्षेत्र, वैश्वानर क्षेत्र, केदार, मानसरोवर ।[1]
शालिग्राम	यहाँ पर स्नान दान में तत्पर रहने वाले प्रतिष्ठा तथा संयुक्त सुख पाते थे ।
चित्रा का संगम	यहाँ पर पितृ तर्पण करने से मनुष्य के पितर मुक्त होकर विष्णु के परम पद को प्राप्त होते थे। पिशाच भी मुक्त हो जाते थे ।
कुश की यज्ञ-शाला	यहाँ पर दिव्य देवालय और यज्ञ भूमि थी जहाँ राजाओं ने यज्ञ की थीं । यह पुण्य स्थान था ।
नीला पर्वत	यह तीर्थ प्रधानतया स्त्रियों के लिए था । यहाँ सौभाग्यवती महिलाएँ स्नान पूजन के बाद सौभाग्य वस्तुओं का दान करती थीं और भोजन कराती थीं जिसके फलस्वरूप वे जीवनपर्यन्त सौभाग्यवती बनी रहती थीं । इस स्थान पर विश्वामित्र ने दारुण तपस्या की थी ।
वामन आश्रम	कश्यप ऋषि ने इस स्थान पर (जो बाद में वामन आश्रम के नाम से प्रतिष्ठित हुआ) असाधारण तपस्या की थी जिसके प्रभाव से उनकी पत्नी अदित से वामन भगवान अवतरित हुए थे। उसके अनन्तर यहाँ पर वामन भगवान का मन्दिर बना था। यहाँ पर पूजन करने से विष्णु जी प्रसन्न होते थे और मनोवांछित कामनाओं को पूर्ण करते थे ।
गौ क्षेत्र	यहाँ बड़ी संख्या में गायें इकट्ठा होती थीं और जनता द्वारा पूजित होती थीं ।
भूतेश्वर महादेव	विश्वनाथ का शरीर धारण किए त्रिलोचन

१. पद्मपुराण, कु० खं० क० मा०, ६।१५-२१ उपरिलिखित हरिद्वार आदि क्षेत्र पूर्व काल में विद्यमान थे किन्तु समय के परिवर्तन से कान्यकुब्ज (कन्नौज) के पतन होने के साथ ही यह सब भी लुप्त हो गए ।

देव मन्दिर, तीर्थ अथवा स्थान का नाम	सूक्ष्म विवरण
	दंडपाणि पिनाक लिए महादेव जो स्थापित थे। उनके स्थित होने से काशी भी वहीं स्थित थी।
नारद का स्थान तथा पुष्करणी	यहाँ पूजन करने वालों को आरोग्यता, यश तथा धन प्राप्त होता था।
गंगा-गोदावरी का संगम	नगर के पूर्व गोदावरी नामक एक छोटी नदी थी जिसका गंगा जी से नगर के पास ही संगम होता था। यह नदी अब नहीं है, उसकी जगह एक बरसाती नदी या नाला है। इस संगम पर लोग श्राद्ध करते थे जिसके फलस्वरूप उनके पितर मुक्त हो जाते थे। **नोट**—उक्त गोदावरी नदी दक्षिण भारत की गोदावरी से भिन्न थी।

३. कन्नौज के आस-पास के तीर्थ तथा ऐतिहासिक स्थान

खेरेश्वर महादेव

कन्नौज से ३८ मील दक्षिण पूर्व और कानपुर से १२ मील पर मन्धना रेलवे स्टेशन है, वहाँ से १० मील परराजापुर स्टेशन है जहाँ से २ मील दूर खेरेश्वर महादेव का मन्दिर है। इसे घेरेश्वर भी कहा जाता है। इसके पास ही अश्वत्थामा का स्थान है। जनश्रुति के अनुसार खेरेश्वर लिंग अश्वत्थामा द्वारा स्थापित है। यहाँ एक ओर चतुर्मुख शिवलिंग भी स्थापित है। यह मन्दिर गंगा जी के दाहिने तट पर स्थित हैं। शिवरात्रि को यहाँ मेला लगता है।

ब्रह्मावर्त अथवा बिठूर

मन्धना से रेलवे लाइन बिठूर जाती है। स्टेशन के आस पास बिठूर की नवीन बस्ती है। उससे १ मील उत्तर गंगा के किनारे-किनारे बहुत दूर तक पुरानी बस्ती है जिसमें अब बहुत से खंडहर हैं। कानपुर से यह स्थान लगभग २४ किलोमीटर की दूरी पर है। रेलवे लाइन के अतिरिक्त कानपुर से यहाँ तक एक पक्की सड़क भी है जिसपर कानपुर नगर-बस सेवा की बसें बराबर आती-जाती रहती हैं।

गंगा जी पर कतिपय पुराने घाट हैं जिनमें मुख्य घाट ब्रह्मा घाट है ? यहाँ बहुत से मन्दिर हैं जिनमें मुख्य हैं ब्रह्मेश्वर महादेव का मन्दिर, वालीकेश्वर का

मन्दिर, ध्रुव मन्दिर, स्वामी आत्मानन्द का मन्दिर और काली दुर्गा जी का मन्दिर ।

ब्रह्माघाट पर की सीढ़ियों पर एक स्थान पर एक फुट ऊंची एक लोहे की कील गड़ी है जिसे ब्रह्मा की कील कहा जाता है। यह कील उस घोड़े की नाल की कही जाती है जिसे ब्रह्मा जी ने अश्वमेध यज्ञ के निमित्त पूजित किया था। बिठूर स्वायम्भुव मनु की राजधानी कही जाती है और ध्रुव का जन्म स्थान भी। ध्रुव के पिता उत्तानपाद इसी क्षेत्र के शासक और बाद में ध्रुव भी यहाँ के राजा हुए। ब्रह्मावर्त (बिठूर) में आज भी एक बहुत बड़ा टीला है जो ध्रुव टीले के नाम से विख्यात है। इस टीले पर एक प्राचीन मन्दिर है जिसमें शिव जी की मूर्ति के साथ ध्रुव की भी एक मूर्ति है। इस टीले के आस पास तथा नीचे ध्रुव के किले के अवशेष भी मौजूद हैं और इसी लिए इसे ध्रुव का किला भी कहते हैं। यह स्थान केन्द्रीय सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा सुरक्षित स्थान घोषित है।

ब्रह्मावर्त की गणना पाप-नाशक तीर्थों में है जैसा कि अग्निपुराण में कहा गया है—'धर्मतीर्थ, सुवर्णतीर्थ, परम उत्तम गंगाद्वार (हरिद्वार), पवित्र तीर्थ कनखल, भद्रकर्ण-ह्रद, गंगा-सरस्वती संगम और ब्रह्मवर्त—ये पापनाशक तीर्थ हैं।[1]

यहाँ पर संस्कृत के आदि कवि वाल्मीक का आश्रम भी था जो अब भी मौजूद है और जिसके इर्द गिर्द कतिपय प्राचीन मन्दिर भी हैं तथा लवकुश आश्रम भी। इसी प्रकार का वाल्मीक आश्रम बिठूर के उस पार भी है जिसका जिक्र आगे किया गया है।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का जन्म बिठूर ही में हुआ था। सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम के अगुआ तथा प्रसिद्ध सेनानी नाना साहब पेशवा तथा तात्या टोपे यहीं के थे।

अत्यन्त प्राचीन काल के पीतल तथा ताँबे के वाण तथा अन्य आयुध यहाँ गंगा नदी में बहुत समय हुआ पाए गए थे। ब्रह्मावर्त के एक पुराने महन्त के मन्दिर में यह आयुध अब भी सुरक्षित हैं और पर्यटकों द्वारा आश्चर्य से देखे जाते हैं।

बिठूर में प्रति वर्ष की कार्तिक पूर्णिमा को एक वृहत् मेला लगता है जो ३-४ दिन चलता है।

बाल्मीक आश्रम

बिठूर से लगभग ८ किलोमीटर की दूरी पर गंगा जी के पार बेला रुद्रपुर

---

१. अग्निपराण, १०९।१७।

ग्राम है जिसका पुराना नाम द्वेलव बताया जाता है। वाल्मीक ऋषि की जन्म-भूमि यहीं थी। यहाँ एक प्राचीन वाल्मीक कूप है। श्री जानकी जी द्वितीय बनवास में यहीं वाल्मीक आश्रम में रहीं, यहीं लव और कुश का जन्म हुआ और यहीं वाल्मीकीय रामायण की रचना हुई। त्रिठूर खास में भी एक वाल्मीक आश्रम है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

उक्त आश्रम को 'परियर' भी कहते हैं जो परियर गाँव के पास है। उन्नाव नगर की ओर से भी यहाँ आने का मार्ग है जो १४ मील का है और उन्नाव से उत्तर की ओर गंगा जी के बाएँ तट पर जाता है। जब अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर रामचन्द्र जी द्वारा छोड़ा गया घोड़ा परियर के जंगल में आया तब लव और कुश ने उसे बाँध लिया जिससे राम-लव-कुश युद्ध आरम्भ हुआ।

लव-कुश का बनवाया हुआ बालकानेश्वर नाथ महादेव का मन्दिर भी यहाँ है जिसमें कुछ बाणों के पीतल के सिरे रखे हैं जो उक्त युद्ध से सम्बन्धित कहे जाते हैं। यह सिरे गंगा जी की तली में मिले बताए जाते हैं। यहाँ जानकी जी का मन्दिर भी है और एक विशाल बट वृक्ष भी।

परियर में भी गंगा तट पर कार्तिक पूर्णिमा के दिन एक बहुत बड़ा मेला लगता है जैसा कि गंगा जी से दूसरे तट पर बिठूर में।

कम्पिल तीर्थ

इसका प्राचीन नाम काम्पिल्य है। कानपुर और फरुंखाबाद के बीच में छोटी लाइन पर कायमगंज स्टेशन है जहाँ से कम्पिल तक पक्की सड़क है। कम्पिल गंगा जी के दाहिने तट पर स्थित है। प्राचीन काल में यह एक बड़ा नगर था।

कम्पिल जैनियों का विशिष्ट तीर्थ स्थान है। जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर तथा जैन मत के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने जनता को धर्म का उपदेश यहीं से आरम्भ किया था ऐसा जैन ग्रन्थों में वर्णन है, जैनियों के १३वें तीर्थंकर विमलनाथ का जन्म, तप और ज्ञानकल्याणक यहीं हुए थे। श्री महावीर का समवरण भी यहाँ आया था। आज भी यहाँ दो पुराने तथा प्रसिद्ध मन्दिर हैं जिनमें एक का नाम रामेश्वरनाथ तथा दूसरे का नाम कामेश्वर नाथ है। एक में तीर्थंकर विमलनाथ की तीन प्रतिमाएँ हैं।

जनश्रुतियों के अनुसार महाभारत युद्ध के पश्चात् भारतीय सांख्य दर्शन के प्रतिपादक महर्षि कपिल कम्पिल के उपवनों में स्थित किसी आश्रम में निवास करते थे। आत्रेय संहिता के रचयिता आचार्य अत्रिय ने अग्निवेश नामक शिष्य को यहीं पर शल्य क्रिया की शिक्षा दी थी। कम्पिल नगर में द्रोपदी का स्वयंवर हुआ था जिसमें अर्जुन विजयी हुए थे।

जैनियों का तीर्थ स्थान होने के नाते यहाँ जैन पर्यटकों का आना बराबर जारी रहता है। यात्रियों के ठहरने के लिए अच्छी धर्मशालाएँ हैं। अभी हाल में यहाँ एक उत्तम चिकित्सा गृह का भी निर्माण हुआ है। चैत्र और आश्विन में यहाँ मेला लगता है।

शृंगी रामपुर :—फर्रुखाबाद जनपद में गंगा के दक्षिण तट पर यह प्राचीन गाँव स्थित है। यहाँ पर पौराणिक समय के शृंगी ऋषि के नाम पर एक पुराना मन्दिर है जो उस स्थान पर बना है जहाँ ऋषि ने इस अभिप्राय से तपस्या की थी कि उनके माथे पर उगा हुआ सींग नष्ट हो जाय। किम्वदन्ती के अनुसार यह सींग ईश्वरीय दण्ड स्वरूप इसलिए उठा था कि ऋषि ने बिना विचारे महाराज परीक्षित को तक्षक द्वारा डसे जाने का शाप दिया था। तपस्या के फलस्वरूप यह सींग उनके माथे से पृथक् हो गया था। प्रति वर्ष यहाँ पर दो मेले लगते हैं—एक कार्तिक पूर्णिमा के दिन और दूसरा दशहरा के समय।

दाईपुर :—कन्नौज नगर से ८ मील उत्तर की ओर गंगा नदी के तट पर दाईपुर नाम का एक लघु ग्राम है। पूर्वोत्तर रेलवे के अरौल मकनपुर स्टेशन से यह गाँव तीन मील की दूरी पर है। यह एक प्राचीन स्थल है जिसमें प्राप्त मूर्तियों तथा अन्य अवशेषों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि राजपूत युग (६००-१२०० ई०) में यह एक वैभवशाली नगर था। उस समय इसका क्या नाम था यह ज्ञात नहीं है किन्तु नाम दाईपुर मुसलमानी काल का है इसमें सन्देह नहीं। उसी काल में शेरशाह के समय (१५४०-४५ ई०) में इसका नाम शेरगढ़ होना प्रतीत होता है क्योंकि शेरशाह के कुछ सिक्कों पर अंकित शेरगढ़ उर्फ कन्नौज से प्रतीत होता है कि शेरशाह ने यहाँ एक किला बनवाया था और उसी से नगर को शेरगढ़ के नाम से जाना जाने लगा। यही बात शेरशाह के पुत्र तथा उत्तराधिकारी सलीमशाह सूर के एक अभिलेख से प्रमाणित होती है।

राजपूत काल से सम्बन्धित जो प्रतिमाएँ मिली हैं उनमें से कुछ विष्णु की, कुछ गणेश की तथा कुछ भैरव की मूर्तियाँ हैं। इनका सम्बन्ध प्रतिहार (८००-१००० ई०) तथा गाहरवाल (१९८५-११९४ ई०) सम्यक कला से जोड़ा जा सकता है।

प्रख्यात इतिहासज्ञ डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने शेरशाह के अभियान और हुमायूँ से उसके संघर्ष के प्रसंग में दाईपुर का उल्लेख किया है। उनका विचार है कि हुमायूँ ने कन्नौज से थोड़ी दूर आगे (६-७ मील) पर डेरा डाला था। कन्नौज से सीधे दाईपुर की दूरी ६-७ मील होगी। अतः दाईपुर के आस-पास ही दोनों पक्षों में युद्ध हुआ जिसमें हुमायूँ पराजित होकर गंगा नदी को पार करके भाग निकलने में सफल हुआ था।

अध्याय ५

कन्नौज राज्य के इतिहास का कालक्रम

सारपत्रक

१. उपक्रम

२. कन्नौज के राजवंशों और फुटकर शासकों के नाम, शासन काल तथा प्रमुख घटनाओं की तालिका।

१. उपक्रम

कन्नौज के राजवंशों की जानकारी अनुमानतः पौराणिक त्रेता युग से प्रारम्भ होती है। उसके पहले के सतयुग के वंशों का पौराणिक प्रमाण अप्राप्य है। त्रेता के बाद द्वापर युग के सम्बन्ध में भी स्थिति कुछ ऐसी ही है। पौराणिक साहित्य में कान्यकुब्ज देश के प्राचीन वंशों तथा शासकों का वर्णन मिलता है और उसी के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक के कतिपय अध्यायों में उस सामग्री का उपयोग किया गया है।

कन्नौज राज्य का ऐतिहासिक युग गुप्त साम्राज्य के पतन काल से प्रारम्भ होता है अर्थात् लगभग छठी शताब्दी के मध्य से। उसी समय मौखरि वंश इस राज्य का अधिष्ठाता हुआ उसके पूर्व काल की प्रमाणित ऐतिहासिक जानकारी नहीं है अर्थात् यह ज्ञात नहीं है कि कन्नौज राज्य की क्या स्थिति थी, यानी क्या वह स्वतन्त्र और अलग प्रदेश था या नहीं, यदि उसका अलग अस्तित्व था तो किस वंश का राज्य था और उसके शासक कौन थे। मौखरि वंश की स्थापना के सम्बन्ध में यह ज्ञात है कि मगध के गुप्त साम्राज्य का ध्वंस लगभग छठी सदी के मध्य में हुआ तभी से देश में विकेन्द्रीकरण प्रारम्भ हो गया और साम्राज्य के प्रान्तों पर ही छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। इसी प्रकार अन्य स्वतन्त्र राज्य भी कायम हुए जिनमें कन्नौज राज्य प्रमुख था तथा उसने साम्राज्य का रूप भी प्राप्त किया।

२. कन्नौज के राजवंशों और फुटकर शासकों के नाम, शासन काल तथा प्रमुख घटनाओं की तालिका

राजवंशों, फुटकर शासकों के नाम, शासन काल तथा प्रमुख घटनाएँ	विवरण
सम्राट बलि का शासन (सतयुग)	श्रीमद्भागवत के संकेतों के अनुसार तथा किम्वदन्ती के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि कन्नौज नगर (तब का नाम महोदय) सम्राट बलि की राजधानी थी। इसके कुछ स्थानीय प्रमाण भी हैं जिनका जिक्र सम्बन्धित अध्याय में किया गया है।
कुशिक वंश (त्रेता युग)	इस युग में कान्यकुब्ज देश पर कुशिक वंश का शासन था। इस वंश के संस्थापक थे महाराज कुश[1] जो चन्द्रवंशीय क्षत्री थे और जिनके आदि पुरुष चन्द्रमा थे। महाराज पुरुरवा, महाराज जह्नु, महाराज गाधि, महाराज विश्वामित्र (जब वे क्षत्री थे अर्थात् ब्रह्मऋषित्व प्राप्त करने से पहले), आदि इसी वंश के थे। महाराज कुश का प्रादुर्भाव त्रेता युग में हुआ था। इन्हीं के नाम से कान्यकुब्ज नगर का पूर्व नाम कुशस्थली पड़ा था। बाद में उनके आत्मज कुशनाभ ने नगर को अपनी राजधानी बनाया और फिर इसका नाम कान्यकुब्ज पड़ा।
कौरव राजा दुर्योधन का शासन (द्वापर युग)	इस नामकरण से सम्बन्धित कथा एक अलग अध्याय में दी गयी है। जानकारी केवल इतनी ही है कि कन्नौज राज्य कौरव राजा दुर्योधन के अधीन था।
पांडव वंश (महाराज युधिष्ठिर, परीक्षित तथा जनमेजय का	महाभारत युद्ध में विजयी होने के बाद महाराज युधिष्ठिर दुर्योधन के राज्य के स्वामी हुए जिसके अन्तर्गत कन्नौज नगर भी था। युधिष्ठिर के

१. यह महाराज कुश भगवान राम के पुत्र कुश (लव और कुश) से भिन्न थे।

१	२
शासन) [उत्तर द्वापर युग में तथा महाभारत युद्ध के बाद कलियुग के प्रारम्भ में, अर्थात् ईसा पूर्व सन् २००० के लगभग]	बाद उनके पौत्र तथा मृत अभिमन्यु के पुत्र महाराज परीक्षित राज्य के उत्तराधिकारी हुए। उसके बाद उनके पुत्र महाराज जनमेजय शासक हुए।
ई० पू० ५६३-४८३ (गौतम बुद्ध)	गौतम बुद्ध का जन्म व निर्वाण। वे कन्नौज भी गए थे।
ई०पू० ६००-ई०बा० ६०० (मगध साम्राज्य)	इस लगभग १२०० वर्ष की अवधि में भारत में मगध साम्राज्य का स्वामित्व रहा। इस साम्राज्य की राजधानी पहले राजगृह थी और बाद में ई० पू० ४६० के लगभग पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) हुई। कन्नौज राज्य मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था और कदाचित उस साम्राज्य के सामन्तों द्वारा ही सम्राट की देख रेख में कन्नौज इलाके का शासन प्रबन्ध होता रहा। मगध के सम्राटों के वंशों के नाम तथा राज्य-काल निम्न प्रकार हैं :— (१) ई० पू० ५४३–ई० पू० ४११—बिम्बसार वंश। (२) ई० पू० ४११–ई० पू० ३९३—शिशुनाग वंश। (३) ई० पू० ३९३–ई० पू० ३२५—नन्द वंश। (४) ई० पू० ३२०–ई० बा० ३२०—मौर्य वंश। अशोक महान इसी वंश का था। वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का वह पौत्र था। (५) ३२०–६०० ई०—गुप्त वंश, संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम। इस वंश का सबसे प्रतिभाशाली सम्राट समुद्र गुप्त था।
मौखरी अथवा मौखरि वंश (सन् ५४०–६०६)	यह वंश बहुत प्राचीन था किन्तु शक्तिशाली कन्नौज राज्य के रूप में इसका उदय गुप्त साम्राज्य के ह्रास के बाद ही हुआ। गुप्त वंश के बाद (अर्थात् लगभग सन् ५४० के बाद भारत में पुनः अनेक छोटे-छोटे राज्य

१	२
	स्थापित हो गए। कान्यकुब्ज देश में भी एक के बाद दूसरे वंशों की स्थापना हुई जिनमें मौखरी वंश की प्रायः अग्रगणिता है। हरिवर्धन द्वारा इस वंश की स्थापना हुयी थी। गृह वर्मन अन्तिम शासक था।
सम्राट हर्ष वर्धन (सन् ६०६–६४७)	हर्षवर्धन पहले उत्तर-पश्चिम दिशा स्थित थानेश्वर राज्य का शासक था। उसकी बहन राजश्री कन्नौज के अन्तिम मौखरी शासक गृह वर्मन को ब्याही थी। गृह वर्मन पुत्रहीन था अतः उसके वध के बाद राज्य का कोई उत्तराधिकारी न था। शत्रु राजश्री को कैद करके ले गए थे। इसी दयनीय दशा के कारण हर्ष कन्नौज आया और राज्य के मंत्रियों के अनुरोध से यहाँ का भी शासक होना स्वीकार किया। उन्होंने कतिपय प्रदेश जीत कर एक वृहत साम्राज्य की स्थापना की। इनके काल में यह राज्य अपनी चरम प्रतिष्ठा पर पहुँचा।
कन्नौज राज्य का अन्धकारमय समय (सन् ६४७–७००)	सम्राट हर्षवर्धन पुत्रहीन था अतः उसकी मृत्यु के बाद उसका कोई उत्तराधिकारी न हुआ। साम्राज्य छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभाजित हो गया और स्वयं कन्नौज राज्य में सही शासक के अभाव में उपद्रव होने लगे। लगभग ७५ साल तक अराजकता रही केवल इतना ही इतिहास को ज्ञात है। अतः यह अन्तरिम समय राज्य के इतिहास में अन्धकारमय कहा गया है क्योंकि मानने योग्य प्रमाणित तथ्य अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। इसी समय चीनी आक्रमण भी हुआ।
यशोवर्मन वंश (सन् ७२०–७७०)	सन् ७२० ई० के लगभग कन्नौज राज्य महाराज यशोवर्मन के अधिकार में आया। वह तथा उनके तीन उत्तराधिकारी यहाँ के शासक रहे सन् ७७० के लगभग तक। महाराज यशोवर्मन शक्तिशाली विजेता थे और विस्तृत साम्राज्य के स्वामी थे। इनके गद्दीन-शीन होने के पहले सन् ७१२ में अरबविजेता सिन्ध

१	२
	पर काविज हो चुके थे। अतः देश को उनसे भय था। इसके निवारण हेतु यशोवर्मन ने सन् ७३१ में चीन के सम्राट के पास अपना दूत मण्डल भेजा था किन्तु वहाँ से सहायता न मिली। अन्ततोगत्वा यशोवर्मन को बहुत समय तक अरबों से घोर युद्ध करना पड़ा और अन्त में महाराज की विजय हुई।[1] बीच में सन् ७४० से कुछ वर्ष तक कन्नौज पर काश्मीर नरेश ललितादित्य का अधिकार रहा उसकी मृत्यु तक। उसके बाद कन्नौज फिर स्वतंत्र हो गया परन्तु आगामी ५० वर्ष तक इस राज्य में स्थिरता न आ सकी।
७७०–८१६ आयुध वंश	इस वंश में तीन राजा हुए—वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध। इनके समय में राज्य अव्यवस्थित था और बाहरी आक्रमण भी हुए।
८१६–१०३० प्रतिहार वंश (कन्नौज का)	नागभट्ट द्वितीय (८१६–८२५) द्वारा इस वंश का संस्थापन हुआ था। पहले वह मालवा का प्रतिहार वंशी शासक था। बाद में कन्नौज को विजय करके उसने अपने साम्राज्य में मिला लिया और कन्नौज को नये साम्राज्य की राजधानी बनाया। यह कान्यकुब्ज का सार्वभौम नरेश था और उसने तुरुष्कों अर्थात् मुसलमान आक्रमणकारियों का दमन दिया। नागभट्ट द्वितीय के पहले मालवा-गुजरात के गुर्जर प्रतिहारों ने भी अरब आक्रमणकारियों से अनेक बार देश की रक्षा की थी। सिन्ध के अरब विजेताओं को भी उसने पराजित करके पीछे ढकेल दिया था। नागभट्ट द्वितीय के बाद उसके पौत्र मिहिर भोज (८३६–८८५) को भी तुरुष्कों से युद्ध करना पड़ा। जैसा कि उसके पिता रामभद्र को अपने अल्प-

१. प्राचीन भारत का इतिहास (डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी कृत), पृ० ८८, ९३।

१	२
	कालीन राज्यकाल में करना पड़ा था और सम्भवतः उसी में उसे वीरगति मिली (रामभद्र को)। मिहिर भोज बड़ा पराक्रमी था और उसने साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाया।
१००८ महमूद गजनवी का चौथा आक्रमण	भारत पर महमूद का पहला आक्रमण सन् १००१ में हुआ जबकि उसने लाहौर के शासक जयपाल को परास्त किया। उस युद्ध में कन्नौज के शासक राज्यपाल ने भी जयपाल की सहायता की थी। दो और आक्रमणों के बाद उसका चौथा आक्रमण १००८ में जयपाल के पुत्र आनन्दपाल पर हुआ। आनन्दपाल ने अन्य राजाओं से सहायता माँगी जिसके फलस्वरूप कन्नौज के सम्राट राज्यपाल (प्रतिहार) ने भी उसकी मदद के लिये सेना भेजी। राजपूतों की संगठित सेनाओं ने आक्रमणकारी को लगभग परास्त कर दिया था जबकि आनन्दपाल का हाथी रणक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ जिससे कि सब सेना हतोत्साहित हो गयी और महमूद विजयी हुआ।
१०१८ महमूद गजनवी का कन्नौज पर पहला आक्रमण	गजनी के शासक सुल्तान महमूद गजनवी का प्रथम आक्रमण सन् १००० में हुआ। उस समय उसने पेशावर के समीप कुछ किलों पर अधिकार कर लिया। उसके बाद भारत पर उसके कम से कम। ११ आक्रमण हुए। कुछ इतिहासकारों ने इनकी संख्या १७ बताई है। सन् १०१८ में उसने कन्नौज पर आक्रमण किया, नगर के सहस्त्रों मन्दिरों को ध्वंस किया और अतुल सम्पत्ति लूट कर ले गया। सन् १०२५ में गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर का विध्वंस तथा लुन्टन सब से स्मरणीय है।

१	२
१०१९ महमूद का कन्नौज पर दूसरा आक्रमण	इस आक्रमण का कारण यह था कि महमूद द्वारा संरक्षित कन्नौज नरेश राज्यपाल का चन्देलों द्वारा वध कर दिया गया था और उसके स्थान पर त्रिलोचन पाल को राजा बनाया गया था। अतः बदले की भावना से महमूद ने त्रिलोचनपाल को पराजित किया।
राष्ट्रकूट वंश (११वीं सदी का कुछ अंश)	लगभग सन् १०३० से अर्थात् प्रतिहार वंश की समाप्ति से सन् १०८० तक कन्नौज का इतिहास संदिग्ध है। इस अवधि में दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश का इस पर अधिकार होना सम्भावित है।
१०१९–१०८५ चेदियों और चन्देलों का अधिकार	इस काल में कन्नौज का इतिहास विवादास्पद है। कुछ इतिहासकार चेदि और चन्देल राजाओं का आधिपत्य मानते हैं।
१०४० (लगभग) कन्नौज पर गाहरवाल सामन्तों का प्रबन्ध।	कान्यकुब्ज राज पर राठौर कुल का प्रतिष्ठान। यह कुल गाहरवाल वंश की एक शाखा थी। प्रारम्भ में यह कुल सामन्तों के रूप में प्रबन्ध करता रहा। लगभग ४५ साल बाद महाराज चन्द्रदेव ने स्वतंत्र शासक के रूप में इस वंश की नींव डाली।
गाहरवाल वंश (सन् १०८५ से लगभग सन् १२०० तक) (अन्तिम वंश)	सन् १०८५ के लगभग इस वंश की स्थापना महाराज चन्द्रदेव गाहरवाल ने की जब वे उसके स्वतंत्र शासक हुए। उनके पिता महीचन्द्र तथा पितामह यशो विग्रह कदाचित इस क्षेत्र के सामन्त (अर्थात् अधीनस्थ) राजा थे। इस राज्य के अन्तिम पूर्ण स्वतंत्र शासक महाराज जयचन्द थे जिनके सन् ११९४ में मोहम्मद गोरी द्वारा रणशांयी होने पर इस वंश का अस्तित्व करीब-करीब नष्ट हो गया और बादहू सन् १२२० के लगभग पूर्णतया समाप्त हो गया जबकि महाराज

१	२
	जयचन्द्र के आत्मज राजा हरिश्चन्द्र का अन्त हुआ । इसके बाद एक राज्य के रूप में कन्नौज देश का अन्त हो गया और साथ ही उसके राजवंश भी इतिहास के गर्भ में विलीन हो गए । गाहरवाल वंशीय शासकों की नामावली निम्न प्रकार है— (१) महाराज चन्द्रदेव (१०८५-११००), (२) मदनपाल (मदनचन्द्र) (११००-१११३), (३) गोविन्दचन्द्र (१११३-११५५), (४) विजय चन्द्र (११५५-११६९), (५) जयचन्द्र (११६९-११९३), (६) हरिश्चन्द्र (११९३-१२२०)।
११७७ पृथ्वीराज अजमेर और दिल्ली के शासक	प्रारम्भ में महाराज पृथ्वीराज अजमेर राज्य के शासक थे । बाद में दिल्ली के तोमर वंशी राजा अनंगपाल के मरने पर यह दिल्ली के भी शासक हुए क्योंकि अनंगपाल अपने कोई औरस पुत्र न होने के कारण उन्होंने पृथ्वीराज को अपना उत्तराधिकारी करार दिया था । वह पृथ्वीराज के नाना थे । उनकी एक आत्मजा पृथ्वीराज को और एक जयचन्द्र को व्याही थी ।
११९०-११९१ मोहम्मद गोरी का प्रथम आक्रमण	सुल्तान मोहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया । महाराज पृथ्वीराज ने उसे तरायन के मैदान में पराजित किया । यह तरायन का प्रथम युद्ध था । इसे पानीपत का प्रथम युद्ध भी कहते हैं ।
११९२ गोरी का दूसरा आक्रमण	तरायन (पानीपत) का द्वितीय युद्ध जिसमें मोहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज को पराजित किया तथा उनका वध किया । तभी उसने अपने सेनापति

१	२
	कुतुबुद्दीन ऐवक को भारत में अपना राजप्रतिनिधि (वाइसराय) नियुक्त किया और स्वयं स्वदेश लौट गया। इसी समय से भारत में यवन शासन का प्रारम्भ हुआ।
११९३ गोरी का कन्नौज पर आक्रमण	सुल्तान मोहम्मद गोरी ने इस बार कन्नौज राज्य पर आक्रमण किया। इटावा के समीप चन्द्रावर के मैदान में महाराज जयचन्द्र ने उसका मुकाबला किया। उसी युद्ध में महाराज ने वीरगति पाई और तभी कन्नौज राज्य भी यवनों के आधिपत्य में आ गया किन्तु आम शासन प्रबन्ध हिन्दू राजाओं के ही सिपुर्द रहा—दिल्ली सल्तनत की संरक्षता और देख रेख में।
	युद्ध के बाद मोहम्मद गोरी ने कन्नौज नगर और काशी नगरी का लुन्टन किया। फतेहपुर जिले में गंगा के किनारे असनी नामक स्थान में जयचन्द्र का किला था जिसमें राज्य का अधिकांश खजाना सुरक्षित था। गोरी ने वहाँ जाकर उसका भी अपहरण किया।
	बाद में जयचन्द के आत्मज राजा हरिश्चन्द्र कन्नौज क्षेत्र का प्रबन्ध करते रहे और कन्नौज राज्य के पूर्वी इलाकों पर उनका शासन रहा ऐसा भासित होता है (११९४-१२२०)।
१२०६ मोहम्मद गोरी का कत्ल-गुलाम वंश का प्रारम्भ	लाहौर में एक निजी शत्रु द्वारा मोहम्मद गोरी अपने खेमे में रात को कत्ल कर दिया गया। उसके कोई सन्तान न थी अतः कुतुबुद्दीन जो गोरी का भारत में प्रतिनिधि (वाइसराय) था, भारत के प्रथम सुल्तान के रूप में प्रतिष्ठापित हुआ। तभी गुलाम वंश का प्रारम्भ हुआ क्योंकि अपनी युवा अवस्था में वह गुलाम था।

१	२
१५२९ बाबर का कन्नौज आगमन	सन् १५२७ में चित्तौर के राना सांगा (संग्राम सिंह) को सीकरी के युद्ध में परास्त कर बाबर ने बुन्देलखण्ड के चन्देरी के दुर्ग को फतेह किया (१५२८) और उसके बाद उत्तर की ओर बढ़ा जहाँ उसे सूचना मिली कि अफगान शासकों ने मुगल राज्य के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया है। शीघ्र वह कन्नौज पहुँचा और वहाँ से पूर्व की ओर बढ़कर पटना के निकट अफगानों को परास्त किया (१५२९)। दूसरे साल उसकी मृत्यु हो गयी।
१५४० कन्नौज का युद्ध, शेरशाह द्वारा हुमायूँ की पराजय	बिहार के अफगान सरदार शेरशाह ने इस युद्ध में हुमायूँ को पूर्णतया पराजित कर दिया और दिल्ली के तख्त पर कब्जा कर लिया। सन् १५३८ में हुमायूँ ने बंगाल के गौड़ क्षेत्र पर दखल कर लिया किन्तु वहाँ से लौटते समय शेर शाह ने उसकी फौज का सामना किया और बक्सर के युद्ध (१५३९) में उसे पराजित कर भागने के लिए बाध्य किया। उसके शीघ्र ही बाद कन्नौज के युद्ध में हार कर हुमायूँ ने अपना राज्य छोड़कर पहले सिन्ध में शरण ली और फिर ईरान चला गया। लगभग १५ साल बाद सन् १५५५ में अपने भारतीय शत्रुओं को पराजित कर उसने अपना राज्य पुनः प्राप्त किया।
१८५७	भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम। इस संग्राम में फर्रुखाबाद के नवाब ने प्रमुख भाग लिया और अपने इलाके को स्वतंत्र घोषित कर दिया। बाद में अँगरेजों ने सारे देश में सत्ता अपने काबू में कर ली।

●

भाग २

वैदिक, पौराणिक तथा महाभारत काल

अध्याय

६. सूत्रपात

७. सम्राट बलि; कान्यकुब्ज नगर बलि की राजधानी; बलि और वामन की कथा

८. कुशिक वंश

९. कुशिक वंशीय विश्वामित्र, कान्यकुब्ज राज्य के शासक, बादहू ब्रह्मर्षि

१०. महाभारत काल में कन्नौज

अध्याय ६

सूत्रपात

सारपत्रक

१. इतिहास के लिए पौराणिक सामग्री की भी सार्थकता।

२. महोदय नाम से कन्नौज नगर की सर्वप्रथम स्थापना।

३. कुछ शंकाओं का समाधान।

१. इतिहास के लिए पौराणिक सामग्री की भी सार्थकता

जिस स्थान का इतिहास पाठकों के सन्मुख आ रहा है उसका भौगोलिक परिचय एवं क्षेत्र विस्तार, आदि अगले अध्यायों में उल्लिखित किया गया है। उस इतिहास का सूत्रपात कहाँ से होता है इसकी जानकारी इस अध्याय में दी जा रही है। इससे उस स्थान के इतिहास का तारतम्य तो बनता ही है, साथ ही एक प्राचीनता दृष्टिगत होती है जो उसके गौरव का स्वयंसिद्ध प्रमाण है।

इस दृष्टि से जिसको साधारणतः इतिहास कहकर समाहृत किया जाता है उसको भारतीय आचार्यों ने माहात्म्य कहा है। यह कतिपय पुराणों में वर्णित है, जैसे—

वामन पुराण,	वाल्मीकि रामायण
शिव पुराण,	भविष्य पुराण,
महाभारत पुराण,	पद्म पुराण, कुमारिका खण्ड, कान्याकुब्ज माहात्म्य।

यद्यपि पुराणों में वास्तविक इतिहास से इतर कथाओं का बाहुल्य है तथापि इस कारण से ही वे नितान्त त्याज्य नहीं है वरन जो कुछ स्वल्पातिस्वल्प ऐतिहासिक तथ्य है वह ग्राह्य हैं। वास्तविक इतिहास के अभाव को पूर्ण करने में यद्यपि यह असमर्थ है तथापि जहाँ तक अन्य प्रमाणों से उनकी तनिक भी पुष्टि होती है वहाँ तक तो इतिहासकार के लिए वह कुछ न कुछ अवलम्बन अवश्य है।

पौराणिक कथाओं के सम्बन्ध में एक अन्य बात भी विचारणीय है वह यह

कि पुराण की कथाएँ साहित्य प्रणाली में ढाली गई हैं अतः उनमें साहित्यिक गुण की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है साथ ही उन कथाओं का ऐतिहासिक तथा भौगोलिक आधार अवश्य है भले ही उस आधार में ग्रंथकार ने साहित्यिक कल्पना का समावेश कर दिया हो। उदाहरणार्थ किसी राजा की प्रशस्ति में यदि कवि ने अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है तो उसका अर्थ यह नहीं है कि राजा का अस्तित्व ही कल्पित है या जिन देशों पर उसका आधिपत्य बताया गया है वे भी कल्पित हैं। यह दूसरी बात है कि उन नामों की पहचान में कठिनाइयाँ होती हैं क्योंकि नाम बदलते रहते हैं।

पौराणिक साहित्य में ऐतिहासिक सामग्री भी है इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि जिला गजटियरों (District Gazetteers) में स्थानों के वर्णन में पौराणिक तथ्यों का भी समावेश किया गया है। यह गजटियर ब्रिटिश शासन के उच्चकोटि के विद्वान हाकिमों द्वारा प्रणीत किए गए थे। उनको लिखने के लिए सामग्री एकत्रित करने में कोई प्रयास उठा न रखा गया था और उनमें उल्लिखित तथ्यों की पुष्टि के लिए सभी तरह के प्रमाणों का उपयोग किया गया था।

इसके अतिरिक्त विज्ञ इतिहासकारों ने जिन स्रोतों को इतिहास का आधार भूत माना है उनमें जनश्रुति और पौराणिक ग्रंथों का भी स्थान है यद्यपि इन श्रोतों को ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में न्यून बल दिया गया है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए विद्वान पाठक सहमत होंगे कि इतिहासकार द्वारा पौराणिक कथनों का उपयोग अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इधर प्राचीनता वास्तविक ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव की स्वयं सूचक है। अर्वाचीन घटनाएँ अपनी ऐतिहासिक प्रखरता में पूर्ववर्ती घटनाओं का ह्रास किया करती है और यदि काल ग्रास से कोई अवशेष कीर्ति रहती है तो उसका वाह्याडम्बर में आच्छादित होना अवश्यम्भावी है। काल ग्रास एवं बाह्याडम्बर से संरक्षण करना इतिहास का परमधर्म है। सुतरां जैसा कुछ पौराणिक इतिहास इस दिशा में संकेत करता है वह आदरणीय पाठकों के सन्मुख रखा जाता है। अस्तु।

२. महोदय नाम से कन्नौज नगर की सर्वप्रथम स्थापना

जिस प्रकार मनुष्य जीवन में उसका जात कर्म एवं नामकरण संस्कार उसके शैशव काल का संकेत देते हैं वैसे ही स्थान के विषय में भी उसका नाम उसके जन्मकाल का सूचक है। बादहू जिस प्रकार मनुष्य शैशव से बाल, फिर पौगंड तथा युवा अवस्था से वृद्धावस्था तक कई उपाधियाँ धारण करता है उसी प्रकार

स्थान भी अपना रूप एवं नाम युगान्तर तक बदलता रहता है। अतः स्थान कन्नौज की गवेषणा के लिए हम उसके नाम को ही सूत्रपात मानेंगे।

आर्य ग्रंथों में कन्नौज का सबसे प्राचीन नाम महोदय मिलता है। यह बात इतिहासकारों को भी स्वीकृत है। निःसन्देह महोदय एक दीर्घमहता सूचक संज्ञा है। अतएव इस नाम में जो महान् उत्थान का भाव है वह बलि-वामन के कथा प्रसंग से लगाया जा सकता है। यह कथा पुराणों में पाई जाती है और जो देवासुर संग्राम के नाम से भी विख्यात है जिसका वर्णन आगे समुचित स्थान पर आएगा। इस तथ्य के आधार पर प्रस्तुत इतिहास का उस काल से होगा जिसे आर्यों ने सत्ययुग कहा है क्योंकि वामन भगवान का अवतार उसी युग में हुआ था। उसी प्रसंग में निम्न कथन की पुष्टि भी होती है—

कृते महोदयं नाम त्रेतायां च कुशस्थली।
पुनः गाधिपुरी जातं कन्याकुब्ज यतः परम्[1] ॥

अर्थात् सतयुग में इसका नाम महोदय रहा, त्रेता में प्रथम कुशस्थली फिर गाधिपुरी हुआ, इसके बाद इसी का नाम कन्याकुब्ज हुआ। (कृतयुग-सतयुग)।

उस देवासुर संग्राम का फल यह कहा गया है कि महाराज वामन ने असुर राजा बलि से यह भूभाग (अन्य भूभागों सहित) दान रूप में पाया। इससे स्पष्ट है कि यह भूभाग पूर्वातिपूर्व राजा बलि तथा उसके पूर्वज राजाओं के आधिपत्य में रहा होगा। इस कथन की पुष्टि के लिए हम कुछ बातों की चर्चा करेंगे।

ज्ञातव्य है कि सभ्य शिक्षित जातियों के भूपतियों में यह पुरातन नियम था कि प्रायः उनके नाम पर नगर आदि निर्माण करके उनको चिरंजीवी बनाते थे। भारतीय आर्यों में यह प्रथा विशेष कर मिलती है कि घटना स्थलों को तीर्थ कहने लगते थे और विजय तिथियों को पूर्व मानकर उनका इतिहास चिरस्थाई कर दिया करते थे। इन बातों को कसौटी मानकर इस समय के कन्नौज नगर के ३०-४० मील के दायरे में स्थित कुछ प्राचीन स्थानों पर हम पाठकों को ले चलते हैं।

वामन आश्रम तीर्थ—पद्म पुराण में कान्यकुब्ज नगर में स्थित वामन आश्रम का उल्लेख है जो निम्न प्रकार है :—

विश्वामित्रौ मुनियः यत्र तपस्तेपे सदारुणं।
वामनाश्रम तीर्थं तत् पृथिव्यां पावनं परम् ॥१७॥

---

१. प० पु० कु० खं० क० कु० मां० १५।१७।

कश्यपस्य प्रभावेण तपसा दुश्चरेण च।
अदिते गर्भ संभृतो वामनो यत्र संस्थितः ।।१८।।[१]

अर्थात् इस स्थान पर विश्वामित्र ने दारुण तपस्या की थी वहीं पर पृथ्वी में अति पवित्र वामन आश्रम तीर्थ है (१७)। जहाँ पर कश्यप ऋषि की असाधारण तपस्या के प्रभाव से अदित के गर्भ से उत्पन्न होकर वामन जी स्थित है (१८)।

बलि का संगम—जिस स्थान पर भगवान तथा राजा बलि की भेंट हुई थी वह तीर्थ 'बलि का संगम' भी अद्यावधि मौजूद है जैसा कि निम्न श्लोक से संकेतित होता है—

कन्याकुब्जं वरं तीर्थं तत्र राजगिरि[२]वरम्।
गंगा कृष्ण[3] द्वयोः संगम मम दानस्थली बले ।।[४]

अर्थात् सब तीर्थों में कन्याकुब्ज श्रेष्ठ है उसमें राजगिरि अति श्रेष्ठ है। गंगा और काली का संगम स्थान हमारी दान स्थली है।

यह बलि का संगम कन्नौज नगर से लगभग ४ किलोमीटर पूर्व गंगा तट पर है। भादों सुदी १२ को जन समुदाय वहाँ स्नान दान करके पुनश्य गंगा जी में नहाकर लौटते हैं। यह वही तिथि है जिस दिन वामन महाराज ने राजा बलि पर विजय प्राप्त की थी। तभी से यह तिथि पर्व करके मानी जाती है।

वामन स्मारक—उक्त बलि के संगम के साथ ही यहाँ वामन भगवान का भी स्मारक है। जहाँ पर इसे तीर्थ मान कर स्नान करते हैं वहाँ एक प्राचीन बृहदाकार कुआँ है जो एक वर्षाती नाले से मिला हुआ है। इसी संगम के जल से पहिले स्नान करके लोग गंगा जी को जाते हैं। कहा जाता है कि ऐसे ५२[५] कुएँ आसपास के मिले हुए गाँवों के क्षेत्र में बने थे जिनमें से ६-७ अब भी हैं, एक सजल है अन्य मिट्टी से भरे हुए। नीचे से यह पक्के बने हैं।

---

१. प० पु० कु० खं० क० कु० मा० ८।१७-१८
२. राजगिरि-राजगृह-रजागिरि। गंगा तट पर अब यह एक छोटे मौजे के रूप में स्थित है और बलि के संगम के समीप है। इसी स्थान के समीप गंगा और काली नदी (कृष्णा) का संगम है।
३. काली नदी का संस्कृत नाम।
४. प० पु० कु० खं० क० कु० मा० १२।४१-४२।
५. यह संख्या ५२ (बावन) महाराज वामन के नाम से सम्बन्धित है। वामन महाराज का कद ५२ अंगुल का था।

इसके अतिरिक्त 'वामन' (बावन) नामक एक प्राचीन गाँव हरदोई जनपद[1] में गम्भीरी नदी की तराई में है। ककैया (छोटी) इंटों का एक राजभवन भी भग्नावस्था में वहाँ है। अति शीतल जल का एक कुआँ भी है।

वामन स्वामी का मन्दिर—विख्यात काव्य शास्त्री राजशेखर ने अपने काव्य मीमांसा के १७वें अध्याय में प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति का वर्णन किया है। उसमें (महोदय कन्नौज नगर) में वामन स्वामी के मन्दिर का उल्लेख किया है और कहा है कि यह प्रसिद्ध मन्दिर था।

बलि का तालाब :—जिस प्रकार ५२ कुओं से वामन महाराज का स्मारक सिद्ध होता है वैसे ही बलि का स्मारक एक विस्तृत तड़ाग से निर्मित हुआ। यह ताल बलि के संगम से ३ किलोमीटर के लगभग पूरब, गंगा जी के कुछ दक्षिण पर है। पहिले यह पक्का था किन्तु अब एक छोटी पोखरी ही उस स्थान का संकेत करती है। पुराना ताल मिट्टी से बिलकुल पट गया है। उस ताल तथा उसके आस-पास की उपजाऊ भूमि क्षेत्र को अथवा वहाँ स्थित गाँव की संज्ञा, बलही है। पचास वर्ष तक इस ताल की ईंटें लोग अपने काम में लाते रहे। नींव में गहिरे दबी हुई ईंटों के अतिरिक्त ताल अथवा कुओं के सब भग्नावशेष या तो मनुष्यों ने अपने घरों में लगा लिए या पास की रेल की पटरी के रोड़ों के लिए लगभग एक सदी तक काम में आए।

बिलग्राम :—जैसा कि अन्यत्र कहा गया है कन्नौज राज्य गंगा से सीमित न था वरन् गंगा के उत्तर तट को उल्लंघित करता हुआ हिमालय पर्यन्त था। इस समय जिला फर्रुखाबाद (जिसमें कन्नौज एक तहसील है) तथा हरदोई गंगा से सीमित है। जैसे गंगा के दक्षिण तट पर कन्नौज बसा है वैसे ही उत्तर तट पर हरदोई नगर तथा बिलग्राम कस्बा है। यह कस्बा भी राजा बलि का द्योतक समझ पड़ता है। वास्तव में वह "बलिग्राम" का अपभ्रंश ही है। जनश्रुति अथवा किंवदन्ती इस भाव की पोषक है। इस नगर की व्युत्पत्ति एक असुर से बताई जाती है और हरदोई गजेटिर में भी उल्लेख है कि "Bilgram is said to take its name from a demon."[2] अर्थात् बिलग्राम का नाम एक दैत्य के नाम पर है। इसका तात्पर्य बलि से ही जान पड़ता है क्योंकि बलि एक असुर (दैत्य) राजा था।

---

१. गंगा जी के एक तट पर कन्नौज है और दूसरे तट पर हरदोई जिले की सरहद है।

२. Hardoi Gazetteer p. 127.

हरदोई :—हरदोई में बलि के पिता, पितामह और प्रपितामह के नामांकित दिखाई देते हैं। बलि के पिता थे विरोचन, विरोचन के पिता प्रह्लाद, प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु थे। इनमें हिरण्यकशिपु देवताओं का घोर द्रोही था, इसलिए तिरस्कृत था। प्रह्लाद आर्यों का भक्त हुआ और भगवान का प्रिय यथा "प्रह्लादस्तु हरि प्रियः" जैसा कि पद्म पुराण के अन्तर्गत कन्याकुब्ज माहात्म्य में कहा गया है।[1]

हरि भक्ति के कारण ही प्रह्लाद समादृत था। विरोचन की नीति उदासीन थी। अन्त में बलि से देवताओं के प्रति वैमनस्य का पुनर्जन्म हुआ। अन्ततोगत्वा दोनों में जय-पराजय होकर सन्धि भी हुई। अस्तु !

हरदोई में तड़ाग है, वहाँ "प्रह्लाद चौराघाट" को अब भी लोग जानते हैं। इसी प्रकार वहाँ "विरेचामऊ" नाम का एक गाँव है। यह दोनों स्थानों को क्रमशः बलि के पितामह तथा पिता का स्मारक कहा जा सकता है। "हरदोई" संज्ञा "हरि द्रोही" का अपभ्रंश समझ पड़ती है जिससे हिरण्यकशिपु का तात्पर्य होता है। राक्षसी नामों से भी द्रोह होने के कारण ऐसा नामकरण प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त हरदोई गजेटियर में हरदोई नाम के सम्बन्ध में लिखा है कि **"Another story attributes the name to a Thathera Chieftain named Raja Harnakush"**[2] अर्थात् एक दूसरी कथा के अनुसार हरदोई का नाम एक ठठेरा सरदार राजा हरनाकुश के नाम से पड़ा है। गजेटियरकार ने जनश्रुति के आधार पर जिस राजा हरनाकुश का उल्लेख किया है वह पौराणिक हिरण्यकशिपु प्रकट मालूम होता है। ठठेरा जाति उसे सम्बन्धित करने में युग भ्रम भी स्पष्ट है।

३. कुछ शंकाओं का समाधान

उक्त बातों से सिद्ध होता है कि बलि का वंश कन्नौज राज्य में केन्द्रीभूत रहा। इस विषय में कतिपय आपत्तिजनक शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न नीचे किया जा रहा है।

पद्म पुराण के अनुसार बलि ने राजसूय यज्ञ कान्यकुब्ज नगर के समीप राजगृह स्थान पर कि जहाँ पर गंगा और काली नदी का संगम है की थी। इसके विपरीत श्री मद्भागवत का कथन है कि यह यज्ञ नर्मदा के तट पर हुई थी, और वही वामन भगवान ब्रह्मचारी रूप में गए थे।

---

१. प० पु० कु० खं० क० कु० मा० ४।१३।

2. Hardoi Gazetteer, p. 200.

उसी प्रकार प्रह्लाद का स्मारक पहाड़ी स्थानों में स्यालकोट की ओर बताया जाता है। इसके अतिरिक्त हिरण्यकशिपु वध तथा प्रह्लाद मोचन और नरसिंह अवतार का अभिनय स्थल झाँसी से कुछ दूर एक खेरा मानते हैं। मोटी दृष्टि से यद्यपि ये दूरस्थ स्थान हमारे उक्त कथनों के विरोधी जान पड़ते हैं पर वास्तव में ऐसा नहीं है। अपितु इन ऊपरी विरोधात्मक बातों से पौराणिक कथा की पुष्टि होती है। जो पुष्टि निम्न प्रकार है।

असुरों की शक्ति आर्यों से बहुत अधिक कही गई है। उनका राज्य विस्तार भी वैसा ही था। विशेष कर महाबली बलि के साम्राज्य में आर्यों की पराजय पराकाष्ठा को पहुँच गई। त्रसित आर्यों के अधिकार में आर्तावर्त का कोई भूभाग न रहा जैसा कि निम्न कथा से विदित है—

रसातलं विनिर्जित्य जित्वा भूमिं ततौ दिवम्।
एक एव त्रिलोकेषु विश्व जेता भवद् बलि ॥

अर्थात् बलि रसातल एवं भूलोक तथा स्वर्ग लोक को भी विजय कर लिया। इस प्रकार वे तीनों लोकों के एक मात्र सम्राट हुआ (प० पु० कु० खं० क० कु० मा०। ५।२१-२२)

पहाड़ी गुह्य स्थानों में अधिक समय तक जीवन बिताना असम्भव था, ऐसी अवस्था में वामनावतार मानते हैं।

इससे प्रमाणित है कि यावत् उत्तरी भारतवर्ष में अवश्य ही असुरों का आधिपत्य रहा और दूरस्थ स्मारक इस बात के साक्षी हैं। विजित सीमस्थ स्थानों में यज्ञादि का करना राजसूय यज्ञ का विधान सा है। विस्तृत क्षेत्र एवं विस्तृत काल[1] यज्ञकर्ता के प्रताप को स्थापित करते हैं। बलि की यज्ञ की पूर्ति होते देख वामन देव को वहाँ जाना पड़ा जहाँ उस समय यज्ञ हो रहा था, अर्थात् नर्मदा के तट पर। दूरस्थ स्थानों में यज्ञ के आयोजन के कई उदाहरण पुराणों में मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त पुरातन काल में एक ही राजा अपने राज्य के अनेकों स्थलों में यज्ञ करते थे, अतः यह कहा जा सकता है कि राजा बलि ने अपने अनेकों यज्ञों में से एक यज्ञ नर्मदा के तट पर किया हो।

अतएव नर्मदा तट पर यज्ञ होने की बात से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि बलि का निवास या राजधानी नर्मदा के किनारे थी, अन्यत्र न

---

१. राजसूय जैसी बड़ी यज्ञ बहुत दिनों तक चलते थे।

थी। वास्तव में राजधानी वही हो सकती है। जहाँ शास्त्रार्थ वादविवाद, संकल्प, सन्धि आदि हुए हों। कन्नौज प्रान्त के अतिरिक्त और कोई दूसरा स्थान नहीं बताया जा सकता जहाँ यह सब बातें घटित की जा सके और जहाँ ऊपर वर्णित असुर वंश के स्मारक हो। इस इलाके में असुर काल के अन्य नाम भी पाए जाते हैं, उदाहरणार्थ भोजपुर के क्षेत्र में एक स्थान राऊँखेरा है जो (रावण) रावन का अपभ्रंश है। रावण नाम असुरों में ही पाया जाता है। आर्यों में जो 'रावन' (रावण) 'हिरण्यकशिपु' 'हिरण्याक्ष' नाम कहीं भी नहीं पाए जाते। इससे ज्ञात होता है कि ये नाम संभवतः उसी काल से आये हैं।

अतएव हरदोई, विलग्राम को असुर राजधानी मानना असंगत नहीं कहा जा सकता और न समग्र उत्तर भारत को बलि द्वारा शासित। उसकी राजसूय यज्ञ की मखशाला कन्नौज ही ठीक उतरती है। इस सम्बन्ध में निम्न कथन स्मरणीय है—

विजित्य सकलान् लोकान् राजसूयं च कार स।
कन्याकुब्जे महातीर्थं सर्व सिद्ध निषेविते॥

अर्थात् (राजा बलि) ने सब लोकों को जीतकर राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया तथा उसे सिद्धगण सेवित कन्याकुब्ज महातीर्थ में किया।

और भी—

कान्यकुब्ज महापीठ धरण्यां पावनं परम् ॥२॥
विचार्यं ऋषिभिः सार्धं वैरोचन सुतो बलिः।
गंगा तीरे महत्पपुण्यं जरासिंघस्य मन्दिरह् ॥३॥
राजगृह मितिरुयातं त्रिषुलोकेणु विश्रुतम्।
तत्र यागः कृतं पूर्वं बलिना दलिना भुवि ॥४॥

अर्थात् कान्यकुब्ज महापीठ पृथ्वी पर अत्यन्त पवित्र स्थान है (२)। विरोचन के पुत्र बलि ने ऋषियों सहित विचार कर गंगा के समीप अत्यन्त पुन्य जरासन्ध के मन्दिर (निवास स्थान) में (३)। जो राजगृह कहलाता है और तीनों लोकों में प्रसिद्ध है उसमें पूर्व काल में बली बलि ने यज्ञ की थी (४)।

नोट—राजगृह तीर्थ में पहले जरासंघ का निवास स्थान था और उसी ने राजगृह का निर्माण कराया था। वह वहीं उत्पन्न भी हुआ था। शिव जी की भक्ति के कारण उसका पिता भी वहीं हुआ था। बाद में वह कीटक देश में चला गया और वहीं पर अपना मन्दिर (निवास स्थान) बनवाया। उस स्थान को भी राजगृह कहा जाता था (क० कु० मा० ८।२८ तथा ८।३१-३३)।

यह देवासुर संग्राम और बलि बामन की कथा सब पुराणों में सत्ययुग की

बताई गई है किन्तु यह कथा उस युग के पूर्वार्ध में न होकर उत्तरार्ध की समझ पड़ती है और वामन विजय पर महोदय की नींव पड़ती है। अतएव प्रस्तुत इतिहास का प्रारम्भ किसी समय सत्ययुग के उत्तरार्ध से होता है।

जो आज कन्नौज है वही तब महोदय था यही निष्कर्ष उद्धृत कथनों से निकलता है। इसी के प्रमाणार्थ पद्म पुराण से महोदय पर्व का विशेष स्थान है। वामन पुराण में भी महोदय का उल्लेख है और यह भी कि वह गंगा के दक्षिण तट पर स्थित है तथा वामन द्वारा प्रतिष्ठित शक्ति मन्दिर की ओर संकेत है कि जिसका अब कोई चिह्न नहीं रहा।

यदि भारत सरकार अथवा उत्तर प्रदेश सरकार पुरातत्व विभाग के खोज-वालों के हाथ में काम सौंप दे तो पूर्ण सम्भावना है कि निर्दिष्ट स्थान का अनुमान हो जावे। यद्यपि कुछ वर्ष पूर्व कन्नौज नगर में कुछ खोदाई पुरातत्व विभाग द्वारा की गई है। जिसमें बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है तथापि नगर के आस-पास तथा दूर तक फैले हुए खंडहरों और टीलों के अनुपात में यह उत्खनन नगण्यतम है। अतएव प्रलोभन वश निम्न सांकेतिक उद्धरण देकर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है—

श्री वामन उवाच—

ब्रह्मन् ब्रजामि देह्याज्ञां कुरुक्षेत्र महोदयम्।
तत्र दैत्यपतेः पुरयो हयमेधः प्रवर्त्तते ॥
समाविष्टानि पश्यत्वं तेंजांसि पृथवी-तले।
ये सविधानाः सततं मर्दशाः पुराम वर्धना ॥
तेन्महं प्रति जानामि कुरुक्षेत्रं गतो बलिः।

(वामन पुराण, ८१।५१-५३)

भावार्थ—श्री वामन जी ने कहा कि मैं उस पुण्यभूमि महोदय नगर को जा रहा हूँ जहाँ दैत्यराज बलि यज्ञ कर रहा है। पृथिवी में व्याप्त आप मेरे तेज को देखें। यह यज्ञादिक क्रियायें मेरे अंश से उत्पन्न हैं तथा पुण्य को बढ़ाने वाली हैं। उन क्रियाओं के सम्बन्ध में मैं जानता हूँ। इस समय बलि पुण्यभूमि (कुरुक्षेत्र, महोदय) में स्थित है। [वामन जी का उक्त कथन ब्रह्मन् अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष को सम्बोधित है]

अध्याय–७

सम्राट बलि—कान्यकुब्ज नगर बलि की राजधानी—बलि तथा भगवान वामन की कथा

सारपत्रक

१. सम्राट बलि के पूर्वज (भक्त प्रह्लाद आदि), उनका राज्य विस्तार तथा राजधानी।

२. बलि—वामन का उपाख्यान।

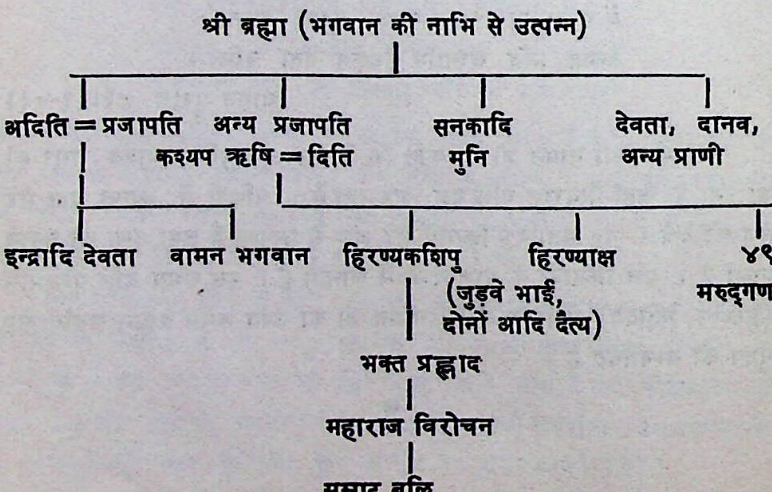
३. बलि और इन्द्र का सम्वाद।

४. बलि सम्बन्धी अन्य दो बातें।

१. सम्राट बलि के पूर्वज (भक्त प्रह्लाद आदि), उनका राज्यप्रसार तथा राजधानी

नोट—सम्राट बलि से सम्बन्धित यह अध्याय इसलिये दिया जा रहा है कि कान्यकुब्ज नगर उनकी राजधानी थी।

बलि के पूर्वज—राजा बलि भक्त शिरोमणि प्रह्लाद के पौत्र थे। ब्राह्मण भक्त महाराज विरोचन बलि के पिता थे। बलि का वंश सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से ही प्रारम्भ होता है जैसा कि निम्न वंशवृक्ष में दर्शित है :—



हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष पूर्व जन्म में भगवान के पार्षद थे, जय और विजय उनके नाम थे। एक समय उन्होंने ब्रह्मा के पुत्र सनकादि मुनियों (सनक, सनन्दन, सनातन और सनत कुमार) को भगवान के समक्ष जाने में ड्योढ़ी ही पर रोक दिया जिस कारण मुनियों ने उन्हें शाप दिया कि तुम बैकुण्ठ से निकल कर पापमय योनियों में पृथ्वी पर जाओ जहाँ प्राणियों के तीन शत्रु निवास करते हैं अर्थात् काम, क्रोध और लोभ, क्योंकि तुमने हमें रोककर भेदबुद्धि के दोष को प्रदर्शित किया है। फलस्वरूप दैत्य रूप में यह दोनों दिति के गर्भ से जन्मित हुए। मुनि कश्यप की सन्तान होते हुए भी यह दानव क्यों हुए इसका कारण था कि सन्ध्या के समय (जो प्रतिकूल समय था) दिति ने काम से पीड़ित होकर मुनि को सहवास के लिए बाध्य किया था।

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दोनों ने दिग्विजय की थी और तीनों लोकों के स्वामी हो गये थे। जलमग्न पृथ्वी को जल से निकालने के लिए भगवान ने वाराह का अवतार लिया था तभी हिरण्याक्ष उनसे युद्ध करने गया और मारा गया। इसी प्रकार बाद में हिरण्यकशिपु का बध भक्त प्रह्लाद की रक्षा हेतु अवतरित नरसिंह भगवान द्वारा हुआ था। भगवान द्वारा मारे जाने पर दोनों ही ने शापमुक्त होकर अपने पार्षद पद को पुनः प्राप्त कर लिया।

हिरण्यकशिपु के पुत्र महाराज विरोचन बड़े ब्राह्मणभक्त थे। उनकी प्रशंसा में भगवान वामन ने बलि से तीन पग पृथ्वी माँगते समय कहा था कि विरोचन के शत्रु देवताओं ने ब्राह्मणों का वेष बनाकर उनसे उनकी आयु का दान माँगा तो उन्होंने ब्राह्मणों का छल जानते हुए भी अपनी आयु दे डाली।[1]

सम्राट बलि स्वयं दैत्य वंशीय होते हुए भी सभी सात्विक गुणों से परिपूर्ण थे। भगवान में गहरी निष्ठा के साथ-साथ वे महादानी, यज्ञकर्ता, साधु प्रकृति वाले सत्यनिष्ठ, साहसी और वीर प्रजापालक थे। इनकी प्रतिभा और चरित्र-गरिमा का वर्णन आगे के शीर्षक में दिया गया है।

बलि का राज्य विस्तार—अपने पिता और चाचा की तरह बलि ने भी दिग्विजय की थी और वह तीनों लोकों के स्वामी थे। वह सम्राट पद से विभूषित थे यद्यपि भागवत पुराण में उन्हें काव्यदृष्टि से राजा की ही संज्ञा दी गयी है (राजा बलि)। समुद्र मंथन तथा उसके फलस्वरूप देवासुर संग्राम के पहले राजा बलि ने इन्द्र को पदच्युत करके स्वर्ग लोक पर भी अधिकार कर लिया था। जब अपना पद पुनः प्राप्त करने के लिए इन्द्रादि ने भगवान से प्रार्थना की तब भगवान् ने उन्हें सलाह दी कि युद्ध में बलि को जीतना सम्भव

---

१. श्रीमद्भागवत, ८।१९।१४।

नहीं है अतः उससे सन्धि करके देवता और दानव दोनों मिलकर अमृत निकालने के लिए समुद्र मंथन करें और उसके बाद देवताओं को सफलता के लिए उपाय उपस्थित होगा। तदन्तर इन्द्रादि देवता राजा बलि के पास गये। देवताओं को बिना अस्त्र-शस्त्र के आते देख दैत्य सेनापतियों ने उन्हें पकड़ लेना चाहा परन्तु उनको बलि ने रोक दिया क्योंकि वे सन्धि और विरोध के अवसर को जानने वाले थे। तीनों लोकों के विजेता बलि अपनी सभा में समस्त सम्पतियों से सेवित एवं असुर सेनापतियों से सुरक्षित होकर राजसिंहासन पर बैठे थे। इन्द्र का प्रस्ताव बलि ने स्वीकार कर लिया और देवताओं और असुरों ने आपस में सन्धि करके मित्रता कर ली तथा बाद में समुद्र मन्थन के लिए उद्योगशील हुए।

समुद्र मन्थन के बाद अमृतकलश पर अधिकार पाने की बात पर सुर और असुरों में संग्राम (देवासुर संग्राम के नाम से विख्यात) हुआ जिसमें असुर पराजित हुए और इन्द्र के वज्र द्वारा बलि मारे गए तथा इन्द्र ने इन्द्रासन पुनः प्राप्त कर लिया।

युद्ध में बचे हुए दैत्य वज्र की चोट से मरे हुए बलि को लेकर अस्ताचल गए। वहाँ दैत्य-गुरु शुक्राचार्य ने अपनी संजीवनी विद्या से उन सब असुरों को जीवित कर दिया जिनके गरदन आदि कटे नहीं थे। शुक्राचार्य के स्पर्श करते ही बलि की इन्द्रियों में चेतना और मन में स्मरण शक्ति आ गई। बलि यह बात समझते थे कि संसार में जीवन-मृत्यु, जय-पराजय आदि उलट-फेर होते ही रहते हैं अतः पराजित होने पर भी उन्हें खेद नहीं हुआ।[1]

कालान्तर में बलि ने पुनः स्वर्ग पर विजय प्राप्त की। उसके बाद वामन भगवान ने तीन पग पृथ्वी पाने के बहाने बलि के सम्पूर्ण राज्य को हस्तगत करके इन्द्र को स्वर्ग पर पुनः स्थापित कर दिया और बलि को सुतल लोक का राज्य दिया।

पृथ्वी के नीचे सात लोकों में तीसरे नम्बर पर सुतल लोक है, यथा—

(१) अतल, (२) वितल, (३) सुतल, (४) तलातल, (५) महातल, (६) रसातल, और पाताल।

यह एक के नीचे एक हैं और एक प्रकार के स्वर्ग हैं। सुतल लोक में बलि को जैसी उत्कृष्ट सम्पत्ति मिली वैसी इन्द्र के पास भी नहीं थी। प्रभु की आराधना करते हुए वे वहाँ आज भी निर्भयतापूर्वक रहते हैं। अपने भक्तों के प्रति भगवान का हृदय दया से भरा रहता है। अतः वे हाथ में गदा लिए हुए सुतल लोक के राजा बलि के द्वार पर सदा उपस्थित रहते हैं। एक बार जब

---

१. भागवत, ८।११।४६-४८।

दिग्विजय करता हुआ रावण वहाँ पहुँचा तब भगवान ने अपने पैर के अंगूठे की ठोकर से ही उसे लाखों योजन दूर फेंक दिया था।[1]

बलि की राजधानी—बलि के पितामह हिरण्यकशिपु की राजधानी वहाँ थी कि जहाँ वर्तमान हरदोई नगर बसा है। यह बात जनश्रुति पर आधारित है। कहा जाता है कि हरदोई का प्राचीन नाम हरिद्रोही नगरी था जिसका अपभ्रंश अब हरदोई हो गया है। हिरण्यकशिपु हरि का द्रोही था अतः उसे हरिद्रोही भी कहा जाता था। उसी नाम पर उसकी राजधानी का नाम हरिद्रोही नगरी पड़ गया था। उसके पौत्र विरोचन की राजधानी का स्थान ज्ञात नहीं है किन्तु उनके पुत्र बलि की राजधानी कान्यकुब्ज नगर थी ऐसा माना जाता है। इसका पूर्ण विवरण अध्याय ६ (सूत्रपात) में दे दिया गया है।

एक शंका का निवारण—श्रीमद्‌भागवत में आया है कि वामन अवतार के समय राजा बलि नर्मदा नदी के उत्तर तट पर स्थित भृगुकच्छ नामक रमणीक स्थान पर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे और वहीं ब्रह्मचारी के रूप में वामन भगवान गए थे।[2] किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वहीं बलि की राजधानी थी। जो राजा अनेकों यज्ञ करता था वह सब एक ही स्थान पर न होकर उसके राज्य के विभिन्न हल्कों में किये जाते थे। उक्त यज्ञ राजा बलि के अनेकों यज्ञों में से एक था और उसे अपने राज्य के दक्षिण भारत (अर्थात् दूरस्थ स्थान) के एक पवित्र भूभाग पर करना तर्कसंगत था क्योंकि उत्तर भारत की गंगा नदी की भाँति दक्षिण की नर्मदा नदी भी पुण्यमयी थी और अब भी है। इस शंका का समाधान पूर्व अध्याय (६–सूत्रपात) में भी तर्क सहित किया गया है।

उक्त अध्याय में पद्‌म पुराण का भी संदर्भ दिया गया है जिसके अनुसार बलि ने यह यज्ञ अपनी राजधानी महोदय (बाद में कान्यकुब्ज नगर) में गंगा तट पर स्थित राजगृह स्थल में की थी। वामन पुराण में भी ऐसा ही उल्लेख है।

२. बलि-वामन का उपाख्यान

[**नोट**—यह उपाख्यान श्रीमद्‌भागवत पर आधारित है]

पूर्व सन्दर्भ—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। दैत्यराज बलि की अध्यक्षता में इन्द्र को पदच्युत करके दैत्यों ने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया था। मुनि

---

१. श्री मद्‌भागवत, ५।२४।२७. बलि के राज्य विस्तार से सम्बन्धित बातें भी जो यहाँ वर्णित हैं वे भी भागवत के विभिन्न अध्यायों पर आधारित हैं।

२. भागवत, ८।१८।२१।

कश्यप की पत्नी तथा इन्द्र आदि देवताओं की माता अदिति को इससे बड़ा दुःख हुआ। एक बार बहुत दिनों बाद कश्यप मुनि की समाधि टूटी तब वे अदित के आश्रम पर आए। अदिति को उदास देखकर उन्होंने कारण जानना चाहा। तब अदिति ने इन्द्रादि देवताओं के संकट की बात बताई और उसके निवारण का उपाय पूछा। मुनि ने तब अदिति से भगवान की आराधना करने के लिए कहा और उस हेतु बारह दिन चलने वाला पयोव्रत का विधान भी बताया जो भगवान को प्रसन्न करने का उत्तम तथा सरल साधन है। फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा से लेकर त्र्योदशी पर्यन्त तक इस व्रत को करने का चलन है। (यों अन्य मास में भी यह किया जा सकता है)। इसमें प्रधानतया खीर का नैवेद्य लगाया जाता है और उसी का स्वयं तथा ब्राह्मण का भोजन।[1]

महर्षि कश्यप का उपदेश प्राप्त करके अदिति ने बारह दिन तक पयोव्रत का अनुष्ठान किया। व्रत की समाप्ति पर विष्णु के रूप में भगवान अदिति के सम्मुख प्रकट हुए जिन्हें देखकर वे प्रेम में विह्वल और गद्‌गद वाणी से भगवान् की स्तुति की।

तब अन्तर्यामी भगवान् ने देवी अदिति से कहा कि देवताओं की जननी, मैं तुम्हारी अभिलाषा को जानता हूँ। ड़ानवों ने तुम्हारे पुत्रों को उनके लोक (स्वर्ग) से निकाल दिया है। तुम चाहती हो कि युद्ध में तुम्हारे पुत्र इन्द्रादि असुरों को हराकर स्वर्ग पर पूर्ववत अधिकार पा लें। किन्तु देवि, वे असुर सेनापति इस समय जीते नहीं जा सकते क्योंकि ईश्वर और ब्राह्मण इस समय उनके अनुकूल हैं। फिर भी क्योंकि तुमने अपने पुत्रों के कष्ट निवारण हेतु पयोव्रत से मेरी पूजा की है तथा मेरी आराधना व्यर्थ नहीं होनी चाहिये अतः मैं तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारी सन्तान की रक्षा का उपाय करूँगा। यह रहस्य किसी से मत बताना क्योंकि—

सर्वं सम्पद्यते देवि देव गुह्यं सुसंवृतम् ॥[2]

अर्थात् देवताओं का रहस्य जितना गुप्त रहता है उतना ही सफल होता है।

इतना कह कर भगवान अन्तर्घ्यान हो गए।

जब ब्रह्मा को ज्ञात हुआ कि अदिति के गर्भ में स्वयं भगवान आए हैं तब उन्होंने भगवान की स्तुति की और उसके अन्त में कहा कि देवाधिदेव, जैसे जल

---

१. इस व्रत का पूरा विधान श्रीमद्‌भागवत के अष्टम स्कन्ध के १६वें अध्याय में वर्णित है।

२. श्रीमद्‌भागवत, ८।१७।२०।१२।

में डूबते हुए के लिए नौका ही सहारा है वैसे ही स्वर्ग से भगाए हुए देवताओं के लिए आप ही एकमात्र आश्रय हैं।

ब्रह्मा द्वारा स्तुति होने पर जन्म-मृत्यु रहित भगवान अदिति के सामने प्रकट हुए। वे विष्णु रूप में थे अर्थात् उनके चार भुजाएँ थीं जिनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म थे तथा श्याम वर्ण शरीर में पीताम्बर शोभायमान हो रहा था। विभिन्न आभूषण अंगों में जगमगा रहे थे। भगवान की कान्ति से कश्यप का घर प्रकाशमय हो गया। नदी और सरोवरों का जल स्वच्छ हो गया तथा सब ऋतुएँ एक साथ अपना-अपना गुण प्रकट करने लगीं। स्वर्गलोक के देवताओं में और पृथ्वी के प्राणियों में हर्ष का संचार हुआ।

भगवान् के अवतरित होने के दिन भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी थी, चन्द्रमा श्रवण नक्षत्र पर थे और अभिजित मुहूर्त था तथा सूर्य आकाश के मध्य में स्थित थे। वह तिथि विजया द्वादशी के नाम से विख्यात है। उनके अवतार के समय तरह-तरह के बाजे बजने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं, गन्धर्व गाने लगे, मुनि देवता आदि स्तुति करने लगे, सभी ओर प्रसन्नता छा गई और अदिति का आश्रम फूलों की वर्षा से ढक गया।

अदिति और कश्यप भगवान को देखकर परमानन्दित हुए तथा मुनि ने उनकी जय-जयकार की। भगवान ने जो कान्तिमय आभूषण एवं आयुधों से युक्त वह शरीर धारण किया था, उसी शरीर से, कश्यप और अदिति के देखते-देखते वामन ब्रह्मचारी का रूप धारण कर लिया—ठीक वैसे ही जैसे नट अपना वेश बदल लेता है। यह भगवान की अद्भुत लीला का उदाहरण है।

भगवान् को वामन ब्रह्मचारी के रूप में देखकर महर्षिगण बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कश्यप प्रजापति को आगे करके उनके जातकर्म आदि कराए। फिर उनका उपनयन संस्कार हुआ जिसमें देवगुरु बृहस्पति ने यज्ञोपवीत दिया, ब्रह्मा ने कमण्डलु, सरस्वती ने रुद्राक्षमाला, कश्यप ने मेखला, माता अदिति ने कौपीन और कटिवस्त्र तथा आकाश के देवता ने छत्र समर्पित किया। कुबेर ने भिक्षा-पात्र दिया जिसमें स्वयं भगवती उमा ने भिक्षा दी।

इस प्रकार जब सबने वटुवेष-धारी भगवान का सम्मान किया तब वे भरी सभा में अपने ब्रह्म तेज के कारण अत्यन्त शोभायमान हुए। इसके बाद भगवान ने अग्नि का पूजन किया और समिधाओं से हवन किया। इस प्रकार यह सब काम सम्पन्न हुए।

वामन भगवान का बलि की यज्ञ में जाना और तीन पग पृथ्वी माँगना— सम्राट बलि नर्मदा नदी के उत्तर तट पर भृगुकच्छ नामक रमणीक स्थान पर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे। अपने उपनयन संस्कार के बाद वामन

भगवान ने वहीं की यात्रा की। चलने के समय उनके भार से पृथ्वी पग-पग पर झुकने लगी। ऋत्विजों आदि ने जब दूर से भगवान को देखा तो उन्हें ऐसा जान पड़ा कि मानों सूर्य का उदय हो रहा है। ऋत्विज, यजमान और सदस्य सब निस्तेज हो गए तथा बलि के गुरु शुक्राचार्य जो यज्ञ का संचालन कर रहे थे बड़े विस्मित हुए और अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करने लगे। उसी समय छत्र, दण्ड और कमंडल लिए वामन भगवान ने यज्ञ मण्डप में प्रवेश किया। कमर में मूँज की मेखला और गले में यज्ञोपवीत था तथा बगल में मृग चर्म और सिर पर जटा। इस प्रकार जब बौने बटुवेषधारी रूप में अपनी ही माया से ब्रह्मचारी बने हुए भगवान ने मण्डप में प्रवेश किया तब शुक्राचार्य, उनके शिष्य तथा सभी भृगुवंशी (शुक्राचार्य के वंशीय) ब्राह्मण भगवान के तेज से निष्प्रभ हो गए। सबने उठकर उनका स्वागत किया।

लघु रूप के अनुरूप भगवान के सारे अंग छोटे-छोटे थे, साथ ही अत्यन्त मनोरम एवं दर्शनीय। वामन महराज को देखकर बलि अति प्रसन्न हुए और आदर सहित उन्हें उच्च आसन पर बैठाया। फिर स्वागत वाणी से उनका अभिनन्दन करके पाँव पखारे और पूजा की। भगवान के चरणों का धोवन परम मंगलमय होता है और उसी चरणामृत को धर्ममर्मज्ञ राजा बलि ने भक्तिपूर्वक अपने मस्तक पर रखा।

तदन्तर बलि ने वामन भगवान को नमस्कार करके कहा कि भगवन्, आज्ञा कीजिए कि आपकी क्या सेवा की जाए। आपके आने से मेरा यह यज्ञ सफल हो गया। ब्राह्मण कुमार, ऐसा जान पड़ता है कि आप कुछ चाहते हैं, अतः आप जो चाहें माँग लें। यथा—

गां कांचनं गुणवद्धाम मृष्टं तथान्नपेयमुत वा विप्र कन्याम्।
ग्रामान् समृद्धांस् तुरगान् गजान् वा रथांस् तथार्हत्तम सम्प्रतीच्छ॥[1]

अर्थात् गाय, सोना, सामग्रियों से सुसज्जित घर, पवित्र अन्न, पीने की वस्तु, विवाह के लिए विप्रकन्या, सम्पत्तियों से भरे गाँव, घोड़े, हाथी, रथ माँग लीजिये। अवश्य ही वह सब आप मुझसे माँग लीजिये।

राजा बलि के मधुर तथा धर्मभाव युक्त ये वचन सुनकर वामन भगवान ने उनका अभिनन्दन किया और कहा कि आप की बातें आपकी कुल परम्परा के अनुरूप ही हैं, यश बढ़ाने वाली और मधुर भी। ऐसा होना उचित ही है क्योंकि आप धर्म के सम्बन्ध में भृगुपुत्र शुक्राचार्य को प्रमाण मानते हैं और अपने

---

१. श्रीमद्भागवत, ८।१९।३२।

कुलवृद्ध पितामह परमशान्त प्रह्लाद द्वारा दर्शित मार्ग पर चलते हैं। भगवान ने बलि के पिता महाराज विरोचन की भी प्रशंसा की और अन्य पूर्वजों की भी।

फिर कहा, दैत्येन्द्र, आप मुँहमाँगी वस्तु देने वालों में श्रेष्ठ हैं इसी से मैं आपसे थोड़ी सी पृथ्वी माँगता हूँ—अपने पैरों से केवल तीन डग। यथा—

नान्यत् ते कामये राजन् वदान्यां जगदीश्वरात्।
नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावदर्थ प्रतिग्रहः ॥[1]

अर्थात्, यद्यपि आप सारे जगत के स्वामी और बड़े उदार हैं तथापि मैं इससे अधिक नहीं चाहता। विद्वान पुरुष को केवल अपनी आवश्यकता के अनुसार ही दान स्वीकार करना चाहिए। इससे वह प्रतिग्रह जन्य पाप से बच जाता है।

यह सुन कर बलि ने कहा कि ब्राह्मण कुमार, बालक होने के कारण तुम अपना हानि लाभ नहीं समझ रहे हो। मैं तीनों लोकों का अधिपति हूँ और द्वीप का द्वीप दे सकता हूँ। जो मुझे अपनी वाणी से प्रसन्न कर ले और मुझ से केवल तीन डग भूमि माँगे, क्या वह बुद्धिमान कहा जा सकता है। ब्रह्मचारी जी जो एक बार कुछ माँगने के लिए मेरे पास आ गया, उसे फिर कभी किसी अन्य से माँगने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिये। अतः अपनी जीविका चलाने के लिए जितनी भूमि की आवश्यकता हो उतनी मुझसे माँग लो।

इतने पर भी वामन भगवान ने अधिक नहीं माँगा। उन्होंने कहा :—

यावन्तो विषयाः प्रेष्ठास् त्रिलोक्याम् अजितेन्द्रियम्।
न शक्नु वन्ति ते सर्वे प्रति पूरयितुं नृप ॥[2]

अर्थात्, राजन्, संसार के सब-के-सब प्यारे विषय एक ही मनुष्य की कामनाओं को पूरा नहीं कर सकते हैं यदि वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला (संतोषी) न हो।

उन्होंने यह भी कहा कि जो तीन पग भूमि से संतोष नहीं कर लेता उसे एक द्वीप भी दे दिया जाए तो भी वह संतुष्ट नहीं होगा क्योंकि उसके मन में सातों द्वीप पाने की इच्छा बनी ही रहेगी। मैंने सुना है कि पृथु, गय आदि नरेश सातों द्वीपों के अधिपति थे और सभी सामग्रियों तथा अपार धन होते हुये भी वह तृष्णा का पार न पा सके। यथा—

यदृच्छ योप पन्नेन संतुष्टो वर्तते सुखम्।
नासंतुष्टस् त्रिमिर लोकै रजितात् मोप सादितः ॥[3]

अर्थात्, जो कुछ प्रारब्ध से मिल जाए उसी से संतुष्ट होकर रहने वाला व्यक्ति

---

१. श्रीमद्भागवत, ८।१९।१७।

२. श्रीमद्भागवत, ८।१९।२१।

३. श्रीमद्भागवत, ८।१९।२४।

जीवन सुख से व्यतीत करता है परन्तु अपनी इन्द्रियों को वश में न रखने वाला तीनों लोकों का राज्य पाने पर भी दुखी ही रहता है क्योंकि उसके हृदय में अन्तोष की आग धधकती रहती है। इसी कारण से यद्यपि आप मुँहमाँगी वस्तु देने वालों में शिरोमणि हैं तथापि मैं आपसे केवल तीन पग भूमि ही माँगता हूँ क्योंकि इतने से ही मेरा काम चल जायगा। यथा—

वित्तं यावम् प्रयोजनम्।[1]

अर्थात् धन उतना ही संग्रह करना चाहिए जितने की आवश्यकता हो।

बलि द्वारा याचना की स्वीकृति तथा शुक्राचार्य का विरोध—वामन भगवान के इस प्रकार कहने पर राजा बलि ने उन्हें सम्बोधित करके कहा, "वांछातः प्रति गृह्यताम्" (अच्छा, जितनी तुम्हारी इच्छा हो ले लो)। फिर तीन पग पृथ्वी देने के लिए संकल्प हेतु उन्होंने जलपात्र उठाया।

शुक्राचार्य से भगवान की यह लीला छिपी न थी अतः उन्होंने राजा बलि को इस दान को देने से मना किया। उन्होंने बलि को समझाया कि विरोचन कुमार, यह स्वयं भगवान विष्णु हैं तथा देवताओं का काम बनाने के लिए कश्यप की पत्नी अदिति के गर्भ से अवतीर्ण हुए हैं। तुम्हारा राज्य, लक्ष्मी आदि सब तुमसे छीन कर इन्द्र को दे देंगे। यह एक पग में पृथ्वी और दूसरे में स्वर्ग को नाप लेंगे। इनके तीसरे पैर को तुम पूरा न कर पाओगे अतः प्रतिज्ञा भंग होने के कारण तुम्हें नरक में जाना पड़ेगा। विद्वान पुरुष उस दान की प्रशंसा नहीं करते जिसके बाद जीवन निर्वाह के लिए कुछ बचे ही नहीं। जिसका जीवन-निर्वाह ठीक-ठीक चलता है वही संसार में दान, यज्ञ, तप और परोपकार कर सकता है। यथा—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पंचधा विभजन् वित्त मिहामुत्र च मोदते॥[2]

अर्थात् जो मनुष्य अपने धन को पाँच भागों में बाँट देता है, यानी—

कुछ धर्म के लिए,
कुछ यश के लिए;
कुछ धन की वृद्धि के लिए,
कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, और
कुछ अपने स्वजनों के लिए,

वही इस लोक और परलोक में सुख पाता है।

---

१. श्रीमद्भागवत, ८।१९।२७।२।

२. श्रीमद्भागवत, ८।१९।३७।

और भी—

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राण संकटे ।
गो ब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं त्याज् जुगुप् सितम् ॥[1]

अर्थात् स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिए, हास-परिहास में, विवाह में कन्या आदि की प्रशंसा करते समय, जीविका की रक्षा के लिए, प्राण संकट उपस्थित होने पर, गौ और ब्राह्मण के हित के लिए तथा किसी को मृत्यु से बचाने के लिए असत्य भाषण निन्दनीय होते हुए भी अधिक निन्दनीय नहीं है। ऐसा शुक्राचार्य ने अन्त में कहा।

कुलगुरु की इस सलाह को सुनकर आदर्श गृहस्थ राजा बलि कुछ देर चुप रहे। फिर बड़ी विनय और सावधानी से उनके तर्कों को निम्न तथ्यों द्वारा खण्डित कर दिया :—

(१) यह सत्य है कि गृहस्थाश्रम वाले के लिए वही धर्म है कि जिससे अर्थ, काम, यश और आजीविका में कोई बाधा न पड़े। तथापि मैं प्रह्लाद का का पौत्र हूँ और एक बार देने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ अतः अब मैं लोभवश इस बालक से कैसे कहूँ कि मैं नहीं दूँगा।

(२) मैं सब कुछ सहने में समर्थ हूँ किन्तु झूठा कहलाये जाने का आरोप नहीं सह सकता।

यथा—

नाहं बिभेमि निरयान् नाधन्याद सुखार्ण वात् ।
न स्थान च्यवनान् मृत्योर् यथा विप्र प्रलम्भनात् ॥[2]

अर्थात् मैं नरक से, दरिद्रता से, दुख के समुद्र से, राज्य के नाश से और मृत्यु से भी उतना नहीं डरता जितना कि ब्राह्मण से प्रतिज्ञा करके उसे धोखा देने से। और भी—

मनस्विनः कारुणि कस्य शोभनमं ।
यदर्थि कामोपन येन दुर्गतिः ॥[3]

अर्थात् यदि उदार और करुणाशील पुरुष अपात्र याचक की कामना पूर्ण करके दुर्गति भोगता है तो वह दुर्गति भी उसके लिए शोभा की बात होती है।

इसलिए मैं इस ब्रह्मचारी की अभिलाषा अवश्य पूर्ण करूँगा।

---

१. श्रीमद्भागवत, ८।१९।४३।
२. वही, ८।२०।५।
३. वही, ८।२०।१०।१२।

(३) वेदविधि के जानने वाले यज्ञ आदि के द्वारा जिनकी आराधना करते हैं वे विष्णु ही इस रूप में हो अथवा कोई दूसरा हो, मैं इनकी इच्छा के अनुसार इन्हें पृथ्वी का दान करूँगा। यदि यह भगवान विष्णु ही हैं तो मुझे युद्ध में मार कर भी पृथ्वी छीन सकते हैं। यदि कदाचित् ये कोई दूसरे ही हैं तो यह मेरी कुछ भी हानि न कर सकेंगे।

अपनी आज्ञा का अपने शिष्य द्वारा उल्लंघन होते देखकर शुक्राचार्य ने राजा बलि को शाप दिया कि शीघ्र ही तू अपनी लक्ष्मी खो बैठेगा। फिर भी महात्मा बलि सत्य से नहीं डिगे। उन्होंने वामन भगवान की पूजा की और हाथ में जल लेकर तीन पग भूमि का संकल्प कर दिया।

उसी समय राजा बलि की रानी विन्ध्यावली वामन भगवान के चरण पखारने के लिए जलयुक्त सोने का कलश ले आई जिससे बलि ने भगवान के चरण धोकर वह विश्वपावन जल अपने सिर पर चढ़ाया। उस समय आकाश में स्थित देवता, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध तथा चारण आदि राजा बलि के इस अलौकिक कार्य की प्रशंसा करते हुए उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा करने लगे। हजारों दुन्दुभियाँ भी बजने लगीं। गन्धर्व, किन्नर आदि, गायन करने लगे यह कह कर कि इन उदार शिरोमणि बलि ने कितना कठिन काम कर दिखाया— इन्होंने जान-बूझ कर अपने शत्रु को तीनों लोकों का दान कर दिया।

विराट स्वरूप धारण कर वामन भगवान का दो पगों ही में तीनों लोकों को नाप लेना—तत्काल यह अद्भुत घटना घटी कि भगवान का वामन रूप बढ़ने लगा और यहाँ तक बढ़ा कि पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता और ऋषि सब उसी में समा गए। आचार्य, सदस्यों आदि के साथ बलि ने भगवान के शरीर में सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत देखा। उदाहरणार्थ, भगवान के चरणतल में रसातल, चरणों में पृथ्वी, पिण्डलियों में पर्वत, घुटनों में पक्षी, जघनस्थल में अपने सहित सब असुरगण, नाभि में आकाश, कोख में सातों समुद्र और वक्षःस्थल में नक्षत्र समूह देखे। इसी प्रकार उनके बाहुओं में इन्द्रादि समस्त देवगण, मस्तक में स्वर्ग, नासिका में वायु, नेत्रों में सूर्य और मुख में अग्नि दिखाई पड़े। क्रोध, लोभ अधर्म, यज्ञ, मृत्यु, माया, औषधियाँ, इत्यादि भी उस विराट शरीर में यथास्थान स्थित थे। इस प्रकार वीरवर बलि ने भगवान के अनन्त शरीर में सब कुछ देखा।

उसी समय भगवान के सभी चिह्न और आयुध प्रकट हो गए, अर्थात् सुदर्शन चक्र, शार्ंग धनुष, पांचजन्य शंख, कौमोदकी गदा, ढाल, तलवार, तरकस। लोकपालों सहित भगवान के पार्षदगण भी सेवा करने के लिए उपस्थित हो गए। भगवान के मस्तक पर मुकुट तथा यथा स्थान दिव्य आभूषण और

कन्धे पर पीताम्बर था। इस प्रकार भगवान की अनन्त शोभा दृष्टिगोचर हुई।

तदनन्तर विश्वरूप भगवान ने अपने एक पग से बलि की सारी पृथ्वी नाप ली तथा दूसरे पग से स्वर्ग को भी नाप लिया। भगवान का यह दूसरा पग ही ऊपर की ओर जाता हुआ महर्लोक, जनलोक और तपलोक से भी ऊपर सत्यलोक में पहुँच गया। तीसरा पैर रखने के लिए बलि की तनिक भी कोई वस्तु न बची।

दैत्यों ने जब देखा कि वामन महाराज ने तीन पग पृथ्वी माँगने के बहाने सारी पृथ्वी ही छीन ली तब वे राजा बलि की इच्छा न होने पर भी वामन भगवान को मारने के लिए दौड़े। किन्तु भगवान के पार्षदों ने उन्हें रोक लिया और असुरों की सेना का संहार करने लगे। जब बलि ने इस मार-काट को देखा तब यज्ञ में दीक्षित अपने ही स्थान से शुक्राचार्य के शाप का स्मरण करके अपने अनुचरों को युद्ध करने से रोकने के लिए इस प्रकार कहा—दैत्यों, यह समय हमारे कार्य के लिए अनुकूल नहीं है। जो काल सब प्राणियों को सुख और दुख देने की सामर्थ रखता है उसे दबाने की शक्ति किसी में नहीं है। जो हमारी उन्नति और देवताओं की अवनति के कारण हुए थे वही काल भगवान अब उनकी उन्नति और हमारी अवनति के कारण हो रहे हैं। बल, बुद्धि, मंत्र, औषधि तथा अन्य किसी भी उपाय द्वारा अथवा सबके द्वारा मनुष्य काल पर विजय नहीं कर सकता। जब दैव तुम लोगों के अनुकूल था तब तुमने भगवान के इन पार्षदों को कई बार जीत लिया था। इसलिए उस समय की प्रतीक्षा करो जो हमारी कार्यसिद्धि के लिए अनुकूल हो।

बलि का वरुणपाश में बांधा जाना—अपने स्वामी की बात सुनकर दानव और दैत्य सेनापति रसातल में चले गये। उनके जाने के बाद भगवान के मन की बात जानकर गरुड़ ने वरुण के पाशों से बलि को बाँध दिया। यद्यपि बलि बँधे हुए थे और उनकी सम्पत्ति भी छिन गई थी फिर भी उनकी बुद्धि निश्चयात्मक थी और सब लोग उनके यश का गान कर रहे थे तथा उनकी उदारता की सराहना।

उस समय भगवान ने बलि से कहा कि तुमने मुझे पृथ्वी के तीन पग दिये थे जिसमें से दो पगों से तो मैंने सारी त्रिलोकी नाप ली, अब तीसरा पग पूरा करो। तुम्हारा सब कुछ मेरा हो चुका है अतः अपनी प्रतिज्ञा न पूरी कर सकने के कारण अब तुम्हें नरक में रहना पड़ेगा। जो याचक को देने की प्रतिज्ञा करके मुकर जाता है उसके सारे मनोरथ व्यर्थ होते हैं। तुम्हें इस बात का घमंड था कि मैं बड़ा धनी हूँ। तुमने मुझसे प्रतिज्ञा करके फिर धोखा दिया इसलिये अब तुम वर्षों तक इस झूठ का फल नरक में भोगो।

इस प्रकार भगवान ने बलि का बड़ा तिरस्कार किया और उन्हें धैर्य से विचलित करना चाहा। पर वे विचलित न हुए और भगवान से कहा—

यद्यूत्तमश्लोक भवान ममेरितं वचो व्यलीकं सुखर्य मन्यते।
करोम् यृतं तन्न भवेत प्रलम्भनं पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥[1]

अर्थात्, देवताओं के आराध्यदेव, आपकी कीर्ति बड़ी पवित्र है। क्या आप मेरे वचन को असत्य समझते हैं ? ऐसा नहीं है क्योंकि मैं उसे सत्य करके दिखाता हूँ, आप धोखे में नहीं पड़ेंगे। अपना तीसरा पैर मेरे सिर पर रखिए।

आगे फिर महात्मा बलि ने कहा—

विभेमि नाहं निरयात् पदच्युतो न पाशबन्धाद् व्यसनाद दुरव्ययात्।
नैवार्थं कृच्छ्राद् भवतो विनिग्रहाद् असाधु वादाद भृश भूद्विजे यथा ॥[2]

अर्थात् मुझे नरक में जाने अथवा राज्य से च्युत होने का भय नहीं है। मैं पाश में बँधने अथवा अपार दुख में पड़ने से भी नहीं डरता। मेरे पास कुछ भी न रहे अथवा आप मुझे घोर दण्ड दें, यह भी मेरे भय का कारण नहीं है। मैं डरता हूँ तो केवल अपनी अपकीर्ति से।

इतना ही नहीं, बलि ने यह भी कहा कि आप छिपे रूप से अवश्य ही हम असुरों को शिक्षा दिया करते हैं अतः आप हमारे परम गुरु हैं। यथा—

यो नोऽनेक मदान् धानां विभ्रंशं चक्षुरादि शत्।[1]

अर्थात् जब हम लोग धन, कुलीनता, बल आदि के मद से अन्धे हो जाते हैं, तब आप उनको हमसे छीन कर हमें नेत्रदान करते हैं।

फिर बलि ने अपने पितामह प्रह्लाद का जिक्र करते हुए कहा कि उनकी कीर्ति जगत में विख्यात है तथा आपके भक्तों में वे श्रेष्ठ माने जाते हैं। उन्होंने यह जानते हुए भी कि लौकिक दृष्टि से आप उनके भाई-बन्धुओं को नष्ट करने वाले शत्रु हैं, आप की शरण ली थी। उस विचारधारा से आप मेरे भी शत्रु हैं, फिर भी विधाता ने मुझे ऐश्वर्य-लक्ष्मी से अलग करके आपके पास पहुँचा दिया है। यह अच्छा ही हुआ क्योंकि—

इदमं कृतान् तान्ति.कर्वति जोवितं
यया ध्रुवं स्तब्ध मतिर् न बुध्यते।[2]

१. श्रीमद्भागवत्, ८।२२।१।
२. वही, ८।२२।३।
३. वही, ८।२२।५½।
४. वही, ८।२२।११½।

अर्थात् ऐश्वर्य—लक्ष्मी के कारण जीव की बुद्धि जड़ हो जाती है और वह जीवन की अनित्यता को समझ नहीं पाता है।

प्रह्लाद का आगमन—राजा बलि इस प्रकार कह ही रहे थे कि भगवान के प्रेमपात्र प्रह्लाद वहाँ आ पहुँचे। वरुणपाश में बँधे होने के कारण बलि पूर्ववत् प्रकार से उनकी पूजा न कर सके। नेत्रों में आँसू आ गए और लज्जा से मुँह नीचा हो गया। उन्होंने केवल सिर झुकाकर पितामह को नमस्कार किया। प्रह्लाद ने पार्षदों से सेवित भगवान् को वहाँ विराजमान देखकर उन्हें पृथ्वी पर सिर रखकर प्रणाम किया और कहा—

> त्वयैव दत्तं पदमैन्द्र मूर्जितं हृतं तदे वाद्य तथैव शोभनम्।
> मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहों विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्म मोहनात्॥[1]

अर्थात्, प्रभो, आपने ही बलि को यह ऐश्वर्यपूर्ण इन्द्रपद दिया था, अब आप आप ही ने उसे छीन लिया। आप का देना जितना सुन्दर है उतना ही लेना भी। मैं समझता हूँ कि आपने इस पर बड़ी कृपा की है जो आत्मा को मोहित करने वाली राज्यलक्ष्मी से इसे अलग कर दिया।

इतने में बलि की परम साध्वी पत्नी विन्ध्यावली ने अपने पति को बँधा देखकर भयभीत हो भगवान को प्रणाम करके उनकी स्तुति की।

तदनन्तर वहाँ पर पहले से ही उपस्थित ब्रह्मा ने भगवान से प्रार्थना की कि बलि को छोड़ दिया जाय। इसने अपनी सारी भूमि और पुण्यकर्मों से उपार्जित स्वर्ग आदि लोक तथा आत्मा तक आपको समर्पित कर दिया है। ऐसा करते समय इसकी बुद्धि स्थिर रही है, यह धैर्य से च्युत नहीं हुआ। प्रभो, जो मनुष्य सच्चे हृदय से कृपणता छोड़कर आपके चरणों में जल का अर्घ्य देता है और केवल दूर्वादल से भी आपकी पूजा करता है उसे भी उत्तम गति की प्राप्ति होती है, फिर बलि ने तो प्रसन्नता से आपको त्रिलोकी का दान कर दिया तब यह दुख का भागी कैसे हो सकता है? यह दण्ड का पात्र नहीं है।

भगवान् का बलि पर प्रसन्न होना—यह सुन कर ब्रह्मा से भगवान ने कहा :—

> ब्रह्मन् यम नुगृहणामि तद्विशो विधुनो म्यहम्।
> यन् मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चाव मन्यते॥[2]

अर्थात्, ब्रह्मा जी, मैं जिस पर कृपा करता हूँ उसका धन छीन लेता हूँ क्योंकि

---

१. श्रीमद्भागवत, ८।२२।१६।
२. वही, ८।२२।२४।

जब मनुष्य धन के मद से मतवाला हो जाता है तब वह मेरा और दूसरों का तिरस्कार करने लगता है।

भगवान ने फिर बलि की प्रशंसा करते हुए कहा कि यह दानव और दैत्य दोनों ही वंशों में अग्रगण्य और उनकी कीर्ति बढ़ाने वाला है। इसने माया पर विजय प्राप्त कर ली है क्योंकि इतना दुख पड़ने पर भी यह मोहित नहीं हुआ। मैंने इसको राजपद से अलग कर दिया, विविध आक्षेप किये, पाश में बाँध लिया गया, भाई-बन्धु छोड़ कर चले गए, गुरुदेव द्वारा शापित हुआ तब भी यह दृढ़ रहा और अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी। मैंने इससे छलभरी बातें कीं, मन में छल रखकर धर्म का उपदेश दिया परन्तु इस सत्यवादी ने अपना धर्म न छोड़ा, अतः मैंने इसे वह स्थान दिया है जो देवताओं को भी कठिनाई से प्राप्त होता है। सावर्णि मन्वन्तर में यह मेरा परम भक्त इन्द्र होगा। तब तक यह सुतल लोक में रहेगा जिसे विश्वकर्मा ने बनाया है। वहाँ के रहने वालों को मानसिक रोग, थकावट, शत्रुओं से पराजय और किसी प्रकार के विघ्नों का सामना नहीं करना पड़ता।

बलि को सम्बोधित करते हुए फिर भगवान ने कहा कि महाराज इन्द्रसेन, तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम भाई-बन्धुवों के साथ उस सुतल लोक में जाओ जिसे स्वर्ग के देवता भी चाहते रहते हैं। बड़े-बड़े लोकपाल भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकेंगे। जो दैत्य तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन करेंगे मेरा चक्र उनके टुकड़े-टुकड़े कर देगा। मैं तुम्हारी, तुम्हारे अनुचरों और तुम्हारी भोग सामग्री की भी रक्षा करूँगा। वीर बलि, मुझे वहाँ सर्वदा अपने पास ही देखोगे। दानव और दैत्यों के संसर्ग से तुम्हारा जो कुछ आसुरभाव होगा वह मेरे प्रभाव से नष्ट हो जायगा।

बलि का बन्धन से छूट कर सुतल लोक को जाना—जब भगवान ने इस प्रकार कहा तब बलि ने द्रवित होकर भगवान से कहा कि प्रभो, मैं तो आपको पूरा प्रणाम भी नहीं किया, केवल प्रणाम करने की चेष्टा भर की। उसी से मुझे वह फल मिला जो आपके परम भक्तों को प्राप्त होता है। यों कहते ही बलि वरुण के पाश से मुक्त हो गये। तब उन्होंने भगवान, ब्रह्मा और शंकर को प्रणाम किया और फिर असुरों के साथ सुतल लोक की यात्रा की।

इस प्रकार वामन भगवान ने बलि से स्वर्ग का राज्य लेकर इन्द्र को दे दिया, अदिति की कामना पूर्ण की और स्वयं उपेन्द्र बनकर जगत का शासन करने लगे।

जब प्रह्लाद ने देखा कि मेरा पौत्र बन्धन से छूट गया है और उसे भगवान का कृपाप्रसाद प्राप्त हो गया है तब वे भक्ति-भाव से भर गए। भगवान

की स्तुति करते हुये उन्होंने कहा कि प्रभो यह कृपा प्रसाद तो कभी ब्रह्मा, लक्ष्मी और शंकर को भी नहीं प्राप्त हुआ। ब्रह्मा आदि जिनके चरणों की वन्दना करते हैं वही आप असुरों के दुर्गपाल हो गये।

भगवान् ने तब प्रह्लाद को आशीर्वाद दिया और कहा कि तुम भी सुतल लोक को जाओ और बलि के साथ सुखपूर्वक वहीं रहो। वहाँ तुम नित्य ही मुझे गदा लिए खड़ा देखोगे तथा मेरे दर्शन से तुम्हारे कर्म बन्धन नष्ट हो जायेंगे। प्रह्लाद ने भगवान का आदेश शिरोधार्य किया, बलि के साथ उन्हें प्रणाम किया और उनसे अनुमति लेकर सुतल लोक की यात्रा की।

भगवान का स्वर्गलोक को जाना—यह सब हो जाने के बाद भगवान ने अपने पास ही बैठे शुक्राचार्य से कहा कि ब्रह्मन्, आपका शिष्य यज्ञ कर रहा था किन्तु वह पूर्ण नहीं हुआ अतः उसे आप पूरा कर दीजिये। शुक्राचार्य ने कहा कि जिसने अपना सारा काम आपको समर्पित करके आपकी पूजा की है उसके काम में कोई कमी या त्रुटि कैसे रह सकती है क्योंकि मंत्रों की, अनुष्ठान-पद्धति की तथा अन्य सभी प्रकार की भूलें आपके नाम संकीर्तन से ही सुधर जाती हैं और त्रुटियाँ भी पूर्ण हो जाती हैं। फिर भी मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा क्योंकि मनुष्य का कल्याण भगवान की आज्ञा पालन करने में ही है। तब दूसरे ब्रह्मर्षियों के साथ शुक्राचार्य ने यज्ञ में रह गयी कमी को पूरा किया।

इस प्रकार वामन भगवान् ने बलि से पृथ्वी की भिक्षा माँगकर अपने बड़े भाई इन्द्र को स्वर्ग का राज्य दिया जिसे पूर्व में बलि ने छीन लिया था।

तदन्तर प्रजापतियों के स्वामी ब्रह्मा ने देवर्षि, पितर, मनु, दक्ष, भृगु, अंगिरा, सनतकुमार और शिवजी के साथ सब लोकों के स्वामी के पद पर वामन भगवान का अभिषेक कर दिया। यह ऋषि कश्यप तथा उनकी पत्नी अदिति की प्रसन्नता के लिए तथा प्राणियों के अभ्युदय के लिए किया गया। ब्रह्मा ने वामन भगवान् को सबके रक्षक के रूप में सबके कल्याण के लिए उपेन्द्र का पद दिया जिससे सब प्राणियों को बड़ा हर्ष हुआ।

इसके बाद ब्रह्मा की अनुमति से लोकपालों के साथ देवराज इन्द्र ने वामन भगवान को सबसे आगे विमान पर बैठाया और अपने साथ स्वर्ग लिवा ले गये।

इन्द्र को एक ओर त्रिभुवन का राज्य मिल गया और दूसरी ओर भगवान की छत्रछाया। ऐश्वर्य लक्ष्मी उनकी सेवा में लगी और वे निर्भय हो गये।

ब्रह्मा, शंकर, सनत्कुमार, भृगु आदि मुनि, पितर, सारे भूत, सिद्ध और देवगण भगवान के इस परम अद्भुत कर्म का गान करते हुये अपने-अपने लोक को चले गये और सबने अदिति की भी बड़ी प्रशंसा की।

कथा का माहात्म्य—जिस भागवत महापुराण को शुकदेव मुनि ने महाराज परीक्षित को सुनाया था उसी का अंश यह भगवान् वामन के अवतार का इतिहास है। इसके अन्त में शुकदेव मुनि ने परीक्षित से कहा कि मैंने भगवान की यह लीला तुम्हें सुनाई जिससे सुनने वाले को परम गति की प्राप्ति होती है और—

क्रियमाणे कर्मणीदं देवे पित्र्येऽथ मानुषे।
यत्र यत्र अनुकीर्त्येत तत् तेषां सुकृतं विदुः॥[1]

अर्थात्, देवता, पितृ अथवा मनुष्य सम्बन्धी किसी भी कर्म का अनुष्ठान करते समय जहाँ-जहाँ भगवान की इस लीला का कीर्तन होता है वह कर्म सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है ऐसा बड़े-बड़े महात्माओं का अनुभव है।

३. बलि और इन्द्र का सम्वाद

महाभारत में यक्ष और युधिष्ठिर के सम्वाद की तरह इन्द्र और बलि का सम्वाद भी प्रसिद्ध है। यह सम्वाद शान्तिपर्व के अन्तर्गत आता है। मनुष्य मात्र के जीवन में यदा-कदा, उत्थान पराभव, मान-अपमान, विजय-पराजय की स्थिति उत्पन्न होती रहती हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति कभी सुख उठाता है तो कभी दुख से पीड़ित होता है यानी सदैव एक सी ही स्थिति नहीं रहती। यदि सुख स्थायी नहीं है तो दुख भी पार हो जाता है। दोनों स्थितियों में प्राणी किस प्रकार अपना मानसिक संतुलन बनाए रखे यही उक्त सम्वाद का विषय है।

महाभारत युद्ध के उपरान्त पितामह भीष्म ५८ दिन तक सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा करते रहे क्योंकि वे उत्तरायण में ही शरीर छोड़ना चाहते थे। इस अवधि में वे युद्ध भूमि में घायल अवस्था में शर शैय्या पर पड़े रहे। उन्हीं दिनों उन्होंने महाराज युधिष्ठिर के विभिन्न प्रश्नों के उत्तर दिये जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बन्धित थे। यह प्रश्नोत्तर महाभारत के शान्ति और अनुशासन पर्वों में संगृहीत है और जो भारतीय संस्कृति की अमूल्य देन हैं। युधिष्ठिर के इन प्रश्न के उत्तर में कि राजलक्ष्मी से भ्रष्ट राजा जो कि कालदण्ड में पिस गया हो किस प्रकार की बुद्धि धारण कर अपना जीवन-यापन करे पितामह भीष्म ने उन्हें इन्द्र-बलि के सम्वाद की कथा सुनायी। यह वार्ता केवल राजा ही के लिए नहीं अपितु मनुष्य मात्र के लिए शिक्षाप्रद और शान्तिदायक है।

यह प्रसंग उस समय का है जबकि समुद्र मन्थन के बाद देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ था और जो देवासुर संग्राम के नाम से प्रचलित है। उसका संचालन एक ओर इन्द्र कर रहे थें और दूसरी ओर दानवराज बलि। उसके

---

१. श्रीमद्भागवत, ८।२३।३१।

पहले बलि ने इन्द्र को पदच्युत करके उनकी राजधानी अमरावती पर अधिकार कर लिया था और तीनों लोकों के स्वामी हो गये थे। तब इन्द्र ने अपनी गद्दी पुनः प्राप्त करने के लिये ब्रह्मा के परामर्श से भगवान से प्रार्थना की। भगवान की सलाह से इन्द्र ने बलि से प्रस्ताव किया कि दानव और देवता मिलकर समुद्र मन्थन करके अमृत प्राप्त करें। बलि ने यह प्रस्ताव मान लिया और इस प्रकार समुद्र मन्थन किया गया। अमृतघट प्राप्त होने पर भगवान ने मोहनी रूप धारण कर कलश को अपने कब्जे में करके अमृत देवताओं को पिला दिया और दानव उससे वंचित हो गये। तब दानवों ने क्रोध करके देवताओं से युद्ध छेड़ दिया। अमृतपान से देवता अमर हो गए थे अतः इन्द्र की अध्यक्षता में देवताओं की विजय हुई। इन्द्र को अपना सिंहासन और त्रिलोको राज्य वापस मिल गया। इस प्रकार पराजित और पदच्युत हो जाने पर बलि अपने संरक्षण हेतु छिप गए और बहुत ढूंढ़ने पर भी इन्द्र बलि का पता न लगा सके।

अपने प्रयत्न में असफल होने पर इन्द्र ब्रह्मा के पास गए और पूछा कि असुरराज बलि अब कहाँ रहता है? जिस बलि के दान देते समय उसके भण्डार का धन कभी खाली नहीं होता था और जो स्वयं वायु बन कर चलता, वरुण बनकर वर्षा करता, सूर्य और चन्द्रमा बनकर प्रकाश करता और अग्नि बन कर सबको ताप देता उस बलि को मैं यत्न करके भी ढूँढ़ नहीं पा रहा हूँ।

ब्रह्मा ने इन्द्र को बताया कि किसी शून्य घर में तुम्हें कोई ऊँट, गाय, गधा या अन्य पशु दिखाई दे तो उसे तुम बलि समझना। उन्होंने यह भी कहा कि बलि का वध न करना क्योंकि वह वध के योग्य नहीं है किन्तु उससे अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना। इस प्रकार निर्देषित होकर इन्द्र पृथ्वी पर बलि को ढूंढ़ने लगे और अन्ततः उन्होंने एक सूने घर में गधे के वेश में बलि को भूसी खाते देखा।

तब इन्द्र बलि के पास जाकर बोले कि दानवराज, तुम गधे की योनि में पड़कर भूसी खा रहे हो क्या इसके लिए तुम्हें शोक नहीं होता? तुम राजलक्ष्मी और मित्रों से हीन हो गये हो, सब दैत्य तुम्हारे शासन में रहते थे, तुम्हारे राज्य में बिना जोते-बोये ही अन्न होता था, किन्तु आज तुम पर महान संकट आ पड़ा है, इसके लिए तुम शोक करते हो या नहीं? एक समय था जबकि तुम्हारे ऊपर सोने का रत्नजड़ित विशाल छत्र तना रहता था और छः हजार गन्धर्व गीत गाते हुए तुम्हारे समक्ष नृत्यकला का प्रदर्शन करते थे। अपने यज्ञों में तुमने करोड़ों गायों का सहस्र बार दान किया था और तुमने सारी पृथ्वी की परिक्रमा भी की थी। असुरराज अब तो मैं तुम्हारे पास न तो सोने की झारी और न क्षत्र

देखता हूँ तथा ब्रह्मा को दी हुयी वह दिव्य माला भी तुम्हारे गले में दिखाई नहीं देती है।

इन्द्र की बातें सुनकर बलि हँसे और बोले कि देवेश्वर, तुम देवताओं के राजा हो अतः दूसरों को कष्ट देने वाली बातें तुम्हारे लिए योग्य नहीं हैं। तुम मेरे जिन रत्नों के बारे में पूछ रहे हो वह सब गुफा में छिपा दिये गये हैं। जब मेरे लिए अच्छा समय आएगा तब तुम उन्हें फिर देखोगे। इस समय तुम समृद्धि-शाली हो और मेरी समृद्धि छिन गई है। ऐसी अवस्था में मेरे सामने जो तुम अपनी आत्म-प्रशंसा कर रहे हो उसका कारण तुम्हारी अशुद्ध बुद्धि ही है। जब तुम्हारी स्थिति मेरी जैसी हो जायगी तब तुम ऐसी बातें नहीं कह सकोगे।

तब फिर इन्द्र ने अपना उत्कर्ष सूचित करने के लिए हँसते हुए कहा कि दैत्यराज बलि, पहले जो तुम हजारों वाहनों और भाई-बन्धुओं से घिर कर सब लोकों को सन्ताप देते थे और हम देवताओं को कुछ न समझते हुए यात्रा करते थे और अब बन्धु-बान्धवों तथा मित्रों से परित्यक्त होकर अपनी यह दीन दशा देख रहे हो, इससे क्या तुम्हारे मन में शोक नहीं होता ?

बलि ने उत्तर दिया कि इन्द्र, कालचक्र स्वभाव से ही परिवर्तनशील है इसलिये मैं कभी शोक नहीं करता क्योंकि यह सारा जगत विनाशशील है। प्राणियों के ये सारे शरीर अन्तवान हैं इसलिये मैं कभी शोक नहीं करता। यह गधे का शरीर भी मुझे किसी अपराध से नहीं मिला है, इसे मैंने स्वेच्छा से ग्रहण किया है :

हत्वा जित्वा च मघवन् यह कश्चित् पुरषायते।
अकर्ताह्येव भवति कर्ता ह्येव करोति तत्॥

अर्थात् हे मघवन (इन्द्र) जो कोई किसी को मार कर या जीत कर अपने पौरुष पर गर्व करता है, वह वास्तव में उस पुरुषार्थ का स्वयं कर्ता नहीं है क्योंकि जो जगत का कर्ता (परमात्मा) है, वही उस कर्म का भी कर्ता है।

बलि ने स्थिति को और स्पष्ट करते हुए कहा कि जो काल के द्वारा दग्ध हो चुका है, उसी को बाद में आग जलाती है, जिसे काल पहले ही मार चुका है वही बाद में किसी दूसरे द्वारा मारा जाता है। इसी प्रकार जो वस्तु पहले से ही नष्ट हो चुकी है वही किसी के द्वारा नष्ट की जाती है। ऐसे ही जिसका मिलना पहले से ही निश्चित है, उसी को व्यक्ति हस्तगत करता है।

आगे फिर बलि ने कहा कि इन्द्र, काल ही सब को ग्रहण करता है, काल ही सब कुछ देता है तथा काल ने ही सब कुछ किया है, अतः अपने पुरुषार्थ का गर्व न करो। प्रभुता और प्रभाव अपने अधीन नहीं हैं। अतः अपने इस पतन के

लिए तनिक भी शोक नहीं है, मेरा ऐसा निश्चय है कि मैं सदैव सबके शासक ईश्वर के वश में हूँ।

इन्द्र, एक उच्च कुल में उत्पन्न हुआ पुण्यात्मा पुरुष दुखपूर्वक जीवन बिताता देखा जाता है क्योंकि उसकी भवितव्यता वैसी ही थी। उधर एक मूढ़ मनुष्य जिसका जन्म दुराचार से हुआ हो सुखी जीवन व्यतीत करता है—उसकी भी वैसी ही होनहार समझनी चाहिए। इसी प्रकार एक सती साध्वी युवती विधवा हुई देखी जाती है और दूसरी कुलक्षणा स्त्री सौभाग्यवती दिखाई देती है। इसलिए, इन्द्र, आज जो तुम इस तरह समृद्धशाली हो गए हो और हम ऐसी अवस्था में पहुँच गए हैं, यह न तो हमारा किया हुआ है और न तुमने ही कुछ किया है। समृद्धि और निर्धनता बारी-बारी से सब पर आती है। यदि काल मेरे सिर पर सवार न होता तो आज तुम्हें वज्रधारी होते हुए भी केवल एक मुक्के से धरती पर गिरा देता। किन्तु यह समय मेरे लिए पराक्रम प्रकट करने का नहीं है अपितु शान्त रहने का है।

महात्मा बलि ने आगे कहा कि इन्द्र, एक दिन मैं दानवेश्वरों द्वारा पूजित था, अपना प्रताप सर्वत्र फैलाता था। प्रजा की रक्षा करता था और सदा दान देता था। आज मेरी वह प्रभुता समाप्त हो गयी है। जब मुझ पर ही काल का आक्रमण हुआ है, तब वह किस दूसरे पर आक्रमण नहीं करेगा। यथा—

नाहं कर्ता न चैव त्वं नान्यः कर्ता शचीपते।
पर्यायेण हि भुज्यन्ते लोकाः शक्र यदृच्छया॥

अर्थात् शचीपति इन्द्र, न मैं कर्ता हूँ, न तुम कर्ता हो और न कोई दूसरा ही कर्ता है। काल बारी-बारी से अपनी इच्छा के अनुसार सम्पूर्ण लोकों का उपभोग करता है।

इन्द्र, जैसे तुम हो वैसे ही सहस्रों इन्द्र समाप्त हो चुके हैं। समय आने पर तुम्हें भी काल शान्त कर देगा। जो राजलक्ष्मी आज तुम्हारे पास है वह बाद में तुम्हें भी छोड़ कर चली जायगी क्योंकि यह एक जगह बँध कर नहीं रहती है। देवेश्वर, इस समय यह चंचला मुझे भी छोड़कर तुम्हारे पास चली गयी है और बाद में तुम्हें भी मेरी जैसी स्थिति में जानकर यह लक्ष्मी किसी तीसरे के पास चली जाएगी।

इस सम्वाद का वर्णन करने के बाद पितामह भीष्म ने कहा कि युधिष्ठिर, तदन्तर इन्द्र ने देखा कि महात्मा बलि के शरीर से परम सुन्दरी तथा कान्तिमती लक्ष्मी मूर्तिमती होकर निकल रही है।

४. बलि सम्बन्धी दो अन्य बातें

बलि का पुनर्उत्थान—कालान्तर में बलि का भाग्यचक्र अनुकूल हुआ और

उन्होंने अपना पूर्व ऐश्वर्य पुनः प्राप्त कर लिया। इसकी कथा श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के १५वें अध्याय में वर्णित है और जिसका शीर्षक है "राजा बलि की स्वर्ग पर विजय।" मुख्यतः उसी के आधार पर निम्न विवरण दिया जा रहा है।

देवासुर संग्राम में राजा बलि मारे गये थे किन्तु दानवों के गुरु शुक्राचार्य ने उन्हें जीवित कर दिया था क्योंकि वह संजीवनी विद्या जानते थे। जीवित तो हो गए किन्तु काल उनके विपरीत ही चल रहा था अतः उन्होंने भाग्य चक्र के फेर की प्रतीक्षा करते हुए अपने को छिपा लिया था। बलि के जीवित हो जाने की बात इन्द्र को ज्ञात थी अतः वह उन्हें ढूंढ़ने में प्रयत्नशील थे और उसी हेतु उन्होंने ब्रह्मा से बलि का पता पूछा था जिसका जिक्र पूर्व शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

कालान्तर में उक्त प्रतीक्षा के बाद बलि का भाग्य उदित हुआ और तब उन्होंने शुक्राचार्य की तथा अन्य भृगुवंशी ब्राह्मणों की सेवा में तन-मन से अपने को लगाया। प्रसन्न होने पर शुक्राचार्य आदि ने स्वर्ग पर फिर विजय प्राप्त करने की इच्छा वाले बलि का महाभिषेक की विधि से अभिषेक करके उनसे विश्वजित नामक यज्ञ कराया। यज्ञ के फलस्वरूप बलि को प्रचुर मात्रा में युद्ध की सामग्री प्राप्त हुई। उनके साथ अन्य दैत्य सेनापति अपनी-अपनी सेना लेकर हो गए। तब बलि ने इस अपार सेना के साथ इन्द्रपुरी अमरावती पर चढ़ाई की।

इस विशाल सेना को देखकर इन्द्र भयभीत हुए और अपने तथा समस्त देवताओं के गुरु वृहस्पति के पास मंत्रणा के लिए गए। वृहस्पति ने इन्द्र को बताया कि ब्रह्मवादी भृगुवंशियों ने अपने शिष्य बलि को महान तेज देकर शक्तियों का खजाना बना दिया है। इस समय वह अजेय है अतः तुम लोग स्वर्ग को छोड़कर कहीं छिप जाओ और उस समय की प्रतीक्षा करो जब तुम्हारे शत्रु का भाग्य चक्र पलटे। इस सलाह को मानकर इन्द्रादि देवता स्वेच्छानुसार रूप धारण कर स्वर्ग छोड़कर चले गये। तब बलि ने अमरावती पर अपना अधिकार कर लिया और फिर तीनों लोकों को जीत लिया।

बादहू जैसा पहले कहा जा चुका है भगवान ने वामन रूप धारण करके बलि से तीनों लोक लेकर इन्द्र को दे दिये और बलि को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ सतुल लोक का राज दे दिया। बाद में (सावर्णि मन्वन्तर) यह भगवान के आशीर्वाद से फिर इन्द्र हुए। आगे चलकर समस्त ऐश्वर्यों से परिपूर्ण इन्द्र पद का भी परित्याग करके यह परमसिद्धि को प्राप्त हुए तथा चिरंजीवी भी।

सप्त चिरजीवियों में बलि भी हैं—पौराणिक इतिहास में सात चिरजीवी व्यक्तियों का नाम आता है जिनमें एक बलि भी हैं। यथा—

अश्वत्थामा बलिर् व्यासो हनुमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैत चिरजीवितः॥

प्रातःकाल इस श्लोक द्वारा इन चिरंजीवियों का स्मरण करना कल्याणकारी बताया गया है।

रक्षाबंधन मंत्र में बलि का सन्दर्भ—प्रतिवर्ष रक्षा बन्धन का त्योहार श्रावण पूर्णिमा (श्रावणी) को मनाया जाता है। इस अवसर पर बहिनें अपने भाइयों के हाथ में राखी (रक्षा) बाँधती हैं। दान लेने वाले ब्राह्मण[1] और पुरोहित भी अपने यजमानों तथा अन्य व्यक्तियों को रक्षा बाँधते हैं। रक्षा बांधने वालों को पुरस्कार के रूप में द्रव्य भी दिया जाता है। रक्षा बांधते समय निम्न मंत्र पढ़ा जाता है :—

येन बद्धो बलिर् राजा दानवेन्द्रों महाबलः।
तेन त्वाम् प्रति बध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥

अर्थात् जिससे दानव श्रेष्ठ महापराक्रमी राजा बलि को बाँध लिया गया, हे रक्षे देवि, इसलिए मैं तुमको बाँधता हूँ; तुम अपने स्थान पर स्थिर रहो।

●

---

१. सभी ब्राह्मण दान नहीं लेते जिनमें उत्तर भारत के कान्यकुब्ज मुख्य हैं।

अध्याय–८

कुशिक वंश त्रेता युग उत्तरार्ध से

सारपत्रक

१. कुशिक वंशवृक्ष
२. चन्द्रवंश की उत्पत्ति
३. कुशिक वंश परिचय
४. कुशिक वंश का राज्य प्रसार
५. महाराज कुश
६. कुशनाभ (कुशिक) राजर्षि
७. महाराज गाधि
८. कुशिक युग की सामाजिक व्यवस्था तथा आध्यात्मिक साहित्य
९. कुशिक युग के कुछ स्थान

१. कुशिक वंशवृक्ष

चन्द्रवंश[1] विभूषित करने वाले नरेशों की नामावली निम्न प्रकार है—
नोट—इस वंश को सोम वंश भी कहते हैं। सोम का पर्याय चन्द्र है।

चन्द्र
|
बुध—इला—इस स्त्री से प्रायः इलावास (इलाहाबाद) नगर का नामकरण (वजह तस्मीया) करते हैं। पौराणिक साहित्य में 'इला' स्त्री तथा पुरुष दोनों रूप में है।
|
पुरूरवा—उर्वशी—स्त्री सौन्दर्य (साहित्य में अप्सरा जाति में)
|
आयु | धीमान | अमावसु अथवा विजय | विश्वावसु | शतायु—पुरूरवा की संतति में भागवत में ६ कहे गए हैं जिनमें से २ इन्हीं में से हैं। अमावसु के पर्याय में विजय है।

अमावसु अथवा विजय
|
भीम
|
कांचन
|
सुहोत्र
|
जह्नु

|
सुनह
|
आनन्द
|
बलाकाश्व अथवा बलाक
|
अजक
|
कुश-वैदर्भी-विदर्भ देश से अभिप्राय होता है।

- कुशनाम अथवा कुशिक } —धृताची
  - १०० कन्याएँ-ब्रह्मदत्त
    - ऋषि कुल के लोग
  - गाधि (यज्ञ से प्राप्त)
    - विश्वामित्र
    - सत्यवती (कौशिकी-कोशी) ऋचीक ऋषि
      - ऋषि कुल के लोग
- कुशाम्बु (यह भी कुशिक नाम से ख्यात जान पड़ते हैं)
- असूर्तरज अथवा मूर्तय
- बसु

विश्वामित्र

- शुनः शेप[1] (देवरात)
- कात्यायन
- अष्टक
- हारीत
- जय
- क्रतुमान
- इत्यादि इत्यादि

(१०० पुत्र कहलाए)—सब मधुन्छन्दा[2]

(ऋचीक ऋषि का वृक्ष नीचे है)

आर्व ऋषि
|
सत्यवती = ऋषि ऋचीक (भृगु ऋषि के प्रपौत्र तथा च्यवन के पौत्र)
(ऋषिकुल)

- यमदग्नि = रेणुका
  - परशुराम
- शुनः पुच्छ
- शुनः शेप[3] (देवरात)
- शुनोलांगुल

१. शुनः शेप ऋचीक के औरस पुत्र थे। विश्वामित्र ने इनकी प्राण रक्षा की और ज्येष्ठ पुत्रवत् माना। (देखिए फुटनोट नं० २-३, पेज नं० १२२ पर)

ब्रह्म पुराण के अध्याय ८ के अनुसार कात्यायन ऋषि भी विश्वामित्र के पुत्र थे तथा इनकी माता का नाम सुचक्षुमती था। इनका पूर्व नाम. कति था जो बाद में कात्यायन हुआ। कात्यायन स्मृति इन्हीं की रचना है जिसकी गणना १८ स्मृतियों में होती है।

कुश वंश वृक्ष कतिपय पुराणों (अग्नि पुराण, श्रीमद्भागवत आदि) में और बाल्मीक रामायण में वर्णित है। भागवत् में अमावसु (राजा पुरूरवा के पुत्रों में एक) के स्थान पर विजय नाम मिलता है। सम्भव है अमावसु का उपनाम विजय हो अथवा अमावसु का वंशज विजय हो क्योंकि पुराणकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुख्य पुरुषों के नाम दिए हैं, शेष छोड़ दिए हैं फिर भी यहाँ पर उपनाम का ही बोध होता है। एक भिन्नता और भी है। भागवत् में पुरूरवा के ६ पुत्र बताए हैं जिनमें से ३ के नाम तो उपरिलिखित वंशावली के अनुसार ही है और ३ अन्य हैं।

बाल्मीक रामायण के बालकाण्ड में कुश वंशवृक्ष का उल्लेख निम्न प्रकार है :

ब्रह्म योनिर्महानासीत् कुशो नाम महातपा।
अक्लिष्ट व्रत धर्मज्ञः सज्जन प्रति पूजकः ॥ सर्ग ३२। श्लोक १

अर्थात् ब्रह्मा के पुत्र, बड़े तपस्वी, अखंडित व्रतधारी, धर्मज्ञ और सज्जनों का सत्कार करने वाले कुश नाम के एक राजा थे।

स महात्मा कुलीनायां युक्तायां सुगुणोल् वणान्।
वैदर्भी जनयामास चतुरः सदृशान् सुतान् ॥३२।२

अर्थात् उन्होंने उत्तम कुल में उत्पन्न अपने अनुरूप वैदर्भी नामक रानी से अपने समान चार पुत्र उत्पन्न किए :

कुशाम्बं कुशनाभं च आधूर्तरजंस वसुम्।
दीप्ति युक्तान्, महोत् साहान् क्षात्रधर्म चिकीर्षया ॥३२।३

अर्थात् उनके नाम कुशाम्ब, कुशनाभ, आधूर्तरजस और वसु थे ये चारों बड़े तेजस्वी और उत्साही थे। क्षात्रधर्म अर्थात् प्रजापालन में उनकी रुचि थी।

---

२. इन १०० पुत्रों में बिचले का नाम मधुच्छन्दा था, इसलिए सभी मधुच्छन्दा के ही नाम से विख्यात हुए।

३. इन्हें विश्वामित्र ने अपना जेष्ठ पुत्र बनाया और यह देवरात के नाम से विख्यात हुए। देवरात इति ख्यातः शुनः शेपः स भार्गवः, भागवत, ९।१६।३२/२। शुनः शेप सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न नहीं समझ पड़ते। सत्यवती से उत्पन्न महर्षि यमदग्नि थे।

कुशनाभ के धृताची नामक अप्सरा से १०० सुन्दर कन्याएँ उत्पन्न हुईं। बाद में यह कुब्जा (कुबड़ी) हो गई। किस प्रकार इन सबका ऋषि पुत्र ब्रह्मदत्त से विवाह हुआ और उनका कुब्जापन दूर हुआ इसकी कथा अन्यत्र वर्णित हैं।

तदन्तर कुशनाभ को एक पुत्र यज्ञ द्वारा प्राप्त हुआ जो गाधि नाम से विख्यात हुआ। विश्वामित्र इन्हीं के पुत्र थे। यथा—

स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परम धार्मिक।

कुश वंश प्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन ।। वा० रा० बा० कां० ३४।६

(विश्वामित्र श्री राम से कहते हैं)—वे ही परम धार्मिक गाधि मेरे पिता हैं। कुश वंश में उत्पन्न होने के कारण मैं कौशिक (भी) कहलाता हूँ।

विश्वामित्र के १०० औरस पुत्र थे जिनके नाम कात्यायन, अष्टक, हारीत, जय, क्रतुमान आदि थे। इनमें से बिचले पुत्र का नाम मधुच्छन्दा था और इसी से सभी सौ पुत्र जाने जाने लगे। इनके अतिरिक्त विश्वामित्र ने शुनः शेप को जो ऋचीक ऋषि के औरस पुत्र थे, जेष्ठ पुत्रवत् माना। ऋचीक ऋषि ने शुनः शेप को हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित के हाथ बेंच दिया था और रोहित ने उन्हें यज्ञ पशु के रूप में अपने पिता को दिया था। किन्तु यज्ञ में बलि कार्य के पहिले ही विश्वामित्र ने शुनः शेप की प्राण रक्षा की और उन्हें अपने सबसे बड़े पुत्र के रूप में ग्रहण किया।

कुश के चारों पुत्रों ने राज्योचित कार्य किए। प्रत्येक ने अपने-अपने स्थानों को प्रधानता प्रदान की। कुशनाभ ने महोदयपुर (आज का कन्नौज) को बसाया। यह बड़े धर्मात्मा थे। महातेजस्वी कुशाम्बु ने कौशाम्बीपुरी[1] (जनपद इलाहाबाद) बसाई। दोनों भाई कुशिक नाम से विख्यात हुए। असूर्तरज ने धर्मारण्य (जो गया क्षेत्र में माना जाता है) को और बसु ने मागधी नदी पर गिरिव्रज (अथवा वसुमती जो बिहार में सोन नदी के तट पर है) निर्मित किया।

कुशाम्बस् तु महातेजाः कौशाम्बीम करोत् पुरम्।

कुशनामस्तु धर्मात्मा पुरं चक्रे महोदय् ।। वा०रा०बा० कां० ३२।६।।

आधुर्तुरजसो राम धर्मारण्यं महीपतिः।

चक्रे पुरवंर राजा वसुश्चक्रे गिरिव्रजम् ।। वही, ३२।७।।

अर्थात् महातेजस्वी कुशाम्ब ने कौशाम्बी नाम की पुरी बसाई और धर्मात्मा कुशनाभ ने महोदय नामक नगर बसाया (३२।६)। राजा आधूर्तरजस ने धर्मारण्य

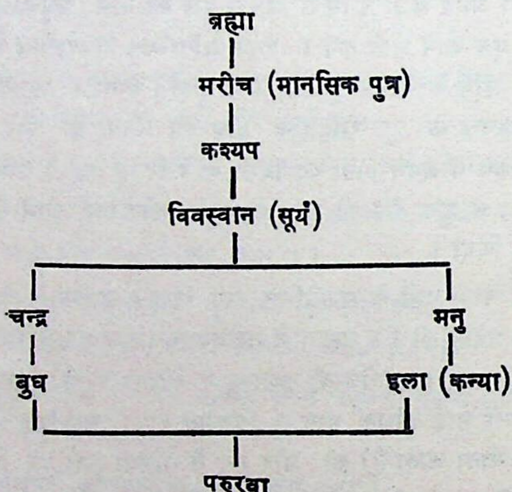
१. इलाहाबाद के उत्तर में लगभग ३० मील पर है। प्राचीन काल में यह वत्सदेश की राजधानी थी। इसका नाम अपभ्रंश रूप में कौसम भी था।

और राजा बसु ने गिरिव्रज नामक नगर बसाया (३६।७)। गिरिव्रज का दूसरा नाम वसुमती हुआ। मगध (अब बिहार) देश में बहने वाली मागधी (अब सोन) नदी के तट पर यह बसा हुआ है।

२. चन्द्र वंश की उत्पत्ति

कुशिक वंश चन्द्रवंशी था अतः चन्द्रवंश का सूक्ष्म वृत्तान्त यहाँ दिया जा रहा है। यह वंश पौराणिक वंश था जो वैवस्वत मनु से उत्पन्न माना गया है।

सृष्टि के प्रारम्भ में केवल परम पुरुष परमात्मा ही है जो सभी प्राणियों की आत्मा है, यह विश्व तथा और कुछ भी नहीं था। उन्हीं की नाभि से एक कमलकोश प्रकट हुआ और उसी में ब्रह्मा जी का आविर्भाव हुआ। जिनकी सन्तति निम्न प्रकार हैं—



(श्री मद्भागवत्, स्कन्ध ९, अ० १)

चन्द्र से आगे के वंशजों की नामावली इस अध्याय के प्रारम्भ में दी गई है।

महाराज पुरूरवा ने एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान नगरी के नाम से जानी जाती थी। पुरूरवा के जेष्ठ पुत्र तथा उत्तराधिकारी आयु ने साम्राज्य पर अधिकार पाया परन्तु कनिष्ठ पुत्र अमावसु ने एक नवीन राज्य की स्थापना की जो बाद में कान्यकुब्ज राज्य के नाम से विख्यात हुआ। अमावसु ने नए राज्य की राजधानी कहाँ की यह ज्ञात नहीं है किन्तु यह माना जाता है कि वह प्रायः उसी स्थान पर या उसके निकट थी जहाँ बाद में अमावसु के वंशज महाराज कुशनाभ ने महोदय (कन्नौज) नगर बसाया।

कुशनाभ महाराज कुश के पुत्र थे और स्वयं उनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी प्रताप शाली महाराज गाधि थे। गाधि के उत्तराधिकारी उनके पुत्र सुविख्यात विश्वा-मित्र थे।

क्षत्री कुल में जन्में महाराज विश्वामित्र ब्राह्मणत्व प्राप्त करना चाहते थे जिसके लिए उन्होंने राज्य त्याग कर तपस्या की और अपने मनोरथ को प्राप्त किया।

विश्वामित्र के उत्तराधिकारी धर्मपरायण तथा अश्वमेधयाजी महाराज अष्टक हुए। महाभारत में पितामह भीष्म ने प्रातः सायं स्मरणीय व्यक्तियों में उनका भी नाम गिनाया है। इस वंश का अन्तिम राजा अष्टक-पुत्र लौहि था। उसके बाद कान्यकुब्ज का स्वतंत्र अस्तित्व नष्ट हो गया।

महाराज पुरूरवा और उर्वशी का आख्यान—चन्द्रवंश के प्रारम्भिक पुरुषों में राजा पुरूरवा हुए और वे अपने रूप, गुण, उदारता, शील-स्वभाव, धन-सम्पत्ति और पराक्रम के लिए ख्यात थे। प्राचीन कान्यकुब्ज देश पर उनका शासन था। उर्वशी गंधर्व कन्या थी। संयोगवश दोनों का मिलन हुआ। कुछ शर्तों के साथ उर्वशी ने राजपत्नी होना स्वीकार कर लिया और यह तय हुआ कि उन शर्तों में से एक का भी राजा द्वारा उल्लंघन होने पर उर्वशी उन्हें छोड़ कर गंधर्व लोक लौट जायेगी। इस प्रकार दीर्घ काल तक उर्वशी पुरूरवा के संग रही। दैव योग से एक घटना में अनजाने में राजा से एक शर्त का उल्लंघन हो गया। तभी अपनी प्रतिज्ञानुसार उर्वशी उन्हें छोड़ कर चली गई।

पुरूरवा एक पत्नीव्रत थे। उर्वशी के प्रति उनका हृदय स्थिर था—निश्चल और विशाल हृदय। जब उर्वशी अपने समय के अनुसार अपने पितृकुल (गंधर्वगण) में चली गई तब महाराज पुरूरवा अत्यन्त दुखित हुए। घने-सूने जंगलों में शोकातुर महाराज दिन बिताने लगे। अनेक बार आत्मघात तक करने का विचार उठा पर संसार की अनित्यता पर विवेक करके अपने को समझा लेते। उर्वशी के लिए उनका विकल रहना सिद्ध करता है कि वह महिला गुणज्ञ थी। इसका विशेष वर्णन शतपथ ब्राह्मण नामक ग्रन्थ में आया है। यद्यपि ऋग्वेद में भी यह प्रकरण आता है पर वहाँ पर घटना का अभाव होने से ऐतिहासिक पुष्टि उक्त ग्रन्थ से हो जाती है। पुरूरवा तथा उर्वशी अचिन्त्य गुणों के स्वामी थे। दोनों में बड़ी प्रीति तथा सहवेदना थी। दोनों परस्पर मित्र की भाँति एक दूसरे की प्रसन्नता से सुखी रहते थे। इसी से उर्वशी का वियोग पुरूरवा को व्यथित कर रहा था।

एक दिन पुरूरवा ने सोचा—"मैं पर्वत से गिर पड़ूँ, मैं इस अशिव शरीर ही को छोड़ दूँ। मुझे कल्याणहीन भेड़िये, खा जाये। अब तो इस जीवन में

कुछ उत्साह नहीं है।'' ऐसा सोचकर वे आत्मघात होने के लिए आगे बढ़े कि इतने में उर्वशी को उनकी चेष्टाओं का ज्ञान हो गया। वह तुरन्त वहाँ पहुँची और कहा—

पुरूरवो मा मृथा या प्रपप्तो या त्वा तृकासो अशिवास उक्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति शालावृकाणी हृदयान्येता॥

(हे पुरूरव, आप न मरें, आप पर्वत से न गिरें। कहीं आप को कल्याणहीन भेड़िये न खा जाएँ। स्त्रियाँ मित्रता निभाना नहीं जानती। उनका हृदय चंचल कुत्तों की भाँति एक गली में स्थिर नहीं रह पाता। मैं इतनी पापिनी हूँ जो आपको इतना कष्ट झेलना पड़ रहा है।)

इस उद्धरण से विदित होता है कि उर्वशी बड़ी विदुषी थी। उसे पुरूरवा से विलग हो जाने का अत्यन्त दुख था। इस प्रकार दोनों का पुनः संयोग हुआ। फिर दोनों ने शेष जीवन को तप के अर्जन में लगाया।

३. कुशिक वंश परिचय

उक्त चन्द्र वंश में राजा पुरूरवा के पुत्र अमावसु की वंशलि में वेदर्भीपति कुश हुए हैं जैसा कि उपरिलिखित वंशावली में दिखाया गया है। इन्हीं महाराज कुश के नाम पर कुशिक वंश का नामकरण होता है।

प्रस्तुत इतिहास में इस वंश की विशेष प्रधानता है। इस वंश की छाप अद्यावधि कन्नौज पर लगी हुई है। आदि कवि वाल्मीक के वचनों से प्रमाणित 'कान्यकुब्ज' इतिहास का सूत्रपात इतिहासकार प्रायः यहीं से मानते हैं। 'कान्यकुब्ज' संज्ञा ने जो अमरत्व पद इस वंश से प्राप्त किया है वह उस वंश द्वारा क्षात्रधर्म पालन करने के कारण नहीं है वरन् ब्राह्मधर्म की प्रवृत्ति है जैसा कि आगे ज्ञात होगा। महाराज कुश से लगाकर महाराज विश्वामित्र तक उत्तरोत्तर प्रत्येक वंशज में ब्रह्म भक्ति व ज्ञान की अभिरुचि बढ़ती ही गई जिसका अक्षय प्रभाव आर्य शास्त्रीय साहित्य में निहित है।

महाराज कुश के बाद इस राजवंश में केवल चार पीढ़ियों तक का शासन काल है। कुश से पूर्व कम से कम ९ पीढ़ियों का पता और चलता है जब कि यह देश महाराज ययाति के अधीन था। अमावसु और अजक के मध्यवर्ती किस कुश पूर्वज ने यहाँ के राज्य सिंहासन को सुशोभित किया निश्चित नहीं किन्तु ययाति के वंशजों में राज्यविभक्ति से इस गद्दी का स्वामित्व कुशिक शाख में आना अनुमान सिद्ध है। कहीं कहीं कुश के पूर्वज बलाकाश्व का नाम आया है किन्तु कुश के पिता अजक और पितामह बलाक थे यह भागवत् के निम्न पद से प्रमाणित है :

जह्नोस्तु पूरुस्तत्पुत्रों बलाकश्चात्मजोऽजकः ।।९।१५।२

अर्थात् जह्‌नु का पुत्र था पूरु, पूरु का बलाक और बलाक का अजक।

इसी प्रकार कुश की संतुति में कुछ नाम भ्रम हैं। महाराज कुश के ४ पुत्र थे जिनमें से कुशनाभ और कुशाम्बु दोनों, कुशिक नाम से ख्यात समझ पड़ते हैं और असूर्तरज का उपनाम मूर्तय प्रतीत होता है। जब महाराज कुश ने अपने पुत्रों में राज्य विभाजित किया तब कुशनाभ को कन्नौज की गद्दी मिली। कुशनाभ के बाद महाराज गाधि यहाँ के शासक हुए इसमें सन्देह नहीं। भागवत् में गाधि के पिता का नाम कुशाम्बु मिलता है--

ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुस्तनयो वसुः।
कुशनाभश्च चत्वारों गाधि रासीत् कुशाम्बुजः ।।९।१५।४

अर्थात् (अजक के पुत्र) कुश थे तिनके ४ पुत्र थे—कुशाम्बु, तनय, बसु और कुशनाभ। इनमें से कुशाम्बु के पुत्र गाधि हुए। यह भी अन्य ग्रन्थों में आया है कि घृताची के गर्भ से कुशनाभ के १०० कन्याएँ हुई थीं किन्तु कोई पुत्र न था। बाद में यज्ञ करने से पुत्र गाधि प्राप्त हुआ। यदि यहाँ "यज्ञ" से दत्तक पुत्र यज्ञ का संकेत समझा जाय तो गाधि कुशनाभ के दत्तक पुत्र अनुमानित होते हैं।

महाराज गाधि को भी बहुत आयु तक पुत्र सुख न हुआ केवल सत्यवती नामक एक कन्या थी। अन्त में ऋषि प्रसाद से विश्वामित्र का जन्म हुआ। मुनिवर महाराज विश्वामित्र को सन्तानों का अभाव न था किन्तु उन्होंने क्षात्र शक्ति से ब्रह्म शक्ति को श्रेष्ठतर समझ क्षत्रिय वंश को तिलांजलि देकर ब्रह्म विद्या में लव लगाई। उनका वह इतिहास राजसीय वृत्ति से विलग होने के कारण पृथक् से दिया जायेगा।

कुशिक वंश का राज्य प्रसार

इस प्रकार राम राज्य आते-आते चन्द्र वंश का अवसान सूर्यवंश की प्रखरता में लीन हो जाता है और इस प्रदेश से दंडधारी राजकृत शासन प्रणाली युगांतर के लिए उठ जाती है। देश में दैवी साम्यवाद का अभय राज्य फैल गया। स्यात् इसी कारण इस प्रदेश की संज्ञा ब्रह्मर्षि देश पड़ी—महाराज विश्वामित्र को महर्षि पदवी के साथ देश ने भी अलौकिक पद प्राप्त किया।

ब्रह्म परायण पुनीत ब्रह्मर्षि देश का राजकीय इतिहास द्वापर के उपरान्त तक शून्य सा प्रतीत होता है। तथापि इसी राज्यांश से इसी भूभाग में एक नूतन शक्ति का बीजारोपण हो चुका था जिसका राजकीय इतिहास इस शून्य युग में चलता रहा। उक्त धृताची से उत्पन्न परम सुन्दरी १०० कन्याओं का जब ऋषि

पुत्र ब्रह्मदत्त से विवाह हुआ तब महाराज कुशनाभ ने दहेज में वह भूभाग भी दिया जो एक विशाल राज्य कम्पिल[1] नाम से ख्यात हुआ। उपरिलिखित नूतन शक्ति यही कम्पिल राज्य था जिसका विवरण आगे के एक अलग अध्याय में मिलेगा।

इस प्रकार कम्पिल से उत्तरी भाग ब्रह्मदत्त ब्राह्मण राज्य में चला गया। अन्ततोगत्वा जब इस प्रान्त में राज्य शासन की आवश्यकता पड़ी तो यह भी उसी राज्य में चला गया जैसा कि राजा द्रुपद और द्रोणाचार्य के बँटवारे[2] से सिद्ध होता है, अर्थात् दक्षिणी पांचाल द्रुपद के अधिकार में रहा और उत्तरी द्रोण को मिला।

इधर उत्तर पूर्व में इस वंश का राज्य कौशाम्बी[3] तक निश्चित है क्योंकि कुश के पुत्र कुशाम्बु को यह देश मिला और उन्होंने कौशाम्बी नगरी को बसाया।

इसी प्रकार दक्षिण पूरब में इसकी राज्य सीमा विन्ध्या पर्वत और सोन नदी के तट तक समक्ष पड़ती है। यह महर्षि विश्वामित्र के यज्ञोपाख्यान से प्रमाणित है। सोन के दक्षिण असुर राज्य सिद्ध होता है जिसे मख विध्वंस रक्षा के लिए मुनिवर ने दशरथ से राम की याचना की थी।

इस सब बातों से प्रतीत होता है कि कुशिक वंश का राज्य न्यूनातिन्यून भारत के मध्य (मध्य भारत) में था और इसी कारण उस काल में यह क्षत्रप अवतंस वंश था।

५. महाराज कुश

ऊपर कह आए हैं कि इस वंश के किस पूर्वज ने कन्नौज राज्य सिंहासन को सुशोभित किया यह निश्चित ज्ञात नहीं किन्तु महाराज कुश का यहाँ का शासक होना सन्देहात्मक नहीं है। इन्होंने इस प्राचीन महोदय नगर को पुनर्जन्म दिया और इसका नाम कुशस्थली[4] पड़ा।

---

१. कम्पिल कन्नौज से पश्चिम कुछ दूरी पर गंगा के दाहिने तट पर स्थित है। यह जैनियों का उत्तर प्रदेश में मुख्य तीर्थ स्थान है।

२. इस बटवारे का विवरण आगे के अध्याय (महाभारत समय में कन्नौज; कम्पिल नगर सम्बन्धित बातें) में मिलेगा।

३. कौशाम्बी-कौसभ, वत्स देश की राजधानी, इलाहाबाद के उत्तर में ३० मील पर है।

४. कृते महोदयं त्रेतायांच कुशस्थली (का० कु० मा०)। एक कुशस्थली (कुशावली) और थी जो दक्षिण कौशल की राजधानी थी। वह विन्ध्या पर्वत और नर्मदा नदी के निकट होगी। (राजशेखर)

इन महाराज का विवाह वैंदर्भी से हुआ था। विदर्भ देश की राजकन्या होने से महिषी की वैदर्भी संज्ञा स्पष्ट है। उससे इनके चार पुत्र उत्पन्न हुए। कुश महाराज ने इन चारों को अच्छी क्षत्रियोचित शिक्षा दी और सबको अपने जीवन काल ही में कुशल शासक बना दिया। कुशनाभ को अपने पास कुशस्थली में रखा और शेप तीनों को सीमान्त प्रान्तों में प्रबंधक बना दिया।

वंश परम्परा के अनुसार इन तीनों ने अपने-अपने स्थानों में अपने नाम के स्मारक स्थापित किए। जिस प्रकार कुशाम्बु ने कौशाम्बी बसाई उसी भाँति वसु ने वसुमती[1] अथवा गिरिव्रज की प्रतिष्ठा की और असूर्तरज ने धर्मारण्य[2] उपनिवेश की स्थापना की।

६. राजर्षि कुशनाभ (कुशिक)

इस पुत्र पर महाराज कुशनाभ की विशेष आकृष्टि जान पड़ती है। सम्भवतः कुशनाभ के गुण, धर्मनिष्ठा आदि पिता की रुचि के अनुकूल थे। इनका विवाह परम सुन्दरी घृताची अप्सरा से हुआ। समझ पड़ता है कि महाराज कुश ने इस प्रिय रूपवान पुत्र के लिए किसी पार्वतीय सुलक्षणा कन्या को ढूँढा और उसे पुत्रवधू बनाया, पर वह पुत्र प्रसविनी न हुई। उसके १०० कन्याएँ हुई। पिता ने पुत्र को पुत्र प्राप्त होने का आशीर्वाद दिया। इससे प्रकट है कि कुश पौत्र दर्शन की अभिलाषा लिए ही स्वर्गगामी हुए।

धर्मनिष्ठा, पैत्रिक सम्पत्ति होने के अतिरिक्त जब किसी सम्पन्न महानुभाव के औरस पुत्र नहीं होता तो उसकी मनोवृत्ति और भी अधिक साधुसेवी हो जाती है। महाराज कुशिक भी ऐसे ही परोपकारी महात्माओं में संसार प्रसिद्ध हुए। तन, मन, धन से कुशिक महाराज किसी भी साधु महातमा की सेवा टहल में सपत्नीक तत्पर रहने लगे। राज्यश्री भोक्ता पुरुषों के लिए ऐसा कठिन व्रत कहाँ तक साध्य है इस पर कुछ सन्तों को महाराज की सत्यनिष्ठा की परीक्षा लेने का चाव हुआ। सुतरां ऋषिवर च्यवन राजआतिथ्य हेतु महल में पधारे। ऋषि का यथोचित स्वागत कर पादार्थादि दे राजा ने टिकाया और राज दम्पति अपने संकल्प अर्थात्, अतिथि सुश्रूषा में संलग्न हुए। ऋषिवर ने अनेक प्रकार से अपनी आकस्मिक एवं हठयुक्त बातों से उनको भूख प्यास आदि से श्रमित एवं विस्मित कर उन्हें अपने अटल नियम से डिगाना चाहा पर उनके सब प्रयत्न निष्फल हुए। एक बार जब ऋषिदेव का मार्ग जनित श्रम दूर करने को राजा

---

१. बिहार के दक्षिण और विन्ध्या के पूर्व समझ पड़ती है।
२. धर्मारण्य से 'गया' प्रदेश से तात्पर्य बताया जाता है।

और रानी उनके पाँव चापने लगे तब च्यवन महराज २१ दिन तक एक ही करवट पड़े पैर दबवाते रहे किन्तु उन दोनों ने निरन्तर रात दिन श्रद्धा सहित निरालस्य भाव से अतिथि पद सेवा की।

ऐसी ही कतिपय परीक्षाएँ लेने पर भी च्यवन को सन्तोष न हुआ कि सेवा-धर्म पालन करने वाले में राजमद का क्षय हो गया है। तब उन्होंने राजपथ पर अपनी सवारी निकलवाने का आदेश दिया। रथ के वाहन राज दम्पति बने। च्यवन ने अपमान सूचक कार्यों मे उनके राजमद मर्दन की परीक्षा ली अर्थात् चाबुक मारकर शासित प्रजा के सन्मुख राजा और रानी को दौड़ाया। उस पर भी वे अपने सेवा संकल्प से विचलित न हुए। ऋषिवर संतुष्ट हुए और महाराज कुशिक को वरदान दिया कि तुम्हारे वंश में अचल धर्म दृढ़ता रहेगी साथ ही तपोदृष्टि से भविष्य में कुशिक वंश में ब्राह्मणत्व का आना तथा उसके कर्तव्या-कर्तव्य भी बताएँ।[1]

पिता का आशीर्वाद तथा ऋषि का वरदान दोनों हो पुत्र के अभाव में व्यर्थ थे। निदान मंत्रियों के परामर्श से यज्ञ का विधान रचा गया और पुत्र की प्राप्ति हुई। वह गाधि[2] के नाम से विख्यात हुआ।

७. महाराज गाधि

महाराज कुशनाभ के बाद महाराज गाधि उनके उत्तराधिकारी हुए। इन्होंने भी कन्नौज नगर के पुनर्निर्माण करने का यश प्राप्त किया और उसका नाम गाधिपुरी हुआ। गाधि जैसे महात्मा थे वैसे ही महाबली और महापराक्रमी भी प्रसिद्ध थे।[3] सन्तानहीन होने के कारण इनका भी क्षात्र कीर्ति भोगने से मन उचट गया और समझ पड़ता है कि तीसरे पन में पदार्पण करते ही गाधि ने वान-प्रस्थ आश्रम ग्रहण करने का संकल्प किया। मुनि वृत्ति की अभिरुचि होने से इनको राजर्षि की पदवी प्राप्त हुई।

सन्तान से नैराश्य होने पर भी इनके एक परम सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम सत्यवती था, कौशिकी भी उसे कहते थे। जब यह राजकुमारी रूप, गुण युक्त विवाह के योग्य हुई तब तपोधन ऋचीक ने महाराज गाधि से कन्या

---

१. गाधि को कुशाम्बु का औरस पुत्र बताया जा चुका है अतएव पुत्रेष्टि-यज्ञ से दत्तक कृत्य का अभिप्राय समझ पड़ता है।

२. इस संदर्भ में विशेष जानकारी महाभारत के अनुपालन पूर्व के अन्तर्गत दानधर्म पर्व के अध्यांय ५२-५६ में मिलेगी।

३. म० भा० अनुशासन पर्व अन्तर्गत दानधर्म पर्व के अध्याय ४ में राजा गाधि का उल्लेख है (श्लोक ६-७)।

की याचना की। सारे रनिवास का एक मात्र सुख, राजश्री से लालित पोषित पुत्री को एक तपस्वी को सेविका बना देना किसी भी पिता के लिए असह्य है। किन्तु धर्मात्मा गाधि को किसी सिद्ध महात्मा को विमुख लौटाने का साहस भी न हो सकता था। निदान इस धर्म संकट से बचने के लिए गाधि ने ऋचीक से ऐसा शुल्क माँग लिया जो किसी साधारण तपस्वी के लिए असम्भव ही था। राजा ने महर्षि से एक सहस्र श्याम कर्ण घोड़े सत्यवती के शुल्क के कहे। राजा ने ऋचीक के लिए यह असम्भव समझ रखा था किन्तु ऋषि प्रभाव से अलभ्य भी लभ्य हो जाता है।

महर्षि ऋचीक च्यवन के पुत्र थे[1]। च्यवन वैद्य शास्त्र के ज्ञाता थे। और यह गुण पैतृक सम्पत्ति के रूप में उनके पुत्र में भी आया। सनातन पूज्य इस गद्दी का मान रखने को कौन न उत्साहित होगा। इसके अतिरिक्त ऋचीक का राजा वरुण से बहुत हित था। वरुण ने गंगा मार्ग से अश्वतीर्थ में वे घोड़े महर्षि के पास पहुँचा दिए। यह घोड़े जहाँ प्राप्त हुए थे वह कान्यकुब्ज (कन्नौज) के पास अश्वतीर्थ[2] कहलाता था जिसका उल्लेख महाभारत में निम्न प्रकार है :--

अदूरे कान्यकुब्जस्य गंगायास् तीर मुत्तमम्।
अश्वतीर्थं तदद्यापि मानवैः परिचक्ष्यते ॥[3]

(अर्थात् कान्यकुब्ज (कन्नौज) के पास ही गंगा जी का वह उत्तम तट मानवों द्वारा अश्वतीर्थ कहलाता है)।

तब तपस्वी मुनियों में श्रेष्ठ ऋचीक ने वे एक हजार घोड़े शुल्क के लिए

---

१. ऋचीक को प्रायः भृगु पुत्र कहा गया है किन्तु महाभारत में स्पष्ट आया है कि ऋचीक च्यवन (जो वैद्यों में श्रेष्ठ थे) के पुत्र थे—द्रष्टव्य महाभारत अनुशासन पव के अन्तर्गत दानधर्म पर्व, अ० ४।८ तथा १३। ऋचीक का उपनाम अजीगर्त था तथा साधु समुदाय में आने पर ऋचीक नाम पड़ा और सम्भवतः इसी दृष्टि से, च्यवन अथवा भृगु, पुत्र कहे गये। भृगुवंशी होने से इनकी भृगु संज्ञा थी।

२. जिला फतेहपुर में असनी नाम का एक मौजा गंगा तट पर है और जो अत्यन्त प्राचीन स्थान है। सम्भवतः यही पहले का अश्वतीर्थ है। अश्वतीर्थ का अपभ्रंश शनैः-शनैः असनी हो गया जान पड़ता है। कन्नौज नगर से पूर्व की ओर यह स्थान है। कन्नौज से दूर (न कि पास) होने के कारण उक्त कथन में सन्देह उत्पन्न हो जाती है।

३. म० भा० अ० प० (अन्तर्गत उसके दानधर्म पर्व, अ० ४।१७)

राजा गाधि को दे दिए। महर्षि का ऐसा प्रभाव देखकर गाधि ने सत्यवती को आभूषित कर विधिवत् उसका विवाह ऋचीक से कर दिया।

इस सम्बन्ध में पुत्र न होने से हतोत्साहित महाराज गाधि को पुत्र लाभ का सन्तोष प्राप्त हुआ।

अजीगर्त (ऋचीक का उपनाम) आश्रम में पहुँचने पर सत्यवती प्रसन्नचित्त से पति सेवा में संलग्न हुई। जब च्यवन महाराज अपनी पौत्र वधू को देखने आए तो उस सुलक्षणा की सभी बातों से परम सुखी हो उसको पुत्रवती होने का वर दिया और पुत्र लाभ का उपाय मनोगत किया। सत्यवती (कौशिकी) जब अपने मायके आई तो उसने अपनी माता से उक्त वार्ता का भी कथन किया। अपुत्रा राज्ञी ने पुत्री तथा ऋचीक से अपने लिए भी वही वर पाने की प्रार्थना की। च्यवन ऋषि ने दोनों के लिए पृथक्-पृथक् धार्मिक एवं भैषज उपाय निर्धारित किये। अलग-अलग चरुओं को मंत्रों से अभिषिक्त किया। तब दोनों महिलाओं से चरुओं को पीपल और गूलर को भेंट कर उनके पदार्थों को सेवन करने को कहा—एक चरु का माल महाराज गाधि की राज्ञी को और दूसरे का कौशिकी को। स्त्री स्वभाववश रानी ने चरु भिन्नता से यह समझा कि महर्षि ने अपनी पौत्र वधू के लिए कुछ विशेषता रखी होगी। फिर सोचा कि तपस्वियों के लिए विशेष योग्य सन्तान की क्या आवश्यकता? इसी विचार से रानी ने मुनि के भाव की अवहेलना कर सत्यवती से चरु बदल लिया। महर्षि ने जब आधानवती पौत्र वधू के गर्भ लक्षणों पर ध्यान दिया तब उन्हें चरु सेवन विधान में गलती होने का आभास हुआ। उस समय उन्होंने चरुओं के रहस्य को बताया और कहा कि दोनों की सन्तानों में वर्ण वैषम्य हो जायेगा, अर्थात् सत्यवती के क्षत्रीय प्रकृति वाला पुत्र होगा और रानी के ब्रह्म प्रकृति वाला। सत्यवती यद्यपि राजोत्कुलभवा थी तथापि पतिपरायण ऋषि आश्रम के शान्ति-जनक सुख को राजसी तेज से अच्छा समझती थी। अत. उसने ब्रह्म सेवी पुत्र सुख पाने का हठ किया। महर्षि ने समझाया कि अभिमंत्रित औषधियों का फल अमिट है—केवल इतना ही हो सकता है कि उनका तात्कालिक प्रभाव न हो, देर और दूर में हो। कौशिकी को इतने में भी सन्तोष था। निदान महर्षि ने ऐसा उपाय किया कि पुत्र की जगह पौत्र उस प्रकृति का हुआ।

नोट—ओछा नामी एक स्थान मैनपुरी जिले में है। यह एक रम्य वनस्थली है जहाँ च्यवन ऋषि का स्मारक तथा मन्दिरादि बने हैं। सम्भवतः यही महर्षि च्यंवन का आश्रम था। यहाँ एक वार्षिक मेला भो होता है। यह भो जनश्रुति है कि श्रृंगी आश्रम जिला फर्रुखाबाद में श्रृगीरामपुर नाम मौजे के निकट है।

इस प्रकार सत्यवती से महर्षि यमदग्नि हुए और यमदग्नि से परशुराम महाराज का अंशावतार हुआ। इधर राजा गाधि के विश्वामित्र हुए।

श्री मद्भागवत् में जमदग्नि, परशुराम और विश्वामित्र के जन्म की कथा उपरिलिखित वृत्तान्त से कुछ भिन्न है। महर्षि ऋचीक की पत्नी और सास ने ऋचीक से ही पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना की न कि महर्षि च्यवन अथवा महर्षि भृगु से। ऋचीक ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके दोनों के लिए अलग-अलग मंत्रों से चरु पकाया और स्नान करने चले गये। सत्यवती की माँ ने यह समझ कर कि ऋषि ने अपनी पत्नी के लिए श्रेष्ठ चरु पकाया होगा, उससे वह चरु माँग लिया। इस पर सत्यवती ने अपना चरु तों माँ को दे दिया और माँ का चरु वह स्वयं खा गई। जब ऋचीक मुनि को यह बात ज्ञात हुई तब उन्होंने अपनी पत्नी सत्यवती से कहा कि तुमने अनर्थ कर डाला। अब तुम्हारा पुत्र तो लोगों को दण्ड देने वाला घोर प्रकृति का होगा और तुम्हारा भाई होगा एक श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता। सत्यवती ने मुनि को प्रसन्न किया और प्रार्थना की कि ऐसा नहीं होना चाहिए। तब ऋषि ने कहा अच्छा, अब पुत्र के बदले तुम्हारा पौत्र वैसा (घोर प्रकृति का) होगा। समय पर सत्यवती के गर्भ से यमदग्नि का जन्म हुआ, यमदग्नि के परशुराम हुए, अन्य पुत्रों के अतिरिक्त। इन्हीं परशुराम के रूप में हैहय वंश (क्षत्री) का अन्त करने के लिए भगवान ने अंशावतार ग्रहण किया। उस समय क्षत्री लोग बड़े दुष्ट, ब्राह्मणों के अभक्त, रजोगुणी और विशेष करके तमोगुणी ही रहे थे। इसी से वे पृथ्वी पर भार हो गए थे फलतः परशुराम ने उनका २१ बार नाश करके पृथ्वी का भार उतार दिया।[1] सत्यवती की माता (गाधिपत्नी) से विश्वामित्र हुए।

चौथेपन में प्रजावत्सल गाधि ने विश्वामित्र का राज्याभिषेक कर तपश्चर्या में लग्न होने के लिए बन गमन किया। समग्र प्रजा ने उस समय अपने उदारचित राजा के प्रति भक्ति का परिचय दिया।[2] पौराणिक काल के सर्वप्रिय राजाओं में महाराज गाधि तथा उनके पूर्वज महाराज कुशिक (कुशनाभ) की गणना है। उक्त राजाओं के नाम हैं—इन्द्र, वैवस्त, मनु, पृथु, इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचकुन्द, शिवि, ऋषभ, पुरूरवा, नृग, कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप।[3]

---

१. भागवत्, ९।१५।८-१५।

२. महाभारत, शल्य पर्व, ४०।११-१२।

३. महाभारत, शान्ति पर्व, २०७।१०–३०।

८. कुशिक युग की सामाजिक व्यवस्था तथा आध्यात्मिक साहित्य

'कुशिक युग' का तात्पर्य—प्राचीन ग्रन्थों में 'कुशिक युग' शब्द का प्रयोग नहीं आया है। उनमें क्रमशः चार युग ही माने गए हैं यानी सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से कुशिक काल को हम कुशिक युग भी कह सकते हैं। कुशिक काल से तात्पर्य उस काल से है जिसमें कुशिक वंश शासक हुए अर्थात् महाराज कुश से लेकर विश्वामित्र तक।

उक्त काल त्रेता युग का उत्तरार्ध और द्वापर का प्रारम्भिक समय है। 'कुशिक युग' का प्रयोग इसी काल के लिए हुआ है।

(१) सामाजिक व्यवस्था

आर्य जन कृषि प्रधान लोग थे। खेतो से नाना प्रकार के अन्न उपजाते थे जिनमें गेहूँ, जौ, चना, मसूर, मूँग, उरद, बाजरा, धान्य, तिल, प्रियंगु, श्यामाक आदि प्रसिद्ध हैं।[1] यद्यपि यह सब अन्न अधिकाई से पैदा होते थे पर इनको अधिकतर गायों के लिए ही बोया जाता था। ईख की खेती भी थी पर उसे प्रायः पशु ही खाते थे। यह युग गौ प्रधान था। ऋषि लोग गायों के लिए ही नाना प्रकार के अन्न बोते थे। इससे उस समय की गायें ऊँची, लम्बी और अतीव सुन्दर होती थीं। यही स्थिति बछड़ों की भी थी।

सभी घरों से यज्ञ की सुगन्ध निकलती थी। दूध और दही की बहुलता थी। दूध, मधु और घृत से यज्ञ होता था। यज्ञ में सुगन्धित पुष्टिकारक, रोगनाशक, औषधियाँ भी छोड़ी जाती थी। आर्य जन सब कुछ त्याग कर गौ की सेवा करते थे। निरन्तर दुग्धपान करने से आर्यों की आकृति अतीव सौम्य, आकर्षक तथा सुन्दर होती थी।

लोग लम्बे, सुन्दर ललाट वाले, आजानुबाहु होते थे। सभी सत्यवादी तथा प्रियवादी थे। अपनी प्रतिज्ञा के पालन में सर्वस्व त्याग कर देने में वे अपना गौरव मानते थे। सभी तप और स्वाध्याय में निरत रहने वाले थे। परस्पर सौम्यता से मिलते तथा व्यवहार करते थे।

अनार्यों का समाज से बहिष्कार हो जाता था। उन्हें ही दस्यु, असुर, पिशाच आदि की संज्ञा दी जाती थी। ये लोग प्रायः वे व्यक्ति होते थे जो इन्द्रियारामी हो। जो दूसरों की आयु को तपा देते हों, समाज में ऐसे लोगों का निरादर था। उनसे आर्यजन अपना सम्बन्ध भी नहीं रखते थे। जो लोग साधारण कोटि के इन्द्रि-

---

१. यजुर्वेद, १८।१२।

यारामी हो उन्हें कुछ दण्ड देकर या प्रायश्चित करा कर आर्यत्व में मिला लिया जाता था।

आर्य लोग बराबर प्रार्थनाएँ करते रहते कि हमारी बुद्धि सर्वदा निष्पाप की बनी रहे। परस्पर कोई किसी प्रकार का पाप न करे। वे बराबर ही निर्मल भावनाएँ बनाये रखते थे और इसी भाँति की दिन भर क्रियायें भी करते थे। "अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुष्टतय पुरुषस्य"—मैं आज ही मर जाऊँ यदि मेरा जीवन जघन्य हो, यदि मुझसे किसी की आयु क्षीण होती है—ऋग्वेद।

ऋषि लोग उच्छ वृत्ति से भी जीवन व्यतीत करते थे। कोई-कोई कुम्भी-धान्मक भी होते थे। वे बराबर ज्ञान के सम्पादन तथा आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास में निरत रहते थे।

अत्यन्त प्राचीन काल में यह जगत् ब्रह्ममय था। लोग उपासना और ध्यान में ही लगे रहते थे। पर दस्यु लोग ब्राह्मणों की गायें अपहरण करके नाना प्रकार से उन्हें कष्ट देने लगे। तब व्यवस्था करके जनता का एक भाग क्षत्रिय का कार्य करने लगा। सबसे प्रथम वाले राजा को इन्द्र कहा गया। इन्द्र के प्रधान अमात्य बृहस्पति थे। प्रथम कोषाध्यक्ष को कुबेर तथा प्रथम सेनापति को सविता कहा गया।

भीतरी न्याय तथा व्यवस्था के लिए समितियाँ बनीं जिनमें विद्या, सुधार, नगर, रक्षा, औषधि आदि अनेक विभाग थे। ब्राह्मणों को दंड नहीं दिया जाता था। ब्राह्मणों के दंड के लिए एक सभा थी जिसे सोमसभा कहते थे। यह सभा ब्राह्मणों से अपराध हो जाने पर प्रायश्चित आदि बता दिया करती थी और अपराधी लोग तदनुकूल कर्म करते थे।

परस्पर कोई घृणा नहीं करता था। चारों वर्ण परम स्नेह से एक दूसरे की उन्नति और अभिवृद्धि के लिए सचेष्ट रहते थे। समय-समय पर तथा प्रत्येक पर्व पर विशेष उत्सव मनाये जाते थे जिसमें आदरपूर्वक सभी आर्य जब भाग लेते और उत्सव को सफल बनाते। प्रत्येक उत्सव पर अनिवार्य रूप से यज्ञ होता था। आर्य लोग रोगग्रस्त न होते थे, कभी हुए तो साधारण औषधि उपचार से ही स्वस्थ हो जाते थे। ब्रह्मचर्य युक्त रहने के कारण उनका अंग सर्वदा पुष्ट, नीरोग तथा प्रफुल्लित बना रहता था।

उन दिनों उच्च श्रेणी के अनुसन्धात्मक भी थे। शुक्राचार्य ने एक ऐसी औषधि खोज निकाली थी जिसका पान तथा लेपन करने पर मृत मनुष्य फिर जी उठता था। इससे सम्बन्धित विद्या को उन्होंने बृहस्पति के पुत्र कच को पढ़ाया भी था।

आर्य लोग महोत्सवों को बड़े धूमधाम से मनाते थे। ये उत्सव प्रायः किसी विजय घटना पर या किसी बड़ी सफलता पर ही होते थे। तब उस तिथि को ऐतिहासिक रूप देने के लिए वे एक विजयस्तम्भ बनवा देते थे जिन्हें विजयस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, विद्यास्तंभ या यूप स्तम्भ कहा जाता था। मथुरा के समीप दो यूपस्तंभ प्राप्त हुए हैं जिनसे इस परंपरा की स्मृति की जानकारी होती है।

जीवन को परिष्कृत तथा निर्मल बनाये रखने के लिए वे १६ संस्कार करते थे। गृह्य सूत्रों में इनका विधान बताया गया है। प्रत्येक संस्कार में बोले जाने वाले मंत्रों में आगे के लिए विशेष सँभल कर, सबल बनकर, उत्साहित होकर कर्तव्य पालन की विधि बताई गई है।

पुराने महापुरुषों का इतिहास आदर और गौरव से सुना जाता था। उत्तम श्रेणी के महापुरुषों की कथायें की रची गईं जिन्हें यज्ञोत्सव पर स्वाभिमान के साथ सुनाया जाता था। ऐसी पुस्तकों का नाम नाराशसी है। ये पुस्तकें अब दुर्लभ हैं। फिर भी बहुत से महापुरुषों का आख्यान महाभारत तथा बाल्मीकीय रामायण में संग्रहीत है।

उस समय बाल विवाह, बहुविवाह आदि की प्रथायें न थीं, पूर्ण यौवन प्राप्त होने पर एक विशेष उत्सव रचाया जाता था जहाँ कन्या तथा वर शास्त्रार्थ करते थे। स्वयंवर की प्रथा थी।

आर्य लोग शिल्पशास्त्र, कपड़े बुनना तथा कृषि-वाणिज्य आदि में भी भाग लेते थे। गुरुकुलों में सभी प्रकार की शिक्षायें दी जाती थीं। अपनी रुचि के अनुसार शिष्यगण अर्थकरी विद्या चुन लेते थे। आयुर्वेद के विद्वानों का बड़ा मान होता था। धनवन्तरि, भिक्षु आत्रेय, भरद्वाज आदि ऋषि आयुर्वेद के पारंगत पंडित थे।

साहित्य और कला में भी लोगों की प्रवीणता थी। आज-कल खुदाई में जो महानगर मिले हैं उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि आर्य लोग अपने निवासस्थान अति सुन्दर रीति से बनवाते थे। प्रत्येक घर के पास अभिरम्य उद्यान होता था। इसी से बहुत से पुराने नगर पुष्पपुर के नाम से ख्यात हो गए हैं।

प्रत्येक पौर्णमासी, अमावस्या तथा ऋतु परिवर्तन पर यज्ञोत्सव होता था। खेतों में अन्न के पकने पर भी उत्सव आयोजित होते थे। शरद में कौमुदी महोत्सव तथा वसना में बसन्त उत्सव बड़े धूमधाम से मनाये जाते थे।

धार्मिक व्यवस्था का प्रभाव :—त्रेता और द्वापर की सन्धि काल में कर्मकाण्ड की धार्मिक प्रधानता समझ पड़ती है। वर्णाश्रम भी जड़ पकड़ चुका था। इधर सत्युग के उत्तरार्ध से फिर किसी नए देवासुर संग्राम का भी कथन नहीं पाया जाता। सामूहिक शासन पद्धति की प्रणाली शिथिल होती जा रही थी।

अर्थात् जब विजातियों से संग्राम की आशंका न रही तो सामूहिक शक्ति की उपेक्षा होना सहज ही है क्योंकि एक ऐसे महान विस्तृत देश में, एक सा शासन और निरीक्षण दुस्तर है। सामाजिक सम्पन्नता के ध्येय से शासक की तत्परता और सामीप्य दोनों ही प्रजा के ज्ञान और धन के वर्धक हो सकते हैं। अतः देश में अनेक राज्यों और राजाओं का अभ्युदय होने लगा।

सुख समृद्धि की दशा में मनुष्य की मनोवृति विलासिता अथवा ज्ञानोपार्जन की ओर चलती रहती है। समाज की सामयिक स्थिति के अनुसार कभी ज्ञानार्जन की ओर तो कभी (समाज की प्रतिकूल स्थिति होने पर) विलासिता की ओर। वह मुसल्मानी युग न था। ऋषि प्रणीत संस्कृत समाज विलासिता मार्ग पर कैसे जाय, अतः वह आध्यात्मिक पथ पर आरूढ़ रहा। मध्य भारत (उस समय के) में यह सिद्धान्त विशेष लागू था क्योंकि विजातियों के विघ्नोत्पात् की यहाँ तक गंध पहुँचने का भी भय न था। फल यह हुआ कि देश का शिक्षित सभ्य समुदाय उसी ओर आकृष्ट हुआ। ब्राह्मणवर्ण का नेतृत्व था इसलिए परोक्ष रूप में उनके प्रति समग्र समुदाय की सहानुभूति यथोचित भाव से थी।

उक्त मनोवृत्ति की पुष्टि विश्वामित्र-वशिष्ठ के उस आख्यान से होती है जिसका उल्लेख पहले आ चुका है। क्षत्री विश्वामित्र को अपने राजबल के सामने किसी ऐसी शक्ति का गुमान भी न था कि जिसका अनुभव उन्हें वशिष्ठ के आश्रम में हुआ। यह आश्रमवासी तपस्वी महात्मा ब्राह्मण यद्यपि दीन एवं असहाय रूप में देखे जाते थे किन्तु उनका ज्ञान, शक्ति एवं लोकोपकारिता में जनता का हृदय था जो महान शक्ति थी राजबल की अपेक्षा उस शक्ति में दो गुण विशेष है—एक तो वह अमूल्य है, दूसरे अदम्य। पैसे से मोल लिए हुए सैनिकों में वह बात नहीं हो सकती। महात्मा गाँधी का अस्तित्व आज भी इस तथ्य को चरितार्थ कर रहा है।

२. आध्यात्मिक साहित्य

यम और नचिकेता के सम्वाद से ज्ञात होता है कि उस युग के बालक भी आत्मज्ञान के मुकाबले में सांसारिक वस्तुओं को न्यूनतम समझते थे। नचिकेता का उपाख्यान कठोपनिषद् में आता है। नचिकेता जब बालक था तब उसके पिता ने प्रचुर दान किया जिसमें बहुत सी बूढ़ी गौएँ भी थीं। तब नचिकेता ने पिता से पूछा कि आप मुझे किसको देंगे। उत्तर न, मिलने पर उसने फिर आग्रह किया। बारम्बार आग्रह किए जाने पर पिता ने क्रोधित होकर कहा कि मैं तुम्हें यमराज को दूँगा। तब नचिकेता तुरन्त यमराज की खोज में निकल पड़ा। अंततः यमराज के सन्मुख पहुँचने पर नचिकेता ने यमराज से यह जानने की प्रार्थना की कि मृत्यु

क्या है और आत्मतत्त्व क्या ? इस संदर्भ के बाद अब यम और नचिकेता की वार्ता उद्धृत की जाती है—

यमाचार्य :—बालक, तू मुझ से हाथी घोड़े माँग ले। स्वर्ण-रजत से पूर्ण सम्पत्ति का उपभोग कर। भूमि का लम्बा भूभाग माँग ले। लम्बी आजीविका तथा लम्बा जीवन माँग ले। धन की अनन्त श्री का सदुपयोग कर। ये सुन्दर-सुन्दर रथ, बाजे, दास-दासी आदि मैं तुमको देता हूँ। तू मौज से रह कर अपनी सेवा करवा।

नचिकेता—महाराज, यह सब पदार्थ आज हैं पर कल भी यह रहेंगे इसमें सन्देह है। साथ ही यह सब वस्तुयें इन्द्रियों के तेज को क्षीण करती हैं। कितना भी जीवन हो पर वे अल्प ही हैं। यह हाथी, घोड़े, धन, सम्पत्ति, दास-दासी आप ही रखिए। धन, वैभव से कभी भी मनुष्य को तृप्त नहीं किया जा सकता। जो आत्मा की अमरता का अनुभव कर रहे हैं, ऐसे अजर अमर, दृढ़-विश्वासी महापुरुष[1] का दर्शन हो जाने पर भी जरा-जीर्ण कलेवर में लड़खड़ाता हुआ पुरुष भोग-विलास की ही कामना में मग्न होकर आमोद-प्रमोद की कल्पना करे, यह कहाँ तक संगत है ? महाराज, हमें और कुछ नहीं चाहिए। हमें वह ज्ञान दीजिए जिससे मैं यह जान सकूँ कि मृत्यु क्या है और क्या है आत्मतत्त्व ?

यमराज निरुत्तर हो गए। मजबूरन उन्होंने मृत्यु सम्बन्धित तथ्य बताए और आत्मतत्व का भी निरूपण किया।

इस विवेचनीय विषय का प्रतिपादन कठोपनिषद् में बड़ी तत्परता के साथ किया गया है। इससे जान पड़ता है कि उस समय के बच्चे-बच्चे तक इतने विद्या-व्यसनी होते थे कि संसार के अलम्य लाभ को भी तुच्छ समझते थे। नचिकेता का नाम ऐसे ही मुनि कुमारों में है।

अनेक ऋषि महर्षि पिप्पलाद के पास पहुँचे और परं ज्ञात की जिज्ञासा की। तब ऋषि ने कहा—"भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं सवत्स्यथ" अर्थात् फिर भी हमारे यहाँ तप, श्रद्धा और ब्रह्मचर्य पूर्वक आप लोग निवास करें। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ऋषि लोग बड़े निष्ठावान होते थे। गहन विषयों की जानकारी के लिए जितना भी त्याग हो सकता था उतना त्याग वे करते थे और उस तत्त्व की परम अवधि जानकर ही शान्ति प्राप्त करते थे। उनमें ब्रह्मतेज और अदम्य उत्साह का शौर्य भरपूर रहता था।

नैमिषारण्य के कुलपति शौनक अपने ८०,००० विद्या रसिकों के साथ विहार करते थे। शौनक को महाशाल की उपाधि थी। उन्होंने अंगिरा से परा

---

१. स्वयं यमराज से तात्पर्य है।

तथा अपरा दोनों विद्यायें सीखी थीं। ऋग्वेद आदि अपरा विद्यायें हैं और परा वह विद्या है जिससे अविनाशी ब्रह्म का दर्शन होता है।

उपनिषदों की रचनायें जिस काल में हुईं वह बहुत ही शान्त वातावरण का समय था। रार्मण्य (जर्मनी) के विद्वान ड्यूसेन ने अपनी "उपनिषदों की फिलासफी" नामक पुस्तक में हमारे उपनिषदों को ईसा, मूसा और दाऊद के ग्रन्थों के तुल्य करके जनता के आगे डोंग पुस्तकवत् कर दिया है। इसी प्रकार अन्य मतावलम्बियों ने भी इन उपनिषदों को केवल डोंग पुस्तक समझा है। कुछ ऐसे ही लेखक उपनिषदों को भक्तों तथा कवियों की काल्पनिक उड़ान मानते हैं।

वास्तव में उपनिषदों के पढ़ने का समय तब आता है जब मनुष्य समाधि सिद्ध कर लेता है। अर्थात् जब मनुष्य में इतनी सामर्थ्य आ जाए कि वह पदार्थों को वाह्य इन्द्रियों से न देखकर आत्मतः देखने की शक्ति प्राप्त कर ले। इस हेतु उपनिषद् पढ़ने-पढ़ाने के वाग्विषय से बहुत दूर है। उनमें आत्मदर्शी महर्षियों की सूक्ष्म दृष्टियाँ विहार कर रही हैं।

औपनिषत् तत्त्व की सिद्धि तर्क या इन्द्रियगम्य बातों से नहीं हो सकता। कोई भी आत्मदर्शी इन्हें इन्द्रिय-गोचर नहीं करा सकता। हाँ, अभ्यास और वैराग्य के प्राबल्य से इनका आत्मतः दर्शन किया जा सकता है।

ऋषि लोग अत्यन्त श्रद्धालु होते थे। जिस विषय को वे गुरुओं से यथार्थतः नहीं समझ पाते थे उसे समझने के लिए जो कुछ कष्ट भी सहन करना पड़ता था उसे सहर्ष सहन करते थे। महर्षि श्वेतकेतु ने १५ दिन तक निराहार व्रत किया और आत्मतत्व का लाभ किया।

उस समय के राजपुरुष भी अध्यात्म विद्या में चढ़े-बढ़े थे। पांचाल देश के महाराज प्रवाहण जैवलि तो दर्शन के धुरंधर तत्ववेत्ता थे। पांचाल नरेश ने एक बार श्वेतकेतु से अनेक प्रश्न किए पर उन्होंने एक का भी उत्तर नहीं दिया।[1] प्रश्न इतने गूढ़ थे कि श्वेतकेतु के पिता महर्षि आरुणि भी उनका उत्तर नहीं जानते थे। महर्षि आरुणि ने तब बड़ी नम्रता से उन प्रश्नों का समाधान राजा से पूछा। तब उन्होंने यह विद्या ब्राह्मण को दे दी। महर्षि शिलक तथा दाल्भ्य को भी उन्होंने आत्म ज्ञान कराया था।[2]

महाराज पांचालपति आध्यात्म उन्नति में बहुत पहुँचे हुए महात्मा थे। उस समय की सामाजिक उन्नति का भी विषद वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ५।३।१।

२. वही, १।८।१-४।

है। इस मर्मस्पर्शी आख्यान को वृहदारण्यक उपनिषद्[1] में भी स्थान दिया गया है। इससे इस घटना की महत्ता तथा राजा के गौरव की चमत्कृति का आभास मिलता है। पांचाल की राजधानी कम्पिल (जिला फर्रुखाबाद) थी जो कन्नौज से पश्चिम गंगा तट पर है।

वैदिक काल के अश्वपति जैसे राष्ट्रपति का उल्लेख न करना कृतघ्नता होगी। अश्वपति एक विशाल गणतंत्र के अधिपति थे। उस समय राष्ट्र का पर्यायवाची शब्द अश्व भी होता था। इसी से राष्ट्रमेध यज्ञ को अश्वमेध यज्ञ भी कहते हैं तथा राष्ट्रपति को अश्वपति।

एक बार आरुणि आदि अनेकों ऋषियों के समागम होने पर अश्वपति ने बताया कि "हे ब्रह्मर्षियों, हमारे राष्ट्र में चोर नहीं हैं, मदिरा पीने वाले नहीं हैं, अनार्य नहीं बसते, स्वैरी पुरुष या उच्छृङ्खल नारियाँ यहाँ नहीं रहतीं, सभी घरों में यज्ञ होता है मैं स्वयं अग्निहोत्री हूँ"।

उस समय राजा ने बताया कि मेरा अन्न सर्वथा निर्दोष है, आप लोग ऐसे ग्रहण करें। तब उन सभी ऋषियों ने अश्वपति को साधुवाद दिया और कहा—राजन्, यह मानुष काल्पनिक आधार मनुष्यों का ही रहे, हमें आप उस वैश्वानर आत्मा की महिमा बताइये जिसे आप जानते हैं। इसके अनन्तर महाराज ने इस विद्या की प्रशस्ति की और उन ऋषियों को आत्मतः ग्रहण करा दिया।

काशी नरेश भी आत्मविद्या में प्रवीण गिने जाते थे। उन्होंने अनेक ऋषियों से ज्ञान दीक्षा ली तथा बहुतों को आत्मज्ञान का रचनात्मक साक्षात्कार कराया।

महाराज जनक तो बहुत ही प्रसिद्ध हो चुके हैं। शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय तो महाराज जनक की ही प्रशस्तियों से परिपूर्ण है। महाराज जनक की सभा में सदा ही आत्मवादी महर्षियों की शास्त्र चर्चा होती रहती थी। महर्षि याज्ञवल्क्य, गार्गी, उषस्ति, शाल्य, बन्दी और अष्टावक्र सरीखे विद्वान तथा विद्या रसिक शास्त्रार्थ में भाग लेते थे। जनक की राजसभा में अनेक स्त्रियाँ भी सदस्या थीं जो अपने वाक्य चातुर्य से बड़े-बड़े विद्वानों को भी प्रभावित करती थीं। गार्गी और सुलभा ने तो उच्चकोटि के शास्त्रार्थ भी किए थे।

९. कुशिक युग के कुछ स्थान

कुशिक काल के कतिपय कीर्तिवर्धन स्थानों का अब वर्णन किया जाता है। यह स्थान अब भी वर्तमान है किन्तु लम्बा समय व्यतीत होने के कारण इनके नाम अब बदले हुए हैं।

(१) **महोदय**—कन्नौज नगर को पर्यायवाची प्राचीन नाम महोदय होना

---

१. वृहदारण्यक उ० ६।१-१९।

पण्डित मंडली को स्वीकृत है। इस नाम का दूसरा नगर जानकारी पुरुषों ने पृथ्वी पर नहीं बताया है। आर्य मुखोज्वलकारी संज्ञा 'महोदय' इस नाम की स्वयं साक्षी है। आपद् ग्रस्त आर्यों को दैत्य, पराधीनता से पीड़ित शताब्दियों से स्वराज के इच्छुक जब ब्रह्मकुलभूषण प्रातस्मरणीय बाल ब्रह्मचारी वामन महाराज ने अवतार लिया और अपनी वाक्पटुता एवं चातुर्य से बलि बंधन से उद्धार किया, वैसे ही जैसे अहिंसा व्रती महात्मा गांधी ने अंग्रेजों के हाथ से देश को मुक्त कर स्वाधीन बना दिया है। वह ऋषिसेवित स्थल ब्रह्मावर्त पहले ब्रह्म निर्वेसित हुआ होगा। गंगा तट निवासी वेदपाठी ब्राह्मणों की क्षात्र संतति ने उन ऋषि गुरुओं की सेवा सुश्रूषा से एवं पतित पावनी जाह्नवी से अपने कुलों को उच्चतम बनाकर दक्षिण गंगा कूल पर अपना निवास स्थान स्थापित कर लिया। यह एक निर्लोभ एवं निर्लेप साधु मंडली के रूप में वेद विहित कर्मकांड में लग गए। परोपकारी वामन महाराज ने कोई अधिकार स्वयं ग्रहण नहीं किया। उन्होंने श्रुतिप्रेमी जनपद को राज्य वहन भार ऐसे ही दे दिया जैसे राष्ट्रपिता गांधी जी ने कांग्रेस को।

(२) **कौशाम्बी**—प्रयाग से लगभग ३० किलोमीटर की दूरी पर यमुना के किनारे कोसम नाम की नगरी है। चीनी यात्री हुयेनसांग के समय में (६२९-६४४ ई०) यह महानगरी थी और इसका बहुत बड़ा राज्य विस्तार था। इसमें महात्मा गौतम बुद्ध ने भी धर्म देशना करते-करते दो बार विचरण किया था जिस कारण बौद्ध साहित्य में कौशाम्बी का नाम बहुत आदर और आख्यान के साथ लिया जाता है। बौद्ध लोग इस स्थान की बहुत महत्ता बताते हैं और दर्शन करने आते रहते हैं। चीनी यात्री फाहियान के समय में (४०८-४१४ ई०) भी इस स्थान की बड़ी महिमा थी। उस समय यहाँ अनेक संघाराम, स्तूप, बिहार तथा चत्वर बने हुए थे।

तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय लोग बड़े ही उदार मितभाषी तथा विद्याव्यसनी होते थे। परस्पर स्नेह और विश्वास करते थे। विद्वानों, संन्यासियों का आदर होता था और माता-पिता की शुश्रूषा। लोग धार्मिक तथा सुभाषी होते थे। वर्ण गौर, सुन्दर, स्निग्ध तथा तेजस्वी होता था। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी नम्र विद्या-विनय सम्पन्न होती थीं।

कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि हस्तिनापुर जब गंगा जी में बह गया तब निराश्रित जन पाण्डुवंशी राजा कुशाम्बु के साथ यहाँ आ गए और तभी उनके द्वारा यह नगरी बसाई गई और उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध भी हुई। पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। कौशाम्बी बहुत पुरानी नगरी है। महाराज कुश के प्रमुख पुत्र और महर्षि विश्वामित्र के पितामह महाराज कुशाम्बु ने इस नगरी का

निर्माण किया था। कुशाम्बु अपने पिता के पास कान्यकुब्ज में रहते थे। विद्या-विनय में दक्ष होकर वे वहाँ से यहाँ आए। पिता की पुत्रों को आज्ञा हुई कि "पुत्रों, धर्म का स्थापन करो, प्रजा का पालन करने ही में परम श्रेय की प्राप्ति समझो।" इसी आज्ञा का चारों पुत्रों ने पालन किया। यह नगरी उन्हीं कुशाम्बु के नाम से प्रसिद्ध हुई।

उस समय यहाँ ब्रह्मधन की प्रशस्ति थी। सर्वत्र शान्ति थी। लोग निस्पृह, उदार तथा तेजः पूत होते थे। यह वैदिक काल का युग था इस हेतु चारों वर्ण अपने-अपने कर्तव्य पालन में लगे रहते थे।

इसी कौशाम्बी में महाराज परतय के पुत्र महाराज उदयन बहुत प्रसिद्ध शासक हो चुके हैं। पुराणों में उनका सविस्तार वर्णन मिलता है। पुराने काव्यग्रन्थों और नाटकों में भी उदयन का नाम आता है। कथा सरित्सागर[1] में भी इनकी महत्ता का दर्शन मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस बात की चर्चा की गई है कि अवन्तिपुरी के महाराज की कन्या श्रीमती वासवदत्ता का विवाह कौशाम्बी नरेश उदयन से हुआ था। महावंश और ललितविस्तर में भी इनका वर्णन मिलता है। उस समय कौशाम्बी की गिनती भारत के १९ प्रसिद्ध प्रधान नगरों में की जाती थी। हुयेनसांग ने भी एक चन्दन की प्रतिमा ऐसी देखी थी जिसे महाराज उदयन ने बनवाकर प्रतिष्ठित किया था। यह प्रतिमा महात्मा बुद्ध की थी।

बहुत दिनों तक यह भूभाग कान्यकुब्ज प्रदेश के अन्तर्गत रहा। कान्यकुब्जेश्वर महाराज हर्षवर्धन भी इस प्रान्त में आते-जाते रहते थे। अब तो यहाँ की जीर्ण-जटायें ही केवल कुछ स्मृति दिला रही हैं।

(३) **यज्ञाहुति**—प्राचीन काल में कान्यकुब्ज का देश दक्षिण में भी अति दूर तक व्याप्त था। उस समय लोग प्रायः याज्ञिक होते थे। यजुर्वेद से यज्ञ की प्रथा तो प्रसिद्ध है ही कि किसी समय यजुर्होता ब्राह्मणों से दक्षिण की भूमि लहलहा रही थी। जजौतिया ब्राह्मण उन्हीं महापुरुषों के वंशवर हैं। ललितपुर, महोबा (बुन्देलखण्ड) के तो बनिये भी अपने को जजौतिया बताते हैं। जान ऐसा पड़ता है कि क्रिया के लोप होने से तथा अभ्यास के छूट जाने से "त एव ब्राह्मणा वृषलत्वभागताः।"

जो हो, पास में महोबा से ३५ किलोमीटर की दूरी पर जजौती नाम का खंडहर है जो अब भी मौन होकर सुनने वालों को अपना भव्य अतीत बता रहा है। इसको आजकल खजुराहो कहते हैं। अबूरैहाँ, इब्नबतूता और हुयेन-सांग ने इसका नाम कहीं पर जजौती, कहीं पर जझौती और कहीं पर जझावती लिखा है। आज कल यह स्थान गगनचुम्बी खंडहरों में है। यहाँ पर ऊँची-ऊँची

पर्वत मालायें इधर-उधर पड़ी हुई हैं। पवन से स्पर्शित होकर यहाँ की झाड़ियाँ इसके लिए आहें भरती रहती हैं। उनका दुःख सार्थक भी है क्योंकि किसी समय यज्ञाहुती नाम की महानगरी यहीं पर थी। यह कान्यकुब्ज में मिश्रित पर दक्षिण प्रान्त की प्रधान राजधानी थी। यह बहुजनाकीर्ण बहुत विस्तीर्ण तथा कल्याण पूर्ण थी। अश्वों और हाथियों से, रथों से, मनुष्यों के अतिरिक्त यह सदा भरी रहती थी। सजी हुई दूकानें राजमार्ग के दोनों ओर विस्तार के साथ बढ़ी गई थीं।

हुएन-सांग के समय में (६२९-६४४ ई०) यहाँ पर ब्राह्मण राजाओं का शासन था। सन्यासियों की विपुलता थी। विद्या का सेवन बड़ी तत्परता से होता था। यहाँ बौद्ध धर्म का भी सम्मान था। बहुत से विद्यामठ और बुद्धमठ बने थे। आज दिन भी इन मठों की टूटी फूटी शिलाओं पर "ये धर्म हेतु प्रभवाः" ऐसा पाठ लिखा मिलता है। इससे उस समय की धार्मिक अभिरुचि का ज्ञान होता है। चौदहवीं सदी में यहाँ पर इब्नबतूता[1] आए थे। वह भी यहाँ के दुबले-पतले पर तेजस्वी सुन्दर महापुरुषों की विद्या, सौजन्यता, त्याग तथा धर्मरति की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। पौराणिकों के, जैनों के तथा बौद्धों के बने हुए बहुत से विद्यामन्दिर तथा मठ इस स्थान की गरिमा बताते हैं क्योंकि इस प्रकार के तथा इतनी संख्या में बने हुए मन्दिर और सभी सम्प्रदायों के मन्दिर किसी महानगर में ही सम्भव हो सकते हैं।

इसकी नगरी के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में याज्ञिक ब्राह्मणों ने इस नगरी को बसाया और इसे सर्व प्रकार की शोभा दी।

(४) **कम्पिल**—इसका प्राचीन नाम काम्पिल्य है जो प्राचीन समय में एक विशाल तथा समृद्ध नगर था। इस समय यह छोटा सा कस्बा है जो कन्नौज से पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर गंगा के दाहिने तट पर स्थित है। अब इसकी प्रतिष्ठा जैन तीर्थ के रूप में है और उत्तर प्रदेश में इसी रूप में इसकी विशेष ख्याति है। महाराज कुशनाभ के समय यह कान्यकुब्ज राज्य के अन्तर्गत था।

---

१. इब्नबतूता एक अफ्रीकी यात्री थे जो सन् १३३३ में सुल्तान मोहम्मद तुगलक के राज्यकाल में भारत आए थे। सुल्तान ने उसका स्वागत किया और उसे दिल्ली का प्रधान कार्जा नियुक्त किया जिस पद पर वह १३४२ ई० तक बना रहा। उसने अपनी भारत यात्रा का बहुमूल्य वर्णन किया है जिससे सुल्तान के जीवन और काल के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

कुशिक युग से इस नगर का नाम इस प्रकार सम्बन्धित है कि महाराज कुशनाभ ने जब घृताची से उत्पन्न अपनी १०० पुत्रियों का विवाह ऋषि पुत्र ब्रह्मदत्त से किया तब दहेज में कम्पिल क्षेत्र का भूभाग भी दिया और तभी उस भूभाग का मुख्यालय कम्पिल हुआ। ब्रह्मदत्त इसी भूभाग के शासक हुए। बाद में इसका नाम पांचाल हुआ। ब्रह्मदत्त के समय में वह काम्पिल्य नाम से जाना जाता था, ऐसा अनुमान है।

बाद में महाभारत के समय में पांचाल प्रदेश दो भागों में विभाजित हो गया—उत्तर पांचाल तथा दक्षिण पांचाल जिनकी राजधानियाँ क्रमशः अहिच्छत्र और काम्पिल्य थी। यह विभाजन द्रुपद और द्रोणाचार्य के बटवारे के नाम से जाना जाता है और जो महाभारत के समय में हुआ था।

कम्पिल सम्बन्धी अन्य जानकारी आगे के एक अलग अध्याय में मिलेगी (अ० १०—महाभारत काल में कन्नौज; कंपिल नगर का उत्कर्ष)।

●

अध्याय–९

कुशिक वंशी विश्वामित्र की कथा—कान्यकुब्ज देश के शासक, बादहू ब्रह्मर्षि

सारपत्रक

१. कान्यकुब्ज देश के शासक ।

२. विश्वामित्र का वसिष्ठ से युद्ध तथा पराजय ।

३. बदले की भावना से विश्वामित्र का तप और वसिष्ठ पर पुनः आक्रमण एवं पराजय ।

४. विश्वामित्र का क्षत्री से ब्राह्मणत्व प्राप्त करना ।

५. श्री राम द्वारा विश्वामित्र के यज्ञ की राक्षसों से रक्षा ।

६ श्री राम का विश्वामित्र के साथ जनकपुर जाना, धनुष पर रोदा चढ़ाना और सीता के साथ विवाह ।

७. विश्वामित्र का हिमालय पर तप करने जाना, दशरथ आदि का अयोध्या लौटना, मार्ग में परशुराम से साक्षात् ।

८. विश्वामित्र की संस्तुति ।

९. विश्वामित्र सम्बन्धित शंकाओं का समाधान ।

१०. जात्योत्कर्ष अथवा कौशिकी आन्दोलन ।

११. विश्वामित्र प्रशस्ति ।

१. कान्यकुब्ज देश के शासक

विश्वामित्र की कथा अनेकों प्राचीन ग्रन्थों में आई है। वाल्मीकि रामायण में इसका विस्तृत वर्णन है। उसी पर वर्तमान अध्याय निर्धारित है।

विश्वामित्र क्षत्री कुल में उत्पन्न हुए थे और प्रारम्भ में कान्यकुब्ज देश के शासक थे। यथा—

राजा भूदेष धर्मात्मा दीर्घकाल मरिन्दमः ।
धर्मज्ञः कृत विद्यस्च प्रजानां च हिते रतः ॥

वा० रा० बालकाण्ड ५१/१७

अर्थात् पहले बहुत दिनों तक यहाँ बड़े धर्मात्मा, शत्रुनाशक सब विद्याएँ पढ़े हुए और प्रजापालन में तत्पर राजा रह चुके हैं। तथा—

विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम् ।
बहु वर्ष सहस्त्राणि राजा राज्यमकारयत् ।।

वा० रा० बा० का ५१/२०.

अर्थात् महातेजस्वी विश्वामित्र ने राजा होकर हजारों वर्ष तक पृथ्वी का पालन और राज्य किया ।

नोट (विश्वामित्र नाम का अर्थ)

महाभारत में वर्णित एक सूक्ष्म साम्वादिक इतिहास के प्रसंग विश्वामित्र ने स्वयं अपने नाम की व्याख्या की है । यह व्याख्या उन्होंने यातुधानी नामक एक कृत्या के प्रश्न के उत्तर में की थी, यथा—

विश्वे देवाश्च मे मित्रं मित्रमस्मि गवां तथा ।
विश्वामित्र मिति ख्यातं यातुधानि निबोध माम् ।।[1]

विश्वामित्र ने यातुधानी से कहा—यातुधानी ! तू कान खोल कर सुन ले, विश्वदेव मेरे मित्र हैं तथा गौओं और सम्पूर्ण विश्व का मैं मित्र हूँ, इसलिए विश्वामित्र के नाम से विख्यात हूँ ।

इनके पिता महाराज गाधि थे जिन्होंने भी कान्यकुब्ज देश पर बहुत समय तक राज्य किया था । गाधि के पिता महाराज कुशनाभ थे और कुशनाभ महाराज कुश के पुत्र थे । इन्हीं के नाम से विश्वामित्र का वंश कुशिक वंश से विख्यात था और स्वयं विश्वामित्र को कौशिक भी कहा जाता था । महाराज कुश प्रजापति के पुत्र थे ।

राज काज में विश्वामित्र बड़े प्रवीण थे । वे धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते थे उसे प्रसन्न रखते थे । प्रजा उनके कहने पर चलती थी । कर्मचारियों का वेतन नियत समय पर दिया जाता था। राज्य के शत्रुओं को पराजित किया गया था । सेना सन्तुष्ट थी और धनागार परिपूर्ण था ।[2]

विश्वामित्र बातचीत करने में बड़े चतुर थे, यथा—

वाक्यं वाक्य विशारदः ।[3]

सदैव न्यायोक्त बात कहते थे । शासन काल में उन्होंने अपना कोई कर्तव्य बाकी नहीं रखा था ।[4]

---

१. भ० चा० अ० पर्व अन्तर्गत दान धर्म पर्व ९३/९२ ।
२. देखिये वा० रा० ५२/७-१० ।
३. वा० रा० ६६/४ ।
४. वा० रा० ५१/११ ।

असुर-विनाश योजना में विश्वामित्र का सहयोग :—महाराज दशरथ के समय में राक्षस-राज रावण के नेतृत्व में भारत में असुरों का अत्याचार बहुत बढ़ गया था। अन्ततः जब दैत्य, राक्षस, असुर और दानवों के अत्याचार और अनाचार अन्तिम सीमा तक पहुँच गए तब भारत में आर्य सम्राटों की सभ्यता की रक्षा करना आवश्यक हो गया। उस समय देवता, आर्य, गन्धर्व और बानरों ने अपने नेताओं की एक विद्वत्-परिषद् को आमंत्रित किया। उस सभा के सदस्यों में महाराज विश्वामित्र भी थे। मुख्य सदस्यों के नाम तथा सूक्ष्म परिचय निम्न प्रकार हैं—

देवर्षि नारद	आर्यावर्त की ओर से देवताओं के यहाँ प्रधान राजदूत।
वशिष्ठ	कौशल (अयोध्या) महाप्रदेश के राजगुरु तथा प्रधान मंत्री।
विश्वामित्र	गाधिप्रदेश (कान्यकुब्ज देश) कौशाम्भी आदि के नेता राजर्षि।
मुनि अगस्त्य	दक्षिण प्रदेश तथा आर्य, बानर एवं राक्षस सीमा पर स्थित महर्षि। अस्त्र-शस्त्र के विद्या आचार्य तथा अस्त्रागार के अध्यक्ष।
भरद्वाज	प्रयाग महागण राज्य के राजगुरु।
बाल्मीक	ब्रह्मावर्त के महर्षि तथा अस्त्र-शस्त्र, धनुर्वेद के आचार्य।
श्रृंगी ऋषि	कम्पिल तथा पांचाल प्रदेश के आचार्य।
शतानन्द	राजा जनक के राजगुरु।

उक्त सभा में यह प्रस्ताव पास किया गया कि भारतीय राजाओं का संगठन किया जाए और परस्पर के मनमुटाव को दूर कर एक संयुक्त मोर्चा बनाया जाए।

यह भी तय हुआ कि सब लोग अच्छे और विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करें। इस कार्य के लिए राजा दशरथ को अग्रगण्य किया गया किन्तु वह पुत्र न होने के कारण उदासीन हो रहे थे। इसलिए यह निश्चय हुआ कि वशिष्ठ और श्रृंगी ऋषि उन्हें पुत्रेष्ठि यज्ञ करने का परामर्श दें क्योंकि अभी वे पुत्र उत्पन्न करने के योग्य हैं। देवर्षि नारद रूस और चीन के दक्षिणी भाग (ब्रह्म देश तथा तिब्बत) से कुछ देवता, सेना शिक्षक और गंधर्वों का एक दल भारत भेज दें जिससे वह बानर प्रदेश में जो राक्षसों से भयभीत हो रहा है आकर बानरों (अर्ध विकसित जातियाँ) का संगठन करे और उन्हें सैनिक शिक्षा दें। इन कार्यक्रमों के साथ सभा विसर्जित कर दी गई।[1]

---

१. भारतीय राजनीति का इतिहास, प्रथम भाग (रामायण काल), पृ० ९-१०।

२. विश्वामित्र का वसिष्ठ से युद्ध तथा पराजय

लम्बे अरसे तक प्रजापालन करने के बाद एक बार विश्वामित्र अपनी सेना के साथ दौरा करने निकले। अनेक नगरों को मझाते हुए वे वसिष्ठ मुनि के आश्रम में पहुँचे वह आश्रम—

वसिष्ठस्याश्रम पदं ब्रह्मलोकमिवापरम्।
ददर्श जयतां श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः ।।५१/२८

अर्थात् वसिष्ठ का आश्रम मानों दूसरा ब्रह्मलोक ही था। वीर श्रेष्ठ महाबली राजा विश्वामित्र ने वसिष्ठ के ऐसे आश्रम को देखा।

विश्वामित्र ने मुनि को प्रणाम कर कुशल मंगल पूछी तदुउपरान्त मुनि ने विश्वामित्र को इस प्रकार सम्बोधित किया—

कच्चित्ते कुशलं राजन् कच्चिद् धर्मेण रंजयन्।
प्रजाः पालयसे वीर राजवृत्तेन धार्मिक ।।५२/७।।

अर्थात् हे राजन ! आपके यहाँ कुशल तो है। आप धर्म पूर्वक प्रजा को प्रसन्न रखते हैं और राजवृत्ति से प्रजा का पालन तो करते हैं।

इस संदर्भ में योग्य पाठक को यह स्मरण दिलाना है कि शास्त्रकारों ने "राजवृत्ति" चार प्रकार की कही है, यथा—

न्यायेनार्जनम् अर्थस्य वर्धनं पालनं यथा।
सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधा ।।

अर्थात्, राजवृत्ति चार प्रकार की है, यानी—

(१) न्यायपूर्वक धन को उपार्जित करना,
(२) न्यायपूर्वक उसको बढ़ाना,
(३) न्यायपूर्वक उसकी रक्षा करना, और
(४) जो सत् पात्र हों उनको दान देना।

इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों के उत्तर में विश्वामित्र ने कहा सर्वत्र कुशलम्।

इसके बाद वसिष्ठ ने विश्वामित्र से अपनी सेना सहित उनका आतिथ्य स्वीकार करने का आग्रह किया जिस पर कुछ तकल्लुफ के बाद विश्वामित्र ने 'तथास्तु' कह कर अनुमति दी। तब वसिष्ठ ने अपनी कामधेनु शबला से सब प्रकार के खाद्य व्यंजनों को प्रस्तुत करने के लिए कहा। शवला ने जिसको जो वस्तु अपेक्षित थी उसे वहीं पहुँचा दी। नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थों के ढेर लगा दिए। सब लोग खा पीकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और पुरोहित, मंत्रियों सहित विश्वामित्र बड़े सन्तुष्ट हुए।

शबला की अद्भुत कार्यकुशलता से विश्वामित्र चकित रह गए और उनके मन में उसे पाने की तीव्र वासना उत्पन्न हुई। अतः उन्होंने वसिष्ठ से प्रार्थना की कि वे एक लाख गौएँ ले लें और शबला को उन्हें दे दें और भी अनेकों प्रलोभन दिए जैसे सोने के घंटों, आभूषणों आदि से सुसज्जित १४,००० हाथी, सोने के १०८ रथ, ११,००० घोड़े, करोड़ों गौएँ, अपरिमित रत्न और सुवर्ण। किन्तु सभी प्रलोभनों और दलीलों के उत्तर में मुनि ने शबला को देने से इन्कार कर दिया। यथा—

अदोमूलाः क्रियाः सर्वा मम राजन् न संशयः।
बहुना कि प्रलापेन दास्ये काम देहिनीम् ॥५३/२५॥

अर्थात् हे राजन् बहुत प्रलाप करने की क्या आवश्यकता है। सारांश यह कि मैं सब क्रिया की मूल इस कामधेनु को नहीं दूँगा।

तब विश्वामित्र बरजोरी शबला को बाँध कर ले जाने लगे। वसिष्ठ ने कुछ न कहा किन्तु शबला बंधन छुटा कर उनके पास आई और दुःख प्रकट किया—

भगवन् किं परित्यक्ता त्वयाऽहं ब्रह्मणः सत ॥५४/७॥

अर्थात् हे भगवन् ! हे ब्रह्मा के पुत्र ! क्या आपने मुझे त्याग दिया ?

वसिष्ठ ने उसे समझाने का प्रयत्न किया किन्तु वह न मानी। उसने 'हुँमा' शब्द कह कर सैकड़ों म्लेक्ष उत्पन्न कर दिए जो विश्वामित्र की सेना को नष्ट करने लगे। तब स्वयं विश्वामित्र रथ में बैठ कर युद्ध करने लगे। किन्तु अन्त में उनकी सब सेना नष्ट हो गई। तब उनके १०० पुत्र वसिष्ठ पर आक्रमण करने लगे। किन्तु मुनि ने 'हुंकार' कर उन सबको भस्म कर डाला—

हुँकारेणैव तान् सर्वान् ददाह भगवानऋषिः।[1]

अपने पुत्रों तथा सेना के नष्ट हो जाने पर विश्वामित्र पक्ष रहित पक्षी की तरह दीन हो गए। वे दर्प रहित और हतोत्साह होकर अत्यन्त दुःखी हुए।

३. बदले की भावना से विश्वामित्र का तप तथा वसिष्ठ द्वारा पुनः पराजय

बचे हुए एक पुत्र को राज्य सौंप और क्षात्र धर्म से राज्य करने का उसे उपदेश दे, वे स्वयं वन को चल दिए।[2] हिमालय में किन्नरों और उरगों के

---

१. वा० रा० ५५/६।

२. स पुत्रमेकं राज्याय पालयेति नियुज्य च।
प्रथिवीं क्षत्रधर्मेण बनमेवान् व पद्यत ॥ वा०रा० ५५/११ ॥

रहने के स्थान में शिव को प्रसन्न करने के लिए विश्वामित्र तपस्या करने लगे ।[1]

तप से प्रसन्न हो शिव ने विश्वामित्र से वर माँगने को कहा । तब विश्वामित्र ने वे सब अस्त्र माँग लिए जो देवों, दानवों, गन्धर्वों, यक्षों और राक्षसों में प्रचलित थे । साथ ही रहस्यमयी धनुर्विद्या भी प्राप्त कर ली ।

तदनन्तर अभिमान में डूबे हुए विश्वामित्र ने वसिष्ठ के आश्रम पर फिर आक्रमण किया और उसे विध्वंस कर वहाँ के सब जीवधारियों का नाश किया । किन्तु वे वसिष्ठ को न हरा सके । वसिष्ठ जी ने उनके सभी अस्त्रों को केवल अपने दंड (ब्रह्म दंड) से बेकार कर दिया । सब अस्त्रों के विफल होने पर पर विश्वामित्र ने परम शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया किन्तु उसे भी वसिष्ठ ने अपने ब्रह्मतेज से नष्ट कर दिया । बादहू वसिष्ठ ने अत्यन्त भयभीत रूप धारण किया और उनका ब्रह्म दंड जल उठा । उसकी प्रचंड अग्नि से सर्वनाश होने का भय उत्पन्न हो गया । तब अन्य मुनियों ने वसिष्ठ से उसे शान्त करने की स्तुति की जिसे मुनिश्रेष्ठ ने मान लिया ।

इन सब बातों से तिरस्कृत हो विश्वामित्र ने ठंडी सासें ली और बोले—

धिग्वलं क्षत्रिय बलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।[2]

(क्षत्री बल को धिक्कार है, ब्रह्म तेज ही यथार्थ बल है ।)

४. विश्वामित्र का क्षत्री से ब्राह्मणत्व प्राप्त करना

ब्रह्मतेज की प्रशंसा करने के बाद विश्वामित्र ने कहा—

तदेतत् समवेक्ष्याहं प्रसन्नेन्द्रिय मानसः ।
तपो महत् समास् थास्ये यद्वै ब्रह्मत्व कारणम् ।। ५६/२४ ।।

(अब मैं क्षत्रिय स्वभाव रोष को त्यागकर ब्रह्मत्व प्राप्त करने के लिए तप करूँगा जो ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का कारण है अर्थात् उपाय है) ।

ऐसा कहकर वे दक्षिण दिशा में चले गए जहाँ उन्होंने घोर तपस्या की ।

---

१. सगत्वा हिमत् पार्श्वाकिन् नरोरगसेवितम् ।
महादेव प्रसादार्थं तपस् तेपे महातपाः ।। वही, ५५/१२ ।।

२. पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—
धिग्वलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।
एकेन ब्रह्म दंडेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ।। ५६/२३ ।।
(क्षत्रिय बल को धिक्कार है । ब्रह्मतेज ही का बल यथार्थ बल है । अकेले ब्रह्म दंड ने मेरे सब अस्त्रों को बेकाम कर दिया ।)

अपनी रानी को भी वे साथ लेते गए जिनसे उनके ५ पुत्र हुए—सत्यवादी, महारथी, दृविष्यन्द, मधुष्यन्द और दृढ़नेत्र।

तप के समय विश्वामित्र ब्रह्मचर्य का पालन न कर सके, फलस्वरूप वे तप से भ्रष्ट हो गए। अतः ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए एक सहस्र वर्ष लगे। तब ब्रह्मा ने उनको राजर्षि की उपाधि दी। किन्तु इससे वे प्रसन्न नहीं हुए क्योंकि वे ब्रह्मर्षि पद चाहते थे। अतः वे फिर कठोर तपस्या में लग गए।

इसी बीच राजा त्रिशंकु ने सदेह स्वर्ग जाने के लिए वसिष्ठ से यह यज्ञ कराने की प्रार्थना की। उनकी अस्वीकृति पर त्रिशंकु वसिष्ठ के पुत्रों के पास गए। वसिष्ठ सूर्यवंशी राजा त्रिशंकु के गुरु थे। अतः वसिष्ठ के पुत्रों ने यह जानकर कि राजा त्रिशंकु गुरु वशिष्ठ के आदेश को उल्लंघन कर हम लोगों के पास आए हैं, उन्हें चांडालत्व प्राप्त होने का शाप दिया। तब त्रिशंकु विश्वामित्र के पास गए और अपना अभीष्ट निवेदन किया।

विश्वामित्र ने त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेजने की प्रतिज्ञा की और इस हेतु त्रिशंकु से एक यज्ञ करवाने लगे। उसमें भाग लेने के लिए देवतागण निमंत्रित होने पर भी नहीं आए। इस पर क्रुद्ध हो विश्वामित्र ने अपने तपोबल से त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग पथ पर भेजा। इन्द्र आदि देवताओं को यह अच्छा न लगा और त्रिशंकु को पृथ्वी पर वापस होने के लिए इन्द्र ने उसे स्वर्गपथ से नीचे की ओर गिराया। गिरते हुए त्रिशंकु ने 'बचाइये', 'बचाइये' चिल्लाकर विश्वामित्र को सम्बोधित किया। तब वे कुपित होकर बोले 'तिष्ठ-तिष्ठ' (वहीं ठहर, वहीं ठहर) तब त्रिशंकु बीच ही में ठहर गए।

तदनन्तर विश्वामित्र स्वर्गसहित नई सृष्टि रचने में तत्पर हुए। इस पर देवतागण बड़े असमंजस में पड़ गए और विश्वामित्र को मनाने का प्रयत्न किया। देवताओं ने यह स्वीकार कर लिया कि त्रिशंकु सदा सुखपूर्वक आकाश में रहेंगे, इस शर्त पर विश्वामित्र ने नई सृष्टि की रचना बन्द कर दी। अस्तु

अब, दक्षिण दिशा में विघ्न होने के कारण विश्वामित्र पश्चिम में जाकर उग्र तप करने लगे। इसी बीच अयोध्या के राजा अम्बरीष का यज्ञ प्रारम्भ करना। यज्ञ पूर्ण होने के पहिले ही यज्ञपशु, चोरी चला गया। तब पुरोहित ने राजा से अनुरोध किया कि कोई यज्ञीय नर पशु लाया जाए। ऋषि ऋचीक ने बहुत सी गौओं के बदले अपने विचले पुत्र शुनःशेप को बेंच दिया। शुनःशेप को लेकर राजा ने प्रस्थान किया। रास्ते में उन्होंने पुष्कर में विश्राम किया। शुनःशेप ने विश्वामित्र के पास जाकर अपने प्राण बचाने और अम्बरीष का अधूरा यज्ञ पूर्ण होने के लिए प्रार्थना की। विश्वामित्र ने शुनःशेप के बदले अपने पुत्रों को नर पशु बनकर राजा के साथ जाने का आज्ञा दी किन्तु किसी पुत्र ने

उसे स्वीकार नहीं किया। विश्वामित्र ने उन्हें श्राप दे दिया। बादहू विश्वामित्र के बतलाए मंत्रों का जप करने से शुनःशेप की प्राण रक्षा हुई। अम्बरीष का यज्ञ भी समाप्त हुआ।

जब विश्वामित्र के तप का पुरश्चरण पूरा हुआ तब ब्रह्मा सहित सब देवता उनको तप का फल देने के लिए आए। ब्रह्मा ने मुनि को सम्बोधन करके कहा कि "हे विश्वामित्र ! तुम्हारा मंगल हो, तुम अपने उपार्जित कर्मों द्वारा ऋषि हुए।" इसका अर्थ यह था कि अभी तुमको ब्रह्मर्षि पद अथवा ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं। इससे विश्वामित्र सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि वह तो ब्रह्मर्षि पद के लिये तपस्या कर रहे थे। अतः ब्रह्मादि देवताओं के अपने लोकों को लौट जाने पर वह फिर तपस्या में लग गए।

बहुत समय बाद मेनका नामक अप्सरा पुष्कर में स्नान करने आई। विश्वामित्र उसके सौन्दर्य पर आसक्त हो गए और उसे अपने आश्रम में रख लिया जहाँ वह १० वर्ष तक रही। इससे उनकी तपस्या में बड़ा विघ्न पड़ा। अपनी कमजोरी को जान कर वे लज्जित हुए। विचारने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि यह विघ्न देवताओं द्वारा डाला गया है। उन्होंने तब मेनका को आश्रम से विदा किया।

अब पुष्कर क्षेत्र छोड़ कर वे उत्तर दिशा में हिमालय पर चले गये और वहाँ कौशकी नदी के तट पर उग्र तपस्या प्रारम्भ की। बाद में ब्रह्मा ने उनको महर्षि की पदवी प्रदान की यानी ऋषियों में मुख्य। किन्तु वह तो ब्राह्मण (ब्रह्मर्षि) होना चाहते थे जिसपर ब्रह्मा ने कहा कि अभी तुम पूर्ण जितेन्द्रिय नहीं हो पाए, अभी और तप करो। तब उन्होंने बिना सहारे ऊपर को बाँह उठाए और केवल वायु से पेट भर कर घोर तपस्या शुरू की।

इस तपस्या से इन्द्रादि देवता बहुत घबड़ाए। उनके तप को भंग करने के लिए इन्द्र ने रम्भा अप्सरा को भेजा। क्रोध में आकर विश्वामित्र ने रम्भा को शाप दिया। किन्तु बाद में सोचा कि क्रोध के कारण पूर्व तप नष्ट हो गया है अतः आगे कभी क्रोध न करने का संकल्प किया।

इस सम्बन्ध में बाल्मीक रामायण के निम्न श्लोक दृष्टव्य हैं--

कोपेन सुमहातेजास् तपोपहरणे कृते।
इन्द्रियैरजिते राम, न लेभे शान्तिमात्मनः ।। ६४/१६ ।।

(महाराज जनक के पुरोहित शतानन्द श्री राम से कहते हैं--हे राम ! क्रोध करने से विश्वामित्र का तप नष्ट हो गया। वे अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सके अर्थात् क्रोध को न रोक सकें। अतः उन्हें शान्ति न मिली।)

बभूवास्य मनश्चिन्ता तपोपहरणे कृते ।
नैव क्रोध गमिष्यामि न च वक्ष्यामि किंचन ।। ६४/१७ ।।

(तप के नष्ट होने पर उन्होंने प्रतिज्ञा की कि आगे मैं कभी न तो किसी पर क्रोध करूँगा और न किसी से कुछ बातचीत ही करूँगा अर्थात् मौन रहूँगा ।)

यह संकल्प कर विश्वामित्र उत्तर दिशा को त्याग कर पूर्व दिशा में जाकर मौनव्रत धारण कर अतुलित तप करने लगे बीच में अनेकों विघ्न उपस्थित हुए किन्तु उनके अन्तःकरण में क्रोध न आया ।

निराहार तप करने के बहुत समय बाद मुनि आहार करने को बैठे । तभी ब्राह्मण के रूप में आकर इन्द्र ने उनसे भोजन माँगा । विश्वामित्र ने सारा भोजन उन्हें दे दिया और फिर तप में लग गए ।

मुनिप्रवर के उग्र तप से दिशायें प्रकाश रहित होने लगीं (अर्थात् उनकी तपस्या के तेज से सबका तेज छिप गया) । समुद्र क्षुब्ध हो गए और पर्वत फटने लगे । सूर्य प्रभावहीन पड़ गया, पृथ्वी काँपने लगी और वायु की गति अवरुद्ध हो गई । तब देवतागण ब्रह्मा के पास जाकर विनय करने लगे कि यदि आप इन्हें ब्रह्मर्षि पद नहीं देंगे तो इनके तप से सृष्टि नष्ट हो जाएगी ।

तब देवताओं सहित ब्रह्मा ने विश्वामित्र के पास जाकर उन्हें ब्राह्मणत्व पद प्रदान किया । यथा––

ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसास्य सुतोषिता ।
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्त वानसि कौशिक ।। ६५/१९ ।।

(हे ब्रह्मर्षि ! हम तुम्हारा स्वागत करते हैं । अर्थात् तुम्हें बधाई देते हैं) । हम तुम्हारी तपस्या से भली-भाँति सन्तुष्ट हुए । हे कौशिक ! तुमने अपने उग्र तप से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ।)

तब विश्वामित्र ने आग्रह किया कि चारों वेदों के ज्ञाता ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठ जी भी "ब्रह्मर्षि" कहें । देवताओं द्वारा वसिष्ठ वहाँ लाए गये और उन्होंने विश्वामित्र से मेल कर लिया और कहा––

ब्रह्मर्षिस् त्वं न सन्देहः सर्वं सम्पत् स्येत तव ।। ६५/२५

(तुम्हारे ब्रह्मर्षि होने में अब कुछ भी सन्देह नहीं । अब तो सब ने तुम्हारा ब्रह्मर्षि होना मान ही लिया है ।)

विश्वामित्र ने मुनिवर वसिष्ठ का पूजन किया । तदनन्तर तप करते हुए पृथ्वी पर भ्रमण करने लगे ।

इस प्रकार विश्वामित्र क्षत्री से ब्राह्मण हो गए और ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त किया । मुनियों में इनका श्रेष्ठ स्थान है और तप की तो यह साक्षात् मूर्ति ही हैं ।

५. श्रीराम द्वारा विश्वामित्र के यज्ञ की राक्षसों से रक्षा

ब्राह्मत्व प्राप्त करने के उपरान्त विश्वामित्र अपना जीवन यज्ञ, पूजन, जप आदि में व्यतीत करने लगे। किन्तु उनके यज्ञ में मारीच और सुबाहु महाबली राक्षस विघ्न डालते थे। जब बहुत दिनों तक किया हुआ यज्ञ पूरा होने को होता था तब वे राक्षस यज्ञ वेदी पर मांस और रुधिर बरसाते थे। इससे उनका नियम भ्रष्ट हो जाता था और वे निरुत्साहित यज्ञ से हट जाते थे। इस चर्या में क्रोध वर्जित होने के कारण वे उनको शाप भी नहीं दे सकते थे।

अतः यज्ञ रक्षार्थ विश्वामित्र ने महाराज दशरथ के पास जाकर श्रीराम को माँगा। किन्तु राजा ने उन्हें देने से इन्कार कर दिया। कहा—

वालो ह्यकृत विद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम्।
न चास्त्र बल संयुक्तो न च युद्ध विशारदः ॥
(वा० रा० २०/७)

अर्थात् श्रीराम अभी निरे बालक हैं, वे न तो अनुभवी हैं, न शत्रु के बलाबल को समझ सकते हैं और न युद्ध विद्या में कुशल ही हैं।

बाद में वसिष्ठ ने दशरथ को समझाया—

एवं वीर्यो महातेजां विश्वामित्रो महातपाः।
न राम गमने राजन् संशयं गन्तु मर्हसि ॥ २१/२० ॥

अर्थात् हे राजन्! इन महातेजस्वी, महातपस्वी और पराक्रमी विश्वामित्र के साथ श्री राम को भेजने में तनिक भी न डरिये या सन्देह ही कीजिए।

तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः।
तव पुत्र हितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते ॥ २१/२१ ॥

अर्थात् इन विश्वामित्र में इतनी सामर्थ है कि ये उन राक्षसों को स्वयं मार सकते हैं। यह तो आप के पुत्र की भलाई के लिए ही उन्हें आपसे माँगने आये हैं।

तब प्रसन्नतापूर्वक महाराज ने श्रीराम और लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ कर दिया। आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई और देवताओं ने नगाड़े बजाए। अयोध्या में भी राजकुमारों को जाने के समय शंख ध्वनि की गई और नगाड़े बजाए गए।

मार्ग में विश्राम स्थान पर विश्वामित्र ने श्री राम को बला और अति बला नामक विद्याएँ सिखाईं। यह विद्याएँ बड़ी प्रभावशाली थीं। इनको ज़ानने वालों में निम्न गुण व्याप्त हो जाते हैं—

(१) बाहुबल में उसकी समानता कोई नहीं कर सकता।

(२) सौभाग्य, दाक्षिण्य, ज्ञान और चतुराई में वह अद्वितीय होगा।
(३) भूख प्यास भी उसे नहीं सताती।
(४) किसी बात का उत्तर देने में भी कोई उसकी समानता नहीं कर सकता।

सूक्ष्म में--

बलां अतिबलां, चैव पठतस्तत्र राघव।
विद्या द्वयमधोयाने यश्चाप्यतुलं त्वयि ॥ ५३/१७ ॥

अर्थात् हे राघव! बला और अति बला इन दोनों विद्याओं को पढ़ लेने से तुम्हारा अतुल यश सर्वत्र फैल जाएगा—ऐसा विश्वामित्र ने श्री राम से कहा।

रास्ते में महाबली यक्षणी ताड़का का बन पड़ा। यह आस-पास के नगरों में बड़ा उपद्रव करती थी जिससे जनता बड़ी पीड़ित थी। विश्वामित्र के आदेश से श्री राम और लक्ष्मण ने उसका बध किया यद्यपि पहले श्री राम जी स्त्री का बध करने में हिचकिचाए थे। यथा—

पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा।
राज्य भार नियुक्तानाम् एष धर्मः सनातनः ॥ ५५/१८ ॥

अर्थात् प्रजारक्षण के कार्यों के करने में भले ही दोष या पाप ही क्यों न लगे, किन्तु राज्य की रक्षा का भार उठाए हुए क्षत्रियों के लिए सब प्रकार प्रजा की रक्षा करना ही उनका सनातन धर्म है—ऐसा विश्वामित्र ने श्री राम से कहा।

रात्रि में सबों ने ताड़का बन में विश्राम किया। वहीं पर विश्वामित्र ने श्री राम को अनेकों अस्त्र दिए और दोनों राजकुमारों को अस्त्र फेंककर उनको लौटाने की विधि बतलाई।

जब विश्वामित्र सब अस्त्र दे चुके तब दिव्यरूप वे अस्त्र मूर्तिमान होकर श्री राम के सम्मुख उपस्थित हुए और नम्रता से बोले--

इमे स्म नर शार्दूल! शाधि किं करवास ते।
मानसः कार्यकालेषु साहाय्यं में करिष्यथ ॥ २८/१४ ॥

अर्थात् हे नर शार्दूल! हम उपस्थित हैं, क्या आज्ञा है। (इस पर श्रीराम ने उनसे कहा) तुम मेरे मन में बास करो और काम पड़ने पर मेरी सहायता करना।

"बहुत अच्छा" कह कर वे जहाँ से आए थे वहाँ चले गए।

तदनन्तर श्रीराम लक्ष्मण विश्वामित्र के आश्रम में पहुँचे। यह अत्यन्त रमणीक आश्रम सिद्धाश्रम[1] के नाम से विख्यात था। इसी में पहले विष्णु के अवतार महात्मा वामन ने तपस्या के लिए वास किया था। यहीं पर उन महातपा का तप सिद्ध हुआ था जिससे उसका नाम सिद्धाश्रम पड़ा था। उन्हीं वामन भगवान की भक्ति कर विश्वामित्र इस श्रमनाशक आश्रम का उपभोग करते थे।

वहाँ पहुँचने पर आश्रमवासियों ने श्रीराम का स्वागत किया। फिर श्री राम के कहने पर विश्वामित्र ने अपना यज्ञ तुरन्त आरम्भ किया। दोनों राजकुमार धनुप धारण कर रातों दिन बिना शयन किए यज्ञ की रक्षा करने लगे। यज्ञ छः दिन के लिए निर्धारित था। अन्तिम दिन मारीच, सुबाहु और उनके साथी राक्षस यज्ञ में विघ्न डालने को आए और उपद्रव करने लगे। श्री राम ने मानवास्त्र से मारीच को घायल किया और वह बहुत दूर समुद्र में जा गिरा। श्री राम ने उसे बलहीन कर दिया, किन्तु वध नहीं किया। बाद में सुबाहु सहित अन्य राक्षसों को नष्ट किया।

इस प्रकार यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। मुनियों ने श्रीराम की पूजा की और स्वयं विश्वामित्र ने प्रसन्न होकर श्रीराम को आशीर्वाद दिया।

६. श्रीराम का विश्वामित्र के साथ जनकपुर जाना, धनुष पर रोदा चढ़ाना और सीता के साथ विवाह

इसके बाद आश्रमवासी मुनियों ने राजा जनक की धनुष यज्ञ देखने को चलने के लिए विश्वामित्र से प्रार्थना की। मुनियों और दोनों राजकुमारों के साथ विश्वामित्र जनकपुर पहुँचे।

महाराज जनक उस समय यज्ञ कर रहे थे। आगन्तुकों का स्वागत करने के बाद उन्होंने विश्वामित्र से उनकी सेवा करने के लिए आज्ञा देने को कहा। बातचीत करने में चतुर (वाक्यं वाक्यविशारदः, ६६/४) मुनि ने कहा कि श्रीराम और लक्ष्मण उस दिव्य धनुष को देखना चाहते हैं जो आपके यहाँ रखा है। तब जनक ने इस धनुष का इतिहास बता कर कहा कि मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो पुरुप इस धनुष का रोदा चढ़ा देगा उसके साथ मैं अपनी कन्या सीता का विवाह करूँगा। इस प्रकार वर के पराक्रम की परीक्षा किए बिना मैं कन्या किसी को न दूंगा। बहुत से राजा मिथिलापुरी में इस हेतु इकट्ठा हुए किन्तु कोई भी धनुष को उठा भी न सका।

---

१. आजकल सिद्धाश्रम को बक्सर कहते हैं जो बिहार में एक नगर है।

तदनन्तर वह महाकाय धनुष साठ पहिए की पेटी पर रखकर बहुत से मनुष्यों द्वारा उस स्थान पर लाया गया जहाँ जनक, विश्वामित्र और दोनों राजकुमार थे तथा बड़ी सभा लगी हुई थी (यज्ञ स्थान पर) श्रीराम ने बिना प्रयास के धनुष को उठा लिया और रोदा भी चढ़ा दिया। उसके बाद श्रीराम ने ज्यों ही रोदे को खींचा त्यों ही धनुष बीच से टूट गया अर्थात् उसके दो टुकड़े हो गए। धनुष के टूटने पर विकराल शब्द हुआ जिससे विश्वामित्र, जनक और दोनों राजकुमारों को छोड़ कर सब लोग जिनकी संख्या हजारों में थी मूर्च्छित हो गए।

तब राजा जनक ने विश्वामित्र से कहा—

मम सत्या प्रतिज्ञा च वीर्यशुल्केति कौशिक।
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता ॥६७/२३॥

अर्थात् हे कौशिक! मैंने सीता के विवाह के लिए 'वीर्य शुल्क'[1] की जो प्रतिज्ञा की थी वह आज पूरी हो गई। अब मैं अपने प्राणों से भी बढ़कर प्यारी सीता श्रीराम को दूँगा।

विश्वामित्र की अनुमति से जनक ने अयोध्या को दूत भेजकर सब बातें कहलवाई और यह भी निवेदन करवाया कि महाराज दशरथ उपाध्याय, पुरोहितों इत्यादि सहित मिथिला आवें और श्रीराम का व्याह करवाएँ। महाराज दशरथ बड़े प्रसन्न हुए और मुनि वसिष्ठ, मंत्रियों, पुरोहितों, ब्राह्मणों आदि को लेकर ससैन्य मिथिला पहुँचे।

दोनों पक्षों की वंशपरम्परा का वर्णन हो चुकने के बाद जनक ने मुनि वसिष्ठ से कहा कि मैं बड़े प्राति के साथ दो बहुएँ महाराज दशरथ को देता हूँ। उनमें से सीता तो श्रीराम के लिए और उर्मिला (जनक की औरस पुत्री) लक्ष्मण के लिए। इस पर वसिष्ठ के सुझाव पर विश्वामित्र ने जनक से कहा कि वे अपने छोटे भाई कुशध्वज की दो कन्याओं मे से एक (मांडवी) भरत को और एक (श्रुतिकीर्ति) शत्रुघ्न को दें। इस जनक ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

बड़ी धूमधाम से चारों राजकुमारो का विवाह विधिवत् एक ही लग्न में सम्पन्न हुआ। देवताओं ने नगाड़ बजाए, अप्सराओं ने नृत्य किया और गन्धर्वों ने गीत गाए।

७. विश्वामित्र का हिमालय पर तप करने के लिए जाना, दशरथ आदि का अयोध्या लौटना, मार्ग म परशुराम से साक्षात

अगले दिन महर्षि विश्वामित्र ने महाराज दशरथ और राजा जनक से विदा

१. सीता भूमि से निकली थी अतः जनक ने निर्णय किया था कि उनके व्याह का शुल्क वीरता होगी, यथा "वीर्यशुल्क"।

ली और चारों राजकुमारों तथा महाराज दशरथ को आशीर्वाद दिया। फिर वे हिमालय तप करने चले गए।

महाराज दशरथ जब राजकुमारों और उनकी पत्नियों सहित अयोध्या को लौट रहे थे तब मार्ग में मुनि परशुराम ने आकर उनको घेर लिया। वे महेन्द्राचल (महेन्द्र पर्वत) पर तप कर रहे थे जहाँ श्रीराम द्वारा जनकपुर में धनुष तोड़ने का वृत्तान्त उन्हें ज्ञात हुआ था।

उस धनुष का तोड़ा जाना उन्हें विस्मयोत्पादक और ध्यान में न आनेवाली बात जान पड़ी। अतः उसकी पुष्टि करने के लिए वे आए। साथ में अपने पिता, जमदग्नि का धनुष भी लाए जो जनकपुर के धनुष के जोड़ का था और श्रीराम से कहा कि इस पर रोदा चढ़ाकर और आप अपना बल मुझे दिखाइए। श्रीराम ने बाण चढ़ाकर वैसा ही करके उनकी शंका दूर कर दी। श्रीराम का वाण अमोघ (अर्थात् निष्फल न जाने वाला) होता है अतः उन्होंने परशुराम की अनुमति से उस बाण द्वारा विश्वामित्र की तपस्या द्वारा अर्जित लोकों[1] को नष्ट कर दिया। तदनन्तर श्रीराम की प्रशंसा करके तथा उनकी परिक्रमा कर परशुराम अपने स्थान को लौट गए।

परशुराम के जाने के बाद श्रीराम ने उस धनुष को धरोहर के रूप में वरुण[2] को सौंप दिया। फिर पूरी पार्टी अयोध्या पहुँची जहाँ जनता द्वारा सबकी भव्य अगवानी हुई। महाराज दशरथ राजकुमारों सहित सुखमय जीवन व्यतीत करने लगे।

८. विश्वामित्र की संतति

महाराज विश्वामित्र के निम्नलिखित पुत्र थे—

(क) शुनःशेप (देवरात) यह विश्वामित्र के औरस पुत्र न थे पर इन्हें पुत्रवत माना।

(ख) १०० पुत्र जो मधुच्छन्दा के नाम से जाने जाते हैं। मधुच्छन्दा निचले पुत्र का नाम था, अतः सभी उसी नाम से जाने गए।

(ग) कात्यायन, अष्टक आदि जैसा कि अध्याय के प्रारम्भ में दी गई वंशावली में दिखाये गए हैं।

शुनःशेप भृगुवंशी मुनि ऋचीक के मझले औरस पुत्र थे, अतः रिश्ते में विश्वामित्र के भानजे (बहन सत्यवती के पुत्र) थे। यह वही प्रसिद्ध शुनःशेप थे

---

१. अर्थात् जिनकी प्राप्ति का अधिकार परशुराम ने तप द्वारा सम्पादन कर रखा था।

२. वायु देवता।

जो राजा हरिश्चन्द्र के पुरुषमेध यज्ञ[1] के लिए यज्ञपशु बनाये गये थे। राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र राजकुमार रोहित कुमारावस्था में ही वन चले गए थे अपनी प्राणरक्षा के लिए। हरिश्चन्द्र वरुण देवता से वचनबद्ध हो चुके थे कि वे रोहित को यज्ञ पशु बनाकर वरुण के लिए पुरुषमेध यज्ञ करेंगे। जब राजकुमार को यह मालूम हुआ तब वे वन में चले गये। यज्ञ न करने के कारण हरिश्चन्द्र वरुण द्वारा रोग पीड़ित कर दिए गए। पिता को रोगमुक्त करने के हेतु रोहित नगर लौटने के लिए तत्पर हुए। राह में उन्होंने ऋचीक (दूसरा नाम अजीगर्त)[२] से उनके मझले पुत्र शुनःशेप को मोल ले लिया। राजप्रासाद में पहुँचकर रोहित ने इन्हें यज्ञपशु बनाने के लिए पिता को सौंप दिया। उस यज्ञ में विश्वामित्र होता[3] हुए। तभी उन्होंने प्रजापति वरुण आदि देवताओं की स्तुति करके शुनःशेप को पाशबन्धन से छुड़ा लिया और इस प्रकार उनकी प्राण रक्षा की। चूँकि यज्ञ में यह शुनःशेप देवताओं द्वारा विश्वामित्र को दिया गया था अतः 'देवैः रातः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार गाधिवंश में यह तपस्वी देवरात के नाम से विख्यात हुआ।[४]

विश्वामित्र ने शुनःशेप की प्राण रक्षा की यही नहीं वरन् उनको पुत्रवत् पाला और शिक्षा दी तथा अपने पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ पुत्र माना। देवताओं से यज्ञ वेदी से माँगकर लाने से विश्वामित्र ने उनका नाम देवरात रखा। उन्हें देवदत्त भी कहते हैं।

मधुच्छन्दा नाम से कहे जानेवाले १०० पुत्रों को शुनःशेप को बड़ा भाई मानने की बात अच्छी न लगी। इस पर विश्वामित्र ने क्रोधित होकर उन्हें शाप दिया कि 'तुम सब म्लेच्छ हो जाओ।' इस प्रकार जब ४९ भाई म्लेच्छ हो गए तब निचले पुत्र मधुच्छन्दा ने अपने से छोटे अन्य भाइयों के साथ कहा कि 'पिता जी, आप हमलोगों को जो आज्ञा करते हैं, हम उसका पालन करने के लिए तैयार हैं। 'यह कहकर मधुच्छन्दा ने मंत्रद्रष्टा शुनःशेप को बड़ा भाई स्वीकार कर लिया और कहा कि 'हम सब तुम्हारे अनुयायी छोटे भाई हैं।' तब विश्वामित्र ने अपने इन आज्ञाकारी पुत्रों से कहा—'तुम लोगों ने मेरी बात मानकर मेरे सम्मान की रक्षा की है। इसलिए तुम जैसे सुपुत्र प्राप्त करके मैं धन्य हुआ।' यह शुनःशेप भी तुम्हारे ही गोत्र का है। तुम लोग इसकी आज्ञा

---

१. इसे नरमेध यज्ञ भी कहा जाता है।
२. बाल्मीक रामायण में ऋचीक नाम आया है और भागवत में अजीगर्त।
३. होता उसे कहते हैं जो यज्ञ में वेद मंत्रों का पाठ करके यज्ञ करवाता है।
४. भागवत ९/७ तथा ९/१६, ३१-३२।

में रहना। इस प्रकार विश्वामित्र की सन्तानों से कौशिक गोत्र में कई भेद हो गए।[1] शुनःशेप स्वयं एक गोत्र प्रवर्तक हुए।

उक्त पुत्रों के अतिरिक्त दयालु विश्वामित्र के और भी बहुत से शिष्य पुत्र थे जो बड़े गुणी हुए हैं। हरीत इनका एक शिष्य पुत्र था जो वैद्यक शास्त्र का आचार्य था। हारीत संहिता इन्हीं की रचना है। गालव की भी पुत्रों में गणना है जिनकी ख्याति मुनियों में, राजाओं में और महादानियों में थी। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य का नाम तो आज भी देश भर में हिन्दू धर्म का प्रमाण स्वरूप है। याज्ञवल्क्य स्मृति इन्हीं की रचना है। ऐसे ही कीर्तिवभ्रु और प्रभृति भी महाराज के पुत्र अथवा शिष्य पुत्र कहे गए हैं।

शुनः शेप (देवरात) के पुत्र कृत हुए। कृत के महर्षि कात्यायन हुए जिनसे कात्यायन गोत्र चला।

विश्वामित्र को कौशिक भी कहते थे। इन्होंने इतना यश पाया कि इनके नाम से कौशिक गोत्र स्थापित हुआ जो अब भी चल रहा है। इनके वंश में होने वाले और भी गोत्र हैं, यथा कात्यायन, धनंजय, कवित्स।

९. विश्वामित्र सम्बन्धित शंकाओं का समाधान

(१) शंकाकारक बातें

पुराणों में विश्वामित्र नाम से बहुत सी आख्याइकाएँ प्रचलित हैं। वे सब प्रायः गाधि सुवन कौशिक विश्वामित्र ही से सम्बन्धित समझ पड़ती हैं। यह धारणा कुछ हद तक भ्रमोत्पादक प्रतीत होती हैं। अतः इस समस्या पर प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान दिलाते हुए हम मूल कथा सूत्र को यहाँ उठायेंगे।

प्रश्न यह है कि क्या यावत घटनाएँ मुनि विश्वामित्र के नाम से कथित इन्हीं महाराज कौशिक चरित्र की हैं? यदि नहीं, तो उनका क्योंकर समाधान हो सकता है। प्रथम प्रश्न की विवेचना करने के लिए कुछ मुख्य घटनास्थलों को लेकर देखना है कि क्या वे एक व्यक्ति पर घटित हो सकती हैं। यदि ऐसा सम्भव नहीं तो उन सबका लगाव मुनिवर से नहीं माना जा सकता।

विश्वामित्र आख्यान चरित्रावली में ययाति, त्रिशंकु, हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र तथा कृष्ण चन्द्र पर्यन्त राजाओं के नाम मिलते हैं, इसलिए मुनि को इन सबके समकालीन मानना पड़ेगा। इसी दृष्टि से उक्त कुछ नामों से सम्बन्धित कथाओं को लेकर विचार करना है।

ययाति—विश्वामित्र के शिष्य गालव थे जैसा कि पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है। शिक्षा समाप्त होने पर गालव ने गुरु दक्षिणा देकर गुरु द्वारा छोड़ने का

---

१. भागवत ९/१७, ३३-३७।

संकल्प किया और मुनिवर से दक्षिणा जाननी चाही। विश्वामित्र को किसी प्रकार की दक्षिणा या भेंट की अभिलाषा न थी किन्तु गालव ने हठ किया। इससे गुरु को शिष्य के मन में अभिमान का संचार जान पड़ा। निदान विश्वामित्र ने दुर्लभ दक्षिणा माँग दी; वह थी ८०० श्याम कर्ण अश्वों की। मुनिवर जानते थे कि देशभर में इतने ही श्यामकर्ण घोड़े हैं अतः उन सबको प्राप्त करने में गालव का विद्याभिमान मर्दित हो जावेगा क्योंकि उसका आयोजन सम्भव ही न होगा। गालव के मित्र थे गरुण जिन्होंने मंत्रणा दी कि तीन राजाओं के पास दो-दो सौ घोड़े हैं किन्तु देश भर में सबसे बड़ा और दानी राजा ययाति है जो किसी तपस्वी याचक को विमुख न लौटायेगा। उसके एक अति रूपवती कन्या माधवी है। उस सुलक्षणा के हस्तगत होने से सब राजाओं से काम निकल आवेगा। इस प्रकार उस माधवी के पुत्र रत्नों से तीनों राजाओं से ६०० श्याम कर्ण अश्व प्राप्त हो गए और शेष २०० के लिए माधवी ने अष्टक पुत्र उत्पन्न कर मुनि को तुष्ट कर दिया।[1]

यह महादानी ययाति नृपति चन्द्रवंश के ही हैं जिनकी उपशाखा कुशिक वंश है। चन्द्र वंश की पीढ़ियों पर दृष्टिपात करने से प्रकट होता है कि गाधिसुत क्या, कुशिक वंश ही का जन्म ययाति के राज्यकाल में सम्भव नहीं। कौशिक महाराज से न्यूनाति न्यून १०/१२ पीढ़ी पूर्व महाराज ययाति इस देश के शासक थे। इस कारण ययाति से प्रश्नगत विश्वामित्र की कथा इन कौशिक महाराज से लागू नहीं हो सकती। विश्वामित्र नामके वे कोई अन्य व्यक्ति रहे होंगे।

श्री रामचन्द्र—कौशिक मुनि विश्वामित्र और महाराज रामचन्द्र की कथा बहुत प्रसिद्ध है। कौशिक मुनि अयोध्यापति दशरथ से बालक राम को अपनी यज्ञ रक्षा के लिए ले आए थे। महाराज रामचन्द्र सूर्यवंश के हैं। हरिश्चन्द्र, त्रिशंकु, सुदास[2] आदि राजा इसी वंश के हैं और राम के पूर्वज हैं और इस सब के साथ मुनि विश्वामित्र की कथा मिलती है। इसलिए सहज ही यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या त्रिशंकु को स्वर्ग भेजने वाले वही सिद्ध तपोधन विश्वामित्र थे जिन्होंने राक्षसों से रक्षा के लिए त्रिशंकु से ३२/३३ पीढ़ी बाद दशरथ से मख रखवारी हेतु राम के लिए याचना की और दशरथ मानों उनके तपोबल से अनभिज्ञ से थे?

---

१. महाभारत उद्योग प० अ० १०६।

२. वैवस्वत मनु (सूर्यवंश के) पीढ़ी गिनने से कम से कम ३० पीढ़ी पर त्रिशंकु, ३१ पर हरिश्चन्द्र, ५१ पर सुदास तथा ६३ पर राम होते हैं जिनमें बीच के अमुख्य नाम अवश्य छूटे होंगे।

क्या दशरथ के समकालीन यह वही महाराज कौशिक हैं जो ब्रह्म ज्ञान में लीन होने के उद्देश्य से राजमुकुट त्याग रहे हैं और ३१ पीढ़ी दशरथ से पूर्व हरिश्चन्द्र राजा की यज्ञशाला में आचार्य पुरोहित बनकर गए थे ? दोनों घटनाओं को एक ही पुरुष में आरोपित करने से पात्र और कथानक दोनों ही काल्पनिक समझ पड़ते हैं। यह बात और भी असंगत प्रतीत होती है जब कृतान्त युग के ययाति वाले विश्वामित्र को द्वापरान्त में कृष्ण युग में जीवित कहें।[1]

कहीं-कहीं विश्वामित्र का वर्णन बालक रूप में आया है। यह वर्णन भी राजत्यक्त कौशिक में चरितार्थ नहीं हो सकता और न कौशिक समय की वह कथा समझ पड़ती है। कौशिक का काल नहीं है जो रामचन्द्र का था। राम जन्म त्रेता युग में माना जाता है। राम और परशुराम की कथा लोक प्रसिद्ध है। परशुराम का जन्म त्रेता और द्वापर की सन्धि में निश्चित समझना चाहिए।[2] अर्थात् त्रेता युग का अन्त और द्वापर का आरम्भ। इस विचार से विश्वामित्र से सम्बन्ध रखने वाली घटनाएँ जो इस समय की सिद्ध हों वे ही इन कौशिक महाराज के चरित्र में घटित समझी जा सकती हैं। किन्तु पौराणिक कथनों से भिन्न-भिन्न आख्यानों का ठीक समय निर्धारित करना बड़ी गवेषणा का काम है जो प्रस्तुत पुस्तक की सीमा के बाहर है।

विश्वामित्र के आख्यानों पर ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि वे कथाएँ युगान्तरों में विस्तृत हैं जो किसी एक समय अथवा पीढ़ी में समाहित नहीं की जा सकती वरन् उनका लगाव सत्ययुग से कलि तक भी हो सकता है। इस रहस्य की मीमांसा करने में हम दूसरे युग में प्रवेश कर जाते हैं। अतएव द्वापर युग के अन्तरगत ही इस वंश की शेष कथा पृथक् अध्याय में कही जावेगी विशेषकर इस कारण कि इतिहास का वह वंश शासन पद्धति से सम्बन्धित न होकर धार्मिक वृत्त होगा जो इस वंश का मुख्यतर भाग है।

वसिष्ठ व विश्वामित्र की कथा—यह कथा इस प्रकार कही गई है। एक समय राजा विश्वामित्र विजय प्राप्त करते हुए ससैन्य आखेट के मिस वसिष्ठ के आश्रम में पहुँचे। मुनि ने राजा का आगमन जान, नीति और श्रद्धापूर्वक आतिथ्य स्वीकार करने का राजा से आग्रह किया। इतने बड़े राज्यदल की पहुनई एक तपोधन के लिए दुस्तर कार्य है, ऐसा राजा ने समझा। किन्तु मुनिवर ने सबका ऐसा सत्कार किया कि विश्वामित्र विस्मित हो गए। राज्योचित सत्कार की यावत् सामग्री उस तपस्थली से ऐसे निकलते चली आ रही थी मानो कामधेनु

---

१. म० भा० मौसल प० अध्याय।

२. म० भा० आ० प० अध्याय २।

वसिष्ठ को इच्छित पदार्थ देती ही चली जा रही है। पुराणकारों ने इस सिद्धि को नन्दिनी गाय के रूपक में वर्णन किया है। किसी ने उसका नाम सबला कहा है। वास्तव में सिद्धि ही कामधेनु अथवा नन्दिनी है। तपस्वियों का ऐसा ऐश्वर्य ! राजप्रासाद की वस्तु तपस्वी के पास नहीं रहने देना चाहिए, यह विचार विश्वामित्र के मन में आया। अतः राजा ने उसे बलपूर्वक हर लेना चाहा पर कृतकार्य न हुआ। राजा को समझ में यह न आया कि जो शक्ति धन धान्य की देने वाली हो सकती है क्या उससे शस्त्रास्त्र उत्पन्न नहीं हो सकते। निदान विश्वामित्र ने दूसरी बार एक कठिन युद्ध कर मुनि की उनको विभूतियों से वंचित करने का प्रयत्न किया। स्वार्थहीन सदाचार से उत्पन्न जिस 'नन्दिनी' ने आतिथ्य समय में वसुधाओं की वर्षा की थी वही युद्ध काल में 'सबला' हो योद्धाओं का प्रसव करने लगी। अनेक प्रकार से नागरिकों एवं अन्य जातियों ने आ-आ कर उस ब्रह्म मूर्ति का पक्ष लेकर राजा को परास्त किया। तब विश्वामित्र की आँखें खुलीं और उन्होंने निश्चय कर लिया कि क्षत्री बल से ब्रह्म शक्ति गुरुतर है।

धिग्बलं क्षत्रियं बलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ॥ वा० रा० बा० का० ५६/२२ ॥

अर्थात् धिक्कार है क्षत्रिय बल को। ब्रह्मतेज का ही बल यथार्थ बल है।

अतः विश्वामित्र ने क्षत्री धर्म का त्याग तथा ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करने का संकल्प किया।

विश्वामित्र ने मुकुट किरीट उतार कषाय कमंडल धारण कर घोर तप किया और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किया। इतना होने पर भी वर्णाश्रम की कटुता न गई। वसिष्ठ ने विश्वामित्र को राजर्षि ही कहा, ब्रह्मर्षि न माना। यही वैमनस्य तथा परस्पर द्वेष का कारण माना जाता है।

इन महात्माओं के गर्हित कर्म जो द्वेष वश किए गये हैं यदि उन पर भी ध्यान दिया जाए तो वे भी एक व्यक्ति तथा एक समय के प्रतीत नहीं होते। उदाहरणार्थ कुछ कथानक नीचे दिए जाते हैं :—

(१) त्रिशंकु से प्रसन्न हो विश्वामित्र ने उन्हें सदेह स्वर्ग भेजा। यह उस समय माना जा सकता है जब मुनि की उग्र तपस्या में इतना प्रचंड बल उत्पन्न हो चुका था कि वह एक नवीन स्वर्ग अथवा सृष्टि रचने की क्षमता रखते थे। वसिष्ठ भी उस समय वर्तमान थे। इस त्रिशंकु के यज्ञ प्रसंग में वसिष्ठ की आचार्यता की उपेक्षा की गई है और विश्वामित्र ने स्वयं आचार्य हो यज्ञ कृत्य कराई। यहाँ वसिष्ठ का शाप दे चांडाल बनाने और फिर इन्द्र स्तवन से शाप मोक्ष की कथा कही गई है।[२]

---

१. म० भा० आ० प० अध्याय २।

२. म० भा०, अनु० पर्व, अध्याय २।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि क्या ये वसिष्ठ और विश्वामित्र वही हैं जो राम के समय में विद्यमान थे ? त्रिशंकु राम के पूर्वज थे और कम से कम ३३ पीढ़ी आगे हो चुके थे। यदि ऐसा होता तो जिन विश्वामित्र के तप और शस्त्रबल से ब्रह्मादि देवता कम्पित हो रहे थे और भयवश त्रिशंकु के लिए स्वर्ग द्वार खोलना पड़ा, क्या उन्हीं विश्वामित्र को राक्षसों से रक्षा के लिए राम, लक्ष्मण जैसे बालकों की आवश्यकता होती। साथ ही यह भी समझ में नहीं आता कि त्रिशंकु वाले विश्वामित्र के वैभव का परिचय देने की वसिष्ठ को दशरथ के लिए आवश्यकता पड़ती और यदि परिचय दिया भी था तो इस महा अलौकिक कर्म का तथा प्राचीन वैमनस्य का किंचित मात्र भी संकेत न होता ?

न तो कथा प्रसंग और न काल इस तथ्य की पुष्टि करते हैं, कि त्रिशंकु और राम वाले विश्वामित्र एवं वसिष्ठ क्रमशः एक ही व्यक्ति हैं।

(२) वशिष्ठ पुत्र संहार की कथा भी इसी प्रकार आलोचना दृष्टि से पाई जाती है। एक कथा यह है कि वसिष्ठ के पुत्र शक्ति ने विश्वामित्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया और विश्वामित्र ने उसे मरवा डाला।[1]

दूसरी कथा के अनुसार विश्वामित्र ने वसिष्ठ के १०० पुत्रों को मरवा डाला। त्रसित वसिष्ठ आत्म हत्या के विचार से व्यास नदी में कूद पड़े और बहुत काल के बाद निकाले गए।[2] इन कथानकों के प्रसंग में सूर्य वंशी राजाओं कल्माषपाद और सुदास के नाम आए हैं। सुदास और दशरथ में १२/१३ पीढ़ी का अन्तर है। राम कालीन वसिष्ठ और विश्वामित्र को उक्त तर्कदृष्टि से देखने से वही व्यक्ति कहना असंगत प्रतीत होता है।

(३) इस प्रकार वसिष्ठ और विश्वामित्र के तपस्पर्धा के और भी आख्यान हैं जैसे सरस्वती से वसिष्ठ की प्राण हत्या, सरस्वती का मनु की आज्ञा पालन साथ ही वसिष्ठ की रक्षा, मुनि का शाप और शाप मोक्ष।[3] अथवा धर्म का वसिष्ठ रूप धारण कर विश्वामित्र की परीक्षा लेना और विश्वामित्र का बहुत काल तक एक ही स्थान पर स्तब्ध व्रतादि[4] कथाओं की मीमांसा स्थान भय से यहाँ नहीं की जा रही है।

ऊपर के कथनों से ज्ञात होता है कि जो असाधारण बातें विश्वामित्र के चरित्र में कही जा सकती हैं वही न्यूनाधिक वसिष्ठ के चरित्र में भी लागू होती

---

१. म० भा०, आ० प०, अध्याय १०८।
२. म० भा०, अनु० प०, अ० ३।
३. म० भा० शल्य पर्व, अ० ४२।
४. म० भा० उद्योग पर्व, अ० १०६।

है। वसिष्ठ चरित्र भी सूर्यवंश की बीसियों पीढ़ियों के राजाओं के साथ कथित हैं। इसी प्रकार परशुराम की जीवनी भी असाधारण समझ पड़ती है। एक परशुराम वह जो राम की परीक्षा ले वन-गमन करते हैं और एक वह जिनसे कृष्ण काल में कर्ण शस्त्र विद्या सीखते हैं।[1] इसी प्रकार इसी स्थल पर और भी ऐसे पात्र आ चुके हैं जिनमें वही शंका की जा सकती है जैसे गालव जो ययाति से माधवी लाए थे और एक वह जो कृष्ण काल में युधिष्ठिर की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ विराजमान थे।[2]

(२) शंका समाधान

धर्मगुरु और गुरु गद्दी :—वैदिक धर्म साहित्य का यह युग था। इसके विविध अंग प्रत्यंग की पुष्टि भिन्न-भिन्न ऋषियों मुनियों एवं आचार्यों द्वारा नित्य प्रति होती जा रही थी। इन धार्मिक अंगों का सम्पादन करना एक मनुष्य की आयु का काम न था। निरन्तर शताब्दियों के परिश्रम का फल क्या किसी एक व्यक्ति कृत कहा जा सकता है। जो जिस अंग का विशेषज्ञ था वह उसका प्रवर्तक अथवा प्रणेता हुआ। किन्तु उस विषय को उसी पुरुष की जीवनी के साथ लगा कर यदि अलग कर दिया जाता तो हमारे धर्म का साहित्य संसार के अन्य धार्मिक वाङ्मय से कुछ ही गुरुतर होता। धर्म के गुह्य रहस्यों में जो इसकी पहुँच है उसका मुख्य कारण धर्मगुरुओं का मान और पूजा है। यह प्राचीन आर्य प्रणाली अद्यावधि हमारी दृष्टि पथ से आकर निकलती है किन्तु साक्षी इसलिए नहीं हो पाती कि आधुनिक इतिहास पटल पर उसका चित्र नहीं आता है। वहाँ एक पात्र का एक चित्र। हमारा धार्मिक इतिहास चित्रित करने के लिए अविरल पटल की आवश्यकता है। उसका इतिहास व्यक्तित्व रहित है पर गुरुत्व सहित है।

धर्म के महाविषद अंगों का प्रतिपादन अल्पजीवी मनुष्य के व्यक्तित्व के बाहर हो जाने से व्यक्तित्व रहित कहना पड़ेगा। ऐसे आचार्यों का रूप धर्म वाटिका के वटवृक्षों सदृश्य माना जा सकता है। उसी की शाखाओं से निकली हुई जटाएँ मुख्य तरु की मूल बनती हैं, उनका व्यक्तित्व उसी में लय होता रहता है। किसी पृथक नामकरण अथवा इतिहास का अवकाश नहीं। इसी प्रकार इन धार्मिक वटेश्वरों की शिष्य मण्डली जटाओं से मूल वृक्ष की समृद्धि उसी एक नाम से असीम काल तक होती चली गई।

उदाहरणार्थ व्यास, मनु, नारद, प्रभृति पर ध्यान देने से पता चलता है कि

---

१. म० भा० शा० प० २/१०-२०।
२. म० भा० सभा प० ४/१०-११।

अनन्त काल से ये उन्हीं के अंगों को पुष्ट करते चले आ रहे हैं—ऐसा धर्म ग्रन्थों से भासित होता है। कोई व्यक्तित्व रखने का प्रयास नहीं किया गया। पुराणकार व्यास हैं, यावत् पुराण व्यासकृत ही हैं, चाहे वह महाभारत हो, चाहे सत्य नारायण की कथा। और भी, चाहे वह व्यक्ति परम प्राचीन काल की बातों के ज्ञाता हों अथवा धृतराष्ट्र के जन्मदाता। क्या वह सब एक ही व्यास थे ? ऐसा नहीं। हमारे पुराणों के वक्ता आज दिन भी जब उस आसन अथवा गद्दी पर विराजमान हो उस कर्तव्य का पालन करते हैं तो व्यास ही माने जाते हैं और उसी मान और पूजा के भागी होते हैं। वह आसन अथवा गद्दी भी व्यास गद्दी की संज्ञा से जानी जाती है। पुराण वक्ताओं के इतर भी जो संतति उनसे आज दिन तक चली आ रही है वे सब व्यास नाम से कहे जाते हैं। उनकी अल्ल के साथ उनके नाम लगाने से व्यक्तित्व प्रकट किया जा सकता है। इसी प्रकार हम जान सकते हैं कि महाभारत के रचयिता व्यास वह थे जिनका नाम कृष्ण द्वैपायन था।

इसी प्रकार स्मृतिकारों में मनु की प्रसिद्धि है, पर वृद्ध मनु, वैवस्वत मनु, स्वारोचिष मनु कई एक अलग-अलग समय में हुए हैं—यह बात प्रत्येक पंडित जानता है और जैसा कि दुर्गा सप्तशती में भी इस प्रकार आया है :—

सावर्णिस्सूर्यतनयो यो मनुः कथ्यतेष्टमः।
निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम ॥१/१॥
स्वारोचिषेन्तरे पूर्वं चैत्रवंश समुद्भवः।
सुरथो नाम राजाभूत् समस्ते क्षिति मण्डले ॥१/४॥

अर्थात् (मार्कण्डेय ऋषि कहते हैं) सूर्य के पुत्र सावर्णि जिसको आठवाँ मनु कहते हैं उनकी उत्पत्ति हमसे सुनिए मैं विस्तारपूर्वक कहता हूँ। (१) स्वारोचिष नाम दूसरे मनु के राजत्वकाल में कथा से पूर्व चैत्र वंश में उत्पन्न सुरथ नाम का पृथ्वी मण्डल भर का राजा हुआ (४)।

इससे स्पष्ट होता है कि अलग-अलग समय में पृथक-पृथक मनु हुए हैं, जैसे आठवें मनु जो हुए उनका नाम सावर्णि था, स्वारोचिष मनु इससे पहिले मन्वन्तर में हुए। दोनों के वंश भी भिन्न जान पड़ते हैं।

ऐसे ही ब्रह्म ज्ञान उपदेशक में नारद मुनि सदैव प्रकट किए गए हैं। माने हुए कलि प्रणीत ग्रन्थों तक यही प्रणाली पाई जाती है। आदि नारद से कलियुग वाले नारद से पृथकीकरण की सामग्री यदि उपलब्ध न हो तो क्या वे एक ही माने जाएँगे अथवा ग्रन्थकारों का मिथ्यावाद। न वह सम्भव है न वृथा मिथ्या दोष लगाने का कोई कारण। वास्तव में वह उसी प्रणाली और गद्दी के

आचार्यों की पद्धति है। उन पद्धतियों के प्रमाण का धार्मिक क्षेत्र में अभाव आज दिन भी नहीं है। जिन शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के बाद धार्मिक दिग्विजय की थी उन्होंने अल्पायु में ही शरीर त्याग दिया था, किन्तु उनकी स्थापित पीठों में चार शंकराचार्य हुए और अब भी चार पीठों में अलग-अलग वर्तमान हैं—

शारदा पीठ के शंकराचार्य;
गोवर्धन पीठ के शंकराचार्य;
ज्योतिष पीठ के शंकराचार्य;
श्रृंगेरी पीठ के शंकराचार्य।

शंकराचार्य के धार्मिक साहित्य में यदि उस समय से आज तक की गाथा गाई जाए तो उसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं कहा जा सकता। कारण वह नाम गुरुगद्दी द्वारा अब तक जीवित है।

पुराणोल्लिखित विश्वामित्र, वशिष्ठ, परशुराम, गालव, प्रभृति, धर्मधुरीण महात्माओं का चरित्र ऐसा ही समझ पड़ता है। अस्तु,

विश्वामित्र और वैदिक साहित्य—ऊपर कहा जा चुका है कि विश्वामित्र का व्यक्तिरूप से पृथकीकरण दुस्साध्य ही नहीं है वरन् धार्मिक मीमांसा करने में वांछनीय भी नहीं है। अतः उस समग्र को एक ही साथ यहाँ दिया जाता है। उनके शिष्य अथवा पुत्रों का जो सहयोग वैदिक साहित्य की उन्नति में है उसे भी विलग न किया जावेगा। वैदिक सूक्तों के संकलन से विश्वामित्रवंश[1] की धार्मिक गरिमा सहज ही समझ में आती है :—

नाम		वेद		वेद के मण्डल
बिश्वामित्र	....	ऋग्वेद यजुर्वेद के बहुत से मंत्रों के द्रष्टा	....	८, ९, १०
शुनः शेप (पुत्र)	....	ऋग्वेद	....	१ (७ सूक्त), ९
		यजुर्वेद	....	१ (१ सूक्त)
मधुच्छन्द (पुत्र)		ऋग्वेद	....	१ (१० सूक्त तक)
याज्ञवल्क्य (शिष्य)		यजुर्वेद।		

---

१. बुध— ऋग्वेद मण्डल ८ व १० में;
पुरूरवा—,, ,, ८ व १० में;
अत्रि— ,, ,, ९ व १० में;
उर्वशी— ,, ,, ८ व १० में।

इस सम्बन्ध में विश्वामित्र के लिए विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। परम पुनीत गायत्री मंत्र उनकी अक्षय कीर्ति के लिए अलग है। विश्वामित्र का नाम सप्त महर्षियों में भी परिगणित है।

१०. जात्योत्कर्ष अथवा कौशिकी आन्दोलन

जात्योत्कर्ष एक सामाजिक आन्दोलन था जिसे कुशिक वंश ने चलाया। तत्कालीन एवं शास्त्रीय सम्यता के अन्तर्गत रहते हुए यह कई शताब्दियों से चल पड़ा था जो कौशिक विश्वामित्र के समय में सफलीभूत हुआ और श्रेय प्राप्त किया। अतः इसको हम कौशिकी आन्दोलन कहेंगे।

"जहाँ जन्म जेहि दीन विधाता, तेहि कुल धर्म ताहि सुखदाता—" ऐसा नियम महात्मा तुलसीदास ने कहा है। यह सत्य है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि प्रत्येक प्रतिभाशाली शक्ति सम्पन्न पुरुष अपनी जाति का उत्कर्ष चाहता है। यह आज भी संसार में सर्वत्र देखने को मिलेगा। इतिहास में इसके दो ही रूप देखने को मिलेंगे :—

(१) वेद विहित (Constitutional reform)।
(२) आसुरी।

प्रसंग यहाँ ब्राह्म और क्षात्र धर्म की स्पर्धा का है। आज कल इन दो सर्वमान्य जातियों से स्पर्धा रखने वाले अनेकों है और अपने को इन्हीं में परिगणित करने के प्रयास में रहते हैं, जैसे राजपूत लोधे, लोहार बंजोर (राठौर), अथवा नापित (नाई-न्याई पांडे)। हमको किसी की अभिलिखित उत्कंठा से विरोध नहीं किन्तु आदर्श प्राप्त करने की नीति पर इतिहासकार को कहना अनिवार्य है। इतिहास के जिज्ञासुओं के लिए ऐसे ही गहन प्रश्नों से ज्ञान प्राप्ति होती है। प्राचीन अनैतिहासिक काल में भारतवर्ष को इन आन्दोलनों से काम पड़ चुका है, जैसे हूण, शकादि, विजातीय आक्रमणों से क्षात्र छत्र नत हुआ किन्तु उन्होंने आसुरी नीति से क्षत्रियों के मूल घात में अपने अस्तित्व को क्षत्रियों में लय कर दिया पर सफल मनोरथ न हो सके।

ब्राह्मणों के पास एक ही सनातनी शस्त्र था—ब्रह्म विद्या। वह ज्ञानबल सर्वसिद्धि का मूल है, ऐसा ही सब लोग मानते चले आए हैं। दूसरी शक्ति बाहुबल है जो क्षत्रियों एवं शासकों के आश्रित रही है। शक्ति से संसार में सब कुछ उपलब्ध है किन्तु उसमें सैन्यबल, धनबल, जनबल, ज्ञानबल के आधार पर मनोरथ सफलीभूत होता है।

ब्राह्म बल का आधार सदाचार, शील, स्नेह, सहिष्णुता, दान, क्षमा, आदि हैं। फलतः ब्राह्मबल और बाहुबल दोनों के ऐश्वर्य में बहुत बड़ा अन्तर ज्ञान

पड़ता है। जो राजाओं को सुलभ नहीं, वह ऋषियों को दुर्लभ नहीं। वह सिद्धि वसिष्ठ को प्राप्त थी जो विश्वामित्र को महाराजाधिराज होने पर भी असाध्य ही रही (उपयुक्त स्थान पर इसका विवरण आएगा)। प्राचीन युग में यह प्रश्न राजा द्रुपद और द्रोणाचार्य के उपाख्यान में भी मिलता है, अन्य पुराणों में भी।

कौशिकी आन्दोलन ब्राह्मणों और क्षत्रियों में सामंजस्य स्थापित करने वाला था। अस्तु।

कुश महाराज के इतिहास में ऊपर कहा जा चुका है कि बड़ी कठिन कसौटी पर कसकर उनको ऋषिवर च्यवन ने पास किया। उसी कुशिक वंश में धर्मात्मा राजा कुशनाभ के धृताची नामक पत्नी से १०० कन्यायें थी जिनका पाणिग्रहण ऋषि कुलोत्भव ब्रह्मदत्त से हुआ। उन राजकन्याओं तथा उनके पति ब्रह्मदत्त को महाराज गाधि ने (या महाराज कुशनाभ स्वयं ने) कम्पिल राज का भूभाग दायित्व में दिया था जिसका विवरण उसी प्रकरण में दे दिया गया है। ऋषि वर्य्य चूलि की स्त्री सोमदा गंधर्वी थी। वह उर्मिला नामक गंधर्वी की पुत्री थी। इसी सोमदा से ब्रह्मदत्त का जन्म हुआ जैसा बाल्मीकि रामायण के बाल काण्ड में बताया गया है—

> तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षि ददौ पुत्रं तथा विधिम्।
> ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चूलिनः सुतम् ॥३३/१८॥

अर्थात् (सामदा से) प्रसन्न होकर महर्षि चूलि ने उसे एक मानस पुत्र दिया जो ब्रह्मदत्त के नाम से विख्यात हुआ।

अब कौशिकी का ऋचीक वंश में विवाह होने का प्रभाव समाज पर क्या पड़ा। कहा जा चुका है कि यह ऋषिकुल सामाजिक आन्दोलन था।

गाधि तनया सत्यवती (कौशिकी) महाराज की प्रिय पुत्री थी। ऋषिवर की याचना पर उनको सन्देह था कि धनहीन ब्राह्मण राजकुमारी का भरण-पोषण किस प्रकार कर सकेगा। अतएव राजा ने ब्राह्मण से दुस्साध्य शुल्क की बात पैदा कर दी। किन्तु यशस्वी तपोधन ऋषियों को सभी साध्य पाकर राजा का सन्देह दूर हुआ। तब विधिवत् विवाह हुआ और बादहू सत्यवती ने ऋषि पत्नी की भाँति वनस्थली में निवास कर दासीवत् पति सेवा की।

राजर्षि विश्वामित्र को भी अपनी भगिनी से अतुल स्नेह था। जब बहिन का शरीर पंचत्व को प्राप्त हुआ तब राजर्षि को बहुत मोह हुआ। अन्ततोगत्वा उन्होंने कौशिकी नदी पर तपवृत से शोक विमोचन किया। उस सरिता का नामकरण भी भगिनी कौशिकी के नाम पर हो गया। इस आख्यायिका से पाठक

यह निष्कर्ष न निकालें कि कौशिकी के पति का स्थान कौशिकी नदी के तट पर था जो कान्यकुब्ज प्रदेश से सुदूर है। इसी प्रकार परशुराम की कथा से भी यह नतीजा न निकालना चाहिए कि राम से भेंट होने के पश्चात् वह मंदराचल पर्वत पर चले गए, वहीं उनके पूर्वजों का स्थान होगा और वहीं सत्यवती का ससुराल होगा।

अंगिरा एतद्देशीय स्मृतिकार हुए हैं जिनका मान उसी समय से सर्वत्र था। च्यवन स्वयं ब्रह्मतेज व विभव के अतिरिक्त सर्वोत्कृष्ट भेषज थे। भृगुकुल तिलक परशुराम की गणना अवतारों में है। वे अपने पराक्रम से पृथ्वी विजेता थे। ऋचीक को अन्य देशवासी, बिना किसी पुष्ट प्रमाण के, मान लेना भ्रममूलक होगा।

ओछा नाम की एक वनस्थली मैनपुरी जिले में है। वहाँ एक मन्दिर में एक मूर्ति स्थापित है। कहा जाता है कि यह मन्दिर व मूर्ति च्यवन ऋषि के स्मारक हैं। कुछ और गाधि ने दूसरा ऋषि सम्बन्ध अपनी पुत्री सत्यवती का अंगिरा गोत्रीय ऋषि ऋचीक से किया। ऋचीक का नाम अजीगर्त समझ पड़ता है।[1] किन्तु भृगुवंशी होने से इनकी भी भृगु संज्ञा हुई। वैदिक काल के महान प्रतापी पुरुषों में मुनिवर भृगु हुए हैं अतः उनके वंशज उसी नाम से ही चलते हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्रकार पुत्र एवं पौत्र में विशेषकर प्रभेद भी नहीं मानते। महाभारत के अनुसार भृगु के पुत्र का नाम च्यवन था और च्यवन के पुत्र का और्व जिनसे ऋचीक का जन्म है। च्यवन का वैद्यक ज्ञान विख्यात है और यह पैत्रिक गुण पुत्र के इतिहास में भी मिलता है। साधु सम्प्रदाय में आने से अजीगर्त की संज्ञा ऋचीक हुई। ऋचीक के पुत्र यमदग्नि हुए जिनसे रेणुका[2] के गर्भ से प्रचंड प्रतिभाशाली परशुराम का अवतार हुआ। इन भृगुवंशावतंश महानुभावों के अतिरिक्त ऋचीक के शुनपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलांगूल और भी अंगिरस गोत्री पुत्र शास्त्रों में उल्लिखित हैं। शुनःशेप, मधुच्छन्द आदि महर्षि विश्वामित्र की संतति से परिगणित किए गए हैं। वैदिक साहित्य में इन प्रतिभाशाली जनों का ब्योरा जगह-जगह मिलता है।

जैसा बताया जा चुका है चूलि वंशज ब्रह्मदत्त ने घृताची की शत कन्याओं के पाणिग्रहण संस्कार में कम्पिल प्रदेश ही दायित्व में प्राप्त किया जो उस समय के कान्यकुब्ज राज्य का एक अंग था। सुतरां उन राज कन्याओं को राज सुलभ

---

१. म० भा०, द्रोण प०, अ० ७० तथा अनु० प०, अ० ३ व ४।
२. रेणुका महाराज जयत्सेन की पुत्री थी जिससे उनका क्षत्रिय कन्या होना सिद्ध है।

सुख से स्यात् वंचित होने का कष्ट न भोगना पड़ा और ब्रह्मदत्त की संतति को वैवाहिक काम-काज में कोई विशेष अड़चन भी न हुई होगी। ऐसे उज्ज्वल कुल इस प्रदेश में अब भी हैं जो "ठाकुर-ब्राह्मण" के नाम से जाने जाते हैं। उनका व्यवहार शुद्ध क्षत्रियों से चला आता है और संस्कार आदि अवसरों पर खाना-पीना, न्योता-पानी सब प्रचलित है। उनके वैवाहिक कार्य भी शुद्ध क्षत्रियों में होते हैं जो शास्त्रानुकूल ही हैं। जो गाँठ वसिष्ठ काल में ब्राह्मक्षात्र में पड़ गई थी वह निर्लेप सी हो गई। भवन भी स्मारक रूप में उपस्थित है। परम रम्य स्थान है और वहाँ वार्षिक मेला भी होता है। इसके अतिरिक्त गंगा तट पर श्रृंगीरामपुर (जि० फर्रुखाबाद) के निकट च्यासर नामक एक स्थान है जिसे लोग च्यवनाश्रम मानते हैं। सम्भव है दोनों ही हों।

एतद्देशीय कान्यकुब्ज ब्राह्मणों और क्षत्रि कुलोलव वीरों पर इस आन्दोलन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, इस दृष्टिकोण से समुचत विषय को देखता है।

विश्वामित्र और रामचन्द्र के आख्यान से प्रकट है कि तपोधन विश्वामित्र ने राक्षसों से पीड़ित होकर अपनी यज्ञ रक्षा हेतु महाराज दशरथ से राम और लक्ष्मण बालकों की याचना की। उन बालकों के बस का बली राक्षस संहार रोग न था किन्तु राज ज्ञान एवं शस्त्र ज्ञान जो राजर्षि ने प्राप्त किया था तथा जो अस्त्र शस्त्र उनके पास थे सब वीरवर राम को देकर उन्हें दक्ष कर दिया। वास्तव में राम को चक्रवर्ती सम्राट बनाने का श्रेय ऋषिवर विश्वामित्र ही को था।

द्रोणाचार्य और परशुराम के इतिहास भी घोषणा करते हैं कि सामंतों को दीक्षा देने वाले ऐसे धीमान ब्रह्मनिष्ठ पुरुष रत्न रहे जो स्वयं रणक्षेत्र में जाकर सैनियों को उत्साहित कर आततायियों को परास्त करते थे। वह ब्रह्म भक्ति क्षत्रियों में अद्यावधि वर्तमान रही और ब्राह्मणों में क्षत्रियों के प्रति प्रेम एवं समरज्ञान, राजनीति, कूट मंत्रणा, सच्चा हितकर उपदेश, यह राज दरबारों की कथाओं में बराबर मिलते हैं।

शौर्य पूजक कनौजिया ब्राह्मणों और वीर क्षत्रियों में ऐसी घनिष्ठता स्थापित हो गई कि एक दूसरे का सहवास अनिवार्य हो गया। धन लोलुपता न होने से ब्रह्मज्ञान के आधार पर निर्वाह करने वाले वे कान्यकुब्ज यवन युग में मान्य रहे। मुगलिया वंश के राज दरबारों में उनकी प्रतिष्ठा मिलती है, जैसे अकबर के दरबार में राजा बीरबल। रण लिप्सा कनौजिया ब्राह्मणों का स्वभाव सा पड़ गया। रणचण्डी उनकी उपास्य देवी बन गई जिस कारण वे कुलीन पद को प्राप्त हुए। सुदूर प्रान्तों में उपनिवेश बनाकर रहने-सहने लगे और मान-मर्यादा

सहित बाहुबल एवं दलबल से सम्पत्ति प्राप्त की। बंगाल और आधुनिक मध्य प्रदेश के इतिहास उदाहरणस्वरूप हैं।

क्षात्र और ब्राह्म का आदान-प्रदान अन्य सामाजिक रूप में भी जीवन के प्रायः सभी मार्गों में मिलता है किन्तु इस प्रसंग को पुस्तक की कलेवर वृद्धि के भय से यहीं छोड़ दिया जा रहा है।

११. विश्वामित्र प्रशस्ति

कुशिक वंश की मृतप्राय लता को कौशिक जन्म ने प्राणदान ही नहीं प्रदान किया वरन् साथ ही परम आह्लाद सहित अक्षय कीर्ति का प्रसव भी हुआ। महातेजस्वता के लक्षण बाल्यकाल ही से विश्वामित्र में थे—

गाधेरभून महातेजाः समि इव पावकः।
तपस्ना क्षात्र मुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम् ॥ भगवत ९/१६/२८ ॥

अर्थात् महाराज गाधि के पुत्र हुए प्रज्वलित अग्नि के समान परम तेजस्वी विश्वामित्र। इन्होंने अपने तपोबल से क्षत्रियत्व का त्याग करके ब्रह्मतेज प्राप्त कर लिया।

गाधि महाराज का विश्वामित्र को अभिषिक्त कर वन गमन की कथा से प्रतीत होता है कि विश्वामित्र ने अल्पकाल ही में अपनी विद्या एवं कार्य कौशल से पिता को तुष्ट कर दिया था। अतः उन पर राज्यभार छोड़ आध्यात्म मार्ग ग्रहण करने में गाधि को कोई सोच विचार करने की आवश्यकता ही न रही।

राजमुकुट धारण कर विश्वामित्र ने क्षत्रिय धर्म का पूर्ण निर्वाह किया। यद्यपि इनके रक्त में ब्रह्म भक्ति का पूर्ण संचार था तथापि उनका स्वभाव उग्र था। यह महाराज शत्रु दमन में लोक प्रसिद्ध हैं। मृगया से भी इनको प्रेम था।[1]

सहोदरा सत्यवती से इनका अधिक स्नेह होना सहज ही है। साथ ही बहनोई ऋचीक से भी इनका विशेष प्रेम समझ पड़ता है। सत्यवती की जब संसार यात्रा समाप्त हो गई. तब विश्वामित्र बड़े शोकग्रस्त हुए। जहाँ उसका देहावसान हुआ था वहाँ उन्होंने घोर तप करके उसे तीर्थ बना दिया और नदी का नाम कौशिकी[2] रख भगिनी का चिरस्मारक स्थिर कर दिया।

वाल्मीक रामायण में सत्यवती के सम्बन्ध में निम्न विवरण आया है— सत्यवती विश्वामित्र की बड़ी बहिन थी। उसका विवाह ऋचीक मुनि के साथ

---

१. म० भा० आ० प०, अ० १०८।
२. यह भारत के उत्तर में पहाड़ी क्षेत्र में है। इसका नाम अब कोसी है।

हुआ था। मुनि के शरीर त्याग पर वह सत्यवती पति के साथ सशरीर स्वर्ग को गई। फिर वही कौशिकी नदी के रूप में बहने लगी। यह हिमालय से निकल कर बहती है। इसका जल अति पवित्र है और यह बड़ी रमणीक है। जनहित के लिए उसने नदी का रूप धारण किया। अपनी बहिन के स्नेह वश विश्वामित्र इसी कौशिकी के तट पर रहकर तप करते थे। बाद में यज्ञ करने के अभिप्राय से वे उस स्थान को छोड़ कर सिद्धाश्रम में चले गए थे।[1]

महाराज विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण होना और फिर ब्रह्मर्षि पद का पाना—यह कथा बहुत प्रसिद्ध है। धर्मज्ञता और महात्मापन इनके वंश परम्परा गुण थे—

कुशिकानामयं वंशो महान्धर्म परः सदा।
ब्रह्मोपमा महात्मनः कुश वंशा नरोत्तमः॥

वा० रा०, बालकाण्ड, ३४/२०

अर्थात् यह कुश का वंश सदा से धर्म में तत्पर रहा है और इस वंश के सब राजा ब्रह्मर्षि तुल्य चले आए हैं।

ब्रह्मोपासना इनके रक्त में होना ऊपर कह चुके हैं। फिर भी ब्राह्मण पद प्राप्त करने में ऋचीक का भी बहुत सहयोग था।[2] किन्तु यह वासना क्योंकर और कब जाग्रत हुई इसकी विवेचना इस अध्याय के खण्ड ३ में की जा चुकी है जिसमें वसिष्ठ द्वारा विश्वामित्र की पराजय का उल्लेख है।

वाल्मीकि रामायण में भी विश्वामित्र की प्रशंसा में अनेकों श्लोक आए हैं जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्धयोधिको लोके तपसश् च परायणम्॥

वा० रा० बा० का० २१/१०

अर्थात् (वसिष्ठ महाराज दशरथ से कहते हैं) यह विश्वामित्र शरीर धारण किए हुए धर्म है, यह बड़े बलवान हैं, इनसे बढ़कर बुद्धिमान और तपः परायण इस संसार में दूसरा कोई नहीं है। (यह उस समय कहा गया जब विश्वामित्र महाराज दशरथ से यज्ञ रक्षा के लिए श्रीराम को माँगने गए थे।)

एषोऽस्त्रान् विविधान् वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
नैनमन्यः पुमान् वेत्ति न च वेत् स्यन्ति केचन॥२१/११॥

---

१. वा० रा० बालकाण्ड ३४/७–१२।
२. महाभारत अनु० पर्व, अध्याय ४।

अर्थात् अनेक अस्त्रों के चलाने की विधियों को जानने वाले तीनों लोकों में तथा चर अचर में वह अकेले ही हैं। इनके स्वरूप का ज्ञान हर किसी को नहीं है और न हो सकता है। (इसके अतिरिक्त विश्वामित्र में नए-नए अस्त्र शस्त्र बनाने की क्षमता थी।[१])

इन सब गुणों के अतिरिक्त मुनिप्रवर कौशिक को त्रिकाल ज्ञान भी प्राप्त था जैसा कि वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में कहा गया है—

तेनास्य मुनि मुख्यस्य सर्वज्ञस्य महात्मनः।
न किंचिदम् यविदितं भूलं भव्यं च राघव ॥२१/१९॥

अर्थात् हे राघव (दशरथ)! इन मुनि प्रवर सर्वज्ञ महात्मा विश्वामित्र को कोई भी बात जो हो चुकी है या होने वाली है अविदित नहीं है, अर्थात् यह त्रिकाल ज्ञानी हैं।

राजा जनक के प्रसिद्ध पुरोहित शतानन्द ने भी विश्वामित्र की प्रशंसा में निम्न बातें कही हैं—

अचिन्त्य कर्मा तपसा ब्रह्मर्षिर् अतुलप्रभः।
विश्वामित्रों महातेजा वेत् स्येनं परमांगतिम् ॥
वा० रा० बा० का० ५१/१४॥

अर्थात् इनके सब कर्म अचिन्त्य हैं।[२] यह तपोबल से राजर्षि से ब्रह्मर्षि हो गए। फिर बह्मर्षियों में साधारण ब्रह्मर्षि नहीं, प्रत्युत अमित प्रभावशाली हैं। यह जगत के परम हितैषी हैं।

विश्वामित्र ज्योतिष शास्त्र आदि के भी ज्ञाता थे–

ज्योतिष के क्षेत्र में विश्वामित्र का प्रचुर योगदान रहा। इनके द्वारा कतिपय तारागणों का निरूपण हुआ, यथा सप्तर्षि, छोटे-छोटे नक्षत्रों सहित अश्विन आदि २७ नक्षत्र, उनके मध्य में नीचे की ओर शिर किए एक महातेजवान त्रिशंकु नाम का नक्षत्र। उन्होंने यह भी निरूपित किया कि त्रिशंकु के इर्द-गिर्द के नक्षत्र त्रिशंकु के तेज ही से प्रकाशित होते हैं। महाभारत के अनुसार उन्होंने कतिपय अन्य नक्षत्रों को भी खोज निकाला था।

विश्वामित्र ने कौशकी का भी पता लगाया था। इस नदी का उद्गम हिमालय के ऊँचे पहाड़ों पर था और इसका बहाव हिंसक जन्तुओं से भरे हुए घने जंगलों में से होकर नीचे आता था। विश्वामित्र के समय तक लोगों को इस

१. अपूर्वाणां च जनने शक्तो भूयश्च धर्मवित् ॥ बा० कां० २१/१८ ॥
२. अर्थात् मन और बुद्धि अगोचर-साधारण मनुष्य की समझ में न आने वाले।

नदो का ज्ञान नहीं था। इसका पता लगाने के बाद उहोंने अपनी प्रिय बहिन के नाम से इसको कौशकी नाम दिया जिसका अपभ्रंश अब कोसी हो गया है। इसी के किनारे आश्रम बनाकर उन्होंने दीर्घ काल तक तपस्या भी की थी। महाभारत में जिस आश्रम को केदार-आश्रम कहा गया है वह कदाचित् विश्वामित्र का ही आश्रम था। अथवा उसी के समीप स्वयं उनका भी आश्रम था। यह अत्यन्त पुनीत स्थल माना जाता था और यहीं पर मतंग मुनि का भी आश्रम था। महाभारत में यह भी कहा गया है कि कौशिकी नदो मनुष्य की पहुँच के परे थी।

अन्तिम पद—विश्वामित्र की महिमा तथा स्वदेश—से सम्बन्धित निम्न श्लोक को उद्धृत करके मुनिवर के प्रकरण को अब हम यहाँ समाप्त करते हैं:—

विश्वामित्र वशिष्ठ शौनक मुखैर्ब्रह्मर्षिभिः पावितम्।
प्रालेयाद्रि सुमेरु विन्ध्यगिरिभिसबभ्रंकपैर्दुर्गमम्॥
जम्बूद्वीप ललामरत्नमतुलं मुक्तिस्थलं योगिनाम।
आर्यैरध्युषितं सुरैरपि नुतं विद्योततां भारतम्॥

भावार्थः—विश्वामित्र, वशिष्ठ, शौनक ऐसे ब्रह्मर्षियों द्वारा पवित्र किया हुआ, हिमालय, सुमेरु, विन्ध्य आदि दुर्गम पर्वतों से युक्त, जम्बूद्वीप का आकर्षण, रत्नों से परिपूरित, योगियों का मुक्ति स्थल, आर्यों द्वारा पोषित तथा देवताओं द्वारा मान्यता प्राप्त, उत्तम विद्याओं का स्थान, ऐसा यह भारत देश है।

अध्याय–१०

महाभारत के समय में कन्नौज; कम्पिल नगर का उत्कर्ष

सारपत्रक

१. महाभारत युग तथा ग्रन्थ का मूल्यांकन ।

२. कन्नौज पांचाल राज्य के अन्तर्गत ।

३. राजा द्रुपद और आचार्य द्रोण के बीच पांचाल देश का विभाजन।

४. कम्पिल नगर का उत्कर्ष, द्रौपदी का स्वयंवर ।

१. महाभारत युग तथा महाभारत काव्य का मूल्यांकन ।

महाभारत युगः—महाभारत युद्ध का समय अनिश्चित है। इस प्रश्न पर विभिन्न विद्वानों का मत अलग-अलग है। आम तौर पर इस युद्ध का समय आज से लगभग २,५००–३००० वर्ष पूर्व आंका जाता है अर्थात् ई० पू० १००० से ई० पू० ६०० के बीच में। अतः महाभारत युग का दौर लगभग ई० पू० १००० से ई० पू० ६०० तक माना जा सकता है।

महाकाव्य का निर्माण तथा मूल्यांकनः—महाभारत काव्य के मूल कथा-सूत्रों का निर्माण महर्षि वेदव्यास द्वारा उक्त अवधि ही में हो चुका था किन्तु ४००-३०० ई० पू० तक उसमें निरन्तर परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन होते रहे। अपने आप में यह ग्रन्थ एक प्रकार से विश्वकोश है जिसमें इतिहास, पुराण, काव्य आदि अनेक विषयों का समावेश हुआ है। वस्तुतः यह तत्कालीन भारत का राष्ट्रीय सार्वभौम महाकाव्य है, यथा—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित ।।[१]

अर्थात्, हे भरतर्षभ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो कुछ इस (महाभारत) में कहा गया है वही अन्यत्र भी कहा गया है, जो इसमें नहीं कहा गया वह कहीं नहीं कहा गया है।

---

१. महाभारत माहात्म्य ।

महाभारत में १८ पर्व[1] तथा कतिपय उपपर्व हैं और एक लाख से कुछ अधिक श्लोक हैं। इस संख्या में प्रक्षिप्त अथवा बाद में मिलाए हुए अंश भी सम्मिलित हैं और वे इतने अधिक हैं कि उनके बीच से मूल ग्रन्थ को अलग करना असम्भव है। कौरव-पाण्डवों की मूल कथा के अतिरिक्त इस काव्य में बहुत कथाएँ, उपकथाएँ हैं। महाभारत के ही अनुक्रमणिका का पर्व मे लिखा है कि व्यास जी ने २४,००० श्लोकों की भारतसंहिता बनाई जिसमें उपाख्यान नहीं थे। इसी पर्व में धृतराष्ट्र ने भारतीय-कथा के मुख्य प्रसंगों का संकेत किया है। अगले पर्व संग्रह पर्व में अधिक लम्बी विषय सूची है। यह सूची वर्तमान अर्थात् प्रचलित महाभारत के विषयों का निर्देश करती है।

कुछ पश्चिमी इतिहासकारों[2] के विचार में महाभारत का कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है। उनके कथनानुसार यह ग्रन्थ केवल काल्पनिक गाथाओं का संग्रह है और इसके नायक व नायिकाएँ ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं। पश्चिमी विद्वानों का यह मत सही नहीं है। पहली बात यह है कि महाभारत में जिन राज्यों तथा नगरों का वर्णन है वे सब ऐतिहासिक हैं। दूसरे इसके सभी पात्र भी काल्पनिक व्यक्ति नहीं हैं क्योंकि उनके बारे में भी कुछ-न-कुछ प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए भीष्म पितामह को भी पित्र तर्पण में जलांजलि दी जाने की प्रथा दीर्घ काल से चली आ रही है। अतः यदि भीष्म पितामह काल्पनिक व्यक्ति होते तो हिन्दुओं में ऐसी सर्वमान्य प्रथा का चलन न होता। तथापि यह सत्य है कि इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक घट-नाओं के साथ कतिपय काल्पनिक बातें जोड़ दी गयी हैं तथा नायकों के महान कार्यों के वर्णन में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति का प्रयोग किया गया है। फिर भी इस महाकाव्य से उस काल के लोगों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक व्यवस्था के बारे में बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में इतिहासकार जे० यच० गेन्से का निम्न कथन दृष्टव्य है :—

"*Its significance*—Many of the personages mentioned in the epic are ficticious rather than real, but from an historical

---

१. (१) आदि पर्व, (२) सभापर्व, (३) वनपर्व, (४) विराटपर्व, (५) उद्योगपर्व, (६) भीष्म पर्व, (७) द्रोण पर्व, (८) कर्ण पर्व, (९) शल्य पर्व, (१०) सौप्तिक पर्व, (११) स्त्री पर्व, (१२) शान्ति पर्व, (१३) अनुशासन पर्व, (१४) आश्वमेधिक पर्व, (१५) आश्रमवासिक पर्व, (१६) मौसल पर्व, (१७) महाप्रस्थानिक पर्व और (१८) स्वर्गारोहण पर्व।

२. V. A. Smith, Jacobi and Macdonnel.

point of view the epic supplies us with valuable information"[1].

(उसकी, अर्थात् ग्रन्थ की सार्थकता—इस महाकाव्य में उल्लिखित बहुत से व्यक्ति कल्पित हैं न कि वास्तविक, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वह हमें मूल्यवान ज्ञान अर्पित करता है ।)

महाभारत के विवरणों में एक त्रुटि यह जान पड़ती है कि उसकी घटनाएँ पूर्णतया क्रमबद्ध रूप में नहीं दी गयी हैं। इससे उनके समझने में कठिनाई होती है तथा कहीं-कहीं भ्रम व शंका भी उत्पन्न होती है । फिर भी केवल इस कारण से ग्रन्थ की सभी बातों को अमान्य नहीं ठहराया जा सकता ।

२ कन्नौज पंचाल–राज्य के अन्तर्गत

पूर्व अध्यायों में कान्यकुब्ज राज्य का प्राचीन इतिहास विश्वामित्र के समय तक का दर्शाया गया है । उसके बाद महाभारत युग तक इस राज्य के विषय में जानकारी नगण्य है । महाभारत में इस राज्य का उल्लेख नहीं है जबकि अन्य प्राचीन राज्यों तथा उनके शासकों के नाम मिलते हैं । ऐसा जान पड़ता है कि शनैः-शनैः इस विशाल राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया था और महाभारत काल में वह पांचाल राज्य का अंग था अथवा उसके अधीन एक लघु सामन्तिक रूप का राज्य था ।

प्राचीन पांचाल के अन्तर्गत आधुनिक बरेली, बदायूँ तथा रुहेलखण्ड के अन्य जिले, एटा, इटावा, फर्रुखाबाद एवं मध्य दोआब का भाग आदि आता था । इस देश के पूर्व में गोमती, दक्षिण में चम्बल, उत्तर-पश्चिम में कुरु देश तथा पश्चिम में शूरसेनों का देश था । वैदिक साहित्य में उत्तर तथा दक्षिण पांचाल का भेद नहीं मिलता परन्तु बाद में वह उपर्युक्त दो भागों में विभाजित हो गया । महाभारत में इन दोनों पांचालों का उल्लेख है । उनका विभाजन गंगा नदी करती थी । उत्तरी पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा थी तथा दक्षिणी भाग की राजधानी काम्पिल्य थी जो अब कम्पिल नाम से जानी जाती है और जो कन्नौज नगर से लगभग ४० किलोमीटर दूर पूर्व की ओर गंगा तट पर एक छोटे कस्बे के रूप में बसीं है ।

जैसा कि एक पूर्व के अध्याय में बताया गया है ब्रह्मदत्त भी पांचाल अविभाजित के एक शासक थे कि जिनका विवाह कन्नौज के महाराज कुशनाभ की कन्याओं से हुआ था । वे वायु देवता के कोप के कारण कुब्जा हो गयी थी किन्तु

१. J. H. Gense's *History of India* (from the earliest times to the present day) (1954 reprint). p. 26.

विवाह के बाद ब्रह्मदत्त के तपोबल के प्रभाव से उन सबने अपने पूर्व सुन्दर रूप को प्राप्त कर लिया था।

जैन ग्रन्थों के अनुसार पांचाल के एक शासक राजा संजय भी थे। जिन्होंने राज्य का परित्याग करके जैन धर्म ग्रहण कर लिया था। उनके सिंहासन छोड़ने के पश्चात् पांचाल की दशा का वर्णन नहीं मिलता। कालान्तर में मगध के मौर्य शासकों ने पांचाल पर आधिपत्य कर लिया था।

पांचाल देश के अतिरिक्त महाभारत युग में अन्य बड़े-बड़े राज्य थे जो महाजनपद भी कहलाते थे। आर्य लोग कई जनों (कबीलों) में बँटे हुये थे। जनों के आवास क्षेत्र (बस्ती या सेटलमेन्ट) का जनपद कहा जाता था। जब इन जनपदों ने अपने मूल रूप में विजय, विवाह तथा संघ रचना द्वारा वृद्धि की तो उस संवर्धित जनपद को ही महाजनपद की संज्ञा दी गयी।[1] इन महाजनपदों की संख्या लगभग २० थी जिनमें से कुछ के नाम निम्न हैं :—

अंग,	चेदि,
मगध,	कुरु,
काशी,	पांचाल,
कोशल,	गांधार।

यह महाजनपद तथा कुछ और जनपद महाभारत युग के बाद भी काफी समय तक कायम रहे। इन महाजनपदों को देश भी कहा जाता था।

उक्त महाजनपदों में अंग का राजा महाभारत विख्यात कर्ण था जिसे यह राज्य दुर्योधन द्वारा प्राप्त हुआ था। विहार प्रदेश के भागलपुर नगर से मुंगेर तक का विस्तृत भूभाग अंग के अधीन था तथा उसकी राजधानी चाम्बापुरी (आधुनिक चम्पापुर) थी जो भागलपुर से २० मील दूर पत्थरघाटा पहाड़ी के निकट स्थित थी। इस राज्य पर कर्ण के अभिषेक का वर्णन महाभारत में इस प्रकार है कि एक बार भीमसेन, दुर्योधन, अर्जुन तथा कर्ण ने रंगभूमि में अस्त्र कौशल का प्रदर्शन किया। यह उस समय हुआ जबकि द्रोणाचार्य द्वारा यह लोग अस्त्रविद्या में दक्ष हो चुके थे। प्रदर्शन के बाद कर्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारा जिसके लिए अर्जुन तैयार हो गए। जब दोनों ने अपने-अपने धनुष उठा लिए द्वन्द-युद्ध की नीति-रीति में कुशल महाभाग कृपाचार्य ने अर्जुन का औपचारिक परिचय देने के बाद कर्ण से कहा कि तुम भी अपने माता-पिता तथा कुल का परिचय दो और उस नरेश का नाम बताओ कि जिनका वंश तुमसे

१. डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी कृत प्राचीन भारत का इतिहास, भाग २ (६०० ई० पू० से ६०० ई० तक), (१९७६), पृ० १२।

विभूषित हुआ है। इसे जान लेने के बाद यह निश्चय किया जायगा कि अर्जुन तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे या नहीं क्योंकि राजकुमार हीन कुल के व्यक्ति से द्वन्द-युद्ध नहीं करते। यह सुनकर कर्ण का मुख लज्जा से नीचे को झुक गया (क्योंकि कर्ण सारथी अधिरथ का पुत्र मानाजाता था)। तब दुर्योधन ने कहा कि यदि अर्जुन राजा से भिन्न पुरुष के साथ रणभूमि में लड़ना नहीं चाहते तो मैं कर्ण को इसी समय अंग देश के राज्य पर अभिषिक्त करता हूँ। तदन्तर दुर्योधन ने महाराज धृतराष्ट्र और पितामह भीष्म की आज्ञा से ब्राह्मणों द्वारा अंग देश के राज्य पर कर्ण को अभिषिक्त कर दिया। उसी समय अधिरथ रंगभूमि में आ पहुँचे और कर्ण ने सिंहासन से उतर कर उनके चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया। तब भीमसेन ने कर्ण को अपमानित करते हुए उसे सूतपुत्र कहा और यह भी कि तुझे तो हाथ में चाबुक लेना चाहिए क्योंकि यही तेरे कुल के अनुरूप है। तब दुर्योधन ने कुपित होकर भीमसेन की बातों की तीव्र भर्त्सना की और अन्त में कहा कि जिसे मेरी बातें सहन न हो वह मेरे ही साथ युद्ध के लिए तैयार हो जाय। यह सुनकर रण मंडप में दुर्योधन को मिलने वाले साधुवाद के साथ ही (युद्ध की सम्भावना से) कोलाहल मच गया। इतने में ही सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये। तब दुर्योधन कर्ण के साथ मशाल की रोशनी कराकर रंगभूमि से निकल गया। पांडव भी द्रोण, कृपाचार्य और भीष्म के साथ अपने-अपने निवास स्थान को चले गए।[1]

यद्यपि महाभारत युग तक एक स्वाधीन राज्य के रूप में कान्यकुब्ज भूभाग की मर्यादा समाप्त हो गयी थी तथापि कन्नौज नगर उस समय भी ससमृद्ध था। इसका प्रमाण यह है कि धर्मराज युधिष्ठिर ने राजा दुर्योधन से केवल पाँच नगर लेकर संधि करने का प्रस्ताव किया था जिसमें एक कन्नौज भी था जिसका नाम उस समय कुशस्थल था।[1] इससे दो बातें प्रमाणित होती हैं, यथा—

(१) कन्नौज नगर उस समय किसी राज्य की राजधानी नहीं था, क्योंकि यदि ऐसा होता तो न तो उसके माँगने का प्रश्न उठता और न ही उसका दुर्योधन द्वारा दिया जाना सम्भव होता।

(२) कन्नौज एक बृहत तथा सुसम्पन्न नगर था तभी तो युधिष्ठिर ने अन्य चार नगरों के अतिरिक्त उसकी माँग की थी। एक नगण्य नगर (यदि कन्नौज वस्तुतः ऐसा होता) को लेकर वे क्या करते।

३. राजा द्रुपद और आचार्य द्रोण के बीच पांचाल राज्य का विभाजन

यह विभाजन उत्तर महाभारत युग से सम्बन्धित है। उसके पूर्व पूरा पांचाल

---

१. महाभारत, (उपपर्व) सम्भव पर्व, अ० १३५-१३६।

देश राजा द्रुपद के अधीन था और तब उसकी राजधानी अहिच्छत्र थी जहाँ पर कि अब रागनगर (जिला बरेली) स्थित है। बँटवारे के फलस्वरूप पांचाल दो भागों में विभक्त हो गया—उत्तरी पांचाल (राजधानी अहिच्छत्र) तथा दक्षिणी पांचाल (राजधानी काम्पिल्य)। उत्तरी पांचाल द्रोणाचार्य के अधीन रहा तथा दक्षिणी पांचाल राजा द्रुपद को मिला। इस विभाजन का विवरण महाभारत के आदि पर्व के अन्तर्गत सम्भव पर्व के अध्याय १२९, १३०, १३७ तथा १६५ वर्णित हैं। उसी का सारांश नीचे दिया जा रहा है।

पांचाल देश के राजकुमार द्रुपद तथा महर्षि भरद्वाज के पुत्र द्रोण सहपाठी थे। प्रारम्भ में दोनों ने भरद्वाज मुनि के आश्रम में अध्ययन किया था। मुनि के स्वर्गवासी होने के बाद दोनों ने भरद्वाज के शिष्य महाभाग अग्निवेश (जो अस्त्रविद्या में दक्ष थे) के आश्रम में धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। दोनों में प्रगाढ़ मित्रता थी यहाँ तक कि एक बार राजकुमार ने द्रोण से कहा था कि "तात ! जब पांचाल नरेश मुझे राज्य पर अभिषिक्त करेंगे उस समय मेरा राज्य तुम्हारे उपभोग में आएगा।" कालान्तर में द्रुपद गद्दीनशीन हुए किन्तु द्रोण निर्धन ही रहे क्योंकि उन्होंने न किसी की नौकरी की और न धन उपार्जन का कोई अन्य प्रयत्न ही। उनका ब्याह भी हो चुका था और उनकी पत्नी तथा पुत्र अश्वत्थामा कष्टमय जीवन व्यतीत करते थे जिसका प्रमाण यह था कि जब बालक अश्वत्थामा दूध की माँग करता था तब उसे पानी में आँटा घोल कर दिया जाता था यह कह कर कि यह दूध है। इस बात को लेकर अश्वत्थामा के साथी उसका उपहास करते थे। उस समय कुछ लोग द्रोण को धिक्कारते भी थे। उस व्यथा में द्रोण को द्रुपद की मैत्री और द्रुपद द्वारा कही बातों का स्मरण हो आता था। तदनन्तर द्रोण राजा द्रुपद के यहाँ जाकर इस प्रकार बोले—"राजन् ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि मैं तुम्हारा प्रिय मित्र द्रोण तुमसे मिलने के लिए आया हूँ।" यह सुन कर राजा द्रुपद क्रोधित हो गये और उनका तिरस्कार करते हुए कहा कि, "ओ मूढ़ ! बड़े-बड़े राजाओं की तुम्हारे—जैसे श्रीहीन और निर्धन जैसे मनुष्यों के साथ कभी मित्रता नहीं हो सकती।" राजा द्रुपद ने कुछ इसी प्रकार की अन्य बातें भी कहीं जो आज के समाज में भी लागू होती हैं। यथा—

(१) समय के अनुसार मनुष्य ज्यों-ज्यों वृद्ध होता है त्यों ही त्यों उसकी मैत्री भी क्षीण होती चली जाती है। पहले तुम्हारे साथ जो मेरी मित्रता थी वह सामर्थ्य को लेकर थी—उस समय मैं और तुम समान शक्तिशाली थे।

(२) लोक में किसी भी मनुष्य के हृदय में मैत्री अमिट होकर नहीं

रहती। समय एक मित्र को दूसरे से विलग कर देता है अथवा क्रोध मनुष्य को मित्रता से हटा देता है। इस प्रकार क्षीण होने वाली मित्रता का क्या भरोसा। तुम्हारे साथ जो पहले मेरी मित्रता थी वह साथ-साथ खेलने और अध्ययन करने आदि स्वार्थ को लेकर हुयी थी।

(३) न दरिद्रो वसुमतो ना विद्वान् विदुषः सखा।
न शूरस्य सखा क्लीवः सखि पूर्वं किमिष्यते ॥९॥
ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम्।
तयोर् विवाहः सख्यं च न तु पुष्ट त्रिपुष्टयोः ॥१०॥

अर्थात् दरिद्र मनुष्य धनवान् का, मूर्ख विद्वान का और कायर शूरवीर का सखा नहीं हो सकता। अतः पहले की मित्रता का क्या भरोसा करते हो। (९) जिनका धन समान है, जिनकी विद्या एक—सी है उन्हीं में विवाह और मैत्री का सम्बन्ध हो सकता है (हृष्ट-पुष्ट) और दुर्बल में (धनवान् और निर्धन में) कभी मित्रता नहीं हो सकती। म० भा० (आदि पूर्व) सम्भव पूर्व, १३०।९-१०.

राजा द्रुपद के यों कहने पर द्रोण मन ही मन क्रोधित हुए और पांचाल नरेश से बदला लेने का निश्चय कर कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर नगर में चले गये। वहाँ पर पितामह भीष्म ने उनका स्वागत किया और राजकुमारों को धनुर्विद्या सिखाने के लिए नियुक्त किया। द्रोण इस कार्य के लिए सर्वदा उपयुक्त थे क्योंकि उन्होंने सर्वज्ञ एवं शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ परशुराम जी से भी शस्त्र विद्या प्राप्त की थी। भीष्म जी ने द्रोण को धन-रत्न और हर प्रकार की सामग्रियों से सुसज्जित तथा धन धान्य से सम्पन्न भवन भी प्रदान किया। राजकुमारों के गुरु होने के नाते वे अब आचार्य द्रोण अथवा द्रोणाचार्य के नाम से जाने जाने लगे।

जब युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन आदि अस्त्र-शस्त्र विद्या में पारंगत हो गये और गुरु—दक्षिणा लेने का समय आया तब द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों से से कहा पांचाल राज द्रुपद को युद्ध में कैद करके मेरे पास ले आओ—यही मेरे लिए सर्वोत्तम गुरु दक्षिणा होगी। तदनन्तर आचार्य को साथ लेकर सब राजकुमारों ने पांचाल पर आक्रमण किया। भीषण युद्ध के बाद राजकुमारों ने द्रुपद को रणक्षेत्र में बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य को उपहार के रूप में दे दिया। युद्ध में पराजित होने से द्रुपद राज्यच्युत हो चुके थे और उनका शरीर तथा राज्य द्रोणाचार्य के अधीन था। फिर भी वाल्यकाल की मित्रता तथा स्नेह का ध्यान रखते हुए द्रुपद से कहा कि मैं पुनः तुमसे मैत्री के लिए आग्रह करता हूँ और तुम्हें वर देता हूँ कि इस राज्य का आधा भाग मुझसे ले लो। "द्रुपद

तुमने कहा था कि जो राजा नहीं है वह राजा का मित्र नहीं हो सकता, इसीलिये मैंने तुम्हारा राज्य लेने का प्रयत्न किया। गंगा के दक्षिण प्रदेश के तुम राजा हो और उत्तर के भूभाग का राजा मैं हूँ। पांचाल ! अब यदि उचित समझो तो मुझे अपना मित्र मानो।" उत्तर में द्रुपद ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की और सदा बनी रहने वाली मित्रता का भाव प्रदर्शित किया।

तब द्रोणाचार्य ने राजा द्रुपद को मुक्त कर दिया और प्रसन्नचित्त हो उनका आदर सत्कार करके उन्हें आधा राज्य दे दिया। तदनन्तर राजा द्रुपद दीनता पूर्ण हृदय से गंगा तटवर्ती नगरों में श्रेष्ठ काम्पिल्य नगर में रहकर दक्षिणवर्ती पांचाल देश का शासन करने लगे। उधर द्रोणाचार्य ने उत्तर पांचालवर्ती अहिच्छत्र राजधानी) राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार यह राज्य द्रोणाचार्य को अर्जुन आदि से गुरु-दक्षिणा के रूप में प्राप्त हुआ।

(महाभारत में उल्लिखित विवरण समाप्त)

यह विभाजन महाभारत युग के अन्त तक रहा यानी ई० पू० ६०० तक। गौतम बुद्ध के समय में (ई० पू० लगभग ५६३ से ई० पू० ४८३ तक) दोनों भाग फिर एक हो गये थे। तदन्तर यह भूभाग अन्य राज्यों में विलीन हो गया। उसका अधिक भाग पुनर्स्थापित कान्यकुब्ज राज्य में समाहित हुआ जबकि मौखरि वंशीय शासकों ने सन् ५४० (ई० बा०) के लगभग इस पर शासन आरम्भ किया और कन्नौज नगर अपना राज्य केन्द्र बनाया। लगभग सन् ६०६ में इस वंश का अन्त होने पर महाराज हर्षवर्धन इस राज्य के स्वामी हुए और उसे बढ़ा कर एक विशाल साम्राज्य कायम किया।

४. कम्पिल नगर का उत्कर्ष

द्रोपदी का स्वयंवर

नोटः—छठीं सदी के पूर्वार्ध में जब मौखरियों द्वारा कान्यकुब्ज भूभाग का स्वतन्त्र राज्य के रूप में पुनर्उत्थान हुआ तभी कम्पिल नगर इस राज्य के अधिकार में फिर आ गया जैसा कि महाराज विश्वामित्र के समय में था। अतः उस नगर की प्राचीनता आदि का विवरण इस उपशीर्षक में दिया जा रहा है।

जो आजकल कम्पिल नगर है वह पूर्व काल में काम्पिल्य के नाम से विख्यात था। अपने उत्कर्ष के समय कम्पिल भारत के मुख्य नगरों में था तथा उत्तरापथ में इसका विशेष स्थान था। इसका पूर्व वैभव, कन्नौज की भाँति, अतीत में विलीन हो गया है। इसकी प्राचीनता आस-पास के टीलों की तह में है तथा दूर तक बिखरे हुए कुछ खण्डहर इसके मूक संस्मरण हैं। अब केवल इतिहास के कुछ पृष्ठों ही में इसकी यादगारें सुरक्षित हैं।

वर्तमान कम्पिल फर्रुखाबाद जनपद में एक पवित्र गाँव के रूप में स्थित है। अधिकाधिक इसे एक छोटा कस्बा कहा जा सकता है। यह गंगा के दाहिने तट पर बसा है और कन्नौज और फर्रुखाबाद के बीच में कन्नौज के पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर पड़ता है।

अब कम्पिल की प्रतिष्ठा केवल एक जैन तीर्थ के रूप में शेष रह गयी है। भारत के जैन स्थलों में इसकी गणना है तथा उत्तर प्रदेश में यह जैनियों का प्रमुख केन्द्र है। जैन ग्रन्थों के अनुसार महावीर स्वामी ने जनता को जैनधर्म का उपदेश यहीं से प्रारम्भ किया था। जैनियों के १३वें तीर्थंकर विमलनाथ यहीं जन्मे थे और उनका तप आदि यहीं हुआ था। आज भी यहाँ दो प्राचीन जैन मन्दिर हैं।

महाभारत में कम्पिल नगर का वर्णन—द्रोपदी के स्वयंबर के प्रकरण में तथा कुछ अन्य स्थलों में कम्पिल नगर की श्रेष्ठता का विवरण महाभारत में आया है जिसका संक्षिप्त रूप नीचे दिया जा रहा है—

(१)

काम्पिल्य नगर में चारों ओर ऊँचे और श्वेत रंग के गगनचुम्बी महल बने हुए थे। उनके भीतर की दीवारों में मणि एवं रत्न जड़े थे तथा सुखपूर्वक चढ़ने योग्य सीढ़ियाँ बनी थीं। सोने के जालीदार पर्दों और झालरों से वे सुसज्जित थे। वे महल सात मंजिलों में बने थे और उनमें सैकड़ों दरवाजे थे। नगर के चारों ओर चहारदीवारी और जल से भरी खाई थी।[1]

(स्व० प० अन्तर्गत आ० पर्व, अ० १८४)

(२)

यन्त्र, आयुध, अनाज, औषधि, रस, आदि से यह नगर भरपूर था तथा उसमें बहुत से द्रव्यागार भी थे। नगर में भयंकर और ऊँचे विशाल चक्र भी थे। इसकी चहारदीवारी सुदृढ़ थी और शतघ्नी (तोप) नामक अस्त्रों के समुदाय से नगर घिरा हुआ था। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं की पंक्तियाँ नगर को घेरे हुए थीं। नगर की रक्षा के लिए तीन प्रकार का घेरा बना था, यथा एक तो ईंटों का, दूसरा काठ और तीसरा मानव सैनिकों का। ऊँचे-ऊँचे शाल वृक्षों की

---

१. म० भा० स्वयंवर पर्व (अन्तर्गत आ० प०) अ० १८८।१६, १७, १९-२३।

पंक्तियाँ नगर को चारों ओर से सुशोभित किये हुए थी ।[3]

(३)

द्रोपदी स्वयंवर को देखने के लिए जब ब्राह्मण भेष में पाँचों पांडव कुन्ती सहित काम्पिल्य नगर गए थे तब वे वहाँ एक कुम्हार के घर ठहरे थे ।[2] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नगर की आम जनता भी सुसम्पन्न थी । वहाँ भिक्षा भी प्रचुर मात्रा में मिलती थी जो इस बात की सूचक थी कि वहाँ बड़ा सुकाल था[3] और वहाँ के निवासी बड़े उदार भी थे ।

महर्षि अग्निवेश और कपिल मुनि के आश्रम कम्पिल के आस-पास थे—उस युग में महर्षि अग्निवेश का आश्रम भी कम्पिल क्षेत्र में था । महाभाग अग्निवेश अस्त्र-शस्त्र विद्या के मर्मज्ञ थे । आचार्य अत्रिय, जिन्होंने आत्रेय संहिता की रचना की थी मुनि, ने अग्निवेश को यहों पर शल्य क्रिया की शिक्षा दी थी । अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ महर्षि भरद्वाज ने अग्निवेश को आग्नेय अस्त्र की शिक्षा दी थी । बाद में स्वयं अग्निवेश ने अपने गुरुपुत्र भरद्वाजनन्दन द्रोण को उसी आग्नेय नामक महान अस्त्र की शिक्षा दी थी । राजकुमार द्रुपद भी महर्षि भरद्वाज तथा अग्निवेश मुनि के शिष्य थे । इस प्रकार द्रोण और राजकुमार द्रुपद सहपाठी तथा गुरुभाई थे और दोनों में मित्रता भी थी जैसा कि पूर्व के उप शीर्षक में बताया गया है ।

ऐसी जनश्रुति है कि महाभारत युद्ध के बाद महर्षि कपिल कम्पिल के आस-पास किसी आश्रम में रहते थे तथा वहीं उन्होंने भारतीय सांख्य दर्शन का प्रतिपादन किया था ।

द्रोपदी का स्वयंवर—जैसा कि पूर्व शीर्षक में बताया जा चुका है कम्पिल नगर दक्षिण पांचाल की राजधानी थी जो भूभाग राजा द्रुपद को अविभाजित पाञ्चाल के बटवारे में द्रोणाचार्य अर्जुन आदि से मिला था । कम्पिल (प्राचीन काम्पिल्य) नगर ही में द्रोपदी का स्वयंवर हुआ था । यह पांचाल के शासक राजा द्रुपद की आत्मजा थी तथा इनकी उत्पत्ति पांचाल के बटवारे के बाद हुयी थी अर्थात् उस समय जबकि राजा द्रुपद के अधिकार में केवल दक्षिण पांचाल (राजधानी काम्पिल्य) ही रह गया था । स्वयम्वर में अर्जुन विजयी हुए

१. म० भा० विदुरागमन-राज्यलम्भ पर्व, १९९ । श्लोक ७ तथा ८ के बीच के कतिपय श्लोक जिनमें नम्बर नहीं पड़े हैं क्योंकि मूल संस्करण में वे नहीं हैं । गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित महाभारत की प्रथम जिल्द में उक्त अंश उद्धृत हैं ।

२. म० भा० आ० प० अन्तर्गत स्वयम्बर पर्व, अ० १८४।६ ।

३. म० भा० आ० प० अन्तर्गत चैत्ररथपर्व,/१६७।७ ।

थे और फिर बाद में द्रोपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों से हुआ था। महाभारत के युद्ध में राजा द्रुपद पाण्डवों की ओर से लड़े थे।

स्वयम्वर की पृष्ठभूमि इस प्रकार है—पाण्डवों को नष्ट करने के लिए दुर्योधन ने कतिपय षड्यंत्र रचे थे उनमें से एक यह था कि एक लक्षागृह[1] बनवाकर किसी व्याज से पाण्डवों को उसमें रखा जाय और तब उसमें आग लगाकर उन्हें भस्म कर दिया जाए। किन्तु यह योजना सफल न हुई क्योंकि पाण्डवों को इस षड्यन्त्र का भेद पहले से ही मिल गया था अतः एक रात्रि को लक्षागृह में स्वयं आग लगाकर कुन्ती सहित वे एक गुप्त सुरंग से निकल गये जिसे विदुर ने बनवा दिया था। उसी रात्रि को लक्षागृह में निषाद जाति की एक स्त्री किसी कारणवश अपने पाँच प्रौढ़ पुत्रों के साथ आकर ठहर गयी थी किन्तु इसकी जानकारी पाण्डवों को न थी अतः वह अपने पुत्रों सहित जलकर भस्म हो गयी। इस प्रकार दुर्योधन को विश्वास हो गया कि कुन्ती सहित पाँचों पाण्डव लक्षागृह में दग्ध हो गये। पाण्डव बच तो गये किन्तु समय को प्रतिकूल जानकर उन्होंने अपने को गुप्त ही रखा। इस प्रकार छिपे रहकर उन्होंने एक चक्रा नगरी में एक ब्राह्मण के घर में निवास कर भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह किया। वहीं उन्हें जब द्रोपदी के स्वयंवर होने की सूचना मिली तब उन्होंने ब्राह्मण के भेष में काम्पिल्य नगरी में जाकर एक कुम्हार के घर में रहने की व्यवस्था की। राजा ने जब द्रोपदी के स्वयंवर की घोषणा की थी तभी उन्होंने एक ऐसा बड़ा और दृढ़ धनुष बनवाया कि जिसे अर्जुन के अतिरिक्त कोई दूसरा न झुका सके और साथ ही एक कृत्रिम आकाश यन्त्र भी बनवाया जो वेग से आकाश में घूमता रहता था तथा उस यंत्र के छिद्र के ऊपर उसी के बराबर लक्ष्य भी बनवाया। यह सब उन्होंने इसलिये किया था कि द्रोपदी का व्याह अर्जुन से ही हो। अतः उसकी घोषणा यह थी कि जो वीर इस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर प्रस्तुत वाणों द्वारा ही यन्त्र के छेद के भीतर से लक्ष्य भेद करेगा वही मेरी पुत्री को प्राप्त कर सकेगा। स्वयंवर के मनोनीत दिन सभी राजा यथा स्थान रंगभूमि में बैठाये गये जिनमें दुर्योधन, कर्ण, अश्वत्थामा, शिशुपाल भी थे। स्वयंवर देखने के लिए श्रीकृष्ण भी वहाँ थे तथा बहुत से ऋषि मुनि भी। अपार संख्या में जनता भी वहाँ उपस्थित थी और उन्हीं के बीच ब्राह्मण भेष में पांडव भी बैठे थे।

---

१. इस गृह को बनाने में राल, सन, तेल आदि आग भड़काने वाली चीजों का प्रयोग किया गया था तथा दीवारों पर पलस्तर भी इन्हीं चीजों को चूने में मिलाकर किया गया था।

जब हवन-पूजन समाप्त हो गया और बाजों का बजना बन्द करा दिया गया तब द्रोपदी के भाई ने औपचारिक रीति से घोषणा की कि जो उत्तम कुल, सुन्दर रूप तथा बल-सम्पन्न वीर उस धनुष द्वारा पाँच बाणों से उस यन्त्र के छेद के भीतर से लक्ष्य को भेदकर गिरा देगा वह मेरी बहिन का स्वामी होगा। केवल कर्ण को छोड़कर कोई भी राजा उस धनुष को उठा तक न सका। बड़े-बड़े राजाओं ने प्रयत्न करने का साहस भी न किया। जब कर्ण ने धनुष को उठाकर उस पर प्रत्यन्चा चढ़ा दी और शीघ्र ही धनुष पर पाँचों बाण जोड़ दिये तब—

दृष्ट्वा तु तं द्रोपदि[1] वाक्य मुच्चैर्।
जगाद नाहं वरयामि सूतम्॥
सामर्ष हासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं[2]।
तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत्॥[3]

(कर्ण को देखकर द्रोपदी ने उच्च स्वर से यह वाक्य का—"मैं सूत जाति के पुरुष का वरण नहीं करूँगी।" यह सुन कर कर्ण ने अमर्षयुक्त हंसी के साथ सूर्य की ओर देखा और उस प्रकाशमान् धनुष को डाल दिया।)

कर्ण के बाद दुर्योधन, शिशुपाल आदि कुछ अन्य योद्धाओं ने भी प्रयत्न किया किन्तु वे भी असफल रहे। तत्पश्चात् ब्राह्मण भेषधारी अर्जुन सहसा अपने स्थान से उठे, धनुष की परिक्रमा की, भगवान शंकर को मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और श्रीकृष्ण का मन में चिन्तन करके धनुष को उठा लिया और बात-की-बात में लक्ष्य भेद दिया। तब—

विनस्य मालां विनयेन तस्थौ, विहाय राज्ञः सहसा नृपात्मजा।
शचीव देवेन्द्र मथाग्नि देवं, स्वाहेव लक्ष्मीश्च यथा मुकन्दम्॥
उषेव सूर्यं मदनं रतिश्च, महेश्वरं पर्वतराज पुत्री।
रामं यथा मैथिलराज पुत्री, भैमी यथा राजवरं नलं हि॥[4]

अर्थात् निकट जाकर राजकुमारी द्रोपदी ने वहाँ जुटे हुए समस्त राजाओं की उपेक्षा करके सहसा वह माला अर्जुन के गले में डाल दी और विनय पूर्वक खड़ी हो गयी। जैसे शची ने इन्द्र का, स्वाहा ने अग्निदेव का, लक्ष्मी ने विष्णु का,

---

१. उच्चारण की दृष्टि से यहाँ "द्रोपदि" लिखा गया है जबकि शुद्ध शब्द द्रोपदी ही है।
२. सूर्य पुत्र होने के नाते से कर्ण ने सूर्य की ओर देखा।
३. महाभारत, स्वयंवर पर्व (आदि पर्व के अन्तर्गत, अ० १८६।२३।
४. म० भा० स्वयंवर पर्व (आदि पर्व के अन्तर्गत), अ० १८७।२७।

उषा ने सूर्यदेव का, रति ने कामदेव का, गिरिराज कुमारी उमा ने महेश्वर का, सीता ने श्रीराम का तथा दमयन्ती ने नृपश्रेष्ठ नल का वरण किया था, उसी प्रकार द्रोपदी ने अर्जुन का वरण कर लिया।

क्योंकि अर्जुन ने अपने को प्रकट नहीं किया था अतः दुर्योधन, कर्ण आदि राजाओं ने एक ब्राह्मण द्वारा द्रोपदी को प्राप्त किये जाने पर विरोध किया और एक अशोभनीय संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। अन्ततः अर्जुन और भीम ने अपने पराक्रम द्वारा सबको पराजित करके द्रोपदी के साथ अपने निवास स्थान (कुम्हार के घर) पर आए। बाहर से ही उन्होंने कुन्ती माता को सम्बोधित करके सूचित किया कि हम लोग भिक्षा लाए हैं। तब—

कुटीगता सा व न वेक्ष्य पुत्रो, प्रोवाच भुंक्तेति समेत्य सर्वे।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां, कष्टं मया भाषित-मित्युवाच ॥[1]

अर्थात् उस समय कुन्ती कुटिया के भीतर थी, अतः उन्होंने पुत्रों को देखे बिना ही उत्तर दे दिया, (भिक्षा लाए हो तो) ''तुम सभी भाइ मिलकर उसे पाओ।'' तत्पश्चात् द्रोपदी को देखकर कुन्ती ने चिन्तित होकर कहा अफसोस। मेरे मुँह से बड़ी अनुचित बात निकल गयी।

बाद में राजा द्रुपद को मालूम हो गया कि वह ब्राह्मण भेषधारी युवक अर्जुन ही थे तथा उनके साथ युधिष्ठिर तथा अन्य तीनों भाई भी उसी भेष में थे। इस पर वे प्रसन्न हुए किन्तु जब उन्हें मालूम हुआ कि द्रोपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ होगा जैसा कि कुन्ती के मुँह से उक्त बात निकल गयी थी तब उन्होंने उसका विरोध किया। बाद में मुनि श्रेष्ठ व्यास जी ने उक्त प्रस्ताव का अनुमोदन किया कि जिसे युधिष्ठिर ने कुन्ती माता की बात को निबाहने के लिए प्रारम्भ में प्रस्तुत किया था। व्यास जी के तर्क से द्रुपद सन्तुष्ट हो गए और फिर उन्होंने बड़ी धूमधाम से राजकुमारी का व्याह पाँचों पाण्डवों के साथ कर दिया।[2]

---

१. म० भा० आदि पर्व अन्तर्गत स्वयंवर पर्व, १९०।२।

२. उक्त वर्णन म० भा० के आदि पर्व अन्तर्गत निम्न पर्वोपर आधारित है:—

जतुगृह पर्व अ० १४३–१४७
हिडिम्ब पर्व अ० १५५।
चैत्ररथ पर्व अ० १६६–१६७
{ स्वयम्बर पर्व, पूरा०
वैवाहिक पर्व, पूरा०

भाग ३

प्राचीन काल अथवा हिन्दू काल

अध्याय

११. महाजनपद युग; बुद्धोत्तर तथा मगध साम्राज्य काल

१२. कन्नौज का मौखरि वंश :—

[हरिवर्मन, आदित्यवर्मन, ईश्वरवर्मन, ईशानवर्मन, सर्ववर्मन, अवन्तिवर्मन, गृहवर्मन]

भाग ४

मध्यकाल अथवा राजपूत काल

१३. सम्राट हर्ष वर्धन

१४. हर्ष के ७५ साल बाद तक अन्धकारमय समय

१५. सम्राट यशोवर्मन और उनके उत्तराधिकारी

अध्याय–११

महाजनपद युग; बुद्धोत्तर तथा मगध साम्राज्य अनुकाल

सारपत्रक

१. प्रमाणित इतिहास बुद्ध के समय से, उत्तर भारत में १६ महाजनपद, उस काल में कन्नौज की स्थिति

२. बुद्धोत्तर अथवा मगध साम्राज्य युग

३. मगध साम्राज्य युग में कन्नौज राज्य की स्थिति

१. प्रमाणित इतिहास बुद्ध के समय से, १६ महाजनपद, उस काल में कन्नौज की स्थिति

ईसा पूर्व छठी सदी के पहले अर्थात् महाभारत युग के पूर्व की घटनाएँ शृंखलाबद्ध नहीं हैं। तब तक के इतिहास की कुछ प्रमुख तथा एक-दूसरे से असम्बन्धित घटनाओं की ही जानकारी है। उस समय तथा उसके पूर्व के इतिहास को बातें साहित्यिक ग्रन्थों (महाभारत, रामायण, आदि) पर ही आधारित हैं किन्तु उनमें काव्यात्मक शैली की प्रधानता होने के कारण कल्पना का समावेश है। फलतः ऐतिहासिक तथ्य तथा काल्पनिक बातें एक-दूसरे में इतनी मिश्रित हो गयी हैं कि उनका पृथक करना कठिन है। अतः अधिकतर इतिहासज्ञ भारत के राजनीतिक इतिहास को बुद्ध के समय ही से प्रारम्भ होना मानते हैं अर्थात् ई० पू० छठी सदी के बाद से जब से कि ऐतिहासिक घटनाएँ सिलसिलेवार शुरू होती हैं।

गौतम बुद्ध तथा स्वामो महावीर का

समय-बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का जन्म लगभग ई० पू० ५६३ में हुआ था तथा निर्वाण ८० वर्ष की आयु में ई० पू० लगभग ४८३ में गोरखपुरजिले के कुशीनगर (अब कसिया) में। बौद्ध ग्रन्थों से उस समय के ऐतिहासिक तथ्यों पर बड़ा प्रकाश पड़ता है और आम तौर पर उनमें उल्लिखित ऐतिहासिक बातें प्रमाणित मानो जाती हैं। गौतम बुद्ध एकअवतार माने जाते हैं

और इसी हैसियत से उनका नाम धार्मिक कार्यों के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले संकल्प में आता है, यथा "बौद्धावतारे।"

इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में उल्लिखित ऐतिहासिक बातों को इतिहासकार सही मानते हैं। जैन धर्म के प्रमुख ऐतिहासिक आचार्य महावीर स्वामी थे (ई० पू० ६९९-ई० पू० ५२७)। गौतम बुद्ध इनके समसामयिक थे किन्तु दोनों महानुभावों के पारस्परिक सम्पर्क का प्रमाण नहीं है।

सोलह महाजनपद—विभिन्न प्रमाणित सामग्री के आधार पर इतिहासकार इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि ई० पू० सातवीं सदी के अन्तिम भाग में (अर्थात् बुद्ध जन्म के पूर्व) आर्यों के अधिकार में जितना भूभाग था वह दो प्रमुख भागों में विभाजित था अर्थात् उत्तरापथ या उत्तर भारत और दक्षिणापथ या दक्षिण भारत अर्थात् नर्मदा नदी के दक्षिण से कन्या कुमारी तक का देश। उत्तर भारत में १६ महाजनपद या प्रदेश थे। जनपद लगभग आज-कल के जिले के भूभाग के बराबर होता था (जिले को अब जनपद की संज्ञा दी जाने लगी है) एक साथ मिले हुए कतिपय जनपदों के समूह को महाजनपद कहा जाता था और यह शासन व्यवस्था की एक इकाई थी जो एक शासक (राजा) के अधीन होती थी। जैसा कि पूर्व अध्याय में बताया गया है महाजनपदों की प्रथा महाभारत युग में भी थी किन्तु इतिहासकारों ने जनपदों का युग महाभारत युग के बाद ही माना है क्योंकि वे महाभारत युग को शुद्ध इतिहास के दौर में नहीं मानते और उस महाकाव्य को ऐतिहासिक घटनाओं का ग्रन्थ भी प्रायः नहीं मानते।

उक्त १६ महाजनपदों में मुख्य थे (१) मगध, (२) काशी, (३) कोशल (४) पांचाल, (५) वत्स, (६) कुरु और (७) अवन्ति। इनका सूक्ष्म विवरण निम्न प्रकार है :—

मगध—बिहार में गंगा के दक्षिण का भाग मगध कहलाता था। इसकी राजधानी पहले राजगृह थी जो अपने वैभव के लिए प्रसिद्ध थी। यहाँ का सबसे प्रसिद्ध प्राचीन राजा जरासंध था। जिसका जिक्र महाभारत में आया है। बाद में इसकी राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) हुई।

काशी—इस युग में अधिक प्रसिद्ध जनपद काशी था जिसकी राजधानी काशी वाराणसी) थी। यहाँ का शासक काशिराज कहलाता था। विद्या के अतिरिक्त उस समय यह शिल्प और व्यापार का भी केन्द्र था।

कोशल—आज कल का अवध तब कोशल का जनपद कहा जाता था। उस समय इसकी राजधानी अयोध्या न थी बल्कि उत्तर में राप्ती के किनारे श्रीवस्ती

थी। इसके खण्डहर अब गोन्डा, बहराइच की सीमा पर सहेत-महेत नामक ग्रामों में मिलते हैं।

पांचाल—यह जनपद गंगा-यमुना के दोआब के पूर्वी भाग में स्थित था। जैसी कि महाभारत युग में स्थिति थी वैसी ही महाजनपद युग में भी अर्थात् इसके दो भाग थे—उत्तर पांचाल (राजधानी अहिच्छत्र) और दक्षिण पांचाल (राजधानी काम्पिल्य)। बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि इसके एक प्रसिद्ध राजा दुर्मुख ने दूर-दूर तक विजय की थी।

वत्स—यह आधुनिक इलाहाबाद के इर्द-गिर्द था। इसकी राजधानी कौशाम्बी या इलाहाबाद थी। कौशाम्बी के खण्डहर आज भी यमुना के तट पर इलाहाबाद से ३० मील दूर कोसम में मिलते हैं।

कुरु—यमुना के किनारे इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर के आस-पास का भूभाग इसमें था। आजकल यहीं दिल्ली राज्य है। प्राचीन काल में कुरुक्षेत्र यज्ञों का क्षेत्र था और गीता में भी इसे धर्मक्षेत्र कहा गया है तथा आजकल भी यह भारत के प्रमुख तीर्थों में एक है। महाभारत युग में इसकी महत्ता सबसे अधिक रही।

अवन्ति—यह आज के पश्चिमी मालवा के स्थान पर था और इसकी राजधानी उज्जयनी (अब उज्जैन) थी।

महाजनपद युग में कन्नौज—इस युग में कन्नौज राज्य की स्थिति के संबंध में इतिहास मूक है। इस काल के १६ महाजनपदों में कन्नौज का नाम नहीं है जिससे प्रतीत होता है कि राज्य-शासन की इकाइयों में उसकी गणना नहीं थी। अतः निष्कर्ष यह है कि प्राचीन कान्यकुब्ज राज्य का भूभाग एक या एक से अधिक शासकीय इकाइयों के अन्तर्गत था। ऐसा भासित होता है कि उपरिलिखित सात महाजनपदों में उसका इलाका वितरित था तथा अधिकांश भाग पांचाल महाजनपद में शामिल था। पांचाल और कान्यकुब्ज एक दूसरे से भौगोलिक दृष्टि से सटे हुए थे तथा अत्यन्त प्राचीन काल में पांचाल का भूभाग कान्य-कुब्जाधिपति द्वारा ही शासित था। दक्षिण पांचाल की राजधानी काम्पिल्य तो कन्नौज नगर के समीप ही थी तथा पूर्वकाल में वह कन्नौज नगर से ही सम्बन्धित थी।

साथ ही यह भी कहना है कि राज्य के रूप में भले ही कान्यकुब्ज देश का अस्तित्व न रहा हो तथापि नगर के रूप में कन्नौज प्रतिष्ठित नगरों में था। इसका एक प्रमाण यह है कि गौतम बुद्ध कन्नौज नगर में आए थे।

२. बुद्धोत्तर अथवा मगध साम्राज्य युग

मगध साम्राज्य युग ई० पू० ६०० से ई० बा० ६०० तक के लगभग माना

जाता है। यह प्राचीन काल अथवा हिन्दू काल भी कहा जाता है। मगध महा-जनपद के शासकों ने एक वृहत साम्राज्य कायम किया था जो मगध साम्राज्य के नाम से विख्यात है। इस युग में कान्यकुब्ज राज्य की स्थिति पर दृष्टिपात करने के पहले मगध साम्राज्य का कालक्रम देना अपेक्षित है जो निम्न प्रकार है :

ई० पू० ६०० ई० पू० ४११	बिम्बसार वंश। इस वंश के प्रमुख शासक बिम्बसार तथा उसका पुत्र अजातशत्रु थे। बिम्बसार के समय राजधानी राजगृह (अब राजगिरि) जिसे बदल कर अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र (अब पटना) की।
ई० पू० ४११ ई० पू० ३६२	शिशुनाग वंश। इसका संस्थापक काशी का हाकिम शिशुनाग था जो बाद में मगध दरबार में एक मंत्री हुआ और जिसने बिम्बसार वंश के अन्तिम शासक से मगध साम्राज्य हस्तगत किया था। इस वंश का अन्तिम राजा महानन्दिन (अथवा नन्दिवर्धन) था जिसने एक शूद्रा स्त्री को अपनी रानी बनाया था। उससे उत्पन्न पुत्र महापद्म नन्द था जो अपनी उत्पत्ति के कारण शिशुनाग वंश का सदस्य नहीं माना जाता था तथापि राज्य का उत्तराधिकारी वही हुआ। इस प्रकार शिशुनाग वंश का अन्त हुआ और नन्दवंश की स्थापना हुई।
ई० पू० ३६२-ई० पू० ३२५	नन्दवंश जिसका संस्थापक उपरिलिखित महा-पद्म नन्द था। उसकी उत्पत्ति के विषय में एक दूसरा मत यह है कि वह एक नाई का पुत्र था और अपने रूप के कारण शिशुनाग के उत्तराधिकारी कालाशोक की रानी का प्रेमी हो गया था तथा उसी ने रानी आदि के साथ षड्यन्त्र करके कालाशोक का वध कर दिया। उसके बाद मृत राजा के पुत्रों का अभिभावक रहा और अन्ततः उन्हें भी मार कर स्वयं गद्दी नशीन हुआ।

ई० पू० ३२५-ई० पू० १८४	मौर्य वंश जिसका प्रस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था जिसने नन्द वंशीय अन्तिम शासक घनानन्द को पराजित करके मगध पर अधिकार कर लिया था। अर्थशास्त्री कौटिल्य उपनाम चाणक्य ने नन्दवंश के उन्मूलन में चन्द्रगुप्त की सहायता की थी, अपने परामर्श द्वारा और बाद में उसका गुरु तथा प्रधानमंत्री बना। सम्राट अशोक (ई० पू० २७४-ई० पू० २३२) चन्द्रगुप्त का पुत्र था।
ई० पू० १८४-ई० पू० ७५	शुंग वंश, पुष्पमित्र शुंग द्वारा स्थापित। पुष्पमित्र अन्तिम मौर्य शासक वृहद्रथ का सेनापति था। वृहद्रथ अयोग्य शासक था जिससे प्रजा असन्तुष्ट थी और साम्राज्य असुरक्षित था। अतः पुष्पमित्र ने उसका वध करके शासन हाथ में लिया। यह बड़ा प्रतापी शासक था जिसने यवनों से युद्ध करके उन्हें पराजित किया और देश को यवन आधिपत्य से बचाया। इसने अश्वमेध यज्ञ भी किया।
ई० पू० ७५-ई० पू० ३०	कण्व वंश का राज्यकाल लगभग ४५ वर्ष का था। इसका संस्थापक वसुदेव कण्व था जो अन्तिम शुंगवंशीय राजा देवभूति का अमात्य था और जिसने अपने स्वामी की हत्या करके राज्य हस्तगत किया था।
ई० पू० ७५–ई० बा० २२५	आंध्र अथवा सातवाहन वंश। इस वंश का अभ्युदय दक्षिण भारत में हुआ था तथा इसका संस्थापक सीमुक था जिसने एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया जिसकी प्रतिष्ठान में राजधानी थी (आधुनिक पैठन और औरंगाबाद जिले में)। मगध साम्राज्य का भूभाग भी इसी वंश के अधीन था किन्तु पाटलिपुत्र अब राजधानी नहीं थी। कण्व वंश की शक्ति का नाश उक्त सीमुक ही ने किया था।

नोट—ई० ६४ से ई० २२५ तक उत्तर भारत के अधिकांश उत्तरी भाग में कुषाण साम्राज्य का शासन था जिसकी राजधानी पुरुषपुर (अब पेशावर) थी। कुषाण वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक कनिष्क था। मगध साम्राज्य का अधिकांश भाग उसके अधीन था किन्तु मगध भूभाग मगध शासकों के ही शासन में था।

ई० २२५–३२०	इस समय की जानकारी अनिश्चित है। तथा यह समय उत्तरी भारत के इतिहास में अन्धकार युग कहा गया है। कदाचित मगध साम्राज्य केवल मगध महाजनपद ही सीमित था किन्तु इसके शासकों के नाम प्रायः अज्ञात हैं। बादहू इसी क्षेत्र से गुप्त वंश का प्रादुर्भाव हुआ।
ई० ३२०–५४०	मगध का गुप्त साम्राज्य। इसका संस्थापक गुप्त (अथवा श्री गुप्त) था जो प्रथम में केवल मगध भूभाग का ही स्वामी था। साम्राज्य के स्थापन का श्रेय इसके पौत्र चन्द्रगुप्त प्रथम (चन्द्रगुप्त मौर्य से भिन्न) को था। समुद्रगुप्त इस वंश का बड़ा प्रतापी सम्राट था। गुप्तों का शासन काल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहलाता है। महाकवि कालिदास तथा संस्कृत के अन्य विद्वान गुप्त काल ही में हुए थे। गणित तथा ज्योतिष का भी बहुत विकास हुआ था। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा धातु विज्ञान अत्यन्त विकसित अवस्था में पहुँचे थे। अपराध बहुत कम थे। करभार भी न्यून था तथा प्रजा हर प्रकार से सुखी थी। राजकाज की भाषा संस्कृत थी। इस वंश का पतन कुमारगुप्त द्वितीय (ई० ४७३–७६) के समय से प्रारम्भ हो गया था।
सन् ५४०–६००	गुप्त वंश का अवसान। मगध साम्राज्य का भी अन्त।

नोट—मगध साम्राज्य से सम्बन्धित गुप्त वंश का अस्तित्व सन् ५००–६०० के बीच समाप्त हो गया था और उसी के साथ मगध का साम्राज्य भी लोप

हो गया। तथापि एक छोटे राज्य के रूप में मगध कायम रहा। यह उसी प्रकार हुआ कि जिस प्रकार गुप्त साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में नूतन शक्तियाँ स्थापित हो गयी थीं। और जिनमें कान्यकुब्ज के मौखरी शासक भी थे। इसी प्रकार नवोदित मगध राज्य में एक उत्तर कालीन गुप्त वंश का प्रादुर्भाव हुआ। एक शासक को छोड़कर इस वंश के सभी राजाओं के नामों के अन्त में गुप्त शब्द प्राप्त होता है किन्तु साम्राज्य सम्बन्धित गुप्त वंश से कदाचित इनका कोई रिश्ता नहीं था बल्कि इस वंश के एक शासक के लेख में इस वंश को सद्वंश कहा गया है। इसी कारण इतिहासकारों ने शुद्ध गुप्त वंश से भेद करने के अभिप्राय से इसे उत्तर गुप्त वंश की संज्ञा दी है। इस वंश का राज्यकाल लगभग सन् ५४० से प्रारम्भ होकर सन् ७०० के लगभग समाप्त होता है। अतः इस वंश के कुछ राजा कन्नौज के मौखरियों (सन् ५४०-६०६ ई०) तथा कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन (६०६-६४८) के समकालीन थे। इस वंश का मौखरियों से कुछ काल तक संघर्ष रहा किन्तु अन्त में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुए तथा सम्राट हर्ष का उनके प्रति सदैव सद्भाव रहा। मौखरियों तथा हर्ष के प्रकरणों में इन बातों पर प्रकाश डाला जायगा।

मगध साम्राज्य के विघटन के फलस्वरूप कान्यकुब्ज राज्य का पुनर्उत्थान—जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है गुप्त वंश के अवसान पर मगध साम्राज्य की भी सत्ता समाप्त हो गयी और शनैः शनैः उसके द्वारा शासित भूभाग विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित हो गया। इन नवोदित राज्यों में कान्यकुब्ज राज्य भी था जो पूर्व काल में एक साम्राज्य था और जो महाभारत युग के लगभग अपने पूर्व वैभव को खो चुका था। मगध साम्राज्य के अभ्युदय पर उसका भूभाग मगध सम्राटों के अन्तर्गत आ गया था। अब पुनर्स्थापित कान्यकुब्ज राज्य मौखरियों के अधीन आ गया था (लगभग सन् ५४० के)। तबसे मुसलमानी शासन के आरम्भ तक (सन् ११९२ तक) कान्यकुब्ज एक वृहत साम्राज्य के रूप में रहा। अगले अध्यायों मे मौखरि वंश तथा कन्नौज के अन्य वंशधरों का विवरण दिया जा रहा है।

३ मगध साम्राज्य काल में कन्नौज राज्य की स्थिति

जैसी कि बुद्ध काल (महाजनपद युग) में स्थिति थी उसी प्रकार बुद्धोत्तर अथवा मगध साम्राज्य युग में भी कन्नौज सम्बन्धित ज्ञान प्रायः नगण्य ही था। तथापि जो भी सूक्ष्म जानकारी उपलब्ध है वह निम्नलिखित है :—

(१)

इस काल में कन्नौज (तथा पांचाल भी) मगध के सम्राटों के अधीन रहा। ई० पू० चौथी सदी से ई० पू० दूसरी सदी तक कन्नौज नन्द तथा मौर्य शासकों के पार्श्व में रहा। मौर्य सम्राट अशोक (ई० २७४ ई० पू० २३२) के पश्चात् मौर्य साम्राज्य खंडित हो गया। कल्हण की राजतरंगिणी में अशोक के एक पुत्र जलौक का उल्लेख है जो काश्मीर का शासक हो गया था। उसने कान्य-कुब्ज प्रदेश को जीत लिया था और वहीं से चारों वर्णों के व्यवहारकुशल धार्मिक व्यक्तियों को ससम्मान आमंत्रित कर काश्मीर में बसाया था।

(२)

मगध सम्राट मौर्य वंशीय चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय (लगभग ई० ३८०-४१५) के समय चीनी तीर्थ-यात्री फाहियान भारत में आया था और सन् ४०१ से ४१० तक यहाँ रहा। वह खास तौर पर बौद्ध ग्रन्थ विनय-पटक की प्रमाणित प्रति प्राप्त करने के उद्देश्य से आया था। अपने प्रवास के तीन वर्ष उसने पाटलिपुत्र में बिताए जहाँ उसने संस्कृत भाषा सीखी और बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया। सन् ४०५ के लगभग वह कन्नौज भी गया था जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय यह नगर उत्तर भारत के विशिष्ट स्थलों में था। उसने यहाँ दो बौद्ध विहार भी देखे जिनसे तथा अन्य बातों से भी वह बहुत आकर्षित हुआ था। उसका यहाँ आना इस बात का द्योतक है कि कन्नौज में बौद्ध धर्म सम्बन्धी सामग्री भी उपलब्ध थी। उसने भारत का बड़ा रोचक विवरण लिखा है जिसमें कान्यकुब्ज भूभाग का भी विवरण है। इस इलाके से वह बहुत आकर्षित हुआ था जिसे उसने मध्य देश की संज्ञा दी थी और जो गंगा घाटी का मैदान था तथा जो मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। अन्य बातों के अतिरिक्त उसने यह भी लिखा है कि देश भर में कोई किसी भी प्राणी की हत्या नहीं करता था न कोई प्याज-लहसुन खाता था। इससे सिद्ध होता है कि जनता बड़ी संयमी थी तथा शाकाहारी भोजन ही प्रचलित था। मदिरापान नहीं था। अपराध बहुत कम थे, फाँसी की सजा नहीं थी किन्तु गम्भीर अपराधों के लिए (जो वस्तुतः न्यून थे) एक हाथ काट दिया जाता था। जनता वैभव-सम्पन्न थी।

(३)

मौर्यों के पश्चात् अर्थात् ई० पू० १८४ के बाद मगध साम्राज्य शुंग, कण्व तथा आन्ध्र शासकों के अधीन ई० बा० २२५ तक रहा। इसके लगभग १०० वर्ष के अन्तर के बाद सन् ३२० में उस पर गुप्त वंश का आधिपत्य हुआ। मगध

साम्राज्य से सम्बन्धित इस अन्तर के समय (ई० २२५-३२०) की जानकारी अनिश्चित है सिवाय इसके कि उत्तर भारत में कुछ विभिन्न शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें मित्रकुल नामक एक स्थानीय राजकुल था जिसने पांचाल राज्य पर तथा सम्भवतः कान्यकुब्ज भूभाग पर भी कुछ समय तक शासन किया। इस कुल के सम्बन्ध में जानकारी बहुत कम है किन्तु मित्र राजाओं का अस्तित्व उनके सिक्कों से प्रमाणित होता है।

(४)

लगभग सन् ४८५ से ५३० के बीच में कुछ वर्षों तक कान्यकुब्ज क्षेत्र पर (जो पहले मौर्य सम्राटों के अधीन था) हूण शासकों (तोरमाण तथा मिहिरकुल) के आधिपत्य में रहा। हूण लोगों का प्रारम्भिक निवास स्थान पश्चिम चीन था पर वे आवश्यकतानुसार इधर-उधर घूमा करते थे। लूट-मार इनका पेशा था और इस कार्य के लिए इनके पास विशाल सेना थी। सन् ४८५ में हूणों के नेता तोरमाण ने पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लिया और बाद में मध्य भारत की ओर बढ़कर मालवा को भी जीत लिया। मौर्य साम्राज्य का कुछ भाग भी इसके अधिकार में आ गया जिसमें कान्यकुब्ज प्रदेश भी था। इसके पहले भी हूणों ने भारत पर कुछ हमले किये थे किन्तु गुप्त सम्राटों द्वारा वे पराजित हुए थे। लगभग ३० वर्षों बाद तोरमाण के नेतृत्व में उन्हें सफलता मिली थी। इसकी राजधानी स्यालकोट (उस समय का साकल) में थी। भारत आने पर तोरमाण तथा उसके आश्रितों ने हिन्दू धर्म अपना लिया था। तोरमाण के बाद उसका आत्मज शासक हुआ किन्तु उसके अत्याचारों से प्रजा अत्यन्त पीड़ित थी। अन्ततः सन् ५३० के लगभग मगध के मगधनृप भानुगुप्त (बालादित्य द्वितीय) तथा मध्य भारत के शासक यशोधर्मन् ने मिलकर मिहिरकुल को पराजित किया और उसने काश्मीर में शरण ली। फिर कुछ समय बाद कान्यकुब्ज क्षेत्र पर मौखरियों का राज्य हो गया जिसका ब्योरा अगले अध्याय में दिया जा रहा है। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि तोरमाण तथा मिहिरकुल अत्यन्त क्रूर शासक थे तथा निर्दोष लोगों पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे। डॉ० के० एम० मुन्शी के शब्दों में, "हूण बेघर तथा कानून विरुद्ध थे और वे जागते अथवा सोते ही अपने घोड़ों पर सवार हो जाते थे। उनकी भयानक आवाज जहाँ कहीं सुनाई देती थी, लोग काँप उठते थे।....जहाँ भी हो सका उन्होंने अपनी राक्षसी क्रूरता सहित लोगों का वध किया, आग लगाई, तथा सर्वनाश किया।" इससे अनुमान किया जा सकता है कि कन्नौज नगर भी इनके द्वारा

नष्ट किया गया होगा तथा प्रजा भी उत्पीड़ित की गयी होगी।

(५)

अन्ततः यह कहना होगा कि मगध-साम्राज्य युग (लगभग ई० पूर्व छठी सदी से ई० बा० छठी सदी तक) में राज्य के रूप में कन्नौज भूभाग का कोई महत्व न था तथा तत्कालीन जैन, बौद्ध और सनातन साहित्य में उसका बहुत कम उल्लेख है।

अध्याय-१२

कन्नौज का मौखरि वंश[1]

(५४०–६०६)

सारपत्रक

१. प्रारम्भिक, राज्यकाल तथा वंश वृक्ष ।
२. मौखरियों की उत्पत्ति, प्राचीनता एवं वैभव ।
३. हरिवर्मन, कन्नौज के मौखरी राजवंश के संस्थापक ।
४. आदित्यवर्मन ।
५. ईश्वरवर्मन ।
६. ईशानवर्मन ।
७. शर्ववर्मन ।
८. अवन्ति वर्मन ।
९. गृहवर्मन ।
१०. सुचन्द्रवर्मन तथा भोगवर्मन ।
११. निष्कर्ष ।

१. प्रारम्भिक, राज्यकाल तथा वंश वृक्ष

प्रारम्भिकः—पाँचवीं तथा छठी सदी में भारत पर एशियाई बर्बर जाति हूणों द्वारा आक्रमण हुए जिससे उत्तरी तथा पश्चिमी भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक इतिहास पर बड़ा कुप्रभाव पड़ा। राजनीतिक क्षेत्र में परिवर्तन यह हुआ कि इन आक्रमणकारियों ने विशाल गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। जब तक स्कन्दगुप्त (४५५–४६७ ई०) जीवित रहा उसने वीरता से हूणों का विरोध किया और उन्हें पराजित करके साम्राज्य को सुरक्षित रखा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके दुर्बल तथा अयोग्य उत्तराधिकारी हूणों को साम्राज्य में

---

१. इस अध्याय के लिखने में डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी कृत प्राचीन भारत का इतिहास (भाग २) से मूल्यवान तथा विद्वत्तापूर्ण सामग्री मिली है जिसके लिए लेखक उनका आभारी है।

प्रवेश करने से न रोक सके और उनके नेता तोरमाण ने सन् ४८५ में भारत के उत्तरी-पश्चिमी भूभाग में स्यालकोट को राजधानी बनाते हुए अपना राज्य स्थापित किया तथा गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी भागों पर भी अधिकार कर लिया जिनमें कान्यकुब्ज क्षेत्र भी था। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए कई सरदारों (सामंतों) ने विद्रोह कर दिए और शनै-शनैः गुप्त साम्राज्य के विभिन्न प्रदेश इससे पृथक एवं स्वतन्त्र होने लगे। कुछ नई शक्तियों का भी प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार कान्यकुब्ज क्षेत्र ने भी एक स्वाधीन राज्य का रूप ग्रहण किया जिसके सर्वप्रथम सत्ताधारी मौखरि लोग हुए।

राज्यकाल:—कन्नौज राज्य पर मौरवीर वंश का शासन लगभग सन् ५४० से प्रारम्भ हुआ जबकि हरिवर्मन यहाँ का स्वामी हुआ। इसकी छठी पीढ़ी में गृहवर्मन इस राज्य का अन्तिम शासक हुआ जिसने लगभग ६०६ ई० तक शासन किया। उसके निस्सन्तान स्वर्गवासी होने पर उसकी रानी के भाई थानेश्वर के पुष्यभूति वंश में प्रख्यात हर्षवर्धन को इस राज्य को ग्रहण करने के लिये बाध्य होना पड़ा इस प्रकार मौखरि वंश का दौर सन् ५४० से ६०६ ई० तक रहा।

मौखरियों की तीन शाखाएँ—मौखरि वंश अत्यन्त प्राचीन वंश था तथा इसकी तीन शाखाएँ थीं, यथा—

(१) कान्यकुब्ज शाखा,
(२) मागध कुल शाखा (बिहार का गया क्षेत्र आदि इसके अधीन था),
(३) बडवामुख शाखा जिसका प्रभुत्व राजस्थान के कोटा क्षेत्र के इर्दगिर्द था। महाभारत के समय में बड़वा एक प्रसिद्ध तीर्थ था[1] जहाँ श्राद्ध करना पुण्यकर्म था।[2]

कान्यकुब्ज शाखा के अधिकांश लेख उत्तर प्रदेश के बाराबंकी और जौनपुर जिलों से प्राप्त हुए हैं तथा वाण के हर्ष-चरित में भी इस शाखा के कुछ शासकों का उल्लेख है। इस शाखा का आदि शासक हरिवर्मन था। मागध कुल शाखा के अभिलेख गया क्षेत्र में प्राप्त हुए हैं। इस शाखा का पहला ज्ञात शासक यज्ञ वर्मन था। बडवामुख शाखा का शासन काल हरिवर्मन तथा यज्ञवर्मन्न के पहले का था। सन् २३८ के लगभग मौखरियों की एक सामन्त शाखा महासेनापति के नाम से कोटा क्षेत्र में राज करती थी। बड़वा यज्ञ-स्तम्भ लेख में बलवर्धन नामक मौखर का उल्लेख है।

---

१. म० भा० वन पर्व, ८२।९२–१००।
२. विष्णु स्मृति, ८५।३७ (पृ० २५९)।

कान्यकुब्ज के मौखरियों का वंश

वृक्ष—कान्यकुब्ज राज्य के मौखरियों की वंशावली इस राज्य के संस्थापक हरिवर्मन से लेकर अन्तिम शासक गृहवर्मन् तक निम्न प्रकार है—

नोट:—हरिवर्मन से लेकर शर्ववर्मन् तक की नामावली मध्य प्रदेश के असीरगढ़ से प्राप्त मुहर के लेख पर आधारित हैं।

श्री महाराज हरिवर्मन—जयस्वामिनी भट्टारिका देवी
|
श्री महाराज आदित्यवर्मन्—हर्षगुप्ता भट्टारिका देवी
|
श्री महाराज ईश्वर वर्मन्—उपगुप्ता भट्टारिका देवी
|
महाराजाधिराज श्री ईशानवर्मन्—लक्ष्मीवती भट्टारिका महादेवी
|
महाराजाधिराज श्री शर्ववर्मन मौखरि ।।
|
अवन्ति वर्मन्
|
गृहवर्मन्—राजश्री (हर्षवर्धन की बहिन तथा प्रभाकरवर्धन की आत्मजा)

उक्त लेख से ज्ञात होता है कि इस वंश के ईशानवर्मन् तथा शर्ववर्मन ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी। यह भी स्मरण रहे कि उस काल में महाराज उपाधिकारी शासकों की पटरानी को भट्टारिका देवी की उपाधि से विभूषित किया जाता था तथा महाराजाधिराज की पटरानी को भट्टारिका महादेवी (अथवा परमभट्टारिका देवी) की उपाधि से।

नोट:—ऊपर लिखित वंशावली में नाम के अन्त में वर्मन शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु कहीं-कहीं उक्त शब्द के बजाय वर्मा शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा ईशान वर्मन् के बजाय ईशानवर्मा।

२. मौखरियों की उत्पत्ति

पौराणिक आधार—मौखरियों की उत्पत्ति का वृतान्त बड़ा रोचक है तथा पुराण प्रख्यात परम साध्वी सावित्री तथा उसके पति सत्यवान से सम्बन्धित है। पौराणिक साहित्यमिश्रित ऐतिहासिक ग्रन्थों में आस्था रखने वाले इतिहासकारों का मत है कि मौखरी लोग सत्यवान-सावित्री के वंशज हैं। सावित्री की कथा तथा मौखरियों की उत्पत्ति का विवरण मत्स्य पुराण (२०९-२१२ अध्याय) तथा

महाभारत वन पर्व (अ० २९७–२९९) में उल्लिखित है जिसका सूक्ष्म सार यहाँ दिया जा रहा है—

सावित्री मद्र (पंजाब) के राजा अश्वपति की एकलौती पुत्री थी। उसने सत्यवान का वरण किया जो शाल्व (अलवर क्षेत्र, राजस्थान में) के निर्वासित राजा का पुत्र था। अपने राज्यच्युत तथा नेत्रहीन पिता के साथ सत्यवान दीन दशा में रह रहा था। वरण हो जाने के बाद मुनि नारद ने महाराज अश्वपति को बताया कि सत्यवान एक वर्ष के अन्दर ही मृत्यु को प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में पिता ने सावित्री से बहुत अनुरोध किया कि वह सत्यवान की जगह किसी अन्य को वरण कर ले। सावित्री का उत्तर था:—

दीर्घायुः अथवा अल्पायुः सगुणों निर्गुणोऽपिवा।
सकृद् वृतौ मया भर्ता न द्वितीयं वृणेम्यहम्॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततौ वाचामिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः॥

अर्थात् चाहे वे दीर्घ आयु हों अथवा अल्प आयु, और चाहे वे गुणवान हों अथवा निर्गुणी मैंने उन्हें स्वामी के रूप में वरण कर लिया है और अब मैं दूसरे को वरण नहीं करूँगी। बात पहले मन में निश्चय की जाती है फिर शब्दों में प्रकट होती है तदन्तर वह कार्य में परिणित होती है, मेरा निर्णय अपरिवर्तनीय है।

ब्याह हो जाने के बाद नारद मुनि की बात के कारण वह छाया की भाँति सदैव सत्यवान के साथ रहती थी यद्यपि सत्यवान इस कथन से अनभिज्ञ थे। एक बार जब जंगल में लकड़ी लेने के लिए सत्यवान गए तब एकाएक उनके सिर में पीड़ा हुई और शीघ्र ही प्राणान्त हो गया। सावित्री ने देखा कि यमराज सत्यवान के प्राण को लेकर तीव्र गति से आकाश मार्ग से जा रहे हैं। वह उनके पीछे दौड़ती हुई हो ली। यमराज ने उससे लौट जाने को कहा किन्तु अउपमेय सती सावित्री न लौटी और यमराज की प्रशस्ति में उन्हें समुचित उत्तर दिया। इस पर प्रसन्न होकर यमराज ने सत्यवान के प्राण के अतिरिक्त कोई भी वर माँगने को कहा तथा माँगने पर उसे दिया और लौट जाने को कहा किन्तु सावित्री नहीं लौटी और यमराज की आकर्षण पूर्ण स्तुति करती रही और वरदान प्राप्त करती रही।

वे वरदान निम्न थे—

(१) सावित्री के श्वसुर के नेत्र हो जाएँ।

(२) वे अपना राज्य पुनः प्राप्त करें।

(३) सावित्री के पिता महाराज अश्वपति जो पुत्रहीन थे सो पुत्र प्राप्त करें।

(४) स्वयं सावित्री को सौ औरस पुत्र प्राप्त हों।

इन सब वरदानों के स्वीकृत हो जाने पर भी सावित्री ने यमराज का पीछा न छोड़ा और पूछे जाने पर कहा कि मैं यह जानना चाहती हूँ कि मेरे सौ औरस पुत्र किस प्रकार उत्पन्न होंगे। यमराज निरुत्तर हो गए और अपने वरदान को पूर्ण करने के लिए सावित्री से कहा—"तुम्हारी स्तुति से प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पति सत्यवान के प्राण को छोड़ देता हूँ" (फलतः सत्यवान जीवित हो गए)। फिर कहा—

त्वयि पुत्र शतंचापि सत्यवान् जनयिष्यति।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियास् त्रदशोपमाः॥
मुख्यास् त्वन्नाम पुत्राख्या भविष्यन्ति हि शाश्वताः।
पितुश्च ते पुत्र शतं भविता तव मातरि॥
मालव्यां मालवा नाम शाश्वताःपुत्र पौत्रिणः।
भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास् त्रद शोपमाः॥[1]

अर्थात्, तुम्हारे संयोग से सत्यवान को सौ पुत्र उत्पन्न होंगे। वे सब देवताओं के समान तेजस्वी क्षत्रिय राजा होंगे। चिरकाल तक जीवित रहने वाले तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होकर मुख्या कहलायेंगे। तुम्हारे पिता को भी तुम्हारी माता के संयोग से सौ पुत्र उत्पन्न होंगे और वे भी मालवी में उत्पन्न होने के कारण मालव कहलायेंगे जो चिरकाल तक क्षत्रियोचित गुणों से युक्त ऐश्वर्य और सुख से रहेंगे।

(सावित्री-सत्यवान उपाख्यान समाप्त)

इस प्रकार पौराणिक इतिहास द्वारा मौखरियों की उत्पत्ति का उद्गम हमें प्राप्त होता है। उपरिलिखित श्लोकों में दो मुख्य बातें कही गई हैं—

(१) यह कि सावित्री के सौ पुत्र माता के नाम पर मुख्या (मुखरा) कहलायेंगे, तथा

(२) यह कि सावित्री के सौ भाई भी माता के (मालवी) नाम पर मालवा कहलायेंगे।

यही कथन ईशान वर्मा के हरहा लेख की पंक्ति ३ में है, यथा—

सुत शतं लेभे नृपोऽश्वपतिर् वैवस्वताद्यद् गुणोदितम्।
तत्प्रसूता दुरित वृत्तरुधो मुखराःक्षितीशाः क्षतारयः॥

---

१. म० भा० वन पर्व० २९७।५८–६०, मत्स्यपुराण २१२।१३–१५।

पहली पंक्ति में बताया गया है कि मद्रराज अश्वपति ने (सावित्री को दिए गए वरदान के फलस्वरूप) वैवस्वत[1] (यम) से १०० पुत्र पाए (मालव नामक)। दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि सावित्री से उत्पन्न मुखर लोग क्षत्रिय सम्राट थे। 'तत्प्रसूता' (उससे उत्पन्न) का अर्थ है "सावित्री प्रसूता मुखराः क्षितीशाः" सावित्री से उत्पन्न मुखर सम्राट। कुछ विद्वानों ने "तत्प्रसूता" का अभिप्राय अश्वपति के सौ पुत्रों से माना है किन्तु यह सही नहीं है प्रथम इसलिये कि यह अर्थ मत्स्य पुराण के उद्धृत श्लोकों से मेल नहीं खाता और न महाभारत के निम्न श्लोकों से ही—

ततः कालेन महता साविश्र्याःकीर्ति वर्धनम्।
तद् वे पुत्र शतं यज्ञे शूराणाम् अनि वर्तिनाम्॥
भ्रातृणां सौदराणां च तथैवास्य अभवच्छतम्।
मद्राधिपस्य अश्वपतेः मालव्यां सुमहद् बलम्[2] ॥१॥

अर्थात् (पहला श्लोक) तदनन्तर दीर्घकाल के पश्चात् सावित्री के उसकी कीर्ति बढ़ाने वाले सौ पुत्र हुए जो शूरवीर तथा संग्राम में कभी पीछे न हटने वाले थे। (दूसरा श्लोक) इसी प्रकार मद्रराज अश्वपति के भी मालनी से सावित्री के सौ सहोदर भाई उत्पन्न हुए जो अत्यन्त बलशाली थे।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि—

(१) सावित्री के (सत्यवान से उत्पन्न) पुत्र मौखरि कहलाए। (इन्हें सावित्री का पुत्र भी कहा गया है)।

(२) महाराज अश्वपति के पुत्र मालव कहलाए क्योंकि इन पुत्रों को अपनी मालव माता के आधार पर ही मालव (मालवाः) की संज्ञा दी गई है।

फलतः मुखरों और मालवों का घनिष्ठ सम्बन्ध था और इन सम्बन्धों को जोड़ने वाली सावित्री थी जिसने अपने मातृपक्ष और पतिपक्ष को इतिहास में अमरत्व प्रदान किया। मालव माता के पक्ष से उसके सहोदर भाई थे और पतिपक्ष से मुखर स्वयं उसकी सन्तान थे।

इस सम्बन्ध में डॉ० अग्रवाल का निम्न कथन भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डालता है—

---

१. कुछ लेखकों ने वैवस्वत का अर्थ वैवस्वत मनु माना है किन्तु यह मत सही नहीं है। निस्सन्देह मनु का नाम वैवस्वत भी था परन्तु उनका अश्वपति अथवा उनके १०० पुत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ पर वैवस्वत शब्द वैवस्वत यम को ही बनाता है।

२. म० भा० वन० पर्व २९९।१२-१३।

सावित्री पुत्र नाम का छोटा संघ

सावित्री–सत्यवान के पुत्रशतों से अपना उद्‌गम मानता था। महाभारत में इसका परिचय आया है (आरण्यक पर्व, २९७।५८, कर्णपर्व ५।४९)। इसकी भौगोलिक स्थिति पंजाब में उशीनरों के पड़ोस में झंग मघियाना प्रदेश में रही।[1]

महाभारत के अनुसार सावित्रीपुत्रक, उशीनर, मालव, मद्रक (के मद्रराज अश्वपति) और योधेम प्रसिद्ध गणराज्य थे।[2]

अतः निस्सन्देह सावित्री के पुत्र ही मौखरी थे।

मौखरि वंश की उत्पत्ति सम्बन्धित अन्य मत

कुछ विद्वान ऊपर वर्णित पौराणिक तथ्य से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि इस वंश का आदि पुरुष मुखर था न कि सत्यवान सावित्री और न ही राजा अश्वपति। अतः उस आदि पुरुष के नाम से ही उसके वंशज मुखर (मुखरा) या मौखरि या मौखरी कहलाए तथा वंश मुखर वंश कहलाया। इस मत के मुख्य समर्थक हैं—

डॉ० आर० यस० त्रिपाठी (हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० २८),
डॉ० हीरानन्द शास्त्री (एपीग्रैफिका इंडिका, स० १४, पृ० ११९),
डॉ० राधा गोविन्द बसाक (हिस्ट्री आफ नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया, पृ० १०४),
ई० ए० पायर्स (दि मौखरीज, पृ० १०)।

डॉ० पायर्स के शब्दों में—

"हरहा लेख में स्पष्ट रूप से" मुखरे पद मिलता है। संस्कृत में मुखर शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं, परन्तु जिस कारण से इस वंश के शासकों को मुखर कहा गया है निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है।''''वामन और कैय्यट (पाणिनीय अष्टाध्यायी के भाष्यकार) के अनुसार मुखर अपत्यवाचक पद है जिसका अर्थ है मुखर के वंशज। इसलिए मुखर इस वंश का आदि पुरुष या वंश का पहला व्यक्ति था जिसने इस वंश को ऊँचा उठाया और इसीलिए इस वंश का नाम उससे ही सम्बद्ध होकर प्रसिद्ध हुआ। अस्तु इस वंश का नायक ही मुखर कहलाया[1]।

इसके विपरीत डॉ० बी० एन० श्रीवास्तव का मत है कि "मुखर या मौखरी राजवंश को इस वंश के पहले शासक से सम्बन्धित करने का कुछ

---

१. डॉ० अग्रवाल कृत पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० ४६०।

२. कर्ण पर्व ५।४७-४८।

३. पायर्स, दि मौखरीज, पृ० १०।

विद्वानों का प्रयास प्रमाणयुक्त और न्याय संगत नहीं है।" मूल अंग्रेजी में उनके शब्द हैं--

"The attempt of some scholars to find the name of the first member of the Mukhar royal house in the two popular designations of the family" (Mukhaṛ or Maukhari) "is unwarranted and unjustifiable."[1]

उनका तर्क है कि "व्याकरण के अनुसार इस वंश के संस्थापक मुखर का अपत्यवाचक मौखर होगा न कि मौखरी।"....यदि वंश का संस्थापक मुखर था तो व्याकरण की दृष्टि से मौखर होगा। मुखर से मौखरी शब्द का बनना असम्भव है।[2]

डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी ने उक्त मत का खंडन किया है और दर्शाया है कि मौखरी शब्द भी मुखर से ही बना है जैसा कि उससे मौखर बना है तथा मौखरियों को मोखर भी कहा गया है। वस्तुस्थिति को डॉ० अवस्थी ने निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

"....सभी जानते हैं कि गुप्तवंश का आदि पुरुष गुप्त था और उसके नाम से ही यह वंश गुप्त वंश कहलाया। चोल वंश का आदि पुरुष चोल चक्रवर्ती सम्राट था, उसी से चोल वंश कहा गया। चाहमान वंश का आदि पुरुष चाहमान ही था। इसको कुछ लोग चौहान वंश भी कहते हैं। अस्तु ऐतिहासिक सत्य है कि इस वंश का आदि पुरुष मुखर ही था इसीलिये इसे बाण के हर्षचरित में मौखर वंश कहा गया है। (सकल भुवन नमस्कृतों मौखरों वंशः।[3] इसके अनुवाद[4] में कहा गया है--"The Mukharas worshipped by all the world."

इस प्रकार यह मुखर वंश ही मौखर वंश कहलाया जो व्याकरण के नियमानुसार भी ठीक है। अन्यत्र भी बाण ने हर्षचरित में मौखर शब्द का ही प्रयोग इस वंश के लिए किया है—मौखराणां मालवैः परिभव, हर्षचरित पृ० २५२।

---

१. मौखरीज इन सेविन्थ सेन्चुरी ए० डी०, पृ० ३।
२. वही, पृ० ३, पा० टि०–४, पृ० ३-४।
३. हर्ष चरित्र, पृ० २००। मौखर के स्थान पर पाठान्तर मौखरः भी मिलता है, वही, पा० टि० ९।
४. हर्ष चरित्र, अंग्रेजी अनुवाद, कावेल और टामस द्वारा (१८९७) पृ० १२२।

"इसे ही राज्यश्री[1] मुखरवंश बताती है।[2] अतः स्पष्ट है कि आदि पुरुष मुखर के नाम पर ही इस वंश को मुखर वंश या मोखर वंश कहा गया है। 'मौखलीणम्' संस्कृत के मौखरीणाम् का प्राकृत रूप है जो मुखर से ही बना है।"[3]

डा० श्रीवास्तव का विपरीत मत है कि मुखर या मौखरी एक गण जाति रही होगी। प्रारम्भ में इस मत को डा० जायसवाल ने प्रकट किया था जिसका समर्थन बाद में डा० पायर्स ने और फिर डा० श्रीवास्तव ने किया। पायर्स का कथन है कि मौखलीणम् संस्कृत का मौखरीणाम् का प्राकृत रूप है जो मुखर से ही बना है। इस प्राकृत लेख से, जैसा कि जायसवाल का मत है, ज्ञात होता है कि मूलतः मौखरियों की एक गण जाति रही होगी, परन्तु ईसा पूर्व की तृतीय शताब्दी में उनकी शक्ति समाप्त हो गई होगी क्योंकि मौर्य युग में गया के आस-पास उनके अस्तित्व बने रहने की सम्भावना नहीं है।[4] इस मत से सहमति प्रकट करते हुए डा० श्रीवास्तव भी कहते हैं कि मुखर या मौखरी एक गण जाति रही होगी।[5]

डा० श्रीवास्तव ने अपने मत की पुष्टि में यह भी कहा है कि अभिलेखों और साहित्यिक साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि गुप्त पूर्व युग में गंगा की घाटी में बहुत सी गण जातियाँ रहती थीं और यह सम्भव है कि मौखरी लोगों की भी उनमें से एक जानि रही होगी। इन जातियों की तालिका साक्ष्यों के अभाव में बनाई नहीं जा सकती।.....परन्तु प्रारम्भिक गुप्त अभिलेखों और पुराणों में मौखरियों का उल्लेख न होने से यही सिद्ध होता है कि इस युग में अन्य ऐसी जातियों—वरिक, कुलूत और कुणिन्द की भाँति इनका राजनैतिक महत्व नहीं रहा था।[6]

उक्त कथन को पुराणों में मौखरियों का उल्लेख नहीं है भ्रमात्मक है। एक तो यह कि सावित्री-सत्यवान की आख्यायिका मत्स्यपुराण तथा महाभारत पुराण में अंकित है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त मत्स्यपुराण में मौखरियों को मूकः भी कहा गया है, यथा—

---

१. मुखर वंश के अन्तिम शासक गृह वर्मन की रानी तथा हर्षवर्धन की बहन।
२. हर्षचरित, पृ० ३२७।
३. डा० अवस्थी कृत प्राचीन भारत का इतिहास, भाग २, पृ० ३५१।
४. पायर्स दि मौखरीज, पृ० १४।
५. डा० बी० एन० श्रीवास्तव, मौखरीज, पृ० ४।
६. वही, पृ० १-२।

आवन्ताश्च कलिगाश्च मूकाश्चैव अन्ध्रकैः सह ।
मध्य देशा जनपदाः प्रायशः परिकीर्तिताः ॥[१]

अर्थात् अवन्ति लोगों, कलिग लोगों, मूक लोगों तथा आन्ध्र लोगों की कीर्ति मध्यदेश के जनपदों में प्रसिद्ध है ।

इसके अतिरिक्त गरुणपुराण में भी मौखरियों का उल्लेख है जिनको मूखाः (मूखः) कहा गया है ।[2] इसके अतिरिक्त मौखरियों का उल्लेख विष्णु-धर्मोत्तर में भी हुआ हे तथा वहाँ भी इनको मूखाः कहा गया है ।[3]

अब रही डा० श्रीवास्तव कथित प्रारम्भिक गुप्त अभिलेखों की बात । यह सही है कि पूर्व गुप्त या गुप्त लेखों में मुखरों या मौखरियों का उल्लेख नहीं मिलता है तथापि समुद्रगुप्त (ई० ३३५–३७५) की प्रयाग-प्रशस्ति में काक नामक जाति का उल्लेख मिलता है । इस जाति की निश्चित पहचान अभी तक नहीं हो सकी है किन्तु डा० अवधबिहारी लाल अवस्थी के मतानुसार काक जाति से अभिप्राय मुखर जाति से ही है तथा जिस काक जाति ने उक्त प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त के स्वामित्व को स्वीकार किया था वह जाति मुखर ही थी। डा० अवस्थी कहते हैं कि शब्द कल्पद्रुम (द्वितीय भाग, पृ० ७२) में काक और मुखर दोनों ही पर्यायवाची शब्द कहे गए हैं । उसी पृष्ठ पर यह भी कहा गया है कि "स्यात क्षत्रियः तीक्ष्णरवौऽतिशूरः" अर्थात् सम्भवतः घोर शब्द करने वाले अत्यन्त पराक्रमी क्षत्रिय को भी काक कहते हैं । उक्त ग्रन्थ के तृतीय भाग में अन्ततः यह कहा गया है कि सम्भवतः काक और मुखर एक ही अर्थ के बोधक हैं । इसी प्रकार डा० अवस्थी का तर्क संगत तर्क यह भी है कि मुखर का अर्थ "शब्दायमान" या "शब्द करते हुए" से भी है अतः वे सम्भवतः वेदध्वनि करने के ही कारण मुखर कहे गये । हरहा लेख से ज्ञात होता है कि वे श्रुतिपथ के उन्नायक थे (श्लोक ९) तथा वैदिक यज्ञों के भी (श्लोक ७, १०) ।[४]

निम्न श्लोक से भी विदित होता है कि मुखर शब्द से तात्पर्य है शब्द करने वाला :—

मौखर्य लघुता हेतुर् मौनमुन्नति कारणम् ।
मुखरः नूपुरं पादे कन्ठे हारो विराजते ॥[५]

---

१. मत्स्यपुराण (जीवानन्द सं०) ११३।३६ ।

२. गरुण पुराण, ५५।१६ ।

३. विष्णु धर्मोत्तर, १।९।८ ।

४. डा० अवस्थी कृत प्राचीन भारत का इतिहास (भाग २), पृ० ३५३-४ ।

५. उद्भटसागर ।

अर्थात् वाचालता से ओछापन होता है तथा मौन उन्नति का कारण है। शब्द करने वाला (वाचाल) नूपुर पैर में पहना जाता है तथा (मौन का प्रतीक) हार (माला) गले में विराजमान होता है।

मौखरियों के अन्य नाम—ईशानवर्मा के हरहा लेख में कहा गया है कि संग्राम भूमि में अग्नि की प्रभा से उनका मुँह लाल हो गया था जिसे देखकर भयभीत शत्रुओं ने हरिवर्मा को ज्वालामुख का नाम दे दिया।[1] स्कन्ध पुराण में ज्योतिर्बिन्दुमुख नामक उग्र जाति का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः उसका तात्पर्य मुखर जाति से ही है।

वृहतसंहिता (१४।१७) और मारकण्डेय पुराण (५८।३०) में बडवामुख नामक एक जाति (जनपद) का उल्लेख है। कदाचित् यह भी मुखर जाति का ही नाम है। इसी प्रकार महाभारत में बडवा नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ का उल्लेख है जहाँ अग्निदेव की उपासना विशेष रूप से होती थी। (वन पर्व ८२। ९२-१००)। बडवा नामक नदी का भी उल्लेख है और उसे अग्नि का उत्पत्ति स्थान कहा गया है (वन पर्व २२२।२४)। इस अग्नि का वैदिक यज्ञों में विशेष महत्व है और हरहा लेख से विदित होता है कि मौखरि वंश अग्नि तथा यज्ञ का उपासक था।

इस प्रकार यह जान पड़ता है कि यह सब मूलतः मुख जाति ही थी जिसे अग्नि से सम्बन्धित होने के कारण ज्वालामुख, ज्योतिर्विन्दुमुख तथा बडवा मुख कहा गया है।[2]

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से दो तथ्य सामने आते हैं—

१. मत्स्य पुराण, महाभारत तथा हरहा लेख के अनुसार मुखरों का मूल राजा महाराज अश्वपति की पुत्री सावित्री से सम्बन्धित है। वैवस्वत (यम) के वरदान से सावित्री के सौ पुत्र हुए जिनको ही मुखाः (मुख्याः) या मुखरा कहा गया है। इन्हें सावित्री पुत्र की संज्ञा भी दी गई है।

२. मुख जाति का मुखर नामक प्रधान मुखर वंश का आदि पुरुष था और उसी ने इस जाति का उन्नयन किया। कालान्तर में मुखर वंशज ही मौखरी कहलाए। संस्कृत व्याकरण के अनुसार मौखरी शब्द मुखर से ही बना है। अतः सिद्ध होता है कि मौखरी वंश का मूल सम्बन्ध मुख नामक जाति से था जिसे उत्तर-पश्चिम में स्थित बताया गया है।

मुखर सूर्यवंशी अथवा सोमवंशी क्षत्रिय थे—मौखरियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध

---

१. डा० अवस्थी कृत प्राचीन भारत का इतिहास भाग २, पृ० ३५४।

२. डा० अवस्थीकृत प्राचीन भारत का इतिहास भाग २, पृ० ३५४।

में विभिन्न मतों की चर्चा ऊपर की गई है जिन मतों में उनके आदि जनक के बारे में ऐक्यता नहीं है। यह बात उनकी जाति के सम्बन्ध में लागू नहीं है क्योंकि सभी मानते हैं कि वे क्षत्रिय थे। क्षत्रियों में वे सूर्यवंशी थे अथवा चन्द्रवंशी इस बात पर मतभेद है। डा० रामशंकर त्रिपाठी और पं० हीरानन्द शास्त्री के अनुसार वे सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे।[1]

इसके विपरीत डा० बिहार रंजन रे के मत से वे सोमवंशीय (चन्द्रवंशीय) थे, क्योंकि हर्ष चरित से ज्ञात होता है कि राज्यश्री के विवाह[2] से पुष्यभूतिवंश और मुखर वंश इस प्रकार मिल गए थे कि जैसे सूर्य और चन्द्र मिल गए हों। पुष्यभूति वंश के लोग सूर्यवंशी थे इसलिए मौखरी चन्द्रवंशी थे। डा० त्रिपाठी रे के इस मत से असहमत हैं क्योंकि उनके अनुसार पुष्यभूति के वंशज वैश्य थे जैसा कि युएन सांग के कथन से सिद्ध होता है और मंजुश्री मूलकल्प का भी यही मत है कि पुष्यभूति वंशीय थानेश्वर के राजा वैश्य थे[3]। डा० जायसवाल का भी यही मत है।

मौखरि वंश की प्राचीनता एवं वैभव—जैसा पहले इंगित किया गया है मौखरि वंश अत्यन्त प्राचीन है। इसका सर्वप्रथम प्रमाण इसकी उत्पत्ति ही में निहित है जो कि पौराणिक काल से सम्बन्धित है। दूसरे "मौखरी" शब्द का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में है जो लगभग ई० पू० चौथी सदी की रचना है। इसके अतिरिक्त पतंजलि के महाभाष्य (अष्टाध्यायी की टीका) में भी "मौखरी" शब्द का जिक्र है। अतः इस वंश की प्राचीनता का दूसरा प्रमाण उक्त ग्रन्थों से प्राप्त होता है। तीसरे एक मिट्टी की मुहर पर प्राकृत में "मौखलीण" (मौखरियों का) लेख बिहार के गया क्षेत्र में प्राप्त हुआ था जिससे सिद्ध होता है कि ई० पू० पाँचवीं सदी से ई० पू० प्रथम सदी तक के इतिहास में वे प्रसिद्धि पा चुके थे।

इस वंश का वैभव बाणभट्ट के हर्षचरित में उल्लिखित निम्न पद से प्रमाणित होता है :—

सकल भुवन नमस्कृतो। मौखरो वंशः।[4]

---

१. त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० २८-२९, पं० हीरानन्द शास्त्री, एपीग्रफिका इंडिका, सं० १४, पृ० ११९।

२. राज्यश्री पुष्यवंशी थानेश्वर के शासक प्रभाकरवर्धन की पुत्री थी और उसका विवाह कन्नौज के मौखरि राजा गृहवर्मन से हुआ था।

३. त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० २९-३०।

४. हर्षचरित (फुहरर संपादित, १९०८), पृ० २००।

अर्थात् संसार भर में वन्दित मौखरी वंश यहाँ भुवन (संसार) शब्द से अभिप्राय देश से है।

इसके अतिरिक्त ईशानवर्मन के हरहा अभिलेख में कहा गया है कि मौखरियों ने शत्रुओं का विनाश किया था और दुराचार की वृत्ति को रोका था। (दुरति वृत्ति रुधो मुखराः क्षितीशाः क्षताश्यः[1])। दुराचार की वृत्ति से अभिप्राय धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक कलह से है जो उस युग में उग्र रूप धारण कर रही थी और जिससे राष्ट्रशक्ति क्षीण हो रही थी। इसी दुराचार को हरहा अभिलेख में वर्णाश्रमाचार और श्रुतिपथ का विध्वंस होना तथा कलिस्वभाव (परस्पर कलह करना) का अभ्युत्थान होना कहा गया है।[2] तत्कालीन राजाओं को ऐश्वर्य से तृप्ति नहीं होती थी तथा वे बाहरी आक्रमणकारियों को पूर्ण रूप से विध्वंस भी न कर पाते थे। गुप्त शासक (स्कन्दगुप्त, बुधगुप्त, भानुगुप्त, बालादित्य) तथा मध्यदेश का शासक यशोधर्मन, आदि हूणों से युद्ध कर उन्हें परास्त अवश्य करते रहे किन्तु वे उनको समूल नष्ट न कर सके। इन्हीं हूणों के विरुद्ध थानेश्वर के शासक (तथा कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन के पिता) प्रभाकर वर्धन को भी युद्ध करना पड़ा था। इन्हीं कारणों (परस्पर कलह तथा विदेशी आक्रमणों) से राष्ट्रीय एकता छिन्न-भिन्न हो गई थी अतः पुराणों में इस युग को क्षीण-युग (अवनति का युग) कहा गया है तथा यह कलियुग भी कहलाने लगा—कलि-स्वभाव (परस्पर कलह करना) के कारण। मौखरियों का उद्देश्य इसी स्थिति से संघर्ष करने का रहा था।

इसी लोक वन्दित (सकल भुवन नमस्कृतौ) वंश को बाण मौखरियों को सभी अधीन राजाओं के मुकुट रूपी उन्नत बताते हैं (सशेखरै मौखिरिभिः[3])। अभिलेखों से भी इस वंश के राजाओं के उत्कर्ष का विवरण मिलता है। ईशानवर्मन और शर्ववर्मन ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी तथा उनका साम्राज्य मध्यदेश और पश्चिम देश में विस्तृत था। ईशानवर्मन के हरहा लेख के अनुसार हरिवर्मन, अदित्य वर्मन, ईश्वरवर्मन, ईशानवर्मन, शर्ववर्मन ने उपरिलिखित युग दोष दूर करने और सत्पथ (वैदिक-मार्ग) की स्थापना करने का प्रयास किया था तथा लोक के अन्धकार को मिटाकर प्रकाश फैलाया। वे यज्ञों के उन्नायक भी थे।

मौखरियों की शक्ति बढ़ने के साथ-साथ कन्नौज नगर का गौरव भी बढ़ता

---

१. हरहा अभिलेख, श्लोक ३।
२. वही, श्लोक ६, ८, ९, १२।
३. बाणरचित कादम्बरी, १।४।

गया। उनके बाद हर्षकाल में यह नगर उच्चतम शिखर पर पहुँचा था।

३. हरिवर्मन (महाराज) कन्नौज के मौखरी वंश के संस्थापक

जैसा कि पूर्वगत वंशवृक्ष में दर्शाया गया है महाराज हरिवर्मन मौखरियों की कन्नौज शाखा के अग्रज थे। उनका शासन काल लगभग सन् ५४० से प्रारम्भ हुआ था किन्तु इस तिथि में कुछ मतभेद है क्योंकि डा० त्रिपाठी के अनुसार हरिवर्मन ने पाँचवी सदी के अन्त में शासन करना आरम्भ किया था[1]। इस मतभेद का निवारण कदाचित इस बात से हो जाता है कि उक्त सन् ५४० के लगभग हरिवर्मन (या और उनके पिता आदि) मगध के गुप्त शासकों के सामन्त के रूप में कन्नौज क्षेत्र का प्रबन्ध करते थे। इस सम्भावना पर आगे प्रकाश डाला गया है।

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में संकेतित किया गया है गुप्त साम्राज्य (३२० ई० से ६०० ई० के लगभग तक) ध्वंसावशेष पर अनेक स्वतंत्र राज्य उठ खड़े हुए। इनमें से एक राज्य कन्नौज (कान्यकुब्ज) भी था। इस प्रकार इस विलीन पुरातन राज्य की प्रतिष्ठा पुनः जागृत हुई और इस क्षेत्र पर मौखीर नामक एक नवीन क्षत्रिय राजवंश की स्थापना हुई। यह लगभग ५४० ई० की बात है।

मौखरि लोगों का कन्नौज पर प्रथमतम गुप्त सम्राटों के सामन्तों के रूप में (न कि स्वतंत्र शासकों के रूप में) आधिपत्य होने की सम्भावना को कुछ इतिहासकारों ने व्यक्त किया है। यह कहा गया है कि पहले मौखरी लोग पूरब की ओर मगध प्रदेश के आस-पास सामन्त के रूप में राज्य करते थे और बाद में वे कन्नौज क्षेत्र में आकर बस गए और उसी रूप में राज्य करते रहे मगध सम्राटों के अन्तर्गत। कालान्तर में वे एक शक्ति सम्पन्न और स्वतंत्र राजवंश के रूप में इनका कन्नौज में प्रादुर्भाव हुआ। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि प्रथम शासक हरिवर्मन तथा उसके पुत्र आदित्य वर्मन और पौत्र ईश्वर वर्मन महाराज कहलाते थे जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वे केवल सामन्त ही थे। बादह्र ईश्वर वर्मन का पुत्र ईशानवर्मन स्वतंत्र सत्ताधारी की हैसियत से सिंहासनारूढ़ हुआ, दूरस्थ प्रदेशों को विजय किया और महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। असीरगढ़ ताम्र मुहर लेख को दृष्टि में रखने हुए उक्त तर्क में बल नहीं जान पड़ता। उसमें कहा गया है कि—

(१) चतुस् समुद्राति क्रान्त कीर्तिः, अर्थात् जिसकी कीर्ति चारों समुद्रों के पार फैल गई थी।

---

१. त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३७८।

(२) प्रतापानुरागोपन तान्य राजा, अर्थात् अन्य राजाओं को जिसने अपने प्रताप और प्रणय (प्रेम) से झुका दिया था।

(३) वर्णाश्रम-व्यवस्थापन प्रवृत्त चक्रश् चक्रधर इव, अर्थात्, चक्रधर (विष्णु) के समान जिसने वर्णाश्रम-व्यवस्था को (पुनः) स्थापित करने के लिये अपने चक्र को चलाया था।

(४) प्रजानामार्ति हरः, अर्थात् प्रजा के दुख को हरने वाला।

श्री महाराज हरिवर्मन था।[1] अब पहली बात यह है कि उपर्युक्त गुण एक स्वतंत्र शासक ही में हो सकते हैं न कि अन्य शासक के अन्तर्गत एक सामन्त में। दूसरे यह कि ऊपर वर्णन में दो उपाधियों को निर्देशित किया गया है, राजा और महाराज, यथा महाराज हरिवर्मन ने अन्य राजाओं को अपने प्रताप और प्रेम से झुकाकर वशवर्ती बनाया था। स्पष्ट है कि अन्य राजाओं को वशवर्ती बनाना एक स्वतंत्र शासक द्वारा ही सम्भव है न कि एक सामन्त द्वारा जो स्वयं एक स्वतंत्र शासक पर निर्भर है। तीसरे असीरगढ़ मुहर पर धर्म रक्षक चक्रधर का चित्र अंकित होने से उनका स्वतंत्र शासक होना प्रमाणित होता है। अन्त में यह भी कहना है कि हरहा अभिलेख में उल्लिखित है कि हरिवर्मन ने पृथ्वी की समृद्धि के लिए शत्रुओं का दमन किया और उनका यश दिगन्तरों में फैल गया और यह भी कि संग्राम में उनके लाल मुख को देखकर शत्रु भयभीत थे और वे ज्वालामुख नाम से प्रसिद्ध हो गए थे।[2]

इन सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए महाराज हरिवर्मन का केवल एक सामन्त होने का मत खंडित हो जाता है। अतः सम्भावना केवल यह रह जाती है कि उनके पूर्वज सामन्त रहे हों और इस प्रकार का उनका स्वामित्व कन्नौज क्षेत्र और या अन्य इलाकों पर रहा है।

इसी के साथ एक सम्भावना यह भी है कि कदाचित प्रारम्भ में हरिवर्मन एक सामन्त ही रहा हो। इस सम्बन्ध में स्कन्दपुराण की एक बात लागू होती है। उसमें मगध के बुध नामक एक शासक का वर्णन मिलता है जिसने ज्योतिर्विन्द मुखों को पराजित किया था।[3] सम्भवतः ज्योतिर्विन्द मुख और ज्वाला मुख एक ही थे। डॉ० अवधबिहारी लाल अवस्थी ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है (और जो सही प्रतीत होता है) कि बुधगुप्त ने मौखरियों (ज्वाला मुख) को पराजित किया था तथा बुधगुप्त के बाद ही जब मालवा हूणों के हाथ में चला

---

१. असीरगढ़ ताम्र मुहर लेख, पंक्ति १-२।

२. हरहा अभिलेख, श्लोक ४।

३. स्कन्द पुराण, १।१।४०।२५५-२५९।

गया, हरिवर्मन ने भी अवसर पाकर अपने को स्वतंत्र कर मध्यदेश में मुखर वंश की स्थापना की। उसने इसी समय बढ़ते हुए बौद्धधर्म से क्षीण होते हुए वैदिक धर्म को भी सशक्त किया और इसीलिए उसे चक्रधर (विष्णु) के समान बताया गया है।[1]

४. आदित्य वर्मन् (महाराज)

हरिवर्धन् का पुत्र और उत्तराधिकारी श्री महाराज आदित्यवर्मन था। हरहा लेख में हरिवर्मन के लिए निम्न पद कहा गया है :—

पयोधेरिव शीतरश्मिर् आदित्य वर्मा नृपतिः।[2]

अर्थात्, नृपति आदित्यवर्मन् समुद्र से उत्पन्न शीत किरणों वाले चन्द्र के समान थे। इस उपमा का तात्पर्य यह है कि वह सुहृद, जनप्रिय तथा लोक हितकारी राजा था। आदित्यवर्मन ईश्वर का पिता था और ईश्वरवर्मन ने अपने जौनपुर शिलालेख (पंक्ति ६) में अपने पिता आदित्यवर्मन को पवित्र कीर्ति वाला यशस्वी कहा है।

जैसा कि पूर्वगत वंश वृक्ष में दर्शाया गया है उसकी रानी (देवी) का नाम हर्ष गुप्ता था तथा उसे भट्टारिका देवी की उपाधि थी जिससे ज्ञात होता है कि वह पटरानी थी।

वह उत्तर गुप्त शासक हर्षगुप्त की बहन या पुत्री थी। इस वैवाहिक सम्बन्ध से उत्तरगुप्त वंशीय और मुखर वंशीय राजाओं में मैत्री स्थापित हो गई थी।

५. ईश्वरवर्मन (महाराज)

श्री महाराज आदित्यवर्मन का भट्टारिका देवी (पटरानी) हर्षगुप्ता से उत्पन्न पुत्र ईश्वरवर्मन ने सिंह के समान सिंहासन को प्राप्त किया, यथा—

सिंहेन सिंहासन अधिष्ठितम[3] अर्थात् उसने राजसिंहासन को अपनी शक्ति से ही प्राप्त किया।[4] उसने क्रूर लोगों द्वारा उत्पन्न उपद्रव को शान्त कर प्रजा को सुखी किया।[5] विन्ध्य पर्वत के उस पार आन्ध्र देश के राजा को पराजित कर ईश्वरवर्मन की विजयिनी सेनाएँ काठियावाड़ में रैवतक पर्वत तक गई थीं—

---

१. डॉ० अवस्थीकृत प्राचीन भारत का इतिहास, भाग २, पृ० ३६०।

२. हरहा लेख, पंक्ति ५।

३. ईश्वर वर्मन का जौनपुर शिलालेख, पंक्ति ६।

४. दृष्टव्य गरुण पुराण, १।११५।१५।

५. वही।

ईश्वर वर्मन का जौनपुर शिलालेख ।[1] उसी शिलालेख में निम्न पद आया है—

धारामार्ग विनिर्गत अग्नि कणिका ।[2]

पायर्स महोदय ने इसका अर्थ किया है कि धारा नगर से आई हुई अग्नि ज्वाला को ईश्वर वर्मन ने शीघ्र ही शान्त कर दिया तथा यह धारा नृपति पश्चिमी मालवा का राजा यशोधर्मन था जिसे ईश्वर वर्मन और जीवन गुप्त ने मिल कर हराया था ।[3] इसके विपरीत डा० बसाक का मत है कि धारा का अर्थ मौखरी शासक की तलवार की धार है और यह धारा नामक नगर का परियाचक नहीं है ।[4] डा० अवस्थी ने इस अर्थ का समर्थन निम्न प्रकार किया है ।[5]

'धारा (असि-धारा) तलवार की धार है और 'धारामार्ग विनिर्गताग्नि कणिका' का अर्थ 'असिज्योतिः' (हरहा लेख पंक्ति १९) है जिसे इसी अभिलेख (जौनपुर शिलालेख) की आठवीं पंक्ति में खंगद्युति कहा गया है और कपाणमरीचि (मालव राजाओं की उदयपुर प्रशस्ति, पंक्ति ११) भी कहा गया है। परमार शासकों की उदयपुर प्रशस्ति में भी असिधारा से शत्रुओं के विनाश का उल्लेख है—शत्रोंवर्गं धारयासंनिहत्य (मालव राजाओं की उदयपुर प्रशस्ति, पंक्ति ११) । यहाँ पर 'अग्निकणिका कहने का उद्देश्य बडवामुख, ज्वालामुख या ज्योतिर्विन्दु । मुखवाले मुखरों के प्रताप का विशेष संकेत है जिसका आधार तलवार की शक्ति थी ।'

डा० फलीट ने उपयुक्त "धारामार्ग विनिर्गत अग्नि कणिका" का अर्थ धारा (नगर) से मार्ग द्वारा आई हुई अग्नि शिखा किया है[6]—जो सही नहीं जान पड़ता । डा० त्रिपाठी ने तो यहाँ तक कल्पना की है कि दक्षिण के राजाओं ने संघ बना कर कन्नौज की बढ़ती हुई शक्ति पर आक्रमण किया ।[7] स्थिति का मानने योग्य विवेचन डा० राधा कुमुद मुखर्जी ने यह कह कर किया है कि मौखरियों की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ पहली बार ईश्वर वर्मन के व्यक्तित्व

---

१. जौनपुर शिलालेख, पंक्ति ६-८ ।

२. वही ।

३. दि मौखरीज, पृ० ७२-७३ ।

४. हिस्ट्री आफ नार्थ इस्टर्न इण्डिया, पृ० १०९ ।

५. डा० अवस्थी कृत प्राचीन भारत का इतिहास (भाग–२), पृ० ३६१ ।

६. कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, जिल्द ३, पृ० २३० ।

७. हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० ३८ ।

में मूर्त होकर मुखरित हुई, जिसने अपनी विजयों को पश्चिम में धारा तक तथा विन्ध्य और रैवतक (गिरनगर) पर्वतों तक आन्ध्रों का पीछा किया[१]।

इस प्रकार ईश्वर वर्मन ने अपनी विजयों द्वारा कन्नौज राज्य को साम्राज्य के रूप में बदल दिया जब कि उसके पितामह तथा पिता को पड़ोसी शक्तियों से संघर्ष करना पड़ा था। जौनपुर शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने उत्तर में हिमालय (प्रालेयाद्रि) तक का भूभाग अपने अधीन कर लिया था। अतः यह सत्य है कि उसका यश चारों दिशाओं में फैल गया था तथा उसके समय में एक साधारण राज्य साम्राज्य कोटि तक पहुँच गया। बादहू उसका पुत्र और उत्तराधिकारी ईशान वर्मन महाराजाधिराज की उपाधि से सुशोभित हुआ।

साथ ही साथ यह भी कहना है कि ईश्वर वर्मन के राज्यकाल की सही स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है क्योंकि डा० बसाक ने हरहा लेख के श्लोक १५ से यह निष्कर्ष निकाला है कि ईश्वर वर्मन के समय में "देश सामाजिक और राजनैतिक विपत्ति में फँसा था और ईशानवर्मन के विशेष प्रयास से शान्ति और व्यवस्था बनी"[२]। डा० त्रिपाठी ने भी लिखा है कि ईश्वर वर्मन के राज्यकाल में उपद्रव शुरू हो गया था और उसी में उसकी मृत्यु भी हो गई और इसीलिए ईशानवर्मन को अपर (दूसरे) स्कन्दगुप्त की भाँति अपने वंश की फलनोन्मुख लक्ष्मी को बचाना पड़ा।[३] परन्तु डा० अवस्थी ने कहा है कि उक्त श्लोक से तत्कालीन देश और समाज की शोचनीय दशा का परिचय मिलता है और ईशान वर्मन ने भी अपने अन्य पूर्वजों की भाँति देश और समाज को कलि-दोषों से बचाकर स्वस्थ बनाया।[४]

ईश्वर वर्मन् की देवी (रानी) का नाम उपगुप्ता था उसे पटरानी (भट्टारिका देवी) का पद प्राप्त था। यह भी अपनी सास (आदित्य वर्मन् की रानी) की भाँति उत्तर गुप्त वंश में उत्पन्न हुई थी।

६. ईशान वर्मन् (महाराजाधिराज)

ईश्वर वर्मन के बाद उसका पुत्र ईशान वर्मन राज्य का उत्तराधिकारो हुआ। मौखरि वंश का वह सर्वश्रेष्ठ शासक था। उत्तर गुप्तों की शक्ति क्षीण हो जाने पर वह स्वतंत्र हो गया क्योंकि उसने महाराजाधिराज का वीरुद् धारण किया।

---

१. हर्ष, पृ० ५४।

२. हि० आ० ना० ई० ई०, पृष्ट ११०।

३. हि० आ० क० पृ० ३९।

४. डा० अवधबिहारी लाल अवस्थी कृता प्रा० भा० का इतिहास भाग–१ २ पृ० ३६२ (पाद-टिप्पणी) तथा राजपूत पालिटो पृ० १-२।

इसने मौखरि वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा काफी बढ़ाई। उसने आन्ध्र, शूलिक और गौढ को पराजित किया और अपने नाम के सिक्के चलाए। उत्तरकालीन गुप्तों से भी जो पाटलिपुत्र छोड़कर मालवा में जा बसे थे उसका युद्ध हुआ जिसमें उत्तरगुप्त राजा कुमार गुप्त ने उसकी सेना को बड़ी हानि पहुँचाई किन्तु यह निश्चित नहीं है कि वह पराजित हुआ अथवा युद्ध अनिर्णयात्मक रहा। इस विन्दु पर आगे के भाग में प्रकाश डाला गया है।

ईशान वर्मन का राज्यकाल तथा वैवाहिक

सम्बन्ध—इसके राज्यकाल की प्रमाणित जानकारी नहीं है किन्तु इतना निश्चित है कि सन् ५५४ में वह शासन कर रहा था। इसका आधार यह है कि उसकी हरहा प्रशस्ति की तिथि मालव संवत् ६११ है जो ई० सन् ५५४ होता है और यही ईशान वर्मन की ज्ञान तिथि है।

ईशान वर्मन की माता तथा दादी उत्तरगुप्त वंश की राजकुमारियाँ थीं किन्तु स्वयं ईशानवर्मन का वैवाहिक सम्बन्ध उस वंश से नहीं था क्योंकि यदि ऐसा होता तो उत्तरगुप्त वंशीय कुमारगुप्त से उसका संघर्ष न होता जैसा कि इस शीर्षक के प्रारम्भ में बताया गया है तथा आगे के भाग में अधिक स्पष्ट किया जाएगा। उसकी पटरानी (भट्टारिका महादेवी) का नाम लक्ष्मीवती था किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि वह किस वंश की थी।

ईशान वर्मन की विशेषतायें—इम वैदिक राज्यधर्म के उपासक के सम्बन्ध में जो भी कुछ लघु सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर उसकी प्रशस्ति में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं—

१. वैदिक संस्कृति तथा वैदिक धर्म का उत्थान करना मौखरियों का सर्वप्रथम उद्देश्य था। अपने पूर्वजों की भाँति ईशान वर्मन भी उसी परम्परा का उन्नायक था। उसी दिशा में उसने अपने शासन को पल्लवित किया जिसके फलस्वरूप उसे लोकोपकारी, सत्पथ प्रवर्तक तथा कुत्सित प्रवृत्तियों का अन्त कर श्रेष्ठ युग का स्थापनकर्ता कहा गया है। उसके शासनकाल में त्रयी-धर्म प्रतिष्ठित हुआ।

२. क्षेमेश्वर के भग्न मन्दिर का जीर्णोद्धार उसी के राज्य-काल में करवाया गया।

३. उसकी हरहा प्रशस्ति का लेखक कवि रविशान्ति उसका सभारत्न था। उसकी रचनाओं में भाषा और भाव का श्लाघ्य है तथा अर्थ गर्भित उपमाएँ भी प्रचुर मात्रा में हैं।

४. उसके चाँदी के सिक्कों से उसके व्यक्तित्व का कुछ आभास मिलता है।

उनमें एक ओर उसकी मूर्ति तथा तिथि अंकित है और दूसरी ओर मयूर तथा निम्न पद हैं—

विजिता वनिर् वतिपतिः श्री शानवर्म दिवं जयति ।

भावार्थ, विजयी वतिपति तथा चारों ओर कीर्ति वाले श्री ईशानवर्म ।

५. उसकी कतिपय विजयें प्रमाणित मानी जाती है जिनका उल्लेख आगे किया गया है । उन्हीं के आधार पर उसने उचित रूप से अपने को महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित किया । हरहा लेख में प्रायः सभी मौखरी शासकों को कलितिमिर को नष्ट कर वैदिक धर्म का उन्नायक कहा गया है किन्तु ईशान वर्मन ने विशेषतः कलिसमुंद्र (कलह-सागर) में डूबे हुए तथा बिखरे हुए देश को एकता के सूत्र में बांध कर साम्राज्य स्थापित किया ।[1]

ईशान वर्मन की विजयें—इसकी प्रमुख विजयें आन्ध्रों, गौड़ों तथा शूलिकों और सम्भवतः मूलिकों के विरुद्ध प्राप्त की गई थी । इसके अतिरिक्त उत्तर-गुप्त शासक कुमारगुप्त से भी उसका संघर्ष हुआ था । इनका सबका सूक्ष्म विवरण निम्न प्रकार है :—

१. **आन्ध्र विजय**—उसने आन्ध्रों को परास्त किया कि जिनकी विशाल हाथियों की सेना थी (जित्वान्ध्रपति) । डा० राय चौधरी के अनुसार यह आन्ध्रपति विष्णुकंडि वंश का राजा माधव वर्मन (प्रथम जनाश्रय) था ।[2] ईशान वर्मन के पिता ईश्वर वर्मन ने भी आन्ध्रों को पराजित किया था ।

२. **गौड़ विजय**—उत्तर भारत में पूर्व में समुद्र के निकटस्थ (जहाँ अब बंगाल तथा बंगला देश है) गौड़ों का राज्य था और प्रश्नगत समय में जयनाग वहाँ का शासक था तथा जिसका उल्लेख आर्य मंजुश्री मूलकल्प में भी है । डा० बसाक के अनुसार ईशानवर्मन ने जयनाग को परास्त किया था ।

३. **शूलिक विजय**—हरहा लेख के अनुसार ईशानवर्मन ने शूलिकों को भी पराजित किया था जिनकी सेना में घोड़ों की बाहुल्यता थी ।[3] शूलिकों की पहचान अभी तक निश्चित नहीं हो सकी है क्योंकि विद्वान इतिहासकारों के इस विन्दु पर विभिन्न मत हैं । पं० हीरानन्द शास्त्री का मत है कि यह शूलिक वही है कि जिन्हें वृहतसंहिता (१४।८) में शौलिकी की संज्ञा दी है और यह कि वे दक्षिण पूर्व में कलिंग विघर्व, चेदि आदि के साथ स्थित थे । डा० रायचौधरी के

---

१. हरहा लेख, श्लोक १५ ।
२. पो० हि० आं० ऐ० इ०, पृ० ६०२ ।
३. हरहा लेख, पंक्ति १२ ।

अनुसार शूलिक और चालूक एक ही हैं। श्रीकान्त शास्त्री उनको आन्ध्रों का पड़ोसी बताते हैं जबकि पायर्स उनकी पहचान चोलों से करते हैं।[1] बृहत्संहिता में शूलिकों को पश्चिमोत्तर दिशा में स्थित बताया गया है।[2] मत्स्यपुराण में इन्हें चक्षु (Oxus) नदी की घाटी में स्थित बताया गया है।[3] ब्रह्मपुराण इसे उदीच्य देश बताने के बाद शूलिकों को कुहका (काबुल नदी की घाटी) के समीप स्थित बताता है।[4] जैसा कि आरम्भ में कहा गया है शूलिकों की सेना की विशेषता यह थी कि उसमें घोड़ों की प्रधानता थी अतः शूलिक उदीच्य या उत्तरापथ में बसी हुई जाति थी क्योंकि वही क्षेत्र घोड़ों के लिए प्रसिद्ध रहा है।

मूलिक विजय—ईशानवर्मन ने मुलिकों को पराजित किया था। विष्णु धर्मोत्तर में तुषारों और खसों के साथ मूलिकों और मुखों का उल्लेख मिलता है, यथा—

माण्डव्याश्च तुषाराश्च मूलिकाश्च मुखाःखशाः।
महाकेशा महानासा देशास्तूत्तर पश्चिमेः[5]॥

अर्थात् माण्डव्य, तुषार, मूलिक, मुख, खश, महाकेश, महानास उत्तर-पश्चिम। आदि (पश्चिम) देश कहे जाते हैं।

डा० फ्लीट शूलिकों की पहचान मूलिकों से करते हैं।[6] किन्तु उपरिलिखित पद में मूलिकों और मुखों को अलग-अलग दर्शाया है। मुख वही थे जिनका आदि पुरुष मुखर था और जिससे मौखरि वंश प्रसिद्ध हुआ अतः यह निश्चित है कि मूलिक और मुख भिन्न जातियाँ थीं तथापि सम्भव है कि मूलिक और शूलिक एक ही जाति हो जैसा कि डा० फ्लीट ने बताया है।

कुमार गुप्त से संघर्ष—ईशानवर्मन का उत्तर गुप्तीय कुमार गुप्त से संघर्ष होने की बात आदित्य सेन के अफसद लेख से ज्ञात होती है। आदित्य सेन उत्तर गुप्तवंश का सर्वश्रेष्ठ शासक था तथा कुमारगुप्त का वंशज था। उक्त लेख में निम्न श्लोक आता है—

---

१. पायर्स, मौखरीज, पृ० ७९।
२. बृहत्संहिता, १४।२३।
३ मत्स्य पु० १२०।४५।
४. ब्रह्म पु० २७।५०।
५. विष्णुधर्मोत्तर १।९।८।
६. इण्डियन ऐन्टिकरी, जिल्द २१, पृ० १८६।

भीमः श्री शानवर्म क्षितिपति शशिनःसैन्य दुग्धोद सिन्धुर ।
लक्ष्मी संप्राप्ति हेतुः सपेदि विमथितौ मन्दरीभूय येन ।[१]

अर्थात् कुमार गुप्त (येन) द्वारा मन्दर पर्वत होकर राजाओं में चन्द्र के समान महान ईशानवर्मन की सेना रूपी समुद्र को लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए मथ डाला।

उक्त कथन में ईशानवर्मन की महानता को स्वीकार करते हुए उसकी सेना के मथने की बात कही गई है। उसे चन्द्र के समान महान भी कहा गया है जैसा कि हरहा लेख में भी उसे राजगंगन मंडल में चन्द्रमा के समान शोभायमान बताया गया है।[२] उसकी महानता का एक यह भी प्रमाण है कि वह अपने वंश का प्रथम महाराजाधिराज था तथा वह अपने जीवन के अन्त तक महान बना रहा। यदि शत्रु उसकी महानता को स्वीकार करते हुए कहता है कि कुमार गुप्त ने उसकी सेना को मथ डाला तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि कुमार गुप्त ने उसे पराजित किया क्योंकि यदि ऐसा हुआ होता तो पराजित होने की बात स्पष्टतः कही गई होती। इसके विपरीत डा० मुकर्जी कहते हैं कि ईशानवर्मन की चौथी विजय मालवा-नरेश कुमार गुप्त के विरुद्ध थी।[३] डा० निहाररंजन रे भी मानते हैं कि कुमार गुप्त पराजित हुआ था।[४] डा० बी० एन० श्रीवास्तव भी पूर्वी मालवा को ईशानवर्मन का विजित क्षेत्र मानते हैं।[५]

बात यहीं पर समाप्त नहीं होती क्योंकि पायर्स कहते हैं कि यह सत्य है कि मालवा के गुप्त नरेश कुमार गुप्त द्वारा ईशानवर्मन पराजित हुआ था। उनका यह भी कथन है कि उपरिलिखित अफसद लेख बताता है कि कुमार गुप्त ने ईशानवर्मन की सेना को पराजित किया था।[६] उस लेख का यही अर्थ डा० सिन्हा ने इन शब्दों में लगाया है कि "यह अभिलेख स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि निश्चित ईशानवर्मन पराजित किया गया था।[७]" निवेदन है कि इस अभिलेख पर आधारित उक्त दोनों ही मत भ्रमात्मक हैं। अभिलेख के किसी पद में यह नहीं कहा गया है ईशानवर्मन पराजित हुआ। उसकी सेना का "मथा" जाना कहा गया है किन्तु न तो इसके माने पराजय के हैं और न सेना का मथा जाना

---

१. आदित्य सेन का अफसर लेख, पंक्ति ७।
२. हरहा लेख पंक्ति ११।
३. हर्ष, पृ० ५५।
४. कलकत्ता रिव्यू, फरवरी १९२८, पृ० २०७।
५. डा० श्रीवास्तवकृत मौखरीज, पृ० १०।
६. पायर्स कृत मौखरीज, पृ० ७८।
७. डिक्लाइन ऑफ मगध, पृ० १६८।

पराजय का सूचक है। द्वितीय विश्व युद्ध में हिटलर ने अंग्रेजी, फ्रान्सीसी तथा रूसी सेनाओं को न केवल मथ ही डाला था अपितु उन्हें प्रायः नष्टप्राय कर दिया था किन्तु फिर भी जर्मनी की विजय न होकर मित्रराष्ट्रों की ही विजय हुई। अतः पायर्स तथा सिनहा द्वारा प्रतिपादित अर्थ तर्कयुक्त नहीं कहा जा सकता।

ईशानवर्मन की पराजय होने के मत के समर्थन में एक अन्य तर्क भी दिया गया है जो कुमार गुप्त की कालान्तर में शौर्य-सत्यव्रत पालन करते हुए प्रयाग में जाकर प्राण त्याग करने से सम्बन्धित है। इससे यह अर्थ लगाया गया है कि प्रयाग क्षेत्र को कुमार गुप्त ने ईशानवर्मन को हराकर कन्नौज राज्य से प्राप्त किया था तभी तो वह प्राण त्याग के लिए वहाँ जा सका। यदि प्रयाग उसके शासन के अन्तर्गत न होता (यानी ईशानवर्मन के शासन में होता) तो वह वहाँ दूसरे के राज्य में क्योंकर जा सकता था। यह तर्क इस बात से कट जाता है कि प्रयाग प्रसिद्ध तीर्थराज था (और अब भी है) जहाँ धार्मिक रीति से प्राण त्याग करना बड़ा पुण्य कार्य माना जाता था तथा वहाँ प्रत्येक व्यक्ति जा सकता था। वह पृथिवी पर एक सार्वजनिक स्थान है जैसा कि अग्नि पुराण में बताया गया है—"Prayag is the public region."[१] पुराणों में यह भी कहा गया है कि प्रयाग मरण की मति (बुद्धि, इच्छा) को किसी भी प्रकार छोड़ना नहीं चाहिये और इसीलिए प्रयाग-मरण का विशेष महत्व रहा है।[२] कतिपय प्राचीन राजाओं ने प्रयाग में जाकर प्राण त्याग किया था। अतः कुमारगुप्त का प्रयाग में प्राण-त्याग के तथ्य से उनका प्रयाग पर अधिकार होना प्रमाणित नहीं होता। अस्तु।

अन्त में विभिन्न मतों को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रश्नगत संघर्ष में न तो कुमार गुप्त की विजय हुई और न ईशानवर्मन की। युद्ध अनिर्णयात्मक रहा जैसा कभी-कभी पूर्व समय में होता था और आज कल भी। किसी भी साक्ष्य से न तो यह सिद्ध होता है कि उस युद्ध में कुमार गुप्त की विजय हुई और न ईशानवर्मन की। ऊपर निर्देशित अफसद लेख और हरहा लेख दोनों ही इस बिन्दु पर मौन हैं।

७. शर्ववर्मन् (महाराजाधिराज श्री परमेश्वर)

ईशानवर्मन के दो पुत्र थे—शर्ववर्मन और सूर्यवर्मन—तथा राज्य का उत्तराधिकारी शर्ववर्मन ही था। असीरगढ़ मुहर लेख के अनुसार महाराजाधिराज श्री ईशानवर्मन और भट्टारिका महादेवी लक्ष्मीवती का पुत्र परममाहेश्वर

---

१. अग्निपुराण (अंगरेजी अनुवाद, चौखम्बा) भाग १, अ० १११ पृ० ४४१।

२. अग्निपुराण, १११।८, १३, मत्स्यपुराण, १०४।२२,२४।

महाराजाधिराज श्री शववर्मन मौखरि था। सूर्यवर्मन का उल्लेख हरहा लेख में है जहाँ उसे केवल श्री सूर्य वर्मन ही कहा गया है।[१] शर्ववर्मन सभी साम्राज्यवादी उपाधियों से लेख में विभूषित है जिससे यह निश्चय है कि पिता की मृत्यु के बाद बड़ी गद्दीनशीन हुआ था। पायर्स महोदय का मत है कि उत्तराधिकार के प्रश्न पर दोनों भाइयों में युद्ध हुआ था जिससे सूर्यवर्मन शर्ववमन द्वारा पराजित हुआ था।[२] सूर्यवर्मन के बारे में अधिक जानकारी नहीं है।

शर्ववर्मन के राज्यकाल की तिथियों के बारे में निश्चित जानकारी नहीं है किन्तु उसका अधिकार सतलज नदी तक फैला जान पड़ता है।[३] इसके अतिरिक्त देववरणार्क अभिलेख[४] व से सिद्ध होता है कि बिहार के शाहाबाद प्रान्त पर भी मौखरियों का आधिपत्य था।

उत्तरगुप्त वंशीय कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी दामोदर गुप्त के साथ जिस मौखरी शासक का युद्ध हुआ था वह सम्भवतः शर्ववर्मन ही था। इस युद्ध में दामोदर गुप्त मूर्च्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ।[५] फलतः मौखरी विजयी हुए। शर्ववर्मन ने हूणों को भी पराजित किया था।

निस्सन्देह शर्ववर्मन महान सम्राट था। उत्तर गुप्तवंश के अन्तिम शासक जीवनगुप्त द्वितीय के देववरणार्क अभिलेख में शर्ववर्मन का उल्लेख करने में उसके नाम के साथ "परमेश्वर" विशेषण का प्रयोग किया गया है। एक अमित्र शासक के अभिलेख में इस विशेषण से विभूषित होने से शर्ववर्मन की महानता प्रकट होती है।

शर्ववर्मन के चाँदी के जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उन पर एक ओर राजा का चित्र बाईं ओर मुँह किए हुए है और दूसरी तरफ मयूर अपने पंखों को फैलाये खड़ा है तथा वहीं पर निम्न वाक्य अंकित है :—

"विजिता वनिर वतिपतिः श्री शर्ववर्मन दिवं जयति"

भावार्थ, विजयी वतिपति तथा चारों ओर कीर्तिवाले श्री शर्ववर्मन।

यह लेख ईशानवर्मन के सिक्कों पर अंकित लेख के समान ही है।

---

१. हरहा लेख, श्लोक १६।
२. मौखरीज, पृ० ८७।
३. पायर्स मौखरीज, पृ० ९१-९२।
४. यह अभिलेख देववरणार्क ग्राम (जिला आरा, बिहार प्रदेश) में प्राप्त हुआ था, अतः उसी ग्राम पर लेख का नामकरण हुआ।
५. अफसद लेख, श्लोक १०।

८. अवन्ति वर्मन

शर्ववर्मन के उत्तराधिकारी परमेश्वर श्रीमत् अवन्ति वर्मन था जैसा कि जीवनगुप्त द्वितीय के देववरणार्क अभिलेख में उल्लिखित है। उसका शासन कब आरम्भ हुआ इसका निश्चित ज्ञान नहीं है किन्तु उसकी मृत्यु सम्भवतः ६०० ई० के लगभग हुई। हर्षवर्धन कालीन (६०६ ई० ६४८) कवि वाणभट्ट ने अवन्ति वर्मन के लिए लिखा है कि—

मौखरी वंशः तत्रापि तिलक भ्रतस्याव् अवन्ति वर्मणः।

अर्थात् अवन्ति वर्मन मौखरी वंश का सर्वश्रेष्ठ सम्राट था। कतिपय इतिहासकारों का मत है कि विशाखादत्त के मुद्राराक्षस नाटक के भरत वाबत में अवन्तिवर्मन का नाम मिलता है। अतः वह प्रभावशाली तथा माननीय शासक था। वस्तुतः वह एक महान शासक था जैसे कि उसके पूर्वज थे।

अवन्तिवर्मन थानेश्वर के शासक तथा कान्यकुब्ज सम्राट हर्षवर्धन के पिता प्रभाकर वर्धन (छठी सदी के अन्त में) का समकालीन था। प्रभाकर वर्धन की पुत्री राजश्री अवन्तिवर्मन के पुत्र तथा उत्तराधिकारी गृहवर्मन को व्याही थी। अवन्ति वर्मन के चाँदी के सिक्के प्राप्त हुए हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि अवन्तिवर्मन ने प्रभाकर वर्धन के साथ मिल कर हूणों के विरुद्ध उत्तर गुप्त वंशीय राजा बालादित्य की सहायता की थी। स्थिति स्पष्ट नहीं है। किन्तु ऐसा अनुमान है कि बालादित्य ने हूण शासक मिहिरकुल को कर देना अस्वीकार करने के बाद उसका विरोध करना आरम्भ किया। मिहिरकुल से संघर्ष होने पर अवन्तिवर्मन और प्रभाकर वर्धन के सहयोग से उसने बालादित्य को बन्दी बना लिया। मिहिरकुल का वध करने की बात बालादित्य सोच रहा था तभी अपनी माता के अनुरोध पर उसने उसे मुक्त कर दिया। तब मिहिरकुल ने काश्मीर के राजा के यहाँ शरण ली। कुछ वर्षों बाद उसने अपने उदार संरक्षक से विश्वासघात करके उसका वध कर दिया और स्वयं काश्मीर का शासक बन गया। राजतरंगिणी में उसे क्रूर शासक कहा गया है।

९. गृह वर्मन

अवन्ति वर्मन के बाद उसका पुत्र गृहवर्मन राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसका राज्यकाल थोड़े समय का ही रहा, सन् ६०० के लगभग से ६०६ तक जब उसकी मृत्यु के बाद हर्षवर्धन कन्नौज की गद्दी पर बैठा।

---

१. हर्षचरित।

गृहवर्मन की रानी राजश्री थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री तथा राज्यवर्धन और हर्षवर्धन की बहन थी। सन् ६०५ में प्रभाकर वर्धन की मृत्यु हुई और राज्य का भार हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन पर पड़ा। उसी समय मालव (मालवा) के उत्तरगुप्तवंशीय राजा देवगुप्त ने कन्नौज पर आक्रमण किया जिसमें गृह वर्मन मारा गया। इस कारण कि गृहवर्मन सन्तानहीन था तथा मौखरि राजवंश का कोई ऐसा सदस्य न था जो गद्दीनशीन होता, राज्य का भार हर्ष वर्धन को सम्हालना पड़ा। उस स्थिति का समुचित विवरण जिसमें कि हर्षवर्धन कान्यकुब्जेश्वर हुआ, अगले अध्याय में दिया गया है।

१०. सुचन्द्रवर्मन तथा भोगवर्मन

सुचन्द्र वर्मन—गृहवर्मन की मृत्यु के बाद कन्नौज राज्य का भार सम्हालने के लिए मौखरि वंश का कोई सदस्य उपलब्ध न था सिवाय मृतक शासक के एक छोटे भाई के जिसकी आयु केवल २-३ वर्ष की ही थी किन्तु उस डावां-डोल परिस्थिति में उसे शासक घोषित करना श्रेयस्कर न था। अतः राज्यश्री के बड़े भाई तथा थानेश्वर राज्य के गद्दीधर हर्षवर्धन पर यह जिम्मेदारी आ पड़ी क्योंकि यद्यपि राज्यश्री अपने मृतक पति की कानूनन उत्तराधिकारिणी थी किन्तु उसकी आयु लगभग १३-१४ साल की ही थी। इस कारण तथा शोकग्रस्थ होने के कारण वह इतने बड़े राज्य का भार उस नाजुक स्थिति में सम्हालने लायक न थी। फलतः हर्षवर्धन से ही राज्य के मंत्रियों ने शासन को अपने हाथ में लेने के लिए आग्रह किया जिसे उसने इस शर्त के साथ स्वीकार किया कि वह अपनी बहन के प्रतिनिधि के रूप ही में प्रशासन चलाएगा। अन्ततः ऐसा ही हुआ और यही कारण था कि जिससे हर्ष वर्धन और राज्यश्री दोनों ही दरबार में उपस्थित होकर राज्य संचालन करते थे जैसा कि चीनी यात्री हयेन-सांग ने अपने विवरण में लिखा है।

सन् ६४७-४८ में हर्षवर्धन के अवसान के बाद लगभग एक साल उसके मंत्री अर्जुन ने राज्य पर अनधिकृत कब्जा कर लिया किन्तु लगभग सन् ६४८-४९ के वह चीन सम्राट के दूत द्वारा युद्ध में परास्त होकर बन्दी बना लिया गया तथा बाद में उसे चीन के सम्राट के सम्मुख पेश किया गया और अन्त समय तक कारागार में रहा। अस्तु।

इधर उपरिलिखित ग्रहवर्मन का छोटा भाई अब लगभग ४४-४५ वर्ष का हो गया था। अतः अर्जुन के बन्दी हो जाने पर रिक्त सिंहासन पर वह आरूढ़ हुआ। मंजुश्री-मूलकल्प में उसका नाम सुव्र (सुव्रवर्मन) आया है। सम्बन्धित श्लोक में उसका नाम ग्रहवर्मन के नाम के बाद आया है, यथा—

ईशान-सर्व-पंक्तिश्च ग्रह-सुव्र तथा परः।
ततस्ते लुप्त राजानः भ्रष्ट मर्याद सर्वदा ॥[१]

अर्थात्, ईशानवर्मन, सर्ववर्मन, अवन्तिवर्मन, ग्रहवर्मन, सुव्रवर्मन (सुचन्द्र वर्मन) आदि शासक हुए जिसके बाद यह वंश समाप्त हो गया तथा भ्रष्ट मर्यादायुक्त युग (क्षीण युग) प्रारम्भ हुआ।

इससे सिद्ध होता है कि हर्षवर्धन और अर्जुन के बाद सुव्रवर्मन कन्नौज-राज्य का (या उसके संकुचित भाग का) शासक हुआ। इसकी पुष्टि सुव्रवर्मन की एक मोहर से होती है जो नालन्दा विश्वविद्यालय के खंडहरों में पाई गई थी तथा जिसके अभिलेख से विदित होता है कि सव्रवर्मन कन्नौज राज्य का स्वतंत्र शासक था। उक्त मोहर में नाम खंडित है किन्तु उसके दो अक्षरों को 'सुव' या 'सुच' पढ़ा गया है जिनसे अनुमान लगाया गया है कि पूरा नाम कदाचित "श्री सुचन्द्र-वर्मन मौरव मौरवरिः" होगा।

सही तौर पर ज्ञात नहीं है कि सुचन्द्रवर्मन ने कब तक राज्य किया किन्तु लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर वीरेश्वर नाथ श्रीवास्तव ने तर्कयुक्त गणना करके यह निष्कर्ष निकाला है कि लगभग १६ साल शासन करने के बाद उसका शरीरपात सन् ६६४ के लगभग हुआ।[२] सुचन्द्रवर्मन के राज्य-प्रशासन के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है।

भोग वर्मन—कुछ नेपाली अभिलेखों के आधार पर उक्त प्रोफेसर श्रीवास्तव ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि सुचन्द्रवर्मन के बाद उसका पुत्र भोगवर्मन कन्नौज राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। वह मगध के राजा आदित्य सेन का दामाद था तथा उसकी आत्मजा वत्सदेवी नेपाल की ठाकुरी राजा शिवदेव द्वितीय को व्याही थी जो ७२५ ई० में सिहासनारूढ़ था। यह भी ज्ञात होता है कि वत्सदेवी से शिवदेव ने जयदेव द्वितीय नामक पुत्र उत्पन्न किया था जो बाद में उसका उत्तराधिकारी हुआ।[३] भोग वर्मन का जन्म लगभग ६४८-४९ ई०[४] के आँका गया है। अतः सन् ६६४ में गद्दीनशीन होने के समय उसकी आयु लगभग १६ साल की थी। उसने कब तक राज्य किया यह ज्ञात नहीं है किन्तु

---

१. मंजुश्री मूलकल्प, पृ० ६२६।

२. B. N. Srivastava, "History of the Maukharis of Kanauj during the Seventh Century A. D." (Bulletin No. 1 of U. P. Historical Society, Lucknow, 1957), pp. 24, 26.

३. वही।

४. वहीं।

अनुमान लगा कर कहा जा सकता है कि लगभग ७०० ई० तक उसने शासन किया होगा। उसके बाद मौखीर राजवंश कालग्रस्त हो गया।

११. निष्कर्ष

इस प्रकार इस प्राचीन, प्रभावशाली तथा लोकप्रिय वंश का अन्त हुआ। प्रथम शासक हरिवर्मन को मिला कर इसमें नौ पीढ़ियाँ हुईं। इनके शासन का पहला तथा महत्वपूर्ण दौर केवल ६६ वर्ष के लगभग रहा (सन् ६०६-५४० ई०), अर्थात् गृहवर्मन के प्राणान्त तक। उसके पश्चात् दूसरा दौर हर्षवर्धन के बाद सन् ६४८-४९ से ७०० ई० तक (लगभग ५० साल), अर्थात् भोग वर्मन के अन्त तक रहा। प्रथम दौर के न्यून काल में ही मौखरियों ने उत्तर भारत के इतिहास में प्रचुर कीर्ति अर्जित की। उनका राज्य विस्तार अधिक न था किन्तु वे धर्माव-लम्बी और विद्या प्रेमी शासक थे तथा उनका प्रशासन लोकप्रिय था। मन्दिरों के निर्माण के अतिरिक्त उन्होंने अनेक यज्ञ भी किए थे। अन्ततः जिस परिस्थिति में गृहवर्मन का प्राणान्त हुआ तथा उनकी कमतर उम्र की विधवा रानी राज्यश्री आक्रमणकारी द्वारा बन्दी बनाई गई वह दुखपूर्ण थी किन्तु उस हानि की पूर्ति सम्राट हर्षवर्धन के अभ्युदय द्वारा हुई। उनके काल में कन्नौज राज्य अपने उच्चतम शिखर पर पहुँचा था। अगले अध्याय में विद्वान पाठकों के सम्मुख उसी विभूति का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

अध्याय–१३

सम्राट हर्ष वर्धन

(हर्ष काल अथवा वर्धन काल, ६०६-७२० ई०)

सारपत्रक

१. हर्ष सम्बन्धित प्राप्य सामग्री ।
२. हर्षवर्धन का वंश वृक्ष तथा उनके पूर्वजों के इष्टदेव ।
३. सम्राट हर्ष की कालक्रम सारिणी (५८९-६४७ ई०) ।
४. प्रारम्भिक जीवन ।
५. थानेश्वर के शासक के रूप में ।
६. हर्ष कन्नौज राज्य के शासक बादहू सम्राट ।
७. हर्ष की विजयें और युद्ध तथा साम्राज्य विस्तार :—
 (क) विजयें ।
 (ख) हर्ष के विरूद्ध तथा उसके साम्राज्य का विस्तार ।
८. हर्ष की शासन व्यवस्था ।
९. विद्या-उन्नायक तथा साहित्यानुरागी हर्ष ।
१०. हर्ष की धार्मिक निष्ठा, कन्नौज और प्रयाग के सम्मेलन; हर्ष का धर्म ।
११. हर्ष काल की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक अवस्था ।
१२. हर्ष युगीन कला ।
१३. हर्ष काल का कन्नौज नगर ।
१४. हर्ष सम्बन्धी विभिन्न बातें ।
१५. हर्ष का चरित्र तथा मूल्यांकन ।
१६. सम्राट का अन्त तथा उसके शीघ्र बाद की स्थिति ।

नोट :—सम्राट हर्ष का शासन काल ६०६ ई० से ६४७ तक (४१ वर्ष) रहा । उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अयोग्य व्यक्ति हुए अतः कन्नौज राज्य में अव्यवस्था फैल गई जो आगामी लगभग ७०-७५ वर्ष तक कायम रही । तदन्तर सन् ७२० के लगभग कन्नौज राज्य पर महाराज यशोवर्मन ने अधिकार कर लिया और लगभग ७४०-७५० ई० तक राज्य किया । अतः सन् ६५० से

७२० (लगभग ७०-७५ वर्ष) का अन्तराल भी हर्ष काल अथवा वर्धन काल में सम्मिलित समझा जाता है। इस प्रकार वर्धन काल की पूर्ण अवधि ६०६ से ७२० तक की मानी जाती है। जो अध्याय के प्रारम्भ में निर्देशित है।

१. हर्ष सम्बन्धित प्राप्य सामग्री

कान्यकुब्ज राज्य के सम्राट हर्ष वर्धन (६०६-६४७ ई०) का नाम ऐतिहासिक काल के प्रमुख शासकों में है। इनके सम्बन्ध में असंदिग्ध प्रमाण प्राप्त होने से इतिहासकारों का मार्ग सुलभ हो गया है। सम्बन्धित स्रोतों का विवरण निम्न प्रकार है :—

(१) राजाश्रित कवि बाण भट्ट की रचनाएँ :—हर्ष के बारे में प्रथम मुख्य स्रोत बाण भट्ट की रचनाएँ हैं। वह हर्ष का राजकवि था तथा दरबार का अनुभवी एवं विद्वान व्यक्ति था। हर्षचरित और कादम्बरी उसके दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। हर्षचरित ऐतिहासिक बातों का संग्रह है जिसमें नायक के व्यक्तित्व, चरित्र तथा कार्यों का वृत्तान्त है तथा अन्य सम्बन्धित विषयों का वर्णन है। उदाहरणार्थ, उस समय की धार्मिक क्रियाओं की जानकारी, समकालीन शासकों की वेश-भूषा, उनके युद्ध-कौशल, सैनिक संगठन आदि का उपयोगी तथा मनोरंजक चित्रण ग्रन्थ से प्राप्त होता है। दो शब्दों में हर्ष चरित उच्च कोटि की साहित्यिक रचना है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। क्योंकि यह एक कवि की रचना है। अतः वह अतिशयोक्ति-रहित नहीं है। इस बात को ध्यान में रखते हुए उसमें उल्लिखित बातों को पढ़ना चाहिए। इस अध्याय में वर्णित जो तथ्य हर्षचरित पर आधारित हैं उनका संदर्भ यथा स्थान दे दिया गया है।

बाण की दूसरी रचना कादम्बरी है जो काव्य ग्रन्थ है। तथापि उससे तत्कालीन परिस्थितियों का ज्ञान भी प्राप्त होता है।

(२) हर्ष की अपनी रचनाएँ :—हर्ष स्वयं विद्वान तो था ही, सफल लेखक तथा नाटककार भी था। नागानन्द, प्रियदर्शिका तथा रत्नावली उसके तीन प्रसिद्ध नाटक हैं। ये ग्रन्थ तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं। इनसे हमें राजमहल के जीवन के बारे में जानकारी मिलती है। नागानन्द से हर्ष की दानशीलता तथा उदारता का परिचय मिलता है और अन्य दोनों रचनाएँ राज़दरबार के षड्यन्त्रों पर प्रकाश डालती हैं।

(३) ह्युयेन सांग का वृत्तान्त :—ह्युयेन सांग चीन का निवासी था जिसे यात्रियों का शिरोमणि तथा बुद्धमत का महान पंडित माना जाता है। वह भारत में लगभग ६३० ई० से ६४५ तक रहा है और सारे उत्तर भारत का

भ्रमण किया तथा यहाँ के सभी राज्यों को देखा। हर्ष की राजधानी कन्नौज में तथा कन्नौज राज्य में वह लगभग ८ वर्ष (६३५-४३ ई०) महाराज के अतिथि के रूप में रहा। वह बौद्ध धर्म के ग्रन्थों की खोज में भारत आया था। कई साल तक वह नालन्दा विश्वविद्यालय का विद्यार्थी रहा जहाँ उसने संस्कृत का अध्ययन किया। भारत और हर्ष के सम्बन्ध में बारह खण्डों में उसने एक वृहत ग्रन्थ लिखा जो "सि-यू-की"[1] अर्थात् पश्चिमी जगत का वृत्तान्त के नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ में हर्ष के बारे में तथा हर्ष काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक अवस्था के बारे में प्रचुर सामग्री है।

(४) **शिलालेख :**—हर्ष के समय के दो ताम्रलेख भी प्राप्त हुए हैं जिनमें से एक बंसखेरा ताम्रलेख तथा दूसरा मधुवन ताम्रलेख के नाम से विख्यात है। इनसे हर्ष के वंश का पता चलता है। सोनपत में एक ताँबे की मोहर भी प्राप्त हुई है जो उस काल के इतिहास पर कुछ प्रकाश डालती है।

× × ×

यद्यपि उक्त स्रोतों से हर्ष की कीर्ति का दर्शन उपलब्ध है तथापि कालग्रसित होने से बहुत सी बातें निर्विवाद नहीं हैं। उनका चरित्र असाधारण और भारतीयता से भरा हुआ था जिसका स्वरूप इस अध्याय के अन्तिम अनुभाग (हर्ष का मूल्यांकन) में समाहित किया जायेगा।

२. हर्षवर्धन का वंश वृक्ष और उसके पूर्वजों के इष्टदेव

पुष्यभूति (उपनाम पुण्यभूति)..................शैव
|
महाराज नरवर्धन = बज्रिणी देवी...............सम्भवतः शैव
|
महाराज राज्य वर्धन प्रथम = अप्सरा देवी.......परयादित्य (सूर्योपासक)
|
महाराज आदित्य वर्धन = महासेन गुप्ता देवी.......(सूर्योपासक)
प्रभाकर वर्धन = यशोमति (यशोवती)...............(सूर्योपासक)
(परम भट्टारक महाराजाधिराज)
|

राज्य वर्धन द्वितीय	हर्ष वर्धन = दुर्गादेवी (कुमार शीलादित्य)	(पुत्र) राज्यश्री- (बौद्ध हीनयान)	{ महाराज ग्रहवर्मन कान्यकुब्ज नरेश

इसमें सन्देह नहीं कि वर्धन वंश के आदि पुरुष महाराज पुष्यभूति के इष्ट

१. Si-Yu-Ki, on The Records of the Western World.

देव शिव थे। उनके उत्तराधिकारी महाराज नरवर्धन के इष्टदेव के बारे में स्थिति स्पष्ट नहीं है किन्तु पिता की भाँति वह भी सम्भवतः शैव थे। उनके बाद के सभी वंशज सूर्योपासक थे। इसके अतिरिक्त स्वयं हर्ष शंकर भक्त भी थे जैसा कि आगे के एक शीर्षक में उल्लिखित है।

३. सम्राट हर्ष की कालक्रम सारिणी
(५८९–६४७ ई०)

मुख्य घटनायें

५८९-९० ई०	थानेश्वर के पुष्यभूति राजवंश में जन्म। पिता महाराज प्रभाकर वर्धन, माता रानी यशोमती।
६०४ ई०	हूणों के विरुद्ध भाई राज्यवर्धन के अभियान में सहायता के लिए जाना।
६०४-०५ ई०	मार्ग ही में पिता प्रभाकर वर्धन की बीमारी का समाचार पाकर राजधानी को लौटना।
वही	पिता का हर्ष को आशीर्वाद तथा राजनीतिक मंत्रणा देकर सुरधाम गमन। रानी यशोमति का सती होना।
६०५ ई०	राज्यवर्धन का युद्ध भूमि से हूणों को परास्त करके लौटना (पिता की मृत्यु का समाचार पाकर) तथा हर्ष के अनुरोध पर वैराग्य का विचार त्याग कर गद्दीनशीन होना।
६०५-६०६ ई०	पूर्व मालवा के उत्तर गुप्त वंशीय राजा देव गुप्त द्वारा कन्नौज नरेश बहनोई ग्रहवर्मन मौखरि के वध तथा बहन राज्यश्री के बन्दी बना लिए जाने का समाचार थानेश्वर पहुँचा। हर्ष को राजधानी की व्यवस्था सौंप कर राजा राज्य वर्धन का सेना लेकर कन्नौज जाना तथा देवगुप्त को परास्त करना। इसी बीच देवगुप्त की सहायता के लिए आए हुए गौड़ प्रदेश के राजा शशांक ने राज्यवर्धन को एक विश्वासघाती षड्यंत्र में फँसा कर तथा अपने शिविर में बुलाकर बध कर दिया। साथ ही भन्डि के सेना पतित्व में थानेश्वर की सेना का ध्यान बटाने के उद्देश्य से राज्यश्री को मुक्त कर दिया।
६०६ ई०	बड़े भाई राजा राज्यवर्धन के देहावसान के बाद थानेश्वर के

	मंत्रियों ने हर्ष को सिंहासनारूढ़ किया। उस समय उसकी आयु केवल २६ वर्ष की थी।
वही	तुरन्त ही राज्यवर्धन के बध का बदला लेने के लिए हर्ष सेना के साथ कन्नौज आया और फिर बहन राज्यश्री को विन्ध्याचल के वनों से ढूँढ़ कर लाया।
वही	क्योंकि ग्रहवर्मन के कोई सन्तान न थी अतः राज्यश्री और कन्नौज के मंत्रियों के आग्रह पर हर्ष ने कन्नौज राज्य का भार सम्हाला तथा कन्नौज को दोनों राज्यों की राजधानी बनाया।
६०६-६०७ ई०	हर्ष ने अपने प्रधान मंत्री के नेतृत्व में एक बड़ी सेना शशांक के विरुद्ध गौड़ प्रदेश भेजी किन्तु शशांक पूर्णतयः पराजित न हो सका।
वही	बाद में हर्ष ने एक विशाल सेना एकत्रित की और दिग्विजय के लिए निकला। कामरूप के राजा भास्कर वर्मन ने हर्ष का प्रभुत्व स्वीकार करके सन्धि कर ली और फिर दोनों ने मिल कर शशांक पर आक्रमण किया किन्तु शशांक की शक्ति पूर्णतयः नष्ट न हो सकी। कुछ समय बाद शशांक की मृत्यु के पश्चात् ही हर्ष उसके राज्य (पश्चिमी बंगाल) को अपने साम्राज्य में शामिल कर सका।
६०६–६१२ ई०	ह्येन सांग के अनुसार इन प्रारम्भिक छः वर्षों में हर्ष ने उत्तरी भारत के पाँच प्रदेशों को विजय किया जिससे उसका साम्राज्य समस्त उत्तरी भारत में विस्तृत हो गया।
६१३–६४३ ई०	इस अन्तराल में हर्ष ने अन्य क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की। उसकी अन्तिम विजय की तिथि लगभग ६४३ है जब कि उसने गंजम प्रदेश को जीता।
६३५–६४३ ई०	सन् ६३५ के लगभग हर्ष ने ह्युयेन सांग को अपनी राजधानी में आमंत्रित किया और लगभग ८ वर्ष तक यानी ६४३ ई० तक अपना अतिथि रखा। इसी अन्तराल में हर्ष ने ह्युयेन सांग की अध्यक्षता में एक विराट धार्मिक सभा कन्नौज में आयोजित की जिसका उद्देश्य बौद्ध महायानधर्म की प्रतिष्ठा करना था।

गंगा-यमुना के संगम प्रयाग पर प्रति पाँचवें वर्ष हर्ष दानोत्सव करता था जिसे पंचवर्षीय मोक्ष-परिषद् कहा जाता है। हुयेन सांग के समय में भी यह दानोत्सव हुआ जो छठे नम्बर का था। इसमें लगभग ५ लाख व्यक्ति शामिल हुए जिनमें हुयेन सांग प्रमुख था।

६४७ ई० सम्राट का देहावसान।

४. प्रारम्भिक जीवन

हर्ष की जन्मतिथि, पूर्वज तथा माता-पिता

हर्ष की जन्मतिथि की निश्चित जानकारी नहीं है। आमतौर पर इतिहास-कारों का अनुमान है कि उनका जन्म ५८९-९० ई० के लगभग हुआ था।

हर्ष के पूर्वज कुरुक्षेत्र के समीप श्रीकंठ अथवा थानेश्वर (स्थाण्वीश्वर) प्रदेश के शासक थे। बाण के अनुसार थानेश्वर राज्य की नीव पुष्पभूति (उपनाम पुण्यभूति) ने डाली थी। उसने श्रीकंठ नाग को परास्त करके तथा भैरवाचार्य[1] को प्रसन्न कर यह राज्य प्राप्त किया था। इस वंश का पूर्वकालीन वृत्त जैसा भी कुछ हो किन्तु इतिहास इसकी चार पीढ़ियों को ही जानता है अर्थात् हर्ष के पिता प्रभाकर वर्धन, पितामह आदित्य वर्धन और प्रपितामह राज्यवर्धन प्रथम। बाण के अनुसार महाराज पुष्यभूति को श्री लक्ष्मी द्वारा यह वरदान प्राप्त हुआ था कि वे एक महान राजवंश के प्रस्थापक होंगे तथा उस वंश में—

"सर्व द्वीपाना भोक्ता हरिश्चन्द्र इव हर्ष नामा चक्रवर्ती"

अर्थात् सभी द्वीपों के स्वामी हरिश्चन्द्र के समान हर्ष नामक चक्रवर्ती सम्राट होगा।[2]

महाराज प्रभाकर वर्धन के समय थानेश्वर बड़ा समृद्धिशाली राज्य था। बाण ने उसका वर्णन मुग्धकारी शब्दों में किया है। जिससे वहाँ के शासक की सुप्रबन्धता का बोध होता है तथा उसके शील, गुण एवं ऐश्वर्य का भी। इस राज्य की उन्नति में प्रभाकर वर्धन की शूरता का विशेष अंश थी जैसा कि बाण के निम्न लेख से भासित होता है :—

हूण हरिण केसरी सिन्धु राजज्वरो गुर्जर, प्रजागरो गांधाराधिप गंधद्विप

---

१. दक्षिण भारत के एक विशिष्ट संत। महाराज पुष्यभूति उनके शिष्य हो गए थे।

२. हर्षचरित, तृतीय उल्लास, पृ० १६९।

कूटपाक लो लाट पाटव पाडच्चरो मालव लक्ष्मी लवा परशुः प्रतापशील इति प्रथिता परनामा प्रभाकर वर्धनो नाम राजाधिराजः ।[1]

अर्थात् हूण रूपी हिरनों के घातक सिंह के समान, सिन्धु देश के राजा को ज्वर के समान संतप्त करने वाले, गांधार देश के राजा को हाथी के समान कूट इस्ति ज्वर, लाट देश की पटुता का अपहरण करने वाले और मालव समृद्धि का विनाश करने वाले तथा प्रतापशील राजा राजाधिराज प्रभाकर वर्धन उत्पन्न हुआ ।

राज्य सीमा के बाहर भी इस वीर ने अपना पराक्रम देश कल्याण में व्यय किया था और हूण जाति से मानो इसका सहज बैर हो गया था । हूणों को देश से निकालने में इसका देश की अन्य शक्तियों से घनिष्ठ संबंध होना स्पष्ट है । मौखरि राजवंश के प्रसंग में आ चुका है[2] कि उत्तरगुप्त वंशीय राजा बालादित्य[3] के साथ कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मन और थानेश्वर के महाराज प्रभाकर वर्धन दोनों हूण वहिष्कार में थे । अवन्तिवर्मन के पुत्र तथा उत्तराधिकारी गृहवर्मन के साथ प्रभाकरवर्धन की आत्मजा राज्य श्री का पाणिग्रहण सम्भवतः इसी मैत्री का फल हुआ ।

महाराज गृहवर्मन मौखरि अभी कम वयस्क ही थे कि कन्नौज साम्राज्य का संचालन उन पर आ पड़ा, ऐसा समझ पड़ता है । इस कारण एक प्रकार से महाराज प्रभाकर वर्धन उनके अभिभावक के रूप में रहे होंगे । बढ़ते-बढ़ते यह दोनों राज्य समीपवर्ती हो गए थे । एक पूर्व की ओर से (यानी कन्नौज) और दूसरा पश्चिम की ओर से (अर्थात् थानेश्वर) । एक शक्तिशाली शासक के नाते प्रभाकरवर्धन ने महाराजाधिराज की उपाधि भी ग्रहण की थी ।

थानेश्वर राजग्रह में प्रभाकर वर्धन की राज्ञी यशोभिति के गर्भ से उत्पन्न होने वाले पुत्र को ज्योतिषियों ने भावी सम्राट होने की घोषणा की । वैश्य राजपूत कुल के इस बालक का नाम हर्ष वर्धन रखा गया । राज्ञी यशोमति भी राजघराने की पुत्री थी । उनके पिता महाराज यशोधर्मन मालवा के शासक थे ।

उक्त राजदम्पत्ति श्री परिपूर्ण होने पर भी पुत्राकांक्षी हो अपने कुलदेव सूर्योपासना का फल हर्ष जन्म से पहले ही पा चुके थे । यह फल हर्ष के अग्रज कुमार राज्यवर्धन का जन्म था । इन दोनों कुमारों के साथ राजभवन की शोभा बढ़ाने को एक परम गुणमयी तथा सुलक्षणा अनुजा राज्यश्री भी उसी देव प्रसाद से जन्मी थी ।

---

१. हर्षचरित, चतुर्थ उल्लास, पृ० १७४।

२. अध्याय १२, अनुभाग ८ (अवन्तिवर्मन) ।

३. उत्तरगुप्त वंशीय पूर्व मालवा का शासक।

बाल्यकाल तथा राजकुमार के रूप में

जान पड़ता है कि अपने राज्य-विस्तार तथा पारिवारिक सम्बन्धों के फलस्वरूप महाराज प्रभाकर वर्धन के निरीक्षण में कई राजकुमार थे। उन्होंने अपने कुमारों के साथ आमोद-प्रमोद के लिए अपने सम्बन्धियों के कुमारों को भी अपने साथ रखा था। भंडी उनके साले का पुत्र था जो भी उन्हीं के पास था। वह राज्य वर्धन और हर्ष से ऐसा हिल-मिल गया था कि भविष्य में वह इन शासकों का मुख्य अंग रहा। भंडी के नाम से जान पड़ता है कि उसके स्वभाव में हास्य की मात्रा अधिक थी और इसीलिए इन सुरुचिपूर्ण भाइयों से उसका प्रीतिभाव अकबर और बीरबल का सा रहा होगा।

इन सबों को महाराज ने उच्च शिक्षा दी। बाण ने अपने हर्षचरित में लिखा है कि बाल्यकाल ही में इन कुमारों की प्रशंसा देशान्तरों में फैल गई थी। स्वयं हर्ष की प्रारम्भिक उच्च शिक्षा इस बात से प्रमाणित होती है कि बाद में वह एक विशिष्ट विद्वान तथा नाटककार बन पाया।

जब राज्य और हर्ष का जन्म देव आराधना से कहा गया है तो राज्यवर्धन के वयस्क होने तक महाराज प्रभाकर अवश्य ही काफी वृद्ध हो गए होंगे (जब अधिक आयु हो जाने पर सन्तति लाभ नहीं होता तभी देवताओं की शरण ली जाती है)। अतएव शस्त्र विद्या का ज्ञान भी इन कुमारों को छोटी अवस्था ही में करा दिया गया होगा। यह बात इससे भी स्पष्ट है कि प्रभाकर के स्वर्गवासी होने के समय दोनों राजकुमार दूर देश में युद्ध करने गए हुए थे। वह युद्ध महाराज के पुराने शत्रु हूणों से था।

इन हूणों का प्रताप पहले समय में भारतभूमि पर अपनी प्रखर ज्योति झलका गया था किन्तु प्रभाकर के समय में उनका कोई सुदृढ़ राज्य न था। सम्भवतः वे पश्चिमोत्तर देश में दुर्गम पहाड़ियों के आश्रित थे और अपने जातीय स्वभाव वश समीपस्थ प्रदेशों में लूट-उत्पात किया करते थे। अनुमान होता है कि सिन्ध प्रान्त में ये विध्वंसकारी उत्पात करते थे जहाँ कि प्रभाकर वर्धन ने अपना कुछ आधिपत्य कर लिया था। यही स्थिति थी कि महाराज ने अपनी वृद्धावस्था की शिथिलता के कारण इन उपद्रवियों के दमन हेतु ससैन्य राजकुमार राज्यवर्धन को भेजा था।

कुमार हर्षवर्धन भी उसका अनुयायी हुआ। हर्ष के साथ भी सेना थी किन्तु भाइयों में आगे पीछे बहुत अन्तर था।

जब यह दोनों भाई रणरंग एवं देश पर्यटन कुतूहल में निमग्न थे तभी अकस्मात् इनका बाल्यकालीन प्रफुल्लित सुख समाप्त होने को हुआ। वृद्ध प्रभाकर

कालज्वर पीड़ित हुए। सम्वादक ने यह दुखद समाचार हर्ष तक पहुँचाया। व्यग्र हो वह घर लौट पड़ा। राज्यवर्धन को या तो शीघ्र सूचना नहीं मिली क्योंकि वह दूरस्थ था, अथवा वह शत्रुओं से इतना युद्ध संलग्न हो रहा था कि बिना रणबाजी समाप्त किए उसका तुरन्त लौटना सम्भव न था।

राज प्रसाद में पहुँचने पर हर्ष ने पिता को आसन्न मृत्यु पाया और माता यशोमति को भावी पतिवियोग में विह्वल। पतिपरायणा यशोमति का संकल्प था कि वह वैधव्य जीवन संसार में न देखेगी। यद्यपि हर्ष ने बड़ा प्रयत्न किया कि वह पितृस्नेह और मातृप्रेम दोनों से एकदम वंचित न हो जाय, किन्तु दृढ़प्रतिज्ञ माता ने सती होने के निश्चय का परित्याग न किया।

पिता की मृत्यु तथा राज्यवर्धन का अभिषेक

शीघ्र ही महाराज प्रभाकर वर्धन परलोकवासी हुए और माता यशोमति ने सती होकर उनका अनुसरण किया। राज्य वर्धन अभी युद्ध से न लौट पाए थे।

कम उम्र हर्ष इन दोनों अननुभूत घटनाओं को संवरण न कर सके। उनके कोमल चित्त में वैराग्य का बीजांकुर उत्पन्न हो गया जो शनैशनै बढ़ता रहा और जीवन पर्यन्त उनके साथ रहा।

जब युद्ध श्रमित और घायल राज्यवर्धन लौट कर आया तब हर्ष पिता-माता का अन्त्येष्ठि कर्म कर चुका था। अन्त समय में माता-पिता के समीप न होने का राज्यवर्धन को महान क्लेश हुआ। इस आकस्मिक शोकवेग से वह इतना अधीर हो गया कि उसने सांसारिक राजसी सुख-समृद्धि से विलग रहने का संकल्प किया। निदान उसने राजमुकुट धारण करने से इन्कार कर दिया।

हर्ष का दुख वह अपने दुख से कम समझता था। स्यात इसीलिए उसने कहा :—

> "राज्यभार हर्ष अपने हाथ में ले और जैसा कुछ पिता उसे उपदेश दे गए हों उसका पालन करता रहे।"

उसके इस कथन पर मंत्रणा करके मंत्रियों ने राज्यवर्धन को अपना हठ छोड़ने के लिए समझाया। वृद्ध जनों ने भी संसार की अनित्यता बताते हुए शोक दूर कर अपने कर्तव्य अर्थात् राज्यभार को ग्रहण करने की प्रार्थना की।

हर्ष को अग्रज के इस इरादे से शंका हुई। बाण के शब्दों में—"क्या भाई मेरे प्रति किसी कारण से क्रुद्ध हो गए हैं।....राज्य त्याग कर यदि वे वन चले गए तो यहां राज्य भोग करने के लिए कौन रुका रहेगा? क्या लक्ष्मण और भीम आदि का चरित्र वे भूल गए हैं? व्यर्थ की यह कल्पना जल्पना क्या, चुप-

चाप ज्येष्ठ भाई के पीछे-पीछे चल दूँगा।"[1] ("किंवा ममानेन वृथा बहुधा विकल्पि तेन तूष्णी मेवार्यं मनु गमिष्यामि।")

राम के भाई लक्ष्मण और युधिष्ठिर के भ्रातृगण भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव की आदर्श भ्रातृ-भक्ति हर्ष के हृदय में दृढ़ हो गई थी। इस स्पृहणीय आदर्श नीति का अनुसरण करना हर्ष ने अपना कर्तव्य समझा।

इस प्रकार हर्ष ने भी अपना निर्णय दे दिया कि यदि भाई साधु बन जायेंगे तो वे भी संसार से विरक्त होकर संन्यास ले लेंगे। तब पैत्रिक राज्यसंपदा को कौन सम्हालेगा यह प्रश्न राज्य वर्धन के सामने आया। जब इसका कोई विकल्प उनकी समझ में न आया तब वे राज्य सिंहासन स्वीकार करने के लिए विवश हो गए। अन्ततोगत्वा थानेश्वर के राज्य पर उनका अभिषेक हो गया (६०५ ई०)। बाँसखेरा के ताम्रपत्र लेख से ज्ञात होता है कि पिता की भाँति ही उन्हें भी परमभट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित किया गया—यथा "परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री राज्य वर्धन।"[१]

बहनोई गृह वर्मन मौखरि की हत्या तथा बहन राज्यश्री का बन्दी होना—राज्य वर्धन सिंहासन पर बैठा ही था और जब दोनों भाई अपने दुख के निवारण की चेष्टाएँ ही कर रहे थे कि उसी समय कन्नौज से बहन राज्यश्री का संवादक नामक सेवक निम्न समाचार लेकर आया :—

> "जिस दिन सम्राट का निधन हुआ उसी दिन दुष्ट मालवराज ने.... देव गृह वर्मा की हत्या कर दी और राज्यश्री के पैरों में लोहे की बेड़ियाँ डालकर उसे चोर की स्त्री के समान कान्यकुब्ज की जेल में बन्द कर दिया। यह भी कहा जाता है कि वह शीघ्र ही इस देश को भी अनाथ समझ कर आक्रान्त कर जीतना चाहता है।"[२]

शत्रुओं के इस पैशाचिक कर्म से राज्यवर्धन के अकर्मण्य रूपी वैराग्य में एक आन्दोलन पैदा हो गया। ज्ञातव्य है कि मनुष्य के संकल्प-विकल्प सांसारिक घटनाओं के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। त्याग की अवस्था में भी राज्य वर्धन के हृदय में आवेश पैदा हो गया, रक्त में वीर रस का संचार होने लगा। तप की एक नई मूर्ति की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। शठ शत्रु का संहार करना अब राज्य वर्धन की दृष्टि में सच्चा तप और सांसारिक शोक हरने वाला जान

---

१. ह० च० छठा उच्छ्वास पृ० २४३-२५०।

२. बाँसखेरा लेख, हर्ष सम्वत् २२, पंक्तियाँ ५-७।

३. ह० च० उ० ६, पृ० २५१।

पड़ने लगा। निदान उसने शत्रुओं के प्रति अस्त्र बांधने में संकोच न किया, वह अब रणोन्मुख हुआ।

अब यह जानने की आवश्यकता है कि वे शत्रु कौन थे और किस प्रकार की शत्रुता थी जिसके लिए राज्य वर्धन यह कह कर रणक्षेत्र की तैयारी करने लगा—"जिन हत्यारों के नाम ग्रहण से जिह्वा कलुषित होती है मैं उन गर्हित दुष्कर्म करने वाले मालव राज्य की नींव को धूल में मिलाऊँगा। यही मेरा राजप्रसाद होगा यही मेरा राज दरबार होगा, यही मेरा राज परिवार होगा। और यही मेरी राज्य भूमि।"

उस समय मालवा का राजा उत्तर गुप्त वंशीय देव गुप्त था। यह गुप्त घराना मगध के प्रख्यात गुप्त वंश से ही माना जाता है। मगध का विशाल राज्य समाप्त हो चुका था। मौखरि इतिहास में कहा जा चुका है कि वह कन्नौज राज्य का अंग बन गया था। मगध के पूर्व समुद्र तट पर गौड़ राज्य था। मगध राज्य के प्रताप क्षय होने पर गौड़ शक्ति को, पड़ोसी तथा शक्तिशाली होने पर भी कुछ लाभ न हुआ वरन् कन्नौज सम्राट ने उसको समुद्र तट पर सीमित रखा। निदान गौड़ और कन्नौज से पुराना वैर स्पष्ट है। उस समय गौड़ाधिपति शशांक था।

यद्यपि कन्नौज और थानेश्वर राजवंशों का सम्बन्ध गुप्त वंश से था—दोनों गुप्तों के मान्या थे तथापि राजनीति की दृष्टि से गुप्त राजगद्दी को दोनों से खिन्न रहने का कारण था। प्रभाकर वर्धन के लिए कहा जा चुका है कि वह मालव राजलता का परशु था और कन्नौज के लिए यह देख चुके हैं कि वह राष्ट्र मगध को अपने में लीन कर गौड़ सीमा तक पहुँच चुका था। यहाँ यह भी कहना है कि मौखरियों ने यद्यपि मगध अपने अधीन कर लिया था। पर गुप्तों को बड़ा से निर्मूल नहीं किया जो इस बात से प्रतीत होता है कि इस समय भी वहाँ का सूबा गुप्त वंशी था।

उक्त परिस्थिति का उपयोग इस समय करना एक राजनीति की चाल थी। गोड़ेश और मालवेश दोनों मिल गए। जान पड़ता है कि शशांक ने अपना पुराना बैर निकालने के लिय देवगुप्त को यह समझाया कि अब प्रभाकर वर्धन संसार में नहीं है और राज्यवर्धन ससैन्य दूरस्थ रणक्षेत्र में प्रस्तुत है तथा गृह वर्मा युद्ध के लिए अयोग्य और बेखबर है, अतएव यदि कन्नौज पर अधिपत्य कर लिया जाये तो मगध का गया हुआ राज्य लौट आवेगा और साथ ही अन्तरीय भारत में दृढ़ शासन की नींव पड़ जाएगी। इस प्रलोभन के फलस्वरूप गृहवर्मा पर आक्रमण किया गया और उसे समाप्त किया गया। कन्नौज राजधानी पर शत्रुओं का

कब्जा हो गया। राजमहिषी राज्यश्री को बन्दी कर कारावास दिया गया। गुप्तचरों द्वारा यह समाचार थानेश्वर में राज्य वर्धन को मिला।

समाचार पाते ही राज्य वर्धन क्रुद्ध हो मालवेश को ध्वस्त करने के लिए कटिबद्ध हो गया। हर्ष ने भी चाहा कि वह अपने भाई के साथ युद्ध में भाग ले किन्तु राज्य वर्धन को अपने बाहुबल पर विश्वास था और वह देव गुप्त पर विजय पाने के लिए विशेष सामग्री की आवश्यकता न समझता था। निदान राज्य-वर्धन ने अकेले ही कूच किया। यद्यपि वह एक युद्ध का थका हुआ था तथापि क्रोध के आवेश में और अपनी वीरता के बल पर उसने अल्प ही समय और प्रयास से देवगुप्त को उसके सहायकों सहित परास्त किया। बाँसखेरा ताम्रपत्र लेख में यह बात निम्न प्रकार लिखी है :—

> "परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री राज्य वर्धन ने देवगुप्त आदि अनेक शत्रु राजाओं को एक साथ ही युद्ध में उसी तरह पीड़ित कर दबाया कि जिस प्रकार दुष्ट घोड़ों को चाबुक द्वारा दमन किया जाता है। इस प्रकार उन्होंने अपने विरोधियों को पराजित कर देश को प्रजाहित करते हुए सुरक्षित बना दिया। परन्तु इस प्रजाहित कार्य को करते हुए ही उन्हें शत्रु-भवन में अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।"[1]

शशांक द्वारा राज्य वर्धन का षड्यांत्रिक वध :— मालवेश के पराजित होते ही शशांक भयभीत हुआ और पूर्व आकांक्षा सिद्ध होते न देख तुरन्त ही दूसरी युक्ति की। राज्य वर्धन को उसने अपनी चतुराई से प्रभावित करने का प्रयत्न किया और सफल हुआ। इसी कूटनीति के उपक्रम में उसने अपनी राजकन्या का राज्य वर्धन के साथ पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखा। राज्य वर्धन उसकी कूट चालों को न समझ सका। अनुभव शून्य नवयुवक युद्धजित राज्य वर्धन छिपे हुए शत्रु पर मित्रवत विश्वास कर गया और शशांक के आमंत्रण पर उसके शिविर में निःशंक, निःशस्त्र अकेला ही पहुँचा। शशांक ने अपना मार्ग निष्कंटक करने के लिए विश्वासघात का पाप अपने सिर लिया और राज्य वर्धन का बध कर डाला।[2]

गौड़ेश के साथ कोई युद्ध नहीं हुआ। राज्य वर्धन १०,००० सेना लेकर मालवेश को दण्ड देने के लिए चला था। राज्य की चतुरंगिणी सेना तथा

---

१. बाँसखेरा लेख, हर्ष सम्बत् २२, पंक्तियाँ ५-७।

२. यह विवरण हर्ष-चरित के टीकाकार के कथन पर आधारित है दृष्टव्य डा० त्रिपाठी-कृत हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ६७, पा० टि० ४।

माण्डलीक राव राजा सब उसने (राज्य वर्धन ने) हर्ष के साथ घर ही पर छोड़े थे, केवल भँडी उसके साथ था। इसलिए शशांक को उस हत्या का प्रतिफल तत्काल नहीं दिया जा सका।

५. थानेश्वर के शासक के रूप में

राज्य वर्धन के जाने के थोड़े ही समय बाद हर्ष को समाचार मिला कि "राज्य वर्धन ने मालवा सेना को सहज ही पराजित कर दिया, परन्तु वह गौड़ राजा के कपट-व्यवहार और झूठे शिष्टाचार के धोखे में पड़ कर विश्वास करते हुए अकेले तथा निहत्थे होने की अवस्था में गौड़ाधिपति के भवन (शिविर) में ही मार डाला गया।"[१]

जब हर्ष को सम्वादक ने यह हत्याकाण्ड सुनाया और उसे यह मालूम हुआ कि उसके भाई ने अपने प्राण शत्रु से बचनबद्ध हो और सानुरोध उसके शिविर में जाकर दिए तब क्रोध कम्पित अधरों से उसने यह प्रण किया :—

"यदि परि गणितैरेव वासरैः.....निगौड़ा न करोमि मेदनीं ततः तनून पाति पीत सर्पिषि पतंग इव पातकी पात याम्यात्मानम्।"[२]

अर्थात्, यदि अल्प काल में मैं पृथ्वी को गौड़-विहीन न कर दूं और उदंड दुराचारी राजाओं को लौह शृंखलाओं से बाँध कर उनकी बेड़ियों से पृथ्वी झंकृत न कर दूं तो मैं अपनी पापात्मा को दग्ध कर दूंगा।

पिता, माता, बहनोई और भाई, सबकी अत्यल्प समय में एक के बाद दूसरी, मृत्यु होना वज्रपात ही था परन्तु हर्ष का पौरुष क्षीण न हुआ। क्षात्र व्रत धर्म को स्मरण करते हुए उसने गौडाधिप की इस प्रकार भर्त्सना भी की :—"गौड के राजा को छोड़ कर समस्त राजाओं के विजेता उस महापुरुष के साथ विश्वासघात कर शस्त्र-रहित होते हुए कृष्ण-मार्ग (कालामार्ग, अर्थात् पापमार्ग) का अनुसरण करते हुए द्रोण-बध के समान हत्या कौन करेगा ?.. यह अनार्य कार्य था कि आर्य राज्य वर्धन का इतनो उग्रता और धूर्तता के साथ प्राण बध किया गया।.... उस अधम गौडराज ने केवल अपयश ही कमाया है। देखना है कि वह दुर्बुद्धि अब कहाँ भाग कर जायगा।"[३]

राज मंत्रियों तथा सैनय सिंहनाद के समझाने पर कि अब एक वही पृथ्वी का भार धारण करने के लिए शेष बचा है क्योंकि राज्य वर्धन को गौड़ सर्प ने

---

१. ह० च०, उ० ६, पृ० २५५।
२. ह० च० उ० ६, पृ० २५५।
३. वही, पृ० २५६-५७।

डस लिया है इसलिए उसे धैर्य धारण कर प्रजा की भी रक्षा करनी चाहिए। यह भी कहा कि राजमुकुट धारण करना ऐसे समय में उसका धर्म है। यद्यपि हर्ष ने शासन करना स्वीकार कर लिया किन्तु मानो इतने ही के लिए कि वह दुराचारी राजाओं को दमन कर ग्रीवोन्नत न होने दे।

यद्यपि हर्ष राज्य सिंहासन पर बैठने के लिए इच्छुक न था तथापि स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए तथा मंत्रियों और सरदारों के आग्रह पर उसने शासक होना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार ६०६ ई० में वह थानेश्वर का राजा बना। उस समय उसकी आयु केवल १६ वर्ष की थी।

महाराज हर्ष के सामने अब शीघ्र कार्यान्वित करने के लिए तीन उद्देश्य थे :—

१. शत्रुओं को दंडित करना।
२. बहन राज्य श्री को खोज निकालना, और
३. कन्नौज राज्य का पुर्नउद्धार करना।

इस सम्बन्ध में मंत्री (सैनप) सिंहनाद ने सुझाव दिया कि "एक अधम गौड राजा का ही बध करने से कोई लाभ न होगा। ऐसा करो कि फिर अन्य कोई राजा इस प्रकार का दुस्साहस न करे। सम्पूर्ण पृथ्वी विजय की मर्यादा का पालन करो।....राज्य-लक्ष्मी को स्थिर कर एकाधिपत्य प्राप्त करो।.........अपने पिता, पितामह और प्रपितामह के मार्ग का अनुसरण करो।.........अस्तु आज ही गौड राजा को मार डालने की प्रतिज्ञा कर सैनिक अभियान (चढ़ाई) का चिह्न धनुष ग्रहण करो।"[1]

इस प्रकार वृद्ध तथा अनुभवी मंत्री ने हर्ष को दिग्विजय के लिए प्रोत्साहित किया। हर्ष ने भी इसका करना आवश्यक समझा। अतः उसने युद्ध-मंत्री (महासन्धि विग्रहिक) अवन्ति को निम्न घोषणा करने का आदेश दिया :—

> "पूर्व में उदयाचल से लेकर दक्षिण में त्रिकूट स्थित लंका और सुवेल पर्वत तक, पश्चिम में अस्त गिरि तक तथा उत्तर में गंधमादन (हिमालय की बद्रीनाथ पहाड़ी) तक सभी राजा लोग अपने हाथों को शस्त्र ग्रहण करने अथवा कर देने के लिए तैयार रखे। या तो वे चामर ग्रहण करें या शिर अथवा धनुष झुकाये।.........इस प्रकार यह विजय-चक्र उस समय तक चलता रहे जब तक सभी द्वीपों में भ्रमण करने वाले मेरे पैरों में सभी राजाओं की मुकुट मणियों का पादलेप न लग जाए।"[2]

---

१. ह० च०, उ० ६, पृ० २६१-२६२।
२. ह० च० उ० ६, पृ० २६३-६४।

इस घोषणा से हर्ष का "सर्व पृथ्वी विजय" द्वारा चक्रवर्ती पद पर प्रतिष्ठित होने तथा देश में एक सार्वभौम सत्ता की स्थापना करने का उद्देश्य जाहिर होता है। इस प्रकार उसने क्षत्रिय धर्म के अनुरूप "पृथ्वी-राज्य" के पुरातन आदर्श को अपने समक्ष रखा तथा उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर हुआ। परन्तु अभी उसको व्यावहारिक नीति का ज्ञान होना भी आवश्यक था क्योंकि इसी के अभाव के कारण राज्यवर्धन के प्राण गए। अतः अनुभवी नीतिनिपुण गज-सेनापति स्कन्दगुप्त ने हर्ष को समझाया कि—

"आप में पुण्यभूति वंश का सहज तेज है और साथ ही स्नेह भी विद्यमान है तथापि श्री राज्यवर्धन के वध के समाचार से आपको दुर्जनों की दुष्टता का कुछ तो परिचय हो ही गया होगा। इस प्रकार के ही लोक स्वभाव हर गाँव, नगर, देश, द्वीप और दिशा में पाए जाते हैं।............इस कारण आप अपने इस देश की सिधाई और सच्चाई की आदत छोड़ दे कि जिसके कारण आप शीघ्र ही सब पर विश्वास कर लेते हैं। श्रीमान् तो नित्य ही प्रमाद दोष के कारण होने वाले बहुत से कथानक तो सुनते ही हैं जैसे पद्मावती में मैना द्वारा मंत्रभेद खुल जाने से नागसेन का नाश हुआ, इत्यादि।[1]

तदनन्तर योग्य मंत्रियों की सहायता से हर्ष ने विजय यात्रा की तैयारी की। साथ ही राज्य की सुप्रबन्ध-व्यवस्था भी की।

हर्ष की विजय-यात्रा—सैनिक-प्रस्थान के लिए हर्ष ने शुभ लग्न पर भगवान शंकर की पूजा की और अन्य मांगलिक कार्य भी किए। सरस्वती नदी के पास घास-फूस के बने हुए घर में पंडितों द्वारा हर्ष की मंगल कामनाएँ की गईं। उसे यह आशीर्वाद भी दिया गया कि—

"एक शासन मुद्रांका भूर्भक्तो भविष्यति"[2]

अर्थात् आपके आधिपत्य में पृथ्वी एक शासन से मुद्रांकित हो। हर्ष ने वही विजय-यात्रा के पहले की रात बिताई। यह स्थान राजधानी के बाहर और महलों से दूर था और वही हर्ष के साथ समस्त मंत्रीगण, राजसभा के सदस्य तथा विशिष्ट जन उपस्थित रहे।[3]

दूसरे दिन तेजस्वी हर्ष विशाल सेना के साथ दिग्विजय के लिए चल पड़ा। उसका हृदय भाई के वध के कलंक को धोने के लिए व्याकुल था।[4] बाण के

---

१. ह० च० उ० ६ पृ० २६७–७०।
२. वही, उ० ७, पृ० २७५।
३. वही।
४. वही, पृ० २८०-८१।

अनुसार हर्ष की दिग्विजय का उद्देश्य मूलतः सार्वभौम सत्ता का स्थापन करना था। हर्ष की रत्नावली और प्रियदर्शिका नाटकों से ज्ञात होता है कि उस समय एक सार्वभौम शक्ति के अभाव में छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ रहे थे तथा देश में अराजकता के कारण प्रजा पीड़ित थी। अतः इस स्थिति को सुधारने के लिए हर्ष अग्रसर हुआ था। इस दंड तथा दिग्विजय यात्रा का रोचक वर्णन बाण ने दिया है यथा—सेना का विभिन्न प्रकार के मार्गों और स्थलों से जाना, यदि घोड़ों के लिए घास लाने की चिन्ता थी तो साथ ही यह भी चिन्ता थी कि प्रजा की कृषि आदि सेना से नष्ट न हो जाए। मार्ग में सभी जनता राजा को देखने के लिए एकत्रित हो जाती थी। लोग हर्ष को सम्मान सूचक भेंटें भी अर्पित करते थे जिससे हर्ष के प्रति प्रजानुराग प्रमाणित होता था।

कामरूप शासक कुमार भास्कर वर्मन के साथ सन्धि—यात्रा प्रारम्भ होने के थोड़े समय बाद ही हर्ष के शिविर में प्रागज्योतिषपुर (कामरूप, आसाम) के शासक कुमार भास्कर वर्मन का दूत हंस बेग बहुमूल्य भेंटों के साथ सन्धि-प्रस्ताव लेकर आया जिसकी सूचना मिलने पर हर्ष ने कहा कि उसे आदर सहित शीघ्र लाया जाए।[1] इससे स्पष्ट है कि हर्ष आसाम के साथ मैत्री करने के लिए उत्सुक था क्योंकि उससे शशांक को परास्त करने में बल प्राप्त होता था। कामरूप और गौड़ राज्य पड़ोसी होने के नाते एक दूसरे से दुर्भावना रखते थे, अतः अपने बचाव के लिए तथा शशांक को पराजित करने के उद्देश्य से यह सन्धि की थी। अतः दोनों पक्षों के लिए यह सन्धि उपयुक्त ही थी। डा० आर० एस० त्रिपाठी के शब्दों में भास्करवर्मन को "अपने पड़ोसी शक्तिशाली शत्रु से अधिक भय था और सम्भवतः यही कारण था कि उसने विजय यात्रा के प्रारम्भ ही में हर्ष के सामने मित्रतापूर्ण हाथ फैलाया।"[2] हर्ष को भी इस मित्रता की आवश्यकता थी अतः उसने भी दूत हंसवेग के द्वारा भास्करवर्मन को भेंट भेज कर चिरस्थाई मित्रता की और उसके पास संदेश भेजा कि आप "स्वयं पराक्रमी हैं और मेरे साथ मैत्री होने पर भगवान शंकर के अतिरिक्त ऐसा कौन है कि जिसके सामने उसे सिर झुकाना पड़े।"[3] यह संदेश भास्करवर्मन के उस प्रस्ताव के संदर्भ में था कि जिसमें उसने हर्ष के साथ कभी भी शिथिल न होने वाले संधि-सम्बन्ध की प्रार्थना की थी।[4]

---

१. ह० च० उल्लास ७, पृ० ८८८।
२. त्रिपाठी, हि० आ० क० पृ० ७२।
३. ह० च०, उ० ७, पृ० २९६।
४. वही।

हर्ष के भविष्य जीवन में यह संधि बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हुई। इसका मूल्यांकन करते हुए डा० आर० जी० बसाक कहते हैं कि "हर्ष स्वयं भास्कर वर्मन की सहायता अपने भाई के हत्यारे शशांक की शक्ति नष्ट करने के लिए चाहता था। इसके अतिरिक्त वह अन्य प्रदेशों को भी जीतना चाहता था, इसी लिए हर्ष को भी भास्करवर्मन की सहायता की आवश्यकता थी।[1]

भंडि से भेंट तथा राज्यश्री का समाचार—इस प्रकार सन्धि हो जाने के बाद दूत हंसवेग अपने स्वामी के पास लौट गया। अगले कदम का निर्णय हर्ष कर ही रहा था कि राज्यवर्धन के साथ गए हुए सेनाध्यक्ष भंडि ने आकर कन्नौज सम्बन्धित घटनाओं का समाचार दिया और मालवराज की बची हुई विजित सेना को भी हर्ष को समर्पित किया। बात यह थी कि राज्यवर्धन के बध के बाद भंडि ने पुन: गौड-मालव सेना का दमन किया। गोडनृप शशांक तो भाग निकला किन्तु मालवा की बची हुई और विजित सेना को भंडि ने बन्दी कर लिया। साथ ही उसने कन्नौज का भी उद्धार किया जिस पर मालवी सेना का अधिकार हो चुका था। भंडि ने राज्यश्री के बारे में बताया कि—

> "जिस समय राज्यवर्धन देवलोक चले गए (देवे) गुप्त नामक राजा ने कुशस्थल (कन्नौज) पर अधिकार कर लिया, तभी देवी राज्यश्री बन्दी-बन्धन को तोड़कर विन्ध्याटवी (विन्ध्यवन) की ओर चली गई। हमें यह समाचार लोगों ने बताया था। उसकी खोज में भेजे गए लोग अभी तक वापस नहीं आए हैं।"[2]

यह समाचार सुनकर हर्ष व्यग्र हो उठा। बहिन की खोज करना उसने अपना सर्वोपरि कर्तव्य समझा और भंडि से कहा कि अब अन्य खोज करने वालों से क्या प्रयोजन ? मैं स्वयं वहीं जा रहा हूँ जहाँ वह होगी, आप सेना लेकर गौड देश की ओर चलें। ऐसा कहने के बाद हर्ष ने भंडि द्वारा मालवराज की पराजय से प्राप्त सामग्री को अध्यक्षों को सौंप दिया और रणयात्रा को गंगातट पर स्थगित कर स्वयं भगिनी की खोज में विन्ध्य प्रदेश की ओर चल पड़ा।

राज्यश्री की खोज—राज्यवर्धन द्वारा मालवेश के परास्त हो जाने पर कन्नौज पर शत्रुओं का आधिपत्य शिथिल हो गया था, फलतः राज्यश्री किसी प्रकार बन्धन से मुक्त हो अपनी कुछ सहचरियों के साथ किसी निर्जन स्थान को प्रस्थान कर गई अथवा शत्रुओं द्वारा किसी अज्ञात स्थान में पहुँचा दी गई थी।

---

१. हि० आ० ना० ई० इं०, पृ० २२३-२२४।
२. ह० च० उ० ७, पृ० ३०२-३।

अपने गुप्तचरों द्वारा प्राप्त यह भेद भंडी ने हर्ष को बताया था। विन्ध्य के घने जंगलों में हर्ष कुछ दिन इधर-उधर घूमता रहा। अन्त में उसे ग्रहवर्मा मौखरि के बाल सखा बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र के आश्रम का पता चला। दिवाकर मित्र ने अपने सहयोगी भिक्षुओं की सहायता से हर्ष को उस गहन निर्जन स्थान में पहुँचा दिया जहाँ राज्यश्री चितारोहण की तैयारी कर रही थी। उस स्थान पर हर्ष के पहुँचने पर राज्यश्री जीवन नैराश्य के भाव से संसार यात्रा समाप्त करने के लिए अपनी अन्त्येष्टि यज्ञ हेतु सहचरियों के साथ समिधा चयन कर रही थी यदि हर्ष किंचित् विलम्ब से वहाँ पहुँचा होता तो भगिनी को भस्मासात ही पाता।

भाग्यवशात राज्यश्री को जीवित पाकर हर्ष का मनोरथ सिद्ध हुआ किन्तु राज्यश्री के विरागी चित्त को राजसुख की ओर फेरना कठिन कार्य था। राज-सुख की अपेक्षा उसे शान्तिमय आश्रम का निवास और काषाय वस्त्र अधिक रुचिकर थे इसीलिए उसने हर्ष के साथ कन्नौज लौटना स्वीकार न किया। हर्ष के विचार का अनुमोदन जब राज्यश्री के किसी आश्रमवासी ने न किया[1] तब हर्ष ने अपने हृदयोद्‌गार एवं संकल्प को उसके सम्मुख प्रकट किया। सच्चें भाव से प्रभाव होता ही है। वास्तव में अपने स्वजनों के एकाएक वियोग से स्वय हर्ष के चित्त में कम वैराग्य न था और न उसे राज सुख की लिप्सा थी। केवल एक राज्यश्री ही उसकी एकमात्र स्वजन रह गई थी, बहिन से सगा अब उसका कोई न था। इसलिए उसे अपनी नव वयस्का संतप्त भगिनी को कुछ काल अपने संग रख कर सांत्वना देना अभीष्ट था। यदि हर्ष ने शत्रुओं के दमन का संकल्प न कर लिया होता तो वह भी संभवतः उसी आश्रम में उसके साथ काषाय वस्त्र धारण करता। अतः उसने वचन दिया कि पूर्वोक्त प्रतिज्ञा के पूर्ण हो जाने पर वह साधुवेश में स्वयं भी रहेगा। इस प्रकार राज्यश्री को समझा कर हर्ष ने उसे परिवर्तित कर लिया। फिर गिरि नदी में स्नान कर बहिन द्वारा स्वर्गवासी पति को पिंडदान करवाया। तदनन्तर बहिन को भोजन कराकर[2] स्वयं भी भोजन किया। तत्पश्चात राज्यश्री ने "अपने बन्दी बनाये जाने की घटना से लेकर कन्नौज से गौड़ राजा के चले जाने और 'गुप्त' के बन्धन मे स्वयं गुप्ति नामक कुलपुत्र द्वारा मुक्त होने तथा राज्यवर्धन की मृत्यु सुनकर बिना भोजन

---

१. करता ही कौन ? आश्रम की मंडली में तो अधिकांश त्यागी बौद्ध भिक्षुक थे।
२. भाई राज्यवर्धन के वध का समाचार मिलने के दिन से राज्यश्री ने अन्न त्याग दिया था।

किए हुए विध्यावटवी में अति दुख से चिता-प्रवेश तक की तैयारी का सम्पूर्ण वृतान्त सविस्तार सुनाया।"[1]

इस प्रकार बहिन को लेकर हर्ष कन्नौज वापस आ गया। जब वह नगर में पहुँचा तब सूर्य अस्त हो रहा था और उसी के साथ बाण के हर्षचरित का भी अवसान हो जाता है। कारण अज्ञात है कि क्यों कवि ने हर्ष के जीवन की आगे की घटनाओं का उल्लेख किए बिना ही अपनी ऐतिहासिक कथा को समाप्त कर दिया।

६. हर्ष कन्नौज राज्य का भी शासक, बादहू सम्राट

राज्यश्री के आ जाने पर कन्नौज के शासन का प्रश्न उठा। गृह वर्मा का कोई उत्तराधिकारी न था, केवल राज्यश्री रह गई थी। एक तो वह अबला दूसरे नववयस्का तीसरे व्यथित हृदया चौथे विरक्ता पाँचवे आदर्शचरिता। अतः वह किसी प्रकार इतने बड़े राज्य का भार लेने को राजी न की जा सकती थी। उसने स्पष्ट कहा कि "स्त्री का अवलम्ब पति अथवा पुत्र ही है, जो दोनों से वंचित हो उसको जीवित रहना भी अश्रेय है।" अतएव राजसभा में राजमुकुट बांधने का प्रश्न आता है। परम चतुर भंडी ने अपना मत हर्ष के लिए प्रकट करके सब सभासदों की अनुमति माँगी। सब मंत्रियों और सभासदों ने उसका अनुमोदन किया और हर्ष से प्रार्थना की कि वह देश का कलंक धोकर देश द्रोहियों का नाश करे और संसार में यश फैलावे। इतने पर भी हर्ष के चित्त की द्विविधा न गई। उसने यह प्रश्न उस समय के एक सिद्ध बौद्ध महात्मा बोधिसत्व अवलोकितेश्वर से पूछा। महात्मा ने दिव्य दृष्टि द्वारा इस पर विचार करके यह निर्णय दिया कि कम-से-कम उसको राजसिंहासन पर न बैठना चाहिए और न राष्ट्रपति की उपाधि ही धारण करना चाहिए। साथ ही यह भी वचन दिया कि हर्ष की विजय कामनाओं में वे अपने तपोबल से सहायता करते रहेंगे।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्यश्री बिना उपाधि ही राज्य स्वामिनी रही और हर्ष उसका अभिभावक अथवा राज्य का मुख्य संचालक हुआ। इस मत की पुष्टि चीनी ग्रन्थ फंछिः[२] से भी होती है। उसमें लिखा है कि हर्ष ने राज्य का शासन अपनी विधवा बहिन से मिल कर किया।[3] इससे यह भी स्पष्ट है

---

१. ह० च० उ० ८, पृ० ३३१।

१. Fangichih.

२. Watters, I, p. 345; Smith, Early History of India, 4th edition, p. 351.

कि हर्ष ने इस समय जो उपाधि ग्रहण की वह थी कुमार शीलादित्य। अर्थात् कुमार पद से अधिक जैसे महाराज, महाराजाधिराज, परम भट्टारक आदि उपाधियाँ उसने स्वीकार न कीं। कालान्तर में यह सब उपाधियाँ हर्ष के नाम के साथ लिखी जाने लगीं। यह राज्यश्री का अनुरोध तथा हर्ष की निजी जय कीर्तियों का फल था। वास्तव में जो शाका उसने चलाया था और जो देश में प्रसिद्ध हुआ वह उसका सम्राट पद सूचक न था; वह सन् ६०६ ईस्वी से प्रारम्भ होता है जब वह राजमहिषी राज्यश्री के साथ कुमार शीलादित्य था। उस समय तक हर्ष ने कोई विजय प्राप्त न की थी।

हर्ष द्वारा कन्नौज राज्य के शासन सम्बन्धी ऊपर बताई गई स्थिति पूर्णतयः सही नहीं मानी जाती। उसके विपरीत मत यह है कि प्रारम्भ में जो भी स्थिति रही हो किन्तु कालान्तर में हर्ष ने कन्नौज का राजमुकुट भी धारण किया। इस मत से डा० त्रिपाठी ने भी अपनी सहमति निम्न शब्दों में प्रकट की है :—

"....with the lapse of time when Harsha had thoroughly made his position secure and laid opposition, if any, to rest, he formally transferred his capital from Thaneshwar to Kanauj, and declared himself sovereign ruler of the latter kingdom also by assuming the imperial titles, which appear in his inscriptions."[1]

अर्थात् समय बीतने पर अब हर्ष ने अपनी स्थिति को पूर्णतयः दृढ़ कर लिया और विपक्ष को, यदि कोई था, शान्त कर दिया, तब उसने औपचारिक रूप से अपनी राजधानी थानेश्वर से हटा कर कन्नौज में कर दी और अपने को कन्नौज का भी सर्वशक्तिक शासक घोषित कर दिया और शाही उपाधियों को धारण किया जो उसके अभिलेखों में दर्शित हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तथ्य भी हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि हर्ष ने कन्नौज का भी सिंहासन सुशोभित किया, यथा—

(१) कोई भी राजतन्त्र, अल्पकालीन अन्तराल को छोड़कर, बिना औपचारिक राजा (या शासक) के नहीं चल सकता। स्पष्ट है कि राज्यश्री ने शासकीय राज्ञी होना अस्वीकार कर दिया था अतः राजनीतिक दृष्टि से आवश्यक हो गया कि हर्ष ही औपचारिक राजा बने। बिना ऐसा हुए न तो सेना के ऊपर काबू हो सकता था, न अन्य राज्यों से सम्बन्धित कार्य (सन्धि इत्यादि) और न ही प्रतिदिन के प्रशासकीय प्रबन्ध।

१. R S. Tripathi, History of Kannauj, 1964 ed., p. 77.

(२) हुयेन सांग भी लिखता है कि "उस समय कन्नौज में वैश्य राजा राज्य करता था जिसका नाम हर्षवर्धन था।" उसके बाद उसने उस स्थिति का जिक्र किया कि जिससे कन्नौज राज्य शासक विहीन हो गया था और फिर लिखा कि "हर्ष भी लोकमत की अवहेलना न कर सका तथा बोधिसत्व से भी प्रेरणा प्राप्त करने पर वह कान्यकुब्ज का शासन अपने हाथों में लेने को तैयार हो गया।"[1]

(३) हर्ष ने अपने हस्ताक्षरों में अपने को महाराजाधिराज जाहिर किया है यथा—

"स्वस् त्यस्तु महाराजाधिराज श्री हर्षस्य"

(नागरी अक्षरों में यह असली हस्ताक्षर का रूपान्तर है)

बाद में जब महाराज हर्ष ने कतिपय प्रदेशों को जीत कर कन्नौज राज्य का विस्तार किया तब उसने सार्वभौम सम्राट का पद प्राप्त किया। इस सम्बन्ध में डा० राधा मुमुद मुकर्जी ने निम्न मत व्यक्त किया है :—

> "हर्ष हमारे इतिहास के कुछ वीर राज वृत्तों में एक ऐसा उदाहरण है जिसने अपनी विजयों के द्वारा अपने आप को राजाधिराज के पद पर प्रतिष्ठित किया और भारत वर्ष के अधिकांश भाग पर सार्वभौम सत्ता स्थापित कर इसे एक शासन-सूत्र में बांध दिया।"[2]

७. (क) हर्ष को विजयें और युद्ध

हुयेन सांग का कथन विजयें हैं कि हर्ष ने अपने शासन काल के प्रारम्भिक छः वर्षों (६०६ ई० से लेकर ६१३ ई० तक) में उत्तरी भारत के पांच प्रदेशों को विजय किया। इन वर्षों में उसके सैनिकों को निरंतर युद्ध करना पड़ा। इन विजयों से हर्ष का साम्राज्य समस्त उत्तर भारत में विस्तृत हो गया। चीनी यात्री के अनुसार शीलादित्य महाराज ने पूर्व से पश्चिम तक की जातियों को जीता और दूरस्थ प्रदेशों में अपनी शक्ति ले गया। इस कथन में किसी मुख्य राजा का नाम नहीं आता और न किसी विशेष युद्ध का वर्णन है यहाँ तक कि हर्ष का मुख्य शत्रु शशांक अभी भी गौड़ाधिपति था और इसके बाद सन् ६१९ ई० तक उसके रहने का प्रमाण पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि इन छः वर्ष के अन्दर हर्ष की रण यज्ञ समाप्त नहीं हुई। यह भी पता चलता है कि हर्ष द्वारा कोन गोडा (गंजाम[3])

---

१. यस० बील० ट्रैवेल्स आफ हुयेन सांग (कलकत्ता १९५८) पृ० २३७-८।

२. मुकर्जी, हर्ष पृ० ९।

३. उड़ीसा का एक नगर जो शशांक के नियंत्रण में था। सन् ६४३ के लगभग हर्ष ने हमला कर इस पर अपना अधिकार स्थापित किया। इस समय यह महत्वपूर्ण समृद्ध नगर है।

का आक्रमण सन् ६४३ ई० के लगभग किया गया। इस प्रकार ३० वर्ष और युद्ध कृत्य जारी रहने का प्रमाण मिलता है। उसके बाद ऐसा जान पड़ता है कि उसने अस्त्र-शस्त्रों का पूजन कर दिया चाहे वह धार्मिक विचारों से किया गया हो चाहे शत्रु निःशेष हो जाने से। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके बाद हर्ष का शेष जीवन त्यक्त-शस्त्र तथा शान्तिमय व्यतीत हुआ।

हर्ष के पराक्रम की बात :—हर्ष ने कहाँ-कहाँ, किस-किस से युद्ध किया इस सम्बन्ध में दो-चार स्थान तथा शासकों के नाम मिलते हैं जिससे जिज्ञासुओं की तृप्ति नहीं हो सकती। सुप्रमाणित न होने से यह विषय विवादग्रस्त भी है। यह तर्क किया जा सकता है कि जब हर्ष अपने परम शत्रु शशांक का संहार न कर सका और न ही दक्षिण के पुलकेशिन द्वितीय पर विजय प्राप्त कर पाई और बल्लभी (गुजरात) जैसे न्यून कोटि के राजा ध्रुवसेन के साथ युद्ध के बाद अपनी कन्या व्याह दी तब एक प्रकार से हर्ष का पराक्रम अप्रशंसनीय जंचता है और उसकी राजशक्ति की कथा केवल आडम्बर मात्र हो जाती है। यह बातें ऊपरी तौर पर असंगत नहीं जान पड़तीं पर गहरी दृष्टि से ऐसी धारणा भ्रमपूर्ण है। इस विषय को विभिन्न दृष्टिकोणों से शिष्ट पाठकों के सम्मुख रखा जाता है :—

(१) सर्व प्रथम हर्ष के सैन्यबल तथा सुगठित सेना की बात आती है। उसकी सेना में १,००,००० घुड़सवार, ६०,००० हाथी और ५०,००० पैदल थे। इसके अतिरिक्त समुचित संख्या में ऊँट भी थे। प्राचीन शैली की चतुरंगिनी सेना के अनुकूल उसकी फौज में रथों का वर्णन नहीं है किन्तु यह कोई कमी न थी क्योंकि हर्ष काल में युद्ध कला में रथों का स्थान नही था। उस काल में रथ केवल आराम की सवारी थी न कि सिपाहियों का वाहन भी। इसके अतिरिक्त हर्ष की सैन्य सुरुचि में कुछ विशेषता भी थी जिससे उसका चतुर सेनानायक होना भासित होता है। उदाहरणार्थ घोड़ों के चुनाव में वह दूर देशों से छटे हुए जानवर मँगाता था, जैसे फारस (ईरान) और अरब। बाण के अनुसार घोड़े निम्न देशों से मँगाए जाते थे—बनायूं, आरता, काम्बोज, भारद्वाज, सिन्ध और परशिया (फारस, ईरान)। डा० त्रिपाठी के अनुसार हर्ष की प्रशासनिक व्यवस्था भी उच्च कोटि की थी।[1]

(२) दूसरे यदि इस तर्क को मान भी लिया जाए कि हर्ष का पराक्रम प्रशंसनीय न था तो यह भी स्वीकार करना होगा कि हर्ष का राज्य थानेश्वर,

---

१. त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज (१९६४ संस्करण) पृ० १३२।

मालवा और कन्नौज से अधिक न था। परन्तु इस मत का निश्चित खंडन कई बातों से होता है। जैसे रजंगल का दूर स्थान जहाँ युआन च्वांग से हर्ष की भेंट हुई थी जब कि हर्ष अपने राज्य में दौरा कर रहा था और पर्णकुटी में डेरा डाले था। यह स्थान बंगाल में सुदूर पूर्व में है। इस प्रकार उसकी राज्यसीमा कन्नौज से बहुत दूर और मगध से भी बहुत बाहर पहुँचती है। तथा दक्षिण के पुल केशी द्वितीय से नर्मदा तट पर हर्ष का युद्ध होना भी कन्नौज राज्य की दक्षिणी सीमा को मालवा से दूर विन्ध्या तक पहुँचाता है। इसके अतिरिक्त हर्ष का गंजाम (उड़ीसा) में कटक स्थापित करना राज्य सीमा को पूर्व में समुद्र तक बताता है। ऐसी ही अनेक बातें हैं जो उपरिलिखित भ्रम को सहसा खंडन करने को उद्यत हैं। राज्य विस्तार बिना पौरुष और पराक्रम के नहीं हो सकता।

(३) यदि युआन च्वांग के कथन में अथवा अन्य प्राप्य सामग्रियों में हर्ष के युद्धों का पूरा वर्णन नहीं पाया जाता तो उससे यह निष्कर्ष निकालना कि युद्ध घटनाएँ हुई ही न थीं तर्क संगत नहीं। सम्भव है कि लेखक की दृष्टि में उन विजय पत्रों का कोई महत्व न हो। केवल इसी आधार पर हम इस वाक्य को कि हर्ष ने अविराम छः वर्ष युद्ध किया असत्य नहीं मान सकते। और जब उसे असत्य नहीं मान सकते तो उक्त वाक्य के साथ इस कथन को भी सत्य मानना पड़ेगा कि उसका राज्य पूर्व से पश्चिम तक अर्थात् आसाम से लेकर पश्चिमी समुद्र तट तक ऐश्वर्य एवं बल से हो गया था, तथा सुदूर देशों में भी उसकी तलवार का आतंक जमा था जैसा कि चीनी यात्री ने कहा है।

(४) इसके साथ यदि हम हर्ष के प्रति विपक्षियों का कथन भी देखें तो हर्ष का प्रताप समस्त उत्तरी भारत पर मिलता है। दक्षिण राज्यों के प्रसंग में जहाँ हर्ष का कथन आया है वहाँ उसे "सकलोत्तर पथ नाथ" कहा है। बाण भी उसे समस्त भारत[1] का स्वामी वर्णन करता है। युआन च्वांग के कथन में भी इसका अपवाद नहीं। इसलिए जब तक यह सिद्ध न किया जाए कि अमुक प्रदेश अथवा अमुक राजा हर्ष के अधीन न था, हर्ष का प्रभुत्व उत्तर भारत भर में मानने में आपत्ति नहीं।

(५) तत्कालीन परिस्थिति पर मनन करने से विदित होता है कि हर्ष को बहुत बड़े विस्तृत रणक्षेत्र में रंगमंच सजाना पड़ा था। ऐसा नहीं था कि बराबर के दो शूरों का द्वन्द युद्ध रहा हो यद्यपि ऐसे दो शत्रु अर्थात् गौड़ और दक्षिण के पुलशेकिन द्वितीय थे। जिनसे दो टूक निपटारा करने की बात हो सकती थी। किन्तु राजनीति के विचार से हर्ष को इन प्रमुख शत्रुओं के जीतने के पूर्व देश के

---

१. उस समय भारत शब्द से अभिप्राय प्रायः उत्तरी भारत से लिया जाता था।

प्रमुख राजाओं और उमराओं को सुमुख बनाने की आवश्यकता थी। इस नीति से वह बहुत कृतकार्य हुआ जिससे उसके बल और कोष में भी वृद्धि होती गई। यदि हर्ष अजात शत्रु न था तो उसके बैरी थे और बैरियों का दमन करना यही युद्ध है। युद्ध का यह तात्पर्य सदैव नहीं होता कि रक्त की नदियाँ बहाई जाए वरन कुशल राजनीतिज्ञता न्यूनातिन्यून रक्त पात में समझी जाती है। साथ ही यह भी जान पड़ता है कि हर्ष का ध्यान इस बात पर भी था कि प्रबल शत्रुओं से युद्ध ठान देना क्षुद्र शत्रुओं को अवकाश देना है कि वह प्रबल पड़ जाए। उन छोटे शत्रुओं का सामूहिक विरोध एक बड़े संग्राम से यद्यपि गुरुतर है तथापि उनके छोटे-छोटे व्यक्तित्व के हिसाब से उन युद्धों का वर्णन अगण्य सा है। इसलिए यद्यपि उनका लेख न भी पाया जाय तो आश्चर्य क्या ? फिर जिन युद्धों में अपरमित जन-धन का संहार न हुआ हो उसके कथन में विशेषता क्या ?

× × ×

इस सन्दर्भ के बाद देखना यह है कि यदि हर्ष अजातशत्रु न था तो वह शत्रु सम्भवतः कौन हो सकते हैं और उनमें से किस-किस से हर्ष का शास्त्रार्थ करने की आवश्यकता पड़ी। यह भी कि किन राजाओं से उसने मैत्री अथवा सन्धि की। इसीं विषय पर अब हम अग्रसर होते हैं।

बल्लभी राज्य से युद्ध और सन्धि:—भारत वर्ष के पश्चिम में बलभी अथवा बल्लभी समृद्धशाली राज्य था जिसकी राजधानी बल्लभी थी। कन्नौज राज्य तथा दक्षिण के चालुक्य राज्य के मध्य में स्थित होने के कारण यह प्रदेश सैनिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। उन दिनों उस पर ध्रुवसेन द्वितीय अथवा ध्रुवभट्ट शासन कर रहा था। इस राज्य को विजय करने के लिए हर्ष ने एक विशाल सेना के साथ आक्रमण किया और विजयी हुआ। फिर भी हर्ष ने ध्रुवभट्ट से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए और उन्हें दृढ़ रूप देने के लिए अपनी पुत्री का विवाह भी उससे कर दिया। इस वैवाहिक सम्बन्ध से यह भाव निकालना कि युद्ध का परिणाम हर्ष के विरुद्ध रहा होगा और उसको यहाँ तक दबकर सन्धि करनी पड़ी कि ध्रुवसेन को उसने अपनी पुत्री दी यह नतीजा विवेकग्राह्य नहीं है। जब तक इस बात का प्रमाण न मिले कि ध्रुवभट्ट ने हर्ष को पराजित कर दिया[1] तब तक कन्या का पाणिग्रहण विजय चिह्न नहीं माना जा सकता। विरुद्ध इसके यहाँ इस बात का प्रमाण है कि ध्रुवभट्ट पराजित हो रणक्षेत्र से भाग निकला और भंडौच[2] के राजा दद्दा की शरण ली जो हर्षचरित के निम्न वाक्य से दर्शित होता है—

१. इस बात का कोई प्रमाण नहीं है।

२. गुर्जर प्रदेश की राजधानी।

"परमेश्वर श्री हर्षं देवाभिभूतो बलभीपति त्राणोपजात ।
भ्रमद अदभ्र सुभ्राभ्र विभ्रम यशोवितान श्रीदद्दः ।।"[१]

भावार्थ, कि श्री हर्ष देव से पराजित बल्लभी राजा को गुर्जर के शासक ने बचाया था ।

शरणागत के पक्ष को लेकर दद्दा ने भी हर्ष से कोई युद्ध नहीं किया । न इन दोनों का साहस ही हर्ष ऐसे शक्तिशाली से मोरचा लेना हो सकता था । मालूम यह होता है उदार चरित नीतिकुशल हर्ष से जब दद्दा ने ध्रुव की शिफारिश की या ध्रुव किसी अन्य प्रकार से क्षमा प्रार्थी हुआ तब हर्ष ने उसकी बात मान ली और ध्रुव की उद्दण्डिता को क्षमा ही नहीं किया वरन एक कुल प्रपिष्ट राजकुमार को अपना स्वजन बनाया और उसकी मान-मर्यादा को बढ़ाते हुए प्राणदान के साथ कन्यादान भी कर दिया । इस घटना की तिथि लगभग सन् ६३३ के आस-पास मानी जाती है ।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि यह मैत्री हर्ष ने कूटनीति के आधार पर की थी । बात यह थी कि हर्ष दक्षिणी भारत को भी अपने साम्राज्य में लाना चाहता था । दक्षिणापथ का द्वार खण्ड चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय के अधिकार में था और वह शक्तिशाली राजा था जिस कारण बलभी और गुर्जर के शासक उसके प्रभाव में थे । हर्ष जानता था कि दक्षिण पर आक्रमण करने के पहले गुर्जर और विशेषकर बलभी पर अधिकार करना आवश्यक है क्योंकि बलभी की भौगोलिक और सैनिक स्थिति ऐसो थी कि उसकी शत्रुता और मित्रता दक्षिण पर आक्रमण करने वाले को बाधा अथवा सहायता पहुँचा सकती है । यह प्रमुख कारण था कि जिससे युद्ध में विजय प्राप्त करने पर भी बलभी पर स्वयं अधिकार करने के बजाय उसके शासक से सन्धि करके अपनी पुत्री भी उसे व्याह दी ।[२]

सिन्ध विजय से सम्बन्धित विभिन्न मत:—जैसा कि पहले कहा जा चुका है महाराज प्रभाकरवर्धन के मरते ही कन्नौज के प्रति मालवा और गोड का विषाद-भाव जाग्रत हो गया था । जिस प्रकार मालवा कन्नौज और थानेश्वर के प्रति खिन्न हृदय था उसी प्रकार अन्य प्रदेश भी थे । महाराज प्रभाकर की प्रभा में जिन राजाओं के प्रताप मन्द पड़ गए थे वे सब मालव की गणना में थे ।

---

१. गुर्जर के राजा दद्दा का नवसारी लेख (Indian Antiquary, Vol. XIII, pp. 77-79.)

२. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश (१९७०), पृ० ४३ ।

प्रभाकर वर्धन ने सिन्धु, गुजरात, मालवा, लाट, कंधार आदि प्रदेशों में कुछ न कुछ हस्तक्षेप कर रखा था। ऐसा जान पड़ता है कि इन प्रदेशों ने अपने बन्धनों से मुक्त होने का प्रयत्न किया हो विशेषकर जब कि हर्ष ऐसी दीन अवस्था में इतना विपदाग्रस्त और इतनी दूर था। इसी स्थिति का लाभ उठाकर सिन्धु प्रदेश हर्ष का विपक्षी हो गया, ऐसा जान पड़ता है। अतः, जैसा बाण ने लिखा है, हर्ष ने सिन्धुराज को पराभूत कर उसकी राजलक्ष्मी का हरण कर लिया अर्थात् उसकी सम्पत्ति तथा राज्य पर अधिकार कर लिया यथा—

"अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराज प्रमथ्य लक्ष्मीः आत्मीकृता।"

अर्थात् सबसे उच्चकोटि के मनुष्य (हर्ष) ने सिन्ध के राजा को पद्दलित किया और उसकी मालियत प्राप्त कर ली।

इससे प्रकट है कि सिन्धु देश उन्मुख हुआ और हर्ष ने उसको पराजित किया। बाण के "प्रमथ्य" शब्द से संग्राम का बोध होता है। अतः यह बात प्रमाण पूर्ण है।

उपरिलिखित तथ्य पर कुछ इतिहासकारों ने सन्देह व्यक्त किया है जो हुयेन सांग के वृतान्त पर आधारित है। उसका कथन है कि सिन्ध एक कर्मठ राज्य था जिसका शासन एक शूद्र जाति का राजा करता था और जो बौद्ध धर्म का सच्चा अनुयाई था किन्तु हुयेन सांग ने उसका नाम उल्लिखित नहीं किया है। प्रश्न यह है कि बाण और हुयेन सांग के विपरीत मतों में किसको माना जाय। इस प्रश्न का उत्तर कन्नोज के विद्वान इतिहासज्ञ डॉ० त्रिपाठी ने निम्न शब्दों में दिया है:—

"Probably what happened was that some time during his reign, Harsha came into collusion with the king of Sindh, and it resulted in the defeat of the latter, But the victory was no more than a brilliant conclusion of hostilities as in the case of Pulkesi II...."[1]

अर्थात् कदाचित् ऐसा हुआ कि अपने राज्यकाल में किसी समय हर्ष का सिन्ध के राजा से संघर्ष हुआ जिसमें सिन्धराज पराजित हुआ। किन्तु यह विजय केवल उस संघर्ष का एक उच्चरूपेण अन्त थी जैसा कि पुलकेशी द्वितीय के केस में हुआ था।

---

१. Dr. Tripathi, History of Kanauj, 1964 ed. pp. 113-14.

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिन्धु-विजय की बाण द्वारा कही गई बात माननीय है। साथ ही हुयेन सांग का कथन भी नहीं कटता।

नेपाल पर आधिपत्य:—हिमालय क्षेत्र के नेपाल प्रदेश में भी हर्ष ने अपना स्वामित्व स्थापित किया किन्तु यह निश्चित नहीं है कि यह युद्ध द्वारा अथवा नीति कुशलता द्वारा सम्भव हुआ। इस सम्बन्ध में बाण का निम्न श्लेषयुक्त वाक्य दृष्टव्य है:—

"अत्र परमेश्वरेण तुषार शैल भुवो दुर्गायाः ग्रहीत करः।"

डॉ० त्रिपाठी ने इसका अंग्रेजी रूपान्तर इस प्रकार किया है :—

"Here the supreme lord has obtained the hand of Durga born in the snowy mountains."[1]

अर्थात् यहाँ पर सर्वशक्तिमान स्वामी दुर्गा का हाथ प्राप्त किया जो बर्फीले पहाड़ पर पैदा हुई थी। आगे डॉ० त्रिपाठी ने यह भी कहा है कि बाण के कथन से अतिसम्भवः यह भासित होता है कि हर्ष का व्याह किसी पहाड़ी राजकुमारी से हुआ जो एक अत्यन्त बलशील कुटुम्ब की थी। अतः बाण के वाक्य से यह अभिप्राय निकाला जा सकता है कि हर्ष ने राजकुमारी दुर्गा देवी तथा तुषार शैल भूमि का कर ग्रहण किया अर्थात् उस देश को अपने राज्य में मिलाया और उससे कर वसूल किया, और उसी देश की कन्या (दुर्गा देवी) से विवाह भी किया। तुषार शैल और दुर्गा यह दोनों नाम हिमालय को सूचित करते हैं। हिमालय में नैपाल प्राचीन राज्य है जहाँ लिच्छिवी राजपूतों का राज्य था। उस समय अंशुवर्मन वहाँ का राजा था। इन लिच्छिवियों का कन्नौज राजवंश से पहले से भी वैवाहिक सम्बन्ध था। कुछ इतिहासकारों की धारणा है कि हर्ष की स्त्री दुर्गा देवी इसी लिच्छिवी वंश की कन्या थी। उक्त कथन से प्रतीत होता है कि कन्नौज साम्राज्य उत्तरी भारत में बहुत विस्तृत था और सम्भवतः समग्र उत्तर की राज मण्डली हर्ष को सम्राट स्वीकार करती थी।

इस सम्बन्ध में यह भी कहना है कि नेपाल के बारे में इतिहासकार एक मत नहीं हैं। यह कि हर्ष का नेपाल पर प्रभुत्व था इस मत की पुष्टि स्मिथ फ्लीट, भगवान लाल इन्द्रजी तथा बूलर ने की है। इसके विपरीत मत सिलवेन लैवी आदि का है। डा० त्रिपाठी ने इन मतों का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रश्न विवादात्मक ही रहता है तथा यह समझना अधिक बचाव वाला है कि कन्नौज का आधिपत्य नेपाल पर नहीं था।

---

१. Dr. Tripathi, History of Kanauj, p. 98, (1964 ed.),

काश्मीर की तथाकथित विजय :—युआन च्वांग ने लिखा है कि हर्ष वर्धन अपने राज्य से काश्मीर की पहाड़ियों तक वहाँ के राजा से गौतम बुद्ध का दाँत प्राप्त करने गया था किन्तु उसने न तो किसी युद्ध का उल्लेख किया है और न हर्ष द्वारा विजय सम्बन्धी कोई बात। उसके कथन का भावार्थ इस प्रकार है—"यह सुनकर कि काश्मीर में गौतम बुद्ध का एक दाँत सुरक्षित है, शीलादित्य (हर्ष) काश्मीर की सरहद पर आया और दाँत को देखने और उसकी पूजा करने की अनुमति माँगी। जिन लोगों के अधिकार में यह दाँत था वे उसे दिखाना नहीं चाहते थे और इसीलिए उन्होंने उसे छिपा दिया किन्तु काश्मीर नृप ने, हर्ष की शक्ति से भयभीत होकर दाँत को गुप्त स्थान से निकलवा कर हर्ष को दिखाया। उसे देखकर हर्ष श्रद्धा विह्वल हो गया और बलपूर्वक उसे ले आया। उल्लिखित शब्द 'बलपूर्वक' के आधार पर डा० राधाकुमुद मुकुर्जी ने यह मत व्यक्त किया है कि काश्मीर ने "एक प्रकार से हर्ष के स्वामित्व अथवा प्रभुता को स्वीकार कर लिया।"[१] कुछ अन्य इतिहासकारों[२] ने भी ऐसा ही माना है किन्तु डा० त्रिपाठी इस मत से सहमत नहीं हैं।[3] सही बात कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट ही है कि उस समय के काश्मीर के राजा दुर्लभवर्धन ने प्रजा द्वारा विरोध होने पर भी हर्ष की महानता से भयभीत होकर उसे बलपूर्वक दाँत ले जाने दिया और इस प्रकार उसने हर्ष की सत्ता को माना। हर्ष के शौर्य के हक में यह मान्यता पर्याप्त है फिर चाहे काश्मीर उसके अधीन रहा हो अथवा न रहा हो।

पूर्वी पंजाब पर आधिपत्य :—हर्ष को उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ माना गया है अतः बिना युद्ध के अन्य राजाओं को अपनी सार्वभौमता स्वीकार कराने में हर्ष की चतुराई काम करती रही। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सुदूर प्रदेशों में हर्ष के शस्त्रों का चमत्कार का कथन भी युआन च्वांग ने निरर्थक नहीं किया होगा। इस पृष्ठभूमि में जालन्धर के राजा बुद्धि अथवा बुद्धितिराज के कथा प्रसंग पर दृष्टि डालने से हर्ष का आधिपत्य पूर्वी पंजाब पर स्पष्ट हो जाता है। जालन्धर के राजा को हर्ष ने भारत भर के बौद्ध मामलों का सर्वाधिकार दे रखा था। जब युआन च्वांग भारत से विदा हुआ तब उसे देश से सुरक्षित पहुँचाने के लिए हर्ष ने जालन्धर के राजा को भेजा था। बुद्धि से हर्ष का न कोई वैमनस्य था न उससे कोई युद्ध हुआ। इससे सिद्ध है कि बुद्धि स्वगत हर्ष के अधीन हुआ।

---

१. Dr. R. K. Mukerji, *Harsha*, p. 4.

२. उदाहरणार्थ, वैद्य श्री रे।

३. त्रिपाठी, हि० क०, पृ० ८६ (१९६४ संस्करण)।

यह प्रमाण है कि हर्ष ने बिना युद्ध, नीति कुशलता से, अपना वैभव देश में अधिकाधिक बढ़ाया।

गंजाम (कोनगोडा) की विजय :—हर्ष की अन्तिम विजय गंजाम प्रदेश (उड़ीसा) पर थी। उस समय गंजाम (अथवा गंजम) कोंगद (कोनगोडा) के नाम से जाना जाता था। हर्ष ने गंजम पर कई आक्रमण किए किन्तु उसके प्रारम्भिक आक्रमण असफल रहे। अन्ततोगत्वा सन् ६४३ में वह विजयी हुआ। 'युआन च्वांग के जीवन चरित्र' से भी ज्ञात होता है कि कोंगद देश (गंजाम, उड़ीसा प्रदेश) पर हर्ष ने लगभग ६४३ ई० के आक्रमण किया था। यह इलाका कुछ समय तक शशांक का प्रभाव क्षेत्र रहा था।

कामरूप (आसाम) के शासक की अधीनता तथा उससे सन्धि :—पूर्व अनुशीर्षक "५—थानेश्वर के शासक के रूप में" हर्ष की कामरूप शासक भास्कर वर्मन के साथ सन्धि की बात वर्णित की गई है। वहाँ पर भास्कर वर्मन द्वारा हर्ष की अधीनता करने का यथेष्ट विवरण दे दिया गया है जिसे अब यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि वह सन्धि समानता के आधार पर नहीं हुई थी क्योंकि युआन च्वांग की अध्यक्षता में हर्ष द्वारा कन्नौज में आयोजित विराट धर्म सभा में भास्कर वर्मन बहुत से हथियारों के उपहार सहित उपस्थित हुआ था।

गौडाधिप शशांक से संघर्ष :—हर्ष के शौर्य और विजय चन्द्रिका को मन्द करने वाली एक-दो बातों में राजा शशांक का प्रसंग भी आता है। यह कहा जा सकता है कि राज्यवर्धन के घातक शशांक से हर्ष यदि बदला न ले सका तो उसकी वीरता ही क्या थी ? इसमें सन्देह नहीं कि जिस रोष और आवेश से हर्ष ने युद्ध का बीड़ा उठाया था उस संकल्प में सबसे प्रथम लक्ष्य गौड़ाधिप ही था। हर्ष ने छः वष अविराम युद्ध भी किया किन्तु निश्चय सन् ६१९ ई० तक शशांक का जीवित रहना पाया जाता है। संभवतः आजन्म वह हर्ष द्वारा नहीं मारा गया क्योंकि यदि ऐसा हुआ होता तो युआन च्वांग के वर्णन में कहीं-न-कहीं इसका कथन आता। कथन के अभाव से यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि हर्ष शशांक से हार गया। ऐसा मान लेना युआन च्वांग द्वारा हर्ष विजय वर्णन के विरुद्ध भी पड़ेगा। और यह अनुमान विरुद्ध भी ठहरेगा कि छोटा सा गौड़ नरेश इतने बड़े शक्तिशाली हर्ष को युद्ध में पराजित कर सकता। जब हर्ष का राज्य गौड़ देश की उत्तरी सीमा से बढ़ता हुआ आसाम तक चला गया था वरन् वह बंगाल के केन्द्र स्थानों (रजंगल आदि) में पर्यटन और विराम करता रहता था तो पराजय क्या इसका आभास भी नहीं हो सकता कि हर्ष किसी प्रकार से शशांक से युद्ध करने में भय खाता था।

हर्ष ने शशांक को जीवित क्यों रहने दिया इसके कई कारण हो सकते हैं। प्रथम यह कि उसका प्राथमिक आवेश मन्द पड़ गया हो। संग ही राज्यश्री की विरक्त मानसिक धारा को भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है। शशांक की क्रूरता से जो कुछ अनिष्ट हुआ था वह विशेष कर राज्यश्री का था किन्तु अब उस साध्वी के हृदय से द्वेष की मात्रा निकल ही चुकी थी, वह पारमार्थिक जीवन का संकल्प ले चुकी थी। हर्ष के दयार्द्र और धार्मिक जीवन में राज्यश्री की मनोवृत्ति का बड़ा अंश है इसलिए सम्भव है कि बहिन के अनुरोध से हर्ष, द्रोहवश, जनसंहार और रक्तपात मार्ग में बढ़ने से रोका गया हो। रोके जाने का सर्वोपरि कारण यह प्रतीत होता है कि हर्ष जब राज्यश्री को विन्ध्य आश्रम से लाया था तब यह वचन दे आया था कि गौड़ाधिप शत्रु को निग्रह कर वह स्वयं बहिन के साथ उसी साधुवेष में रहेगा। इसलिए शशांक को हत करने पर उसे अपना वचन पूरा करना पड़ता और राज्य संचालन का भार छोड़ना पड़ता। सुतरां यही श्रेय था कि दाँत तोड़ कर सर्प को पिटारे में बन्द रखा जाए—न साँप मरे न लाठी टूटे।

यद्यपि हर्ष द्वारा शशांक वधित न हो सका तथापि यह माना जाता है कि हर्ष ने युद्ध करके उसे पराजित किया। इस मान्यता का आधार मंजुश्रीमूलकल्प है जिसमें कहा गया है कि राज्यवर्धन (रकाराद्य) का भाई हर्ष, जो अत्यन्त पराक्रमी वीर था, महान सेना को लेकर पूर्व देश की ओर सोम (शशांक) नामक प्रसिद्ध राजा को पराजित करने चला। वह पंडुनगर तक गया और क्षात्र धर्म का आश्रय लेते हुए उससे घोर युद्ध किया। इस युद्ध में हर्ष ने दुष्ट सोम नाम के राजा को पराजित कर उसे अपने ही प्रदेश में प्रतिष्ठित कर दिया और उसको अपने राज्य की सीमा के बाहर जाने को मना कर अपनी विजय से संतुष्ट होकर लौट आया।[1] इससे सिद्ध होता है कि हर्ष ने शशांक को नष्ट करने की जो प्रतिज्ञा की थी वह उतनी सफल न हो सकी। इसके कारणों पर मंजुश्रीमूलकल्प मौन है। कदाचित् कारण वही थे जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

यह भी कहना है कि भास्करवर्मन की निधनपुर-लिपि बताती है कि उसके घोषित होने के समय गौड राजधानी कर्ण सुवर्ण के अधिकार में थी। कैसे और कब यह हुआ इसका उत्तर डॉ० बसाक के अनुसार यह है कि शशांक पर दो आक्रमण हुए जिनमें से पहले में भास्करवर्मन हर्ष का साथ न दे सका। दूसरे आक्रमण में हर्ष के साथ भास्करवर्मन भी था और यह आक्रमण शशांक की मृत्यु के बाद हुआ जिसमें उसके राज्य को जीत कर हर्ष ने भास्करवर्मन को दे दिया और

---

१. मं० मू० क०, भाग ३, पृष्ठ, ३६४-६५।

उसने उसको (गौड—कर्णसुवर्ण को) अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि पहले आक्रमण के बाद मंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार शशांक एक सामन्त के रूप ही में शेष रह गया था तथा बाद में हर्ष को दूसरी ओर व्यस्त देख कर उसने स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया जिस कारण हर्ष को दूसरा अभियान करना पड़ा। इस प्रकार युआन च्वांग की वहाँ यात्रा के समय शशांक का अस्तित्व मिट चुका था।[2]

अन्त में यह कहना है कि हर्ष-शशांक के प्रसंग में पूर्व इतिहास पर विचार किया जा सकता है कि जिसके अनुसार मौखरि काल में गौडाधिप को सीमाबद्ध रखने में मौखरि सफल रहे। उसी वैमनस्य से शशांक ने जो षड्यन्त्र कन्नौज के गृहवर्मन के विरुद्ध रचा था वह असफल रहा और वह अपने जीवनकाल में कभी भी सीमोन्मुख न हो सका।

दक्षिण के चालुक्यवंशीय पुलकेशिन द्वितीय से युद्ध :—शशांक के प्रसंग के अतिरिक्त एक दूसरी बात जो हर्ष के शौर्य के विरुद्ध कही जा सकती है वह पुलकेशी द्वितीय चालुक्य के साथ युद्ध से सम्बन्धित है। उसका विवरण यहाँ दिया जा रहा है और यह दर्शाने का प्रयत्न किया जा रहा है कि वस्तुतः हर्ष की उस युद्ध में असफलता उसके अशौर्य की द्योतक नहीं है।

उत्तरी भारत में अनेकों प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने अथवा उन्हें अपने अधीन कर लेने के बाद हर्ष ने दक्षिणी प्रदेशों को भी जीतने का निश्चय किया। उस समय नर्मदा नदी के पार दक्षिण में चालुक्य वंश का विशाल तथा शक्तिशाली राज्य था जिसका शासक पुलकेशी (या पुलकेशिन) द्वितीय एक महान योद्धा था। पुलकेशी का राजतिलक सन् ६१२ में हुआ था किन्तु उसके पूर्व ही उसने अनेकों रणवेत्ता राजाओं को परास्त कर दक्षिण सम्राट की उपाधि धारण की। हर्ष द्वारा आक्रमण होने पर नर्मदा के तट पर चालुक्य सम्राट ने युद्ध किया। इस युद्ध का परिणाम पूर्णतया निश्चित नहीं है यद्यपि पुलकेशिन के अभिलेखों में हम उसको 'सकलोत्तरापथेश्वर' श्री हर्षवर्धन को पराजित करने के कारण 'परमेश्वर' की उपाधि ग्रहण करते हुए पाते हैं। इसके विपरीत युआन च्वांग के जीवन-वृत्तान्त में पुलकेशिन को विजयी करार नहीं दिया गया है। उसने केवल इतना ही कहा है कि "शिलादित्य राजा (हर्ष) अत्यन्त सैनिक शक्ति और सैनिकों के कौशल पर विश्वास करते हुए इस राजा (पुलकेशिन) से जा लड़ा परन्तु न तो उसे हरा ही सका और न उसे बन्दी ही बना सका।" इन शब्दों से हर्ष की पराजय

---

१. बसाक, हि० ना० ई० इं०, पृ० २२५-२२७।

२. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० ४२।

सूचित नहीं होती। इस सन्दर्भ में पुलकेशिन का ऐहोल लेख भी स्पष्टतः हर्ष की पराजय का उल्लेख नहीं करता अपितु यह कि हर्ष के "भीषण हाथी युद्ध भूमि में पराजित हुए।" लेख का पूरा वाक्य इस प्रकार है कि "हर्ष के पाद-पद्म सामन्त-चूड़ामणि मुक्ताओं से सुशोभित थे और स्वयं उन्होंने अदम्य शक्ति से पुलकेशिन द्वितीय पर आक्रमण किया परन्तु उसके भीषण हाथी युद्ध भूमि में पराजित हुए।" अतः यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पुलकेशिन द्वारा हर्ष पराजित ही किया गया। सम्भावना यह जान पड़ती है कि यद्यपि हर्ष की सेना क्षतिग्रस्त हुई और उसके बहुत से हाथी पुलकेशिन ने हस्तगत कर लिए तथापि युद्ध में दोनों पक्षों में किसी की भी विजय (अथवा पूर्ण विजय) नहीं हुई।

इसके अतिरिक्त इस संघर्ष को एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है जो इस प्रकार है :—युआन च्वांग के कथनानुसार जिस समय नर्मदा तट पर दोनों का युद्ध हुआ उस समय हर्ष की सेना और भी सुदूर देशों में युद्ध संलग्न थी। यह अविराम छः वर्ष के युद्ध की कथा मालूम पड़ती है।[1] इससे यह समझ पड़ता है कि राज्यश्री ढूढ़ कर हर्ष जब प्रारम्भ ही में गौड़ की ओर चला था तब वहीं से जहाँ जैसा अवसर देखा सैन्य बल भेजने लगा। उसी सिलसिले में जब कि दक्षिण गद्दी का प्रश्न भी सामने आया तब स्थाली पाक की भाँति एक तंदुल सीत हर्ष ने यहाँ भी टटोला। पुलकेशी का पराक्रम उक्त परिस्थिति को सम्भालने के लिए पर्याप्त था। जब हर्ष को यह प्रतीत हो गया तो उसने उस लक्ष्य को ध्यान से हटा दिया। फिर उनमें कोई परस्पर वैमनस्य तो था ही नहीं वरन् एक मौका राजनीति के हिसाब से था।

इन सब बातों के होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि चालुक्यों से बैर ठानने में हर्ष की अदूरर्दाशता अवश्य ठहरती है। विन्ध्य पहाड़ और नर्मदा नदी से सीमित दक्षिण देश को पार कर जाने में फिर चालुक्य, पांड्य, चोल आदि अपरिचित शक्तियों से संघर्ष करने में उसे उत्तरी मामलों को एकदम भुला देना पड़ता जो महान अहितकर होता। इसके अतिरिक्त पुलकेशी एक नीतिज्ञ और ठिकाने का राजा था। उस समय दक्षिण और उत्तर दोनों के सम्राट बड़े ही दूरंदेश थे। इधर जैसे हर्ष चीन के सम्राट से प्रीतिभाव बढ़ाता जा रहा था वैसे ही पुलकेशी समुद्र पार के परशिया (ईरान) के बादशाह से दोस्ती जोड़ता

---

१. डॉ० फ्लीट का भी यही मत है किन्तु डॉ० त्रिपाठी इस युद्ध को ६३० ई० के करीब मानते हैं इस कारण कि इसके पूर्व के लेखों में इसका स्पष्ट कथन नहीं मिलता।

जाता था। इस संघर्ष के बाद हर्ष ने दक्षिणापथ की ओर कोई अभियान नहीं किया जिससे भासित होता है कि उसने अपनी गलती को महसूस किया।

उत्तर भारत के अन्य इलाके :—ऐसी मान्यता है कि दो-तीन प्रदेशों को छोड़ कर हर्ष का साम्राज्य सम्पूर्ण उत्तर भारत में विस्तृत था। इस तथ्य का समर्थन स्मिथ महोदय ने निम्न शब्दों में किया है :—

> "उनके शासन काल के पिछले वर्षों में मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के अतिरिक्त हिमालय से लेकर नर्मदा तक गंगा की सम्पूर्ण घाटी में जिसमें नेपाल भी शामिल था, हर्ष का आधिपत्य निर्विवाद रूप से स्थापित था।"[1]

हुयेन सांग के विवरण से प्रतीत होता है कि उसकी यात्रा के समय भारत (उत्तर भारत) ८० राज्यों में विभक्त था। अतः प्रश्न उठता है कि यह सब इलाके हर्ष के अन्तर्गत कैसे आए क्योंकि दो-चार को छोड़ कर उनके विरुद्ध हर्ष के किसी अभियान का प्रमाण नहीं है। इसका उत्तर यह है कि हर्ष-सैन्य के आतंक को देख कर उन्होंने स्वतः कान्यकुब्जेश्वर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। बाण के कथन से भी जान पड़ता है कि ऐसा ही हुआ होगा क्योंकि उसने कहा है कि राज लक्ष्मी ने हर्ष को विमुख होते हुए भी अवंश ग्रहण कर ही लिया। इससे जान पड़ता है कि हर्ष का राजवैभव स्वतः बिना संग्राम बढ़ता ही चला गया। सम्बन्धित परिस्थिति पर विचार करने से हर्ष द्वारा राजाओं का अधीन किया जाना सहज ही सुबोधित हो जाता है।

७. (ख) महाराज हर्ष के वीरुद तथा साम्राज्य का विस्तार

हर्ष के वीरुद अलंकृतियाँ आदि—यद्यपि हर्ष के साम्राज्य विस्तार के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है तथापि इस बात पर सभी इतिहासज्ञ एक मत हैं कि उसने सम्राट पद प्राप्त किया था अर्थात्, कन्नौज और थानेश्वर राज्यों के अतिरिक्त, जिन पर वह पूर्व से ही शासन कर रहा था, उसने कुछ अन्य प्रदेश विजित करके अपने राज्य में सम्मिलित कर लिए थे तथा उत्तर भारत के कतिपय क्षेत्रों के शासकों ने उसकी प्रभुता (सम्राट-पदवी) स्वीकार कर ली थी। साथ ही उसके विरुदों के बारे में भी विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है। अतः पहिले उन्हीं का विवरण देने के बाद प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान उसके साम्राज्य विस्तार के प्रश्न पर आकर्षित किया जायेगा।

महाराज हर्ष की प्रथमतम पदवी थी—

"परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर महाराज श्री हर्ष देवो।"

---

१. Smith, Early History of India, p. 354.

उक्त पद हर्ष के सोने के सिक्कों पर उत्कीर्ण था।[1]

इसके अतिरिक्त उसके अन्य अनेकों वीरुद उपाधियाँ अलंकृतियाँ, विशेषण, आदि थे। इन सबका विवरण निम्न तालिका में दिया जा रहा है :—

वीरुद, विशेषण आदि	अर्थ, विवरण सन्दर्भ, आदि
१	२
परम माहेश्वर महेश्वर इव स्त्वानुकम्पी परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री हर्षः	परम माहेश्वर=शिव की अत्यन्त पूजा करने वाला या शिव का अनन्य भक्त (माहेश्वर = शिव की पूजा करने वाला) महेश्वर=सर्वोपरि राजा या शासक।
	इवस्त्वानुकम्पी=दया करने वाला परम भट्टारक= अत्यन्त पूज्य यो श्रद्धेय (भट्टारक=पूज्य श्रद्धास्पद)। महाराजाधिराज=सम्राट) अधिराज=परम शासक)।
परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर महाराज श्री हर्ष देवो	जैसा कि इस तालिका के पहले बताया जा चुका है यह विरुद हर्ष की स्वर्ण मुद्राओं पर उत्कीर्ण था। "परम भट्टारक" आदि का अर्थ ऊपर दिया जा चुका है।
स्वस्त्यस्तु महाराजाधिराज श्री हर्षस्य	यह हर्ष के हस्ताक्षर का रूपान्तर है। (स्वस्त्यस्तु शब्द प्रायः किसी संज्ञा आदि के आरम्भ में प्रयुक्त होता है। स्वस्ति, अव्यय है जिसका अर्थ है "कल्याण हो"।)
सार्वभूमि नराधिपः	अर्थात् सार्वभौम सम्राट, चक्रवर्ती राजा। (मं० श्री० मू०, पृ० ६२६)।
सर्वत्र भूपतिः	यथावत।
चर्तुणामर्ण वानामधिपतिः	अर्थात् सार्वभौम सत्ताधारी। (ह० च० उ० ७, पृ० २८२)।

१. कृष्ण दत्त बाजपेयी, जर्नल आफ नुमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया जिल्द २८, १९६६, भाग १, पृ० ६८।

१	२
सर्वद्वीप भुजो हर्ष:	अर्थात् सभी द्वीपों पर शासन करने वाला हर्ष। (द्वीप=भूलोक का एक भाग। भुंजो=शासन करने वाला)। (ह० च० उ० ३, पृ० १३८)।
सर्वद्वीप विजयी	अर्थ स्पष्ट है।
सर्वद्वीपान्तर संचारी	अर्थात् सभी द्वीपों में भ्रमण करने वाले महाराज हर्ष के पैर।
सकलोत्तरापथेश्वर	अर्थात् पूरे उत्तरापथ का स्वामी। यह विरुद दक्षिण के पुलकेशिनं द्वितीय ने अपने कई विजय अभिलेखों में हर्ष के लिए प्रयोग किया है। उसके अनुसार हर्ष को उसने पराजित किया था।
कान्यकुब्जेश्वर	अर्थात् कान्यकुब्ज देश (कन्नौज देश) का शासक।
चक्रवर्तिन: (चक्रवर्ती)	सार्वभौम सम्राट।
शीलादित्य	अर्थात् सदाचार का सूर्य। डा० गैरोला ने शीलादित्य के शब्द को हर्ष का विरुद बताया है—गैरोला, भा० सं० और कला, पृ० ४२६।
लोकनाथ	अर्थात् सब लोगों का रक्षक। (ह० च०, पृ० १३८)
परम माहेश्वर	शिव का अनन्य भक्त, अर्थात् शैव। यह विरुद विशेषण के रूप में उस काल में शैवधर्म के अनुयायियों के लिए ही प्रयुक्त होता था।
परमेश्वर	अर्थात् सर्वोपरि राजा या शासक। (हर्ष चरित, पृ० १३८)।
पुरुषोत्तमेन	अर्थात् पुरुषों में श्रेष्ठ। (ह० च०, पृ० १३८-९)।
आर्तिजन हराय हर्षाय	अर्थात् दुखी लोगों के दुख को दूर करने वाला हर्ष।
दु:खित जनार्तिहराय	यथावत। (ह० च० ३०७, पृ० २३७)।
क्षात्रधर्म समाश्रित्य	अर्थात् क्षात्रधर्म का अनुसरण करते हुए (मं० श्री० मू० क०, पृ० ६३४)।
महासैन्य नायक	अर्थ स्पष्ट है। (मं० श्री० मू० क०)।
धर्म प्रत्यक्षो देव	अर्थात् धर्म का अवतार। (ह० च० उ० ७, पृ० २८६)।

हर्ष का साम्राज्य विस्तार—इस विषय पर विद्वानों में एकमत नहीं हैं। कुछ का मत है कि हर्ष पूर्ण उत्तर भारत का स्वामी नहीं था किन्तु बहुमत इसके विपरीत है। इन मतों का विवेचन नीचे किया जा रहा है।

इस मत का कि हर्ष के साम्राज्य में पूरा उत्तरी भारत और नेपाल भी सम्मिलित था, खण्डन करते हुए डा० आर० सी० मजूमदार कहते हैं कि "जब प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन शैशव अवस्था में था, तब विद्वानों ने हुयेन सांग और बाण भट्ट के विवरणों को मानकर हर्ष को एक महान सम्राट तथा हिन्दू भारत का अन्तिम साम्राज्य-निर्माता मान लिया था। परन्तु मैंने इस मत की सत्यता पर सन्देह किया और अन्य विद्वानों ने भी मेरे विचारों को मानना शुरू किया।"[१]

डा० त्रिपाठी ने इस मत को स्वीकार करते हुए कहा है कि हर्ष उत्तर भारत के केवल अधिकांश भाग का ही स्वामी था न कि सम्पूर्ण उत्तर भारत का जैसा कि अन्य विद्वानों ने लिखा है। डा० त्रिपाठी के शब्दों में :—

"We may, therefore, on the strength of Yuan Chwang's testimony and other epigraphic and literary evidances, roughly define the kanauj kingdom of Harsh in modern geographical terminology as consisting of portins of Eastern Punjab, almost the whole of the present United Provinces[2] (excepting Mathura and Matipur), Bihar, Bengal and Orissa, including the Kongodha or the Ganjam region."[3]

अर्थात् अतः युआन च्वांग के साक्ष्य के आधार पर और अन्य शिलालेख सम्बन्धी तथा साहित्यिक गवाही के आधार पर हम मोटे तौर पर कह सकते हैं कि आधुनिक भौगोलिक शब्दावली में हर्ष के कन्नौज राज्य का विस्तार निम्न क्षेत्रों में था अर्थात् पूर्वी पंजाब के कुछ अंश, करीब-करीब पूर्ण उत्तर प्रदेश (मथुरा और मातीपुरा को छोड़ कर) बिहार, बंगाल और उड़ीसा, कोन्गोधा या गंजाम क्षेत्र को मिला कर।

उक्त मत के विपरीत मतों का सारांश आगे के अनुच्छेदों में दिया जा रहा है।

---

१. Majumdar, *Classical Age*, p. 110.

२. Now Uttar Pradesh.

३. History of Kanauj, pp. 118-19.

हर्ष के साम्राज्य-विस्तार पर श्री वाचस्पति गैरोला लिखते हैं कि "सामान्यतः हिमालय पर्वत, पश्चिमी पंजाब, राजपूताना, मध्य प्रदेश, आसाम और बंगाल का विस्तृत भू-भाग के राजा तथा सामन्त उसके अधीन थे। केवल कुछ अंचलों पर ही उसका प्रत्यक्ष शासन था। अधिकतर प्रदेश ऐसे थे जो कि हर्ष की अधीनता स्वीकार करते हुए वहाँ के शासक स्वयं थे। इस प्रकार के अनेक पराजित राजाओं को हर्ष ने उनका राज्य लौटा दिया और इस प्रकार उसने भारत के पूर्ववर्ती दिग्विजयी सम्राटों के आदर्श का अनुसरण कर अपनी महानता का परिचय दिया। प्रयाग की मोक्ष परिषद में हर्ष के अधीनस्थ १९ राज्यों के राजा तथा सामन्त सम्मिलित हुए थे।............यदि हर्ष द्वारा नेपाल विजय की बात संदिग्ध भी हो तो इतना निश्चित है कि भारत का सम्पूर्ण उत्तरी प्रान्त उसके राज्य के अन्तर्गत था।"[1]

युअन च्वांग ने लिखा है कि "हर्ष तब तक युद्ध करता रहा जब तक उसने पांचो भारतो (पंच हिन्दू) कों अपने अधीन नहीं कर लिया। "इन पांचो भारतो (पंच हिन्दू) से युअन च्वांग का आशय भारत के किन-किन भागों से है यह स्पष्ट नहीं है फिर भी सच्चिदानन्द भट्टाचार्य के अनुसार "प्राचीन लेखों से सिद्ध होता है कि हर्षवर्धन ने बल्लभी, मगध, काश्मीर, गुजरात तथा सिन्ध को जीत लिया।[2] इस प्रकार हर्ष सारे उत्तरी भारत का सम्राट हो गया।

सच्चिदानन्द भट्टाचार्य ने लिखा है कि हर्ष ने "विशाल साम्राज्य की स्थापना की जिसकी सीमाएँ उत्तर में हिमाच्छादित पर्वतों तक, दक्षिण में नर्मदा नदी के तट तक, पूर्व में गंजाम तथा पश्चिम में बल्लभी तक विस्तृत थी। कन्नौज इस विशाल साम्राज्य की राजधानी था।"[3]

सम्राट हर्षवर्धन के सम्बन्ध में सर अलेक्जन्डर कनिंघम (Sir Alexander Cunningham) ने इस प्रकार लिखा है :—

"The vast empire which Harsh Vardhan raised during his long reign of 42 years between A. D. 607 and 648 is described by Hwen Thsang as extending from the feet of the Kashmir Hills to Assam and from Nepal to the Narbada river, He intimidated the Raja of Kashmir into surrendering the

१. गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० ४२५-२६।
२. भट्टाचार्य, भारतीय इतिहास कोश (१९७६), पृ० ४९२।
३. वही

teeth of Buddha, and his triumphal procession from Pataliputra to Kanauj was attended by no less than twenty tributary Rajas from Assam and Magadha on the east; to Jalandhar on the west. In the plentitude of his power Harsh Vardhan invaded the countries to the south of the Narbada, where he was successfully opposed by Raja Pulakesi, and after many repulses was obliged to retire to his own kingdom."[१]

अर्थात्, अपने ४२ साल के राज्यकाल में हर्षवर्धन ने जो वृहत साम्राज्य सन् ६०७ और ६४८ के दर्मियान कायम किया था उसके बारे में चीनी यात्री हुयेन सांग ने लिखा है कि उसका विस्तार कश्मीर की पहाड़ियों के पास से आसाम तक और नेपाल से नर्मदा नदी तक था। उसने काश्मीर के राजा को भय दिखा कर महात्मा बुद्ध का दाँत देने के लिए मजबूर किया। पाटलिपुत्र से कन्नौज तक उसकी विजय यात्रा में कम से कम २० सामन्त राजाओं ने भाग लिया था। जो पूर्व में आसाम और मगध से तथा पश्चिम में जालन्धर तक से आए थे। अपने शौर्य से उत्कर्ष में हर्षवर्धन ने नर्मदा के दक्षिण के देशों पर आक्रमण किया जहाँ राजा पुलकेसी ने उसका विरोध किया और कई पिछाड़ खाने के बाद वह अपने राज्य को वापस आने के लिए मजबूर हुआ।

सर अलेक्जन्डर कनिंघम ने यह भी लिखा है कि "यह शक्तिशाली राजा भिन्न-भिन्न ३६ राज्यों का सार्वभौम प्रभु था जिनको मिलाकर लगभग आधा भारतवर्ष उसके अधीन था जिसमें सबसे उपजाऊ और सम्पन्न प्रान्त सम्मिलित थे।"[२]

बाणभट्ट ने हर्ष को "सकलोत्तरापथ नाथ" (सम्पूर्ण उत्तरापथ का स्वामी) कहा है जिससे उसे सारे उत्तर भारत का सम्राट कहा जा सकता है। यह तो सर्वमान्य है कि हर्ष पूर्वी पंजाब, पूर्वी राजपूताना, पूर्ण उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और गंजाम तक उड़ीसा का स्वामी था। यह भी कहा जाता है कि हर्ष गौड़ाधिपति शशांक को पराजित न कर सका था और बंगाल और उड़ीसा शशांक की मृत्यु के बाद ही हर्ष के अधिकार में आए।

इसी प्रकार हर्ष के शत्रु दक्षिण के पुलकेशिन द्वितीय ने अपने कई विजय अभिलेखों में हर्ष को "सकलोत्तरापथेश्वर" की संज्ञा से सन्दर्भित किया है जिसका

---

१ Ancient Geography of India, pp. 11-12.

२. वही।

अर्थ पूर्ण उत्तर भारत का शासक होता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि हर्ष के अधीन पूर्ण उत्तर भारत था यद्यपि डा० त्रिपाठी कहते हैं कि यह पद शिथिल तथा अनिश्चित रूप में प्रयुक्त हुआ है और इसका तात्पर्य हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के बीच की भूमि से ही सर्वदा नहीं है।[१]

स्मिथ महोदय का कथन है कि हर्ष के "शासन काल के पिछले वर्षों में मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के अतिरिक्त हिमालय से लेकर नर्मदा तक गंगा की सम्पूर्ण घाटी में, जिसमें नेपाल भी शामिल था, हर्ष का आधिपत्य निर्विवाद रूप से स्थापित था[२]।"

पन्निकर महोदय भी मानते हैं कि "हर्ष के साम्राज्य में सम्पूर्ण उत्तरी भारत और नेपाल भी सम्मिलित था[3]।"

मंजुश्रीमूलकल्प में भी सामान्यतः यही मत व्यक्त किया गया है।[४]

सभी तथ्यों की तर्कसंगत समीक्षा करने के बाद लखनऊ के प्राचीन इतिहास विशेषज्ञ डा० अवध बिहारी लाल अवस्थी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "हर्ष उत्तरी भारत का परमेश्वर शासक था। बाण भी विभिन्न दृष्टान्तों से यही बताते हैं। कई बार हर्ष की समानता मान्धाता से की गई है जो एक महान विजेता और चक्रवर्ती सम्राट था। अतः स्पष्ट है कि हर्ष एक चक्रवर्ती सम्राट था (चक्रवर्तिन हर्ष[५])···· । डा० त्रिपाठी उत्तरापथ को आर्यावर्त का परिचायक नहीं मानते हैं परन्तु उनके इस विचार में कोई तर्क नहीं है। भारतवर्ष के दो मुख्य भाग हैं—दक्षिण और उत्तर। इन दोनों ही भागों में दो परमेश्वर, हर्ष और पुलकेसिन द्वितीय सम्राट थे।······· उसके (हर्ष के) साम्राज्य में सम्पूर्ण मध्य देश सम्मिलित था जिसका विस्तार सरस्वती नदी के तट से लेकर पूर्व में पुंड्रवर्धन तक माना गया है। युअन चवांग के समय भारत ७० प्रदेशों में विभक्त था और स्कन्ध पुराण के अनुसार भारत ७५ प्रदेशों में बँटा था। युअन च्वांग के समय कान्यकुब्ज देश प्रायः मध्यदेश या आर्यावर्त का परिचायक हो गया था। इसमें ३६ लाख गाँव सम्मिलित थे, इससे सिद्ध होता है कि कान्यकुब्ज एक विस्तृत साम्राज्य था। सातवीं शताब्दी में कान्यकुब्ज देश का विस्तार ४००० ली या ६६७ मील था।"

---

१. Dr. Tripathi, History of Kanauj, pp. 120-21.

२. Smith, Early History of India, p. 354.

३. Harsha of Kanauj, p. 22.

४. मं० मू० क०, भाग ३, ६३४/१४-२७; ६३५/१-५।

५. हृ० च०, पृ० १२०।

इस प्रकार डा० अवस्थी महाराज हर्ष को निस्सन्देह उत्तरी भारत का सार्वभौम सम्राट मानते हैं[1] और यही मत लगभग सभी अन्य विद्वानों का भी है जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है।

दक्षिण भारत पर हर्ष के प्रभुत्व का प्रश्न—क्या हर्ष का आधिपत्य दक्षिण भारत के कुछ अंचलों पर भी हो गया था इस प्रश्न पर स्पष्ट स्थिति ज्ञात नहीं है। निस्सन्देह कुछ साक्ष्य ऐसे हैं कि जिनसे यह जान पड़ता है कि हर्ष का प्रभुत्व दक्षिण भारत पर भी स्थापित हो गया था। इस प्रसंग पर बाण के श्वसुर मयूर कवि के एक श्लोक में हर्ष की दक्षिणापथ पर की विजयों और राज्य विस्तार पर प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार हर्ष ने दक्षिण में कुन्तल, चोल और कांची तक के इलाकों को जीता था। यथा—

येनांगम् परिमृष्य कुन्तलम् अथाकृष्य व्युदस्यायतं।
चोलं प्राप्य च मध्यदेश मधुना कांच्यां करः पातितः ॥

भावार्थ, महाराज हर्ष ने विस्तृत कुन्तल देश को तथा चोल देश को अपने अधिकार में करके कांची नगरी को भी अपने अधीन कर लिया।

इसके अतिरिक्त गद्देमने अभिलेख के आधार पर भी शिलादित्य को दक्षिण का विजेता कहा गया है। उस लेख में किसी पेत्तानी सत्यांक की मृत्यु का उल्लेख है जब कि वह बेदा के सरदारों से युद्ध कर रहा था और तभी शिलादित्य ने दक्षिण पर आक्रमण किया था जिसके फलस्वरूप महेन्द्र को भागना पड़ा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि शिलादित्य से कन्नौज के हर्षवर्धन से तात्पर्य है और महेन्द्र का पल्लव के महेन्द्र वर्मन से। तीसरे हर्ष चरित्र के अनुसार हर्ष का विजय चक्र दक्षिण में मलय-महेन्द्र तक था।

उक्त साक्ष्यों पर अधिकतर विद्वानों[2] का विश्वास नहीं है। उनका कहना है कि शिलादित्य की हर्ष से पहचान सही नहीं है। दूसरे यह कि जब हर्ष का पुलकेशिन द्वितीय पर आक्रमण सफल न हो सका तो यह कैसे माना जा सकता है कि दक्षिण के सुदूर स्थानों पर उसने विजय प्राप्त कर ली होगी। पुलकेशिन का चालुक्य राज्य दक्षिण भारत की सरहद पर था जब कि कुन्तल, कांची आदि सुदूर दक्षिण तक स्थित थे। डॉ० त्रिपाठी ने मयूर कवि के कथन को परम्परागत कवित्व की अतिशयोक्ति कहा है। अस्तु प्रश्नगत बात (हर्ष की दक्षिण विजय) सन्देहजनक ही ठहरती है।

---

१. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० ५४-५६।

२. उदाहरणार्थ, डॉ० आर० सी० मजुमदार तथा डॉ० राम शंकर त्रिपाठी।

निष्कर्ष :—अन्त में यह कहना है कि महाराज हर्ष के साम्राज्य की सीमाएँ कुछ भी रही हों अपितु वह हिन्दू भारत का अन्तिम साम्राज्य-निर्माता माना जाता है और उसकी मृत्यु के साथ उत्तरी भारत में एक केन्द्रीय शक्ति समाप्त हो गई। यह सही है कि हर्ष की मृत्यु से लेकर १२ वीं सदी के अन्त तक अर्थात् यवन शासन स्थापित होने तक के ५०० वर्षों के अन्तराल में उत्तर भारत में कतिपय साम्राज्य बनने के प्रयत्न हुए किन्तु स्थायी केन्द्रीयता कायम न हो सकी। वाटर्स महोदय हर्ष को हिन्दू युग का अकबर मानते हैं।[1]

८. हर्ष की शासन व्यवस्था

(शासन प्रबन्ध तथा राजनीतिक अवस्था)

हर्ष की शासन व्यवस्था प्राचीन हिन्दू राजाओं की भाँति थी। उसके समय में पूरे साम्राज्य को राष्ट्र, देश अथवा मण्डल कहते थे। हर्ष का साम्राज्य निम्न भागों में विभाजित था :—

(१) भुक्ति अर्थात् प्रान्त या देश, उदाहरणार्थ श्रावस्ती भुक्ति। भुक्ति अधिकारी को गोप्ता अथवा उपारिक महाराज कहते थे और उसे सम्राट स्वयं नियुक्त करता था। वह अपने प्रदेश में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करता था तथा सम्राट के आदेशों को लागू करता था। भुक्तियों के शासक अधिकतर राजकुमार ही होते थे।

(२) विषय अर्थात् जिले या जनपद उदाहरणार्थ कुन्दाधानी विषय। विभिन्न विषय भुक्ति के भाग थे। विषय का अधिकारी विषयपति अथवा वैषयिक होता था। विषय को अग्रहार भी कहते थे और उसके अधिकारी को अग्रहारिक। यह किसी विशेष जाति के नहीं होते थे—ब्राह्मण भी इस पद पर नियुक्त होते थे।

(३) पठक। यह विषय के अनुभाग होते थे जो आधुनिक तहसील या ताल्लुका के बराबर होते थे।

(४) ग्राम या गाँव। प्रशासन की यह सबसे छोटी इकाई थी जैसा कि अब भी है। गाँवों का प्रबन्ध सुसंगठित था। उस समय नगरों के प्रबन्ध के विषय में कम जानकारी है। ग्राम के अधिकारी को ग्रामेयक कहा जाता था।

प्रान्तीय शासकों की मदद के लिए अन्य कर्मचारी होते थे जिनमें मुख्य थे—

---

१. वाटर्स, प्रथम, पृ० ३५१।

(१) नगर श्रेष्ठी जो पूंजीपति का प्रधान होता था, (२) सार्थवाह जो कारवाँ दल का नेता होता था, (३) प्रथम कुलिक जो साहूकारों के संघ का अध्यक्ष होता था, तथा (४) प्रथम कायस्थ जो लेखक वर्ग का प्रतिनिधि होता था।

गाँवों का प्रबन्ध मुखियों द्वारा होता था जिन्हें महत्तर कहते थे। बाण ने लिखा है कि गाँव के बड़े लोग और उनके आगे महत्तर जल का घड़ा उठाए और टोकरियों में दही, शक्कर, गुड़ तथा फूलों के उपहार लिए राजा का दर्शन करने और अपनी खेती की रक्षा के लिए प्रार्थना करने जाते थे। गाँव के कर्मचारियों में एक अक्षपट लिपिक भी होता था जो गाँव का लेखा रखता था। प्रायः इसका काम आधुनिक लेखपाल की तरह था।

देश के विभिन्न भागों के अन्य प्रमुख केन्द्रीय अधिकारियों के पद-नाम भी हर्ष चरित्र में दिए हुए हैं, यथा—

राजरक्षक अवनि	भोगपति
पालपुरुष,	चाट,
अमात्य,	दूत,
कुमारामात्य,	प्रतिहार,
पुरोहित,	दीवारिक (द्वारपाल),
सेनापति,	नागवीथीपाल,
सन्धि विग्रहाधिकृत,	आयुक्तक,
अध्यक्ष,	उष्ट्रपाल।
महत्तर,	परिपालक पुरुष
साधनिक,	

इससे सिद्ध होता है कि हर्ष का प्रशासन सुगठित था।

हर्ष के साम्राज्य में कुछ प्रदेश तो ऐसे थे कि जिन पर हर्ष (कान्यकुब्ज-नरेश) स्वयं प्रभु रूप से शासन करते थे और कुछ प्रदेश ऐसे थे जिन पर उनका प्रभाव था और वहाँ के शासक उसके प्रभुत्व को मानते थे।[1]

सचिव-मंडल (मंत्री) तथा राजभृत्य—हर्ष के प्रशासन में मंत्रियों का विशेष महत्व था। वे उचित-अनुचित का ज्ञान कराते थे और दिन-प्रतिदिन का प्रशासनिक कार्य निपटाते थे। हर्ष की प्रारम्भिक भीषण प्रतिज्ञा के समय मंत्री तथा सेनापति सिंहनाद ने उसकी प्रज्ञा को जगाकर पराक्रम से जोड़ा था। मंत्री ही राजा को दोषों से बचाता था। राजा की नियुक्ति तथा निर्वाचन में भी उस

---

१. डा० राधा कुमुद मुकर्जी, हर्ष, पृ० ३७।

समय (तथा पूर्व काल में भी) मंत्रियों का हाथ रहता था। कन्नौज के मंत्रियों ही ने हर्ष को वहाँ का राजपद ग्रहण करवाया था। मंडी सम्राट का प्रधानमंत्री था, अवन्ति युद्ध तथा विदेशी कार्यों का, सिंहनाद सैनिक कार्यों का। हर्ष के मंत्री (आमात्य) अधिकतर बड़े-बड़े सामन्त ही थे जो उच्च कोटि के योद्धा भी थे।

विभिन्न कोटि के राजभृत्य मन्त्रियों के परामर्श से नियुक्त होते थे। राजा को प्रायः सद्भृत्य दुर्लभ होते हैं तथापि हर्ष के भृत्य राज्य के प्रति श्रद्धालु तथा कर्मनिष्ठ होते थे। वे जनप्रिय भी होते थे।

महाराज का एक मुख्य पुरोहित भी होता था जो एक विद्वान तथा अनुभवी व्यक्ति होता था और जटिल मामलों में महाराज को परामर्श भी देता था। महल में ज्योतिषी भी थे।

मन्त्रियों और प्रान्तीय शासकों को वेतन के बदले भूमि दी जाती थी किन्तु सेना के अफसरों और सिपाहियों को नगद वेतन मिलता था।

सेना का प्रबन्ध—हर्ष की सेना संख्या छः लाख थी। उसके समय में चतुरंगिणी सेना (पैदल, घुड़सवार, हाथी और रथ) का वर्णन मिलता है। युद्ध में हाथियों का प्रयोग विशेष रूप से होता था। सैन्य संचालन का प्रमुख अधिकारी महाबलाधिकृत होता था। हर्ष की सेना में ६०,००० हाथी और एक लाख घुड़सवार थे। उसमें ऊँट भी थे और कहीं-कहीं नौ सेना की भी चर्चा आई है। सेना में एक अस्थायी सैनिकों का भी विभाग था और वे सैनिक आवश्यकता पड़ने पर बुला लिये जाते थे। सैनिक अभियान (दण्डयात्रा) में सामन्त राजा भी भाग लेते थे। सम्राट ही सेना का प्रधान था किन्तु उसके अधीन युद्ध मंत्री तथा उसके नीचे प्रधान सेनापति। सेना के प्रत्येक भाग का अलग-अलग सेनापति होता था।

मंजुश्रीमूलकल्प भी हर्ष की महासैन्य का उल्लेख करता है। अभिलेखों से भी नाव, हाथी और घोड़ों से युक्त सैनिक शिविरों (स्कन्धावार) का उल्लेख मिलता है।

सम्राट के घोड़ों से विशेष अभिरुचि थी। अपने सरदारों को बढ़िया किस्म के घोड़े खरीदने के लिए वह अरब, अफगानिस्तान, ईरान, सिन्ध आदि सुदूर देशों को भेजता था। इसके अतिरिक्त उसने अपनी घुड़सवार-सेना को विशेष रूप से कुशल बनाने के लिये अन्य प्रयत्न भी किए थे।

हुयेन सांग ने लिखा है कि सेना के चार अंग थे—पैदल, अश्वारोही, हाथी और रथ। हाथी लोहे से ढँके रहते थे और उनके दाँतों में काँटे लगाये जाते थे। प्रधान सेनानायक हाथी पर बैठता था। अफसरों के रथों को चार घोड़े खींचते

थे तथा दोनों तरफ पैदल उनकी रक्षा करते थे। पैदल भाला, वर्छी रखते थे, कुछ तलवार भी। सिपाही बड़े दक्ष होते थे तथा उनके पास लड़ाई का सब सामान रहता था।

पुलिस तथा गुप्तचर विभाग--जन रक्षा के लिए पुलिस विभाग कार्य करता था किन्तु उनका प्रबन्ध सुव्यवस्थित न था। लोगों को चोर-डाकुओं का भय बना रहता था। चीनी यात्री हुयेन सांग कई बार अपनी यात्रा में लूट लिया गया था। एक बार शाकल के पलाश बन में उसे पचास दस्युओं ने घेरा था। प्राणभय से भागते हुए उसको भाग्यवश एक ब्राह्मण ने ७०, ८० शस्त्रधारी लेकर, ठीक समय पर पहुँच कर बचा लिया।

ऐसे ही एक समय युआन च्वांग अयोध्या से बहुत से यात्रियों के साथ नाव द्वारा जा रहा था। ठगों ने उसे काली देवी की बलि चढ़ाने को ताका और अपने चंगुल में फांस लिया। यूआन को केवल ईश्वर के कोई आश्रय न रह गया। भगवान ने उसकी प्रार्थना सुन ली। तुरन्त प्रचण्ड काली आंधी आई। ठगों के छक्के छूट गए। उनका मत बदल गया कि दुर्गा जी उनके कृत्य से प्रसन्न नहीं हैं वरन् कुपित हो गयी हैं। हत्या करने के बजाए अत्याचारी क्षमाप्रार्थी हुए।

इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है दण्ड की कठोरता होते हुए भी ठगी और बरमारी अज्ञात न थी।

प्रशासन का एक अंग गुप्तचर विभाग भी था जिसका मुख्य उद्देश्य सेना की सहायता करना था।

राजस्व विभाग—भूमिकर से राज्य को सबसे अधिक आमदनी होती थी। राज्य की सब जमीन नापी जाती थी। पैदावार का छठवाँ भाग राजकर के रूप में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त खनिज पर कर, अर्थदण्ड, व्यापार-कर, चुंगी आदि सं सरकार की आय होती थी। राजकीय भूमि की आमदनी का एक बहुत बड़ा भाग दान-पुण्य, धर्म, पुरस्कार आदि में खर्च होता था।

सभी कर इस बात को ध्यान में रखते हुए लगाये जाते थे कि प्रजा उन्हें आसानी से दे सके। युअन च्वांग ने भूमि से प्राप्त कर और राजस्व को चार प्रकार के कार्यों में खर्च होने की बात कही है, यथा—

(१) राज्य के व्यय के लिए,
(२) कर्मचारियों और जन कल्याण के लिए,
(३) उपहार और विद्यार्थियों के लिए, तथा
(४) धार्मिक कार्यों के लिए।[1]

---

१. वाटर्स १।१७६

इस प्रकार शासन के सभी पक्षों पर समान रूप से व्यय किया जाता था।

भूमि के लगान के अतिरिक्त और भी विभिन्न कर लिये जाते थे जो व्यापार से सम्बन्धित थे घाटों पर महसूल लगता था। वस्तुओं पर चुंगी थी। जब राजा द्वारा किसी को दान में भूमि दी जाती थी तब वह भूमि कर से मुक्त कर दी जाती थी।

शिक्षा विभाग—यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं है कि हर्ष की शासन व्यवस्था में शिक्षा विभाग के नाम से कोई पृथक विभाग था अथवा नहीं किन्तु यह निश्चित है कि शिक्षा के विकास के लिए सम्राट प्रचुर धन व्यय करते थे। उन्होंने अनेकों विद्यालयों की उदार हृदय से सहायता की तथा जगद्विख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय की उन्नति के लिए बहुत खर्च किया।

अभिलेख विभाग—प्रशासन की कुशलता के लिए हर्ष ने एक पृथक अभिलेख विभाग की स्थापना की थी। प्रत्येक छोटी-बड़ी अथवा अच्छी-खराब घटना का विवरण उस विभाग द्वारा उल्लिखित किया जाता था।

पशु-वध निषेध—महाराज हर्ष महात्मा बुद्ध के उपदेशों से अत्यन्त प्रभावित हुए थे और यही कारण था कि राजाओं के प्रति क्षमा और पशु-रक्षा के धर्म का उनके शासन में स्थान था। अशोक की भाँति सम्राट ने अपने सम्पूर्ण राज्य (पंच भारतों अथवा हिन्दू) में पशु-वध बन्द करा दिया था[1]।

हर्ष का दण्ड तथा न्याय विधान—सम्राट के राज्य में जरायम पेशा बहुत कम था। जुर्मों की न्यूनता के मुख्यतः तीन कारण थे, अर्थात्—

(१) जनता में सदाचारिता का विशेष विचार,

(२) अभियोगियों को कठिन दण्ड देने की प्रणाली जिससे अपराध करने का साहस ही न बढ़ने पाए। घातक को शूली दण्ड था। अनाचारी, राजविद्रोही अथवा अत्याचारी आदि अपराधियों को देश निकाला अथवा हाथ-पाँव, नाक आदि कटवा देने की सजा दी जाती थी। केवल न्यूनतम अपराधों में ही जुर्माना हुआ करता था।

(३) सम्राट की न्यायप्रियता का प्रभाव। हर्ष के लिए कहा गया है कि वह अपने प्रशासन में न्यायशील था और कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन करता था।

दोष—निर्दोष करने में अग्नि, जल, विष आदि की साक्षी बहुत सम्मानित थी। अपराधों की जाँच करने के बाद ही दण्ड दिया जाता था। हुयेन सांग

---

१. वाटर्स १।३४४।

लिखता है कि नियम तोड़ने का अर्थ शासन का अपमान करना समझा जाता था।

सार्वजनिक क्षेत्र में उन्नति—मगध सम्राट अशोक (ई० पू० २७३-२३२) की भाँति सम्राट हर्ष की शासन नीति प्रजा-हितकर थी। सार्वजनिक क्षेत्र में उसने परोपकारी संस्थाओं को स्थापित किया, सड़कें और उनके किनारे यथा स्थान यात्रियों की सुविधा के लिए विश्रामगृह बनवाए। विभिन्न धर्मवालों के लिए चैत्य, विहार और मन्दिर बनवाए। शिक्षा, दान तथा धार्मिक कृत्यों पर सम्राट बहुत खर्च करता था। हुयेन सांग के कथनानुसार हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग जाकर दान-पुण्य करता था।

सम्राट ने देश भर में पुण्यशालाएँ, धर्मशालाएँ और चिकित्सागृह बनवाए थे। इस प्रकार प्रजावत्सल हर्ष ने अनेक काम पुरुषार्थ किये।

प्रशासन में हर्ष की अभिरुचि और वैयक्तिक योगदान—राजकार्य के लिए सम्राट ने दिन को तीन भागों में बाँटा था। पहले भाग में राजकर्म और दूसरे तथा तीसरे भागों में वह जन-सम्पर्क तथा धार्मिक कार्य करता था। अशोक की भाँति हर्ष भी 'अनुसंयान' (प्रजा-दर्शन की यात्राएँ) करता था। वर्षा ऋतु को छोड़कर सम्राट के दौरे बराबर होते रहते थे जिससे वह अधिकारियों के कार्य पर नियन्त्रण रखता था और प्रजा की समस्याओं को सुनता था। हर्ष को गाँवों के प्रबन्ध में विशेष रुचि थी। कदाचित इसीलिये डा० आर० के० मुकर्जी ने लिखा है कि हर्ष की सरकार में तानाशाही तथा लोकतंत्रीय तत्वों का मिश्रण अथवा मेल था।[1]

महाराज हर्ष की कर्त्तव्य-परायणता की चर्चा करते हुए वाटर्स महोदय लिखते हैं कि राज्यकार्य में वह इतना व्यस्त हो जाता था कि सोना और भोजन करना भी भूल जाता था।[2]

भारतीय सभ्यता की दृष्टि से राजभार का वहन करना बड़ी तत्परता का काम है, सुख और आराम से वह बहुत दूर है। हर्ष की जीवन चर्या में ऐश-आराम न था, वह परोपकारी कार्यों में सर्वदा व्यस्त रहते थे और स्वयं राज्य-प्रबन्ध का निरीक्षण करते थे।

विदेशों से सम्बन्ध :—हर्ष ने एशिया के कई देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध भी स्थापित किये जिसमें फारस (अब ईरान) तथा चीन उल्लेखनीय हैं। हर्ष तथा

---

१. Ancient India, pp. 356-57.

२. वाटर्स, १।३४३-४।

फारस का शासक एक-दूसरे को भेंटें भेजते रहते थे। हर्ष ने चीन के दरबार में एक महान विद्वान ब्राह्मण को अपना दूत बनाकर भेजा था जिसके उत्तर में चीन के सम्राट ने हर्ष के दरबार में कई दूत भेजे थे।

हर्ष का राज-धर्म आदर्श :—मृत्युशय्या पर से महाराज प्रभाकर-वर्धन ने हर्ष को राजधर्म का जो उपदेश दिया था उसे हर्ष ने आजीवन निबाहा। उस उपदेश की मुख्य बातें थीं कि प्रजा की रक्षा करो (प्रजा परिरक्ष्यन्तामिति), परिजनों का पालन करो, सतत शस्त्राभ्यास करो, चपलता को रोको, शत्रुओं का पूर्ण रूप से दमन करो। ऐसा कहते हुए महाराज प्रभाकरवर्धन ने सदा के लिए आँखें बन्द कर लीं।

इसी उपदेश का अनुसरण करते हुए हर्ष एक प्रजारंजक और जनहितैषी शासक बना। उसका उद्देश्य प्रजा का हितचिन्तन और कल्याण करना था। अपने नाटक नागानन्द में हर्ष ने राजपद के इस आदर्श को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है :—सम्पूर्ण प्रजा उचित मार्ग पर चल रही है, सत्पुरुष अपने अनुकूल मार्ग पर हैं, बन्धे-बान्धव मेरी तरह सुख-भोग कर रहे हैं। राज्य की सब प्रकार सुरक्षा निश्चित हो चुकी है। प्रत्येक नागरिक अपनी आवश्यकताओं को इच्छानुकूल ढंग से सम्पादित कर रहा है। यही तो राज्य का आदर्श है। बाण ने कादम्बरी में राजा शूद्रक के रूप में एक आदर्श राजा का चित्रण किया है। वह 'न्याय का अवतार' और 'प्रजा का कष्ट निवारक' कहा गया है। हर्ष चरित भी इसी आदर्श का प्रतिपादन करता है।[1] महाराज हर्ष ने इसी आदर्श को चरितार्थ किया।

शासन-व्यवस्था सम्बन्धी निष्कर्ष:—इस प्रकार महाराज हर्ष का प्रशासन उच्च कोटि का था और उसी के द्वारा उसने देश में विषमता की अव्यवस्था मिटाकर आदिनृप पृथु की भाँति अकलंक अथवा धर्म-राज्य की स्थापना की। हर्ष कृत युग (सतयुग) बनाना चाहता था और इसमें उसे सफलता मिली। उसके शासन-प्रबन्ध पर हर्ष चरित, युअन च्वांग का विवरण, मंजुश्री मूलकल्प, अभिलेख तथा अन्य साहित्यिक सामग्री प्रकाश डालते हैं और उन सबसे सिद्ध होता है कि हर्ष का शासन निष्कलंक था। उसके शासन काल में न कोई बलवा हुआ, न कोई अकाल पड़ा और न कोई महामारी हुआ। प्रजा सब प्रकार से सुखी और उन्नतिशील थी। सेन्ट हिलेरी ने युअन च्वांग के विवरण के आधार पर कहा है कि—

"He devoted himself to the happiness of his people."[2]

---

१. डा० पाण्डे, प्राचीन भारत, पृ० ३१७।

२. हुएन-सांग इन इण्डिया, पृ० ७९।

अर्थात् उसने अपनी प्रजा के सुख के लिए अपने को समर्पित किया ।

९. विद्या-उन्नायक तथा साहित्यानुरागी हर्ष

निम्न उदाहरणों से, जो सूक्ष्म रूप से वर्णित किए जाते हैं, यह अनुमान लग जाएगा कि महाराज हर्ष कितने विद्या-उन्नायक तथा विद्याप्रेमी थे:—

(१) **बौद्ध आचार्य जयसेन को प्रस्तावित पुरस्कार**—यह योगशास्त्र, वेद, ज्योतिष, भूगोल, गणित, चिकित्सा आदि विभिन्न विषयों में निपुण थे तथा शुद्ध चरित्र महात्मा थे । उनकी कीर्ति पताका समस्त भारत में फहरा रही थी । उनकी विद्वत्ता तथा चरित्र-शुद्धता से प्रभावित होकर सम्राट ने उन्हें उड़ीसा प्रदेश के ८० गाँवों का लगान पुरस्कार रूप में देना चाहा किन्तु इतने बड़े दान[1] को भी साधु स्वभाव से उन्होंने अस्वीकार किया । हर्ष द्वारा बार-बार अनुरोध करने पर भी उस त्यागी एवं निस्पृह विद्वान ने इन्कार ही किया । कुछ विद्वान उन्हें हर्ष के दरबार का सदस्य भी बताते हैं ।

(२) सम्राट ने कन्नौज में एक बृहत विद्या-केन्द्र की स्थापना की थी जो भद्र विहार के नाम से जाना जाता था । विद्वत्ता के क्षेत्र में वह सम्पूर्ण भारतवर्ष में विख्यात था । दूर-दूर से विद्यार्थी तथा अन्य विद्यानुरागी अध्ययन के लिए वहाँ आते थे । लगभग तीन माह वहाँ रहकर युआन च्वांग ने भी प्रसिद्ध आचार्य वीर्यसेन के निरीक्षण में अध्ययन किया था । इसके अतिरिक्त कन्नौज में अन्य प्रतिष्ठित विद्या संस्थाएँ भी थीं जिनका देश भर में नाम था ।

(३) कन्नौज के भद्र विहार की तरह उत्तर भारत के पूर्व में कर्ण सुवर्ण क्षेत्र (बंगाल का एक भाग) में भी एक प्रख्यात विद्या-केन्द्र था जो रक्तविटि संघाराम के नाम से जाना जाता था जो प्रसिद्ध विद्वानों का जत्था था । इसी प्रकार एक विद्या-केन्द्र तिरिष्क (Ti-lo-Shi-Kia monastery) में था जहाँ के लिए प्रसिद्ध था कि सुदूर मुल्कों के विद्वान बड़ी संख्या में एकत्रित होते थे ।[2] इस प्रकार की अनेकों बौद्धिक संस्थाएँ हर्ष के राज्य में उत्तर से पूर्व तक थीं । इनके अतिरिक्त देश में अन्य विश्वविद्यालय तथा विद्यापीठ थे, जैसे तक्षशिला में वैद्यक का विश्वविद्यालय, उज्जैन में ज्योतिष का, काशी (वाराणसी) में वेद-शास्त्रों का और नालन्दा में सभी विद्याओं का । इस सबको राज्यकोष से पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलती थी ।

(४) **नालन्दा विश्वविद्यालय, हर्ष उसके संरक्षक**—हर्ष युग में विद्या का आदर्श बहुत ऊँचा था विशेषकर नालन्दा विश्वविद्यालय का । वहाँ संसार के

---

१. इस प्रकार दान विद्याधन कहा जाता था ।

२. Scholars from distant countries flocked together in crowds.

विद्यानुरागी अध्ययन के लिए आया करते थे किन्तु उसमें भर्ती होना सहज न था। यह संस्था बड़े आदर से देखी जाती थी। महाराज हर्ष उसके संरक्षक थे तथा उसको सुचारु रूप से चलाने के लिए १०० ग्रामों का 'कर' प्रदान किया था। वहाँ पर उन्होंने १०० फुट ऊँचा एक विशाल मन्दिर या विहार भी बनवाया था जो पीतल की मोटी चादरों से ढंका था।

उस समय नालन्दा विश्वविद्यालय सभी विद्याओं का केन्द्र था। उसकी ख्याति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसके प्रति उदारता प्रदर्शित करने के लिए सभी राजा इच्छुक रहते थे। हुयेन सांग ने उसके विशाल एवं कई मंजिलों वाले भवनों की बड़ी प्रशंसा की है। वहाँ कई सहस्र छात्र पढ़ते थे जो आचार और नियमों के पालन में अपना गर्व समझते थे। उनके अध्ययन के विषय थे वेदादि, हेतु-विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, इन्द्रजाल विद्या, अर्थवेद, संख्यादि, बौद्ध साहित्य, आदि। धर्मपाल, गुणमति, चन्द्रपाल आदि वहाँ के प्रकाण्ड पण्डित थे। वहाँ के स्नातकों का बड़ा आदर होता था तथा चुने हुए स्नातक विदेशों में जाकर भारतीय आदर्शों और परम्पराओं का ज्ञान प्रदान करते थे।

(५) युआन च्वांग के अनुसार साम्राज्य की कर और राजस्व से प्राप्त आय का एक-चौथाई भाग विद्वानों के उपहार तथा विद्यार्थियों पर व्यय किया जाता था। बाण भी लिखते हैं कि—

"श्रीकंठ विनिर्यातं गीतमिदं हर्षराज्यमिव।[१]"

अर्थात् जिस प्रकार श्री कंठ (शिव) से सभी विद्याएँ निकलीं उसी प्रकार हर्ष-राज्य से भी सभी विद्याएँ बढ़ीं। यह भी कहना है कि प्रत्येक पाँचवें वर्ष प्रयाग में हर्ष द्वारा जो धन वितरित किया जाता था उसके पाने वालों में देश के विद्वान भी होते थे।

आश्रित कवि—स्वयं महान विद्वान होते हुए हर्ष विद्वानों तथा कवियों का बड़ा आदर करता था तथा उनकी आर्थिक सहायता भी। राज्य की आय का चौथा भाग विद्वानों पर खर्च करता था। अतः उसके दरबार में कई महान विद्वान तथा कवि आकर्षित हुये थे जिनमें से प्रमुख नाम निम्न हैं:—

(१) **बाण भट्ट**—यह सम्राट के दरबार का प्रमुख कवि तथा विद्वान था। निम्न रचनाएँ बाण प्रणीत मानी जाती हैं :—

(क) **हर्ष चरित**—इसमें सम्राट हर्ष के प्रारम्भिक जीवन का वृतान्त है। यह

---

१. हर्ष चरित, पृ० १३२।

ग्रन्थ अपूर्ण है; अपूर्ण रह जाने का कारण अज्ञात है। इसका सारांश इस अध्याय में आगे दिया गया है।

(ख) **कादम्बरी**—यह गद्य काव्य है किन्तु इसे भी बाण पूरा न कर सके। उनके पुत्र भूषण भट्ट ने जहाँ तक कादम्बरी के शोक का वर्णन है वहाँ से लेकर अन्त तक इस कथा की ममाप्ति की।

(ग) **चण्डी शतक**।

(घ) **पार्वती परिणय**—इसका बाण कृत होना संदिग्ध है।

सम्राट द्वारा बाण को धन-धान्य से पूरित किया गया, यथा—

"सम्पूजितः कनक कोटि शतेन बाणः।[1]"

अर्थात् हर्ष ने बाण को अपार धन दिया। (शाब्दिक अर्थ में एक सौ करोड़ (कोटि शतेन) स्वर्ण मुद्राएँ दीं, किन्तु यह गिनती संख्या सूचक नहीं है अपितु कवि की भाषा में तथा व्यावहारिक अर्थ में अतुल धन का बोध कराती है।)

(२) **मयूर कवि**—इनकी प्रधान कृतियाँ हैं मयूर शतक तथा सूर्य शतक। इन दोनों के सम्बन्ध में यह युक्ति प्रसिद्ध है कि मयूर शतक रचना के बाद कवि को कुष्ठ रोग हो गया था और जब उसने सूर्यशतक बनाया तब रोगमुक्त हो गया। सूर्यशतक में सूर्यदेव की वन्दना में १०० श्लोक हैं। उसकी एक अन्य रचना सुभाषितावली के नाम की बताई जाती है। कुछ विद्वान मयूर को बाण का बहनोई बताते हैं तथा कुछ उसे बाण का श्वसुर मानते हैं।

(३) **मातंग दिवाकर**—यह न्यून जाति के थे किन्तु अपनी प्रतिभा तथा विद्वत्ता के कारण महाराज हर्ष के विशेष कृपापात्र थे और राज दरबार में उन्हें पर्याप्त आदर प्राप्त होता था। शारंगधर लिखित "पद्धति" में इनके बारे में निम्न पद आया है :—

अहो प्रभवो वाग्देव्या यन मातंग दिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत सभ्यः समो बाण मयूरयोः॥

अर्थात् वाग्देवी (सरस्वती) में इतनी अधिक शक्ति है कि जातिच्युत मातंग दिवाकर भी हर्ष का बाण और मयूर की बराबरी का दरबारी हो गया। दिवाकर की रचनाओं के बारे में विशेष जानकारी नहीं है किन्तु कीथ महोदय का कथन है कि इनकी कुछ कविताएँ सुरक्षित हैं।[2]

(४) **धावक**—कवि धावक के बारे में सही स्थिति का ज्ञान नहीं है और न

---

१. सोढ्ढल की उदय सुन्दरी कथा से, जिसका रचनाकाल ११वीं सदी है।
२. Dr. Keith, Classical Sanskrit Literature, p. 120.

उनकी रचनाओं का कहीं पता चलता है। उनके सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि महाराज हर्षकृत तीन नाटकों का असली रचयिता कवि धावक था और इसी के उपलक्ष में उसे हर्ष से बहुत धन मिला था। हर्ष की रचनाओं का विवरण देते हुए इस बिन्दु पर आगे प्रकाश डाला गया है।

(५) **ईशान**—यह सम्राट की विद्वत्सभा के सदस्य थे किन्तु इनकी कृतियों के बारे में जानकारी नहीं है।

उपरिलिखित आश्रित कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कवियों को भी हर्ष युग का बताया जाता है, यथा किरातार्जुनीयम् के रचयिता भारवि, वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु, जानकीहरण के रचयिता कुमार दास। कुछ समय तक प्रसिद्ध विद्वान दण्डी भी हर्ष के समकालीन रहे परन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थों दशकुमार चरित और काव्यादर्श की रचना हर्ष की मृत्यु के बाद की।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि हर्ष का काल साहित्यिक उन्नति का युग था।

उक्त कथित कवियों के अतिरिक्त उस समय के ख्याति प्राप्त धुरन्धर विद्वान थे शीलभद्र, ज्ञानचन्द्र, धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र। उनका विषय काव्य से इतर होने के कारण उनकी व्याख्या प्रस्तुत पुस्तक के दायरे के बाहर है।

विद्वानों का सम्मान तथा प्रोत्साहन—हर्ष ने विद्वानों का सम्मान बढ़ाया तथा अपनी प्रजा में शिक्षा का प्रचार किया। चीनी यात्री हुयेन सांग के अनुसार महाराज हर्ष भूमि की आमदनी का चौथाई भाग उच्च कोटि के विद्वानों तथा धार्मिक नेताओं को पुरस्कृत करने के लिए अलग रखते थे। इस प्रकार राजा से प्रतिष्ठा पाकर उन लोगों में उत्साह की वृद्धि होती थी और वे एक चित्त होकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में अपना पूर्ण समय देते थे।

हर्ष का साहित्यानुराग—महाराज हर्ष का साहित्यानुराग निम्न तथ्यों से प्रकट होता है :—

(क) कवियों और विद्वानों के आदरकर्ता के रूप में,

(ख) स्वयं साहित्यिक ग्रन्थों के रचयिता के रूप में, तथा

(ग) साहित्यिक कार्यों में अभिरुचि।

बिन्दु (क) से सम्बन्धित बातें ऊपर बतायी जा चुकी हैं तथा (ख) का विवरण आगे के अनुशीर्षक में उल्लिखित हैं। बिन्दु (ग) पर नीचे प्रकाश डाला जा रहा है :—

१. अपनी विद्वतसभा के कवियों के साथ बैठकर सम्राट काव्य चर्चाओं में सक्रिय भाग लेता था।

२. वार्षिकोत्सव के अवसर पर, अन्य उचित अवसरों पर सम्राट नाटकों का अभिनय कराते थे जिनमें उनके नाटक भी खेले जाते थे। इनके अभिनय के लिए रंगमंच भी सृजित किये थे।

३. प्रयाग के पंचवर्षीय सम्मेलनों में साहित्यिक गोष्ठियों का भी आयोजन होता था। इसी प्रकार समय-समय पर राजधानी में भी साहित्यिक सम्मेलन तथा कवि गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। डा० राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार इतिहास में केवल हर्ष ही एक ऐसा शासक था जिसने धार्मिक तथा सांस्कृतिक उद्देश्यों को लेकर समय-समय पर निश्चित ढंग से जन-सभाएँ बुलाने की प्रथा प्रचलित की। उनके शब्दों में—

"Harsha is the only king in history who is credited with the important innovation of holding large public assemblies at regular intervals for religious and cultural purposes."[1]

४. बाण का कथन है कि हर्ष की सभा और राज्य में वेदों, न्याय, व्याकरण राजर्षि-चरित, महाभारत, इतिहास आदि विषयों के पंडित (महाविद्वांसो) और महाकवि विद्यमान थे।[2]

हर्ष की रचनाएँ तथा विद्वत्ता—दिग्विजयी साम्राज्य के स्वामी, वीर, कुशल प्रशासक तथा दानी होने के साथ-साथ महाराज हर्ष सिद्धहस्त नाटककार एवं सुकवि भी थे। निम्नलिखित ग्रन्थ हर्ष प्रणीत हैं :—

(१) रत्नावली—नाटिका तथा प्रेम कथा,
(२) प्रियदर्शिका—वहां,
(३) नागानन्द, नाटक,
(४) अष्टम्धा थी चैत्य संस्कृत स्तोत्र,
(५) बोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा पद्यात्मक,
(६) सुप्रभात स्तोत्र, तथा
(७) बांसखेड़ा तथा मधुवन पट्ट के लेख।

इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

(१) रत्नावली—इसमें वत्स के राजा उदयन के रोमांचकारी वृत्त का चित्रण किया गया है। इसमें चार अंक हैं जिनमें उदयन के मंत्री योगन्धारायण ने उदयन और ग्रन्थ की नायिका रत्नावली को विवाहसूत्र में बांधने का उपक्रम

---

१. Dr. R. K. Mookerji, Ancient India, p. 354.

२. ह० च०, पृ० १३२-३।

किया गया है। लंका की राजपुत्री रत्नावली भारत के लिए प्रस्थान करती है किन्तु समुद्र में उसका पोत भंग हो जाता है। कौशाम्बी के एक व्यापारी द्वारा बचाई जाने के बाद उसे उदयन के दरबार में लाया जाता है उदयन की रानी वासवदत्ता की दासी रूप में सेवा करती हुई वह उदयन की दृष्टि में आती है। अनेक बाधाओं के बाद दोनों दाम्पत्य में बँध जाते हैं। इस ग्रन्थ से हर्षकालीन भारत के लंका के साथ सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। उसमें दिए हुए वर्णनों से उस समय के राज दरबारों के चित्र खिचते है। काव्य-दृष्टि से विदेशी विद्वान भी इसे उत्कष्ट कहते हैं, यथा—

"It is an agreeable play with well-drawn characters and many poetical beauties."[1]

अर्थात् यह एक रोचक नाटक है जिसमें व्यक्तियों का अच्छा चित्र दर्शाया गया है तथा जिसमें कवित्व की सुन्दरताएँ भी हैं।

(२) **प्रियदर्शिका**—यह भी चार अंकों में विभाजित एक नाटिका है। इसमें भी उदयन की प्रणय-कथा का चित्रण है।

प्रियदर्शिका और रत्नावली रंगमंचीय दृष्टि से संस्कृत-साहित्य की सफल नाटिकाएँ हैं। देश-विदेश में उनका अभिनय अनेकों बार हो चुका है तथा उनको भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। हर्ष द्वारा भी उनका अभिनय करवाया जाता था तथा हर्षकाल में और उसके बाद भो उनका प्रचलन था। प्रायः नवीन नाटक हर्ष के समय में वार्षिकोत्सव में जनता के प्रमोदार्थ महाराज के दरबार में खेले जाते थे जिनमें उनकी रचनाओं का भी अभिनय होता था।

(३) **नागानन्द**—यह नाटक पाँच भागों का है। हर्ष के गम्भीर चिन्तन का परिचायक इस नाटक में बौद्ध धर्म और दर्शन का परिचय कराया गया है। बोधिसत्व की करुणा का भी इसमे चित्रण है। ग्रन्थ मे उत्तेजना के भाव हैं और वह धार्मिक दृष्टि से लिखा गया है। चीनी यात्री इत्सिंग (I-tsing) जो भारत में लगभग सन् ६७२ (हर्ष की मृत्यु के लगभग २५ वर्ष बाद) में आया था लिखा है कि यह नाटक उसके सामने खेला गया था।

(४) **अष्टम्बा श्री चैत्य संस्कृत स्तोत्र**—युआन च्वांग के अनुसार यह रचना गुणों के सूर्य ("Sun of virtue") की है अर्थात् शीलादित्य की है। शीलादित्य हर्ष का वीरुद था जिसका प्रयोग अनेक स्थलों पर हर्ष के लिए किया गया है।[2]

---

१. Imperial Gazetteer, Vol. II, p. 24.

२. Vide also Dr. Keith's History of Sanskrit Literature (1928), p. 215.

(५) **बोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा**—यह रचना पद्यात्मक है अर्थात् संगीत पदों में जिसका अभिनय नृत्य के साथ भी होता था। चीनी ग्रन्थकार इत्सिग (I-tsing) ने लिखा है कि इसका अभिनय शीलादित्य (हर्ष) नृत्य के साथ करवाता था और इस प्रकार उसका प्रचार होता था।[2]

(६) **सुप्रभात स्तोत्र**—एक मत यह व्यक्त किया गया है कि यह रचना काश्मीर के राजा हर्ष की है न कि कन्नौज के हर्षवर्धन की (रचना में केवल हर्ष नाम आया है)। इसके विपरीत बूलर महोदय इसको हर्षवर्धन की ही रचना बताते हैं इस आधार पर कि इसकी शैली हर्षवर्धन की शैली के अनुरूप है।[3]

(७) **बाँसखेड़ा तथा मधुवन पट्ट के उत्कीर्ण लेख**—यह लेख मुख्यतः हर्ष की ही रचनाएँ हैं। इनके अन्त में हर्ष के हस्ताक्षर हैं जो निम्न प्रकार पढ़े जाते हैं :—

"स्वहस्तो मम महाराजाधिराज श्रीहर्षस्य।"

[स्वयं अपने हाथ से महाराजाधिराज श्री हर्ष का (हस्ताक्षर)]

बसन्ततिलका छन्द में लिखे हुए श्लोक संख्या १२-१३ में हर्ष ने भाग्यलक्ष्मी को बिजली या पानी के बुलबुले की तरह अस्थिर कहा है और अन्त में लिखा है कि मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणियों का हित करना चाहिए (कर्मणा मनसा वाचा कर्तव्यं प्राणभिहितं। हर्षेणे तत् समाख्यातन् धर्माज नमनुत्तम)। इनमें से पद्य संख्या ५-६ शार्दूलविक्रडित छन्द में हर्ष ने अपने ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन की कपटपूर्ण हत्या का निजी भावनाओं से ओत-प्रोत वर्णन किया है।

महाराज हर्षप्रणीत नाटकों के बारे में काश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान मम्मट ने कुछ शंका व्यक्त की है। मम्मट ११वीं सदी में हुए थे। काव्य प्रकाश नामक उनका ग्रन्थ सर्वविदित है जिसमें काव्य रचना के विषय में विद्वत्तापूर्ण विवेचन है। हर्ष विरचित बोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा (नाटक) की व्याख्या करते हुए मम्मट ने लिखा है कि काव्य रचना में कालिदास के समान यश प्राप्त होता है और श्री हर्ष तथा अन्य नृपों से धावक आदि के समान कवियों को धन मिलता है। अतः मम्मट के अनुसार धावक कवि को भी हर्ष से उक्त नाटकों के कारण

---

१. इत्सिग भारत में हर्ष की मृत्यु के लगभग २५ साल बाद आया था। उक्त कथन उसके ग्रन्थ में है। ["A Record of Buddhist Religion in India and Malay Archipelogo" translated by J. Takakusu (Oxford. 1896), pp. 163-64].

२. Biihler, Ipigraphia Indica, Vol. I. p. 71.

बहुत धन मिला था। दूसरे शब्दों में मम्मट का संकेत है कि महाराज हर्ष ने उक्त नाटकों को धावक से क्रय कर लिया और उन्हें अपने नाम से प्रकाशित किया। काव्य प्रकाश की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में धावक के स्थान पर बाण का नाम मिलता है किन्तु बाण भट्ट इन नाटकों का रचयिता नहीं माना जा सकता क्योंकि बाण की कादम्बरी तथा हर्षचरित की भाषा बहुत ही क्लिष्ट और गूढ़ है तथा इसके विपरीत प्रश्नगत नाटकों की भाषा बहुत ही सरल है। कुछ अन्य ग्रन्थकारों को भी अनुमान है कि हर्ष के नाम से धावक ने प्रश्नगत नाटकों की रचना की। धावक कवि ने हर्ष के नाम से रत्नावली नाटिका लिखकर बहुत धन पाया ऐसी युक्ति प्रसिद्ध है। इसी प्रकार परमानन्द नामक विद्वान ने भी लिखा है कि धावक कवि ने अपनी रत्नावली को राजा हर्ष के हाथ बेचकर बहुत धन पाया।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ये सब निर्मूल दंतकथाएँ हैं या इनमें से कुछ सत्य का भी आधार है। इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि महाराज हर्ष जो इन नाटकों आदि के रचयिता उल्लिखित हैं इनके असली ग्रन्थकार नहीं हैं। इसके विपरीत कुछ तर्क ऐसे हैं जो इन कथाओं को काल्पनिक होने का संकेत करते हैं, यथा :—

(१) यह कि संस्कृत साहित्य में धावक कवि का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। यह यदि ग्रन्थकार होते तो प्रश्नगत नाटकों के अतिरिक्त इनके कुछ ग्रन्थ अवश्य प्राप्त होते।

(२) यह कि शंका करने वाले विद्वान अधिकतर १६वीं या १७वीं सदी के हैं और हर्षकाल से लगभग १००० वर्ष का अन्तराल होने के कारण इनकी प्रमाणिकता मान लेना उचित नहीं जान पड़ता।

(३) यह कि मम्मट का यह केवल अनुमान ही है कि धावक ने इन नाटकों को रचा तथा इस अनुमान का आधार हर्ष द्वारा धावक को धन दिया जाना है। किन्तु यह निष्कर्ष सही नहीं है क्योंकि राजा लोग अपनी सभा के कवियों और विद्वानों को उनके संरक्षक होने के नाते पुरस्कार रूप में धन देते थे।

(४) मद २ में कहे गये विद्वानों ने मम्मट को ही अपनी शंका का आधार माना है किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है मम्मट का तर्क न्याय-संगत (logical) नहीं है।

(५) हर्ष ७वीं सदी में हुए थे और उसके ४०० वर्ष बाद ११वीं सदी में मम्मट का प्रादुर्भाव हुआ। इतने लम्बे अर्से के बाद मम्मट को इस बिन्दु पर सही ज्ञान होने की सम्भावना बहुत कम रह जाती है।

(६) इतिहास में राजाओं के ग्रन्थकार होने के अनेक उदाहरण हैं जैसे समुद्रगुप्त, पल्लवराज महेन्द्र विक्रमवर्मन, बाबर, जहाँगीर।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए महाराज हर्ष को प्रश्नगत ग्रन्थों के रचयिता मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। साथ ही इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हर्ष के आश्रित विद्वानों में से किसी ने इन नाटकों पर पद लालित्य तथा अर्थ गौरव को कुछ अंश में अपनी लेखनी से बढ़ाया हो। कहावत है कि राजलेखक अधूरे ग्रन्थकर्ता होते हैं।

पूर्व में कहा गया है कि हर्ष नाम के तीन और शासक थे किन्तु कालभेद, लेखनशैली भेद, विषय भेद, विचारधारा भेद आदि की दृष्टि से कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन (जिन्हें प्रश्नगत ग्रन्थों में हर्षदेव कहा गया है) के अतिरिक्त हर्ष नामक अन्य कोई शासक इन ग्रन्थों का रचयिता नहीं ठहरता है।

हर्ष की विद्वत्ता के अन्य साक्ष्य—उक्त रचनाओं से हर्ष की विद्वता प्रमाणित हो जाती है फिर भी इसी सन्दर्भ में कुछ अन्य साक्ष्य भी हैं जो नीचे दिये जा रहे हैं :—

(१)

ग्यारहवीं सदी के सोढ्ढल कवि ने हर्ष की काव्यशैली की प्रशंसा में निम्न श्लोक अपनी रचना उदय सुन्दरी कथा में लिखा है :—

श्री हर्ष इत्य वनिवर्तिषु पार्थिवेषु।
नाम्नैव केवलमजायत वस्तु तस्तु॥
श्रीहंर्ष येष निज संसदि येन राज्ञा।
सम्पूजितः कनक कोटि शतेन बाणः॥

भावार्थ, पृथ्वी पर रहने वाले राजाओं में एक ऐसा था जिसका नाम तो केवल श्री हर्ष ही था किन्तु जो वास्तव में अपनी सभा में अपनी काव्य-शैली द्वारा हर्ष (प्रसन्नता) व्याप्त करता था तथा जिस राजा ने बाण को एक सौ करोड़ सोने का पुरस्कार दिया, यानी अपार धन दिया। सोढ्ढल ने उसी रचना में अन्यत्र हर्ष को कवीन्द्र की संज्ञा दी है।

(२)

सुभाषित रत्न भाण्डागार के निम्न श्लोक में अन्य कवियों के साथ हर्ष के लिए कहा गया है कि वे अपनी रचना से संसार को मुदित कर देते थे :—

माघश्चोरो मयूरो मुरारिपुरपरोभारविः सारविद्या।
श्री हर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्याः वयोभोजराजः॥

श्री दण्डी डिण्डमाख्यः श्रुतिमुकुट गरुर्भल्लटोभट्ट बाणः ।
ख्यातश्चान्ये सुदन्ब्वादय इह कृतिभिर् विश्व माल्हा दयन्ति ॥[१]

भावार्थ, निम्न प्रख्यात कवि अपनी रचनाओं से संसार को आनन्दित करते हैं :- माघ, चोर (विल्हण), मयूर, दूसरे मुरारिपु (यानी मुरारी) भारवि जिनका पांडित्य प्रसिद्ध है, श्रीयुत्त (अर्थात् प्रतिभाशाली) हर्ष कालिदास और भवभूति नामक कवि, भोजराज, श्रीयुत दण्डी जो डिण्ड (ढोल बाजा) कहे जाते हैं, भल्लट जो ख्याति के नग से विभूषित हैं, बाण भट्ट तथा अन्य प्रख्यात कवि जिनमें सुबन्धु मुख्य हैं ।

(३)

प्रसिद्ध ग्रन्थकार जयदेव (१२ वीं सदी) ने अपनी रचना प्रसन्नराघव के एक श्लोक में कुछ कवियों की प्रशंसा की है उनमें से हर्ष के बारे में निम्न शब्द कहे हैं :—

"हर्षो हर्षो हृदयवसितः ।"[२]

जिनका भावार्थ है कि महाराज (प्रसन्नता) के रूप में कविता कामिनी के हृदय में बसते हैं ।

(४)

बाण के अनुसार महाराज साधारण कवि न थे वरन् उच्च कोटि के थे, यथा—

अपि चास्य कवित्वस्य वाचः.........न पर्याप्तो विषयः ।[३]

अर्थात् उनकी कविता का शब्दों द्वारा पर्याप्त रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता ।

बाण ने यह भी कहा है कि—

काव्य कथास्व पीतममृत मृद्धमंतम् ।[४]

अर्थात् कवि गोष्ठियों में वह अपना ही अमृत वर्षाता था जिसे उसने किसी अन्य से प्राप्त नहीं किया था ।

कवि मधुसूदन (१७वीं सदी) ने अपनी भावबोधिनी में महाराज हर्ष को

१. परब द्वारा सम्पादित सुभाषितरत्न भाडागार, ५वाँ संस्करण (१९११), पृ० ३८ । उक्त श्लोक के रचयिता का नाम अज्ञात ।
२. परांजपे और पांसे द्वारा सम्पादित प्रसन्नराघव (पूना, १८९४), पृ० १० ।
३. ह० च०, पृ० १८२ ।
४. वही, पृ० १६१-६२ ।

कवियों में प्रमुख कहा है (कविजन मूर्धन्यस्य''''महाराज श्री हर्षस्य[1])।

निष्कर्ष—अतः सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि विद्या तथा साहित्य के क्षेत्र में हर्षकाल में महान उन्नति हुई। यह युग संस्कृति की वृद्धि के फलस्वरूप अपना एक विशेष स्थान रखता है। विभिन्न विद्वानों ने इस युग की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। चीनी यात्री हुयेन सांग तो हर्ष के इस क्षेत्र में कार्य-कलाप को देखकर आश्चर्यचकित हो गया था। डा० आर० सी० मजूमदार के अनुसार सम्राट हर्ष एक महान सेनानायक तथा न्यायप्रिय प्रशासक तो था ही किन्तु इससे अधिक वह धर्म और विद्वत्ता का जनक तथा प्रोत्साहनकर्ता था। इस प्रकार यह कथन सत्य है कि हर्षराज्य-श्री कंठराज्य या सारस्वत क्षेत्र से हर्ष सदृश सहृदय विद्या-प्रेमी नृप पाकर साहित्य की विविध धाराएँ फूट निकलीं। हर्ष-चरित में कहा गया है कि ऐसा समृद्ध देश यदि विद्या सम्पन्न हुआ तो आश्चर्य ही क्या ? वैदिक युग में भी सरस्वती के तट से ही श्रुतियाँ सर्वत्र फैलीं। यह वीरक्षेत्र (यौधेय देश) गुरुकुलों और विद्यार्थियों से भरा था।[2]

१०. महाराज हर्ष की धार्मिक निष्ठा, कन्नौज और प्रयाग के सम्मेलन, हर्ष का धर्म

महाराज के चरित्र में कहीं भी कार्यरूप दोष खोजने पर भी न मिलेगा। उन्होंने जो भी किया उसे खुले हृदय से बड़े ऊँचे पैमाने से किया। प्राचीन काल के चक्रवर्ती राजाओं की परिपाटी का अनुशीलन इनके इतिहास में चरितार्थ होता है।

इस स्थल पर पहिले हम धर्म क्षेत्र में हर्ष के राजसी औदार्य को दो दृष्टान्तों द्वारा पाठकों के सन्मुख रखेंगे। तत्पश्चात् महाराज के व्यक्तिगत धार्मिक विचारों की मीमांसा करेंगे। इस सम्बन्ध में कन्नौज और प्रयाग के धार्मिक सम्मेलन बहुत ख्याति प्राप्त हैं। युआन च्वांग की कथा से उद्‌धृत होने से वे असंदिग्ध प्रमाणित होते हैं। पौराणिक काल में हिन्दू राजाओं की धार्मिक मनोवृत्ति ऐसी ही हुआ करती थी यह हर्ष के चरित्र से पुष्ट होता है। ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में पौराणिक चक्रवर्तियों की कथाओं को लोग प्रायः कपोल-कल्पित कह कर टाल देते हैं, अतः हर्ष से सम्बन्वित उक्त दोनों दृष्टान्तों को हम कुछ सविस्तार वर्णन करेंगे।

---

१. Vide, Biihler, Indian Antiquary, Vol. II (1873), pp. 127-28.

२. ह० च०, पृ० १४७।

कन्नौज सम्मेलन—भारत भ्रमण कर और मुख्य विश्वविद्यालयों में रहकर यूआन च्वांग ने बौद्ध धर्म का अच्छा अध्ययन किया था और साथ ही वैदिक धर्म को भी पढ़ा था। इसीलिए उसके धार्मिक ज्ञान की प्रसिद्धि भी हो गयी थी। जब वह आसाम के शासक भास्करवर्मन के आतिथ्य में था तब महाराज हर्ष राज्य पर्यटन करते उस ओर पहुँचे और उस चीनी पंडित से मिलने की उत्कण्ठा प्रकट की। सुतरां गुणग्राही हर्ष ने कुमार भाष्कर वर्मन[1] को उसे भेज देने के लिये लिखा। कुमार को स्वयं उसका धार्मिक सतसंग प्रिय हो गया था अतः अस्वीकृति प्रकट करते हुए उसने उत्तर में अतिथि की जगह अपना शिर तक भेंट करना स्वीकार लिख दिया जिसपर हर्ष ने तुरन्त शिर की भेंट माँग दी। इस उत्तर प्रत्युत्तर में हठ और द्वेष की इतनी मात्रा नहीं समझना चाहिये जितनी अतिथि-भक्ति और प्रेम की। निदान हर्ष की यूआन च्वांग से भेंट हुई। सुशिक्षित होने के साथ ही युआन प्रिय भाषी भी था। इसके अतिरिक्त वह बौद्ध धर्म के महा-यान पंथ का एक परम प्रौढ़ स्तम्भ एवं नेता था। यों तो वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म आजन्म से परस्पर विरोधी माने जाते हैं किन्तु महायान पंथ दोनों धर्मों के प्रमुख सिद्धान्तों को लेकर चलता है। इसलिये महायान यद्यपि बौद्ध धर्मज हैं तथा प्राचीन रूढ़ि से इतर हैं। अतएव पहिला लघु अथवा हीनयान पंथ कहा गया और दोनों पंथों में स्पर्धा हो गयी। साथ ही इस नए महायान पंथ से सनातन हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के जन्मज विषद और द्वेष बहुत संकुचित हो जाते थे। यह स्थिति जनता के लिए हितकर थी। प्रजाजनों में आपसी द्वेषभाव मिटाने के विचार से तथा उस नवीन तर्क सिद्ध पंथ को प्रसिद्धि देने के हेतु सम्राट हर्ष ने कन्नौज में एक विराट सम्मेलन की योजना बनाई और देश भर में उसकी घोषणा कर दी। तत्पश्चात् सम्राट ने अपने साम्राज्य की पूर्वी सीमा से (जहाँ वे अब तक दौरे पर थे) राजधानी के लिए प्रस्थान किया। साथ ही समय बचाने के लिये तुरन्त ही राजधानी को लिखित आज्ञा भेज दी कि कन्नौज के पास एक विस्तृत क्षेत्र में सम्मेलन का प्रबन्ध शीघ्र प्रारम्भ कर दिया जाय।

इधर हर्ष राज कर्मचारियों के साथ ससैन्य गंगा के दक्षिण तट से और भास्कर वर्मन उत्तर तट के मार्ग से कन्नौज को रवाना हुए। हर्ष के साथ यूआन च्वांग भी था। तीन माह की यात्रा कर यह दल बसंत ऋतु में कन्नौज पहुँचा। उधर रंगभूमि में सब सजावट हो चुकी थी। मध्य में एक विशाल बहुमूल्य धौरहरा मीनार बनाया गया जो १०० फुट ऊँचा था। उसमें दो हाथ ऊँची

---

१. भाष्करवर्मन ने सन् ६०६-७ के लगभग ही हर्ष की आधीनता स्वीकार कर सन्धि कर ली थी।

बुद्धदेव की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित की गयी। दो बड़े-बड़े पर्णाच्छादित हाल थे जिनमें एक एक में, १००० श्रोता एक साथ बैठ सकते थे। विशाल फाटकों से हाल में प्रविष्ठ होने की सुविधा थी। प्रत्येक फाटक के दोनों ओर एक-एक मीनार थी। इसके अतिरिक्त राज विश्राम संग्रहालय, भोजनालय आदि, के सब राज बन चुके थें। हर्ष के पहुँचने से पहिले ही आमंत्रित जन समूह उनके स्वागतार्थ एकत्रित हो चुका था। इस उत्सव में भाग लेने को १८ राजा और २०० रजवाड़ों के प्रधानमंत्री थे। इनके अतिरिक्त ३००० हीनयानी विद्वान् और उसी भाँति ब्राह्मण और निरग्रन्थी तथा लगभग १००० नालन्दा के प्रोहित थे।

नियत तिथि पर बुद्धदेव की सवारी राजकुटी से निकाली गयी। एक सुसज्जित हाथी पर स्वर्णबुद्ध–प्रतिमा थी जिसके पार्श्व में स्वयं महाराज हर्ष शक्र वेष में चंवर डुलाते थे और भाष्कर ब्रह्मारूप में छत्र धारण किये थे। इस देवयान के आगे पीछे १०० हाथियों पर संगीत और नाद होता जा रहा था। पार्श्ववर्ती राजाओं के दो-दो हाथी अम्बारी से सजे हुए उनके साथ थे जिनमें रत्न और पुष्प भरे हुए थे। यूआन च्वांग प्रधान राज कर्मचारियों के सहित एक हाथी पर साथ था। इसके पश्चात् अभ्यागत राजाओं, राजमंत्रियों, प्रोहितों की सवारी के ३००० हाथी इधर-उधर दोहरी कतार में चल रहे थे। इनके अतिरिक्त ५०० रण मतंगों का युद्ध साज से प्रस्थान करता था।

इस कीर्तन के मार्ग में सम्राट माणिक, मुक्ता, सोना, चाँदी और अन्य बहुमूल्य वस्तुयें बुद्धदेव, धर्म और संघ के नाम पर चारों ओर सहर्ष निवछावर करता जाता था। ठिकाने पर पहुँच कर महाराज ने बुद्ध प्रतिमा को स्वयं अभिषेक कराकर अपने कन्धे पर रखा और पश्चिमी घोरहरे पर ले जाकर बहुमूल्य रत्न जटित रेशमी जरी के वस्त्रों से सजाया।

इस प्रकार बुद्ध स्थापना हो जाने पर जिज्ञासुओं और अभ्यागतों ने पर्णभवन में प्रवेश किया। नास्तिक तथा धर्म निरपेक्ष (secular) दर्शक फाटक के बाहर रहे। फिर सबका भोजन सत्कार किया गया। बाद में महाराज ने यूआन च्वांग को बुलाकर आसन दिया। यूआन ने महायान पंथ के सिद्धान्तों पर वक्तव्य दिया। तदनन्तर उसने एक सिद्धान्त को पट्ट पर लिखवा कर फाटक पर टंगवा दिया। उसमें यह घोषणा थी कि यदि कोई व्यक्ति उस लेख में कोई त्रुटि तर्कसिद्ध कर दे या विरोधी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दे तो यूआन अपने विरोधी के कहने पर अपना शिर तक दे देगा। प्रतिवाद करने का बीड़ा किसी ने नहीं उठाया। वह दिन यूआन की आध्यात्मिक विजय का रहा।

दूसरे दिन फिर उसी प्रकार बुद्धदेव की सवारी निकाली गयी और सब पूर्व कृत्य दोहराए गए। पाँच दिन ऐसे ही बीते। यूआन के पांडित्य के कारण

अथवा उसका सम्राट के आश्रित होने के कारण किसी ने भी उससे शास्त्रार्थ करने का साहस न किया। हीनयानी अप्रतिष्ठा और ग्लानि से कुण्ठित थे। संभवत: उन्होंने यूआन के वध का गुप्त विचार किया जो सम्राट को मालूम हो गया जिसपर राज घोषणा निकाली गयी कि यदि कोई व्यक्ति यूआन को किसी प्रकार की क्षति पहूँचायेगा तो उसे तुरन्त प्राण दण्ड दिया जायेगा और यदि उनकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध कुछ कहेगा तो निन्दक की जिह्वा कटवा दी जावेगी, किन्तु शिक्षा के जिज्ञासु को किसी प्रकार का भय न होना चाहिए। फलत: सब षड्यन्त्री-बितर वितर हो गये।

अट्ठारह दिन के बाद उस अपूर्व उत्सव की समाप्ति हो गयो। विजय यूआन च्वांग की रही।

यूआन च्वांग की जीवनी में इस उत्सव का शान्तिपूर्वक समाप्त होना लिखा है किन्तु एक अन्य चीनी लेख में अन्तिम दिवस में एक भारी घटना का कथन है जिससे भासित होता है कि कुण्ठित हीनयानी यूआन की हत्या करने के संकल्प में दृढ़ रहे। उस षड्यन्त्र में कुछ ब्राह्मणों का भी सहयोग था। पहले तो फाटक पर के बहुमूल्य धौरहरा में अग्निबाणों से आग लगा दी गयी। कहते हैं कि महाराज हर्ष की ईश्वर प्रेरणा से वह अग्निकाण्ड स्वत: ठंडा हो गया। फिर जब हर्ष अन्य राजाओं के साथ धौरहरा के ऊपर चढ़ निरीक्षण कर उतरा तब एक हीनयानी छुरा लेकर यकायक सम्राट पर टूट पड़ा जिन्होंने फुर्ती से वार को बचा कर आक्रमणकारी को पकड़ लिया। अनुयायी राजाओं ने उसे उसी समय प्राण दण्ड देने की सम्मति दी किन्तु हर्ष ने उसके सच्ची बात कह देने पर ऐसा नहीं किया। अभियुक्त ने कहा कि हम हीनयानो लोगों की द्वेषाग्नि इस बात पर थी कि बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा बनाई गयी, श्रमण पर सब राजकोष को वितरित कर दिया गया और देश देशान्तर से आए हुए हम लोगों से बात भी न पूछी गयी। इसी लांछन में ५०० पंडित ब्राह्मण भी पकड़े गये जिन्होंने श्रमण की इतनी पूजा अर्चना को द्वेष दृष्टि से देखा और इसीलिए वे हर्ष का हनन चाहते थे। जिन ५०० ब्राह्मणों को सम्राट ने दोषी ठहराया उनका देश निकाला किया, शेष सब मुक्त हो गये।[1]

---

१. स्मिथ साहब इस कथानक को सत्य प्रतीत नहीं करते। उनकी धारणा है कि अभियुक्तों से कहलवा लिया गया था।
["This comfession, no doubt extored by torture, probably was wholly false."—Smith, p. 363.]

यूआन च्वांग के महायान सिद्धान्तों का कोई भी खण्डन न कर सका और उसकी दिग्विजय हुयी । इस पर हर्ष और अन्य राजाओं ने सोने, चाँदी, रत्नादि आदि की बहुमूल्य भेंटें यूआन को दीं किन्तु उसने उन्हें स्वीकार न किया । फिर भी विजय उपलक्ष में यूआन की इच्छा के विरुद्ध ही उस महायान देव अथवा मोक्ष देव की सवारी नगर में निकाली गयी ।

प्रयाग का महामोक्ष परिषद्—कन्नौज से भी अधिक विस्तृत क्षेत्र में त्रिवेनी के मैदान पर यज्ञमण्डप की रचना की गयी । तीर्थराज प्रयाग में पुण्यदान का अधिक महत्त्व है विशेष कर कुम्भी के अवसर पर । कन्नौज के शासकों की परिपाटी थी कि प्रयाग के कुम्भ में जाकर महात्माओं के दर्शन और पूजन करें और अनाथों को दान दें । महाराज हर्ष भी यही करते रहे । अब हर्ष छठी बार तीर्थराज को जा रहे थे । उन्होंने आग्रह पूर्वक यूआन च्वांग को अपने साथ लिया । कन्नौज की समस्त राज मण्डली को भी साथ लिया और बड़े समारोह से प्रयाग पहुँचे । देश भर के महंत, ब्राह्मण, विद्वान, अनाथ आदि आमन्त्रित थे । सबके ठहरने का और अन्य सुविधाओं का प्रबन्ध था । पूजन, चढ़ावा दानादि की सामग्रियों से सैकड़ों पर्णकुटी भरी पड़ी थीं । उनमें मूल्यवान रेशमी और सूती वस्त्रों के अतिरिक्त सोना चाँदी, मोती, माणिक आदि भरे थे । देवताओं के लिए भी स्थान बने थे ।

लगभग पाँच लक्ष प्रमण, अबौद्ध, निरग्रन्थी, अनाथ, आदि एकत्रित थे । विशेष स्थानों पर महाराज और उनके जामात्र ध्रुवभट्ट तथा मित्र राजा कुमारराज (भाष्करवर्मन) के डेरे थे ।

पूर्ववत् राजसी ठाठ से देवताओं की अभ्यर्थना और पूजन प्रारम्भ हुआ । पहले दिन एक नियुक्त मन्दिर में बुद्ध मूर्ति का अभिषेक किया गया और कीमती पहनावे से उसे अलंकृत किया गया । तब पुष्पाञ्जलि हुई और फिर बहुमूल्य वस्त्रों की निवछावरि की गयी । दूसरे दिन आदित्य देव (सूर्य) की अर्चना और तीसरे दिन शिव जी का पूजन किया गया । देव पूजन के उपरान्त विपुल दान दक्षिणाओं का वितरण हुआ । किन्तु बुद्ध देव के उतारे में अर्धांश था और शेष आधे में शिव और सूर्य । चौथे दिन से अभ्यागतों का आतिथ्य, दानादि प्रारम्भ हुआ । दश सहस्र बौद्ध भिक्षुकों को और सन्तों को प्रति व्यक्ति एक शत स्वर्ण मुद्रा, एक मुक्ता, एक जोड़ा कपड़ा तथा व्यंजनादि वितरित हुए ।

बौद्धों और सन्तों के बाद ब्राह्मणों की बारी आई । बराबर बीस दिन उनका सत्कार हुआ । दस दिन अन्य धर्मावलम्बियों का सत्कार किया गया । दस दिन सिद्ध साधु महात्माओं की सेवा सुश्रूषा की गयी । फिर निरन्तर एक

महीने तक अनाथ दीन दुखी जनों को दान दिया गया और यहाँ तक दिया गया कि राज कोष रिक्त हो गया।

अन्त में सम्राट ने अपने शरीर के आभूषण भी, एक छल्ला तक दे दिया, यहाँ तक कि मुकुटमणि भी दान कर दी और राजवस्त्र तक दे डाले। राज्यश्री का उतरा हुआ वस्त्र धारण कर हर्ष ने दशलोक के स्वामी बुद्धदेव की पूजा की। धर्मार्थ में अपने कोष को वितरित कर देने में महाराज को हार्दिक शान्ति मिली। साथ के मांडलिक अधीन राजाओं ने दानपात्रों से राजसी चिह्नों को मोल लेकर फिर सम्राट को भेंट कर दी। फिर भी उस दान वीर विरक्त चरित्र शीलादित्य ने उन सबका पुनः दान कर दिया। सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के मानों हर्ष महाराज अवतार ही हो गये।

उक्त परिषद् के सम्बन्ध में यह भी कहना है कि जिस कुम्भ पर्व पर यह परिषद् सम्पन्न हुआ था वह महाकुम्भ का महायोग था। ऐसा महायोग सदियों बाद पड़ता है, ज्योतिषियों के अनुसार वह महायोग हर्ष के समय के लगभग १३५० वर्ष बाद सन् १९७७ में पड़ा था जिस पावन पर्व पर प्रयाग में स्नान-दान कर विशाल मेला लगा था जो प्रत्येक कुम्भ की भाँति एक माह तक चला था। अपने समय में पड़े उसे महायोग पर्व पर महाराज हर्ष ने सर्व-समर्पण यज्ञ किया था जिसंमें उन्होंने शास्त्रानुसार सर्वस्व दान कर दिया था जैसा कि ऊपर कहा गया है।

उक्त सर्व-समर्पण यज्ञ के अतिरिक्त महाराज हर्ष प्रत्येक कुम्भ तथा अद्र्धकुम्भ के पर्व पर प्रयाग जाकर प्रचुर दान करते थे। कुम्भ पर्व प्रत्येक १२ साल बाद पड़ता हैं तथा अद्र्धकुम्भ प्रत्येक ६ साल बाद। प्रयोग और हरद्वार में इन पर्वों पर बड़े-बड़े मेले प्राचीन काल से लगते चले आ रहे हैं जो माघ के पूरे माह भर चलते हैं।

कुम्भ पर्व की तिथियां तथा पौराणिक कथा—ज्योतिष की दृष्टि से पूर्ण कुम्भ पर्व का विशेष महत्त्व हैं। जब वृहस्पति मेष राषि पर और सूर्य तथा चन्द्रमा मकर राशि पर होते हैं तथा उस नक्षत्र योग में पूर्ण कुम्भ लगता है। प्रत्येक वर्ष माघ के महीने में सूर्य तथा चन्द्रमा मकर राशि में होते हैं किन्तु वृहस्पति का मेष राशि पर आने का योग १२ वर्ष में एक बार ही आता है और इसी पूर्ण कुम्भ पर प्रयाग का विशेष महत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रहों के विशेष योग लम्बे-लम्बे अरसों के बाद आते हैं—१५०-२०० वर्षों बाद तथा १३००-१४०० वर्षों बाद। सन् १९७७ का प्रयाग का महाकुम्भ उस महायोग में पड़ा था कि जिसमें नक्षत्रों का योग वही था जो हर्ष के यज्ञ के समय था।

उक्त दोनों कुम्भों के लगभग १३५० वर्ष के अन्तराल में वैसा योग कभी नहीं पड़ा।

कुम्भ पर्व की उत्पत्ति का विवरण स्कन्द पुराण में निम्न प्रकार है :—जब देवों और दानवों ने अमृत प्राप्ति के लिए समुद्रमन्थन किया तब अमृत कुम्भ (घड़ा) हाथों में लिए वैद्यवर धन्वन्तरि समुद्र से प्रकट हुए। अमृत कुम्भ को पाने के लिए देवों और दानवों में विवाद होने लगा। अन्ततः वह कुम्भ इन्द्र के पुत्र जयन्त को सौंपा गया किन्तु जब तक आगे की कार्यवाही प्रारम्भ हो जयन्त देवताओं का संकेत पाकर घड़ा लेकर भागा तथा सूर्य, चन्द्र, वृहस्पति और शनि घड़े की रक्षा के लिए जयन्त के साथ हो लिए। दानवों ने उनका पीछा किया। जयन्त को चार स्थानों पर अमृत कुम्भ रखना पड़ा—प्रयाग, उज्जैन, नासिक और हरिद्वार। उन्हीं स्थानों पर अमृत की कुछ बूँदें गिरने से वहाँ कुम्भ पर्व मनाया गया। जिस समय जिस योग में कुम्भ इन स्थानों पर रखा गया उसी योग में वहाँ कुम्भ पर्व माने गए। इस प्रकार बारी-बारी से प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक १२ वर्ष बाद कुम्भ पर्व पड़ता है, अर्थात् चारों जगह कुम्भ साथ-साथ नहीं पड़ता है। अर्द्धकुम्भ भी इसी प्रकार बारी-बारो से हर छठवें वर्ष प्रत्येक स्थान पर पड़ता है।

सम्राट हर्षवर्धन हर कुम्भ तथा अर्द्धकुम्भ के पर्व पर प्रयाग में त्रिवेणी संगम पर जाकर स्नान, दान, यज्ञ आदि का यथाविधि सम्पादन करते रहे तथा धार्मिक समारोह मोक्ष परिषद् आदि भी। उसी प्रकार की परम्परा अब तक चली आ रही है। चीनी यात्री हुएन सांग ने अपनी स्मरण यात्रा में प्रयाग के कुम्भ और हर्षवर्धन द्वारा सम्पादित धार्मिक सम्मेलन का सजीव वर्णन किया है जिसका कुछ अंश ऊपर दिया जा चुका है।

सम्राट हर्ष किस धर्म के अनुयायी थे ?—इतिहासज्ञों के लिए यह एक मुख्य प्रश्न हो गया है। बौद्धों का इतना प्रोत्साहन, इतना सम्मान, जैसा कि बौद्ध धर्मावलम्बी चीनी लेखों में पाया जाता है इससे आम धारणा हो गयी कि हर्ष वास्तव में बौद्ध थे। कुछ का यहाँ तक मत है कि वह आजन्म बौद्ध धर्मानुयायी थे और उनके अधीन देश का मुख्य धर्म बौद्ध था। उक्त चीनी लेख इन सब बातों का आधार है। यूआन च्वांग बौद्ध था, उसने देश में जैसा कुछ अपने धर्म का प्रसार और प्रभाव देखा उसी का विशेष उल्लेख किया—यही उसका ध्येय था। अन्य धर्मों का कथन उपेक्षित भाव में आ जाने से उनका वर्णन अपूर्ण है। अतएव ऐसे अधूरे कथन से कोई निष्कर्ष निकालना अप्रमाणित होगा। यही भ्रम का कारण है।

जन्म से हर्ष वैदिक सनातनी थे और रहे। उनके वंश के आदि पुरुष महाराज पुण्यमूर्ति शैव थे। हर्ष के पिता, पितामह तथा प्रपितामह सूर्योपासक थे। महाराज प्रभाकर वर्धन नित्यप्रति अरुणोदय काल में मणिमय थाल में लाल कमल भर कर अनुरक्त हृदय से परिक्रमा कर पूर्वाभिमुख प्रणम्य हो सवितादेव (सूर्य) का केसर से पूजन करते थे। शासक होने पर स्वयं हर्ष ने सूर्य के नाम पर ही 'शीलादित्य' की उपाधि धारण की। वह शंकर महादेव के परम भक्त थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। परम माहेश्वर[1] की उपाधि उनकी शिवोपासना की साक्षी है।

शंकर जी हर्ष के इष्टदेव थे यह इससे भी सिद्ध होता है (जैसा कि बाण ने हर्षचरित में लिखा है) कि जब उन्होंने संग्राम के लिए प्रस्थान किया तो पहले 'नील लोहित' का पूजन का ब्राह्मणों को थालों भर-भर कर रत्नादि का दान किया। इतना ही नहीं वरन् जिस किसी को वह सच्चा शैव पाते थे उस पर हृदय से प्रसन्न होते थे। राजा कुमार राज (भाष्कर वर्मन) पर वह इसी बात पर प्रसन्न थे कि वह कहता था कि शंकर जी को छोड़कर वह (कुमार राज) किसकी शरण जाए।[2] हर्ष की राजमुहर पर भी शिव वाहन नन्दी की मूर्ति पाई गयी है।

यदि कहा जाए कि यूआन च्वांग से हर्ष ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली तब से अपना धर्म छोड़ बौद्धमत ग्रहण किया, यह कथन भी किसी प्रकार सत्य प्रतीत नहीं होता। यूआन कन्नौज से महामोक्ष परिषद् प्रयाग में सम्मिलित हो अपने देश को प्रस्थान कर जाता है। इस अन्तिम समय का वर्णन, जो यूआन का वर्णन है, ऊपर दिया जा चुका है, जिसके अनुसार प्रयाग में सूर्य और शंकर को पूजन हर्ष ने अपनी कौटुम्बिक प्रथा के अनुकूल राजसी भाव से किया। तीर्थराज में जाना और साक्षर ब्राह्मणों को विपुल दान देना--ये बातें स्वयं इस मत का खण्डन करती हैं कि हर्ष ने कभी अपना धर्म परिवर्तन किया। वरन् असंदिग्ध रूप से सिद्ध करती हैं कि महाराज वैदिक सनातनी रहे।

हर्ष की धार्मिक कथा इतने से ही समाप्त नहीं होती। अब भी यह कहा जा सकता है कि किसी कारण विशेष से हर्ष ने राज्यघोषित धर्म में विक्षेप करना उचित न समझा हो किन्तु वह वास्तव में स्वयं बौद्ध धर्मानुयायी हो गये थे। यह भी कि यूआन च्वांग का पूरा प्रभाव उनके धार्मिक विचारों पर पड़ा क्योंकि यदि ऐसा न था तो निम्न बातों का क्या निष्कर्ष :—

---

१. बाँसखेड़ा (जिला शाहजहाँपुर) और मधुवन (जिला आजमगढ़) के लेखों में यह उपाधि लिखी है। उन लेखों से सम्बन्धित दानपत्र वेदज्ञ ब्राह्मणों को सन् ६२८ ई० और ६३१ ई० में दिये गये थे।

२. हरात्रिते कमन्यम् नमस्यांत सर्वधिता में प्रीतिः अमुना संकल्पेन'—

(१) यूआन च्वांग का अत्यधिक सम्मान और 'मोक्ष देव' का पद।
(२) विपक्षियों को दण्ड,
(३) पाँच सौ सुपठित ब्राह्मणों को देश निकाला,
(४) प्रयोग के महामोक्ष परिषद् में भी बुद्ध देव की प्रधानता,
(५) नैत्यिक निष्ठा में भी बौद्धों का आधिक्य, जहाँ राज भण्डार से नित्य ५०० ब्राह्मण भोजन पाते थे वहाँ १००० बौद्ध भिक्षुक उनके साथ,
(६) जिस कन्नौज में २०० वर्ष पूर्व केवल दो साधारण बौद्ध मन्दिर थे[1] वहाँ हर्ष के समय में १०० उन्नतिशील बौद्ध भवन (monastries) यूआन च्वांग के अनुसार थे।
(७) जिस शासक ने हठपूर्वक दूसरे राजाओं से बौद्ध विद्वानों को लिया अथवा बौद्ध चिह्नों को लाकर अपने संग्रहालय में रखा—कहा जाता है कि बुद्ध का एक दाँत कश्मीर के राजा के यहाँ था जिसे हर्ष बलात् अपने यहाँ लाए और कन्नौज के संघाराम में स्थापित किया,
(८) प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र सारनाथ (जहाँ गौतम बुद्ध ने आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया था) को सम्राट हर्ष का साहाय्य प्राप्त था। (बाद के कन्नौज के शासकों ने भी सारनाथ का संरक्षण किया जिसका उल्लेख सम्बन्धित अध्यायों में किया जायगा)।

ऐसे व्यक्ति के लिए कैसे कहा जा सकता है कि वह बौद्ध धर्म का पक्का शिष्य न था। अर्थात् यदि हर्ष बौद्ध धर्मावलम्बी न होता तो उक्त बातों को कभी न करता।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हर्ष उदार चरित महापुरुष थे, किसी बात में भी संकीर्ण हृदय न था। उसी भाव में हम उन्हें धार्मिक क्षेत्र में पाते हैं। यूआन की मैत्री से पूर्व भी हर्ष में बौद्ध धर्म के प्रति कोई घृणा अथवा विरोध नहीं मिलेगा वरन् धार्मिक सद्भाव से बहुत सी उक्त बातें उन्होंने पहिले ही की थीं।

शीलभद्र[2] संघाराम का अधिष्ठाता था। वह यूआन का गुरु था। कन्नौज में यूआन ने स्वयं उससे पढ़ा था। यूआन शीलभद्र को बौद्ध धर्म का पारदर्शी मानता था। इसके अतिरिक्त और भी धुरंधर विद्वान उक्त संस्था में यूआन से पहले नियुक्त थे। इससे स्पष्ट है कि यूआन के प्रभाव से ही कोई मतान्तर

---

१. चीनी बौद्ध यात्री फाहियान के समय में, वह भारत में ४०१ से ४१० ई० तक रहा। उसी ने बौद्ध मन्दिरों की संख्या २ बताई है।
२. नालन्दा विश्वविद्यालय का कुलपति।

हर्ष के हृदय में उत्पन्न नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त जिन कन्नौज और प्रयाग के महोत्सवों का वर्णन हो चुका है और जिनके लिए यह समझा जाता है कि यूआन से प्रभावित हो हर्ष ने किए थे, ऐसे त्रिसप्ताहिक उत्सव महाराज प्रतिवर्ष किया करते थे। उनमें सब कहीं की बौद्ध विद्वद् मण्डली आमंत्रित होती थी और सिद्धान्तों पर वाद-विवाद हुआ करता था। जो दक्ष निकलते थे उनको हर्ष द्वारा उच्च आसन दिया जाता था और पारितोषिक भी। साधारण सच्चे अनुयायियों को सामान्य रूप से पुरस्कृत किया जाता था और जो पाखण्डी पाए जाते थे उनको सम्राट दृष्टि ओट कर देश से निकाल देते थे।

हर्ष ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया नहीं और न उनके शासन का राज्य धर्म बौद्ध था। फिर भी वे बौद्ध सम्बन्धी उक्त बातें किया करते थे इसका रहस्य क्या था? इसका उत्तर यह है कि हर्ष का व्यक्तित्व ही रहस्यमय था। उनका व्यक्तित्व राज्यश्री के व्यक्तित्व में गुह्य था। राज्यश्री ही वास्तव में हर्ष के मुकुट किरीट की राज्यश्री थी। पतिहीना सहोदरी का कितना भार उन पर था हर्ष इतना प्रभुत्व पाकर भी कभी न भूले। यही उनकी असाधारण महानता थी। पहले आ चुका है कि विरह विह्वला बहन को परम यात्रा की पूरी तैयारी कर लेने के ऐन वक्त हर्ष वहाँ पहुँच गये थे। वह बौद्ध भिक्षुओं के आश्रित हो चुकी थी, न वह न उसकी सहचरियाँ पुनः उसकी राज्यश्री देखना चाहती थी। मोक्ष पद की भिक्षुणी सदा के लिए ऐश्वर्य त्याग कर जिस धर्म मार्ग में पदार्पण कर चुकी थी, हृष का यही धर्म था कि उस सद्मार्ग को अपनी बहन के कल्याणार्थ सद्सिद्धान्तों से सुगम बनाता रहे। इसी प्रयत्न में हर्ष आजन्म संलग्न रहे।

उस समय तक बौद्ध धर्म में १८ भेद हो चुके थे। राज्यश्री सम्मतीय सम्प्रदाय की शिष्या थी। एक ही धर्म में कई मतमतान्तर हो जाने से सत्य के खोज की आवश्यकता सहज ही है। इसलिये ऐसे उत्सवों और सम्मेलनों का करना उचित था। यों तो मुख्य सिद्धान्तों में सभी धर्म प्रायः सहमत पाये जायेंगे—जैसे दया, दान, सत्य भाषण, आदि—किन्तु मूल में बौद्ध और सनातन वैदिक धर्म में बहुत बड़ा भेद था। आदि बौद्ध धर्म वेद तथा ईश्वर को नहीं मानता है। वैदिक धर्म से संघर्षण होने का फल यह हुआ कि बौद्ध मत में अनेक सम्प्रदाय हो गये। युआन के महायान पंथ ने दोनों बड़े धर्मों के अन्तर को बहुत कम कर दिया। यही उसका महत्व था और इसीलिए हर्ष उसकी दिग्विजय चाहता था। इससे बहिन-भाई के धार्मिक विचार भी सन्निकट आ गए। यह भी कहा जा सकता है कि देश के मुख्य दो धर्मों का वैमनस्य नष्ट प्राय हुआ। यूआन ने दोनों धर्मों के ग्रन्थों का मन्थन किया था अतः वह अपने विचारों का पुष्ट रूप

से सम्पादन कर सका। इसीलिए वह देश के धार्मिक प्रजा हितैषी अन्य मतावलम्बी राजाओं में भी प्रतिष्ठित हुआ।

महाराज हर्ष ने यूआन च्वांग का जो इतना सत्कार किया—विदाई में मार्ग व्यय दिया, एक राजा[1] को सीमा तक पहुँचाने का आदेश दिया—इसमें राजनीति के साथ हार्दिक प्रीति की भी झलक थी। चीनी सम्राट से हर्ष मैत्री बढ़ा रहे थे, दोनों के राजदूत आते-जाते थे। किन्तु हर्ष स्वभाव से ही सच्चे सनेही थे, अपने चीनी पाहुने के विदा हो जाने के बाद भी हर्ष ने तीन दिन की यात्रा कर मार्ग में फिर एक बार भेंट की। भारतीय पहुनाई का यही आदर्श था।

११. सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा

सामाजिक दशा :—हुयेन सांग ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि हर्षकाल में जाति-पाँति के बन्धन पूर्व समय की तरह ही कठोर हो चुके थे। एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं करते थे। निकट सम्बन्धियों में भी विवाह नहीं होते थे। ब्राह्मण तथा क्षत्री पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। ब्राह्मण सबसे अधिक पवित्र तथा सम्मानित थे और इसीलिए सर्व साधारण में भारत के लिए "ब्राह्मण देश" का प्रयोग होता था। सम्राट ब्राह्मणों का सम्मान करते थे और उन्हें मुक्तहस्त दान देते थे। महाराज स्वयं अपने महल में ५०० ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराते थे।

नैतिक दृष्टि से लोग ऊँचे उठ गए थे। हुयेन सांग के अनुसार लोग सत्यवादी थे और विश्वासघात तथा धोखेबाजी से दूर रहते थे। उनका स्वभाव सरल, मधुर और सहनशील था। अतिथियों का सम्मान करना वे अपना धर्म समझते थे। वर्तमान जीवन की अपेक्षा वे अपने आगामी जीवन के बारे में अधिक चिन्तित रहते थे और इसी कारण पापकर्मों से बहुत डरते थे। सूक्ष्म में वे ईमानदारी से स्वाभाविक और सरल जीवन व्यतीत करते थे।

समाज में स्त्रियों की दशा उन्नतिशील थी। उच्च कुलों की महिलाएँ सुशिक्षित होती थीं और पर्दे की प्रथा नहीं थी। हर्ष की बहिन राज्यश्री ने बिना पर्दा किए हुयेन सांग के उपदेशों को सुना था। वह दरबार में भी उपस्थित होती थी। बाल विवाह प्रथा विद्यमान थी[2] किन्तु विधवा विवाह नहीं होते थे। सती प्रथा पूर्व की भाँति ही चली आ रही थी किन्तु सती होना बाध्य नहीं था

---

१. राजा उदित जो उत्तरापथ में एक भूभाग का शासक था और जो हर्ष के अधीन था।

२. स्वयं राज्यश्री का विवाह लगभग ११-१२ वर्ष की अवस्था में हुआ था।

और आम तौर पर केवल उच्चकुलीन महिलाएँ ही यदा कदा सती होती थीं। स्त्रियाँ नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि कलाओं में प्रवीण होती थीं।

संस्कृत के अध्ययन का प्रचार था और यह भाषा लोकप्रिय थी तथा लिखने एवं बोलने में इसका खूब प्रयोग होता था। ह्युएन सांग ने लिखा है कि कन्नौज नगर तथा उनके आस-पास के क्षेत्रों के लोग विद्या तथा कला प्रिय थे और बातचीत में स्पष्ट तथा कुशल। उनकी भाषा मनोहर तथा रुचिकर होती थी और देवताओं की वाणी के समान थी। उनका उच्चारण शुद्ध और स्पष्ट होता था तथा दूसरों के लिए उदाहरणस्वरूप।[1]

श्री मद्भागवत, बाल्मीक रामायण, व्यासकृत महाभारत आदि धार्मिक ग्रन्थों का बहुत प्रचार था। हर्षचरित और कादम्बरी में महाभारत की कथाओं का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है जिससे जान पड़ता है कि महाभारत ग्रन्थ लोकप्रिय था। इसके अतिरिक्त अनेक साहित्य के ग्रन्थ नाटक, आख्यायिकाएँ इत्यादि भी पढ़ी जाती थीं। कालिदास के ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुके थे। किरातार्जुनीय के रचयिता महाकवि भारवि सम्भवतः हर्षकालीन ही थे।

श्रोतिय ब्राह्मण वेद-शास्त्रों में पारंगत होते थे। उनका जीवन पवित्र तथा सरल था तथा उनके विचार उच्च थे। परन्तु ब्राह्मण निर्लोभा नहीं थे। स्वयं हर्ष ने एक स्थान पर लिखा है कि निरभिमानी तथा लोभरहित ब्राह्मण दुष्प्राप्य हैं। ब्राह्मण धनोपार्जन भी करते थे। वे शासन के उच्च पदों पर नियुक्त थे। उनके नाम के पीछे शर्मा भी लगा रहता था और कभी-कभी भट्ट शब्द भी जोड़ दिया जाता था।

ह्युएन सांग क्षत्रियों की प्रशंसा करता है। ब्राह्मणों की तरह वे भी निर्दोष, सीधे-सादे, पवित्र एवं सरल जीवन बिताते थे। वस्तुतः हर्ष के समय में प्रधान राजवंश क्षत्रिय नहीं थे। समाज में वैश्यों का भी अधिक प्रभाव था। राज्य को अर्थशक्ति उन्हीं के हाथ में थी। वे वस्तुओं का विनिमय करते और लाभ के लिए निकट तथा दूरवर्ती देशों में व्यापार के लिए जाते थे।

सादे तथा वगैर सिले कपड़े पहनने की आम रिवाज थी, स्त्रियों के कुछ वस्त्र अवश्य सिले हुए होते थे किन्तु पुरुष अधिकतर कमर से बगल तक का भाग एक लम्बे वस्त्र से ढँकते थे और दाहिना कन्धा खुला रखते थे। धोती भी पहनी जाती थी। स्त्रियाँ अपने शरीर को लम्बी पोशाक से ढँक लेती थीं।

स्वयं सम्राट के पहनने के दो ही कपड़े होते थे—एक तो धोती तथा दूसरा

---

१. Watters, I, p. 153; Beal, I, p. 77.

वस्त्र उत्तरीय था। जब हर्ष ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया तब उसके शरीर पर एक ही तरह के दो दुकूल थे जिनमें सफेद हंसों के जोड़े चित्रित थे।

अभिजात वंश के मनुष्य साफे का व्यवहार भी करते थे। राजा लोग सिर पर श्वेत फूलों की माला धारण करते थे—यह उनका राजचिह्न समझा जाता था। कुलीन व्यक्तियों के सिर पर छाते से छाया की जाती थी जिन पर बहुमूल्य रत्न जड़े रहते थे।

आभूषणों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था तथा स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते थे। हार, अँगूठी इत्यादि अधिक मात्रा में प्रचलित थे। स्त्रियाँ मोरपंख की मालाओं का भी प्रयोग करती थीं। बालों और मूँछों को विभिन्न ढंगों से संवार कर रखा जाता था। जूतों का प्रयोग कम था, नंगे पाँव चलने में तौहीन नहीं समझी जाती थी। आम तौर पर खड़ाउओं का प्रयोग होता था।

आम तौर पर लोगों का भोजन शाकाहारी होता था जिसमें रोटी, चावल, दूध, दही, छाछ, मक्खन, घी, सब्जी, फल आदि सम्मिलित थे। अधिकांश लोग लहसुन और प्याज का भी प्रयोग नहीं करते थे। कुछ लोग मांस भी खाते थे किन्तु ब्राह्मण और वैश्य इससे परे थे। मादक द्रव्यों का भी प्रयोग होता था।

लोग स्वच्छता-प्रेमी थे। भोजन के पहले सदा स्नान किया करते थे। एक व्यक्ति का बचा हुआ जूठा भोजन दूसरे को नहीं दिया जाता था बल्कि उसे पशुओं और पक्षियों को दे दिया जाता था। जूठे बर्तन यदि वे सोने, चाँदी, फूल, पीतल आदि धातुओं के होते थे तो प्रयोग के पश्चात् खूब साफ किए जाते थे। मिट्टी के बर्तन दुबारा काम में नहीं लाए जाते थे।

मनोविनोद के अनेक साधन थे। चैत्रमास की पूर्णिमा को वसन्तोत्सव मनाया जाता था। नागानन्द (हर्ष विरचित) नाटक में इन्द्र के उत्सव का उल्लेख है। इन उत्सवों पर नाटकों का अभिनय होता था। रंगशाला, संगीतशाला तथा चित्रशाला का उल्लेख नाटकों में बराबर मिलता है।

शतरंज तथा चौसर के खेल बहुत लोकप्रिय थे। देहातों में भी बाजीगर अपने कौतुक दिखा कर लोगों को प्रसन्न करते थे। बाजार की सड़कों पर चित्र के द्वारा परलोक का हाल बताया जाता था। राजपुत्र शारीरिक व्यायाम में निपुण होते थे।

समृद्ध लोगों के मकान ईंटों के बनते थे और कई मंजिल के होते थे। छत धन्नियों से पाटी जाती थी और उन पर चूना और गिट्टी कूट कर मजबूत बनाया जाता था। छप्पर वाले मकान ईंटों और तख्तों के बने होते थे। फर्श

गोबर से लीपा जाता था और उस पर फूल बिछाए जाते थे। साधारण लोगों के मकान बाहर से सादे परन्तु अन्दर से बहुत सुन्दर तथा सजे हुए होते थे। नगर चौड़ी तथा ऊँची रक्षा-प्राचीरों से घिरे होते थे। सामान्यतः सड़कें संकीर्ण तथा टेढ़ी-मेंढ़ी होती थीं। दुकानें मुख्य मार्गों पर स्थित थी। सड़कों के किनारे विश्राम-शालाएँ थीं।

विवाह का उत्सव बड़ी धूम-धाम से होता था। बरात सज कर वधू के घर जाती थी और दुलहा को हाथो पर सवार कराया जाता था। विवाह निश्चित लग्न पर होता था जिसका टालना आपत्तिजनक समझा जाता था।

आर्थिक दशा :—लोगों का आर्थिक स्तर ऊँचा था। साम्राज्य धन-धान्य से परिपूर्ण था। विभिन्न प्रकार के उद्योग धंधों से लोग समुचित धन प्राप्त कर लेते थे इसलिए देश में गरीबी न थी। ऊनी, सूती, रेशमी वस्त्र बनाने में बहुत लोग लगे रहते थे, इसी प्रकार धातु और मिट्टी की वस्तुएँ बनाने में शिल्पी-संघ[1] आर्थिक उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान देते थे। राज्य में कन्नौज के समान अनेकों बड़े-बड़े नगर थे। प्रति पाँचवें वर्ष राजकोष का समस्त धन वितरित किये जाने के बावजूद राजकोष कभी खाली नहीं होता था। इससे स्पष्ट है कि हर्ष कालीन समाज काफी उन्नत दशा में था।

धार्मिक अवस्था—धार्मिक क्षेत्र में हर्ष की नीति सहिष्णु थी। वह सभी धर्मों का आदर करता था यद्यपि बौद्ध मत की ओर वह विशेष रूप से आकर्षित हुआ था जो हुयेन सांग से सम्पर्क होने का फल था। उसके राज्य में विभिन्न धर्मों के मतानुयायियों को अपने-अपने धर्म के प्रचार के लिए छूट थी। गुप्तकाल में वैदिक धर्म की विशेष उन्नति हुई थी और वहीं हर्षकाल में आकर अधिक दृढ़ हो गई। हिन्दू धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था तथा कर्मकांडों का विशेष महत्व था। धार्मिक भावना के कारण लोग तरह-तरह के वेश बनाते थे। हुयेन सांग के अनुसार कुछ लोग मोरपुच्छ धारण करते थे, कुछ मुण्डमाल द्वारा अपने को अलंकृत करते थे, कुछ बिल्कुल नंगे रहते थे, कुछ शरीर को घास-फूस से ढके रहते थे, कुछ सिर के बालों से जटा बनाते थे, कुछ सिर पर वृत्ताकार चोटी रखते थे। भूत, कापालिकों आदि को महत्व दिया जाने लगा था।

हर्ष काल में शैव-सम्प्रदाय उन्नत दशा में था। घर-घर में शिव की पूजा होती थी। सम्राट हर्ष स्वयं शिव का उपासक था तथा कुछ अन्य राजा भी। बाराणसी शैव धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था जहाँ की १०० फुट ऊँची शिवमूर्ति का हुयेन सांग ने वर्णन किया है। शिव के उग्ररूप के उपासकों का एक अलग

---

१. उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए संगठित थे।

सम्प्रदाय था जिन्हें कापालिक कहा जाता था। यह लोग गले में हड्डियों की माला पहनते थे और पहाड़ों की गुफाओं में रहते थे। विष्णु का स्थान शिव के बाद आता था किन्तु विष्णु का महत्व कम न था। श्रीमद्भागवत का प्रचार विशेष रूप से था तथा कृष्ण की लीलाओं का गुणगान लोग व्यापक मात्रा में करते थे।

सूर्य पूजा भी प्रचलित थी। हर्षवर्धन भी अपने जीवन के अन्त तक शिव, सूर्य और महात्मा बुद्ध का भक्त रहा। बाण ने उज्जैन के लोगों को सूर्य उपासक बताया है। हुयेन सांग ने मूलस्थान-पुर में एक प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर का उल्लेख किया है जिसमें मूर्ति सोने की थी तथा बहुमूल्य पदार्थों से युक्त थी। रोगियों और गरीबों के लिए मंदिर में शर्बत और औषधि का प्रबन्ध था। विभिन्न देशों से लगभग १,००० यात्री प्रतिदिन इस मन्दिर में पूजा तथा दवा के लिए आते थे।

शक्ति-पूजा, यज्ञ आदि—उपयुक्त देवताओं के अतिरिक्त देवियों की भी पूजा होती थी। देवियों में चन्द्रिका, दुर्गा और मातृ का विशेष स्थान था। देवी-देवताओं की पूजा के साथ-साथ वैदिक यज्ञों का भी प्रचलन था जिनका उल्लेख हर्ष चरित में है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं हर्ष को इनमें विशेष रुचि न थी। गंगा स्नान और दान की ओर लोगों की बड़ी अभिरुचि थी। प्रयाग, हरिद्वार, वाराणसी उज्जैन और कुरुक्षेत्र की गिनती प्रसिद्ध तीर्थों में थी।

बौद्ध धर्म—हर्ष काल में बौद्धधर्म अवनति पर था फिर भी यह भारत का मुख्य धर्म था। हुयेन सांग ने लगभग ५,००० बौद्ध बिहारों का दर्शन किया था। कन्नौज में बौद्ध धर्म की स्थिति हर्ष के प्रोत्साहन के कारण सुधर गई थी किन्तु यह हर्ष के उत्तरार्ध जीवन काल में हुई जब कि हर्ष हुयेन सांग के संसर्ग में आया। अनेक स्थानों पर हिन्दू और बौद्ध धर्म साथ-साथ प्रचलित थे। बौद्ध धर्म के पतन का कारण बौद्ध भिक्षुओं की विलासिता थी। दूसरे यह कि हिन्दू और बौद्ध धर्म इतने निकट आ गए थे कि साधारण लोग दोनों में अन्तर को समझ नहीं पाते थे और हिन्दू धर्म की उन्नति के फलस्वरूप उसी की विचार-धारा में बह जाते थे। बौद्ध धर्म दो प्रधान भागों में बँट गया था—हीनयान तथा महायान। जो बोधिसत्वों की पूजा और महायान सूत्रों का पाठ करते थे वह महायानी कहे जाते थे और जो ऐसा नहीं करते थे वे ही नयानी। हर्ष युग में हीनयान की अपेक्षा महायान अधिक प्रचलित था किन्तु प्रारम्भ में स्वयं हर्ष हीनयान शाखा के उन्नायक थे। बाद में हुयेन सांग के प्रभाव से वे महायान शाखा पर आस्था करने लगे थे। उसी प्रभाव के फलस्वरूप हर्ष ने, श्लोक तथा

तथा कनिष्क की भाँति, बौद्ध धर्म का संरक्षण किया और उसके प्रचार के लिए विभिन्न कार्य किए। प्रथम यह कि एक आदेश द्वारा साम्राज्य में पशु-वध का निषेध किया तथा मांस-भक्षण पर नियंत्रण लगाए। दूसरे, उसने भिक्षुओं के लिए पुराने मठों की मरम्मत करवाई और अनेकों नए मठ तथा स्तूप बनवाए। तीसरे, उसने बौद्ध भिक्षुओं को राजकोष से उदारतापूर्ण अनुदान दिए। चौथे, उसने बौद्ध भिक्षुओं की एक सभा प्रतिवर्ष बुलानी आरम्भ की जिसमें अच्छे भिक्षुओं को इनाम तथा दोषयुक्त भिक्षुओं को दण्ड दिए जाते थे। हर्ष की धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप विभिन्न धर्म के भिक्षुओं का सम्मिलन हुआ। ब्राह्मण भिक्षु, बौद्ध भिक्षु और जैन साधु सब एक ही साथ घूमते थे। संसार से विरक्त यह भिक्षु अपने-अपने धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहते थे किन्तु एक ही स्थान पर रहने और एक ही साथ घूमने के कारण इनका एक अलग सम्प्रदाय बन गया था।

जैनधर्म—हर्ष के समय यह धर्म उत्तरी भारत के कुछ स्थानों में प्रचलित था तथा वह श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदायों में विभाजित हो चुका था। बाण के अनुसार हर्ष के दर्शकों में बहुत से जैन क्षपणक थे। हुयेन सांग का कथन है कि जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म अधिक अवनति पर था। आगे चल कर जैन धर्म भी दक्षिण भारत में प्रचलित हुआ। चालुक्य नृप पुलकेशिन द्वितीय ने इस धर्म को आश्रय दिया था।

१२. हर्षयुगीन कला

यद्यपि भारतीय कला के विकास में हर्षकालीन कला का कोई पृथक स्थान नहीं है तथा वह गुप्त युग की कला से ही सम्बन्धित है तथापि उस कला की परम्परा हर्षयुग में भी प्रवर्तित होती रही। फलस्वरूप वास्तुकला के क्षेत्र में अनेकों चैत्यों, बिहारों, मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। हर्ष के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि वास्तुविद्या में विश्वकर्मा की तरह सर्वज्ञ एवं कुशल सूत्रधार वीरभद्र के पुत्र चंडशिव ने मंडपसहित एक सुन्दर शिवमन्दिर का निर्माण किया था[1]। इस संदर्भ में सिरपुर (जि० रायपुर, बिहार) का लक्ष्मण मन्दिर उल्लेखनीय है। आगे चल कर ९वीं सदी में इसका पुनर्निर्माण हुआ। इसी प्रकार अदरभुआ (जि० शाहाबाद,) नामक स्थान के निकट मुंडेश्वरी देवी का अष्टकोण मंदिर भी हर्ष के समय में ही निर्मित हुआ।[2]

हूणों द्वारा विध्वस्त वैदिकधर्म तथा हिन्दू संस्कृति की पुर्नस्थापना में हर्ष का

---

१. एपि० इं० भाग १, पृ० १२३।

२. कुमारस्वामी, इण्डियन ऐंड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० ९३-४।

महत्वपूर्ण योगदान रहा जिसके फलस्वरूप उक्त मन्दिरों तथा अन्य मन्दिरों आदि का निर्माण हुआ और भव्य मूर्तियों का सृजन हुआ। हर्षचरित में बाण ने महानगरी उज्जयिनी आदि के वैभव का वर्णन करते हुए बताया है कि वहाँ के राजपथों और गगनचुम्बी महलों के निर्माण को निपुण स्थपतियों द्वारा शास्त्रविधि से निर्मित हुआ बताया है। इसके अतिरिक्त कन्नौज, वलभी, वाराणसी, कांची और वातापीपुर के प्रसिद्ध नगरों, मठों तथा मन्दिरों के निर्माण में हर्षयुगीन स्थापत्य का भव्य रूप प्रकाश में आया। नालन्दा के निर्माण में भी हर्ष का महत्वपूर्ण योगदान रहा जिसका उल्लेख हुयेन सांग ने किया है। अन्य निर्माण-कार्यों के अतिरिक्त हर्ष ने कई मठों को बनवाया इनमें से एक मठ पीतल की चादरों से आच्छादित था जिसका पता सन् १९२० के लगभग लगा।[1]

हर्षयुगीन कलाकारों का परम्परागत कला के विकास में कितना अंशदान रहा इसका स्पष्ट पता नहीं चलता किन्तु यह सम्भव जान पड़ता है कि परम्परागत बौद्ध शैली के कलाकारों को हर्ष के शासन से प्रोत्साहन अवश्य प्राप्त हुआ होगा क्योंकि अपने उत्तरार्ध जीवन काल में हर्ष बौद्ध मत का प्रशंसक तथा समर्थक हो गया था।

यह भी अनुमान लगाया जाता है कि हर्ष ने नाट्यशालाओं तथा संगीतशालाओं का भी निर्माण कराया क्योंकि वह स्वयं नाटककार और संगीतप्रेमी था तथा नाटकों के अभिनय कराने में विशेष रुचि रखता था। उसकी दो नाटिकाएं (रत्नावली और प्रियदर्शिका) रंगभूमी दृष्टि से ख्याति भी प्राप्त कर चुकी थीं।

हुयेन सांग ने बौद्ध मठों की निर्माणकला की बहुत सराहना की है। उसके अनुसार प्रत्येक मठ के चारों कोनों पर एक-एक बुर्ज होता था और प्रत्येक पंक्ति में तीन ऊँची-ऊँची दीवारों वाली शालाएँ बनाई जाती थीं। भवन के मध्य में एक बहुत लम्बा-चौड़ा ऊँची छत वाला कमरा (hall) होता था। दीवारों, दरवाजों तथा खिड़कियों पर बहुत सुन्दर चित्र बनाए जाते थे। दरवाजे पूर्व की ओर खुलते थे।

इस प्रकार हर्षयुगीन स्थापत्य तथा मूर्तिकला का विकास मन्दिरों, मठों आदि के रूप में होता रहा। लकड़ी तथा बांस के मठ-मन्दिर बनाने की कला का विशेष रूप से उत्थान हुआ किन्तु कालग्रसित हो जाने से उनका कोई चिह्न शेष न रहा। प्रयाग में आयोजित हर्ष के छठे 'पंचवर्षीय दान-महोत्सव' के जिस विशाल मंडप तथा उसके पृथक-पृथक विश्राम गृहों का हुयेन सांग ने उल्लेख किया है वे सब काठ तथा बाँस के बने थे।

---

१. आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, १९२१-२२।

हर्ष के समय में धातुकला, हाथी दाँत कला, वस्त्रों की बुनाई तथा रंगाई-छपाई की कलाओं का विकास हुआ। धातुओं और लकड़ी पर नक्काशी अधिक मात्रा में होती थी तथा हाथी दाँत पर भी। वस्त्रों की अत्यन्त महीन किस्में बनती थीं और उन पर सुन्दर रंगसाजी की जाती थी। हुयेन सांग के अनुसार उस समय ऊनी, रेशमी तथा सूती कपड़ा बनाने की कला बहुत उन्नत थी। आभूषणों के विभिन्न नमूनों और उन पर किए गए अलंकरण भी हर्षयुगीन कला की विशिष्टता थी।

विद्वानों का अनुमान है कि इस युग में चित्रकला सम्भ्रान्त समाज के शौक की वस्तु समझी जाने लगी थी तथा उसमें महिलाओं का विशेष प्रवेश था। मांगलिक अवसरों पर महिलाएँ धवलित कलशों तथा कच्ची मिट्टी के बर्तनों को विभिन्न अलंकरणों से सुसज्जित करती थीं। महलों और घरों की दीवारों पर भी नाना प्रकार के चित्र बनाए जाते थे जो प्रायः पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित होते थे। यह प्रथा अब के कन्नौज नगर और उसके आसपास के क्षेत्रों में लगभग ५० वर्ष पहले तक प्रचलित थी।

उक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हर्ष कालीन कला उन्नतशील तथा प्रतिष्ठित थी यद्यपि उसका पृथक महत्व इस कारण प्रकाश में नहीं आया कि गुप्तकालीन कला और हर्षकालीन कला को अलग-अलग करना एक दुष्कर कार्य है।

१३. हर्ष काल का कन्नौज नगर

हर्ष के राज्य काल में कन्नौज नगर उन्नति की चोटी पर पहुँचा था। उस समय पाटलिपुत्र का सूर्य अस्त हो चुका था जो कि बौद्ध काल से लेकर गुप्त काल तक राजनीतिक तथा धार्मिक ज्ञान का केन्द्र माना जाता था। अतः कन्नौज का कोई प्रतिद्वन्दी न होने के कारण वह नगर उत्तर भारत में सर्वश्रेष्ठ माना जाने लगा तथा वह विद्या, धर्म और राजनीति का उच्चतम केन्द्र भी बन गया। पूर्व में जो मान मगध के पाटलिपुत्र का था वही मर्यादा अब कन्नौज में समाहित हुई जो १२वीं सदी के अन्त तक कायम रही। नगर की समृद्धि के कारण ही उसे 'महोदय श्री' के नाम से भी जाना जाने लगा। उसी शान-शौकत का वर्णन हुयेन सांग ने किया है। हर्ष के बाद लालयित शासकों का लक्ष्य कन्नौज को अपने अधिकार में लेने का रहा करता था।

नगर का जो विवरण नीचे दिया जा रहा है वह मुख्यतः हुयेन सांग के कथनों पर आधारित है।

हर्ष के समय में कन्नौज नगर में थे—

२०० प्रमुख देव-मन्दिर,

१०० बौद्ध मन्दिर,

१०,००० महायानी तथा हीनयानी बौद्ध।

नगर में कितने हिन्दू थे इसकी सही संख्या प्राप्त नहीं है किन्तु अनुमान है कि वह विपुल हजारों में थी।[१]

नगर की बसाति ५ मील लम्बी गंगा के किनारे-किनारे और १$\frac{१}{४}$ मील चौड़ी में थी (२० ली × ५ ली, हुयेन सांग के अनुसार)। नगर के चारों ओर दृढ़ और चौडी शहरपनाह थी जैसा कि उन दिनों आम चलन था। सम्पूर्ण नगर में ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ थीं। आस-पास बड़े सुन्दर उद्यान थे जिनमें निर्मल जल के सरोवर शोभा बढ़ाते थे। दूर देशों से मँगाए गए अलम्य पौधे भी बड़े मनोहर लगते थे और फल-फूलों का आधिक्य था।

प्राचीन घरानों के धनाढ्य लोगों का बाहुल्य था जिनकी शकल-सूरत से सौजन्यता और प्रतिभा दर्शाती थी। उच्च स्तर के लोग चिकने रेशमी वस्त्र पहनते थे। पुरुष धौत वस्त्र कमर से भुजाओं तक धारण करते थे, दाहिनी भुजा खुली रहती थी। स्त्रियों का पहिनाव लम्बा था और दोनों बाहु ढके रहते थे। लोग प्रायः नवीन और स्वच्छ सादा कपड़ा पसन्द करते थे न कि रंगीन व कामदार। कपड़ों में प्रायः चलन थी कौसेय, (रेशमी), क्षौम[२], ऊनी, शाल, तथा अन्य भाँति के मुलायम कपड़े।

इसी प्रकार आभूषणों में स्त्रियों के लिए जड़ाऊ अंगूठियों, बाली, कंकण आदि का पहिनाव था। पुरुष सिर पर पुष्पमाला, गले में हार, हाथ में अंगूठी, तथा कड़े पहनते थे। इसके अतिरिक्त राजा तथा सम्भ्रान्त पुरुष बहुमूल्य मुकुट भी धारण करते थे। बाण ने हर्ष को अनेक बार आभूषण पहने हुए वर्णित किया है।

नागरिक विद्या और कला प्रिय थे। उनकी बोली स्पष्ट और सार्थक होती थी। वह ऐसी शुद्ध, मधुर तथा ओजपूर्ण होती थी मानों देवताओं की भाषा हो। उनका उच्चारण आदर्श था, हुयेन सांग ने ऐसा वर्णन किया है। 'कन्नौज' संज्ञा उपमेय थी—यदि कोई व्यक्ति किसी बात में बहुत उच्च आदर्श का कथन करता था तो लोकोक्ति में कहा जाता था कि क्या तुम 'कन्नौज' चाहते हो?

---

१. **Watters, I, p. 340; Beal I, p. 207.**

२. **Linen.**

इसी प्रकार यह कहावत प्रचलित हो गई थी कि "तुम कन्नोज चाहते हो", अर्थात् तुम असम्भव चीज को चाहते हो।

नगरों की वसीयत निम्न भाँति होती थी :—गलियाँ पतली घुमावदार, सड़कों (highways) के दोनों ओर दूकानें, दड़ों (roads) के इधर-उधर आश्रम (booth shrines)। हरिजन आदि नगर के बाहर बसाये जाते थे। बस्ती में जाने पर वे दबकर बायीं ओर से निकलते थे।

मकान ऊँची कुर्सी पर बनाए जाते थे जिनमें बड़े-बड़े कमरे होते थे। उनकी छतें लकड़ी से पटी होती थीं और खूब ऊँची होती थीं। दीवालों पर चूने का पलस्तर होता था। साधारण आदमियों के मकान प्रायः छप्पर से पाटे जाते थे और गोबर से लीपकर स्वच्छ किए जाते थे। बाहर से देखने में ओछे किन्तु अन्दर बड़े कोठारे और आराम देह होते थे।

कुछ लोग मूंछें कटाए रहते थे और कुछ बड़ी व ऐंठी रखते थे।

लोगों का आचरण बड़ा शुद्ध होता था। यथाशक्ति अपने वचन को पूरा करते थे। धोखेबाजी और चालाकी से कोसों दूर रहते थे। इस लोक के लाभ की अपेक्षा उनमें परलोक का अधिक ध्यान था। व्यवहार में अति नम्र पाए जाते थे।

कन्नौज के लोग विद्वत्ता के लिए भी भारतवर्ष में प्रख्यात थे। वहाँ के विहारों में उच्च शिक्षा दी जाती थी। भद्रविहार नामक कालेज में युआनच्वांग ने तीन मास व्यतीत करके आचार्य वीर्यसेन से ज्ञान प्राप्त किया था।

सारांश यह कि हर्षकालीन कन्नौज नगर, विद्या भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा धन-धान्य का केन्द्र था। इन सब बातों से उसका वैभव तथा राज्य-शक्ति उच्च शिखर पर पहुँच गई थी तथा वह उत्तर भारत का अग्रगण्य नगर हो गया था। उसने वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी जो पहले के गुप्त साम्राज्य काल में पाटलिपुत्र की थी और जो अब दूसरे दर्जे का हो गया था।

१४. हर्ष सम्बन्धित अन्य विभिन्न बातें

हर्ष के विवाहित होने की शंका का समाधान—कुछ विद्वानों का मत है कि हर्ष कदाचित अविवाहित थे। उदाहरणार्थ डा० बेनी प्रसाद कहते हैं कि न तो बाणभट्ट ने और न ही युअन च्वांग ने हर्षवर्धन की किसी पत्नी का अथवा उसके विवाह का उल्लेख किया है और न इसका जिक्र किसी सामयिक लेख में

ही मिलता है।[१] यह कथन भ्रमात्मक है क्योंकि—

(१) अव्वल यह कि बाण ने हर्ष के मुँह से यह कहलाया है कि 'कलत्रं रक्षतु इतिश्रीस्ति निस्त्रिमेधिवसति' अर्थात् यदि तुम यह चाहो कि मैं अपनी स्त्री की रक्षा करूँ तो तुम्हारे लोहे (तलवार) में श्री (विभूति) स्थित है।[२]

(२) यह कि जहाँ तक इतिहास को ज्ञात है हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह वलभी के शासक ध्रुवभट्ट या ध्रुवसेन के साथ किया था[3] और इस प्रकार सन्तान सन्धि द्वारा हर्ष ने उसे अपना मित्र बना लिया। हाँ, हर्ष के कोई औरस पुत्र न था।

विवाह के सम्बन्ध में भी हर्ष ने अपनी धर्म निरपेक्ष नीति को चरितार्थ किया। एक ओर तो उसने एक पारसीक (पारसी) कन्या को अपनी राजरानी बनाया और दूसरी ओर सौराष्ट्र की उच्चकुलीन हिन्दू कन्या को अपनी राजमहिषी के रूप में वरण किया। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि बाण ने कादम्बरी में महाश्वेता नाम की जिस परम रूपवती नारी का वर्णन किया है वह हर्ष की ही पारसीक रानी थी। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि कादम्बरी में जिस अद्वितीय सुन्दरी कादम्बरी का वर्णन देखने को मिलता है वह सौराष्ट्र की रानी का रूपान्तर थी।[४]

उक्त रानियों के अतिरिक्त हर्ष की एक और रानी थी जो नेपाल की राज कन्या थी तथा जिसका नाम दुर्गा देवी था। इसका सन्दर्भ नैषध चरित में मिलता है, यथा—

अत्र परमेश्वरेण तुषारशैल भुवो दुर्गाया गृहीतो करः।

अर्थात् उस परमेश्वर ने हिमाच्छादित पर्वतीय प्रदेश से दुर्गा देवी का हाथ ग्रहण किया (पाणिग्रहण किया)। कुछ विद्वान् 'दुर्गाया गृहीतो करः' का अर्थ

---

१. Dr. Beni Prasad, "Neither Banabhatta nor Yuan Chwang nor any of the contemporary inscriptions referes to any wife of Harshavardhana, or to the fact of his marriage." The State in Ancient India, Chapter XIV, p. 385.

२. डा० त्रिपाठी ने इसका रूपान्तर इस प्रकार किया है :—
You would have me watch-over my wife, glory resides in your steel.-History of Kanauj, p. 48.

३. युअन च्वांग का यह स्पष्ट कथन है कि ध्रवभट्ट, वलभी का राजा, हर्ष का दामाद था।

४. गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० ४२६-२७।

लगाते हैं कि हर्ष ने उस 'दुर्गम प्रदेश से कर ग्रहण किया' अर्थात् उसे विजित किया। संस्कृत के विद्वान् तथा प्रख्यात इतिहासज्ञ डा० रामा शंकर त्रिपाठी ने प्रथम उल्लिखित अर्थ को अधिक सार्थक माना है यद्यपि वे इस बात से सहमत नहीं हैं कि वह हिमाच्छादित पर्वतीय प्रदेश नैपाल का ही सूचक है। अतः कहा जा सकता है कि हर्ष की एक रानी दुर्गा देवी भी थी चाहे वह नैपाल की राजकन्या रही हो अथवा किसी अन्य पर्वतीय प्रदेश की।

हर्ष संवत्—इसे महाराज हर्षवर्धन ने अपने राज्याभिषेक की स्मृति में ६०६ ई० में प्रचारित किया था। इसका प्रयोग कन्नौज के अतिरिक्त, मथुरा[1] तथा नैपाल राज्य में भी होता रहा था। सामान्यतः विद्वान् सहमत हैं कि निम्नलिखित उत्कीर्ण लेख हर्ष सम्वत् में तिथ्यांकित हैं :—

(१) हर्ष के बांसखेरा [शाहजहानपुर] जनपद, (उ० प्र०)] और मधुवन (आजमगढ़ जनपद, उ० प्र०) पट्टे जिन पर क्रमशः २२ और २५ तिथि अंकित है।

(२) आदित्यसेन देव का शाहपुर (पटना जनपद बिहार) मूर्ति का उत्कीर्ण लेख जिस पर ६६ तिथि अंकित है।

(३) नैपाल के राजा अंशुवर्मन के लेख जिनमें तिथि ३४, ३९ और ४५ अंकित हैं। नैपाल का एक अन्य लेख जिसमें सम्वत् १५३ अंकित है।

(४) खजुराहो (उत्तर प्रदेश की सीमा से कुछ दूर मध्य प्रदेश में) मूर्ति का उत्कीर्ण लेख जिस पर २१८ की तिथि पड़ी है।

(५) अहर (बुलन्दशहर जनपद, उ० प्र०) के विभिन्न उत्कीर्ण लेख जिन पर २५८ से लेकर २३८ तक की तिथियाँ अंकित हैं।

(६) महाभट्टारक भोजदेव के समय का पहेवा (कर्नाल जनपद, पंजाब) उत्कीर्ण लेख जिस पर तिथि २६७ अंकित है।

(७) शान्तिकर देव के समय का धौली (पुरी जनपद, उड़ीसा) गुफा उत्कीर्ण लेख, २९३ तिथि।

(८) पंजम उत्कीर्ण लेख, ५६३ या ५६२ को तिथि।

(९) कुछ अन्य मुतफर्रिक लेख।

उक्त लेखों के आधार पर इतिहासकारों ने कहा है कि हर्ष के साम्राज्य में कम से कम पूर्वी पंजाब, सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश और सम्पूर्ण बिहार तथा मध्य प्रदेश और उड़ीसा के भाग सम्मिलित थे।

---

१. अलबेरूनी ने लिखा है कि कन्नौज और मथुरा में हर्ष सम्वत् चलता था।

हर्ष संवत् के प्रचार से हर्ष की महानता प्रमाणित होती है क्योंकि एक महान् शासक ही अपने नाम का सम्वत् चला सकता है ।

सम्राट हर्ष के अन्य नाम तथा हर्ष नाम के अन्य राजा आदि—जब कन्नौज के मंत्रियों ने वहाँ का राज्य भी (अर्थात् थानेश्वर का राज्य तो हर्ष के अधीन आ ही चुका था और अब कन्नौज का राज्य भी) हर्ष को सौंप दिया तब हर्ष ने 'शीलादित्य' और 'कुमार' के वीरुद्ध धारण कर कन्नौज राज्य पर भी शासन करना आरम्भ कर दिया । इस प्रकार हर्षवर्धन को शीलादित्य और कुमार की भी संज्ञाएँ दी गई हैं ।

प्राचीन भारतीय इतिहास में कन्नौज के सम्राट हर्ष (शीलादित्य) के अलावा तीन और शासकों का नाम हर्ष था, यथा—

(१) काश्मीर का वह अत्याचारी राजा जिसका शासनकाल सन् १०८९ से ११०१ तक था हर्ष के नाम से जाना जाता था ।

(२) दूसरा वह हर्ष जो धारा नगरी के प्रसिद्ध राजा भोज का पितामह था तथा जिसने ९७२-९८७ ई० तक राज्य किया ।

(३) तीसरा उज्जैन का महाराज हर्ष विक्रमादित्य जिसका दूसरा नाम यशोवर्मन था । कल्याण की राजतरंगिणी के अनुसार हर्ष केवल उसका दूसरा नाम था और विक्रमादित्य उसकी उपाधि थी ।

उक्त राजाओं के अतिरिक्त श्री हर्ष नाम के एक प्रख्यात महाकवि थे जो १२ वीं सदी में कन्नौज के गाहरवाल शाक विजय चन्द्र तथा जयचन्द्र के दरबारी कवि थे । नैषधचरित उन्हीं की रचना है जिसकी गणना संस्कृत के पांच महाकाव्यों में है ।

ह्युेन सांग अथवा युअन च्वांग (६००-६६४ ई०) :—हर्ष के समय में भारत और चीन के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था । उसके शासनकाल में ह्युेन सांग नामक एक चीनी यात्री जो बौद्ध धर्म का विशिष्ट अनुयायी था भारत आया था । लगभग ६३० ई० के वह भारत पहुँचा और १५ वर्ष तक यहाँ रहा । आने के समय वह लगभग २५ साल का था । चीन के एक बौद्ध मठ में उसने अध्ययन किया और २० वर्ष की अवस्था में वह बौद्ध-भिक्षु हो गया और अपनी विद्वत्ता तथा बौद्ध मत में निष्ठा के कारण उसका नाम दूर-दूर तक विख्यात हो गया । चीन के विविध विहारों में चीनी भाषा में अनूदित बौद्ध-ग्रन्थों से उसे सन्तोष न हुआ । अतः भारत आकर बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थों का अनुशीलन करने तथा महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित पवित्र तीर्थों का दर्शन करने के अभिप्राय से २६ वर्ष की आयु में उसने भारत के लिए प्रस्थान किया (सन् ६२९) । अनेक

दुर्गम भागों को पार करता हुआ वह एक साल बाद भारत पहुँचा। उसे मध्य एशिया के विस्तृत गोबी रेगिस्तान[1] को पार करना पड़ा उसके बाद वह ताशकन्द समरकन्द, बलख आदि होता हुआ काबुल पहुँचा। वहाँ से हिन्दूकुश पहाड़ को पार कर वह काश्मीर आया। उस देश का तथा कुछ अन्य उत्तरी भागों का भ्रमण करने के बाद वह मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, अयोध्या, वाराणसी, तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, कुशीनगर, लुम्बिनी, सारनाथ, बोधगया, कौशाम्बी आदि सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थानों तथा बौद्ध सभ्यता के प्रमुख केन्द्रों केन्द्रों में घूमा। उसने नालन्दा विश्वविद्यालय में लगभग चार वर्ष संस्कृत तथा बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन में व्यतीत किए तथा लगभग आठ वर्ष कन्नौज राज्य में हर्ष के अतिथि रूप में रहा। दक्षिण भारत के अनेक नगरों का भी भ्रमण किया। बंगाल, उड़ीसा तथा अन्य पूर्वी प्रदेशों और सिन्ध, मुल्तान आदि पश्चिमी इलाकों में भी गया। तत्कालीन भारत के विद्या केन्द्रों, बौद्ध प्रतिष्ठानों और ऐतिहासिक नगरों का विशेष रूप से भ्रमण किया।

हुयेन सांग की ज्ञान जिज्ञासा कितनी प्रबल थी तथा उसका साहस कितना अदम्य था इसका आभास इन बातों से होता है कि चीन सरकार की आज्ञा के विरुद्ध ही उसने अपनी यात्रा प्रारम्भ कर दी। दिन में छिपा रहता था और रात्रि में चलता था फिर भी कई बार बन्दी होते-होते बचा। उसके दो साथी घबड़ाकर लौट गए किन्तु वह विचलित नहीं हुआ, यथा—

उठ गया जिसका कदम वह कब रुका है;
अवनि अम्बर बन प्रलय की बात लाए।
तूफान बन जो चल पड़ा वह कब रुका है;
बाण धनु से चल पड़ा वह कब रुका है।

चीन की सीमा पार करने के बाद मार्ग बड़ा दुर्गम था और उसको बहुत शारीरिक कष्ट भी सहने पड़े। फिर जब उसका धन भी समाप्त हो गया तब घोर निराशा से व्याप्त होकर लौटने वाला ही था कि उसे अपनी प्रतिज्ञा याद आ गई कि "यदि मैं भारत न पहुँच सका तो पैर वापस चीन भी न जाएँगे" और उसने वापस जाने का विचार त्याग दिया तथा अन्ततः अपने लक्ष्य को प्राप्त ही कर लिया। चीन से गोबी रेगिस्तान के उत्तर से होकर आने वाले ३००० मील लम्बे अत्यन्त दुर्गम मार्ग को पार करके वह भारत पहुँचा था। अपनी यात्रा में जिस प्रकार के खतरे उठाए उनसे उसके साहस, धैर्य और दृढ़-संकल्प का परिचय

---

१. इस रेगिस्तान में हुयेन सांग को प्यास का कष्ट सताता रहता था फिर भी वह हतोत्साहित नहीं हुआ और अपनी यात्रा जारी रखी।

मिलता है। ऐसी भक्ति, आश्रय और आस्था के उदाहरण भी विश्व के इतिहास में विरले ही मिलेंगे।

भारत में हुयेन सांग को यथेष्ट सम्मान मिला। यहां के बौद्ध तथा अन्य विद्वत्ता ने उसकी प्रज्ञा-प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। नालन्दा महाविहार के कुलपति, आचार्यों और विद्यार्थियों ने एक बृहत्तर आयोजन करके उसकी परिपूर्ण विद्वत्ता के उपलक्ष में उसको मोक्षदेव की उपाधि से विभूषित किया। सम्राट हर्ष ने भी कन्नौज सम्मेलन में हुयेन सांग द्वारा विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ में अपनी योग्यता प्रदर्शित करने पर उसे १०,००० स्वर्ण मुद्राएँ, ३०,००० रजत मुद्राएं तथा १०० वस्त्र प्रदान करके उसको सम्मानित किया और हाथी पर बैठा कर विशाल जुलूस के साथ नगर में घुमाया।

सन् ६४४ तक हुयेन सांग भारत में रहा अर्थात् लगभग १५ वर्ष। अन्तिम ८ साल के प्रवास में वह हर्ष के राज्य में रहा। सन् ६४३ में जब उसने सम्राट से विदा ली तब हर्ष ने उसे स्वदेश वापस लौटने के लिए विपुल धन दिया और सैनिकों की एक टुकड़ी साथ कर दी। हुयेन सांग अपने साथ महात्मा बुद्ध के शरीर की १५० धातुएँ, उनकी सोने, चाँदी तथा चन्दन की बहुत-सी मूर्तियाँ और ६५७ हस्तलिखित ग्रन्थ ले गया जिनको ढोने के लिए २० खच्चरों की आवश्यकता पड़ी थी। लगभग दो साल की यात्रा के बाद ६४५ ई० में वह चीन पहुँचा। वहाँ के सम्राट ने भी उसका बड़ा सम्मान किया और उसे पुरस्कार दिया। चीन में उसका शेष जीवन बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में बीता। सन् ६६४ में ६४ वर्ष की आयु होने पर उसकी मृत्यु हुई और तब तक उसने ७४ ग्रन्थों का अनुवाद पूरा कर लिया था। भाषा, साहित्य, धर्म, दर्शन के अतिरिक्त वह भूगोल और समाज शास्त्र का महान विद्वान् था।

हुयेन सांग की भारत यात्रा का विवरण तीन रूपों में प्राप्त है :—

(१) सी० यू० की० (Si-Yu-Ki) उसी का लिखा हुआ विवरण जो "हुयेन सांग का भ्रमण वृत्तान्त" अथवा "हुयेन सांग के यात्रा के विवरण" के नाम से जाना जाता है और जो १२ खण्डों में है। इस ग्रन्थ में १३८ देशों का विवरण मिलता है, जिनमें से १०० देशों को उसने स्वयं देखा था। इसके ही आधार पर सेमुअल बील ने अंग्रेजी में अपनी पुस्तक लिखी—Buddhist Records of the western World, by Samual Beal, London, 1884.

(२) हुयेन सांग की यात्रा का सारांश जो अंग्रेजी में है :—
On Yuan Chwang (Si-Yu-Ki), by Thomas Waters, 1904.

(२) हुयेन सांग के मित्र हुई ली द्वारा "हुयेन सांग की जीवनी।"
Hwui-li's Life of Yuan Chwang (in Chinese), translated into English by Samual Beal, London, 1911.

अपनी पुस्तक में हुयेन सांग ने जिन स्थानों का वर्णन किया है उसके इतिहास, भूगोल, जन-जीवन तथा सांस्कृतिक और सामाजिक महत्व की एक-एक बात को स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ ओकीनी राज्य का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि "ज्वार, गेहूँ, मुनक्का, अंगूर, नाशपाती, बेर तथा दूसरे फलों की उत्पत्ति के लिए यह भूमि बड़ी ही उपयुक्त है। वहाँ के मनुष्य सच्चे और ईमानदार हैं। वहाँ की लिपि और भारतवर्ष की लिपि में थोड़ा ही अन्तर है। वहाँ के लोगों की पोशाक रूई तथा ऊन के कपड़ों की है। इस देश का कोई इतिहास नहीं है। इस देश में लगभग दस संघाराम बने हुए हैं जिनमें हीनयान (बौद्ध धर्म की एक शाखा) सम्प्रदाय के अनुयायी दो हजार बौद्ध संन्यासी निवास करते हैं। वहाँ के सूत्र और विनय भारतवर्ष के ही समान हैं और वही पुस्तकें मुझे वहाँ भी देखने को मिली जो भारत में प्रचलित थीं।

बाण कृत हर्षचरित का सूक्ष्म विवरण :—हर्षचरित सम्राट हर्षवर्धन की प्रशंसा में लिखा गया है। इस ऐतिहासिक ग्रन्थ में तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक एवं बौद्धिक जीवन का भी चित्र प्राप्त होता है; यद्यपि इसमें हर्ष के प्रारम्भिक जीवन का ही वृत्तान्त मिलता है।[1] तथापि हर्ष की उपलब्धियों और चरित्र के बारे में भी इसमें प्रचुर सामग्री है। यह रचना आठ उच्छ्वासों में विभक्त है जिनका सारांश निम्न है :—

प्रथम उच्छ्वास—ग्रन्थ के आरम्भ में बाण ने शिव की स्तुति की है और उसके बाद ब्रह्मलोक में हो रहे विद्वद गोष्ठी का वर्णन है। फिर कवि ने अपने वंश की उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन किया है।

दूसरे उच्छ्वास में बाण का हर्ष की सभा में आमंत्रित होने का प्रसंग आता है तथा हर्ष द्वारा सम्मानित होने की बातें हैं।

तीसरे उच्छ्वास में कुछ समय बाद बाण अपने गाँव में लौट आता है और अपने बन्धुओं के आग्रह पर हर्षचरित का वर्णन करता है। तदनन्तर हर्ष के पूर्वज पुष्पभूति की कथा कहता है तथा बताता है कि देवी लक्ष्मी ने राजा पुष्पभूति को वरदान दिया कि उसके वंश में हरिश्चन्द्र जैसे महान् हर्ष नामक राजा का जन्म होगा। पुष्पभूति श्री कंठ (थानेश्वर) राज्य का शासक था।

चतुर्थ उच्छ्वास में हर्षचरित की कथा का वास्तविक प्रारम्भ होता है।

---

१. यह ग्रन्थ अपूर्ण है किन्तु इसका कारण अज्ञात है।

पुष्पभूति के वंश में महाराज प्रभाकरवर्धन और उनकी रानी यशोमति का वर्णन है तथा उसके बाद राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री के जन्म का वृत्तान्त है। फिर राज्यश्री के वयस्क होने पर कन्नौज के मौखरी राजा ग्रह वर्मन के साथ उसका विवाह हो जाता है।

पंचम उच्छ्वास में जब राज्यवर्धन युवक हो जाता है तब पिता के आदेश पर हूणों को परास्त करने के लिए उत्तरापथ की ओर जाता है तथा हर्ष भी उसके साथ जाता है। कुछ समय तक शिविर में रहने के बाद पिता की बीमारी का समाचार पाकर हर्ष राजधानी को लौट आता है। मृत्युशैय्या पर पड़े हुए प्रभाकरवर्धन द्वारा हर्ष को आशीर्वाद तथा राजकाज सम्बन्धी उपदेश प्राप्त होता है। रानी यशोमति मृत पति के साथ सती हो जाती है। हर्ष पिता-माता का संस्कार करता है। बाद में राजमहल के दुखमय वातावरण का उल्लेख होता है।

छठे उच्छ्वास में राज्यवर्धन हूणों को पराजित करके राजधानी लौट आता है तथा हर्ष को राज्यभार देकर निवृत्ति प्राप्त करना चाहता है। उसी समय समाचार मिलता है कि मालवराज ने कन्नौज नरेश ग्रहवर्मा को मार कर राज्यश्री को बन्दी बना लिया है। राज्यवर्धन १०,००० अश्वारोहियों के साथ मालवराज पर आक्रमण करके विजयी होता है परन्तु जब वह अपनी राजधानी को लौट रहा था तभी एक विश्वासघाती षड्यंत्र रचकर गौड़ देश के राजा शशांक ने उसका वध कर दिया। इस शोक समाचार को पाकर हर्ष शशांक पर आक्रमण करने की घोषणा करता है।

सातवें उच्छ्वास में हर्षवर्धन सेना सहित प्रस्थान करता है और विन्ध्य देश में पहुँच कर मालव नरेश को परास्त करता है हर्ष का सेनापति भंडी मालव राज्य पर कब्जा कर लेता है।

आठवें उच्छ्वास में हर्ष एक निषाद की सहायता से राज्यश्री को विन्ध्यावटी में खोजते हुए दिवाकर मित्र नामक बौद्ध ऋषि के आश्रम में आता है। वहाँ एक बौद्ध भिक्षु आकर किसी संकटासन्न स्त्री की सूचना देता है। तुरन्त उसके पास जाकर हर्ष उसे अग्निसात् से लौटा कर आश्रम में ले आता है। यह स्त्री उसकी बहिन राज्यश्री ही है। दग्ध होने के अपने इस निर्णय को राज्यश्री हर्ष की इस प्रतिज्ञा पर त्यागती है कि हर्ष अपने दिग्विजय के कार्य को पूर्ण करके राज्यश्री के पास कषाय वस्त्र पहन कर शेष जीवन व्यतीत करेगा। राज्यश्री के मान जाने पर हर्ष अपने शिविर में लौट आता है। अन्त में सूर्यास्त के वर्णन के साथ ही ग्रन्थ (अपूर्ण दशा में) समाप्त हो जाता है।

१५. हर्ष का चरित्र तथा मूल्यांकन

हर्षवर्धन प्राचीन भारत का एक आदर्श शासक माना जाता है। उसे एक महान विजेता, कुशल शासन-प्रबन्धक, स्वयं विद्वान, साहित्यकार तथा विद्वानों का संरक्षक एवं भारतीय सभ्यता का सच्चा सेवक होने का श्रेय प्राप्त है। अपनी विभिन्न उपलब्धियों के कारण वह इतिहासकारों के लिए विशेष रुचि का विषय है। कतिपय विद्वानों ने उसकी जीवनी पर वृहत ग्रन्थ लिखे हैं। उसके चरित्र तथा व्यक्तित्व का मूल्यांकन निम्न प्रमुख बिन्दुओं में समाहित किया जा सकता है :—

(१) **उच्च आदर्शवान राजा** :—महाराज हर्ष सभी प्रकार से भारतीय राज्यधर्म को समझते थे और उसी पर आचरण करते थे। मृत्युशैय्या पर से महाराज प्रभाकरवर्धन ने हर्ष को उपदेश दिया था कि प्रजा की रक्षा करो, परिजनों का पालन करो, यह लोकपाल का कर्तव्य है। यह उपदेश राजधर्म का सार था जिसका अनुशीलन हर्ष ने जीवन पर्यन्त किया। हर्ष ने इस पौराणिक कथन का भी अनुसरण किया कि अराजक दोष से बचाने के लिए ही राजा की आवश्यकता होती है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद देश में अराजकता उत्पन्न हो गई थी और उसे दूर करने वाले हर्ष ही थे। उन्हें शुभ कर्म करने में इतनी रूचि थी कि वे खाना और सोना तक भूल जाते थे। अपने शासन के लगभग ४२ वर्षों में उन्होंने प्रजा के जीवन को सुखी तथा सुविधा-सम्पन्न बनाने के लिए घोर परिश्रम किया। राजगुणों की प्रधानता के कारण ही पिता और सामन्तों ने उन्हें राज्यपद के योग्य समझा परन्तु ज्येष्ठ भाई के होते हुए तथा उनकी अनुपस्थिति में हर्ष ने सिंहासन की ओर इच्छा न की। उनकी कर्तव्यपरायणता और भ्रातृ-भक्ति आदर्श थीं। इस प्रकार हर्ष में सभी गुण और चारित्रिक तथा शैक्षणिक योग्यताएँ थीं जिनके कारण उनका अकलंक शासन सर्वप्रिय बन सका।

महान विजेता तथा साम्राज्य निर्माता :—हर्ष की विजयों का विवरण पहले ही दिया जा चुका है अपने राज्यकाल के प्रारम्भिक छः वर्षों तक तो उसने लगभग निरन्तर युद्ध किए तथा उसके २०-२५ वर्ष बाद भी वह अधिक समय तक युद्धों में व्यस्त रहा। यद्यपि दक्षिण के पुलकेशिन द्वितीय से युद्ध में वह असफल रहा फिर भी उत्तरी भारत की विजयों के आधार पर वह एक सफल विजेता होने का अधिकारी है। विजित प्रदेशों को संगठित करके उसने उत्तरी भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इससे अधिक श्रेय की बात यह है कि उसने अपने बाहुबल से अपने विस्तृत साम्राज्य को सुरक्षित रखा।

कुशल शासन-प्रबन्धक :—सम्राट कुशल प्रशासक भी था। उथल-पुथल के

काल में उसे दो बड़े राज्यों की बाग-डोर एक साथ सम्भालनी पड़ी फिर भी उसने असाधारण योग्यता से उत्तरी भारत में शान्ति स्थापित कर ली। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि जिस समय इन दोनों राज्यों (थानेश्वर और कन्नौज) की जिम्मेदारियाँ उस पर आ पड़ीं उस समय वह केवल १६-१७ साल का ही नवयुवक था। शान्ति स्थापना के बाद इस प्रतिभाशाली शासक ने ऐसे राज्य-प्रबन्ध की नींव डाली जिसका मुख्य उद्देश्य प्रजा को सुखी और समृद्धशाली बनाना था। कार्य-कुशलता के हित में साम्राज्य कई भागों तथा उपभागों में विभक्त था और सरकारी कर्मचारी बड़ी ईमानदारी से कर्तव्य पालन करते थे। उनके कार्यों का निरीक्षण करने के लिए सम्राट अपने विशाल साम्राज्य में वर्षा ऋतु को छोड़कर बराबर दौरा करता था।

धर्म परायण, सहनशील तथा दानी—सम्राट अशोक (ई० पू० २६९-२३२) तथा सम्राट क़निष्क (ईश्वा० १२०-१६२) की भाँति महाराज हर्ष भी धर्मपरायण पुरुष था। उसका हृदय बड़ा उदार तथा कोमल था। बुद्ध धर्म का अनुयायी बन जाने पर भी उसका व्यक्तित्व संकीर्ण न था। सहनशीलता उसके शासन की आधारशिला थी और उसी के फलस्वरूप उसने प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को पूरी सहायता दी। ह्युयेन सांग का कथन है कि हर्ष बड़ा दानी था और प्रयाग की विराट सभा में उसने २१ दिनों तक ब्राह्मणों, भिक्षुओं तथा निर्धनों में अपार धन व्यय किया। दानशीलता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भारत के पौराणिक काल को छोड़ कर भारत के प्रामाणिक इतिहास में हर्ष जैसा अन्य शासक नहीं हुआ। जिस प्रकार पौराणिक काल में राजा कर्ण दान-शीलता के लिए विख्यात था उसी प्रकार ऐतिहासिक काल में सम्राट हर्षवर्धन।

हर्ष की धर्म परायणता के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि वह स्वयं अपने महल में प्रतिदिन ५०० ब्राह्मणों को भोजन कराते थे। राज्य के दौरों के समय में भी जहाँ कहीं सम्राट का डेरा लगता था वहाँ १,००० बौद्ध भिक्षुओं और ५०० ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

धर्मनिर्पेक्ष शासक—यद्यपि हर्ष बौद्ध धर्म का समर्थक था तथा उसके प्रचार के लिए कतिपय कार्य किए तथापि वह अन्य धर्मों के प्रति भी सद्भावी था। अपने पूर्वजों के वैदिक धर्म का अनुयायी रहते हुए भी वह अन्य धर्मों का आदर करता था। जहाँ उसने ब्राह्मणों को अनुदान दिए वहाँ बौद्ध भिक्षुओं की भी आर्थिक सहायता की। हिन्दू मन्दिरों के साथ-साथ बौद्ध विहारों का भी निर्माण करवाया। महात्मा बुद्ध का प्रशंसक होते हुए भी हिन्दू देवताओं में उसकी आस्था थी। प्रयाग के सम्मेलन में पहले दिन बुद्ध की मूर्ति की, दूसरे दिन सूर्य की तथा

तीसरे दिन शिव की पूजा हुई थी। कवियों और विद्वानों का संरक्षण करते समय वह धर्म अथवा जाति का भेदभाव नहीं रखता था। जिस मातंग दिवाकर कवि को सम्राट ने अपार धन दिया और राजसभा में सम्मान का स्थान दिया वह न्यून जाति का था।

विद्वान, साहित्यकार तथा विद्याप्रेमी—सम्राट की इन क्षेत्रों में उपलब्धियों पर दो पृथक अनुशीर्षकों में पर्याप्त प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है। यहाँ पर केवल डा० त्रिपाठी का निम्न वाक्य का ही उद्धरण करना उचित होगा—

> "Harsha was not a mere detached patron of letters. He himself appears to have wielded the pen with no less dexterity and effect than the sword."[1]

AND

> "Harsha's claim to the remembrance of history rests not merely on the fact that he considerably enlarged the boundaries of the Kanauj kingdom, but still more on the enlightened character of his government and his liberal patronage of learning."[२]

अर्थात्, हर्ष विद्वत्ता का दूरस्थ संरक्षक न था बल्कि लेखनी चलाने में भी (ग्रन्थ रचने में) उतना ही निपुण था जितना कि तलवार चलाने में।

और

इतिहास में यादगार की दावेदारी में हर्ष का स्थान केवल इस बात पर ही आधारित नहीं है कि उसने कन्नौज राज्य की सीमाओं को दूर तक बढ़ाया बल्कि उससे अधिक इस बात पर कि उसका शासन उन्नतशील था तथा वह स्वयं विद्वत्ता का संरक्षक था।

डा० राधा कुमुद मुकर्जी जी ने भी हर्ष की प्रशंसा में लिखा है कि विद्वानों का आदर करके हर्ष ने अपने दरबार में उस समय के उच्च साहित्यिकों को आकर्षित कर लिया था।

भारतीय संस्कृति का सेवक—इतिहासकारों ने हर्ष को भारतीय संस्कृति का महान सेवक माना है। अन्य बातों के अतिरिक्त हर्ष द्वारा कन्नौज तथा प्रयाग की महती सभाओं का सफल आयोजन उसकी भारतीय परम्पराओं के प्रति

---

1. Dr. R. S. Tripathi, History of Kanauj (1964 impression) p. 180.
२. वही, पृ० १७५।

निष्ठा का प्रतीक है। उसने कालान्तर के शासकों के सामने एक उच्च आदर्श प्रस्तुत किया जिसका अनुसरण कन्नौज के भावी शासकों ने किया।

परिवार-प्रेमी हर्ष—अपने सगे-सम्बन्धियों के प्रति न केवल सद्भावना रखना अपितु उनसे स्नेह भी करना हर्ष के चरित्र की एक विशेषता थी। आज्ञाकारी पुत्र तथा स्नेही भाई के रूप में उसकी प्रतिष्ठा सर्वमान्य थी। बड़े भाई राज्यवर्धन और बहन राज्यश्री के प्रति उसकी निष्ठा की बातें पहले कही जा चुकी हैं।

संगीत-प्रियता आदि—निरालस्य हो मशीन की तरह काम करते रहना, बिना ज्ञान और विद्या के मनुष्यता के आदर्श को ऊँचा नहीं करता। हर्ष में इसकी भी कमी न थी। उच्च कोटि का प्रशासनकर्ता होने के साथ ही वह संगीतप्रिय, रसिक और बड़ा विद्यानुरागी भी था।

निष्कर्ष—हर्ष के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में थोड़े शब्दों में कहा गया है कि उसमें समुद्रगुप्त तथा अशोक दोनों के गुणों का समन्वय था। उसने समुद्रगुप्त की भाँति विभिन्न दिशाओं में विजय करके सम्राट-पद प्राप्त किया तथा देश की ऐतिहासिक एकता को पुनर्स्थापित किया। उसके बाद उसने अशोक की भाँति युद्ध को तिलांजलि देकर अपनी शक्ति को देश की भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में लगाया। वस्तुतः हर्ष देश का अन्तिम हिन्दू सम्राट था कि जिसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को एकता के सूत्र में बाँधा। डा० आर० सी० मजूमदार के शब्दों में —

> "He was undoubtedly one of the greatest Kings of ancient India. Called upon to rule over two distracted Kingdoms in a period of turmoil he succeeded to a large extent in resotring respect for authority in the vast tracts of northern India and won praise as a just and benevolent ruler."[1]

अर्थात् निःसन्देह हर्ष की गणना प्राचीन भारत के महानतम शासकों में है। संघर्षकालीन युग में उसे दो कष्टग्रस्त राज्यों का शासन-भार उठाना पड़ा फिर भी उसने उत्तर भारत के वृहत् क्षेत्रों में शासन के प्रति आस्था कायम करने में सफलता प्राप्त की तथा एक न्यायप्रिय एवं उपकारक शासक के रूप में ख्याति अर्जित की।[1] ह्वेनसांग ने हर्ष को 'महान और उत्तम' ("the Great and the Good') की संज्ञा दी है।

---

१. Dr. R. C. Majumdar, Corporate Life in Ancient India.

१६. महाराज हर्ष का अन्त तथा उसके शीघ्र बाद की स्थिति का सूक्ष्म अंकन :

हर्ष की परमधाम यात्रा की तिथि संवत ज्ञात नहीं है। अनुमान से ६५० ई० के लगभग होना चाहिए।

यूआन च्वांग यहाँ से ६४६ ई० में विदा हुआ। एक दिन उससे स्वप्न में एक स्वर्ण मूर्ति ने कहा कि वह अब अपने देश को लौट जाए और यहाँ न ठहरे क्योंकि शीलादित्य का अन्त समय आ रहा है और उनके न रहने पर देश भर में अराजकता फैल जाएगी, मार-काट का बाजार जारी हो जावेगा, भूलना नहीं। इससे सिद्ध है कि महाराज की मृत्यु ६४६ ई० के बाद हुई।

सन् ६४८ ई० में चीनी सम्राट ने एक राजदूत वैंग-हुएन-सी को मनुष्यता और न्याय प्रचार का सन्देश देकर सम्राट हर्ष के पास भेजा था। नैपाल के मार्ग से जब वह बिहार प्रान्त में पहुँचा तब हर्ष स्वर्गवासी हो चुके थे। इस मार्ग में एक वर्ष से अधिक न लगना चाहिए। इस प्रकार हर्ष की मृत्यु ६४८-४९ ई० के आस पास हुई जान पड़ती है। यंग ह्वे के मतानुसार सन् ६५४-५ ई० आता है किन्तु विद्वानों के मत से उसमें अशुद्धि है, इसलिए त्याज्य है।

यद्यपि हर्ष के बारे में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है तथापि यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है कि उसकी मृत्यु कहाँ और किस प्रकार हुई। डॉ० अवस्थी ने यह सम्भावना बताई है कि "ऐसा धार्मिक व्यक्ति, हो सकता है, त्यागधर्म का अनुसरण करते हुए बौद्ध बन गया हो।"[1] किन्तु इस सम्भावना में बल नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हुआ होता तो बौद्ध ग्रन्थों में इसका उल्लेख अवश्य हुआ होता। दूसरे, यदि हर्ष राज्य से विरक्त होकर बौद्ध भिक्षु हो गया होता तो उसने अपना राज-पाट किसी योग्य उत्तराधिकारी को सौंपा होता क्योंकि उसके कोई औरस पुत्र न था। उस स्थिति में उसके मंत्री अर्जुन द्वारा राज्य पर अनधिकृत कब्जा कर लेने की बात पैदा न होती।

हर्ष के कोई औरस पुत्र न था अतएव उसका कोई औपचारिक उत्तराधिकारी न हुआ। फलतः कन्नौज का बृहत् साम्राज्य जिसे हर्ष ने अपने कौशल तथा अथक परिश्रम से स्थापित किया था छिन्न-भिन्न हो गया और देश में अराजकता फैल गई। स्वयं कन्नौज में उथल-पुथल प्रारम्भ हो गई जिसके सम्बन्ध में कोई भारतीय साक्ष्य नहीं है किन्तु चीनी लेखक मात्वां-लिन (१३ वीं सदी) ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है। उसके विवरण का सारांश निम्न प्रकार है—

हर्ष ने चीनी सम्राट से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किए थे और उसी की श्रृंखला में चीनी सम्राट ने सन् ६४८ में अपना एक दूत-मण्डल भारत भेजा

१. डा० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० ७३।

जिसका नेता ऊपर-लिखित वैंग-हुएन-सी था। हर्ष के दरबार में पहुँचने के पहले ही सम्राट की मृत्यु हो गई थी और उसके एक मंत्री अरुणाश्व (अथवा अर्जुन) ने राज्य पर कब्जा कर लिया था। दूत-मण्डल के साथ कुछ फौज भी थी जिसका प्रयोजन केवल दूत-मंडल की रक्षा करना ही था किन्तु अर्जुन को यह शंका हुई कि फौज उस पर हमला करने आ रही है। अतः उसको राज्य की सरहद पर ही रोकने के लिए अपनी सेना भेजी। इस संघर्ष में सभी चीनी सिपाही मारे गए किन्तु वैंग ने रात्रि में तिब्बत भाग कर अपने प्राण बचाए। बाद में बदले की भावना से उसने एक सेना का संगठन किया जिसमें तिब्बत के शासक[1] ने १,००० पैदल और नैपाल के राजा ने ७,००० अश्वारोही देकर सहायता की। इस प्रकार अपनी सेना तैयार करके वैंग ने मैदानी इलाके में उतर कर अर्जुन की सेना पर आक्रमण किया और तीन दिन में चम्पारन नगर पर अधिकार कर लिया। अर्जुन की सेना नष्ट हो गई और स्वयं उसने भाग कर अन्य राज्य में शरण ली। फिर अपनी बची हुई सेना को पुनः संगठित करके चीनियों पर आक्रमण किया किन्तु पराजित हुआ और बन्दी बना लिया गया। अर्जुन के बन्दी हो जाने के बाद उसकी पत्नी ने युद्ध जारी रखा जिसमें वह भी पराजित हुई और चीनी सेना ने अनेक नगरों को ध्वंस किया। अन्ततः बहुत बड़ी धनराशि, शस्त्र तथा घोड़े-बैल लेकर वैंग चीन लौटा और अपने सम्राट को इन सबको तथा बन्दी अर्जुन को अर्पित किया। सम्राट ने वैंग की सेवाओं के उपलक्ष में उसका बड़ा सत्कार किया तथा उसकी एक उच्च पद पर पदोन्नति की।

इस प्रकार अर्जुन के पतन पर हर्ष की शक्ति के अन्तिम चरण भी विलीन हो गए। अब केवल हर्ष के साम्राज्य के विभिन्न भागों पर अधिकार करने के लिए समकालीन छोटे-बड़े शासकों ने संघर्षीय अभियान प्रारम्भ कर दिए जिनके विषय में इतिहास को केवल न्यून जानकारी ही है।

यह स्थिति लगभग ७५ वर्ष तक कायम रही। कन्नौज-राज्य के इतिहास के इस ७५ साल के अन्तराल को अन्धकार युग की संज्ञा दी गई है। उसके बाद कन्नौज राज्य पर राजा यशोवर्मन के अधिकार होने की बात मिलती है। उसने काश्मीर नरेश ललितादित्य से गँठजोड़ करके अरबों और तिब्बतियों का मुकाबला किया किन्तु बाद में वे दोनों आपस में ही लड़े जिसके फलस्वरूप कन्नौज फिर विध्वंस हो गया। उसी काल के आस-पास दो संस्कृत महाकवि, भवभूति तथा वाक्पति, कन्नौज राज्य के आश्रय में प्रख्यात हुए। इन सब स्थितियों का विधिवत् वर्णन आगे के अध्यायों में मिलेगा। ●

---

१. तिब्बत के शासक का व्याह चीन की राजकुमारी वेंग-चैन्ग से हुआ था और इसी के आधार पर उसने वैंग की सहायता की थी।

अध्याय-१४

हर्ष के ७५ साल बाद तक अंधकार मय समय

(राजश्री, रण मल्ल और हरचन्द)

१. राजश्री का शासन ।

२. मौखरि वंशीय सुचन्द्रवर्मन और भोगवर्मन ।

३. राजा रणमल्ल और राजा हरचन्द ।

४. दो अन्तिम शब्द ।

१ राजश्री का शासन

सम्राट हर्ष के शरीर के पात हो जाने के बाद राज्य प्रबन्ध कैसे चला और किसने चलाया इसका ऐतिहासिक प्रमाण आज दिन तक प्राप्त नहीं हुआ है। प्राप्त होने की सम्भावना, जैसा कि परिस्थिति से ज्ञात होता है, बहुत कम है। प्रमाणपुष्ट इतिहास का सिलसिला न्यूनाधिक सन् ७२५ ई० से प्रारम्भ होता है। बीच के लगभग ७५ वर्ष के समय को इतिहासकारों ने प्रायः अराजकता (anarchy and chaos) कह कर टाल दिया है।

उक्त समय में यदि विशेष महत्व की ऐतिहासिक घटनायें न पाई जावें तो इससे इतिहास का कलेवर क्षीण भले ही हो पर शून्य नहीं कहा जा सकता, न हो ही सकता है। इतना विशाल प्रभावशाली राज्य, ऐसा धनाढ्य समृद्धशाली देश तथा नगर इतना प्रतिभाशाली जन समूह हर्ष के न रहने से अनाथ सा हो गया—यह माना जा सकता है। किन्तु यह कहना कि हर्ष की अन्तिम स्वांस निकलने के साथ ही सब कुछ समाप्त हो गया—न जनता रही न लक्ष्मी, सब उजाड़ और शून्य हो गया—असंगत होगा। यदि देश और नगर उजाड़ भी हुए तो किस प्रकार से हुए और किसने उजाड़े इन प्रश्नों के उत्तर ही इतिहास के पृष्ठों को पूरा करेंगे।

तथापि यह सत्य है कि प्रमाणों की अनुपस्थिति में बुद्धिग्राह्य अनुमानों और तात्कालिक परिस्थिति के आधार पर संतोष करना पड़ेगा। सम्भव है प्रमाण मिलने पर ऐसे सिद्धान्त परिवर्तित हो जाएँ, फिर भी वर्तमान दशा के विचार से इतिहासकार को अपना मत व्यक्त करना ही पड़ेगा। अस्तु।

महाराज हर्ष के दिवंगत होने के पश्चात् सिंहासन पर कौन बैठा ? कोई नही। किसी का राज तिलक हुआ ? किसी का नहीं क्योंकि न तो हर्ष के कोई

औरस पुत्र कहीं बताया गया, न ही ग्रहवर्मन का न इनका उत्तराधिकारी कहीं पाया जाता है न उनका। उक्त दोनों प्रश्नों के नकार उत्तरों ने लाल झंडी का काम किया। इतिहासकार की चलती हुई रेल रूपी कलम रुक गई 'शून्य' और 'अराजकता' के पुल से खंदक को पाट कर उसने अपना काम निकाला।

किसी स्थानापन्न को ढूँढ़ने की आवश्यकता तब होना चाहिए जब यह सिद्ध कर दिया जावे कि अमुक स्थान रिक्त था, अथवा गद्दी खाली हो गई थी। यहाँ पर सबसे पहले यही बात उपेक्षित है।

यदि किसी राजा के किसी राजकुमार का अभिषेक न पाया जाय अथवा उसके कोई पुत्र ही न पैदा हो तो क्या कहीं उसके उत्तराधिकारियों की संसार में कमी कभी देखी गई है। औरस पुत्र अथवा सगा वारिस न होने की हालत में एक की जगह दस वारिस सामने आ जाते हैं—दूर-दूर के नाते रिश्तेदार किसी न किसी तरह वारिस और दावेदार होकर दौड़ते हैं। फिर कन्नौज अमूल्य सिंहासन के लिए ऐसा न होना, असम्भव प्रतीत होता है।

कन्नौज की राजगद्दी यदि बिल्कुल लावारिस खाली पड़ी होती तो हर्ष के बाद एक छोटे महाभारत की रचना अवश्यम्भावी थी। और यदि ऐसा महाभारत हुआ होता तो उसके प्रमाणों की प्रतीक्षा आज दिन तक न करनी पड़ती। उस समय जो कुछ घटनाएँ यहाँ हुईं अथवा कुछ काल तक होती रहीं, जिनका उल्लेख आगे होगा, उनसे इतना ही सिद्ध होता है कि हर्ष के न रहने से देश में शासन शैथिल्य हो गया। यह सत्य है और अनिवार्य भी था।

यद्यपि हर्ष प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो चुके थे और अवसान के समय उनकी आयु साठ से अधिक रही होगी फिर भी उन्होंने अपना कोई युवराज नहीं बनाया, जैसा बनाने की भारतीय राजवंशों में सदैव से प्रथा रही है। इसका भी रहस्य उसी में छिपा है।

कन्नौज की राजगद्दी मौखरि वंश की थी। उस घराने की सम्राज्ञी थी राज्यश्री और उसका भाई हर्ष सभी बातों में उसका कर्ता धर्ता था। वह गद्दी न हर्ष की पैत्रिक सम्पत्ति थी न विजित वसुधा। जब तक राज्यश्री जीवित रही तब तक हर्ष के लिए ऐसा कोई प्रबन्ध सोचना, ऐलान करना और उस पर अमल करना सर्वथा अनुचित था। जिससे बहिन के चित्त में किसी प्रकार का विकार पैदा हो उस बात का चिंतन हर्ष ऐसे सहृदय भाई से कब हो सकता था फिर ऐसी सम्पदा को जिसे वह अपनी समझता ही न था। साधारण मनुष्यों को ऐसा राज-लोभ सांसारिक बंधन में ला सकता है किन्तु जो व्यक्ति राजकोष को तृणवत वितरित करता रहा हो उसके लिए उसका क्या प्रलोभन और किस के लिए वह ऐसा करता। जान पड़ता है कि इस लौकिक चिन्ता के लिए, जिसका

असर मरने के बाद हो, बहिन भाई के भरोसे और भाई बहिन के भरोसे चुप बैठे रहे। दोनों पारलौकिक चिन्ता में मग्न अपना कर्तव्य पालन करते थे कि अनायास महाराज कालग्रसित हो गए। यदि हर्ष के जीवन काल में राज्यश्री मोक्षगति को प्राप्त हो चुकी होती तो युवराज पद की समस्या अवश्य तय हो गई होती। किन्तु वह स्थिति उत्पन्न ही न हुई। इससे प्रतीत होता है कि चीनी लेखों तथा बाण की रचनाओं अथवा हर्ष के स्वरचित ग्रन्थों में कहीं भी राज्यश्री परलोक का कथन किसी रूप में नहीं पाया जा सका।

दूसरे राज्यश्री पोषित धर्मध्वजा को महाराज हर्ष दिनानुदिन उसी के आत्मोत्कर्ष के लिए करते जाते थे जैसा कि पहले कहा जा चुका है। इससे भी हर्ष के अन्त समय तक राज्यश्री का जीवन काल सिद्ध होता है।

तीसरे राज्यश्री हर्ष से अवस्था में छोटी थी, उस पर भी बाल विधवा। बालविधवा प्रायः दीर्घजीवी होती हैं। फिर धार्मिक संयम नियम पालन करने से, योगियों की दिनचर्या अनुसरण करने से, सब ही की आयु बढ़ जाती है।

उपर्युक्त बातों से अनुमान होता है कि राज्यश्री ने शास्त्रोक्त "शतआयु" जीवन का फल पाया और ७०० ई० के लगभग उसका मृत्यु काल होगा। अतएव राज्य का उत्तराधिकारी कौन हुआ, कन्नौज राजसिंहासन पर कौन बैठा और किसका राज्याभिषेक हुआ—इन प्रश्नों की खोज उक्त तिथि से करना उचित है न कि हर्ष के तुरन्त मरणोपरान्त। जो कुछ इतिहास मिलता है वह इस मत को पुष्ट करता है। उस इतिहास का वर्णन आगे मिलेगा।

राज्यश्री के जीवनपर्यन्त किसी का राज्याभिषेक कल्पनातीत है। उसका स्वयं अभिषेक न हुआ था, इसलिए राज्यश्री में मौखरि तथा हर्ष वंश की आभा अभिषिक्त समझना चाहिए। जैसे राम की अनुपस्थिति में भरत राम के नाम से शासक थे, वैसे ही पूर्व वंशों के नाम पर राज्यश्री की आड़ में जो मंत्री अथवा पदाधिकारी थे वे काम चलाते रहे होंगे। उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन का विचार न होना चाहिए। किन्तु ऐसी दशा में शासन का उत्तरदायित्व किसी एक के माथे नहीं आता है। जो व्यक्ति मुखिया कहा जा सकता था वह भी अबला, अनाथिनी, साध्वी, उदासीन। इसलिए राज्य प्रबन्ध के बन्धन ढीले अवश्य पड़ गये होंगे। विशेष कर दूरस्थ प्रदेशों के।

अर्जुन और ह्यूनत्से की घटना—अर्जुन और चीनी राजदूत वांग ह्यूनत्से की घटना उपर्लिखित तथ्य को पुष्ट करती है। अर्जुन (अथवा अरुणास्व) हर्ष के ऊँचे कर्मचारियों में था, वह राज्यमंत्रियों में कहा जाता है। बिहार प्रान्त का प्रबन्ध उसे सौंपा गया था। जिस समय हर्ष स्वर्गवासी हुए उसी समय चीनी

सम्राट का एक राजदूत महाराज के पास शान्ति और न्याय प्रसार का संदेश लिए आ रहा था। उसका नाम था वांग ह्यूनत्से। उसके साथ कुछ सैनिक भी थे। जब नेपाल के मार्ग से उतर कर उसने मगध भूमि में प्रवेश किया तब अर्जुन ने उसे रोका और मार्गावरोध किया। किस मन्तव्य से अर्जुन ने उस चीनी सरदार को रोका इसमें सद् और असद् भाव दोनों हो सकते हैं। लेकिन इससे इतना झलकता है कि उसने यह काम खुद अखत्यारी ख्यात से किया, किसी की मंत्रणा की आवश्यकता न समझी।

सरदार को अर्जुन का यह बर्ताव बहुत कुटिल और राजगद्दी की अवहेलना करता प्रतीत हुआ। यदि हर्ष जीवित होते तो क्या कोई व्यक्ति इस राजदूत का ऐसा अस्वागत कर सकता था? यदि नहीं, तब तो यह मानना पड़ेगा कि इसमें दूत ही का अपमान नहीं प्रत्युत राजा की भी मानहानि हुई। इस धृष्टता से क्रुद्ध हो ह्यूनत्से ने अर्जुन पर आक्रमण कर दिया। फलतः सरदार के एकोएक सिपाही मारे गए और वह बन्दी हुआ। किसी प्रकार वह बंधन से मुक्त हो गया और रात के अंधकार में छिप कर भाग निकला। तिब्बत पहुँच कर वहाँ के राजा से अपनी व्यवस्था कर सहायता माँगी। वह चीनी सम्राट का जामात्र था, उसे भी यह व्यवहार अनुचित लगा और उसने ह्यूनत्से को एक सहस्त्र सैनिक दिए। नैपाल नरेश ने इससे भी अधिक सहायता दी। हर्ष की बामांगिनी देवी के कारण नैपाल नृपति और हर्ष का सम्बन्ध था जिसके कारण उसे भी यह अच्छा न लगा कि हर्ष के मरते ही उसके द्वारा स्थापित सदाचार को उसके कर्मचारी स्वेच्छा-चारिता से भंग करें। ऐसा व्यक्ति दंडनीय है किन्तु दंड देने वाला वहाँ कोई स्वामी ही नहीं। अतः प्रतिद्वन्दी की सहायता करना भी दंड देने के सदृश है। इन्हीं बातों पर, विचार कर नैपाल नरेश ने सरदार को ७,००० सैनिक सवार दिए। आसाम के कुमार राज ने भी उसकी बड़ी सहायता की, घोड़े, बैल रसद तथा अन्य युद्ध सामग्री से उसने सरदार का पड़ाव भर दिया। कुमार राज और हर्ष में बड़ी घनिष्टता थी जिससे उसने ऐसा किया।

इन सब लोगों का अर्जुन के विपक्षी हो जाने का एक कारण और भी था। एक तो उसने स्वेच्छाचारिता से हर्ष हितैषी पड़ोस की राज्यशक्तियों से बिना पूछे या उनका मन लिए हुए यह अप्रिय काम किया। दूसरे कर डालने के बाद भी अर्जुन ने किसी की परवाह न की। एक प्रकार से यह भी उनके प्रति असद् व्यवहार था और उनके अप्रसन्न होने का कारण था। इसके अतिरिक्त स्वेच्छा-चारिता का एक तुर्रा यह जान पड़ता है कि अर्जुन इस प्रान्त में अपना आधिपत्य एक राजा के सदृश बनाने के प्रयत्न में था क्योंकि युद्ध वर्णन में वहाँ उसकी राजधानी कही गई है। वह स्थान छपरा या चम्पारन समझा जाता है।

जिसके प्रतिकूल ऐसा वातावरण बन गया हो उसकी विजय कैसे हो सकती है ? अर्जुन परास्त ही नहीं हुआ वरन बन्दी भी बना लिया गया। ह्यूनत्से ने उसे विजय-चिह्न उपहार में अपने चीनी सम्राट को भेंट किया और स्वयं सम्मानित पद प्राप्त किया। अर्जुन के अभारतीय और असभ्य आचरण के कारण यहाँ के किसी राजा ने उससे सहानुभूति नहीं दिखलाई। सभ्यता और सदाचार कर स्तर इतना ऊँचा था।

इस युद्ध का वर्णन जैसा कुछ चीनी लेखों में पाया जाता है उससे अत्युक्ति के साथ कथा का रूपान्तर भी मालूम होता है। कहा गया है कि युद्ध में ३,००० शत्रु रणशायी हुए, १०,००० बागमती नदी में डूब गए, ५८० नगरों को जीत कर अधिकार किया गया, २०,००० पशु भी पकड़े गए। चीनियों की सैन्य संख्या ८,००० थी। तीन दिन में उन्होंने विजय कर राजधानी को ले लिया। उनकी सैनिक संख्या (८,०००) में किसी प्रकार की क्षति का कथन नहीं है।

विचार करने पर इस युद्ध कथा का रूपान्तर प्रकट हो जाता है यदि अर्जुन और ह्यूनत्से का खुले मैदान में युद्ध हुआ होता तो ८,००० के विपक्ष में कम से कम १३,००० (३,००० + १०,०००) थे। यह सम्भव नहीं कि जितने समय में ८,००० सैनिक ३,००० सैनिकों का संहार करें उतने में १३,००० कुछ को भी न मार पावे। यहाँ तो ड्योढ़ा सैन्य बल के साथ साहस भी अधिक होना चाहिए था जैसा कि हराए को हराने में। अर्जुन के दल में कायरता का प्रादुर्भाव ३,००० के मारे जाने पर हुआ होगा—इससे पहिले तो यहाँ तक युद्ध हुआ कि ३,००० रणशायी हुए। तब तो चीनी दल का भी कुछ संहार होना चाहिए था किन्तु चीनी कथा में इसका उल्लेख नहीं है।

इसी प्रकार ५८० नगरों को इतने अल्प समय में कब्जे में कर लेना और वह भी बिना जन संहार, सम्भव नहीं।

इसलिए वास्तव में यदि प्ररोध (opposition) और युद्ध इन दोनों में हुआ होता तो इस कथा के वर्णन का यह सरल रूप न होता। यह घटना सत्य तभी प्रतीत हो सकती है जब कथा हो :—अर्जुन के अनीतियुक्त आचारों ने अप्रसन्नता का वायुमंडल उसके प्रतिकूल रच रखा था, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। सर्वप्रियधर्मानुयायी सम्राट के मरते ही, एक पदाधिकारी की उच्छृंखलता किसी को न भाई। वह स्वामी संसार से चल बसा था जो उदंडता करने वाले को दंड देता।

अर्जुन से जनता असंतुष्ट थी यह बात स्यात् ह्यूनत्से को मालूम थी जब वह संदेश लेकर आया था। वह समझता था कि अर्जुन का कोई सहायक न

होगा। यदि ऐसा विश्वास न होता तो अर्जुन का मार्गविरोध करने पर वह आक्रमण करने का साहस न करता, खासकर जब उसके साथ कम सेना थी। इतना वह नहीं समझ सका कि अर्जुन की शक्ति उतने कम चीनी सिपाहियों के लिए पर्याप्त थी। यद्यपि उसके सब सिपाही नष्ट हो गए थे और वह स्वयं कैद हो गया था किन्तु उसका विश्वास सत्य था। एकबार संघर्ष कर उसने निश्चित रूप से जान लिया कि यदि उसके पास सिपाहियों की संख्या सैकड़ों के स्थान पर हजार पर होती तो अर्जुन को वह अवश कर सकता था, अकेले ही। अर्जुन का दुर्व्यवहार ही उसके (अर्जुन) लिए शत्रु हो रहा था, ह्.यूनत्से को विशेष सेना की आवश्यकता न थी, वह जितनी चाहता था उससे अधिक सहायता उसे तुरन्त मिल गई और तीन महीने में वह बदला लेने लौट आया।

अर्जुन को स्वप्न में भी ख्याल न हुआ कि ह्.यूनत्से जीवित बचा होगा, सैन्य संगठन करेगा और इतने शीघ्र आक्रमण को आ पहुँचेगा। ह्.यूनत्से आक्रमण को आ रहा है, यह भेद भी सम्भवतः अर्जुन को मालूम न हुआ क्योंकि मालूम होने की अवस्था में राजधानी से सुदूर स्थान में युद्ध का पहिला मोर्चा हुआ होता। कौन उसका शुभ चिन्तक था जो यह भेद उसको पहिले से पहुँचाता। विपरीत इसके ऐसा प्रतीत होता है कि उसके गुप्त भेद शत्रु को पूरे तौर से मिल गए थे जो वह इतनी सफलता से इतने सन्निकट पहुँच सका। यही नहीं वरन् आक्रमणकारी सिपाही ऐसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचाए गए कि उन पर वार न हो सके और स्वयं उनका वार खाली न जाए। इस आकस्मिक छापा में जो दो तीन हजार सैनिक सम्मुख हुए वे काम आए। अर्जुन के अन्य सैनिक या तो युद्ध के लिए उद्यत ही न हो सके हों या परिस्थिति को विवश पा भाग निकले हों। भागने में नदी उतर कर सुरक्षित स्थान में पहुँचने के प्रयास में कुछ डूबे भी हों। संभव है डूबी हुई जनसंख्या अधिक हो किन्तु राजधानी पर छापा मारे जाने के भय से जो लोग घबड़ा कर भागे होंगे उनमें जनसंख्या विशेष कर निवासित प्रजा (civil population) की होगी, सैनिकों की बहुत न्यून।

सम्भव है अर्जुन के निमक ख्वार नौकर सिपाही सब ही मारे गए हों और उनकी अधिकाधिक संख्या ३,००० रही होगी।

इस संदर्भ में यह भी कहना है कि ह्.यूनत्से का अर्जुन की कैद से सफलता पूर्वक मुक्त होकर निकल भागना यह ज़ाहिर करता है कि अर्जुन के कर्मचारी ह्.यूनत्से के अनीति से पकड़े जाने पर असंतुष्ट थे।

अब जन, पशु इत्यादि पर अधिकार की बात आती है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जब स्वयं अर्जुन ही कैद हो गया तब विजित के जन, पशु सब ही चीनियों के अधिकार में आ गए जो १२ और २० हजार बताए गये। जब

जनता ही अर्जुन के अनुकूल न रही तब उसके प्रांतांतर्गत नगरों को स्वतः ह्यूनत्से के अधिकार में आना समझना चाहिए। अन्यथा यदि अधिकार युद्ध करके जमाया जाता और अधिकार रखने में यदि प्रति नगर २० सिपाही भी रखे जाते तो ८,००० से कुछ पूरा ही न पड़ता। विजय वैभव से कही गई कथाओं में इतिहासकार को इन बातों का मार्जिन (margin) रख लेना चाहिए विशेषकर जबकि कथन एक पक्षीय हो।

महाराज हर्ष के दिवंगत होते ही राज्य प्रबन्ध की बागडोर ढीली हो चली थी यह ऊपर के उदाहरण से अनुमानित होता है। राज्यश्री के जीवन समय में दृढ़ बन्धन होना सम्भव ही न था, निदान अन्य राजाओं की वृद्धि होने लगी तथा उनके अपने को साम्राज्य से पृथक कर स्वतंत्र हो गए। इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरण उल्लेखनीय हैं :—

(१) मगध में आदित्यसेन ने स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। वह हर्ष के करद माधवगुप्त का पुत्र था और धीरे-धीरे अपने राज्य को बढ़ाकर महाराजाधिराज परमभट्टारक की उपाधि धारण की। इस प्रकार उसने गुप्तों की लुप्त प्रतिष्ठा को कुछ हद तक पुनर्स्थापित किया। शाहपुर लेख के अनुसार वह हर्ष संवत् ६६ (सन् ६७२ ई०) में गद्दीनशीन था। उसने अश्वमेध तथा अन्य यज्ञ भी किए। इस प्रकार हर्ष के न रहने पर उसने पूर्व में कन्नौज के अधीन बहुत से इलाकों पर कब्जा कर लिया।

(२) इसी प्रकार गुर्जर लोग राजपूताना और पंजाब की ओर अग्रसर होकर स्वतंत्र हो गए। काश्मीर में काकोटक वंश का अभ्युदय हुआ। अगली शताब्दी में इन शक्तियों का उत्तर भारत की राजनीति में महत्वपूर्ण भाग रहा।

(३) कामरूप (आसाम) के राजा तथा हर्ष के मित्र भास्करवर्मन ने भी कन्नौज की कमजोरी का लाभ उठाकर अपने को स्वतंत्र कर लिया तथा कर्णसुवर्ण राज्य तथा उसके पड़ोसी इलाकों को (जो पहले हर्ष के साम्राज्य के अंग थे) अपने कब्जे में कर लिया। कर्ण सुवर्ण की राजधानी में विजय-यात्रा करने के बाद भास्करवर्मन ने वहाँ के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण को भूमिदान दिया जिसका उल्लेख उसकी निधानपुर की घोषणा-पट्टिका में है।

राज्यश्री के शासनकाल में चीनी यात्री इत्सिंग का भारत आगमन :—यह यात्रा राज्यश्री के समय की एक उल्लेखनीय बात है यद्यपि कन्नौज से उसका कोई सीधा लगाव नहीं है। पहले बताया जा चुका है कि गुप्तकाल के बाद हर्ष के समय में भारत का सम्पर्क विदेशों से बढ़ा। हर्ष के समय में सीरिया और चीन के यात्री भारत आए जिनमें से चीनी परिव्राजक ह्वेन सांग का विवरण पूर्व

में दिया जा चुका है। उसके बाद चीन के सम्राट की ओर से कुछ चीनियों का एक दल भारत आया था और स्वयं हर्ष ने भी सन् ६४१ में अपना एक दूत चीन भेजा था। इसके बाद भी चीनी यात्री भारत आते रहे जिनमें इत्सिंग नामक यात्री उल्लेखनीय है। वह चीनी बौद्ध भिक्षु था जो समुद्री मार्ग मलय, सुमात्रा और बंगाल की खाड़ी होते हुए भारत आया और बंगाल के ताम्रलिप्ति बन्दरगाह पर पहुँचा (लगभग ६७५ ई०)। दस वर्ष तक वह नालन्दा विश्व-विद्यालय में रहा और वहाँ के प्रसिद्ध आचार्यों से संस्कृत तथा बौद्ध धर्म के ग्रन्थों को पढ़ा। भारत से वापस जाने पर वह अपने साथ लगभग ४०० पुस्तकें चीन ले गया। वहाँ एक बौद्ध विहार में रहकर उसने लगभग ६० ग्रन्थों का अनुवाद तथा उनकी व्याख्या की। सन् ६९१ में उसने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "भारत तथा मलय द्वीपपुंज में प्रचलित बौद्ध धर्म का विवरण" प्रकाशित किया। यद्यपि इस ग्रन्थ से उस काल के भारत के राजनीतिक इतिहास के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती तथापि यह ग्रन्थ बौद्ध धर्म और संस्कृत साहित्य के इतिहास का अमूल्य स्रोत माना जाता है। वह चीन के तांगवंश के चुंग-सुंग सम्राट का समकालीन था जिसने उसके परिश्रम और विद्वता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सन् ७१३ में उसकी मृत्यु हुई।

इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि ७वीं सदी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत में सैनिक उथल-पुथल का वातावरण नहीं था और संकुचित कन्नौज राज्य भी शान्तिमय था।

२. मौखरि वंशीय सुचन्द्रवर्मन और भोगवर्मन

पहले के अनुच्छेदों में हर्ष की मृत्यु (६४७-४८ ई०) के एक-दो साल बाद राज्यश्री के शासन की बात कही गई है जो केवल अनुमान पर ही आधारित है। यह अनुमान संदिग्ध है क्योंकि कुछ प्रमाणों से ऐसा भासित होता है कि लगभग सन् ६५० से सन् ७०० तक के अन्तराल में कन्नौज की गद्दी पर मौखरि वंशीय दो राजा आरूढ़ थे जिनके नाम सुचन्द्रवर्मन और भोगवर्मन मिलते हैं। उनके सम्बन्ध में पूर्णतयः प्रमाणित तथ्य उपलब्ध नहीं हैं किन्तु जो कुछ भी जानकारी प्राप्य है उसका विवरण मौखरि वंश सम्बन्धित अध्याय १३ के अनुशीर्षक १० में दे दी गई है।

३. राजा रणमल्ल और राजा हरचन्द

उक्त सुचन्द्रवर्मन और भोगवर्मन के बाद, यानी ७०० ई० के लगभग, राजा रणमल्ल का नाम पाया जाता है।[1] ज्ञात नहीं कि वह किस रिश्ते से

१. J. A. S. B., Volume X, Part I, p. 188.

कन्नौज राजगद्दी का उत्तराधिकारी हुआ। किस राजवंश में उसकी उत्पत्ति थी इसकी भी जानकारी नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं कि वह राजवंशोद्भव था और गद्दी का उत्तराधिकारी होता था। सुदूर प्रान्तों में इसने पूर्ववत् आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और सन् ७०० ई० में सिन्ध पर आक्रमण किया।[1] यही रणमल्ल को राजवंशी और सच्चा उत्तराधिकारी सिद्ध करने को पर्याप्त है।

रणमल्ल का राज्य दीर्घजीवी नहीं रहा। सन् ७१५ ई० में हरचन्द कन्नौज का शासक मिलता है।[2] नहीं कहा जा सकता कि रणमल्ल का यह कौन था। इधर दस-पांच वर्ष में न कोई प्रसिद्ध राजा ही हुआ और न ऐतिहासिक घटना। हरचन्द सिन्ध-विजेता मुहम्मद बिन कासिम का समकालीन था।

नाते और लगाव से राजमुकुट पहिनने वालों का सिलसिला इसी थोड़े समय में समाप्त हो गया।

अब जब दूसरे वंश वाले इस मुकुट को धारण करने आते हैं तब उनके टूटे रिश्ते और लगाव का कुछ भी विचार नहीं होता है। पराक्रम की तुला पर राजमुकुट तुलने लगता है जैसा कि आगे देखने में आवेगा।

४. दो अन्तिम शब्द

सम्राट हर्ष ने एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करके उसे अपने अन्तिम दिन तक सुदृढ़ बनाए रखा। उसकी मृत्यु के बाद आगामी तीन सदियों (६४७-१,००० ई०) में उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में लगभग १०-१२ राज्यवंशों का उत्थान हुआ जो समय-समय पर देश के विभिन्न भागों में राज्य करते रहे। इन राज्यवंशों के कई सदस्यों ने समुद्रगुप्त अथवा विक्रमादित्य बनने की चेष्टा की। कई एक ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण करके अश्वमेध यज्ञ भी किए परन्तु इनमें से कम को ही प्राचीन सम्राटों का सा गौरव प्राप्त करने का अवसर मिला। उन राज्यवंशों में उत्तर भारत के कुछ प्रमुख वंशों को कन्नौज के क्षीण गौरव को फिर से प्रफुल्लित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनका उल्लेख आगे के अध्यायों में अंकित हैं।

●

---

१. J. A. S. B., Volume X, Part I, p. 188.

२. अब्बुल फजल के आधार पर कनिंघम साहब।

अध्याय–१५

सम्राट यशोवर्मन और उसके उत्तराधिकारी

१. सम्राट यशोवर्मन

२. उनके उत्तराधिकारी-आमराज, दुन्दुक और भोज।

१. सम्राट यशोवर्मन

(७२५–७५२ ई०)

नोट १ और २

नोट १—यह यशोवर्मन मिलते-जुलते नाम ''यशोधर्मन'' से भिन्न था। यशोधर्मन मध्यभारत का एक शक्तिशाली राजा था जिसका राज्यकाल छठी सदी के पूर्वार्द्ध (अर्थात् ई० ५००-५५०) में था। सन् ५३० के लगभग उसने हूण-शासक मिहिरकुल को पराजित किया था।

नोट २—सन् ७२५ के लगभग कन्नौज राज्य पर महाराज यशोवर्मन सुशोभित हुए किन्तु सही तौर पर यह ज्ञात नहीं है कि किस प्रकार वे इसके स्वामी हुए। उनके द्वारा दिग्विजय की भी बात आती है किन्तु बाद में वे स्वयं काश्मीर–नरेश ललितादित्य मुक्तापीड़ द्वारा पराजित हुए और फिर एक आश्रित राजा की भाँति अपने संकुचित राज्य का प्रबंध करते रहे। आम, दुन्दुक और भोज उनके तीन उत्तराधिकारी हुए। स्कन्ध पुराण में ''कान्यकुब्जाधिप'' आम का नाम आता है।[1]

यशोवर्मन सम्बन्धित स्रोत—यशोवर्मन के इतिहास को निम्न ग्रन्थों आदि का अवलम्ब मिलता है—

(१) गौडवाहो (प्राकृत ग्रन्थ)—यशोवर्मन के दरबारी कवि वाक्पतिराज रचित,

(२) प्रभावक-चरित (चन्द्रप्रभसूरी कृत जैन ग्रन्थ)—प्राकृत ग्रन्थ, यच० एम० शर्मा द्वारा सम्पादित (बम्बई १९०९)

(३) राजशेखरकृत प्रबंधकोश—जैन ग्रन्थ,

(४) वप्पभट्ट सूरि कृति सूरिचरित—वही,

(५। कल्हणकृत राजतरंगिणी (काश्मीर के शासकों का इतिहास)

---

१. स्कन्ध पुराण, ब्रह्मखंड, धर्मारण्य, ३६/१२।

(६) यशोवर्मन के समकालीन] महाकवि भवभूतिकृत मालतीमाधव नाटक,

(७) कतिपय खोज सामग्री (जैसे यशोवर्मनदेव का नालन्दा शिला-लेख)।

यशोवर्मन का प्रारम्भिक जीवन तथा वंश परिचय — यशोवर्मन के माता-पिता तथा प्रारम्भिक जीवन के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है किन्तु उसकी विजयों से विदित होता है कि वह एक वीर एवं साहसी योद्धा था और कन्नौज पर गद्दीनशीन होने के पहले उसे राज्य-संचालन का पर्याप्त ज्ञान था। इससे यह सम्भावना कुछ दृढ़ हो जाती है कि कदाचित वह राज्यश्री के अन्तर्गत प्रधान मंत्री था और उनकी मृत्यु के बाद या कुछ समय बाद कन्नौज राज्य का औपचारिक अधिकारी हुआ। इस सम्भावना पर आगे प्रकाश डाला गया है।

यशोवर्मन के वंश के संबंध में भी स्पष्ट जानकारी नहीं है तथा अधिकांश इतिहासकारों ने भी इस विषय पर अपने विचार व्यक्त नहीं किए हैं—केवल सर अलेक्जेन्डर कनिंघम ने कहा है कि वह मौखरिवंश का था जिसका समर्थन कुछ अन्य विद्वानों ने किया है। इसके प्रतिकूल बप्पभट्ट सूरि ने अपने ग्रन्थ बप्पभट्टसूरि चरित में स्पष्ट लिखा है कि यह तेजस्वी कान्यकुब्ज का राजा चन्द्रगुप्त मौर्य का वंशज है।[1] वाक्पतिराज ने गौडवाहो में उसे चन्द्रवंशी लिखा है तथा उसे चन्द्रवंश के राजाओं में आभूषण के रूप में व्यक्त किया है जिससे यह समझा जा सकता है कि वह किसी प्रख्यात क्षत्रिय वंश का सदस्य था। तेरहवीं या चौदहवीं सदी में लिखित प्रभावक-चरित में उसे चन्द्रगुप्त परिवार के यशस्वी आभूषण की संज्ञा दी गई है।[2]

सही प्रमाण अप्राप्य होने की अवस्था में अधिक मान्य मत कनिंघम महोदय का प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि में एक तर्क यह है कि नाम के अन्त में 'वर्मन' शब्द का प्रयोग मौखरि वंशीयों में था। दूसरे यह कि हर्षकाल के पहले कन्नौज मौखरियों का राज्य था और हर्ष के मंत्री अर्जुन के राज्यच्युत हो जाने के बाद कन्नौज की गद्दी उसी वंश में रही और अन्ततः वह यशोवर्मन के अधिकार में आई। तीसरे यह कि गुप्त वंश का अवसान बहुत पहले ही हो चुका था और मौखरि वंश का राज्य मगध में था और मौखरियों और गुप्तों में वैवाहिक संबंध थे। मगध राज्य का आदित्यसेन यशोवर्मन का जामात्र था। ऐसा समझ पड़ता है कि मगध का राज्य मौखरि काल के बाद से गुप्तवंश के आधिपत्य में रहा।

---

१. J. B. R. A. S., Vol. III, May 1928, p. 102, 314.

२. पृ० १३१ यच० एम० शर्मा द्वारा संपादित, (१९०९)।

जिसके हाथ में प्रबन्ध था वही समय पाकर राजा हो गया । इस प्रकार यशोवर्मन का राज्यश्री तथा मौखरिवंश से संबंध सिद्ध होता है ।

यहाँ यह भी कह देना उचित है कि अधिकतर इतिहासकार[1] यशोवर्मन का किसी प्रथित राजवंश से संबद्ध नहीं मानते । कुछ भी हो, वह स्वयं महान् था और प्राचीन आदर्श का अनुसरण करता हुआ दिग्विजय-प्रवृत्त था। अतः वह किसी भी प्राचीन क्षत्रिय वंश से अवश्य संबंधित था ।[2]

किस प्रकार यशोवर्मन कन्नौज राज्य के शासक हुए—पहिले आ चुका है कि थानेश्वर की राज्यश्री हर्ष के साथ कन्नौज की राज्यश्री, में तरोभव हो चुकी थी । राज्यश्री के पति ग्रहवर्मन मौखरि के अवसान पर हर्षवर्धन ने राज्याधिकार रखते हुए भी कई वर्षों तक किरीट मुकुट धारण नहीं किया था । कारण स्पष्ट है । एक तो ग्रहवर्मन के कोई औरस सन्तान न थी क्योंकि वह थोड़ी उम्र ही में अकाल मृत्यु पा गया था । तब धर्मपत्नी राज्यश्री के अतिरिक्त उसका कोई उत्तराधिकारी न था किन्तु विह्वला राज्यश्री को पति विछोह की यातनाओं ने वैधव्य के साथ कठिन वैराग्य की भी दीक्षा दे दी थी । दूसरे वह अनुभव हीन अबला राज्य की बागडोर अपने हाथ में कैसे ले सकती थी । निदान हर्ष को सहर्ष अथवा विवश, जैसा भी कुछ हो, सम्राट पद स्वीकार करना पड़ा। पर वास्तव में वह पद राज्यश्री ही का था अतः हर्ष को अपनी बहिन का स्थानापन्न भी कहा जा सकता है । इसीलिए हर्ष का दीर्घकालीन राज्य न तो मौखरिवंश में परिणित किया जा सकता है न वर्धन वंश में ।

महाराज हर्ष के निधन पर वही समस्या फिर उपस्थित हो जाती है क्योंकि हर्ष के भी कोई औरस पुत्र न था । महराज ग्रहवर्मन के बाद दोनों क्षीयमान वंशों की ग्रन्थि लगाने को हर्ष आधार मिला था किन्तु अब वह आधार समाप्त हो गया । हर्ष के कई वर्ष बाद तक कन्नौज की राजगद्दी पर कोई सुशोभित नहीं मिलता है । किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उस समय राज्यश्री जीवित थी और इसीलिए कुछ काल तक राज-तिलक का प्रश्न पैदा न हुआ । यह दूसरी बात है कि उसने स्वयं राज-मुकुट धारण नहीं किया ।

सम्राट के पंचत्व प्राप्त करने पर जब कोई उत्तराधिकारी राजमुकुट धारण करने को अग्रसर नहीं होता है तो कर्ता-धर्ता मंत्री ही हो जाते हैं । इसलिए हर्ष के पश्चात् यदि उनके मंत्री अर्जुन ने चीनी यात्री ह्यूनत्से से तांडव रास रच दिया तो इससे ही वह राजा नहीं माना जा सकता । सम्भवतः विरक्त राज्यश्री

---

१. डॉ० त्रिपाठी, डॉ० स्मिथ, डॉ० मजूमदार आदि ।

२. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० ८६-८७ ।

को तिमिराछन्न करने के लिए अथवा स्वयं अपने को शासनकर्ता सिद्ध करने के भाव से अर्जुन ने लोभवश अदीर्घदर्शिता से काम लिया हो । अस्तु ।

यदि किसी विजयी नरेश अथवा सामन्त ने अपने बाहुबल से कन्नौज के साम्राज्य को अपने स्वाधिकार में कर लिया होता तो उसकी जयकीर्ति का संकेत इतिहास में कहीं-न-कहीं अवश्य मिलता । इसके न मिलने से अनुमान होता है कि तपस्विनी राज्यश्री को दीर्घ आयु में उसको उदासीनता वृत्ति के कारण तत्कालीन शक्तियों ने भी उदासीनता धारण रखी और उसका राज्य प्रबन्ध उसके मंत्रियों द्वारा येन-केन प्रकारेण चलता रहा । तत्पश्चात् उन्हीं में से प्रमुख मंत्री के हाथ में राज्य आ जाना सहज सिद्ध होता है क्योंकि वही वास्तविक शासनकर्ता था और कदाचित् राज्यश्री का सम्बन्धी भी, जिसको पड़ोसी राज्य वर्तते चले आते थे । मुख्य मन्त्री द्वारा शासक के जीवन काल में या उसके बाद राज्य को हस्तगत करने के अनेकों उदाहरण इतिहास में मिलते हैं । ऐसी स्थिति में उस मन्त्री के गद्दी पर बैठने पर पड़ोसी राजाओं अथवा राज्य की प्रजा द्वारा ही आपत्ति की सम्भावना न थी । उक्त विचारधारा के अनुसार इस प्रकार यशोवर्मन का आठवीं सदी में कन्नौज का शासक हो जाना विस्मयजनक नहीं समझा जा सकता ।

राज्यारोहण-तिथि तथा विजय यात्रा :—यशोवर्मन कब कन्नौज की गद्दी पर बैठे यह भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है । डा० त्रिपाठी ने अनेकों तथ्य ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि सन् ७२५ के लगभग वे सत्तारूढ़ हुए । साथ ही यह भी कि वे सन् ७५२ के लगभग तक जीवित रहे और राज्य करते रहे ।[1]

यशोवर्मन के सत्तारूढ़ होने के समय देश को अरब विजेताओं से भय था क्योंकि उन्होंने सिन्ध प्रदेश पर सशक्ति अधिकार कर रखा था । यशोवर्मन की काश्मीर के ललितादित्य मुक्तापीड़ से पहले मित्रता थी (वैमनस्य बाद में हुआ) और उसने चीन के सम्राट के पास सन् ७३१ में अपना दूत मण्डल भेजा था । इस प्रकार अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के बाद उसने दिग्विजय यात्रा प्रारम्भ की जिसका सविस्तार वर्णन वाक्पतिराज ने गौडवाहो (गौड-राज-वध) ग्रन्थ में किया है । कवि वाक्पति परमार वंशीय क्षत्रिय था जिसने अपने आश्रयदाता यशोवर्मन के दिग्विजयों की बातें लिखी हैं । इस ग्रन्थ में उसने बाण के हर्ष-चरित तथा कालिदास के रघुवंश (चतुर्थ सर्ग) में वर्णित विजयों को ध्यान में रखते हुए अपने अधिराज की विजयों का विवरण दिया है । उस लम्बे वर्णन का सार नीचे दिया जा रहा है :—

१. History of Kanauj, pp. 194-97.

वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर यशोवर्मन सम्पूर्ण पृथ्वी-विजय के लिए[1] अपनी राजधानी से पूर्व की ओर चला। प्रस्थान के पहले उसने वैदिक विधि से अवसरोचित यज्ञों का अनुष्ठान किया। तदनन्तर उसने यथाक्रम निम्न विजयें कीं :—(१) मगध राज्य, (२) वंग, (३) दक्षिण में मलय क्षेत्र, (४) पारसीकों (परशियन)[2] पर विजय, (५) पश्चिमी पर्वतों से घिरे हुए क्षेत्र की विजय, (६) मरु देश (गुर्जर देश), (७) श्रीकंठ देश (थानेश्वर), (८) कुरु-विजय तथा (९) उत्तर के पर्वतीय प्रदेश पर विजय।

गौडवाहों के अनुसार इस सब विजयों के करने के बाद यशोवर्मन अपनी राजधानी कन्नौज वापस आया। कुछ इतिहासज्ञों ने वाक्पति के विवरण पर आक्षेप किए हैं जैसे विद्वान वी० वी० वैद्य ने केवल गौड (वंग) विजय को और गोडनृप के वध को ऐतिहासिक सत्य माना है।[3] उनका कहना है कि किसी भी पराजित राजा के नाम का उल्लेख ग्रन्थकार ने नहीं किया है। डॉ० त्रिपाठी भी वाक्पति की विजय-प्रशस्ति को दशरथ के पूर्वज राजा रघु की विजयों पर आधारित अनैतिहासिक मानते हैं।[4] इन मतों के विपरीत स्मिथ महोदय कवि के विवरण को सत्य मानते हैं। उनके शब्दों में :—

"I see no reason to doubt the substantial truth of the contemporary testimony. There is nothing incredible in the assertion that a powerful king, occupying at Kanauj of good central position, should have carried his arms eastwards across Bengal, southwards to the Narmada and northwards to the foot of the mountains."[5]

इसके अतिरिक्त यशोवर्मन के नालन्दा लेख से भी उसकी दिग्विजय सिद्ध होती है। उसमें कहा गया है कि श्री यशोवर्म देव सूर्य के समान राजा था जिसका उच्च प्रताप प्रत्येक दिशा में फैला हुआ था, वह प्रसिद्ध लोकपाल (सम्राट) था, जिसका अधिकार 'सकल-वसुमती' (सम्पूर्ण देश) में जमा था। उसका यह प्रताप और प्रभाव उसकी तलवार के बल पर आधारित था जिससे उसने सभी शत्रुओं को नष्ट कर दिया था तथा उसने सभी राजाओं के सिर पर

---

१. सकल-धरा-वलय विजय व्यवसायो।

२. कुछ विद्वान 'पारसीकों' से अरबों का अभिप्राय बताते हैं।

३. History of Hindu Mediaeval India, Part I, pp. 342-43.

४. History of Kanauj, p. 200.

५. J. R. A. S., 1908, p. 779.

अपना पैर रखा था।[1] इसी से मिलता-जुलता वर्णन गौडवाहों में भी है जिसमें यशोवर्मन की समता तिमिर-नाशक सूर्य से की गई है। यह भी कि उसने रिपु-श्री को तेज तलवार से नष्ट किया था, यथा नाम तथा गुण के अनुरूप यशोवर्मन भयभीत जनों का त्राता था, परिजनों के प्रति अनुराग और शत्रुओं के प्रति कोप उसका चारित्रिक गुण था, उसके राजत्व में दोष न थे, सभी दिशाओं में उसके गुणों की छाप लगी थी।[2] इसी प्रकार के अन्य सादृश्य भी दोनों स्थलों में मिलते हैं इस दृष्टि से तथा अन्य तथ्यों के आधार पर गौडवाहो के विवरण पर सन्देह करना उचित नहीं है।

डॉ० अवस्थी ने इस निष्कर्ष का समर्थन करते हुए लिखा है कि "वाक्पति के यशोवर्मन की उपलब्धियों का ज्ञान उसके अपने साक्ष्य पर आधारित है, इसीलिए इसको पूर्णरूप से अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। इतना अवश्य है कि वर्णनों में अतिशयोक्ति है।"[3]

साम्राज्य विस्तार :—गौडवाहों में वर्णित यशोवर्मन की दिग्विजय यद्यपि अतिशयोक्तिपूर्ण है फिर भी उसके सम्राट होने में सन्देह नहीं। बंगाल और मगध (आधुनिक बिहार) तो अवश्यमेव उसके साम्राज्य के अंग थे जैसा कि डा० त्रिपाठी ने भा माना है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी भारत का अधिकांश भूभाग (मालवा, मरु आदि) तथा सुदूर उत्तर के क्षेत्रों (काश्मीर को छोड़कर) का भूभाग तथा दक्षिण की ओर गोदावरी (अथवा नर्मदा) के तट का इलाका उसके अधिकार में होना सम्भव समझ पड़ता है—यह कथन स्मिथ महोदय के पूर्व-लिखित कथन के साथ फिट बैठता है। हाँ सुदूर दक्षिण भारत सम्बन्धी उसकी विजयों के बारे में शंका का उठना असंगत नहीं कहा जा सकता। वाक्पति ने उसकी दिग्विजय का यश निम्न पद में वर्णन किया है —

"इति वन्दिननन्दित जयं गाधिपुरारुढ-सैन्यविन्यासः।"[4]

अन्ततः यह माना जाता है कि यशोवर्मन बडा शक्तिशाली नरेश था और एक विस्तृत साम्राज्य का स्वामी रहा जब तक कि सन् ७३३[5] के लगभग काश्मीर

---

१. यशोवर्म देव का नालन्दा शिला-लेख, श्लोक २।

२. गौडवाहो, ७००-७०५, ७१२-७१७, ७२१-७२६।

३. डॉ० अवस्थी, राजपूत, राजवंश, पृ० ९०।

४ गौडवाहो, ७३७।

५. डा० त्रिपाठी ने तर्क सहित विचार करने के बाद निश्चित तिथि १४ अगस्त सन् ७३३ रखी है जो प्रो० जैकोबी की ज्योतिषीय गणना के अनुसार वह दिन था कि जब कन्नौज में दर्शित सूर्य ग्रहण पड़ा था।

के ललितादित्य द्वारा पराजित होने पर उसका राज्यविस्तार क्षीण हो गया और साम्राज्य के रूप में कन्नौज का गौरव नष्ट हो गया।

ललितादित्य द्वारा पराजित होना :—यह एक विस्मय की बात है कि इतना वीर तथा एक शक्तिशाली साम्राज्य का स्वामी काश्मीर जैसे दूरस्थ राज्य के शासक द्वारा पराजित हुआ किन्तु इसकी सत्यता इतिहास पुष्ट करता है। इसे काल की विचित्रता ही कहेंगे, प्रसिद्ध भी है कि—

पुरुष बली नहि होत है समय होत बलवान,
भिल्लन लूटी गोपिका वहि अर्जुन वहि बान।

कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार करकोट-वंशीय काश्मीर-नरेश ललितादित्य मुक्तापीड ने दिग्विजय की। इस संदर्भ में कल्हण ने लिखा है कि :—

> यह महाराज पूर्व में अन्तर्वेदी (दोआब) की ओर बढ़ा और गाधिपुर (कान्यकुब्ज) में घुस कर भय उत्पन्न कर दिया। क्षणमात्र में ही ललितादित्य ने यशोवर्मन की विशाल सेना को नष्ट कर विजय प्राप्त की। दोनों ही सम्राटों में सन्धि हो गई। इस प्रकार यशोवर्मन के प्रताप और प्रभाव को ललितादित्य ने मूलतः नष्ट कर दिया। पराजित राजा के राज्य से कान्यकुब्ज देश (यमुनापार से काली नदी[१] तक का क्षेत्र) ललितादित्य के अधिकार में चला गया।[२]

राजतरंगिणी से यह भी ज्ञात होता है कि दोनों राजाओं में दो युद्ध हुए। पहला युद्ध लगभग बराबरी में समाप्त हुआ अर्थात् निश्चित विजय किसी पक्ष की नहीं हुई यद्यपि यशोवर्मन का पल्ला कमजोर रहा। अतः उसने ललितादित्य के बड़प्पन को स्वीकार करते हुए सन्धि कर ली। किन्तु सन्धि के आलेख्य में यशोवर्मन का नाम पहले था और ललितादित्य का बाद में यथा, यशोवर्मन और ललितादित्य की सन्धि। इस वर्णन से असंतुष्ट होकर ललितादित्य के युद्ध-संधि-मंत्री मित्र शर्मा ने संध-आलेख्य को स्वीकार नहीं किया उसकी समझ में उक्त वर्णन से उसके विजयी स्वामी की कुछ मानहानि दर्शित होती थी। फलस्वरूप संधि वार्ता असफल हो गई और अपने मंत्री के आग्रह पर ललितादित्य ने युद्ध को पुनः चालू कर दिया यद्यपि उसके सेना नायक इसके विरुद्ध थे।[3] अन्ततः

---

१. काली नदी कन्नौज नगर से कुछ दूरी पर गंगा से मिलती है।

२. राजतरंगिणी, चार, १३१-१३४, १३८, १४०, १४५।

३. मित्र शर्मा की संधि-आलेख्य संबंधित मंत्रणा से प्रसन्न होकर ललितादित्य ने उसे 'पंचमहाशब्द' (महान) की उपाधि दी। इस प्रकार की उपाधि कभी-कभी सार्वभौम शासक भी धारण करते थे।

ललितादित्य पूर्ण विजयी हुआ। राजतरंगिणी में यह भी आया है कि उसे धार्मिक मामलों में विशेष रुचि थी और यह कि कान्यकुब्ज तथा उसके गाँवों की आमदनी ललितादित्य ने अपने द्वारा निर्मित ललितपुर (अब लटपोर) के आदित्य देव (मार्तण्ड) के मन्दिर में लगाई।[1] मन्दिर का दैनिक खर्च इसी आमदनी से चलता था।

यहाँ यह कह देना है कि इस युद्ध के कुछ समय पूर्व तक दोनों शासकों में मित्रता थी किन्तु बाद में शत्रुता होने का कारण इतिहास को ज्ञात नहीं है। डा० अवस्थी ने इस सम्बन्ध में निम्न सम्भावना व्यक्त की है :—"दिग्विजय के पश्चात् यशोवर्मन का अधिकार कुरु और श्रीकंठ देश (पूर्वी पंजाब) तक जम गया था। अतः अब दो महत्वाकांक्षी राजाओं की सीमाएँ एक दूसरे की सीमा को छूने लगीं, तो दोनों में संघर्ष होना आवश्यक था।"[2] यह भी आया है कि ललितादित्य बड़ा वीर और पराक्रमी था तथा कन्नौज के अतिरिक्त उसने अन्य कई राज्यों पर विजय प्राप्त की थी।

उक्त पराजय के परिणामस्वरूप यशोवर्मन का प्रभुत्व नष्ट हो गया यद्यपि उसे जीवित रहने दिया गया तथा उसे पूर्णतया पदच्युत नहीं किया गया। कुछ विद्वानों ने उसके वध हो जाने की बात कही है किन्तु डा० त्रिपाठी ने राजतरंगिणी के साक्ष्य के आधार पर लिखा है कि यशोवर्मन ने ललितादित्य की महानता को स्वीकार करते हुए अपने को उसके अधीनस्थ माना जिसके फलस्वरूप विजयी नरेश ने उसे गद्दी से नहीं उतारा किन्तु उसके साम्राज्य का अधिकांश भाग अपने तहत कर लिया।[3] ललितादित्य के पश्चात् कन्नौज फिर स्वतंत्र तो हो गया किन्तु ५०-६० वर्ष तक इस राज्य में स्थिरता न आ सकी। यशोवर्मन का राजकीय यश उसके साथ ही चला गया यद्यपि कहने को उसके वंशजों ने तीन पीढ़ी तक राज्य किया।

साथ ही कन्नौज नगर का वैभव भी जिसे हर्ष के बाद यशोवर्मन ने पुनर्स्थापित किया था, नष्ट प्रायः हो गया। कन्नौज की यह जो शोचनीय स्थिति नवीं सदी के प्रारम्भ तक बनी रही। जबकि सन् ८१५ के लगभग गुर्जर राज्य (मालवा) के प्रतिहार शासक नागभट्ट द्वितीय ने कन्नौज राज्य को जीतने के बाद अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर कन्नौज में स्थानान्तरित की।

स्वयं कवि तथा विद्वानों का पोषक यशोवर्मन :—एक महान योद्धा तथा

---

१. Book IV, verse 187 (Stein, p, 139).

२. डा० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० ९२।

३. Cf. History of Kanauj, p. 203.

विजेता होने के साथ-साथ महाराज यशोवर्मन विद्या और साहित्य का उन्नायक भी था। कल्हण ने इस विषय पर निम्न पद लिखा है :—

कविर्–वाक्पतिराज-श्रीभवभूत्यादि सेवितः।
जितो यय्यौ यशोवर्मा तद् गुणस्तुति वन्दिताम् ॥[1]

अर्थात् कवि यशोवर्मन, जिसके आश्रय में वाक्पतिराज, श्रीयुक्त भवभूति तथा अन्य कवि थे, अपनी पराजय (ललितादित्य द्वारा) के कारण विजेता के गुणों के प्रशंसक बन गए। इसके अतिरिक्त उद्भट-सागर (तृतीय प्रवाह) में यशोवर्मन को निम्न शब्दों में एक 'प्रसिद्ध कवि' की संज्ञा दी गई है :—

"कान्यकुब्ज महाराजो यशोवर्मा प्रसिद्ध कविरासीत्।
तस्य सभावाक्पतिराज-भवभूत्यामेव सकलंगताऽसीत् ॥"[2]

यशोवर्मन द्वारा विरचित ग्रन्थों की निश्चित जानकारी नहीं है किन्तु विद्वानों ने यह माना है कि रामाभ्युदय नामक नाटक उसी की रचना थी। यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है। साथ ही बल्लभदेव की सुभाषितावली के कुछ श्लोक भी उसी के बनाए हुए हैं।

यशोवर्मन के दरबार का धुरन्धर विद्वान महाकवि भवभूति था जिसके नाटका-मलतीमाधव, उत्तररामचरित और महावीरचरित संसार के उच्चतम नाटकों की श्रेणी में आते हैं। संस्कृत विद्वान हरटेल ने लिखा है कि इन तीनों नाटकों की रचना कन्नौज ही में हुई होगी जिससे कि उनका अभिनय कन्नौज नगर के कालप्रियनाथ के मन्दिर में किया जा सके जहाँ धार्मिक यात्री इकट्ठा होते थे और कालप्रियनाथ महादेव यशोवर्मन के परिवार के इष्टदेव भी थे।[3] कुछ विद्वानों ने कालप्रियनाथ के मन्दिर को कालपी (उत्तर प्रदेश) में स्थित माना है किन्तु यह सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि कन्नौज नगर के कालेश्वरनाथ महादेव जनश्रुति के आधार पर भी यशोवर्मन द्वारा ही स्थापित किए गए थे।

संस्कृत-कवियों में भवभूति का बड़ा ऊँचा स्थान है। अपने बाल-रामायण में राजशेखर ने भवभूति को वाल्मीक का अवतार माना है। कुछ विद्वानों के अनुसार उत्तररामचरित की कविता कालिदास की कविता से भी बढ़ी हुई है वाक्पति इनको अपने से बढ़कर मानता ही था और ऐसा भी कहा जाता है कि वह भवभूति का शिष्य भी था। मालतीमाधव में भवभूति ने पद्मावती (पदमपुर

१. राजतरंगिणी, चार, श्लोक १४४।
२. पृ० १६६, नोट (१७०)।
३. Hertel, Asia Major, Vol. I, pp. 12-13.

या नरवर, ग्वालियर क्षेत्र) को अपनी जन्म भूमि बताया है जहाँ उसके पूर्वज रहते थे।

दूसरा दरबारी कवि तथा विद्वान साहित्यकार वाक्पति, वाक्पतिराज अथवा वप्पयराय था जिसे बप्पभट्ट-चरित में परमार-वंशीय क्षत्रियों का हीरा कहा गया है। राज दरबार में उसकी मान्यता भवभूति से अधिक थी और वह राजा के निकटतम भी था जिनसे कि उसका संबंध प्रायः मित्रतुल्य था। इसकी दो रचनाएँ हैं—गौडवाहो तथा मधुमथविजय, दोनों प्राकृत में। मधुमथविजय की रचना पहले हुई थी जिसके बारे में कवि ने गौडवाहो में कहा है कि वह उसकी उच्चतम रचना है।[1] यह ग्रन्थ अप्राप्य है अतः इसके बारे में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कदाचित उसमें भगवान विष्णु द्वारा असुरराज मधु के वध का वर्णन है। गौडवाहो २०९ पदों का ग्रन्थ है और डा० कीथ के मतानुसार यशोवर्मन की मृत्यु हो जाने पर वह अपूर्ण दशा ही में रह गया अथवा यह भी सम्भव है कि ग्रन्थकार ने उसमें केवल उन्हीं पदों को संकलित किया जो विद्वानों को पसन्द थे तथा अन्य अरोचक ऐतिहासिक सामग्री का समावेश नहीं किया।[2]

वाक्पति जैन धर्मावलम्बी था और जैन जनश्रुतियों के अनुसार वह लक्ष्मणवती में बंग-नरेश के प्रश्रय में था तथा बाद में बंग विजय करने पर यशोवर्मन उसे अपने साथ कन्नौज ले आया था। यह भी कहा गया है कि जैन मतानुसार उसने मथुरा में कष्टमय तप किया और अन्त में अनशन व्रत धारण कर शरीर-त्याग किया। जैन मत में इस प्रकार जीवन का अन्त करने की परम्परा उच्च कोटि के धार्मिक व्यक्तियों में प्रायः प्रचलित थी।

यशोवर्मन युग की समाज और संस्कृति—महाकवि भवभूति के नाटकों और वाक्पति के गौडवाहो से उस समय के समाज और संस्कृति का आभास मिलता है। आश्रमधर्म प्रचलित था। ब्रह्मचर्य-आश्रम काल में शिक्षा प्राप्त होती थी और चरित्र-निर्माण भी। महाराज विद्या, विद्वानों और कला का आदर करते थे। ब्राह्मण विद्या और ब्रह्म विद्या के उन्नायक थे और राष्ट्र-रक्षा कार्य में भी सहायक थे। विद्वान पुरोहितों को राष्ट्र-रक्षक कहा गया है। क्षत्रियों के साथ उनका सहयोग राष्ट्र-वर्धक था। क्षत्रिय शस्त्रविद्या में निपुण होते थे, दुष्टों का दमन करना मुख्य कर्तव्य था। आर्थिक और औद्योगिक उन्नति में वैश्यों तथा न्यून जातियों का योगदान था।

---

१. गौडवाहो, श्लोक ६९।

२. Keith, History of Sanskrit Literature (1928), p. 150

समाज में शास्त्रविद और शिष्ट लोगों का बाहुल्य था, वेद-शास्त्र, साहित्य, न्याय, धनुर्विद्या आदि का पठन-पाठन होता था। कान्यकुब्ज, कालपी, पद्मावती, कुण्डिनपुर आदि विद्या तथा शिक्षा के केन्द्र थे। इस प्रकार भवभूति-सेवित यशोवर्मन का युगपांडित्य और शास्त्र-प्रतिष्ठा[1] द्वारा महान युग बन गया।

यशोवर्मन सम्बन्धी कुछ अन्य विभिन्न बातें—यद्यपि यशोवर्मन के शासन काल की बातों की विस्तृत जानकारी इतिहास को नहीं है फिर भी इतिहासकारों ने कुछ ऐसी बातों का जिक्र किया है जिन्हें नीचे दिया जा रहा है—

(१)

यशोवर्मन की पटरानी का नाम यशोमती था जिसे जैन स्रोतों के अनुसार उसने निर्वासित कर दिया था—कदाचित थोड़े समय ही के लिए। वहाँ यह भी कहा गया है कि एक अन्य रानी के ईर्षापूर्ण षड्यन्त्र के फलस्वरूप ही महाराज ने ऐसा किया। कुछ भी हो यह क्रूर कार्य यशोवर्मन ऐसे महान और सुहृदय शासक के लिए अशोभनीय था खासकर जब कि महारानी के पेट में गर्भ था। निर्वासिन काल ही में आम नामक उनके पुत्र हुआ जो यशोवर्मन के शरीरान्त के बाद राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। ऐसा भी संकेत मिलता है कि कालान्तर में महाराज ने उन्हें राज महल में बुला कर अपने कुत्सित कर्म का अंशतः प्रायश्चित्त किया।

(२)

गौडवाहो में बताया गया है कि दिग्विजय यात्रा के दौरान यशोवर्मन ने कतिपय विजित राजाओं को बन्दी बना लिया और उन्हें अपने खेमे के साथ लिए-लिए विजय-यात्रा करता रहा। राजधानी में लौटने पर वे भी साथ-साथ लाए गए। अन्ततः महाराज ने बड़ी उदारता का परिचय देते हुए उन्हें बन्धन-मुक्त कर दिया। इतना ही नहीं, उन्हें अपनी-अपनी राजधानियों में लौट कर शासन करने की आज्ञा भी दे दी। यह अपूर्व उदारता वैदिक परम्परा के अनुरूप ही थी और जिसके अनुसार महाराज रामचन्द्र ने विजित लंका राज्य को विभीषण को अर्पित कर दिया था।

भगवान की न्याय नीति के अनुसार यशोवर्मन को इस पुण्य-कर्म का फल अपने जीवन काल ही में मिल गया, जैसा कि इस लोकोक्ति में संकेतित है कि "जो जस करहि सो तस फल चाखा।" ललितादित्य द्वारा यशोवर्मन पराजित हो गया था तथापि विजेता ने न तो उसका वध ही किया और न ही उसे

---

१. मालतीमाधव, ३/११।

राज्यच्युत किया—उसकी राज्य सीमा को कम करके उसे राज्य करने दिया। ऐसा करने में ललितादित्य ने विजित यशोवर्मन की नीति का ही अनुसरण किया साथ ही अपनी पूर्व मैत्री को भी निभाया।

(३)

ऐसा भी आया है कि यशोवर्मन के एक मंत्री का पुत्र मालव था जिसने बौद्ध भिक्षुओं को दान दिये थे तथा नालन्दा के एक बौद्ध मन्दिर को भी भेंटे दी। वह किस पद पर आसीन था यह ज्ञात नहीं है किन्तु पद उच्चतम ही रहा होगा। क्योंकि उसको मार्गपति, उदीचीपति[1] तथा प्रतीत-टिकिण कहा गया है।[2]

(४)

महाराज के परिवार के इष्टदेव थे भगवान कालप्रिय। विद्वानों का अनुमान है कि यह नाम महाकालेश्वर महादेव का पर्याय है जिनका प्रसिद्ध मन्दिर अब भी उज्जैन में विद्यमान है और जिनका उल्लेख कालिदास के रघुवंश तथा बाणभट्ट की कादम्बरी में है। इस मत पर विवाद अनावश्यक है क्योंकि कन्नौज नगर में भी महादेव कालप्रिय का एक मन्दिर है जो यशोवर्मन द्वारा निर्मित करवाया गया था।

महाराज का शासन-प्रबंध तथा चरित्र—यद्यपि यशोवर्मन के शासन-प्रबंध और चारित्रिक उपलब्धियों का पर्याप्त वर्णन प्राप्त नहीं है तथापि यह कहा जा सकता है कि वह एक योग्य और दूरदर्शी शासक तथा अच्छे चरित्र का व्यक्ति था। इसकी पुष्टि में निम्न तथ्य उल्लेखनीय है :—

(१) उसने अरबों के बढ़ते प्रवाह[3] को रोकने के लिए चीन से सहायता माँगी थी और इस हेतु सन् ७३१ में अपना एक दूत मंडल चीन सम्राट के दरबार में भेजा था किन्तु वहाँ से सहायता न मिली। इसी उद्देश्य से उसने ललितादित्य से मित्रता भी की थी। गौड़वाहो के अनुसार उसने बहुत समय तक अपनी दिग्विजय के सिलसिले में पारसीकों या अरबों के साथ घोर युद्ध किया (तुमुलो महाहव असंचिरतरं पारसीकैः सह)[4] और विजयी हुआ। ऐसा भी कहा गया है कि एक मौके पर यशोवर्मन और ललितादित्य ने मिल कर अरब

---

१. उदीची-उत्तरी।
२. यशोवर्मन का नालन्दा शिलालेख।
३. अरबों ने लगभग सन् ७१२ के सिन्ध पर अधिकार कर लिया था और उसके बाद अपने इलाके को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील थे।
४. गौडवाहो, पद ४३९।

और तिब्बती लोगों का प्रतिरोध किया।[१] नैपाल राज्य से भी यशोवर्मन नें सम्बन्ध स्थापित किया था—इसकी नातिन (आदित्य सेन की कन्या) नैपाल नृपति शिवदेव द्वितीय को ब्याही थी।

(२) नालन्दा के शिला-अभिलेख में उसे ऐसा लोकपाल (सम्राट) कहा गया है जो सूर्य के समान प्रत्येक दिशा में अपने प्रताप का प्रकाश फैला रहा था। वाक्पति ने गौडवाहो में यशोवर्मन के गुणों की चर्चा करते हुए उसकी सेना और सैन्यबल का वर्णन किया है। उसने अपने गुणों और तलवार से ही राजसत्ता ("श्री") को अपना लिया था। उसकी प्रबंध-कुशलता के बारे में कवि ने लिखा है कि उसके राजत्व में दोष न थे।[२]

(३) महाकवि भवभूति के नाटकों से भी यशोवर्मन की सक्षम राज्य-प्रणाली के संकेत मिलते हैं, यथा धर्ममूर्ति यशोवर्मन महाराज श्री राम के समान धर्म-द्रोहियों यानी पाखण्डियों के दमन के लिए अवतरित महावीर था।[३] इसके आभूषण प्रताप और विक्रम थे जिनके द्वारा वह धर्म का अनुगामी हुआ था।[४] कवि का निम्न पद भी महाराज के राजगुणों की ओर लक्षित हैं :—गुणैस्तं राजानं जनो बहुमन्यते"[५], अर्थात् राजगुणों से ही प्रजा द्वारा राजा पूजित होता था। भवभूति ने यह भी कहा है कि राज्य के प्रमुख धर्म और कर्म थे प्रजानुरंजन, प्रजापालन, धर्म रक्षा।[६] महाराज का शासन इसी के अनुरूप था।

(४) भवभूति का यह भी कथन है कि राजा का वरण होता था और इसमें ज्ञानी प्रजा जनों का विशेष हाथ था।[७] राज्यपद का योग्य अधिकारी क्षत्रिय ही माना जाता था क्योंकि वह धर्ममूर्ति और धर्मरक्षक भी होता था और यही क्षात्र-धर्म अथवा राजधर्म के चिह्न थे।[८] उनका भुजबल ही पराक्रम था।[९] लोक रक्षा

१. Cf. "Travels of On Kong" (Chinese author) according to which Muktapide (Lalitaditya) was in alliance with the ruler of Central India (Yashovarman) and together they blocked "the five passes" leading from Tibet.
२. गौडवाहो, श्लोक ७२३-२४, ७२६।
३. महावीर चरित, १/६।
४. वही, १/२२।
५. उत्तररामचरित, ५/२८।
६. वही, १/११ महावीरचरित, ४/४४, ५/३०, ७/१५।
७. उत्तररामचरित, अंक ७, पृ० ३४८।
८. वही अंक ५, पृ० २९१।
९. वही, पृ० २९३।

में प्रवृत्त वही लोकपाल होता था। यशोवर्मन के गुणों का सारांश ऐसा ही समझ पड़ता है।

(५) (क) यशोवर्मन की वीरता के सम्बन्ध में कहा गया है कि इस लोकपाल (सम्राट) ने सब राजाओं के सिर पैर रखा था और तलवार-रूपी सूर्य से शत्रु-रूपी घोर अन्धकार को नष्ट कर दिया था।[1] तो फिर यह योधा ललितादित्य से क्यों हार गया, इस प्रश्न पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। कुछ भी हो वह रण-चतुर था, अवसर समझता था और मोर्चा छोड़कर जाना उसकी दृष्टि में युद्ध-छल था तभी तो पारसीकों के साथ उसने "बहुत समय तक घोर युद्ध किया" और उन्हें पराजित किया और यह भी कि राजतरंगिणी के अनुसार ललितादित्य और यशोवर्मन का युद्ध "लम्बे दौरान"[२] का था जिससे यह सिद्ध होता है कि कन्नौजियों ने ललितादित्य की सेना का डटकर मुकाबला किया जिसके फलस्वरूप ललितादित्य ने इसी में बुद्धिमानी समझी कि युद्ध को आखिरी नतीजे तक न ले जाया जाय और विपक्षी द्वारा अपनी अधीनता स्वीकार कर लेने पर युद्ध-विराम किया जाय तथा उसे अपने राज्य पर एक अधीनस्थ शासक के रूप में कायम रहने दिया जाय। यह विचारधारा डा० त्रिपाठी के कथन पर आधारित है।[3]

(५) (ख) इसके अतिरिक्त उसकी दिग्विजय का वाक्पति द्वारा वर्णन (कवि की अतिशयोक्तियों के लिए हक देने के वाद) भी उसकी वीरता का द्योतक है। विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन कर और बलि प्रदान करके वह दक्षिण प्रदेशों तक विजय करता चला गया। नर्मदा तट पर से कठिन युद्ध करता हुआ वह मरु देश को गया। मगधराज जीवनगुप्त को, जो इसका शत्रु था, परास्त किया। जान पड़ता है कि यशोवर्मन के समधी माधिराजा और जीवन गुप्त (या जीवित गुप्त) राज्य सीमा के कारण परस्पर वैमनस्य था, जिस कारण यशोवर्मन जीवित गुप्त को अपना शत्रु कहता है, अथवा उसी के वंशज (गुप्त वंश) होने के कारण कोई निजी (पारिवारिक) झगड़ा रहा हो। तदनन्तर उसने बंग देश को भी अधीन किया। अयोध्या से मंदार पर्वत तक यशोवर्मन का अधिकार हो गया था।

(६) वह मन्दिरों को तथा बौद्ध भिक्षुकों एवं अन्य जनों को प्रचुर मात्रा में दान भी दिया करता था। इसका कुछ संकेत यशोवर्मन के नालन्दा शिलालेख में भी मिलता है जिसमें कहा गया है कि उसके एक मंत्री के मालद नामक पुत्र ने

---

१. यशोवर्म देव का नालन्दा शिलालेख, श्लोक २।

२. "Long duration".

३. Cf. History of Kanauj, p. 203.

(जो उच्च पदाधिकारी था) भिक्षुओं और नालन्दा के एक बौद्ध मन्दिर को दान तथा भेंटे दी थी जिसका जिक्र पहले किया जा चुका है। यदि राजा का एक हाकिम ऐसा दानी था तो स्वयं शासक के दानी होने में सन्देह नहीं रहती। महाराज की धार्मिक निष्ठा इससे भी प्रकट होती है कि दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने के पूर्व उसने विधिवत् यज्ञ की थी और बाद में आगे बढ़ने पर देवी विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में समयानुकूल पूजा भी की थी। कन्नौज नगर में उसने अपने इष्टदेव कालप्रिय महादेव को प्रतिष्ठापित करने के लिए एक मन्दिर भी बनवाया था।

(७) यशोवर्मन ने बिहार में अपने नाम से एक नगर भी बसाया था। (यशोवर्मपुर) जो कदाचित अब घोस्रावा नाम से जाना जाता है।[१] अपने समय में यह आकर्षक नगर रहा होगा। क्योंकि पाल शासक वीरदेव ने बोध-गया के दर्शन करने के बाद बहुत समय यहाँ बिताया था—राजा देव पाल के सौजन्य से।[२] डा० त्रिपाठी का मत है कि यशोवर्मन ने यह नगर मगध और गौड़ की विजय की यादगार में बसाया था अथवा युद्धस्थल को जाहिर करने के अभिप्राय से।[३]

(८) यशोवर्मन बलवान ही न था अपितु उसमें हृदय विशालता के सभी चिह्न थे, उदाहरणार्थ विजय-यात्रा में बन्दी किए गए सभी राजाओं को कन्नौज लौटने पर उसने सादर मुक्त कर दिया तथा उन्हें अपने राज्यों में जाकर फिर शासन करने का आदेश भी दिया। इस दयालुता के संदर्भ में श्रीमद् भागवत का निम्न श्लोक याद आ जाता है :—

अहो बकी यं स्तन कालकूटं जिघांसया पाय यदप्यसाध्वी।
लेभेगतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम्॥[४]

अर्थात् पूतना ने अपने स्तनों में विष लगाकर श्री कृष्ण को मार डालने की नियत से दूध पिलाया था, उसको भी उन्होंने वह परम गति दी जो धाय को मिलनी चाहिए, उनके अतिरिक्त कौन ऐसा दयालु है जिसकी शरण ग्रहण को जाय।

२. यशोवर्मन के उत्तराधिकारी आमराज, दुन्दुक और भोज (७५२-७७० ई०)

जिस प्रकार हर्ष के बाद कन्नौज का इतिहास ७५ वर्ष तक अन्धकारमय हो

---

१. Ind. Ant., XVII (1888), pp. 309, 311.

२. Ibid.

३. History of Kanauj, pp. 200-201.

४. श्रीमद्भागवत, ३/३/२३।

गया वही स्थिति यशोवर्मन के बाद कुछ समय तक रही। केवल जैन-स्रोतों से कुछ अनिश्चित सामग्री प्राप्य है जिससे यशोवर्मन के उत्तराधिकारियों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उसी के आधार पर इतिहासज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यशोवर्मन के बाद उसके वंश के तीन राजाओं ने लगभग केवल २० वर्ष राज्य किया। उनमें से किसी के भी राज्यकाल में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई तथा उनके शासक होने की बात भी किसी ऐतिहासिक प्रमाण पर आधारित नहीं है—जैन कथाओं तथा उनकी जनश्रुतियों से ही कुछ थोड़ी बातें सम्भावित जान पड़ती हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

(१) आमराज

सन् ७५२ के लगभग यशोवर्मन की मृत्यु पर्यन्त उसका पुत्र आमराज उसके उत्तराधिकारी के रूप में कन्नौज की गद्दी पर बैठा। उसको स्यात् नागावलोक भी कहते हैं जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रानी यशोदेवी के देश निकाले की अवस्था ही में इसका जन्म हुआ था। पिता के प्रतिकूल इसमें धार्मिक संकीर्णता के लक्षण पाए जाते हैं। बप्प-भट्ट इसका धर्म गुरु था। सन् ७५४ ई० में बप्प ने इसे दीक्षा दे जैनमतावलम्बी बनाया। इसने अनेक तीर्थों की यात्रा की जिसमें मुख्य थे स्थम्भतीर्थ, विमलगिरि, रेवताद्रि और प्रभास[1] मुख्य हैं। लक्ष्मणावती के राजा धर्म से इसका वैमनस्य था, पर ऐसे अहिंसा-दीक्षित से किसी बैरी को क्या भय ?

गोपगिरि (ग्वालियर) में इसके दरबार करने का कथन मिलता है। सम्भव है इसका जन्म वहीं हुआ हो। कुछ भी कारण रहा हो इससे यह निष्कर्ष तो निकलता ही है कि उस समय ग्वालियर क्षेत्र कन्नौज राज्य के अन्तर्गत था।

नोट १—उक्त विवरण का आधार है—(१) प्रबन्धकोश, (२) बप्पभट्ट-चरित और प्रभावक-चरित, जिनका जिक्र इस अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है।

नोट २—स्कन्द पुराण में बताया गया है कि आम कान्य कुब्ज देश का "महान" शासक था। वहाँ अभिप्राय बाद के प्रतिहार शासक नागभट्ट द्वितीय से है न कि सम्प्रति राजा आमराज से।[2]

(२) दंदुक

आमराज का पुत्र दंदुक अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। जहाँ राज्य-

---

१. यह स्थान जैनियों के मुख्य तीर्थ थे।

२. Dr. Avasthi, Studies in Skanda Puran, pp. 188-193.

संचालन के लिए पराक्रम और विजय यात्रा की आवश्यकता थी वहाँ तीर्थ-यात्रा करने वाले और शस्त्र दोष मानने वाले कैसे सफल मनोरथ हो सकते थे। शासन के सभी बंधन शिथिल हो गए यहाँ तक कि संतान भी नीतिहीन रही। दुंदुक चरित्र भ्रष्ट राजा हुआ।

(३) भोज

यह राजा भोज इतिहास प्रसिद्ध तथा महाकवि कालिदास के संरक्षक महाराज भोज से भिन्न है। इसके बारे में प्रभावक-चरित में कहा गया है कि इसने अपने पिता दंदुक का वध करके राज्य प्राप्त किया।[1] इस प्रकार यह अपने पिता से भी बढ़ कर दुश्चरित्र हुआ। जिसने अपने पिता ही की हत्या की उसकी सद्गति कहाँ ? सुतरां इस वंशका अन्त अब निश्चय ही था। वीर-भोग्यावसुन्धरा आचारहीन तथा शक्तिहीन के हाथ कब रही ? अतः शीघ्र ही सन् ७७० के लगभग यह वंश समाप्त हो गया।

---

१. प्रभावक-चरित, (ग्यारह), ७५९।

अध्याय–१६

आयुधवंश-बज्रायुध, इन्द्रायुध, चक्रायुध

[७७०–८१० ई०]

यशोवर्मन के अन्तिम प्रतिनिधि राजा भोज के बाद भी कन्नौज के इतिहास में विशेष प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। निश्चित रूप से तीन कान्यकुब्जाधिपतियों के नाम मिलते हैं किन्तु उनसे सम्बन्धित सामग्री न्यून ही है। वे तीन नाम हैं बज्रायुध, इन्द्रायुध तथा चक्रायुध। इन तीनों का एक दूसरे से क्या संबन्ध था यह ज्ञात नहीं यद्यपि इन सबके एक ही वंश अथवा परिवार के होने में संशय नहीं। इतिहास को जो सूक्ष्म जानकारी इनके बारे में ज्ञात है उसका सारांश यथाक्रम आगे दिया जा रहा है।

नोट—यशोवर्मन के उत्तराधिकारी जैन मतावलम्बी थे और इसी कारण जैन-ग्रन्थों में उनके नाम तथा उनकी धर्म-सूचक बातें मिलती हैं। अतः यह हो सकता है कि सनातनियों ने धर्म का आशय लेकर पित्रघातक तथा चरित्रहीन भोज के विरुद्ध खिलाफत करके आयुधों को राज्य सौंपा। इसी उथल-पुथल का लाभ उठा कर बाद में बज्रायुध [अथवा उसके बाद के इन्द्रायुध] पर शक्तिशाली काश्मीर-नरेश जयपीड ने कन्नौज पर हमला किया जिसका जिक्र आगे आएगा।

१. राजा बज्रायुध

यशोवर्मन के वंशजों की समाप्ति लगभग सन् ७७० के हुई। इसके बाद कन्नौज के सिंहासन पर राजा बज्रायुध का नाम आता है और वह भी एक अनोखे ढंग से। राजशेखर ने कर्पूरमंजरी[१] में लिखा है कि सागरदत्त नामक एक व्यापारी राजा बज्रायुध की राजधानी कन्नौज में तिजारती काम के सिलसिले में गया था। उस ग्रन्थ में इसके अतिरिक्त बज्रायुध के बारे में कोई और बात नहीं है, और न किसी अन्य ग्रन्थ में ही उसका नाम आता है। अतः यह अज्ञात है कि पित्रहन्तक राजा भोज के बाद वह किस युक्ति से गद्दीनशीन हुआ। सम्भव है कि घरेलू विद्रोह (civil war) का जन्म हुआ हो[२] जिसमें भोज के खिलाफ प्रजा

---

१. III, 52, p. p 74, 266 (Konow and Lanaman's edition).

२. कन्नौज राज्य जैनियों के हाथ से निकल कर आयुधों के हाथ में आया, इससे समझ पड़ता है कि गृहयुद्ध का कारण धर्म की ओट में था।

उत्तेजित हो गई हो। जिस वंश के व्यक्ति वैदिक धर्म से दूर जैन मत के अवलम्बी हों, अपनी राजधानी से दूर ग्वालियर में दरबार करते हों, शास्त्रोक्त आचार से दूर, लाम्पट्य तथा पिच्छभ्रता की ओर चला गया हो वह कन्नौज की पुनीत राजगद्दी पर कब तक तिष्ट सकता था ? अतः ऐसा समझ पड़ता है कि उस विद्रोह में जिसके हाथ में राज्यायुध थे जनता ने उसी को शासक स्वीकार कर लिया और इस प्रकार बज्रायुध सिंहासनारूढ़ हुआ। सन् ७७० के लगभग उसने राज्यभार सम्हाला।

बज्रायुध अथवा उसके उत्तराधिकारी इन्द्रायुध के समय में कन्नौज पर एक भीषण विपत्ति आई और वह थी काश्मीर-नरेश जयपीड विनयादित्य (ललितादित्य का पौत्र) द्वारा कन्नौज पर आक्रमण। इसका हवाला कल्हण[1] ने देते हुए लिखा है कि जयपीड ने अपने पितामह का अनुसरण करते हुए कन्नौज पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा (नाम अउल्लिखित) को परास्त करने के बाद राजचिह्न सूचक सिंहासन को उठा लाया। लेखक द्वारा राजा का नाम न दिये जाने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि विजित राजा बज्रायुध था या उसके बाद का इन्द्रायुध। जयपीड का शासनकाल सन् ७७९ से ८१० तक रहा, अतः यदि यह माना जाय कि उसने गद्दीनशीन होने के तुरन्त बाद आक्रमण किया तो उस समय बज्रायुध ही कन्नौज के तख्त पर था किन्तु यदि उसने शासन सम्हालने के कुछ वर्षों बाद किया तो विजित राजा इन्द्रायुध ही हो सकता है क्योंकि यह प्रमाणित है कि सन् ७८३-८४ में वहीं राज्य कर रहा था।[2]

बज्रायुध शक्तिहीन शासक था किन्तु किसी सन्निकट राजा में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उसे पदच्युत करता। जो शक्तियाँ इस योग्य थीं वे दूरस्थ उत्तरी और पूर्वी अंचलों में थीं। प्रजा ने भी हस्तक्षेप नहीं किया। अतः वह किसी प्रकार तब तक राज्य चलाता रहा जब तक कि काश्मीर नरेश का उपरिलिखित आक्रमण नहीं हुआ।

२. इन्द्रायुध

बज्रायुध के बाद किस प्रकार इन्द्रायुध (इसे इन्द्रराज भी कहा गया है) गद्दी पर आया तथा दोनों में क्या सम्बन्ध[3] था, इतिहास को ज्ञात नहीं। ऐसा जान

---

१. राजतरंगिणी, जिल्द १, किताब ४, श्लोक ४७१.

२. जैन ग्रन्थ हरिवंश में यह बात आती है।

३. क्योंकि ''आयुध'' दोनों के नाम के अन्त में आता है अतः यह दोनों एक ही वंश के रहे होंगे।

पड़ता है कि काश्मीर-नरेश द्वारा पराजित होने पर बज्रायुध के हाथ से राज्य निकल कर इन्द्रायुध को मिला जो कदाचित किसी समझौते का परिणाम था। यद्यपि जयापीड संग्राम में सफल हुआ फिर भी उसने कन्नौज राज्य पर स्वयं अधिकार नहीं किया क्योंकि दूरस्थ काश्मीर से कन्नौज का भी सीधा शासन भार सम्हालना उसने सम्भव न समझा। अतः उसने वही नीति अपनाई जिसके अनुसार उसके पितामह ने यशोवर्मन को पराजित करने के बाद भी उसे राज्यच्युत नहीं किया। कुछ ऐसी ही परिस्थिति में इन्द्रायुध के हाथ राज्य-सिंहासन लगा जान पड़ता है। किस सन् में उसका राजतिलक हुआ यह ज्ञात नहीं है किन्तु जैन-ग्रन्थ हरिवंश में लिखा है कि साका सन् ७०५ अर्थात् ७८३-८४ ई० में इन्द्रायुध राज्य कर रहा था तथा वह "उत्तराखण्ड का राजा" कहलाता था। उलटे कामाओं के अन्दर के शब्दों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपनी गिरी हालत में भी कन्नौज राज्य का भारत में महत्त्वपूर्ण स्थान था।[1]

जिस समय इन्द्रायुध कन्नौज पर राज्य कर रहा था (७८३-८४ के लगभग) उस समय उत्तर भारत में एक त्रिकोणात्मक युद्ध हुआ जिसका कारण कन्नौज राज्य पर अधिकार पाने की तीन प्रमुख शक्तियों में अभिलाषा प्रबल हुई थी। यह अभिलाषा स्वाभाविक थी क्योंकि—

(क) कन्नौज राज्य के अन्तर्गत दोआब का भूभाग उपजाऊ और समृद्ध था;

(ख) अपने वैभव और धन-धान्य के लिए यह राज्य भारत भर में प्रसिद्ध था; विभिन्न देशों से व्यापारी वणिक भी अपने पण्य को लेकर यहाँ आते रहते थे;

(ग) विद्या और कला का भी यह केन्द्र था तथा धार्मिक दृष्टि से भी प्रसिद्ध था।

इन्हीं कारणों से उसे "महोदय" की संज्ञा दी गई थी। वराह पुराण में तो उसे महागृहोदय भी कहा गया है जो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का भूषण था, यथा—महागृहोदयं नाम जम्बूद्वीपस्य भूषणम्[2]। अतः ऐसे प्रथित प्रदेश को विभिन्न शक्तियों द्वारा हस्तगत करना कोई अनहोनी बात न थी—पूर्व काल में भी अनेकों बार ऐसा ही हुआ। वही इस समय भी हुआ जिसका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

जिन लालयिति शासकों ने इस त्रिकोणात्मक संघर्ष में भाग लिया वे थे—

(क) गुर्जर-प्रतिहार शासक वत्सराज (राजस्थान तथा अवन्ति का);

---

१. डा० त्रिपाठी, History of Kanauj, p. 214.

२. वराह पुराण, १६/२।

(ख) बंगाल (गौड) का पाल वंशी शासक गोपाल या उसका उत्तराधिकारी धर्मपाल-निश्चय नहीं कौन,

(ग) दक्षिण का राष्ट्रकूट राजा ध्रुव[१] ।

यही तीनों शक्तियाँ उस समय के भारत में अत्यन्त प्रबल थीं । पहली पाली में प्रतिहार शासक और पाल शासक में युद्ध हुआ क्योंकि यह दोनों ही कन्नौज के अधिकार के लिए बढ़ रहे थे, अतः उनमें संघर्ष होना अनिवार्य था । वत्सराज ने गौड-शासक को पराजित किया ।

इसके बाद राष्ट्रकूट ध्रुव भी, जिसकी शक्ति दक्षिण में खूब बढ़ चुकी थी, मैदान में आ गया और पूर्व-विजयी वत्सराज से युद्ध किया और विजयी हुआ । फलतः वत्सराज को मरु देश में शरण लेने के लिए विवश होना पड़ा । बादह्र ध्रुव ने गौड-नरेश को भी पराजित किया और उसके दो श्वेत राज-क्षेत्रों[२] को छीन लिया जैसा कि संजन ताम्रपट्ट में कहा गया है । उससे यह भी विदित होता है कि यह युद्ध गंगा-यमुना द्वाव (अंतर्वेदी) में हुआ था[३] जैसा कि उक्त लेख के निम्न पद में कहा गया है :—

गंगा-यमुनर्योमध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यतः ।
लक्ष्मी-लीलारविन्दनि-शेतक्षत्राणि योऽहरत् ।[४]

इस युद्ध के बारे में डॉ० त्रिपाठी का मत है कि जब ध्रुव कन्नौज की ओर बढ़ रहा था तब कन्नौज नरेश ने गौड राजा से सहायता माँगी । सहायक के रूप में वह ध्रुव द्वारा नष्ट किया गया और उसी में विजेता ने उसके राज-चिह्न रूपी दोनों श्वेत क्षेत्रों का हरण कर लिया[५]—यह उस समय हुआ जब कि वह गंगा और यमुना के बीच से भाग रहा था[६] । इस प्रकार ध्रुव का गंगा-यमुना के दोआब पर अधिकार तो हो जाता है जैसा कि कर्क सुवर्णवर्ष का बड़ौदा ताम्रपत्र भी बतलाता है किन्तु वह उत्तरी भारत में अधिक समय तक न ठहरा जिसके फलस्वरूप इन्द्रायुध कन्नौज में कुछ समय तक राज्य करता रहा—लगभग ८ वीं सदी के अन्त तक (सन् ८०० के आस-पास तक) ।

---

१. उक्त संघर्ष के बाद भी इन तीनों राजवंशों में उत्तरी भारत के प्रभुत्व के लिए कई पीढ़ियों तक संघर्ष चलता रहा ।

२. राष्ट्रकूट अमोघवर्ष प्रथम का संजन ताम्रपट्ट लेख ।

३. कदाचित इलाहाबाद के निकट जहाँ गंगा और यमुना का संगम है ।

४. संजन ताम्रपट्ट लेख ।

५. Dr. Tripathi History of Kanauj, p. 214.

६. संजन ताम्रपट्ट लेख ।

राष्ट्रकूट विजेता ध्रुव के प्रस्थान कर जाने के बाद वंग-नरेश धर्मपाल को कन्नौज पर अधिकार करने की अभिलाषा फिर जाग उठी। ऐसा जान पड़ता है कि ध्रुव से संघर्ष में उसकी सैन्यशक्ति नष्ट नहीं हुई थी क्योंकि जमकर युद्ध करने के बजाय वह दोआब से भाग निकला था जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। उसके बाद उसे अपनी शक्ति संगठित करने का समय भी मिल गया। किसी शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी के अभाव से भी उसने लाभ उठाया और अन्ततः इन्द्रायुध पर आक्रमण किया और उसे तथा उसके सहायकों और अन्य बैरियों को पराजित किया। कहा नहीं जा सकता कि उसने कन्नौज के विजित प्रदेश को अपने राज्य में क्यों नहीं मिला लिया क्योंकि यह प्रमाणित है कि इन्द्रायुध को पराजित करने के बाद उसने चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बैठाया। कदाचित कौटिल्य और मनु द्वारा प्रतिपादित राजनीति का उसने अनुसरण किया वह यह कि दूरस्थ भूभागों को विजय करने पर विजेता के लिए यह अधिक समझदारी की नीति है कि उस क्षेत्र को अपने किसी अनुकूल व्यक्ति को सौंप दे जो उसकी ओर से प्रबन्ध करता रहे बजाय इसके वह स्वयं उसका प्रबन्ध करे[1]। इस प्रकार धर्मपाल द्वारा कन्नौज राज्य को इन्द्रयुध के ही वंशज चक्रायुध को फेर देने की बात नारायण पाल के ताम्र लेख में सालंकार निम्न पद में कही गई है :—

"जित्वेन्द्र-राज प्रभृतीन अरातिन उपार्जिता येन महोदयश्रीः दत्तः पुनः सा वलिन आर्थइत्रे चक्रायुध्य आनति वामनाय।"[2]

भावार्थ, धर्मपाल इन्द्रायुध और अन्य शत्रुओं को पराजित कर महोदय श्री (कन्नौज) का स्वामी बन गया परन्तु उसने यह प्रभुत्व चक्रायुध को वापस कर दिया। लेख में चक्रायुध को वामन के समान याचक बताया गया है जिसे राजा बलि रूपी धर्मपाल ने राज्य दान कर दिया।

इस प्रकार वंग-नरेश धर्मपाल का आश्रित होकर चक्रायुध कन्नौज का शासक हुआ और इन्द्रायुध (उसका भाई या पिता) राज्यच्युत हुआ।

३. चक्रायुध

उपरिवर्णित परिस्थिति में चक्रायुध का राज्य पाना उसके भाग्योदय का प्रतीक ही माना जायगा। यद्यपि वह धर्मपाल का अधीनस्थ ही था, क्योंकि प्रतिहार शासक भोज की ग्वालियर प्रशस्ति से भी ज्ञात होता है कि उसे धर्मपाल ने

---

१. कौटिल्य का अर्थशास्त्र (शाम-शास्त्री का अनुवाद, तीसरा संस्करण १९२९), किताब ७, अ० १६, पृ० ३२९, मनुस्मृति भी दृष्टव्य है।

२. भागलपुर को वंग-नरेश नारायण पाल (पाल-वंशीय) की ताम्रलिपि। Indian Antiquary, XV, pp. 305-7

कन्नौज का शासक नियुक्त किया था, तथापि दोनों में मित्रता के भाव भी थे जैसा कि अमोघवर्ष के संजन ताम्रपत्र-लेख से भासित होता है।

कन्नौज का वास्तविक स्वामी बन जाने पर उत्तरी भारत में धर्मपाल एक प्रमुख शक्ति माना जाने लगा और सम्राट-पद का अधिकारी हुआ। उसका एक प्रमाण यह है कि चक्रायुध के राज्याभिषेक के लिए धर्मपाल ने कन्नौज में एक वृहत आयोजन किया जिसमें उत्तर भारत के निम्नलिखित सभी देशों के शासक सम्मिलित हुए[1] :—

(१) भोज;
(२) मत्स्य;
(३) मद्र;
(४) कुरु;
(५) यदु;
(६) यवन;
(७) अवन्ति;
(८) गांधार, और
(९) कीर

नोट—उपरि-लिखित प्राचीन राज्यों अथवा देशों का आधुनिक विवरण इस प्रकार है :—

(१) भोज—प्राचीन भोजों का स्थान भोजकट (बरार) तथा कुछ नर्मदा तट।

(२) मत्स्यदेश—अलवर + कुछ जयपुर व भरतपुर; इन्द्रप्रस्थ के दक्षिण व दक्षिण-पश्चिम।

(३) मद्र देश—रावी और चनाब नदियों की मध्यभूमि। इसकी राजधानी साकल (स्यालकोट) थी।

(४) कुरु—कुरुक्षेत्र; थानेश्वर के आस-पास। वृहत-संहिता में कुरुओं की गणना मध्यदेश[2] वासियों में थी।

(५) यदुदेश—पंजाब की ओर तत्पश्चात् मथुरा की ओर।

---

१. Ep. Ind., IV, pp. 243, 254. धर्मपाल का खालिमपुर लेख, श्लोक १२।

२. मध्यदेश में सम्मिलित थे (कुरु + मत्स्य + पांचाल) चम्बल नदी से हिमालय तक; उत्तर पांचाल (राजधानी अहिक्षेत्र) + दक्षिण पांचाल (राजधानी कम्पिल्य)। मध्यदेश भारत के ९ खंडों में से एक था जैसा कि बाराहमिहिर (ज्योतिष के आचार्य) कृत बाराह-संहिता में उल्लिखित है (अ० १४)। बाराहमिहिर छठी सदी के माने जाते हैं। सन् १०३० ई० में अलबरुनी ने भी ९ खंड कहे हैं किन्तु नामों का परिवर्तन है।

(६) यवन—पहिचान अनिश्चित; अभिप्राय कदाचित पश्चिम पंजाब + सीमान्त प्रदेश (जो अब पाकिस्तान में है) से है।

(७) अवन्ति—मालवा (उज्जैन के आस-पास का क्षेत्र)।

(८) गांधार—पेशावर जनपद तथा उसके आस-पास का इलाका और उत्तर पंजाब में रावलपिन्डी का क्षेत्र।

(९) कीर—कांगड़ा घाटी का क्षेत्र।

(नोट समाप्त)

उपरिलिखित सभा (अथवा दरबार) में सम्मिलित सभी राजाओं ने धर्मपाल द्वारा की गई व्यवस्था का अनुमोदन किया।[1] यह घटना ८ वीं सदी के अन्त और ९ वीं के प्रारम्भ की ठहरती है। इन सभी राजाओं की उपस्थिति तथा उनके द्वारा प्रदत्त अनुमति से यह सिद्ध होता है कि उस गिरे हुए समय में भी कन्नौज राज्य का महत्त्व था और उस राज्य में समकालीन शासकों को बड़ी दिलचस्पी थी। साथ ही उससे धर्मपाल की शक्ति और लोकप्रियता का भी प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त वंग नरेश देवपाल (पाल वंशीय) के मुंगेर ताम्रपत्र लेख से भी ज्ञात होता है कि विजय करते हुए धर्मपाल के सैनिकों ने केदार, गंगासागर, गोकर्ण और अन्य तीर्थों पर स्नान किया था।[2] इन सब बातों से धर्मपाल का सार्वभौम स्वरूप सिद्ध होता है।

राज्याभिषेक के कुछ ही समय बाद दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा गोविन्द-३ ने सन् ८०७ के लगभग चक्रायुध और उसके संरक्षक धर्मपाल पर आक्रमण किया क्योंकि उसे धर्मपाल का वैभव असह्य था। गोविन्द की सैन्य-शक्ति से भयभीत होकर दोनों ने स्वयं ही आत्म समर्पण कर दिया। फिर भी गोविन्द ने उनके राज्यों को हस्तगत नहीं किया और शीघ्र ही स्वदेश लौट गया क्योंकि वहाँ की आन्तरिक स्थिति अव्यवस्थित हो गई थी। अतः चक्रायुध कान्यकुब्ज में राज्य करता रहा और धर्मपाल बंगाल में।

इसके बाद चक्रायुध का शासन किस प्रकार चला तथा उसने अपना शेष राज्यकाल किस प्रकार बिताया इस पर इतिहास मौन है; केवल इतना ही ज्ञात है कि उसका शासन पूरे दौर तक नहीं चला।

काल की गति के अतिरिक्त इसे क्या कहा जाय कि जिस सौभाग्य ने उसे

---

१. धर्मपाल का खालिमपुर लेख, श्लोक १२।

२. I. A., XXI, p. 253.

राजपद अर्पित किया था तथा जिसका राजतिलक बड़ी शान-शौकत से हुआ था उस भाग ने अधिक दिन तक उसका साथ नहीं दिया। सन् ८१० के लगभग गुजरात के गुर्जर-प्रतिहार शासक नागभट्ट द्वितीय ने कन्नौज पर आक्रमण करके उसे राज्यच्युत कर दिया। कदाचित् वह जीवित बच गया और कहीं अज्ञात रूप से रहकर अपना शेष जीवन बिताया। इससे यह शास्त्रोक्त कथन पुष्ट होता है कि न जाने किस दिन किसका स्वर्णमय संसार, किसकी स्फुरित प्रतिभा सहसा टूट-फूटकर अतीत में विलीन हो जायगी इसका निश्चय नहीं।

अध्याय–१७

गुर्जर-प्रतिहार वंश

(सन् ८१०–१०३६ लगभग)

सारपत्रक

१. गुर्जर-प्रतिहार-वंश सम्बन्धित प्रारम्भिक बातें।

२. कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार शासकों की तालिका, आदि।

३. कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार शासकों का विवरण—

(१) नागभट्ट द्वितीय।
(२) रामभद्र।
(३) मिहिरभोज या भोज प्रथम।
(४) महेन्द्रपाल प्रथम।
(५) भोज द्वितीय।
(६) महिपाल या विनायकपाल प्रथम।
(७) महेन्द्रपाल द्वितीय।
(८) देवपाल।
(९) विनायकपाल द्वितीय।
(१०) विजयपाल।
(११) राज्यपाल।
(१२) त्रिलोचनपाल।
(१३) यशपाल।

४. कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार काल में कन्नौज-राज्य की विभिन्न दृष्टिकोणों से समीक्षा।

१ गुर्जर-प्रतिहार वंश सम्बन्धित प्रारम्भिक बातें

कन्नौज पर अधिकार के पूर्व गुर्जर-प्रतिहारों की स्थिति—ऐसा माना जाता है कि प्रारम्भ में गुर्जर-प्रतिहार राजा सामन्त के रूप में राज्य करते थे और जैसे-जैसे उन्हें अवसर मिलता गया वे अपनी शक्ति बढ़ाते गए और कालान्तर में स्वतंत्र शासक हो गए। अनुमान है कि प्रारम्भिक अवस्था में वे पहले चालुक्यों और फिर राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। उनकी प्रारम्भिक राजधानियाँ राजपूताना में

स्थित नान्दीपुर, भड़ौच और भिनमाल थी तथा ईसा की छठीं सदी में ही उनकी शक्ति का आभास मिलता है। वाणभट्ट ने थानेश्वर के प्रभाकरवर्धन को गुर्जर–प्रजागरः कहा है जिससे जान पड़ता है कि उसने गुर्जरों के विरुद्ध युद्ध किया था।

आगे बताया गया है कि गुर्जर-प्रतिहार वंश की दो शाखाएँ थीं—एक हरिचन्द्र राजा की और दूसरी नागभट्ट प्रथम की। नागभट्ट प्रथम कन्नौज के प्रतिहार-साम्राज्य के संस्थापक नागभट्ट द्वितीय का पूर्वज था और इस शाखा की राजधानी उज्जैन थी। हरिचन्द्र के परिवार का अन्तिम शासक बाउक था जो मान्डव्यपुर (आधुनिक मन्डोर, जोधपुर के निकट) शासन कर रहा था और उत्तराधिकारी के अभाव में उस शाखा का अन्त बाउक के साथ ही हो गया तथा उसकी अमलदारी कन्नौज साम्राज्य के प्रतिहारों के अन्तर्गत चली गई। हरिचन्द्र के परिवार को शत्रुओं से संघर्ष करना पड़ा था जिनमें सिन्ध के अरबी गवर्नर भी सम्मिलित थे जिन्हें अभिलेखों में ताजिक कहा गया है। हरिचन्द्र के परिवार वालों का कन्नौज के इतिहास से असम्बद्ध होने के कारण उनका विवरण यहाँ नहीं दिया जा रहा है। नागभट्ट प्रथम तथा उसके उत्तराधिकारियों को भी यवनों से युद्ध करना पड़ा था जिस पर सूक्ष्म दृष्टिपात आगे किया गया है।

गुर्जर-प्रतिहारों की उत्पत्ति तथा उनके नामकरण की व्याख्या—प्राचीन भारत के इतिहास में अनेकों ऐसी पहेलियाँ हैं जो अभी तक इतिहासकारों की समस्याएं बनी हुई हैं। उनमें से एक गुर्जर-प्रतिहारों के सम्बन्ध में हैं जिस पर विद्वानों के दो मत हैं यथा—

(क) गुर्जर प्रतिहार लोग बाहर से भारत में आए और कालान्तर में यहाँ के निवासियों का अभिन्न अंग बन गए तथा वैदिक धर्म के अनुसार चलने लगे।

(ख) दूसरा मत यह है कि लोग भारत ही के मूल निवासी हैं तथा उनको विदेशी कहना निराधार है। इन दोनों मतों का विवेचन नीचे किया जा रहा है।

कुछ योरोपीय विद्वानों का मत है कि प्रतिहारों का सम्बन्ध शकों से था और ये उन्हीं से हिन्दू बनाए गये थे। प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ महोदय ने लिखा है कि गुर्जर लोग छठी सदी में भारत में प्रवेश करने वाली हूण जाति की सन्तान हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने प्रतिहारों को (विदेशी) यूनी जाति से सम्बन्धित बतलाया है तथा कुछ ने तुर्कों से। चन्दबरदायी के पृथ्वीराज रासो में आया है कि राजपूतों के चार कुल—प्रतिहार, चौहान, परमार, चालुक्य (सोलंकी) के अर्बुद पर्वत पर अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए थे। योरोपीय लेखकों

ने इस कथन के आधार पर तर्क किया है कि चूँकि प्रतिहार लोग (तथा अन्य राजपूत कुल) विदेशी थे अतः उन्होंने अपने को अग्नि द्वारा शुद्ध करके या करवा करके हिन्दू समाज में प्रविष्टि किया। इस प्रकार उन्होंने अपने को अग्नि-कुल का सदस्य होना प्रचलित किया। इस मत का प्रतिपादन करते हुए क्रुक महोदय ने लिखा है कि—

"....a rite of purification by fire, the scene of which was in southern Rajputana[1], whereby the impurity of the foreigners was removed, and they became fitted to enter the Hindu caste system."[2] प्रतिहारों को अभारती बताते हुए स्मिथ महोदय का भी यही तर्क है और वे लिखते हैं कि यदि ये लोग विदेशी न होते तो अग्नि द्वारा उनकी शुद्धि करने का प्रश्न ही न उठता—वे अग्निकुल न कहला कर भारतीय कहलाते। अग्नि से शुद्ध होकर ही वे हिन्दू वर्ण व्यवस्था में मिल गए। इसी प्रकार के विचार कुछ भारतीय विद्वानों ने भी व्यक्त किए हैं अर्थात् यह कि प्रतिहार विदेशी थे। इस कथन के अन्य तर्कों में से कुछ निम्न प्रकार के हैं—

(१) यह कि प्रतिहार गुर्जर भी कहलाते थे या वे गुर्जरों की एक शाखा थे और गुर्जर-प्रतिहार भी कहलाते थे। गुर्जर एक विदेशी जाति थी जिसके लोग हूणों के कुछ पहले या कुछ बाद भारत में प्रविष्ट हुए थे।

(२) पेशावर से लेकर रुहेलखंड तक, तथा जम्मू कश्मीर मध्य प्रदेश और राजपूताने तक गुर्जर लोगों का प्रसार उनका खैबर दर्रे से होकर ही भारत में आना सिद्ध करता है।

(३) विश्वस्त आभिलेखिक साक्ष्य के अभाव में गुर्जरों अथवा गुर्जर-प्रतिहारों को विदेशी होने का प्रमाण माना जाना चाहिए और यह भी कि ईसा की छठी सदी में गुर्जरों का एकाएक उदय होना ही उनके विदेशी होने का प्रमाण है।

(४) प्रारम्भ के प्रतिहार राजाओं के नाम प्रचलित भारतीय नामों से पूर्णतया भिन्न थे।

उपरिलिखित विदेशी—मूल विचार-धारा का खंडन कतिपय भारतीय विद्वानों ने किया है और अधिकांश मत यही है कि गुर्जर-प्रतिहार शासक भारतीय ही थे। यह मत कई तथ्यों पर आधारित है जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

---

१. आबू, दक्षिण राजपूताना में है।

२. Journal of Royal Anthropological Institute, 1911; p. 42.

(१) गुर्जर-प्रतिहार सांघिक शब्द हैं। इस वंश के शासकों को प्रतिहार इस कारण कहा जाता था कि इन्होंने द्वार-रक्षक का काम किया था और द्वार-रक्षक का पर्यायवाची शब्द है प्रतिहार। इन राजाओं ने मुसलमान आक्रमणकारियों को रोका, रोकने में सहायता की और बाद में अरबों को सिन्ध से आगे बढ़ने से रोका कि जिन्होंने ईसा की ८वीं सदी के पूर्वार्द्ध में उस प्रदेश पर कब्जा कर लिया था। अब रही गुर्जर शब्द की बात। इन्हें गुर्जर या गुर्जर-प्रतिहार इसलिये कहा गया कि सर्वप्रथम प्रतिहारों की राजनीतिक शक्ति का उदय राजस्थान के दक्षिण-पूर्व गुर्जरत्रा या गर्जर (गुजरात) प्रदेश में हुआ। इसीलिए स्थान के नाम पर इनको गुर्जर-प्रतिहार (या केवल गुर्जर) कहा जाने लगा। वस्तुतः न गुर्जर और न प्रतिहार कोई जाति थी। (श्री वैद्य तथा श्री ओझा)।

(२) प्रतिहार राजा अग्नि-कुल के क्षत्री थे। वे अपने को इक्ष्वाकु वंशी तथा लक्ष्मण की संतति बताते थे। मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति[1] में बताया गया है कि मनु, इक्ष्वाकु तथा कुकुस्थ जिस वंश के मूल सम्राट थे उनके ही वंशज और रावणान्तक राम के छोटे भाई लक्ष्मण (जो राम के सशक्त प्रतिहार थे) से ही यह प्रतिहार वंश प्रचलित हुआ, यथा :—

मन्विक्ष्वाकु कुकुस्थ मूलपृथवः क्ष्मापाल कल्पद्रुमा।
तेशां वंशे सुजन्मा क्रम-निहित-पदे धाम्नि वज्रेषु घोरम्॥
रामः पौलस्त्य-हिंस्रक्षत विहति-समित्-कर्म चक्रे पलाशैः।

उसी प्रशस्ति में आगे यह भी कहा गया है कि राम के भाई लक्ष्मण को प्रतिहार इसलिए कहा गया है कि उन्होंने मेघनाथ जैसे शत्रु को युद्ध में पछाड़ा था।

इसी प्रकार बाउक के जोधपुर शिलालेख[2] (सन् ८३७) में कहा गया है कि चूँकि राम के भाई (लक्ष्मण) ने प्रतिहार (द्वार-रक्षक) का कार्य किया था इसीलिए वंश को प्रतिहार की संज्ञा दी गई।

(३) उक्त ग्वालियर प्रशस्ति में यह भी आया है कि नाग-भट्ट द्वितीय का पिता वत्सराज प्रख्यात क्षत्रियों में अग्रगणी था तथा उसने अपने सत्कर्मों से इक्ष्वाकु वंश की कीर्ति बढ़ाई। इसी बात को कवि राजशेखर (जो महेन्द्रपाल का दरबारी था) ने दूसरे शब्दों में कहा है कि प्रतिहार शासक (महेन्द्रपाल) रघुवंश

---

१. Ep. Ind., XVIII, pp. 99–114.
२. Ep. Ind., XVIII, 87–99.

का आभूषण था (रघुकुल तिलक[1]) तथा रघु के वंश का नेता था (रघुग्रामनी)।[2] इसी प्रकार कवि ने प्रतिहार महिपाल को रघु की शाखा का मोती-हीरा कहा है (रघुवंश-मुक्तामणि)।[3]

(४) पुराणों[4] में भी प्रतिहार कुल अथवा प्रतिहारान्वय का उल्लेख मिलता है जहाँ प्रतिहार नामक राजा के पूर्वजों का नाम निम्न प्रकार दिया गया है :—

भरत-सुमति-देवताजित् (अथवा तेजस) इन्द्रद्युम्न-परमेष्ठी-प्रतिहार।

इसी परमेष्ठी के पुत्र प्रतिहार से प्रतिहार वंश प्रसिद्ध हुआ, यथा :—

परमेष्ठी ततम्-तस्मात्-प्रतिहारस्-तदन्वयः ॥[5]

प्राचीन काल में एक प्रथा यह भी थी कि राजवंश का नाम उसके संस्थापक के नाम से रखा जाय जैसे रघु से रघुवंश, शिशुनाग से शैशुनाग, गुप्त से गुप्त वंश, मुखर से मौखरी वंश, चन्द्रात्रेय से चन्देल वंश। इसी प्रकार प्रतिहार कुल भी प्रतिहार नामक राजा से क्षत्रिय राजवंश कहा गया। वायु पुराण में तो स्पष्ट रूप से प्रतिहारों को प्रतिहार कुल का बताया गया है, यथा :—

परमेष्ठी सुतस्-चाथ निधने तस्य शोभनः।
प्रतीहार कुले तस्य नाम्ना जज्ञे तदन्-वयात् ॥[6]

भावार्थ, परमेष्ठी का निधन हो जाने पर उसका प्रतापी पुत्र प्रतिहार नामक राजा हुआ। उसी के नाम से इस वंश का नाम प्रतिहार पड़ा।

(५) स्कन्द पुराण में गुर्जरत्रा (या गुर्जर) देश का नाम आया है और उसे ७०,००० गाँव वाला एक भारतीय प्रदेश माना गया है।[7] अतः यह कहना कि गुर्जर एक जाति (भारतीय या विदेशी) का नाम है सही नहीं है। पुलकेशिन के नावसारी लेख में आया है कि सिन्ध के अरब शासक सिन्धु, सौराष्ट्र, गुर्जर आदि देशों के राजाओं को अपनी ततारी तलवार से काट कर सम्पूर्ण दक्षिण को जीतने के अभिप्राय से आगे बढ़े रहे थे किन्तु पुलकेशिराज अवनिजनाश्रय ने

---

१. राजशेखर कृत विद्दसालभंजिका।
२. बालभारत।
३. बालभारत।
४. वायु पुराण; विष्णु पुराण; भागवत; अग्नि पुराण; कूर्म पुराण।
५. विष्णु पुराण, २/१/२८।
६. वायु पुराण, ३३/३५।
७. Dr. A. B. L. Awasthi, Studies in Skanda Puran, p. 40.

उनको पराजित कर दक्षिण द्वार की रक्षा की। परन्तु अवन्ति (उज्जयिनी) और गुर्जरत्रा की ओर उनकी बाढ़ को रोकने वाले गुर्जर देश के प्रतिहार क्षत्रिय ही थे।[१] इसी प्रतिहरण-कार्य पर उनकी प्रतिहार संज्ञा आधारित थी। अतः डॉ० गांगुली के कथनानुसार गुर्जर-प्रतिहारान्वय का अर्थ गुर्जर देश का प्रतिहार वंश ही करना उचित है।

(६) जैसा कि डॉ० बी० एन० पुरी ने कहा है कि यदि प्रतिहार विदेशी होते तो इतनी जल्दी वे हिन्दू समाज में घुल-मिल न जाते और यह भी कि यदि वे भारत के उत्तर-पश्चिमी देश-द्वार से भारत में प्रविष्ट हुए थे तो यहाँ के मूल निवासियों से उनका संघर्ष क्यों नहीं हुआ तथा राजसत्ता प्राप्त करने में उन्होंने युद्ध क्यों नहीं किए। इतिहास में ऐसे किसी संघर्ष का उल्लेख नहीं है। यह सम्भव नहीं कि एक विदेशी जाति इतनी जल्दी वैदिक समाज का अंग बन जाती और राजनैतिक क्षेत्र में भी राष्ट्र शक्तियों (क्षत्रियों) के बजाय वे ही भारतीय राष्ट्र की संस्कृति और मर्यादाओं के रक्षक मान लिए जाते। अन्त में डॉ० पुरी ने कहा है कि गुर्जरों (प्रतिहारों) को विदेशी मानने का कोई उपयुक्त कारण नहीं है।[२]

× × × ×

उक्त तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि गुर्जर-प्रतिहार पूर्णतयः भारतीय सन्तति थे तथा उनको विदेशी कहना निस्सार है। अन्त में दो शब्दों में यह भी कहना है कि डॉ० कृष्ण स्वामी अयंगर का भी यही निष्कर्ष है कि सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री का परीक्षण करने के बाद कोई भी ऐसा तथ्य नहीं मिलता कि जिसके आधार पर गुर्जरों का बाहर से आना सिद्ध हो सके। डॉ० के० एम० मुंशी भी गुर्जरों के विदेशीपन को योरोपीय दिमाग की उपज बताते हुए उसे निराधार सिद्ध करते हैं।[३] यही मत विद्वान इतिहासकार डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी का भी है जो कि प्राचीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ हैं और जिन्होंने बड़ी योग्यता से अपने निष्कर्ष का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ राजपूत राजवंश में किया है।[४]

---

१. प्रथम अमोघ वर्ष का संजन ताम्रपत्र लेख, श्लोक ९, में आया है कि गुर्जर देश के द्वार की रक्षा करने का भार प्रतिहारों पर ही था (प्रतिहारी कृतं येन गुर्जरे-शादि-राजकम्)।

२. Dr. B. N. Puri, History of Gurjar-Pratiharas, pp. 2–7.

३. Dr. K. M. Munshi, Glory that was Gurjar Desh, Part I, Appendix 1, p. 173.

४. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० १०७–१९।

गुर्जर-प्रतिहारों की दो शाखाएँ:—इनकी दो शाखाएँ हैं जो दोनों ही अपना मूल सम्बन्ध राम के भाई लक्ष्मण से बताते हैं। एक शाखा का संस्थापक हरिचन्द्र था तथा दूसरे का नागभट्ट प्रथम जिसके बाद की एक पीढ़ी में नागभट्ट द्वितीय हुआ और उसी ने कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार राजवंश की नींव डाली।

हरिचन्द्र का परिवार:—हरिचन्द्र वंश शाखा के संस्थापक हरिचन्द्र की राजधानी माण्डव्यपुर (मन्डोर) थी। सन् ५५० के लगभग उसने राजपूताना में जोधपुर के आस-पास अपना राज्य कायम किया था। इस वंश का अन्तिम ज्ञात शासक बाउक (नवीं सदी का पूर्वार्द्ध) था जो श्रीयुक्त कक्क की पद्मिनी नामक रानी से उत्पन्न था। बाउक का कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण उसकी अमलदारी कन्नौज के मिहिरभोज (८३६–८८५ ई०) के साम्राज्य में समाहित हो गई।

नागभट्ट प्रथम का परिवार:—प्रतिहारों की दूसरी शाखा का प्रवर्तक नागभट्ट प्रथम था। दोनों वंश-शाखाओं में नागभट्ट की शाखा प्रमुख थी। नागभट्ट ने मेडान्तकपुर (मेरटा) को अपनी स्थिर राजधानी बनाया (बाद में इस शाखा की राजधानी उज्जैन हुई)। इस प्रकार इस शाखा ने मरुमंडल (मारवाड़) में अपनी सत्ता स्थापित की। नागभट्ट प्रथम का समय ७३०–७५६ तक आंका गया है।

नागभट्ट प्रथम की आंशिक वंशावली निम्न प्रकार है, यानी नागभट्ट द्वितीय तक :—

(१) नागभट्ट प्रथम (नर भट्ट का पुत्र) (७३०–७५६ ई० लगभग)
(२) काकुस्थ-कक्कुक (या केवल कक्कुक)
(नं० १ का भतीजा) (७३०–७८० ई० के बीच)
(३) देवशक्ति-देवराज (या केवल देवशक्ति)
(नं० २ का छोटा भाई) (७६०–७८० ई० के बीच)
(४) वत्सराज (नं० ३ का पुत्र, माता का नाम भूयिका देवी)
(५) नागभट्ट द्वितीय (नं० ४ का पुत्र); कन्नौज के प्रतिहार साम्राज्य का संस्थापक।

पिता वत्सराज की मृत्यु के बाद नागभट्ट द्वितीय पिता के राज्य पर उज्जैयिनी में गद्दीधर हुआ, सन् ८०८ के लगभग। उसके बाद सन् ८१५ के लगभग उसने कन्नौज के आयुध-वंशीय राजा चक्रायुध को पराजित कर उसके राज्य को हस्तगत कर लिया और अपनी राजधानी को उज्जैन से उठा कर

कन्नौज ले आया क्योंकि उस समय यह उत्तर भारत का प्रमुख नगर था।

नोट:—नागभट्ट द्वितीय कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार सम्राटों का अगुआ था अतः उसके बाद के वंशजों की तालिकामय सूक्ष्म विवरण के अगले अनुशीर्षक में दी गई है।

नागभट्ट प्रथम का सूक्ष्म विवरण:—इसका समय ७३०-७६० ई० तक माना गया है। उसे तथा उसके वंशजों को दो ओर संघर्ष करना पड़ा। एक ओर देश द्वार की रक्षा कर यवनों के साथ तथा दूसरी ओर उत्तरी भारत की प्रभुता के लिए होने वाले आन्तरिक युद्धों में भी भाग लेना पड़ता था। इसकी राजधानी उज्जैयिनी थी। इसने अरबों को सिन्ध से आगे बढ़ने नहीं दिया तथा एक बार उन्हें उनके पूर्व-विजित भूभाग के कुछ अंश से हटा भी दिया। सम्पूर्ण मालवा और आस-पास के प्रदेशों पर भी उसका अधिकार था। कदाचित् उसने बंगाल के शासक को भी परास्त किया।

काकुस्थ-कक्कुक तथा देवशक्ति:—काकुस्थ नागभट्ट प्रथम का भतीजा तथा उत्तराधिकारी था। उसके बाद परम-वैष्णव महाराज देवशक्ति राजा हुआ जो काकुस्थ का छोटा भाई था। उसकी सेना अनेकों हाथियों, घोड़ों, रथों, नावों और पैदातियों (पैदलों) से सम्पन्न थी। उसे वज्रधर इन्द्र के समान बताया गया है।[१] काकुस्थ और देवशक्ति ने सन् ७६० से ७८० के बीच राज्य किया।

वत्सराज:—यह महाराज देवशक्ति का पुत्र था जिसे अत्यन्त तेजस्वी, प्रतापी और लोक वत्सल सम्राट कहा गया है।[२] ऐसा कहा गया है कि उसने धनुष की शक्ति से युद्ध में (संख्ये) बलपूर्वक साम्राज्य की प्राप्ति की (साम्राज्य-मधिज्य[3]) युद्ध में उसने भण्डि-कुल का पराभव किया। किन्तु इतिहासकारों को यह सही तौर पर ज्ञात नहीं हो सका कि इस कुल का राज्य कहाँ था यद्यपि डॉ० अवस्थी ने इसकी पहचान बंगाल के पाल कुल से की है।[४] कुछ अन्य युद्ध करके भी उसने अपने साम्राज्य को बढ़ाया। उसे परम माहेश्वरी महाराज का वीरुद प्राप्त था।

उक्त विजयों के साथ ही वत्सराज को राष्ट्रकूट राजा ध्रुव द्वारा पराजित होना पड़ा। यह पराजय तब हुई जब वह गुर्जरत्रा से बाहर निकल कर अपनी

---

१. मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक ५।
२. वही, श्लोक ६।
३. वही, श्लोक ७।
४. राजपूत राजवंश, पृ० १२४।

शक्ति का प्रसार करता हुआ कन्नौज और बंगाल तक विजय कर रहा था। जो दो राज्यक्षत्र उसने पाल नरेश से हस्तगत किये थे उन्हें ध्रुव ने उससे छीन लिए और विवश होकर उसे अपने पैत्रिक राज्य गुर्जरात्रा में वापस जाना पड़ा और उसका अधिकार कदाचित उसी क्षेत्र तक सीमित रहा।[1] सन् ८०५ के लगभग वह दिवंगत हुआ।

नागभट्ट द्वितीय—वत्सराज के बाद उसका पुत्र नागभट्ट गद्दीधर हुआ। उसने कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार-वंशीय साम्राज्य की स्थापना की अतः उसका विवरण आगे के एक पृथक शीर्षक में दिया गया है।

२. कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार शासकों की तालिका आदि

शिला तथा ताम्रपत्र लेखों आदि पर आधारित उक्त शासकों की तालिका निम्न है—

शासक का नाम	रिश्ता	राज्यकाल (अनुमानित)	कैफियत
१	२	३	४
(१) नागभट्ट द्वितीय या नागावलोक	वत्सराज का पुत्र	सन् ८१०–८३३	भगवती का उपासक
(२) रामभद्र	नं० १ का पुत्र	८३३–८३६	सूर्यदेव का उपासक
(३) मिहिर भोज (भोज)	नं० २ का पुत्र	८३६–८८५	भगवती का उपासक। वैष्णव भी।
(४) महेन्द्रपाल–१	नं० ३ का पुत्र	८८५–९१०	वैष्णव भी।
(५) भोज–२	नं० ४ का पुत्र	९१०–९१२	प्रथम रानी देहनागा देवी से उत्पन्न। वैष्णव।
(६) महिपाल या विनायकपाल–१	नं० ४ का पुत्र तथा ५ का सौतेला भाई	९१२–९४४	सूर्य देव का उपासक
(७) महेन्द्रपाल–२	नं० ६ का पुत्र	९४४–९४७	शिव का उपासक
(८) देवपाल	नं० ६ का पुत्र	९४७–९५३	कदाचित विष्णु का उपासक
(९) विनायकपाल–२		९५३–९५७	....
(१०) विजयपाल		९५७–९८८	....
(११) राज्यपाल	नं० १० का पुत्र	९८८–१०१९	....
(१२) त्रिलोचनपाल	नं० ११ का पुत्र	१०१९–१०३५	....
(१३) यशपाल	अज्ञात	१०३५–१०३६	....

१. राजपूत राजवंश पृ० १२६।

उक्त सभी शासकों ने निम्न उपाधियाँ धारण की थीं—

महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर ।

इनके अतिरिक्त एक-दो की कुछ अन्य उपाधियाँ भी थीं ।

मिहिर भोज के बराह ताम्रपत्र लेख[१] (८३६ ई०) कान्यकुब्ज भुक्ति (प्रदेश) में स्थित महोदय (कन्नौज) का उल्लेख है और देवशक्ति से लेकर मिहिरभोज तक की वंशावली भी दी गई है जो नीचे उद्धृत की जाती है—

परमवैष्णवो महाराज श्री देवशक्ति देव = श्री भूयिका देवी ।

|

परम माहेश्वरो महाराज श्री वत्सराज देव = श्री सुन्दरी देवी ।

|

परम भगवती भक्तो महाराज श्री नागभट्ट देव = श्रीमती सटा देवी ।

|

परमादित्य भक्तो महाराज श्री रामभद्र देव = श्री मदप्पा देवी ।

|

परमभगवती भक्तो महाराअ श्री भोज देवः ।

२. कन्नौज के गुर्जर—प्रतिहार शासकों का विवरण

(१) नागभट्ट द्वितीय (अथवा नागावलोक)

(८०५–८१५—उज्जैन राज्य का शासक)

(८१५–८३८—कन्नौज का सम्राट)[२]

गुर्जर-प्रतिहार वंश में नागभट्ट द्वितीय से पहले अनेक राजा हुए किन्तु उनका शासन अन्यत्र था न कि कन्नौज राज्य पर। इस वंश का नागभट्ट द्वितीय ही कन्नौज का प्रथम प्रतिहार-वंशीय शासक था अतः वही कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार वंश का संस्थापक था । इसी वंश का एक राजा नागभट्ट ही नाम का पहले भी हो चुका था । किन्तु कन्नौज राज्य से उसका कोई सम्बन्ध न था। वह नागभट्ट प्रथम के नाम से जाना जाता था। अतः कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार वंश में नागभट्ट द्वितीय का ही नाम पहले आता है। मिहिर भोज के बराह ताम्रपत्र लेख[3] में नागभट्ट द्वितीय को निम्न विशेषणों के साथ उत्कीर्ण किया गया है—

श्री सुन्दरी देव्या-मुत्पन्नः परम-भगवती-भक्तो महाराज श्री नागभट्ट देवः ।

नागभट्ट द्वितीय का नाम नागावलोक भी था ।

---

१. Ep. Ind., XIX, pp. 15–19.

२. एक मत के अनुसार नागभट्ट ने कन्नौज-विजय सन् ८१० के लगभग की थी ।

३. Ep. Ind. XIX, pp. 15-19.

उज्जैन के गद्दीधर के रूप में—सन् ८०५ के लगभग पिता वत्सराज की मृत्यु पर नागभट्ट द्वितीय अपने पैत्रिक राज्य पर आसीन हुआ। राष्ट्रकूटों द्वारा वत्सराज के पराजित होने के कारण यह राज्य पराभव की स्थिति में था जिसे अपने जीवन काल में वत्सराज सम्हाल न सका। मध्य देश में बंगाल के धर्मपाल का प्रभुत्व भी स्थापित हो चुका था। सत्तारूढ़ होने पर नागभट्ट ने अपने वंश को इस हीन दशा से उबारने का प्रयास किया। इस हेतु उसने राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय पर आक्रमण किया। इसके विपरीत कुछ लेखकों का मत है कि गोविन्द तृतीय ने ही नागभट्ट पर आक्रमण किया। ऐसा उसने इसलिए किया कि नागभट्ट उस पर आक्रमण की तैयारी कर चुका था और इसके पहले कि नागभट्ट उस पर हमला करे गोविन्द ने उस होने वाले आक्रमण को विफल करने के लिए स्वयं नागभट्ट पर हमला किया। इनमें से कौन मत माननीय है इसकी विवेचना अनावश्यक है क्योंकि यह निश्चित है कि जिस प्रकार पिता वत्सराज के भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया था उसी प्रकार नागभट्ट के भी ग्रह उसके प्रतिकूल पड़े और वह पराजित हुआ। अमोघवर्ष प्रथम के संजन ताम्रपत्र लेख[1] में बताया गया है कि युद्ध में गोविन्द तृतीय नागभट्ट के पर्वत के समान (स्थिर) धैर्य को मिटा कर उसके अदम्य शौर्य को नष्ट कर दिया। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि नागभट्ट पराजित हुआ तथापि वह बड़ी वीरता से लड़ा और अपनी रणदक्षता का परिचय दिया। यह घटना सन् ८०६ और ८०८ के बीच की मानी जाती है।[2] इसी सिलसिले में गोविन्द ने कन्नौज के चक्रायुध पर भी आक्रमण किया। चक्रायुध का संरक्षक गौड़-नरेश धर्मपाल भी चक्रायुध की ओर था। गोविन्द के मुकाबले में अपनी निर्बलता जान कर दोनों ने स्वयं आत्म समर्पण कर दिया—युद्ध नहीं किया जैसा कि अमोघवर्ष के उपरिलिखित संजन ताम्रपत्र में निम्न शब्दों में आया है—

स्वमेव उपनतौ च यस्य महतस्तौ धर्म-चक्रायुधौ।[3]

उक्त विजयों से गोविन्द तृतीय ने केवल यश ही अर्जित किया क्योंकि उसने किसी इलाके को हस्तगत नहीं किया। वह शीघ्र ही स्वदेश लौट गया जिसका मुख्य कारण यह था कि स्वयं उसके राज्य में उपद्रव अथवा असन्तोष फैल रहा था और यह भी कि वह पुत्र अमोघवर्ष को अपना उत्तराधिकारी बनाने की व्यवस्था करना

---

१. Ep. Ind., XVIII, pp. 235–57.

२. Dr. Altekar, Rashtrakutas and their Times, p. 65.

३. पंक्ति २२।

चाहता था। बाद में उसके राज्य में आन्तरिक उपद्रव इतने बढ़ गए कि सन् ८१४ में उसकी मृत्यु होने पर पूरे राज्य में अराजकता फैल गई। अतः इस प्रकार गोविन्द के लौट जाने पर पराजित नागभट्ट को विशेष क्षति नहीं पहुँची।

कन्नौज के सम्राट के रूप में :—इधर कन्नौज राज्य भी पद्दलित हो चुका था जैसा कि आयुध वंश के चक्रायुध के प्रकरण में तथा ऊपर भी कहा जा चुका है। कन्नौज राज्य में अस्थिरता तो थी ही साथ ही अब राष्ट्रकूटों की ओर से भी नागभट्ट को कोई भय न रहा क्योंकि गोविन्द तृतीय अपने ही राज्य की उलझनों में फंसा था। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए नागभट्ट ने चक्रायुध पर आक्रमण कर उसे पराजित किया। इस विजय का उल्लेख करते हुए मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में यह आया है कि नागभट्ट ने वेदों के आदेश का अनुसरण करते हुए क्षत्रिय कुल की प्रथा के अनुसार यज्ञादि करने के बाद चक्रायुध को जो पराश्रयी (धर्मपाल के आश्रित) था, पराजित किया।[1] इस विजय से नागभट्ट का कान्यकुब्ज पर अधिकार हो गया। कन्नौज विजय से नागभट्ट उत्तर भारत का सार्वभौम शासक (सम्राट) हो गया और उसने परमभट्टारक, महाराजाधिराज और परमेश्वर की उपाधियाँ धारण कीं।[2]

वंगपति धर्मपाल पर विजय :—नागभट्ट द्वारा चक्रायुध के पदच्युत किए जाने से वंग-पति धर्मपाल ने अपनी मानहानि समझी क्योंकि उसी ने चक्रायुध को गद्दीधर बनाया था। अतः उसने नागभट्ट पर हमला किया। कुछ लेखकों का विचार है कि नागभट्ट ने धर्मपाल पर आक्रमण किया। कुछ भी हो इस युद्ध में धर्मपाल पूर्णतयः पराजित हुआ क्योंकि मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में बताया गया है कि नागभट्ट द्वितीय ने अजेय हाथियों, घोड़ों और रथों की सेना वाले शत्रु वंग के राज्य को जीता और तभी ऐसा जान पड़ा कि त्रैलोक्य के विकास का एक मात्र कारण सूर्य (सूर्य वंशी राजा) उदित हुआ।[3] डॉ० मुन्शी लिखते हैं कि वत्सराज के अन्तिम वर्षों में गुर्जर देश में जो अनिश्चयता और अस्थिरता आ गई थी उसे नागभट्ट ने इस विजय द्वारा दूर किया।[4] यह युद्ध मुद्गिर (मुंगेर) के निकट हुआ था। इस युद्ध में नागभट्ट के साथ उसके कुछ सामन्त भी लड़े थे जिनमें बाउक के पिता कक्क भी थे क्योंकि बाउक के जोधपुर

---

१. ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक ९।
२. नागभट्ट-२ का बुचकला (बिलर, जोधपुर) शिलालेख (८१५ ई०), Ep. Ind., IX, p. 199.
३. श्लोक १०।
४. Glory that was Gurjar Desh, p. 89.

शिलालेख[1] (८३७ ई०) में बताया गया है कि उसके पिता कक्क ने मुद्गिरि में गौड़ों के विरुद्ध युद्ध करते हुए यश प्राप्त किया था, यथा—

यशो मुद्गिरो लब्धं येन गौढ़ैः समं रणे ।[2]

विजयी नागभट्ट ने धर्मपाल को राज्यच्युत नहीं किया और धर्मपाल बंगाल में शासन करता रहा।

आन्ध्र, सैन्धव, विदर्भ और कलिंग राज्यों द्वारा नागभट्ट की सार्वभौमिकता स्वीकृत :—मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में निम्न श्लोक आया है :—

यत्रान्ध्र-सैन्धव-विदर्भ-कलिंग-भूपैः ।
कौमार-धामनि पतंग-समैरपाति ॥[3]

अर्थात्, आन्ध्र, सैन्धव, विदर्भ और कलिंग के राजाओं ने स्वयं ही उसकी (नागभट्ट की) शरण ली, वैसे ही जैसे पराजित देवताओं ने कुमार कार्तिकेय की शरण ली थी (कौमार-धामनि) अथवा जैसे पतिंगे प्रकाश का आश्रय लेते हैं। (शिव-पुत्र कार्तिकेय देवताओं के मुख्य सेनापति माने जाते हैं और साहित्य ग्रन्थों में उन्हें कुमार की संज्ञा भी दी गई है)।

उक्त देशों में आन्ध्र, विदर्भ और कलिंग जाने हुए प्रदेश हैं। सैन्धव से अभिप्राय पश्चिमी सौराष्ट्र से माना गया है जहाँ सैन्धव राज्य कर रहे थे। इन देशों के शासकों ने नागभट्ट की शक्ति और शौर्य से प्रभावित होकर उसके सम्राट पद को स्वीकार करते हुए उससे सन्धि कर ली थी क्योंकि उनको अपने शत्रुओं से भय था। आन्ध्र-नृप और कलिंग नृप को उत्तर में पालों और दक्षिण में राष्ट्रकूटों से भय था तथा सैन्धव-नरेश और विदर्भ नरेश को राष्ट्रकूटों और मुसलमान आक्रान्ताओं से भय था। अतः अपने बचाव के लिए इन राजाओं ने नागभट्ट की शरण ली क्योंकि उसकी भी उक्त लोगों से शत्रुता थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रदेश कन्नौज साम्राज्य की सार्वभौमिकता मानते थे। या यों कहा जाय कि नागभट्ट के नेतृत्व में इन राजाओं ने एक संघ बनाया।

अन्य विजयें :—इस प्रकरण में निम्न क्षेत्र आते हैं :—

आनर्त; तुरुष्क;

---

१. Ep. Ind. XVIII, pp. 87-99.
२. श्लोक २४।
३. श्लोक ८, पंक्ति ३-४।

मालव; वत्स और

किरात; मत्स्य ।

इन पर विजय की बात ग्वालियर प्रशस्ति के निम्न श्लोक में आती है :—

आनर्त-मालव-किरात-तुरुष्क-वत्स ।
मत्स्यादि राज-गिरि दुर्ग-हठापहरैः ॥[1]

अर्थात्, नागभट्ट ने उक्त देशों के राजाओं के गिरि-दुर्गों पर बलपूर्वक अधिकार किया ।

आनर्त की पहचान उत्तरी काठियावाड़ से की गई है; मालव मालवा प्रदेश था; किरात पश्चिम देश में रैवतक पर्वत के आस-पास का भूभाग माना गया है कि जहाँ किरात नामक जन जाति बसी हुई थी ।[2] तुरुष्कों की पहचान सिन्ध के अरबों से की गई है; वत्स कौशाम्बी राज्य था और मत्स्य में जयपुर, भरतपुर, अलवर आदि क्षेत्र थे और उसकी राजधानी विराटनगर (वैराट) थी ।

उपरिलिखित श्लोक में बल-पूर्वक अधिकार की बात आई है जिससे सिद्ध होता है कि कुछ संघर्ष के बाद ही नागभट्ट ने प्रश्नगत अधिकार किया । अतः यह बात आन्ध्र आदि के राजाओं से भिन्न थी कि जिन्होंने स्वमेव (अथवा स्वेच्छा से) महाराज का आश्रय लिया था ।

साम्राज्य विस्तार :—उक्त विवरणों से ज्ञात होगा कि नागभट्ट लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत का स्वामी था तथा अनेक छोटे-छोटे राजा उसके सामन्त थे या करीब-करीब सामन्त के रूप में उसके सहयोगी थे । अधिक स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नागभट्ट के साम्राज्य का फैलाव उत्तर-पश्चिम के कुछ भूभाग और पूर्व में बंगाल को छोड़कर उत्तर भारत में पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर में हिमालय की तराई से दक्षिण में नर्मदा तट तक था ।

डॉ० त्रिपाठी ने लिखा है कि निश्चित रूप से नागभट्ट के साम्राज्य की सीमाएँ निर्धारित करना कठिन है क्योंकि सम्बन्धित अभिलेखों में अतिशयोक्ति की सम्भावना है इस अतिशयोक्ति को ध्यान में रखते हुए उनका विचार है कि नागभट्ट के कन्नौज साम्राज्य में निम्न क्षेत्र सम्मिलित थे, अर्थात् राजपूताना के कुछ भाग, उत्तर प्रदेश और केन्द्रीय भारत का अधिकांश भूभाग कदाचित् उत्तरी काठियावाड़ तथा दक्षिण पूर्वी सीमा पर कौशाम्बी तथा आस-पास का भूभाग । उन्होंने यह भी कहा है कि नागभट्ट एक शक्तिशाली राजा था जिसका प्रभुत्व

---

१. श्लोक ११ ।
२. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० १३५ ।

अनेकों छोटे-छोटे सरदारों (राजघरानों के सदस्य) पर भी था।[1]

स्कन्द पुराण में नागभट्ट द्वितीय का वृतान्त:—इस पुराण में कहा गया है कि कलियुग आने पर कान्यकुब्ज का एक राजा हुआ जिसका नाम आम था।[2] प्रामाणिक इतिहास में इस नाम का कोई राजा कान्यकुब्ज का शासक नहीं मिलता किन्तु उस पुराण में आम सम्बन्धित अनेक बातों के आधार पर इतिहासकारों ने इस आम की पहचान नागभट्ट द्वितीय से की है। प्राचीन इतिहास के लिए स्कन्द पुराण एक महत्वपूर्ण साधन है। अतः उसमें वर्णित आम राजा की कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं।

स्कन्द पुराण में कई खण्ड है जिसके धर्मारण्य खण्ड में राजा आम का वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि :—

(१) बली राजा आम कलियुग के आने पर राज्य करते हुए सार्वभौम सम्राट बन गया। उसका पितामह देवशक्ति था जो परम वैष्णव था किन्तु आम ने कुछ समय बाद बुद्धि परिवर्तन होने पर वैष्णव धर्म को छोड़ कर क्षपणकों (बौद्ध या जैन सन्यासियों) के प्रभाव में आकर बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया।

(२) राजा आम की रत्नगंगा नामक एक पुत्री थी। एक बार कहीं बाहर से इन्द्रसूरि (नामक जैन साधू) कान्यकुब्ज (नगर) में आया और उसने राजा से आग्रह किया कि रत्नगंगा की विवाह ब्रह्मावर्त के राजा कुम्भीपाल (या कुमारपाल) से किया जाय। उस जैन साधू के प्रभाव में आकर आम ने ऐसा ही किया।[3]

(३) इस प्रकार आम के दरबार में जैनियों का प्रभाव बढ़ता गया और शनैः शनैः ब्राह्मणों को दान देना बन्द कर दिया गया और साथ ही पूर्व में शासन द्वारा विप्रों को पुश्तहापुश्त दिए हुए दानों (अग्रहारों) का भी लोप हो गया। आम का दामाद कुमार पाल भी जैन धर्म का प्रचार कर रहा था और स्वयं आम जैनियों से घिर गया।[4]

(४) इससे आकुलित होकर ब्राह्मणों ने जैनियों के प्रभाव के विरुद्ध विद्रोह किया जिसमे अन्ततः उनकी विजय हुई।[5] इस प्रकार त्रयीधर्म (वेद धर्म) की महिमा पुनः स्थापित हुई और—

---

१. History of Kanauj, p. 235.

२. स्कन्द पुराण, ३/२/३६ (अध्याय)।

३. स्कन्द पुराण, ३/२/३६।

४. वही।

५. स्कन्द पुराण, ३/२/अ० ३६–३९।

"महोदयाश्च ते विप्रा न्याय-मार्ग-प्रवर्तकाः ।[1]"

अर्थात् न्यायमार्ग प्रवर्तक कन्नौजिया ब्राह्मणों की भी प्रतिष्ठा स्थापित हुई ।[2]

इस सम्बन्ध में डॉ० अवस्थी ने यह भी कहा है कि "राजा आम का आधिपत्य धर्मारण्य (मही और साभ्रमती नदियों की घाटियों से खम्भात की खाड़ी के उत्तर-पूर्व) तक फैला था ।" और यह भी कि "इस प्रकार आम के राज्यकाल में बढ़ते हुए जैनों (नग्न-क्षपणकों) का प्रभाव कम हुआ और ब्राह्मण-धर्म का गौरव बढ़ा । जैन-ग्रन्थों (बप्पभट्टि-चरित और प्रभावक-चरित) से कन्नौज पर जैनों का प्रभाव परिलक्षित होता है । इस प्रकार स्कन्द पुराण में वर्णित कान्यकुब्ज का सार्वभौम राजा आम नागभट्ट द्वितीय ही था ।[3]

बप्पभट्टि-चरित में नागभट्ट द्वितीय का प्रकरण—स्कन्द पुराण के अतिरिक्त राजा आम का विवरण बप्पभट्टि-चरित में भी मिलता है । उक्त चरित जैन लेखक चन्द्रप्रभ सूरी कृत प्रभावक-चरित के अन्तर्गत है । सन् १४०१ में राजशेखर सूरि (जैन ग्रन्थकार) द्वारा लिखे गए प्रबन्धकोश में बप्पभट्टि सूरि प्रबन्ध (प्रबन्ध संख्या ९[4]) मिलता है । राजा आम (नागावलोक) का भी वर्णन है और उसकी भी पहचान नागभट्ट द्वितीय ही से की गई है । उस प्रबन्ध में उल्लिखित बातों में से कुछ निम्न प्रकार हैं :—

(क) राजा आम यशोवर्म की रानी सुयशा देवी से उत्पन्न था । यशोवर्म के बाद आम कान्यकुब्ज देश का राजा हुआ और उसकी राजधानी गोपालगिर (ग्वालियर) भी थी जहाँ जैनियों का प्रभाव अधिक था । उसने बप्पभट्टि को अपना आचार्य बनाया और दरबार में उसे सूरि-पद (पुरोहित-पद) पर नियुक्त किया । उसने गोपालगिरि (या गोपगिरि) में एक विशाल जैन मन्दिर बनवा कर वहाँ वर्धमान (महावीर स्वामी) की मूर्ति स्थापित की ।[5] आम ने सौराष्ट्र के रैवतक तीर्थ में नेमिनाथ और प्रभास में चन्द्रप्रभ की प्रतिष्ठा बढ़ा कर जैन धर्म का उन्नयन किया ।[6]

(ख) बप्पभट्टि ने वैदिक (ब्राह्मण) धर्म की निन्दा की । उसी के प्रभाव से आम भी अर्हत (जैन धर्मावलम्वी) हो गया ।[7]

१-२. वही, ३/२/३९/३२ ।

३. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० १४२ ।

४. प्रबन्धकोश (विश्वभारती संस्करण) जिनविजय द्वारा सम्पादित ।

५. प्रबन्धकोश, पृ० २७–२९ ।

६. वही, पृ० ४१–४३ ।

७. वही, पृ० ४० ।

(ग) आम का पुत्र दुन्दुक बताया गया है (जो सही प्रतीत नहीं होता) तथा उसका (आम का) पौत्र भोज (मिहिर भोज) बताया गया है (जो सही है)।

(घ) राजा आम श्री रामचन्द्र जी के समान न्याय-प्रिय था, यथा—"एवं राज्यश्रीः श्री आमस्य न्याय-रामस्य।" वह महाराज श्रीरामचन्द्र जी, नल, युधिष्ठिर, श्रेणिक (बिम्बसार) सम्प्रति, विक्रमादित्य और सातवाहन के समान था। उसके राज्य में सम्मिलित थे गोपगिरि (ग्वालियर), कालिंजर, सौराष्ट्र, रैवतक, प्रभास, स्तम्भतीर्थ तथा राजगिरि।[1]

(ङ) आम के राज्यकाल ही में उसके पौत्र भोज (मिहिर भोज) ने राजगिरि नामक दुर्ग को जीत लिया जहाँ समुद्रसेन राज्य कर रहा था परन्तु उसने वहाँ प्रजा संहार नहीं किया क्योंकि राजर्षि दयालु होते थे, क्रूर नहीं।

(च) भोज द्वारा राजगिरि विजित होने के ६ मास बाद आम ने अनशन-विधि द्वारा सन् ८३३ में गंगातट पर प्राण त्याग किए। प्राण त्याग के पहले उसने अपने पुत्र दुन्दुक को राज्य पर प्रतिष्ठित किया।

नागभट्ट की उपलब्धियाँ तथा चारित्रिक गुण—महाराज की उपलब्धियों में सबसे महत्वपूर्ण यह थी कि उसने कान्यकुब्ज पर अधिकार करके उसे प्रतिहार वंश की राजधानी बनाया और कान्यकुब्ज को एक विशाल और प्रतिष्ठित साम्राज्य का रूप दिया। जटिल संघर्षों द्वारा तथा अपनी बुद्धि से उसने यह कार्य पूरा किया।

दूसरे उसने प्रतिहार वंश को हीन स्थिति से उठा कर यशस्वी बनाया। ग्वालियर प्रशस्ति में ठीक ही कहा है कि :—

आद्यः पुमान् पुनरपि स्फुट-कीर्ति-रस्माज्।
जातस्स एव किल नागभट्स-तदाख्यः ॥[2]

भावार्थ, नागभट्ट प्रतिहार वंश का महान सम्राट था जिसने पुनः विष्णु के रूप में अवतरित होकर कीर्ति को फैलाया।

इस कीर्ति के आधार को कुछ लेखकों ने नागभट्ट द्वारा शत्रुओं को पराजित कर कान्यकुब्ज में प्रतिहारों को स्थापित करना बताया है। किन्तु डॉ० अवस्थी ने इसका आधार नागभट्ट की वेदों और सांस्कृतिक विचारों (त्रयी धर्म) में आस्था बताया है।[3] उनके अनुसार इसका प्रमाण मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति के निम्न श्लोक में मिलता है :—

---

१. प्रबन्धकोश, पृ० ४०–४३।
२. श्लोक ८, पंक्ति १-२।
३. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० १२७-२८।

अभ्यास-पदस्य सुकृतस्य समृद्धि-मिच्छुर् ।
यः क्षत्र-धार्म-विधिवद्-धवलि प्रबन्धः ।।[१]

भावार्थ, इस आदि पुरुष वासुदेव ने छात्र-धर्म का आश्रय लेकर त्रय-धर्म (वेदों और वैदिक धर्म) की प्रतिष्ठा करके पुण्य कार्य किया। डॉ० अवस्थी के अनुसार यही उसकी कीर्ति का आधार था अर्थात् उसने त्रयी-धर्म (वेद धर्म) की प्रतिष्ठा कर छात्र-धर्म का परिचय दिया। उनके ही शब्दों में :—

"म्लेच्छों और नास्तिकों से वैदिक धर्म कुंठित था। यही वह युग था जब कुमारिल भट्ट और भगवान शंकराचार्य वैदिक धर्म का पुनर्उद्धार कर रहे थे और स्कन्द पुराण स्पष्ट कहता है कि जैनों और बौद्धों से दबी हुई ब्राह्मण संस्कृति को आम (नागभट्ट द्वितीय) ने राजाश्रय देकर उन्नत बनाया। यही कान्यकुब्ज संस्कृति का पूर्व-मध्य युग में उत्थान था।[२]

नागभट्ट द्वितीय विद्वान था तथा कवि भी। उसने बलि-प्रबन्ध नामक ग्रन्थ की रचना की जो बलि-वामन-कथा से सम्बन्धित है; बद्ध-बलि-प्रबन्धः।[3]

नागभट्ट के व्यक्तित्व में आत्मशक्ति (आत्म वैभव) का बाहुल्य था जो बाल्यकाल से ही उसमें समाहित था। इसका उल्लेख मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में निम्न पद में किया गया है :—

यस्यात्म वैभव-मतीन्द्रिय-माकुमारम् ।
आविर्बभूव भुवि विश्व-जननीन-वृत्तः ।।[४]

भावार्थ, उसका पृथ्वी पर ऐसा विश्व-जननी-वृत्त बाल्यकाल से ही उसके आत्म वैभव (आत्म शक्ति) पर आधारित था तथा यह आत्मबल अतीन्द्रिय था।

इस आत्म-बल के प्रभाव से ही उसने—

(क) कान्यकुब्ज जैसे महान साम्राज्य की स्थापना की;
(ख) दुर्धर्ष शत्रु धर्मपाल को पराजित किया;
(ग) तुरुष्कों का दमन किया, और
(घ) अन्य विजएँ प्राप्त कीं।

स्कन्द पुराण के अनुसार राजा आम (यानी नागभट्ट) नीति-परायण, धर्मज्ञ,

---

१. श्लोक ९, पंक्ति १-२।
२. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० १२८।
३. मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक ९, पंक्ति २।
४ श्लोक ११, पंक्ति ३-४।

श्रीमान्, शान्त, संयमी, सुशील और सत्यधर्म-परायण था।[1] प्रबन्ध कोश से भी ज्ञात होता है कि वह प्रतापी और धार्मिक सम्राट था। मिहिर भोज के बराह ताम्रपत्र में नागभट्ट को "परम भगवती भक्तों" कहा गया है, जो उसकी धर्म-निष्ठा का प्रमाण है।

महाराज का अन्त—कन्नौज साम्राज्य पर लगभग २१ वर्ष राज्य करने के बाद सन् ८३६ के लगभग नागभट्ट दिवंगत हुआ। आधुनिक इतिहासकारों के ग्रन्थों में यह उल्लिखित नहीं है कि कहाँ और किस प्रकार उसका अन्त हुआ किन्तु राजशेखर सूरि कृत बप्पभट्ट सूरि प्रबन्ध (प्रबन्ध कोश के अन्तर्गत) में इसकी जानकारी मिलती है। उसमें बताया गया है कि वि० सं० ८९० (=८३३ ई०) के भाद्रपद शुक्ल पक्ष की पंचमी को पंच परमेष्ठिन का ध्यान करते हुए महाराज ने अनशन-विधि द्वारा समाधिस्थ होकर गंगा नदी में मागध तीर्थ के निकट प्राण त्याग दिए। यह भी कि प्राण-त्याग के पूर्व उसने अपने पुत्र दुन्दुक को राज्य पर प्रतिष्ठित किया।[2]

प्रमाणित आधार के अभाव में उक्त कथन की सत्यता पर मत व्यक्त करना कठिन है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि बप्पभट्ट सूरि प्रबन्ध की कुछ बातें अवश्य प्रमाणित हुई हैं और साथ ही कुछ बातें अमाननीय हैं जैसे नामों और उनकी समकालीनता के बारे में बताई गई बातें सही नहीं हैं—डॉ० अवस्थी के शब्दों में इस "बारे में गड़बड़ी है।[3]"

२. रामभद्र (८३३–८३६ ई०)

रानी इष्टदेवी से उत्पन्न रामभद्र नागभट्ट द्वितीय का पुत्र था। उसके दो अन्य नाम भी थे—राम तथा रामदेव। उसने भी अपने पिता की उपाधियों का ही प्रयोग किया, अर्थात् महाराजा, महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर।

रामभद्र ने केवल तीन साल ही राज्य किया किन्तु उसका शासन उच्चकोटि का था और वह पराक्रमी और सद्गुण सम्पन्न था। उसकी प्रशंसा उसके पुत्र मिहिर भोज ने अपने ग्वालियर के शिला लेख (८७५ और ८७६ ई०[4]) में की है जिसके कुछ अंशों का अंग्रेजी रूपान्तर निम्न प्रकार है :—

१. स्कन्द पुराण, ३/२/३६/१२–१५।
२. प्रबन्ध कोश, पृ० ४१–४३, दृष्टव्य डॉ० अवस्थी कृत राजपूत राजवंश, पृ० १३९।
३. राजपूत राजवंश, पृ० १४०।
४. Ep. Ind. I, pp. 154–162, verses 11–15.

"....His (Nagabhatta's) son, Ram, by name, also shone forth like his predecessor (the great Shri Ram Chandraji) by similar worthy deeds (destroying the evil-doers, etc.), for he, the defender of religion, too, had the haughty and cruel commanders of armies forcibly bound down by (his subordinate) kings who had the best cavalry under their charge; and looked radiant by having destroyed the obstacles caused by the evil-doers (and he thus) attained the fame.....

"That lord of prosperity, who had overpowered the points of compass by means of valour (alone), unsupported by the other expedients....."

"The production of the wealth of that successful one was merely a source of delight; it was at the disposal of the supplicants, but never a delight; to satisfy his own desire.

"A pure soul, averse from the world he obtained a son by name Mihira....."

इस रूपान्तर में एक बात यह आई है कि रामभद्र के सामन्त राजाओं ने अपनी अश्वसेना द्वारा घमंडी सेनानायकों को बन्दी बना लिया था। इस शत्रु की पहचान बंगाल के पाल शासक देवपाल से की गई है जिसने उत्तरी भारत पर आक्रमण किए थे।[1] इस संघर्ष में रामभद्र के पूर्वी राज्य की ओर के कुछ भाग देवपाल के अधिकार में चले गए।

कुछ ऐसे साक्ष्य भी हैं जो यह संकेत करते हैं कि उसके अल्पकालीन शासनकाल में अशान्ति रही और उपद्रव भी हुए। फिर भी उसकी सत्ता ग्वालियर जैसे दूरस्थ खंड में मानी जाती है जहाँ उसका एक उच्च कर्मचारी नियुक्त था।[2]

उक्त तथ्यों के प्रतिकूल डॉ० पुरी ने रामभद्र को एक दुष्चरित्र शासक बताया है क्योंकि उनके अनुसार कुछ जैन आचार्यों का यह कथन था।[3] डॉ० पुरी का कहना सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि अभिलेखों के साक्ष्य पर विश्वास करते हुए डॉ० के० एम० मुन्शी ने उचित बात ही कही है, यानी—

---

१. Dr. R. C. Majumdar, *Ancient India.*

२. Daulatpura (Jodhpur) copper plate inscription dated 843 A. D.

३. Dr. B. N. Puri, History of Gurjar-Pratiharas, p. 49.

"Rambhadra was brave and virtuous, pure soul, opposed to worldliness, and a defender of faith."[१]

रामभद्र को तुरुष्कों और यवनों के साथ युद्ध करना पड़ा था जिन्हें भोज की सागरताल (ग्वालियर) प्रशस्ति[२] में क्रूर पापी कहा गया है तथा जिन्हें रामभद्र ने नष्ट किया। विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः उसी युद्ध में उसे वीर गति मिली (संगतं कीर्ति-दारैस्त्राता धर्मस्य)[३]।

(३) मिहिर भोज (भोज प्रथम)
(८३६–८८५ ई०)

पिता रामभद्र के अवसान पर सन् ८३६ में मिहिर भोज राज्य का अधिकारी हुआ और लगभग ५० वर्ष राज्य किया। इसकी माता रानी (देवी) अप्पादेवी थी। इसे उत्पन्न करने के लिए सूर्यदेव के अनन्त भक्त महाराज रामभद्र ने सूर्य भगवान की रहस्यमय व्रतों से उपासना करके प्रसन्न किया था जैसा कि स्वयं मिहिर भोज के ग्वालियर मन्दिर के शिलालेख[४] (सन् ८७५-७६) में निम्न श्लोक में आया है—

> जगद्-वितृष्णुः स विशुद्ध-सत्वः प्रजापतित्वं विनयोक्तु-कामः।
> सुतं रहस्यव्रत-सुप्रसन्नात्-सूर्याद्-वापन्-मिहिराभिधानं[५]॥

अर्थात् संसार विरक्त उस विशुद्ध आत्मा ने (रामभद्र ने) सूर्य को रहस्यमय व्रतों की उपासना से प्रसन्न कर प्रजा पर स्वामित्व करने के लिए मिहिर नामक पुत्र प्राप्त किया।

'मिहिर' सूर्य का पर्यायवाची है और 'भोज' उपाधि है। अतः मिहिर नाम इस कारण पडा कि सूर्यदेव ही पिता रामभद्र के इष्टदेव थे क्योंकि भोज के बराह ताम्रपत्र लेख[६] (८३६ ई०) में उन्हें 'परमादित्यभक्तो महाराज श्री रामभद्र देव' कहा गया है। दूसरे यह कि इनकी उत्पत्ति सूर्यदेव की उपासना से ही सम्भव हुई थी।

नोट—उक्त ताम्रपत्र बराह ग्राम में प्राप्त हुआ था जो कानपुर जनपद में

---

१. Glory that was Gurjar Desh, p. 121.
२. Ep. Ind., XVIII, p. p. 99-114, verse 15
३. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० १५२।
४. Ep. Ind., I, pp. 154-162.
५. *Ibid*, verse 15.
६. Ep. Ind., *XIX*, pp. 15-19

कानपुर-कालपी मार्ग पर कानपुर से २३ मील दूर अकबरपुर नगरी से ४ मील पूर्व में स्थित है।

महाराज मिहिर के अन्य नाम थे मिहिर भोज, भोज प्रथम प्रभाष, आदि-वाराह। उपाधियाँ थीं महाराजा, महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर। 'भोज' और 'प्रभाष' नाम भी बोद्ध-सूचक ही थे। कुछ इतिहासकारों[1] ने उसे भोजराज की भी संज्ञा दी है।

भोज के लिए कहा गया है कि 'कान्यकुब्जे महादेशे राजा भोजेति विश्रुतः'[2] अर्थात् कान्यकुब्ज नामक महादेश में भोज नामक एक प्रसिद्ध राजा हुआ। यह उसकी (तथा कन्नौज की भी) कीर्ति का सूचक है।

स्कन्दपुराण में वर्णित भोज द्वारा राज्यत्याग का विचार तथा उसका (विचार का) कार्यान्वित न होना :—यह प्रसंग स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड के अन्तर्गत वस्त्रापथ माहात्म्य में आया है जिसके अध्याय ६ मे अन्तिम अध्याय (१९) में मुख्यतः विद्वान मुनि सारस्वत और भोज के संवाद का उल्लेख है। उक्त प्रभास खण्ड कान्यकुब्ज के दरबार में संकलित किया गया प्रतीत होता है।[3] प्रभास की गणना भारत के प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थों में थी। भोज की एक उपाधि (या नाम) 'प्रभास' भी है जो उस स्थान के माहात्म्य की द्योतक है। अस्तु। भोज ने अपने गुरु (पुरोहित) से कहा—

त्यक्त्वा राज्यं प्रियान् पुत्रान्-पत्त्यश्व-रथ-कुञ्जरान्।
पुत्रं राज्ये प्रतिष्ठाय गन्तव्यं निश्चितं मया॥[4]

भावार्थ, राज्य, रानियों, पुत्रों, घोड़ों, रथों और हाथियों (अर्थात् सेना) को छोड़कर और पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर तीर्थ-यात्रा पर चले जाने का मैंने निश्चय किया है। तब मुनि ने भोज को राज्यभार छोड़ने से रोका—निवारयामास मुनिर्नरेन्द्रम्[5] और कहा—

ग्रहेऽपि देवा हरविष्णु मुख्या जलानिदर्भा नृपते तिलाश्च।
अनेक देशान्तर-दर्शनार्थं मनोनिवार्यं नृपते त्यजेति॥[6]

---

१. उदाहरणार्थ, डॉ० अवस्थी—देखिए उनका राजपूत राजवंश पृ० १४६।
२. स्कन्द पुराण, ७/२/६/१४१ (२),
३. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० १४८।
४. स्कन्द पुराण, ७-२-१०-१५।
५. स्कन्द पुराण ७/२/१०/१८।
६. वही, ७/२/१०/१९।

अर्थात् घर में भी देवता, विष्णु आदि हैं, जल, कुश, तिल आदि भी हैं, अतः हे राजन्, अनेकों देशों में दर्शन के लिए जाने से अपने मन को हटाओ। वाद-विवाद के बाद भोज ने अपने मन को हटाओ। वाद-विवाद के बाद भोज ने अपने संकल्प को छोड़ दिया। बहस में भोज के बताया गया कि राजा के लिए राज्य-रक्षा, प्रजापालन तथा शत्रु संहार करना ही परम धर्म है, अतः राज छोड़ना उचित नहीं। सारस्वत के उपदेश के लिए भोज उनका अनुग्रहीत हुआ और उनकी पूजा की। हाँ, कालान्तर में उसने तीर्थयात्रा भी की, यथा—

ततो तथोक्त विधिना स भोजो नृप-सत्तमः।
वस्त्रापथ-क्षेत्र-यात्रां परिवार जनैः सह ॥
कृत्वा कृतार्थं तां प्राप्तो जगामन्ते परं पदम् ॥[1]

अर्थात् विधान के अनुसार सम्पूर्ण परिवार के साथ उसने वस्त्रापथ की यात्रा अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वह कृतार्थ हुआ और अन्त में (राजधर्म का पालन करते हुए) उसने परम पद प्राप्त किया।

भोज को राज्य-त्याग की अभिलाषा क्योंकर हुई इसका उल्लेख युक्त वस्त्रापथ माहात्म्य में इस प्रकार आया है कि एक बार सौराष्ट्र में नियुक्त एक वनपाल[2] ने महाराज को सूचना दी कि मैंने रैवतक के जंगल में हिरणों के झुण्ड के साथ एक ऐसी रमणी को देखा है कि जिसका सिर हिरणी के सिर के समान है। महाराज को उसे देखने की उत्कण्ठा हुई अतः वन को फौज की एक टुकड़ी से घेर लिया गया और उस अद्भुत हिरणी-सिर वाली रमणी को पकड़ कर कान्यकुब्ज लाया गया। उसने भोज से अपने पूर्व जन्म का वृतान्त बताया और साथ ही सौराष्ट्र की पवित्र और अत्यन्त आकर्षित भूमि की अत्यधिक प्रशंसा की। इससे प्रभावित होकर भोज की उस क्षेत्र में जाने की प्रबल इच्छा हुई और इसी इच्छापूर्ति के लिए उसने राजत्याग करने का विचार किया था।

बंगाल के पाल वंश से संघर्ष—पालवंश का देवपाल एक शक्तिशाली राजा था जिसने सन ८१५ से ८५५ तक लगभग ४० साल राज्य किया। जैसा कि रामभद्र के प्रकरण में बताया गया है उसने कन्नौज राज्य के कुछ पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया था। मिहिर भोज के समय में भी उसने अपनी शक्ति बढ़ाई और विन्ध्य से हिमालय तक के भूभाग को अधिकृत कर लिया तथा अन्य

---

१. स्कन्दपुराण, ७/२/१९/३४।
२. Warden of Forests.

क्षेत्र भी विजित किए ।[१] इधर भोज भी कम शक्तिशाली न था, और पिता के समय में निकल गए इलाके को वापस लेना चाहता था । अतः दोनों में संघर्ष होना स्वाभाविक था । युद्ध की प्रथम पाली में भोज को सफलता मिली और पाल-राज्य की पश्चिमी सीमा का कुछ भाग उसने जीत लिया यह जीत उसके सामन्त कलचुरि राजा गुणाम्भोधि (या गुणसागर प्रथम) की सहायता से हुई जिसने गौडनृप की लक्ष्मी का अपहरण किया । (अहृता गौडलक्ष्मी) ।[२] कलचुरि-नरेश कर्ण के बनारस ताम्रपत्र लेख (सन् १०४२) से ज्ञात होता है कि कलचुरि-वंश के कोक्कल राजा ने भी (जो भोज का सामन्त था) भोज की सहायता की थी—भोजे राजनि·········अभयदः, अर्थात् भोज को अभय किया ।[३]

तदनन्तर भोज ने देवपाल की शक्ति को पूर्णतः नष्ट करने का प्रयास किया किन्तु युद्ध की दूसरी पाली में उसकी पराजय हुई जिससे गौड़-नृप ने (देवपाल ने) "खर्वीकृत-गुर्जरनाथ दर्पम्", अर्थात् गुर्जरों के स्वामी (भोज) का दर्प चूर-चूर कर दिया जैसा कि देवपाल के पौत्र नारायण पाल के मंत्री गुरव मिश्र के बादल स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है ।[४] कालान्तर में देवपाल की मृत्यु के बाद भोज ने अपने सामन्त कलचुरि नरेश कोक्कल की सहायता से गौढ-लक्ष्मी (पालों की प्रभुता) का अपहरण कर लिया ।[५] भोज के बैलभभट्ट स्वामिन मंदिर (ग्वालियर) शिला-लेख (८७५-८७६ ई०) में भी बताया गया है कि भोज ने शत्रु-सेना रूपी समुद्र का मंथन कर धर्मपाल के पुत्र (देवपाल) के यश रूपी लक्ष्मी पर अधिकार कर अपने प्रताप की प्रतिष्ठा की ।[६] भोज की इस विजय में भी कलचुरि-सामन्त से सहायता मिली थी । बालादित्य के चाटसू (जयपुर) अभिलेख से भी ज्ञात होता है कि भोज के अन्य सामन्तों, गुहिल और हर्षराज ने भी गौढ (पाल) शासक की पराजय में प्रतिहार शासक (भोज प्रथम) की सहायता की थी ।

---

१. Badal Pillar inscription of Gurava Mishra, minister of Narayanpal (grandson of Devapal) (Ep. Ind. II, pp 160-67) and Monghy copper plate inscription of Devapal (of about 850 AD) (Ep. Ind., XVIII pp. 304-07).

२. Kahla Copper plate inscription of Sodhava. (1031 A. D.) (*Ep. Ind.*, VII, pp 85-93).

३. *Ep. Ind.*, II, pp, 197-310.

४. Ep. Ind. II, pp. 160-67.

५. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० १५५ ।

६. Ep. Ind., XII, pp. 10-17.

राष्ट्रकूट संघर्ष :—धर्मपाल से युद्ध की दूसरी पाली में भोज की पूर्व की ओर प्रगति में धक्का तो अवश्य लगा किन्तु वह हतोत्साहित नहीं हुआ क्योंकि अब उसने कन्नौज के वंशानुगत बैरी राष्ट्रकूटों की ओर पश्चिम-दक्षिण में स्थित काठियावाड़ पर अभियान किया और सफलता प्राप्त की क्योंकि राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष इस योग्य न था कि गुर्जर-प्रतिहारों का विरोध करता क्योंकि जब गोविन्द तृतीय की मृत्यु के बाद राज्य का भार उस पर आया तब वह अल्पवयस्क था और इस कारण चारों ओर विद्रोह होने लगे और कुछ समय के लिए उसे गद्दी छोड़कर भाग जाना भी पड़ा। उक्त सफलता प्राप्त करने में भी भोज को एक अन्य सामन्त से सहायता मिली जो चाहमान परिवार का था और जिसका जिक्र महेन्द्रपाल द्वितीय के परताबगढ़ (दक्षिण राजपूताना) शिलालेख[1] (९४६ ई०) में है और जिसमें कहा गया है कि राजाओं के एक चाहमान परिवार से भोज बहुत प्रसन्न हुआ था। इस प्रकार जान पड़ता है कि भोज का अधिकार दक्षिण राजपूताना में और उज्जयनी के आस-पास के इलाके में नर्मदा तक हो गया था। यह अधिकार महेन्द्रपाल द्वितीय के समय तक कायम रहा।

कुछ समय बाद राष्ट्रकूटों ही के द्वारा भोज की बढ़ती हुई शक्ति पर प्रबल आघात पहुँचा। इस बार राष्ट्रकूटों के गुजरात में सामन्त ध्रुव द्वितीय (राष्ट्रकूटों की एक अन्य शाखा का सदस्य) ने भोज की एक शक्ति सम्पन्न सेना को पराजित किया।[2] इतिहासकारों का मत है कि भोज द्वारा फिर आक्रमण के भय से ध्रुव द्वितीय और अमोघवर्ष में बाद को मैत्री हो गई थी और सम्भवतः अमोघवर्ष ने ध्रुव को भोज के विरुद्ध सहायता भी दी।[3]

अमोघवर्ष का पुत्र तथा उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय (८७५-९११ ई०) हुआ और उसके समय में भी यह संघर्ष मालवा में चलता रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि गुर्जर-प्रतिहार शासक अपनी सीमा पर राष्ट्रकूटों को उत्तर में बढ़ने से रोकने के लिए बड़ी सेना रखते थे अतः दोनों शक्तियों में युद्ध होना अनिवार्य था। इन युद्धों में विजय कभी भोज को मिलती कभी कृष्ण को। बात यह थी कि कृष्ण द्वितीय अपने पूर्वजों की भाँति शक्तिशाली न था और दूसरी ओर भोज भी वृद्ध हो चला था। फिर भी ऐसा आया है कि अपने अन्तिम वर्षों में भोज ने कृष्ण के विरुद्ध ऐसा रणाभियान किया कि उसकी सेना को शीघ्र ही स्वदेश

---

१. Ep. Ind. XIV, pp, 176-188.

२. ध्रुवराज का बेगुम्रा ताम्रपत्र लेख (८६७ ई०) (Ind. Ant. XII, pp. 179-90).

३. अल्टेकर, राष्ट्रकूटाज (अंगरेजी में) पृ० ७७, ८५।

जाकर शरण लेनी पड़ी। यह बात बार्टन म्यूजियम, भावनगर, के प्रतिहार लेख[1] से लक्षित होती है किन्तु उससे उक्त तथ्य के अतिरिक्त कोई अन्य निष्कर्ष निकालना कठिन है क्योंकि लेख का अधिकांश भाग खंडित है। इस साक्ष्य के विपरीत राष्ट्रकूट लेखों में यह आया है कि भोज के उपरलिखित आक्रमण में स्वयं वह ही पराजित हुआ न कि कृष्ण द्वितीय कि जिसने उस भीषण युद्ध में अपने साहस और शौर्य का अपूर्व परिचय दिया—इन्द्र तृतीय का बेगुम्रा ताम्रलेख[2], सन् ९१५। इसके अतिरिक्त कृष्ण द्वितीय के एक कृष्ण नामक सामन्त (गुजरात परिवार) का भी सन् ८८८ का बेगुम्रा लेख है जिसके अनुसार सामन्त नृप ने उक्त सन् के कुछ पहले उज्जयनी में विजयें प्राप्त की थीं[3]— यह माना गया है कि यह विजयें मिहिर भोज पर हो थीं। इन परस्पर विरोधी साक्षों से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनों वंश-परम्परागत बैरियों में युद्ध होते तो अवश्य रहे किन्तु वे निर्णयात्मक नहीं हुए और न उनसे दोनों में से किसी को कोई विशेष लाभ ही हुआ।

राष्ट्रकूट संघर्ष के सम्बन्ध में अन्त में यह कहना है कि भोज के सागर-ताल (ग्वालियर) प्रशस्ति[4] में यह साफ उल्लेख है कि विन्ध्य को पार कर भोज ने राजाओं को अपना करद सामन्त बनाया था। इसके अतिरिक्त स्कन्दपुराण में यह आया है कि भोज के पास विशाल और सुदृढ़ सेना थी और सौराष्ट्र में उसका अधिकार था।[5] इसी देश में रैवतक पर्वत और वस्त्रापथ पुण्य क्षेत्र स्थित थे। सोमनाथ का प्राचीनतम तथा धनाढ्य मन्दिर भी सौराष्ट्र ही में था जैसा अब भी है। यह मन्दिर प्रभास पट्टन नगर में स्थापित है जो प्राचीन युग में पश्चिमी भारत का प्रधान बन्दरगाह और शैव्य समुदाय का केन्द्र था।

सौराष्ट्र पर भोज के अधिकार की बात इससे भी पुष्ट होती है कि वहाँ कन्नौज राज्य का वनपाल[6] नियुक्त था तथा उसके द्वारा प्राप्त सूचना पर हिरणी-रमणी को पकड़ने के लिए सेना की एक टुकड़ी भी वन को घेरने के लिए तैनात हुई थी जिसका जिक्र पहले आ चुका है।

उत्तर-पश्चिम में भोज के अधिकार के सम्बन्ध में :—यह निश्चित रूप से

---

१. Ep. Ind. XIX, pp. 174-177.
२. Ind. Ant., XIII, p. 66.
३. Ep. Ind. IX, 24.
४. Ep. Ind., XVIII, pp. 99-114.
५. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० १५७।
६. Forest Warden.

ज्ञात है कि उत्तर-पश्चिम में भोज ने सतलज नदी के पूर्वी भूभाग को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया—दृष्टव्य सन् ८८२ का पिहोआ (करनाल) शिलालेख।[1] पिहोआ करनाल जिले में कुरुक्षेत्र के निकट स्थित है और प्राचीन काल में यह पृथूदक नाम से विख्यात था तथा एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान भी था। यहाँ प्रतिवर्ष एक विशाल मेला लगता था जिसमें घोड़ों का क्रय-विक्रय होता था। शिलालेख में उत्कीर्ण है कि भोजदेव के शुभ और विजयी राज्यकाल में घोड़ों के सौदागरों द्वारा इस मेले में घोड़ों का विक्रय होता था। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि उक्त भूभाग कन्नौज के अन्तर्गत था।

कल्हण की राजतरंगिणी के एक श्लोक[2] से भी विदित होता है कि उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (पंजाब)[3] पर भोज 'अधिराज' (सम्राट) का अधिकार था। उस श्लोक में कहा गया है कि पंजाब का जो भाग (टक्क देश) अधिराज (सम्राट) भोज के अधिकार में चला गया था उसे (कालान्तर में अर्थात् भोज के बाद) काश्मीर के राजा (शंकर वर्मन) ने थक्कय वंश के राजा को पुनः वापस करा दिया। यह इस प्रकार हुआ कि शंकर वर्मन ने गुर्जर-प्रतिहार सामन्त शासक अलखान को युद्ध में पराजित किया और तब अलखान ने उसे टक्क देश (पंजाब के पूर्वी भाग में) देकर सन्धि कर ली और अपनी ओर से शंकर वर्मन ने उसे थक्कयवंशीय राजा को दे दिया।[4] यह घटना भोज के बाद की है—अपने जीवन काल में भोज उस क्षेत्र का 'अधिराज' ही बना रहा; इस 'अधिराजत्व' (सार्वभौम-सम्राट-पद) की मान्यता राजतरंगिणी में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है (हृतं भोजाधिराजेन साम्राज्य-मदापयत्)।

उत्तर में हिमालय तक अधिकार :—यह भी माना गया है कि उत्तर दिशा में हिमालय की पद-भूमि तक भोज का स्वामित्व माना जाता था। यह कवि बालादित्य के चाट्सू लेख[5] से प्रमाणित होता है जिसमें यह पुनस्पष्ट किया गया है कि हर्षराज गुहील ने उत्तर के राजाओं पर विजय प्राप्त की और भोज को घोड़े नजर किए।

हर्षराज गुहील भोज का सामन्त था अतः यह माना जाता है कि उसने यह रण अभियान अपने स्वामी की सहायतार्थ ही किया न कि अपनी ओर से।

---

१. Ep. Ind. I, pp. 186, 188.

२. Vol, I, BK, V, verse 151 (Stein, p. 206).

३. पंजाब में स्थित मद्र देश इस समय भोज के अधीन हो गया था।

४. अल्टेकर, राष्ट्रकूटाज (अंगरेजी), पृ० ९७।

५. Ep. Ind., XVII, pp. 15 verse 19.

इसके अतिरिक्त उक्त आधिपत्य का दूसरा प्रमाण सन् १०७७ के कहल पत्र में मिलता है जो गोरखपुर जनपद के परगना धुरियापुर में पाया गया था।[1] उसमें बताया गया है कि कलचुरि परिवार के गुणाम्बोधिदेव ने भोज से कुछ भूमि प्राप्त की (भोज देवाप्त भूमिः)। गोरखपुर का क्षेत्र हिमालय की तराई ही में है अतः इस लेख का वहाँ पाया जाना सिद्ध करता है कि वह भूभाग भोज ही के अधिकार में था क्योंकि अन्य के राज्य में यह लेख कैसे पहुँच सकता था।

बुन्देलखंड और मारवाड़ में आधिपत्य :—अपने राज्य काल के प्रारम्भिक वर्षों में भोज ने प्रतिहार शक्ति को सुदृढ़ करने का प्रयास किया क्योंकि पिता के समय में राज्य को धक्का लगा था। अतः प्रथमतम उसने बुन्देलखंड की ओर ध्यान दिया और अपनी सत्ता को वहाँ पुनर्स्थापित किया। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि सन् ८३६ में (अर्थात् गद्दी ग्रहण करने के तुरन्त बाद) उसने कालिंजर मंडल में स्थिति बलाकाग्रहार के दान को पुरानी शर्तों पर फिर चालू कर दिया। यह दान नागभट्ट द्वितीय द्वारा प्रदान किया गया था किन्तु रामभद्र के समय में खंडित हो गया था कदाचित् इस कारण कि रामभद्र का अधिकार उस क्षेत्र में शिथिल हो गया था। अतः भोज ने उस दान को पुनर्स्थापित करके अपना आधिपत्य पुष्ट कर लिया। उक्त बातें भोज के बराह ताम्रपत्र लेख[2] (सन् ८३६) में आई हैं। स्थानीय परम्परागत किंवदन्तियों से भी लक्षित होता है कि इस भूभाग पर चन्देलों के उत्कर्ष के पहले (अर्थात् यशोवर्मन चन्देल के पहले) प्रतिहारों की सत्ता ही प्रचलित थी। वस्तुतः यहाँ के प्रारम्भिक कुछ राजा अपने को केवल नृप, महीपति या क्षिपित ही कहते थे जो शब्द सामन्त-वाचक थे न कि स्वतन्त्र राजत्व के।

मारवाड़ के सम्बन्ध में भी स्थिति कुछ इसी प्रकार की है। भोज के दौलतपुर (जोधपुर) ताम्रपत्र लेख[3] (सन् ८४३) से ज्ञात होता है कि उसने गुर्जरत्र-भूमि (जोधपुर या मारवाड़) में उस दान को पुनः स्थापित किया कि जो प्रारम्भ में वत्सराज ने प्रदान किया था और जिसे नागभट्ट द्वितीय ने अनुमोदित किया किन्तु जो सम्भवतः रामभद्र के समय में बिगड़ गया था और यही स्थिति भोज के प्रारम्भिक वर्षों में भी रही थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सन् ८४३ के कुछ पूर्व भोज ने मारवाड़ में भी प्रतिहार-प्रभुत्व फिर कायम कर लिया। ऐसा समझा

---

१. Ep. Ind., XVIII, pp. 96, 99.
२. Ep. Ind., XIX, pp. 15-19.
३. Ep. Ind., V, pp. 208-13.

जाता है कि इस क्षेत्र में जो गड़बड़ी रामभद्र के समय हुई थी वह मन्डोर के सामन्त-प्रतिहार परिवार द्वारा की गई थी।

भोज और तुरुष्क (यवन) :—ईसा की ७वीं सदी में बगदाद के खलीफा की ओर से अरबों ने सिन्ध पर अधिकार कर लिया था। भोज के समय में खलीफा द्वारा नियुक्त सिन्ध का गवर्नर इमान इब्नमूसा था। उसने अरब शक्ति को बढ़ाना चाहा किन्तु असफल रहा; उसे कच्छ क्षेत्र से बाहर निकाल दिया गया। तत्कालीन अरब यात्री सुलेमान के कथन से विदित होता है कि यह भोज की शक्ति से ही सम्भव हुआ। उसने लिखा है कि :—

"The King of Juzra (Jurz) maintains numerous forces and no other Indian prince has so fine a cavalry. He is unfrieudly to the Arabs..... Among the princes of India there is no greater foe of the Muhammadan faith than he".[1]

अर्थात् जुज्र (या गुर्जर) के राजा (मिहिर भोज से अभिप्राय है) के पास विशाल सेना है। जितनी अच्छी अश्वारोही सेना भोज के पास है उतनी अच्छी अन्य किसी भारतीय शासक के पास न थी। अरबों के प्रति वह अमैत्रीपूर्ण है।.........उससे बढ़कर मुसलमानी धर्म का शत्रु कोई अन्य भारतीय शासक नहीं है।

भोज की उक्त नीति से सम्बन्धित बात उसकी सागर-ताल (ग्वालियर) प्रशस्ति[2] में कहा गया है कि जिस प्रकार कुमार कार्तिकेय (शिव के पुत्र तथा देवताओं के सेनापति) ने मातृकाओं के समूह की सहायता से आश्चर्यजनक कार्य किए थे उसी प्रकार भोज ने भी अपनी अस्त्रधारिणी स्त्रियों की सहायता से घोर (उग्र) असुरों का दमन किया। अभिलेख में उन असुरों को म्लेच्छ (श्लोक ४), तुरुष्क (श्लोक ११) तथा पापी पापाचारान, श्लोक १२) संज्ञाएँ दी गई हैं। स्कन्दपुराण में दैत्यों (घोर, असुरों) को 'मुक्त-कच्छ-शिखा" वाला (कांच वाली धोती और शिर की चोटी से रहित) कहा गया है, अर्थात्, तुरुष्क या तुर्क।

भोज का साम्राज्य विस्तार :—उपरिलिखित विवरण से स्पष्ट है कि महाराज मिहिर भोज लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत के सम्राट थे। उत्तर भारत के प्रधानतयः निम्न प्रदेश ही उसके साम्राज्य के बाहर थे :—पूर्व में सिन्ध जहाँ अरबों का अधिकार था; धुर उत्तर में काश्मीर जो स्वतंत्र राज्य था तथा दक्षिण

---

१. El iot and Dowson, History of India, Vol. I, p. 4.

२. Ep. Ind., XVIII, pp, 99-114.

में बंगाल का पाल-राज्य। इस प्रकार सम्पूर्ण मध्यदेश उसके साम्राज्य में सम्मिलित था। अरबी लेखक अबूजैद के अनुसार गुर्जर साम्राज्य का अंग कन्नौज एक विशाल देश था, यथा—

'Kanauj, a large country, forming the empire of Jurz".[१]

डॉ० स्मिथ ने भी भोज को एक अत्यन्त शक्तिशाली शासक तथा साम्राज्य का स्वामी माना है :—

1. Rambhadra's son, Mihir, usually knwon by his title Bhoj, enjoyed a long reign,....and beyond question was a very powerful monarch, whose dominions may be called an "empire" without exaggeration."[२]

डॉ० त्रिपाठी के अनुसार भोज का साम्राज्य बहुत बढ़ा हुआ था। मोटे तौर पर उसकी सीमाएँ निम्न थीं :—

उत्तर पश्चिम....सतलज नदी (पंजाब में);
उत्तर....हिमालय की पद-भूमि;
पूरब....पाल-राज्य की पश्चिमी सरहद;
उत्तर और उत्तर-पूरब....बुन्देलखंड और वत्स इलाके;
दक्षिण-पश्चिम....नर्मदा का निचला भाग और सौराष्ट्र;
पश्चिम.... राजपूताना का अधिकांश भाग।[३]

इससे यह दर्शित होता है कि भोज का साम्राज्य महाराज हर्षवर्धन के साम्राज्य से भी बढ़ा था क्योंकि उसका दायरा पूरब से पश्चिम में बंगाल से सिन्ध तक और उत्तर सें दक्षिण में हिमालय की तरहटी से नर्मदा नदी तक फैला हुआ था। इस प्रकार कान्यकुब्ज राज्य एक महोदय (अर्थात् विशाल साम्राज्य) बन गया जिसमें ३६ लाख गाँव सम्मिलित थे। कन्नौज नगर पूरे उत्तरापथ की राजधानी बन गया।

भोज के सिक्के :—भोज के मिश्रित चाँदी के सिक्के प्राप्त हुए हैं जो "आदिवराह" प्रकार के कहे जाते हैं। प्रत्येक सिक्के के ऊपर के भाग में वराह का चित्र है जिसे चक्र, गदा, पद्म और शंख लिए दिखाया गया है। दूसरी ओर तुलसी वृन्दावन और षटकोण चिन्ह अंकित है तथा "श्रीमद् आदिवराह"

---

१. इलियट और डाउसन, हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग–१ पृ० १०, ३५८।
२. Smith, Early History of India, p. 393.
३. Dr. Tripathi, History of Kanauj, p. 246.

शब्द प्राकृत में दर्शाए गए हैं। भोज के ताँबे के सिक्के भी मिलते हैं।[1] चाँदी के सिक्कों में दूसरी धातु की मिलावट कदाचित इस कारण की जाती थी कि उस समय साम्राज्य की आर्थिक स्थिति सुसम्पन्न नहीं थी।

नोट :—गुप्त साम्राज्य के बाद मौखरियों और हर्ष ने भी गुप्त शासकों के अनुसार सिक्कों को चलाया। हर्ष के बाद शनैः शनैः सिक्कों की प्राप्ति कम होती गई। ईसा की ८वीं सदी में सिन्ध पर अरबों का अधिकार होने से लेकर पृथ्वीराज-जयचन्द्र-पराजय तक भारत का अतुल धन लुटकर बाहर जाता रहा, कदाचित् इसी कारण इस अन्तराल के सिक्के कम पाए गए हैं।

भोज का शासन प्रबन्ध :—अन्य सम्राटों की भाँति भोज का राज्य प्रबन्ध भी तीन प्रकार का था, यथा—

(क) सम्राट द्वारा सीधा प्रबन्ध,

(ख) राज्यपालों (गवर्नरों) द्वारा प्रबन्ध, और

(ग) सामन्तों द्वारा प्रशासनिक प्रबन्ध।

राजधानी कन्नौज तथा कन्नौज प्रदेश का प्रशासनिक कार्य भोज के हाथ में था जो उसे उच्च कर्मचारियों द्वारा सम्पादित करता था। यही स्थिति आस-पास की अमलदारी (अर्थात कन्नौज प्रदेश की सीमा के आस-पास) थी।

दूरस्थ इलाकों में सम्राट द्वारा गवर्नर (राज्यपाल) नियुक्त थे जो सम्राट की नीति के अनुसार तथा उनको समय-समय पर दी गई आज्ञाओं के अनुसार काम करते थे। रक्षा के लिए इनके पास फौज भी रहती थी जिसका खर्च साम्राज्य वहन करता था।

दूरस्थ प्रदेशों में सम्राट के सामन्त राजा भी शासन करते थे—एक प्रकार से वे वाइसराय के तुल्य थे किन्तु शासित भूभाग में उनका हक समझा जाता था और राजा के दिवंगत होने पर उसका पुत्र (या राज्य-घराने का निकटतम सदस्य) ही खाली गद्दी का अधिकारी होता था। भूमिकर तथा अन्य करों पर उसी का अधिकार होता था तथा राज्य के खर्च की जिम्मेदारी उसी की ही होती थी। वह यथायोग्य सेना भी रखता था जिससे वह अपने राज्य की प्रतिरक्षा करता था और आवश्यकतानुसार उसके द्वारा सम्राट की सैनिक सहायता भी करता था। इसी प्रकार धन से भी सहायता करता था। उसे आक्रमणकारियों से बचाने के लिए सम्राट भी जिम्मेदार था। यह सामन्त अपने को राजा, नृप, नरेश, आदि कहते थे किन्तु सम्राट के सार्वभौम-पद को मानते थे अर्थात् अपने को उसके आधीन मानते थे।

---

१. Glory that was Gurjar Desh, Part I, pp. 215-16.

भोज के सामन्तों का जिक्र पहले किया जा चुका है और बताया गया है कि कलचुरि, गुहिल तथा चाहमान नरेशों ने भोज की सैनिक सहायता करके उसके साम्राज्य-विस्तार को बढ़ाया था। अनेक देशों के राजा जो पहले पालवंशीय गौड़ सम्राट धर्मपाल या देवपाल का प्रभुत्व मानते थे अब शक्तिशाली भोज के सामन्त बन गए थे। इनमें से मत्स्य, भद्र, कुरु, यदु, अवन्ति के राजा मुख्य थे।

भोज के प्रशासकीय प्रबन्ध के बारे में अधिक जानकारी नहीं है किन्तु यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि प्रजाजन शान्तिमय जीवन व्यतीत करते थे और चोर, डाकुओं और लुटेरों से सुरक्षित थे। यह अरब यात्री सुलेमान के कथन से प्रमाणित होता है जिसने कहा है कि—

"There is no country in India more safe from robbers".[1] अर्थात् भारत में कोई भी अन्य देश लुटेरों से इतना अधिक सुरक्षित नहीं है जितना कि भोज का देश। इस कथन से भोज की प्रशासनिक श्रेष्ठता सिद्ध होती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि महाराज हर्षवर्धन काल में भी इतनी अच्छी व्यवस्था नहीं थी क्योंकि लुटेरे और डाकुओं की बाहुल्यता थी और ह्युयेन सांग को कम से कम दो बार लूट लिया गया था। इससे लक्षित होता है कि भोज के समय में लोग निर्भय होकर शान्तिमय जीवन व्यतीत करते थे और बेरोक-टोंक दूरस्थ स्थानों को दर्शनार्थ आदि के लिए जाते थे। अतः भोज के सुशासन से देश समृद्धशाली हो गया।

सैनिक संगठन—कन्नौज की सेना विशाल थी जिसमें नावें, हाथी, घोड़े, रथ और पदाति सम्मिलित थे।[2] सेना में खास तौर से घुड़सवारों का अनुभाग उच्चतम कोटि का था तथा उसी की निपुणता और शक्ति भोज के रण-अभियानों की सफलता का मुख्य कारण थी। स्कन्द पुराण में आता है कि जिस सेना को सौराष्ट्र भेजा गया था उसमें पैदलों आदि के अतिरिक्त १० हजार घुड़सवार (अश्वानां दशसाहस्र) थे।[3] भोज स्वयं निपुण घुड़सवार था क्योंकि सौराष्ट्र के युद्ध में वह हाथी पर सवार न होकर घोड़े पर सवार था—अश्वाधिरुढो बलावान् भोजराजो।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि भोज की सैनिक-शक्ति में अश्व-सेना की विशिष्टता थी जैसा कि अरब यात्री सुलेमान ने भी कहा है।

ऐसा भी जान पड़ता है कि भोज की सेना की एक शाखा स्त्रियों को भी

---

१. Elliot and Dowson, vol. I p. 4.

२. बराह ताम्रपत्र लेख।

३. स्कन्द पुराण, ७/२/६/२६।

४. वहीं, ७/९/६/२९ (२)।

थी क्योंकि उसकी ग्वालियर प्रशस्ति में आया है कि उसने असुरों का दमन सैनिक स्त्रियों की मदद से किया, यथा—

> कुमारैव विद्यानां वृन्देनादभुत कर्मणा ।
> यः शशासासुरान् घोरान स्त्रैणेनास्त्रैक वृत्तिना ॥[१]

अर्थात् कुमार कीर्तिकेय की भाँति मातृकाओं की सहायता से उसने अद्भुत कार्य किए । उसने अस्त्रधारिणी स्त्रियों की सहायता से घोर असुरों का दमन किया । [Women who lived upon arms, that is whose profession was soldiery.]

भोज की सैनिक शक्ति तथा अपनी कार्य दक्षता के द्वारा ही भोज ने अपने युग को कलियुग के दोषों को मिटाकर पुण्ययुग में बदल दिया ।

भोज की उपाधियों का विश्लेषण:—सम्राट की विभिन्न उपाधियों की व्याख्या निम्न प्रकार है :—

(१) **भोज**—स्मिथ महोदय का यह कथन सही है कि सम्राट का नाम मिहिर था (मिहराभिधानं) तथा भोज उसकी उपाधि थी ।[२] उसकी ग्वालियर (सागरताल) प्रशस्ति[3] में कहा गया है कि राजाओं से भोग (अर्थात् कर) को प्राप्त करने के कारण वह सम्राट (प्रभुः) "भोज" कहलाया ।

(२) **आदिवराह**—भगवान विष्णु का एक अवतार वराह के रूप में भी हुआ था जिसे आदिवराह कहा जाता है । ऐसा कहा गया है कि आदिवराह के रूप में भोज गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी को बचाने के लिए अवतरित हुआ था ।[४] आदिवराह की उपाधि का यही आधार है ।

(३) **प्रभास**—ग्वालियर (सागरताल) प्रशस्ति में भोज को अति तेजस्वी, प्रज्वलित अग्निशिखा के समान तेजस्वी तथा सूर्य की किरणों के समान प्रखर किरणवाला, कहा गया है ।[५] प्रभास का अर्थ है दीप्त, कान्ति, सौन्दर्य । अतः भोज की उपाधि प्रभास हुई । इसके अतिरिक्त स्कन्द पुराण[६] में भी इस उपाधि की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि सूर्य का जो तेज पृथ्वी पर पुण्य प्रभास

---

१. Ep. Ind., XVIII, pp. 99–114.
२. Dr. V. A. Smith, Early History of India p. 393.
३. Ep. Ind., XVIII, pp. 99–114.
४. राजशेखर, काव्यमीमांसा, अ० १२, पृ० ६६/१९-२० ।
५. Ep. Ind., XVIII, pp. 99–114.
६. स्कन्द पुराण, ७/२/१३/१–६, २१ ।

क्षेत्र में पड़ा वह प्रभास कहलाया। इसी प्रकार भोज भी सूर्य-तेज से भासित होने के कारण ही प्रभास कहलाया, यथा—

तस्मात् प्रभासनामेति''''प्रथितं।

(४) महाराजाधिराज''''यह सम्राटों की उपाधि होती थी।

(५) परमभट्टारक''''भट्टारक (भट्टार + कन्) के अर्थ हैं श्रद्धेय, पूज्य। यह वीरुद भोज के पिता नागभट्ट द्वितीय का भी था; सम्राट हर्षवर्धन का भी।

(६) परमेश्वर''''(परम + ईश्वर) ईश्वर के अनेकों अर्थों में एक है राजा, शासक। अतः परमेश्वर का अर्थ हुआ राजाओं का राजा, अर्थात, सम्राट। प्राचीन काल में सम्राटों की एक उपाधि परमेश्वर भी होती थी।

भोज का व्यक्तित्व तथा चारित्रिक विशेषताएँ :—स्कन्द पुराण में बताया गया है कि भोज की भुजाएँ लम्बी-लम्बी (दीर्घबाहुः) आखें बड़ी-बड़ी (विशालाक्षो) थीं। इससे यह दर्शित होता है कि भोज पराक्रमी तथा प्रज्ञावान था। वह विद्वान और प्रशस्तवचन तथा प्रियवक्ता था—विद्वान्-वाग्मी-प्रियंवदः[१]। वहाँ यह भी बताया गया है कि भोज का शरीर महापुरुषों के सभी लक्षणों से सुशोभित था[२]। भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में आया है कि भोज के अक्षपटल पर ब्रह्मा जी ने विश्व की सम्पूर्ण सम्पदाओं को लिख दिया था[3]।

भोज के चारित्रिक गुणों का उल्लेख करते हुए ग्वालियर प्रशस्ति में कहा गया है कि वह यशस्वी तथा शान्तात्मा था और लोक कल्याण में निपुण था अतः राजलक्ष्मी ने उसका वरण किया था। फिर भी उसमें मद (अहंकार) का दोष (राजव्यसन) न था। गुणी और विद्वान लोगों के प्रति प्रेमार्द्र था तथा उसकी वाणी सत्य-युक्त और प्रिय थी[४]।

भोज को घोड़ों का शौक था और वह अच्छा अश्वाही भी था। ऐसा जान पड़ता है कि घोड़ों की खरीद के लिए वह कभी-कभी स्वयं भी घोड़ों के प्रसिद्ध मेलों में जाता था क्योंकि पिहोआ (जिला करनाल, पंजाब) मेले में आने वाले घोड़ों के सौदागर उसके नाम का श्रद्धापूर्वक अथवा प्रशंसात्मक ढंग से जिक्र करते थे[५]। रण-अभियानों में वह स्वयं घोड़े पर ही सवार होकर (न कि हाथी

---

१. स्कन्द पुराण, ७/२/६/२१.

२. वही.

३. श्लोक २३.

४. श्लोक १७.

५. Pehoa (Karnal district) stone inscription, Ep. Ind., I, pp. 242-50।

पर जैसी की आम प्रथा थी) सेना का नेतृत्व करता था[1]।

भोज धार्मिक व्यक्ति था। देवी भगवती उसकी इष्ट देवी थी जैसा कि बराह ताम्रपत्र लेख[2] में आया है, यथा—

परम भगवती भक्तो महाराज श्री भोज देवः।

वह विष्णु का भी पुजारी था और अपनी रानियों के यश और पुण्य की वृद्धि के लिए उसने अन्तःपुर ही में विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया था[3]।

भोज का मूल्यांकन—गुर्जर-प्रतिहार वंश का सबसे यशस्वी राजा मिहिर भोज ही था। अपने पिता महाराज रामभद्र द्वारा खोए प्रान्त भोज ने वापस ले लिए और इस प्रकार बुन्देलखन्ड और गुर्जरत्रा फिर से प्रतिहार प्रति बन गए। यद्यपि पालों और राष्ट्रकूटों द्वारा उसकी सेना को दो बार आघात पहुँचे तथापि मृत्यु के समय तक उसने एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था जो लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत में विस्तृत था। पश्चिमोत्तर में उसने अरबों को सिन्ध से आगे बढ़ने से रोका तथा अन्य आक्रमणकारियों को भी रोका। उसके समय में गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य का विस्तार गुप्तों और हर्ष के साम्राज्य से भी बड़ा था।

मिहिर भोज की प्रशंसा स्कन्द पुराण, शिला तथा ताम्रपत्र लेखों और अरबी यात्री सुलेमान के विवरणों में की गई है जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है। प्राचीन भारतीय इतिहास में वह एक महान शासक था जिस राज्य काल में कान्यकुब्ज देश की उज्ज्वल कीर्ति प्रफुल्लित हुई। अव्यवस्था रूपी अंधकार को मिटाने वाला सूर्य (मिहिर) था और डूबती पृथ्वी के बचाने वाले के रूप में वह विष्णु (आदिवराह) सदृश था। सांस्कृतिक दृष्टि से भी कान्यकुब्ज देश की उन्नति हुई क्योंकि पहले वह जैनियों के प्राबल्य के कारण वेद विमुख हो गया था, अब वैदिक-धर्म, संस्कृति और विद्या का केन्द्र बन गया था। राजतरंगिणी में भोज को अधिराज कहा गया है जो संज्ञा प्रतिष्ठासूचक है क्योंकि अधिराज वही कहलाता है जो सब राजाओं से अधिक तेजस्वी हो। यह शब्द सार्वभौम शक्ति का भी बोध करता है। ग्वालियर प्रशस्ति में भी कहा गया है भोज ने बड़े-बड़े शत्रुओं को अपनी क्रोधाग्नि में जला दिया[4]।

भोज प्रजापति भी था क्योंकि जो प्रजा के कल्याण की कल्पना करता है वही प्रजापति होता है और भोज में यह गुण भी विद्यमान था। इसी कारण

---

१. स्कन्द पुराण ७/२/६/२६।

२. Ep. Ind. XIX, pp. 15-19।

३. ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक २५।

४. श्लोक २१ (यस्य वैरि वृहद्वंशान् दहतः कोप-वन्हिना)।

उसे जनेश्वर भी कहा गया है। रक्षा करने से प्रसन्न हुए तपस्वियों, स्नेह से वशीभूत हुए गुरुओं, नीति निपुणता से वशीभूत हुए शत्रुओं और प्रजा को अपनी जीविका-पूर्ति कराने का वह आधार था और इसीलिए दीर्घायु भी[1]।

अन्त में भोज की ग्वालियर (सागरताल) प्रशस्ति में कविवर बालदित्य द्वारा लिखित अन्तिम पद भोज के मूल्यांकन का सारांश देता है। उसमें कहा गया है कि जब तक आकाश, गंगा, तप-प्रभाव और सत्य रहता है तब तक संसार को भोज की आर्यकीर्ति पवित्र करती रहेगी, यथा—

पुनातु जगतीमियमार्य कीर्तिः[2]।

४. महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-९१० ई०)

चन्द्र भट्टारिका देवी से उत्पन्न महेन्द्रपाल प्रथम मिहिर-भोज (भोज प्रथम) के पुत्र थे। सन् ८८५ में पिता की मृत्यु पर वह राज्य के अधिकारी हुए। उनके अन्य नाम थे महीन्द्रपाल, महेन्द्रायुध, महिषपाल, निर्भयराज, निर्भयनरेन्द्र। अन्त के दोनों नाम राजशेखर के नाटकों में आते हैं। उनकी उपाधियाँ थीं महाराजा, महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर, भाक।

स्कन्ध पुराण में आया है कि महेन्द्रपाल का पिता मिहिर-भोज अपने कई पुत्रों में से किसी एक को राज्य सौंप कर विरक्त होना चाहता था किन्तु ग्रन्थ में उस पुत्र का नाम नहीं बताया गया है। यह निश्चितप्राय जान पड़ता है कि महेन्द्रपाल ही वह पुत्र रहा होगा क्योंकि उसी की शिक्षा के लिए पिता ने विद्वान राजशेखर को उसका गुरु नियुक्त किया था। इसके अतिरिक्त उसमें सभी राजगुण विद्यमान थे और यह भी कि उस समय वह युवराज भी रहा होगा अथवा युवराज पद के योग्य क्योंकि बालभारत में उसे 'योवराज्याभिषेकार्हो वीरो' कहा कहा गया है[3]।

महेन्द्रपाल की दो रानियाँ और दो पुत्र थे, यथा—

रानी देहनागा देवी=महेन्द्रपाल प्रथम=रानी महीदेवी (महादेवी)

(देहनागा देवी से)	(महीदेवी से)
भोज द्वितीय	महिपाल (या विनायक पाल द्वितीय, क्षितिपाल या हेरम्बपाल)
	देवपाल

---

१. ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक १८।

२. श्लोक २६।

३. राजशेखरकृत बालभारत पृ० १०, १/४१।

राज्य-विस्तार—महेन्द्रपाल प्रथम या उसके सामन्तों द्वारा उत्कीर्ण कराए गए लगभग १२ लेख प्रकाश में आए हैं जिनसे उसके राज्यविस्तार की भी जानकारी मिलती है। अधिकांश उन्हीं के आधार पर उसके राज्य में कन्नौज क्षेत्र के अतिरिक्त निम्न भू-भाग सम्मिलित थे—

पश्चिम में·········ऊना (जूनागढ़ क्षेत्र, काठियावाड़) से प्राप्त दो ताम्र-पत्र लेखों[१] से प्रमाणित होता है कि सौराष्ट्र उसके साम्राज्य का भाग बना रहा। इन दोनों में तरुणादित्य के मन्दिर को दो गाँवों के दान दिए जाने का उल्लेख है। यह दान महेन्द्रपाल के दो चालुक्यवंशीय सामंतों द्वारा दिए गये थे—प्रथम को सामन्त बलवर्मन ने और दूसरे को उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी अवनिवर्मन द्वितीय ने दिया। बलवर्मन के सम्बन्ध में प्रथम लेख में यह भी कहा गया है उसने पृथी को हूणों से मुक्त किया जिससे जान पड़ता है कि साम्राज्य के दक्षिण-पश्चिमी भाग में शत्रुओं के उपद्रव हुए थे जिन्हें बलवर्मन ने दबाया। लेखों में दोनों व्यक्तियों को 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर महेन्द्रायुधदेव' के अधीन बताया गया है कि जिन्होंने पाँच 'महाशब्द' महाराज से पाए थे। पहला लेख सन् ८९३ का और दूसरा ८९९ का है।

पूर्व में·········इस दिशा में महेन्द्रपाल ने पाल शासक (नारायणपाल) को बिहार और उत्तरी बंगाल के अधिकार से वंचित किया। क्योंकि मिहिर भोज का अधिकार इस क्षेत्र पर नहीं था इसलिए महेन्द्रपाल ही ने यह क्षेत्र विजय किया होगा ऐसा माना गया है। बिहार प्रदेश से प्राप्त लगभग छः अभिलेखों से उसका उक्त क्षेत्र पर अधिकार करना सिद्ध होता है। उन अभिलेखों में से दो का संदर्भ देना पर्याप्त होगा :—प्रथम, रामगया (गया) का शिलालेख[२] जो महेन्द्रपाल के राज्यवर्ष के ८ वें वर्ष का है और जो विष्णु की मूर्तियों की पाद-शिला पर उत्कीर्ण है। दूसरा पहाड़पुर (जिला राजशाही, बंगलादेश) शिलालेख[3] जो उसके ५वें राज्यवर्ष का है। यह लेख एक शिलास्तंभ पर उत्कीर्ण है जो स्तंभ गौतम बुद्ध की प्रतिमा को समर्पित किया गया था।

---

१. UNA Copper plate inscription no. I (*Ep*. Ind., IX, pp. 1-6) and *Ibid* no. II (*Ibid* pp. 6-10).

२. Memories of Asiatic Society of Bengal, V, *pt*. III, pp. 64-65.

३. Annual Report of Archeological Survey of India, 1925-26, p. 141.

उत्तरापथ........उत्तर में उसका साम्राज्य हिमालय की तलहटी तक विस्तृत था जो दिघबा-दुबौली (जिला सारन, बिहार) ताम्रपट्ट लेख* से प्रमाणित होता है। वह लेख महेन्द्रपाल ने सन् ८९८ में कन्नौज से जारी किया था और उसमें उस ग्राम का उल्लेख है जो नेपाल की तराई में स्थित श्रावस्ती मण्डल में सम्मिलित था और जो भट्ट पद्मसर को दान में दिया गया था।

उत्तर-पश्चिम में पूर्वी पंजाब के कर्नाल क्षेत्र तक भी उसके अधिकार में था जैसा कि महाराज मिहिर भोज के समय था। इसका बोध पिहोला (कर्नाल) शिलालेख[१] (प्रशस्ति) से होता है।

साथ ही यह भी कहना है कि राजतरंगिणी में कल्हण के कथन के अनुसार काश्मीर के राजा शंकरवर्मन ने गुर्जर-प्रतिहार गवर्नर अलखान पर आक्रमण किया और उससे पंजाब का टक्क इलाका वापस ले लिया जो पहले मिहिर भोज ने अधिकृत कर लिया था। शंकरवर्मन ने यह सफलता कदाचित् इस कारण प्राप्त की कि उस समय महेन्द्रपाल पूरब में पालों से संघर्ष करने में व्यस्त था। कालान्तर में महिपाल ने उक्त क्षेत्र को जीत कर फिर से कन्नौज साम्राज्य में मिला लिया जैसा कि आगे महिपाल के प्रकरण में भी कहा गया है।

उपर-लिखित विवरण से यह स्पष्ट है कि महेन्द्रपाल का राज्य उत्तर-पश्चिम में पूर्वी पंजाब से लेकर पूर्व में बिहार और उत्तरी बंगाल तक, उत्तर में नेपाल की सीमा तक और पश्चिम में सौराष्ट्र तक फैला हुआ था। दूसरे शब्दों में प्रायः सम्पूर्ण आर्यावर्त उसके अधीन था और इस प्रकार उसने अपनी विरासत को केवल कायम ही न रखा अपितु उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। राजशेखर द्वारा महेन्द्रपाल को आर्यावर्त का महाराजाधिराज (सम्राट) कहना[२] सत्य ही है।

महाराज का गुरु तथा राजकवि राज

शेखर—महिपाल के वृतान्त में कविवर राजशेखर का विशिष्ट स्थान है। वह राजसभा का सर्वाधिक देदीप्यमान रत्न, कवि, नाटककार एवं काव्य शास्त्री था। वह महाराष्ट्रीय उपाध्याय ब्राह्मण था किन्तु उसने चौहान वंशीय क्षत्रिया अवन्ति सुन्दरी से व्याह किया था जो स्वयं भी विदुषी और काव्य-कला-प्रवीणा

---

* Ind. Ant., XV, pp. 105-13,

१. Ep. Ind., I, pp. 245-248. There is no mention of the date of the inscription.

२. बालभारत, पृ० २।

थी ।[1] 'कविराज' उसका बीरुद था जो उसके विलक्षण व्यक्तित्व और असाधारण पांडित्य का सूचक था । उसके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्न हैं—

(१) कर्पूर मंजरी''''प्राकृत-भाषा में लिखित इस नाटक की रचना राजशेखर ने पत्नी अवन्तिसुन्दरी के आग्रह पर की थी । यह अत्यन्त लोकप्रिय नाटिका है क्योंकि उसमें लोकभाषा का प्रयोग है । सुन्दर गीतों और नृत्यों की योजना उसमें समाहित है तथा अभिनेयता की दृष्टि से वह उच्च है ।

(२) बाल रामायण''''यह भी नाटक है जिसमें महाराज श्रीराम जी के स्वयंवर से लेकर रावणवध के बाद सीता माता की अग्नि-परीक्षा का वृतान्त है ।

(३) बालभारत या प्रचंड पांडव''''नाटक, जो महाभारत की कथा पर आधारित है जिसमें मूल्यतः यह दर्शाया गया है कि पांच पांडव भाई परस्पर प्रेम, सौहार्द्र और सहयोग के कारण सौ कौरव भाइयों, जिनमें प्रेम की कमी थी, से प्रचंड सशक्त थे । यह भी कि वैर (यथा कौरव-पांड वैर) कुल को नाश कर देता है । इस नाटक का अभिनय महाराज के सन्मुख भी किया गया था ।

(४) विद्धशाल-मंजिका''''नाटक जिसमें लाट देश के राजा चन्द्रवर्मा की पुत्री मृगांकावली, राजकुमार विद्याधरमल्ल आदि से सम्बन्धित बातों का अभिनय है । उसके एक पात्र भैरवानन्द द्वारा राजशेखर ने तत्कालीन समाज में प्रचलित तंत्रवाद तथा वाममार्ग-पंथ (काले-धर्म) का सजीव चित्रण किया है । युवराज (भोज-२) की प्रार्थना पर महाराज ने इसका भी अभिनय कराया था । कदाचित युवराज पद पर अभिषिक्त होने के अवसर पर इसका मंचन हुआ होगा ।

(५) काव्य मीमांसा''''यह काव्य-शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ कवि की उत्तम रचना है जिससे उसके पांडित्य पर प्रकाश पड़ता है । मध्ययुगीन भाषा-ज्ञान की दृष्टि से काव्य मीमांसा विश्वकोश के समान है ।

(६) भुवनकोष } ....यह दोनों ग्रन्थ भी राजशेखरकृत हैं किन्तु इनमें से
(७) हर-विलास } अब कोई भी उपलब्ध नहीं है ।

महाराज मिहिर भोज ने युवराज महेन्द्र की शिक्षा-दीक्षा के लिए राजशेखर की नियुक्ति की थी अतः वह उसके गुरु थे । कालान्तर में महेन्द्रपाल के गद्दीनशीन हो जाने पर वह उसके दरबारी कवि और मार्गदर्शी भी हो गए । महेन्द्रपाल के बाद वे महिपाल के दरबार में भी रहे किन्तु वृद्धावस्था के कारण राजकाज में उनका योगदान न हुआ होगा । फिर भी वह महिपाल के संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठित रहे ।

राजशेखर ने महिपाल के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी नहीं दी है और इस

---

१. बाल रामायण की प्रस्तावना में कवि का परिचय मिलता है ।

दृष्टि से बाणभट्ट से भिन्न थे कि जिन्होंने सम्राट हर्षवर्धन के बारे में प्रचुर सामग्री प्रदान की है। फिर भी उन्होंने महेन्द्रपाल के समय के कन्नौज नगर तथा राज्य की सामाजिक अवस्था आदि पर कुछ प्रकाश डाला है जिसकी चर्चा आगे के एक अनुशीर्षक (प्रतिहार-कालीन सामाजिक अवस्था, कला आदि) में की जाएगी। यहाँ कान्यकुब्ज नगर सम्बन्धी कुछ विशेष बातों का जिक्र कर देना पर्याप्त होगा। राजशेखर के कथनानुसार वहाँ सुशिक्षित नागरिक रहते थे जिनमें कवि भी होते थे। नगर अत्यन्त पुनीत नगर माना जाता था तथा वहाँ के निवासी देखने-सुनने में भव्य होते थे। दिशाएँ भी वहीं से नापी जाती थीं। महोदय की रमणियों की वेशभूषा मुग्धकारी होती थी। उनका वेष-विन्यास, बोल-चाल, व्यवहारिक शैली आदि इतनी उत्कृष्ट थी कि सभी देशों की सभ्य महिलाएँ उनका अनुसरण करती थीं।

महाराज के चारित्रिक गुण—अपने पिता मिहिरभोज की भाँति महेन्द्रपाल भी एक शिष्ट तथा सुशिक्षित सम्राट था। उसके गुरु राजशेखर ने लिखा है कि कुल शुद्ध बुद्धि से उन्नत होता है तथा शुद्ध बुद्धि का विकास पवित्र संस्कारों से होता है, यथा—

संसकार शौचेन परपुनीते शुद्धा हि बुद्धिः कुल कामधेनुः।[१]

[शुद्ध संस्कारों द्वारा अत्यन्त पवित्र की हुई बुद्धि कामधेनु के समान अभिलषित मनोरथों को पूर्ण करने वाली होती है] इसी आधार पर उसकी शिक्षा हुई थी और उसमें उच्च गुणों का समावेश किया गया था जैसा कि बाल भारत के निम्न श्लोक में बताया गया है—

आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्य वारांनिधिस-
त्यागी सत्यसुधा प्रवाह शशभूत कांतः कवीना मतः॥
वर्ण्यं वा गुणरत्न-रोहणगिरेः किं साक्षादसौः।
देवो यस्य महेन्द्रपाल नृपतिः शिष्यो रघूरामणीः[२]॥

भावार्थ, आपत्तियों को नष्ट करने वाले, अत्यन्त पराक्रमी, सज्जन स्वभाव वाले, त्यागी, सत्यवक्ता, शान्तचित्त, मनोहर, कवियों द्वारा प्रशंसित तथा गुण-रूपी रत्नों से परिपूर्ण, प्रशंसा योग्य नृपति महेन्द्रपाल देव शिष्य की तरह रघुवंश की परम्पराओं के अनुयायी थे।

राजा के गुणों पर ही राजत्व आधारित रहता है (राजते नृपतिर् गुणैः)[3]।

---

१. बालभारत, पृ० ४, १/९।
२. वही, पृ० ३, १/११।
३. वही, पृ० ११, १/४३।

महाराज में राजत्व के सभी गुण विद्यमान थे ऐसा राजशेखर ने उक्त श्लोक में माना है। उसे मध्यदेश का सम्राट (मध्य देश नरेन्द्र एष)[1] कहा गया है।

लगभग २५ साल सफलतापूर्वक राज्यभार सम्हालने के बाद सन् ९१० के लगभग सद्गुण-सम्पन्न महेन्द्रपाल का अवसान हुआ। विशाल कन्नौज राज्य का एक ज्योतिर्मय तारा अतीत में विलीन हो गया।

५. भोज द्वितीय (९१०-९१२)

महेन्द्रपाल-१ के दो पुत्र थे—प्रथम था भोज-२ जिसकी माता थी रानी देहनागा देवी और दूसरा था विनायकपाल-१ (महिपाल) जो दूसरी रानी महीदेवी (या महादेवी) देवी से उत्पन्न था। ऐसा जान पड़ता है कि महेन्द्रपाल-१ की मृत्यु पर सिंहासन के लिए दोनों भाइयों में किसी प्रकार का संघर्ष हुआ जिसमें चेदि शासक कोकल्लदेव-१ की सहायता से भोज-२ गद्दीनशीन हुआ। कदाचित् चेदिवंश से प्रतिहार वंश के कुछ वैवाहिक सम्बन्ध थे जिनके आधार पर भोज ने कोकल्ल से सहायता की याचना की।

इस सम्बन्ध में यह भी कहना है कि दो लेखों में भिन्नता के कारण इस बात पर कुछ सन्देह होता है कि महेन्द्रपाल-१ का वास्तविक उत्तराधिकारी भोज-२ था या महिपाल (विनायक पाल-१)। सन् ९३१ में उत्कीर्ण विनायक-पाल-१ ताम्रपट्ट लेख[2] में कहा गया है महेन्द्रपाल-१ का पुत्र भोज-२ जो रानी देहनाग-देवी से उत्पन्न था, उसका उत्तराधिकारी हुआ। इसके विपरीत सन् ९१७ वाले असनी (जिला फतेहपुर, उत्तर प्रदेश) शिलालेख[3] में भोज-२ का नाम नहीं है तथा उसमें बताया गया है कि रानी महीदेवी[4] से उत्पन्न महिपाल महेन्द्रपाल-१ के बाद राजा हुआ। इन दोनों लेखों में सन् ९३१ वाले ताम्रपट्ट का कथन सही माना गया है। असनी के सन् ९१७ के शिलालेख में महिपाल ने भोज-२ का नाम या तो इसलिए छोड़ दिया कि उसका राज्यकाल केवल दो साल का था अथवा इसलिए कि उत्तराधिकार के लिए संघर्ष हुआ था और महिपाल ने शिलालेख में अपने प्रतिद्वन्दी का नाम न देने ही में बुद्धिमत्ता समझी।

---

१. बाल रामायण, अंक ३, पृ० ७५।

२. Bengal Asiatic Society's copper plate of Mahipal (Vinayakpal-I) Vikram era 988 (=931 A. D.)—*Ind. Ant.* XV, pp. 138-41.

३. Ind. Ant. XVI, pp. 173-75.

४. अन्यत्र महादेवी नाम भी आया है।

बहुत साल बाद सन् ९३१ में जब भोज-२ की स्मृति लोपप्राय हो चुकी थी तब ताम्रपट्ट में महिपाल के उत्तराधिकारी के रूप में भोज-२ का नाम देने में उसने कोई हर्ज न समझी[1]। इसके अतिरिक्त भोज के समर्थन में कुछ अन्य प्रमाण भी हैं। अतः भोज का पहले आना और उसके दो साल बाद महिपाल का, सन्देह के परे मानना चाहिए।

भोज-२ के अत्यन्त लघु शासनकाल के बारे में जानकारी नहीं है और न उसकी उपाधियों का उल्लेख मिलता है। राज्य छिन जाने के बाद वह जीवित रहा था नहीं वह भी अज्ञात है।

६. महिपाल (विनायक पाल–१)
(९१२–९४४)

महिपाल[2] के कई नाम हैं, यथा—विनायकपाल जिसे अब विनायकपाल-१ कहा जाता है क्योंकि बाद में भी एक विनायकपाल हुआ जो विनायकपाल-२ के नाम से जाना जाता है; क्षितिपाल; हेरम्बपाल। इसकी उपाधियाँ थीं—महाराजा; महाराजाधिराज; परमभट्टारक; परमेश्वर; राजाधिराज।

महिपाल ने किस युक्त से अपने सौतेले भाई भोज-२ को हटाकर राज्य प्राप्त किया यह स्पष्ट नहीं है। डॉ० त्रिपाठी का कहना है कि इस प्राप्ति में चन्देल शासक हर्षदेव ने उसकी सहायता की। यह तो प्रमाणित है कि एक बार चन्देल-नृप ने उसकी मदद की किन्तु यह बात तब की है जबकि बाद में राष्ट्रकूट शासक इन्द्र-३ ने उसे पराजित करके राज्यच्युत कर दिया था जैसा कि आगे दर्शाया गया है। हटने के बाद भोज के बारे में सूचना नहीं मिलती है।

राष्ट्रकूट राजा गोविन्द-४ (इन्द्र-३ का उत्तराधिकारी) के सन् ९३० में उत्कीर्ण कम्बे (खम्भात) ताम्रपत्र[3] से ज्ञात होता है इन्द्र-३ ने कन्नौज पर आक्रमण कर उसे पूर्णतः ध्वस्त कर दिया, यथा—

ये नेदं हि महोदयारि नगरं निर्मूलमुन्मूलितम्।
नाम्नाद्यापि जनैः कुशस्थलमिति ख्यातिं परां नीयते॥[4]

अर्थात्, उसने (इन्द्र-३) संघर्षकारी महोदय नगर पूर्णतः ध्वस्त कर दिया जो अब भी कुशस्थल नाम से लोगों में अति प्रसिद्ध है।

---

१. Dr. Tripathi, *History of Kanauj*, p. 255.
२. राजशेखर के ग्रन्थों में महिपाल नाम ही बराबर आया है।
३. Ep. Ind VII, pp. 26-47.
४. *Ibid*, pp. 38, 43, verse 19.

इस आक्रमण में इन्द्र-३ के साथ उसका सामन्त नरसिंह चालुक्य भी था जिसने कि गुर्जरराज के हाथों से विजय-देवी को छीन लिया और उसका पीछा किया जिस कारण महिपाल को चैन न मिली। उसका पीछा करते हुए नरसिंह ने अपने घोड़ों को गंगा के संगम[1] में स्नान करवाया।[2] यह घटना सन् ९१६-१७ के लगभग की है।

आक्रमणकर्ता ने कन्नौज पर अपना अधिकार स्थापित नहीं किया वरन् अपने राज्य को लौट गया। थोड़े ही समय बाद इन्द्र-३ की मृत्यु हो गई। अतः भागे हुए महिपाल ने कुछ संघर्ष के बाद अपनी राजधानी फिर प्राप्त कर ली। इस कार्य में चन्देल राजा हर्षदेव ने उसकी सहायता की जैसा कि हर्षदेव के (आदिनांकत) खजुराहों के शिलालेख (नं० २) से विदित होता है जिसमें निम्न पद आया है :—

पुनर्येन श्री-क्षितिपाल देवनृपतिः सिंहासने ।
स्थात्सादितारा-तिष्कति कीर्ति-विभूषणाः ॥[3]

अर्थात्, उसने (हर्षदेव) क्षितिपालदेव राजा को फिर सिंहासन पर स्थापित करके अपने वंश की शक्ति तथा सम्मान को बढ़ाया।

लेख में तिथि अंकित न होने के कारण प्रश्न उठता है कि यह घटना कब की है। इसका उत्तर 'पुनः' शब्द के अर्थ पर निर्धारित होना चाहिए। अधिकतर विद्वानों ने पुनः के माने 'फिर से' (again) लगाए हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्र-३ द्वारा राज्यच्युत होने के बाद चन्देल-नृप ने उसे 'फिर से' सिंहासन पर बैठाया। यही मत ठीक मालूम पड़ता है यद्यपि डॉ० त्रिपाठी ने यह तर्क किया है कि इस घटना का सम्बन्ध महिपाल द्वारा भोज-२ को हटाकर सिंहासनारूढ़ होने से है। इस तर्क के समर्थन में उन्होंने मोनियर विलियम्स महोदय के संस्कृत शब्दकोश का आश्रय लेकर कहा है कि यहाँ पर पुनः का अर्थ है 'आगे', 'अतिरिक्त' या 'अब' और यह शब्द केवल चन्देल-नृप की आगे की उपलब्धियों को दर्शाने के सिलसिले में प्रयुक्त हुआ है।[3] निवेदन है कि विद्वान इतिहासकार का यह निष्कर्ष दूरस्थ प्रतीत होता है, अतः अन्य विद्वानों का उपरलिखित मत ही मानने योग्य है।

---

१. प्रयाग से तात्पर्य है।

२. कनारी कवि पंपा कृत विक्रमार्जुन विजय अथवा पंपाभारत, अंग्रेजी में लेविस राइस द्वारा सम्पादित (बैंगलोर, १८९८), पृ० ३-४। तथा कर्नाटक शब्दानुशासन, पृ० २६।

३. Ep. Ind., I, p. 122, line 10.

४. History of Kanauj, pp. 256-57.

इन्द्र-३ के आक्रमण का कोई दूरगामी प्रभाव कन्नौज राज्य पर नहीं पड़ा। महिपाल ने शीघ्र ही राज्य को संगठित व सशक्त कर लिया और अनेकों विजयें करके साम्राज्य का विस्तार किया। बालभारत में राजशेखर ने महिपाल की विजयों का निम्न प्रकार वर्णन किया है।—

नमित मुरल मौलिः पाकलो मेकलानां।
रणकलित कलिंगः केलितट केरलेन्दोः॥
अजनिजित कुलूतः कुन्तलानां कुठारो।
हठहृत रमठ श्री श्री महीपाल देवः॥[1]

भावार्थ, यह कि तेजस्त्रवान श्री महिपाल देव ने (१) मुरल; (२) मेकल; (३) कलिंग; (४) केरल; (५) कुलूत; (६) कुन्तल और (७) रमठ देशों पर विजय पाई।

उक्त देशों का पहिचान निम्न प्रकार है :—

(१) मुरल····यह हैदराबाद प्रान्त का उत्तरी भाग था।[2]

(२) मेकल····यह चेदि राज्य (बघेलखंड) था जहाँ कलचुरि राजा शासन करते थे।

(३) कलिंग····उड़ीसा देश का भाग था।[3]

(४) केरल....दक्षिण में पश्चिमी घाटों से लेकर समुद्र तट तक। केरल आज भी दक्षिण का प्रसिद्ध देश है।

(५) कुलूत····पंजाब का कांगड़ा क्षेत्र।[4]

(६) कुन्तल····कर्पूरमंजरी में विदर्भ नगर (बरार) को कुन्तल में स्थित बताया गया है। उस समय वहाँ बल्हरा (बल्लभराज) या राष्ट्रकूट राजा राज्य करते थे।[5]

(७) रमठ····पंजाब का एक प्रान्त था।

पंजाब प्रदेश पर पहले मिहिरभोज का अधिकार था। बाद में महेन्द्रपाल-१ के काल में काश्मीर के राजा ने इसे जीत कर ठक्किय वंश के राजा को लौटा दिया था। इससे यह जान पड़ता है कि महिपाल ने पंजाब के इन प्रदेशों को फिर से जीता।

---

१. बालभारत, पृ० २, ११७।
२ डॉ० अवस्थी, प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, पृ० ७०।
३. वही, पृ० ८८।
४. वही, पृ० ९३।
५. वही, पृ० ६३-६४।

दक्षिण की विजयों के बारे में कहना यह है कि इन्द्र-३ का उत्तराधिकारी गोविन्द-४ शक्तिहीन और विलासी राजा था क्योंकि कृष्ण-३ के करहद ताम्रपत्रों (सन् ९५९)[१] में कहा गया है कि शासकीय बातों के देखने के बजाय वह सुन्दरियों में लिप्त रहता था। इसके अतिरिक्त अपने एक सामन्त द्वारा पराजित हो जाने की बात भी कनारी कवि पम्पा ने अपने विक्रमार्जुन विजय में कही है।[२] इस प्रकार राष्ट्रकूट दुर्बल हो गया था अतः महिपाल को दक्षिणापथ की विजयें भी प्राप्त हुईं।

राजशेखर महिपाल का भी गुरु था और राजकवि भी किन्तु अब वह बहुत वृद्ध हो चुका था। महिपाल में राजगुण विद्यमान थे और कान्यकुब्ज के दरबार में होने के कारण राजशेखर को समकालीन बातें ज्ञात होती रहती थीं। अतः उसके द्वारा महिपाल के प्रशंसात्मक कथन विश्वास योग्य मानने चाहिए। उसने महिपाल को रघुवंश का रत्न बताया है और आर्यावर्त के महाराजाधिराज की संज्ञा भी दी है। अतः उसके द्वारा वर्णित महिपाल की उपर-लिखित विजयों पर शंका करना उचित नहीं जान पड़ता है। हाँ उसके वर्णन में कुछ हद तक अतिशयोक्ति होने की सम्भावना हो सकती है किन्तु कविता में प्रायः ऐसा ही होता है।

महिपाल के उत्तरार्ध काल में राष्ट्रकूट शासक कृष्ण-३ ने उसके राज्य पर कुछ धावे किए और कदाचित कालिंजर और चित्रकूट पर अधिकार कर लिया किन्तु इससे अतिरिक्त राज्य की कोई अन्य हानि नहीं हुई।

अरबी यात्री द्वारा महिपाल की प्रशंसा—सन् ९१५-१६ में (महिपाल के प्रारम्भिक काल में) अरब यात्री अल-मसूदी भारत आया। सन् ९४३-४४ में उसने भारत-भ्रमण का विवरण लिखा जिसमें महिपाल की शक्ति और प्रतिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसकी पुस्तक का नाम मुरुज-उल-ज़हाब है जिसमें महिपाल सम्बन्धित वर्णन में से कुछ बातें निम्न प्रकार हैं :—

(१) भारत के राजाओं में एक कन्नौज नगर का स्वामी है जिसकी राष्ट्रकूटों से शत्रुता रहती है।

(२) उसका राज्य सिन्ध की ओर लगभग १२० वर्ग परसंग तक फैला हुआ है। (१ परसंग = ८ मील; इस प्रकार उल्लिखित क्षेत्रफल लगभग ९६० वर्ग मील का होता है।)

(३) कन्नौज के राजा की सेना आक्रमण और बचाव, दोनों कामों, के लिए

---

१. Ep. Ind., IV, pp. 283, 288, verse 20.

२. Ep. Ind., XIII, pp. 328-29.

संगठित है। सेना के खेमे उत्तर, दक्षिण, पूरब और पश्चिम की ओर स्थित हैं क्योंकि चारों ओर से उसका राज्य रणप्रिय राजाओं से घिरा हुआ है।

(४ राजा के पास चार दिशाओं के अनुरूप चार अलग-अलग सेनाएँ हैं और प्रत्येक में ७,००,००० या ९,००,००० सैनिक हैं।

(५) उत्तर की सेना मुल्तान के राजा से सामना करने के लिए है और सरहद के मुसलमानों से भी जो उसकी रिआया हैं। दक्षिण की फौज राष्ट्रकूटों से मुकाबला करने के लिए हैं। अन्य दोनों सेनाएँ किसी भी दिशा में शत्रुओं का सामना करने के लिए हैं।

उक्त विवरण से यह ज्ञात होगा कि एक विदेशी की दृष्टि में कन्नौज उत्तर भारत का प्रमुख राज्य था, यह कि पश्चिम में उसकी सीमा सिन्ध तक थी और यह कि यहाँ का शासक अपने सैन्यबल से अन्य राजाओं को आतंकित और अपने अधीन रखता था।

निष्कर्ष—उपर-लिखित तथ्यों से यह विदित होगा कि यद्यपि महिपाल की पराभव-सूचक कुछ बातें अवश्य हुईं तथापि पूर्ण स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसने पिता से प्राप्त विस्तृत साम्राज्य को केवल कायम ही नहीं रखा बल्कि उसे बढ़ाया भी और राज्य को सशक्त और प्रभावशाली बनाए रखा। इस प्रकार अपने पूर्वजों की नीति का अनुसरण करते हुए उसने राज्य के गौरव को स्थिर रखा। सूक्ष्म में, उत्तर भारत में उसका विस्तृत राज्य कायम रहा यद्यपि बिहार का कुछ भाग पालों के अधिकार में चला गया जैसा कि नारायणपाल के भागलपुर ताम्रपत्र लेख[१] से प्रतीत होता है जो उसके १७वें राज्यवर्ष में उत्कीर्ण हुआ था। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि राजशेखर ने बालभारत में बिहार-बंगाल के किसी स्थान का जिक्र नहीं किया है।

महिपाल की सार्वजनिक-निर्माण की ओर भी अभिरुचि थी क्योंकि उसके राखेत्र (ग्वालियर) शिलालेख[२] में बताया गया है कि सन् ९४२-४३ में उसने ग्वालियर के अन्तर्गत चंदेरी क्षेत्र में जल-व्यवस्था कार्य का निर्माण कराया था जिसमें अपार धन व्यय हुआ। यह शिलालेख चंदेरी के निकट राखेत्र गाँव में सन् १९२४ के लगभग पाया गया था। दूरस्थ ग्वालियर क्षेत्र में इतना बड़ा सार्वजनिक-निर्माण कार्य का सम्पन्न होना यह संकेत करता है कि महिपाल ने अन्यत्र भी, तथा कन्नौज नगर के आस-पास खासतौर पर, अन्य सार्वजनिक योजनाएँ निर्माण कराई होंगी।

---

१. Ind., Ant., XV, pp. 304-10.

२. Annual Report of the Archeological Survey of India, 1924-25, p. 168.

(७-८)....महेन्द्रपाल-२ और देवपाल
(९४४–९५३)

(७) महेन्द्रपाल-२ (९४४-९४७)—इसके बारे में केवल उतनी ही जानकारी है कि जितनी परताबगढ़ (दक्षिण राजपूताना का एक नगर) के शिलालेख[१] में वर्णित है। इस लेख की तिथि वि० सम्वत् १००३ (= ९४६ ई०) है और यह महोदय (कन्नौज) से जारी हुआ था। इसकी प्राप्ति लगभग सन् १९३० के हुई। यह लेख लम्बा है जिसका सारांश निम्न है :—

> महेन्द्रपाल-२ को उसमें विनायकपाल (प्रथम, अथवा महिपाल) का पुत्र बताया गया है जो देवथाद्धि परिवार की प्रसाधनादेवी नामक रानी के गर्भ से उत्पन्न था। किसी धनसूर नामक व्यक्ति की प्रार्थना पर महेन्द्रपाल-२ ने देवी वट-यक्षिनी की सेवा में मन्दसोर-स्थित एक गाँव अर्पित किया था। देवी का मंदिर हरि ऋशीश्वर के मठ से सम्बद्ध था जो तलवरगिक हरिसद की अमलदारी में था। लेख में यह भी कहा गया है कि उज्जैन में दामोदार का माधव नामक पुत्र कन्नौज के सामंत तथा गवर्नर की हैसियत से कार्य कर रहा था जिसे तंत्रपाल, महासामन्त और महादंडनायक की संज्ञायें दी गई हैं। उसका प्रधान सेनापति (बलाधिकृत) श्री-शरमन मांडू से प्रशासनिक प्रबन्ध कर रहा था। लेख में यह भी आया है कि मीन संक्रान्ति के दिन स्नान तथा महाकाल के मन्दिर में पूजा करने के बाद धारापद्रक गाँव को तरनादित्यदेव की मूर्ति की पूजा के लिए तथा मंदिर की मरम्मत के लिए अर्पित किया। महासामन्त इन्द्रराज (चाहमान सामन्त) की प्रार्थना पर इस दान का दिया जाना बताया जाता है।

इस लेख से यह सिद्ध होता है कि कम से कम महेन्द्रपाल द्वितीय के समय तक कन्नौज राज्य दूरस्त उज्जैन तक पहुँचा हुआ था। बीच में ग्वालियर का भूभाग भी इसी राज्य का अंग था जैसा कि विनायकपाल प्रथम के प्रकरण में बताया जा चुका है। महेन्द्रपाल-२ विनायकपाल प्रथम का पुत्र था। उसकी उपाधियाँ थीं—राजाधिराज; महाराजा; महाराजाधिराज; परमभट्टारक; परमेश्वर।

(८) देवपाल (९४७-९५३)—यह भी विनायकपाल प्रथम का एक दूसरा पुत्र था यद्यपि देवपाल के सियादोनी (ग्वालियर) के शिलालेख में देवपाल को ही विना-

---

१. Ep. Ind., XIV, pp. 176-186.

यकपाल-१ (महिपाल) का प्रथमतम उत्तराधिकारी बताया गया है।[१] उपर-लिखित महेन्द्रपाल-२ का नाम उक्त लेख में छोड़ दिए जाने का कारण डॉ० त्रिपाठी ने यह बताया है कि उसका राज्यकाल बहुत कम समय का रहा अथवा सम्भव है दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे हों।[२] हयपति देवपाल की उपाधि थी।

देवपाल के राज्यकाल की एक दिलचस्प घटना यह है कि चन्देल राजा यशोवर्मन देवपाल को वैकुण्ठ देव की एक प्रसिद्ध मूर्ति को उसे (चन्देल-नृप) को देने के लिए विवश किया। यह प्रतिष्ठित मूर्ति पहले भी कई हाथ बदल चुकी थी; तथा देवपाल ने इसे कीर (पंजाब की कांगरा घाटी) के शाही नामक राजा से बहुत से हाथी और घोड़े देकर प्राप्त की थी; स्वयं शाही को वह अपने मित्र तिब्बत के स्वामी से मिली थी जिसे उसने कैलाश पर्वत में पाया था।[3] इस तथ्य से यह सिद्ध होता है कि देवपाल के समय में चन्देलों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और वे कन्नौज का प्रभुत्व अस्वीकार करते थे। वस्तुतः प्रतिहारों की अवनति इसी समय से आरम्भ हो गई थी।

(९-१०)....विनायकपाल-२ तथा विजयपाल

(९५ -९८८ ई०)

(९) **विनायकपाल-२ (९५३-९५७)**—देवपाल के बाद कन्नौज की गद्दी पर कौन आया इस प्रश्न पर इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। एक मत यह है कि देवपाल और विनयपाल के बीच में दो और राजा हुए जिनके नाम क्रमशः विनायक पाल-२ और महिपाल-२ थे।[४] इस प्रश्न पर विवेचन करने के बाद डॉ० त्रिपाठी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि केवल विनायकपाल-२ का अस्तित्व ही प्रमाणित माना जा सकता है। उनका कहना है कि चन्देल राजा धंग के खजुराहो शिलालेख[५] (सन् ९५४) में उल्लिखित नाम 'विनायक पालदेव' विद्वानों के लिए यह पहेली है कि इस नाम का तात्पर्य विनायकपाल-१ से है अथवा यह दूसरा विनायकपाल है। उक्त लेख के प्रश्नगत भाग (अन्तिम पंक्ति) का अंग्रेजी रूपान्तर कीलहार्न महोदय ने इस प्रकार किया है :—

---

१. Ep. Ind., Ip. 170, foot-noot. The year of the said inscription is 948 A. D., i. e.. a year after Devapala's accession.
२. *History of Kanauj*, p. 271.
३. Ep. Ind., I, p. 134, verse 43.
४. Nihar Ranjan Ray, in *Ind. Ant.*, Oct. 1928, pp. 230-34.
५. Khajuraho stone inscription (No. II) of Dhang, Ep. Ind., I, pp. 122-35.

"While the illustrious Vinayaka (?)[1]–Pāldeva is protecting the earth, the earth is not taken possession of by the enemies, who have been annihilated."[2]

डॉ० त्रिपाठी का तर्क है कि समयक्रमिका के अनुसार तथा अन्य तथ्यों के आधार पर यह राजा दूसरा विनायकपाल ही हो सकता है, प्रथम नहीं।[3]

बीच के दूसरे उल्लिखित राजा महिपाल-२ के बारे में डॉ० त्रिपाठी का निष्कर्ष है कि यद्यपि कुछ लेखों से यह सम्भावना निकाली जा सकती है कि दूसरा महिपाल विनायकपाल-२ का उत्तराधिकारी हुआ किन्तु यह सम्भावना बड़ी दूरस्थ है। उनके अनुसार अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि यह महिपाल कन्नौज राज्य का सामन्त था।[4] अतः डॉ० त्रिपाठी ने इस महिपाल-२ को प्रतिहार वंशावली में स्थान नहीं दिया है और उसी मत का अनुसरण इस अध्याय में भी किया गया है। अस्तु।

अब विनायकपाल-२ के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि वह प्रतिहार वंश के किस राजा का आत्मज था। इस प्रश्न पर डॉ० त्रिपाठी निहार रंजन रे के मत से सहमत हैं कि वह महेन्द्रपाल-२ का पुत्र था[5] क्योंकि राजवंशों में राजकुमारों के नाम कभी-कभी पितामह के नाम पर भी रखे जाते थे[6] और इस विनयपाल-२ के पितामह भी यही नामधारी (विनयपाल-१) थे।

विनायकपाल-२ का राज्यकाल लगभग ३-४ साल का ही रहा। उसके बारे में केवल इतनी ही जानकारी है कि जब वह पृथ्वी की रक्षा कर रहा था यानी राज्य कर रहा था (सन् ९५४ में), तब शत्रुओं द्वारा राज्य के किसी भाग को हस्तगत नहीं किया गया था क्योंकि वे पहिले ही नष्ट किए जा चुके थे जैसा कि ऊपर-संदर्भित खजुराहो शिलालेख के अंग्रेजी रूपान्तर में प्रकट किया गया है।

(१०) विजयपाल (९५७-९८८)—यद्यपि विनायकपाल ने लगभग ३१ साल तक राज्य किया किन्तु इस दीर्घ समय में भी राज्य की उन्नति के बजाय अवनति ही होती रही। देवपाल के समय में साम्राज्य का जो पतन आरम्भ हुआ था वह

---

१. कीलहार्न महोदय ने यह प्रश्नचिह्न इस कारण लगाया है कि उनकी निगाह में उत्कीर्ण अक्षर पूर्णतयः स्पष्ट नहीं हैं।
२. Ep. Ind., I, p. 135.
३. History of Kanauj p. 273-74.
४. Dr. Tripathi; History of Kanauj, pp. 274-276.
५. Dr. Tripathi; History of Kanauj, p. 274.
६. Ind. Ant., Oct. 1928, p. 233.

निर्बल विजयपाल के समय में चालू रहा और साम्राज्य का विघटन लगभग पूरा हो गया। अधीन सामन्त या राजा युद्ध करके या यों ही स्वतंत्र हो गए और साम्राज्य के रूप में कन्नौज नष्ट हो गया। न तो विजयपाल में और न ही उसके बाद के प्रतिहारों में 'परमेश्वर' का स्वरूप और गुण थे—वे केवल नाममात्र के 'महाराजाधिराज परमेश्वर'[1] थे। जो भूखंड इस प्रकार कन्नौज सिंहासन से स्वतंत्र हो गए उनका सूक्ष्म विवरण निम्न प्रकार है :—

(१) सौराष्ट्र (काठियावाड़)....दक्षिण-पश्चिम का यह प्रान्त स्वतंत्र होकर सोलंकी (अथवा चालुक्य) वंश के अधीन चला गया जिसका प्रथम राजा मूलराज था और जिसने अपनी राजधानी अनहिलवाड (अनहिलपाटक) में स्थापित की। सन् ९६१ में वह गद्दीनशीन हुआ।

(२) जैजाकभुक्ति के चन्देल....चन्देल राजा धंग (९५०-१०००) कन्नौज के विरुद्ध युद्ध करके स्वतंत्र हो गया जैसा कि महालेख में निम्न शब्दों में आया है :-

"बः कान्यकुब्जम् नरेन्द्रं समर भुवि
विजित्य प्राप साम्राज्यं-उच्चैः।"[2]

इस प्रकार कालिंजर पर उसका अधिकार हो गया। ग्वालियर और बनारस भी धंग के आधीन आ गए।

(३) चेदि....चेदियों की अमलदारी चन्देलों और चालुक्यों के बीच में थी और ऐसा आया है कि चेदि राजा लक्ष्मणराजदेव ने दसवीं सदी के उत्तरार्ध में कई राजाओं को हराया जिनमें एक 'गुर्जर' का राजा था जिसकी पहिचान (गुर्जर-प्रतिहार) विजयपाल से की गई है।

(४) मालवा....यह प्रदेश भी कन्नौज साम्राज्य से पृथक हो गया था और परमार वंशीय शासकों के स्वतंत्र शासन में चला गया था। यह घटना महेन्द्र-पाल-२ की मृत्यु के शीघ्र बाद हुई अतः उसका सम्बन्ध देवपाल या विनायकपाल-२ से मानना चाहिए।

(५) सांभर के चाहमान....इन्होंने भी प्रतिहारों की गिरती शक्ति का लाभ उठाकर मध्य राजपूताना में अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी।

प्रतिहार-साम्राज्य के इस प्रकार के विघटन का फल यह हुआ कि उत्तर भारत में कतिपय स्वतंत्र राज्य कायम हो गए जो आपसी संघर्ष करते रहे—उत्तरापथ की यह स्थिति प्रायः परम्परा के अनुरूप ही थी।

---

१. विजयपाल की उपाधियाँ थीं, परमभट्टारक; महाराजाधिराज; परमेश्वर।
२. *Ep. Ind.*, I, pp. 197, 203, verse 3.

(११) राज्यपाल
(९८८–१०१८)

इसकी उपाधियाँ थीं, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर। सन् ९८८ के लगभग पिता विजयपाल की मृत्यु हो जाने पर राज्यपाल ने राज्यभार सम्हाला। यह उसका दोष न था कि यह विरासत शक्तिहीन तथा संकुचित थी और ऐसी हालत में उसके लिए अपने पूर्वजों के गौरव को पुनर्स्थापित करना सम्भव न हुआ। हम पहले ही देख चुके हैं कि विशाल प्रतिहार साम्राज्य का विघटन राज्यपाल से तीन पीढ़ी पहले ही देवपाल के समय से प्रारम्भ हो चुका था और अब कन्नौज राज्य सीमा के इर्द-गिर्द शक्तिशाली रियासतें पनप चुकी थीं। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त राज्यपाल के समय ही में उत्तर-पश्चिम भारत पर गजनी के सुल्तान सुबुक्तगीन का एक हमला, और बादहू उसके पुत्र महमूद के दो सफल आक्रमण हो चुके थे जिनसे बचने के लिए राज्यपाल ने भी दो मौकों पर सेना भेजी थीं। इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों में केवल कोई जन्मजात वीर तथा मेधावी पुरुष ही गिरे हुए राज्य का पुनरुत्थान कर सकता था, पर राज्यपाल में इन गुणों का अभाव था।

अपने पिता की तथा स्वयं अपनी पूर्व सफलताओं के फलस्वरूप महमूद का हौसला बहुत बढ़ गया था। साथ ही उसकी धन-लिप्सा भी अत्यधिक प्रबल थी। अतः उसने भारत पर १८ हमले किए और प्रत्येक में सफल रहा। उसके प्रथम दो हमलों की बात पहले आ चुकी है जिनके बाद उसके अन्य हमले भी होते रहे। फिर सन् १०१८ में उसका आक्रमण कन्नौज पर हुआ जब राज्यपाल गद्दी-नशीन था। सुबुक्तगीन का हमला तथा महमूद के उक्त तीन हमलों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

जयपाल का सुबुक्तगीन पर आक्रमण और सुबुक्तगीन का जयपाल पर जवाबी आक्रमण—जयपाल उत्तर-पश्चिम में स्थित उदभांडपुर (ओहिन्द) का शाही-वंशीय राजा था। यवनों की बढ़ती हुई अमलदारी को रोकने के अभिप्राय से उसने गजनी की ओर आक्रमण किया किन्तु सुल्तान सुबुक्तगीन के पराक्रमी सैनिकों का उसकी सेना मुकाबला न कर सकी और जयपाल को एक शर्मनाक समझौता करना पड़ा जिसके अनुसार उसे जुरमाने के रूप में एक बड़ी रकम देनी पड़ी और सरहद के कुछ किलों को छोड़ देना पड़ा। बाद में उसने इस समझौते की अवहेलना करके सुल्तान के कुछ अफसरों को कैद कर लिया जो विजित क्षेत्र पर प्रबन्ध करने आए थे। इस पर क्रोधित होकर सुल्तान ने सन् ९९१ के लगभग जयपाल पर हमला किया। अपनी मदद के लिए जयपाल ने पास के शासकों से

सहायता माँगी जिस पर राज्यपाल ने दिल्ली, अजमेर और कालिंजर के अपने सामन्त राजाओं सहित धन और सेना द्वारा जयपाल को सहायता दी। यद्यपि उस समय कन्नौज साम्राज्य अवनति पर था फिर भी यह याद करके कि उसके पूर्वजों ने यवनों से अनेकों बार मोर्चा लेकर उन्हें आगे बढ़ने से रोका था राज्यपाल ने सहर्ष उक्त मदद दी तथा अन्य राजाओं ने भी ऐसा ही किया। परिणामस्वरूप प्रतिहारों का शाही झण्डा सुदूर अफगानिस्तान की खुर्रम नदी की घाटी में फहराया गया। वहाँ पर सुबुक्तगीन की फौज के साथ युद्ध होने पर खुर्रम नदी भारतीय वीरों के रक्त से रंग गई किन्तु विजय सुबुक्तगीन की हुई और उसने सिन्ध तक के इलाके पर कब्जा कर लिया।[१] ऐसा अनुमान किया जाता है कि जयपाल की ओर एक लाख घुड़सवार, बहुत से हाथी और अगणित पैदल थे। विजयी सुल्तान असंख्य धन, २०० हाथियों और दूरस्थ प्रदेशों की बहुमूल्य वस्तुओं को हस्तगत करके गजनी लौट गया। सन् ९९७ में उसकी मृत्यु हो गई। यह निश्चित नहीं है कि जयपाल की मदद के लिए सेना लेकर जयपाल स्वयं गया था या उसका प्रधान सेनापति।

जयपाल पर महमूद का हमला—इसके बाद सन् १००१ में सुबुक्तगीन के पुत्र तथा उत्तराधिकारी महमूद ने जयपाल पर आक्रमण किया जिसमें जयपाल हार गया और संधि होने पर उसे बहुत सा धन आदि विजेता को देना पड़ा। संधि की शर्तों को पूरा करने के लिए उसे अपने एक पुत्र और एक प्रपौत्र को गजनी भेजना पड़ा। दुबारा हार जाने पर और इस अपमानजनक संधि के कारण स्वाभिमानी जयपाल ने राज्यभार पुत्र आनन्दपाल को देकर आत्मदाह कर लिया। फिरिश्ता के अनुसार उस समय यह प्रथा थी कि यदि कोई राजा दो बार पराजित हो जाय तो वह राज्य-गद्दी पर बने रहने के लिए अक्षम हो जाता था और कदाचित इसी लांछन से बचने के लिए तथा यह सोचकर कि आनन्दपाल देश की रक्षा सफलता के साथ कर सकेगा जयपाल ने आत्मदाह किया।

आनन्दपाल पर महमूद का हमला—यह सुनकर कि आनन्दपाल ने मुल्तान के सूबेदार दाऊद को बगावत करने की योजना में सहायता दी है सुल्तान ने सन् १००८ में आनन्दपाल पर चढ़ाई करने की तैयारी की। बचाव के लिए आनन्दपाल ने भारत के सभी भागों में सहायता पाने के उद्देश्य से दूत भेजे। उसके उत्तर में कन्नौज से वृद्ध राज्यपाल ने तुरन्त एक बड़ी सेना भेजी और उसी के उदाहरण के अनुरूप अन्य शासकों ने भी सेनाएँ भेजीं। डॉ० मजूमदार ने लिखा है कि यद्यपि राज्यपाल अब वृद्ध हो गया था तथापि सहायक राजाओं में वह सबका अगुआ

---

१. Mazumdar, *Ancient India*, 324-5.

था।[1] उस समय राष्ट्रीयता की भावना इतनी जागृत हुई कि महिलाओं तक ने आभूषण बेच कर देश के दूर-दूर के स्थानों से सहायता के लिए धन भेजा[2] तथा निर्धन स्त्रियों ने दिन-रात चर्खे चलाकर अपनी शक्ति के अनुसार मदद दी। परिणामस्वरूप एक इतनी बड़ी सेना सज गई कि जिसके बराबर पहले कोई भी सेना मैदान में न आई थी। यह सेना लगभग ४० दिन तक खेमों में डटी रही। इस अपार सेना ने महमूद की सेना को, जो सिन्धु नदी को पार कर आ गई थी, बड़ी क्षति पहुँचाई जिससे वह घबड़ा गया और रणभूमि छोड़कर भागने का निश्चय किया। इसी बीच शत्रु के कुछ मशालची गोले आनन्दपाल के हाथी के समीप गिरे जिस कारण हाथी भयभीत होकर भाग निकला। सैनिकों को समझ पड़ा कि हमारे सेनापति ने हमें छोड़ दिया, अतः उनकी हिम्मत टूट गई और विजय पराजय में बदल गयी। इसी भगदड़ में शत्रु सेना ने अगणित सैनिकों को मार डाला। फिर कांगड़ा (पंजाब में) के निकट भारत-प्रसिद्ध देवी ज्वालामुखी के मन्दिर को तथा अन्य स्थानों को खूब लूटने के बाद महमूद गजनी लौट गया।

यवनों की बढ़ती हुई प्रगति को रोकने के लिए उत्तर भारत के शासकों का यह अन्तिम राष्ट्रीयरूपक संगठित महान उद्योग था। इसके बाद महमूद लगभग प्रत्येक वर्ष उत्तर भारत के अलग-अलग स्थानों पर आक्रमण कर लूटमार करता रहा। फिर सन् १०१८ में कन्नौज की बारी आई।

महमूद का कन्नौज पर आक्रमण—सन् १०१८ में जब महमूद गजनवी ने कन्नौज पर आक्रमण किया राज्यपाल को गद्दी पर बैठे लगभग ३० साल हो चुके थे किन्तु इस अन्तराल में कन्नौज राज्य में क्या घटनाएँ हुई तथा राजप्रबन्ध कैसे चला इसकी जानकारी नहीं है—केवल इतिहास इतना ही जानता है कि दो मौकों पर कन्नौज ने यवनों को रोकने के लिए सैनिक सहायता भेजी थी जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

अब २७ सितम्बर १०१८ के दिन महमूद ने गजनी से कन्नौज के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में उसने बरन (अब बुलन्दशहर) को घेर लिया और वहाँ के राजा हरदत्त को उसके १०,००० आदमियों के साथ मुसलमान बना लिया। तदनन्तर उसने मथुरा के कुलचन्द्र नामक राजा को हराया और उसे मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया क्योंकि महमूद की निगाह में वह मूर्तिपूजकों का अगुआ था। इसमें वह असफल रहा क्योंकि स्वाभिमानी कुलचन्द्र ने अपना तथा अपनी पत्नी का तलवार द्वारा प्राणान्त कर लिया। इस घटना के बाद महमूद ने मथुरा

१. Majumdar, *Ancient India*, pp. 225-26.

२. *Ibid.*

के भव्य मंदिरों[१] और नागरिकों को खूब लूटा और मंदिरों को नष्ट भी किया। इस लूट में उसे अपार सम्पत्ति मिली।

सेना का एक बड़ा भाग पीछे छोड़कर केवल एक छोटे किन्तु चुने हुए टुकड़े के साथ महमूद बड़ी शीघ्रता से कन्नौज की ओर बढ़ा। इस चतुराई से वह यकायक कन्नौज के नाकों पर २० दिसम्बर १०१८ को पहुँच गया। नगर को देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। ब्रिग्स महोदय लिखते हैं कि उसने देखा :—

"....a city which raised its head to the skies, and which in strength and beauty might boast of being unrivalled."[२]

उसने यह भी देखा कि यह बड़ा नगर गंगा के दाहिने तट पर सैनिक दृष्टि से एक माकूल स्थान पर बसा हुआ है तथा सात अलग-अलग किलों से सुरक्षित है। नगर में १०,००० से अधिक प्राचीनतम मंदिर भी थे।

इस प्रकार महमूद के अकस्मात आ जाने पर राजा राज्यपाल विचलित हो गया। इसका एक कारण यह भी था कि पूर्व में दो अवसरों पर उसकी सहायक सेना भी सुलतान द्वारा पराजित हो चुकी थी। भयभीत होकर उसने राजधानी छोड़कर गंगा पार स्थित बारी मुकाम में शरण ली जो ४-५ दिन की यात्रा पर बसा था। नगरवासी भी कन्नौज छोड़ गए। अतः महमूद ने सातों किलों पर एक ही दिन में आसानी से दखल कर लिया क्योंकि जमकर उसका मुकाबला नहीं हुआ। उसके बाद उसने सिपाहियों को लूटमार, मन्दिर विनाश तथा काफिरों के कत्लआम की पूरी छूट दे दी। इस जघन्य अभियान में हजारों मन्दिर तोड़े गए, नगर को लूट गया और जनता का संहार हुआ। अपार धन-सम्पत्ति महमूद के हाथ लगी जिसे लेकर वह गजनी लौट गया। तत्कालीन लेखकों के अनुसार इस लूट के माल का मूल्य ३० लाख स्वर्ण दिरहम था और कैदियों और दासियों की संख्या इतनी अधिक थी कि गजनी की बाजार में दो या तीन चाँदी के सिक्कों में प्रति कैदी बिका।

इस प्रकार कन्नौज की कान्ति समाप्त हो गई और राज्यपाल बारी में रहने लगा। अलबरुनी के अनुसार सन् १०३० में कन्नौज वीरान था।

राज्यपाल के अशौर्य से अन्य राजा उद्विघ्न, उस पर आक्रमण तथा युद्ध में मृत्यु—पड़ोसी क्षत्रिय राजा राज्यपाल के इस अक्षत्रिय आचरण से अप्रसन्न हुए जिनमें कालिंजर का चन्देल राजा गंड मुख्य था। उसके राजकुमार विद्याधर ने

---

१. इन मन्दिरों को देखकर महमूद चकित हो गया, ऐसा उल्लेख है।
२. Briggs, I, p. 57.

राज्यपाल के पास सन्देश भेजा जिसमें उसने राज्यपाल के भाग कर अपने इलाके को यवनों को हस्तांतरित कर देने पर उसकी भर्त्सना की—कुछ इसी प्रकार का उल्लेख इब्न-उल-असीर ने कामिल-उत्तवारीख में किया है।[1] महमूद के लौट जाने के शीघ्र बाद गंड ने पास-पड़ोस के राजाओं की मदद से एक सेना संगठित करके विद्याधर के नेतृत्व में राज्यपाल को दण्ड देने के लिए भेजा। राज्यपाल ने उसका मुकाबला किया और एक भीषण युद्ध हुआ जिसमें वह मारा गया तथा उसके बहुत से सैनिक भी नष्ट हुए। एक शिला-लेख[2] में उत्कीर्ण है कि राज्यपाल की मृत्यु गले में कई तीरों के लगने से हुई, यथा—

श्री-विद्याधरदेव कार्य-निरतः श्री-राज्यपालम् हतात्।
कंठस्ति-छिद्नेक बानानि-वहैर्हत्वा महत्याहवे ॥

(उक्त लेख में अन्यत्र अर्जुन का नाम आया है और उपरिलिखित वाक्य में यह बताया गया है कि उसी के द्वारा विद्याधर के कार्य को सिद्ध करने के लिए राज्यपाल के कंठ में तीर भेदे गए जिससे उसकी मृत्यु हुई।)

राज्यपाल का विद्याधर द्वारा मारा जाना महोबा के लेख में भी आया है, यथा—विहित कान्यकुब्ज-भूपाल-भंगम्।

जब महमूद को मालूम हुआ कि मेरे प्रति आत्म-समर्पण करने के कारण ही राज्यपाल को गंड ने मरवा डाला तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा और उसने इस प्रकार ढिठाई का बदला लेने के लिए अक्टूबर, १०१९ में गजनी से कूच कर कन्नौज पर आक्रमण किया जहाँ गंड की आधीनता में राज्यपाल के पुत्र त्रिलोचन पाल को राजा बनाया गया था। इस आक्रमण का विवरण त्रिलोचनपाल के प्रकरण में आगे दिया जा रहा है।

१२. त्रिलोचनपाल
(१०१९–१०३५)

महमूद गजनवी का कन्नौज पर दूसरा हमला—सन् १०१९ में मृतक राज्यपाल के पुत्र त्रिलोचनपाल के राजा गंड की आधीनता में अभिषिक्त होने के तुरन्त बाद ही सुलतान महमूद ने कन्नौज पर फिर आक्रमण किया। इस बार उसका अभिप्राय लूट-मार करने का नहीं था अपितु उन शासकों को दण्डित करने का था कि जिन्होंने राज्यपाल का वध इस कारण किया था कि उसने बिना युद्ध

---

१. Kamil-ut-Tawarikh, ed. Bulak (1874), Vol. IX, p. 115, foot-note.

२. कच्छपघाट विक्रमसिंह का दुवकुन्द शिलालेख, सन् १०८८, Ep. Ind., II, pp. 233, 237, line 12.

के ही कायरतापूर्वक कन्नौज से भाग कर बारी में शरण ली और फिर सुलतान के प्रति आत्म-समर्पण कर उसकी आधीनता स्वीकार की।

अक्टूबर १०१९ में महमूद ने गजनी से कूच की और सबसे पहले कन्नौज की ओर बढ़ा। त्रिलोचनपाल ने उसका सामना किया किन्तु सुलतान के चुने हुए सिपाहियों की एक टुकड़ी ने अंधेरे में रामगंगा को पार करके अचानक कन्नौज की सेना पर आक्रमण करके उसे तितर-बितर कर दिया। फलतः बारी नगरी, जो राज्यपाल के समय से ही कन्नौज राज्य की वस्तुतः राजधानी बन गई थी, सुलतान के कब्जे में आ गई। महमूद के पहले आक्रमण के बाद कन्नौज नगर वीरान हो गया था जैसा कि अलबरुनी ने लिखा है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि महमूद की सेना वहाँ नहीं गई। यद्यपि त्रिलोचनपाल किसी प्रकार अपने प्राण बचाने में सफल हुआ किन्तु इस हमले से प्रतिहार-शक्ति, जो पहले ही से डावाँडोल हो चुकी थी, अन्तिम धक्का लगा और वह प्रायः पूर्ण समाप्ति के निकट पहुँच गई।

इस युद्ध के बाद त्रिलोचनपाल का क्या हुआ यह सही तौर से ज्ञात नहीं है। किन्तु उसके एक दानपत्र से जो प्रयाग के पास झूसी गाँव (गंगा के उस पार) में मिला था और जो सन् १०२७ का है साबित होता है कि वह उस वर्ष जीवित था और कन्नौज क्षेत्र के एक छोटे खण्ड का राजा था।

नियाल्तगीन का हमला—त्रिलोचनपाल के राज्यकाल की समाप्ति (१०३५ ई० के लगभग) के दो साल पहले सन् १०३३ में पंजाब के गवर्नर अहमद नियाल्तुगीन[1] ने बनारस पर धावा किया और नगर का तथा उसके अनेकों धनाढ्य मन्दिरों का लुन्टन किया। एक ही दिन में दोपहर तक उसने अपार सोना, चाँदी, जवाहरात तथा सुगन्धित वस्तुएँ (इत्र, आदि) हस्तगत कीं। उसके बाद वह शीघ्र ही अन्तर्वेदी (कन्नौज राज्य) होता हुआ लाहौर लौट गया। यह बात यवन इतिहासकार बैहाकी की पुस्तक तारीख-उस-सुबुक्तगीन में आई है।[2] उसमें यह भी कहा गया है कि इसके पहले कोई भी यवन सेना बनारस तक नहीं पहुँची थी।

---

१. यह गजनी के सुल्तान का हाकिम था और लाहौर में तैनात था। धन की अभिलाषा से ही इसने बनारस पर धावा किया था। उसका आन्तरिक अभिप्राय अपने को गजनी से स्वतन्त्र करने का था और इसी हेतु वह धन एकत्रित करना चाहता था।—Elliot, *History of India*, Vol. II, pp. 123-124.

२. नोट १ में संदर्भित पुस्तक।

चेदि-शासक गांगेयदेव—बैहाकी ने यह भी बताया है कि उस समय बनारस पर दक्षिण के चेदि शासक गांगेयदेव चेदि का अधिकार था (न कि कन्नौज के त्रिलोचनपाल का) यद्यपि नियाल्तगीन की वापसी कन्नौज राज्य में होकर हुई थी और सम्भवतः वहाँ से भी उसने धन एकत्रित किया हो।

उक्त गांगेयदेव ने कन्नौज पर या उसके अन्य इलाकों पर कब्जा किया या नहीं यह स्पष्ट नहीं है यद्यपि उसके कुछ सिक्के कन्नौज नगर में पाए गए थे तथा जबलपुर ताम्रपत्र लेख के अनुसार उसने अपनी १०० रानियों के साथ प्रयाग में प्राण त्याग किए थे।[1] इसके अतिरिक्त उसे "विक्रमादित्य[2]" और भूलोक का विजेता भी कहा गया है।[3] इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकालना कि कन्नौज राज्य या उसका कुछ भाग चेदि-राज के अधिकार में था असंगत प्रतीत नहीं होता। उसका राज्य काल लगभग १०१९ ई० से १०४१ तक रहा।[4] इसी अन्तराल में परमार-वंशीय भोज द्वारा उसे पराजित किये जाने की भी बात आई है। बाद में स्वयं भोज को गांगेयदेव के पुत्र कर्ण (राज्यकाल लगभग १०४१–१०७२) ने पराजित किया। कर्ण को एक महान शासक तथा योधा बताया गया है, और यह विश्वास किया जाता है कि उसने कान्यकुब्ज राज्य के कुछ अंचलों पर भी कब्जा कर लिया था। यह त्रिलोचनपाल के उत्तराधिकारी यशपाल के समय के बाद ही हुआ होगा जैसा कि अगले शीर्षक में बताया जायेगा।

नोट—त्रिलोचनपाल की वही उपाधियाँ थीं जो उसके पिता राज्यपाल की, अर्थात्, परमभट्टारक; महाराजाधिराज, परमेश्वर।

१३. यशपाल
(१०३५–१०३६ ?)

त्रिलोचनपाल का राज्यकाल कब समाप्त हुआ यह निश्चय नहीं और न यह ही कि उसका अन्त कब और कहाँ हुआ, किन्तु ऐसा अनुमान है कि सन् १०३६ में यशपाल कन्नौज का राज्य कर रहा था। यह इस तथ्य पर आधारित है कि कड़ा (जिला इलाहाबाद) का लेख[5] यह बताता है कि महाराजाधिराज यशपाल

१. Ep. Ind., II, pp. 4, 6, verse 12.
२. *Ibid*, p. 3.
३. *Ibid*, I, pp. 219, 222, line 14. महोबा से प्राप्त एक चन्देल लेख में प्रश्नगत बात कही गई है।
४. Ep. Ind., VIII, p. 146.
५. J. R. A. S. 1927, pp. 692–95.

ने "कौसम्बी मण्डल स्थित पयलास नामक ग्राम" दान में दिया—उसमें विक्रम सम्वत् १०९३ अंकित है जो सन् १०३६ के बराबर आता है। महमूद गजनवी के कन्नौज पर पहले आक्रमण के अवसर पर (१०१८ ई०) राज्यपाल ने भाग कर बारी में शरण ली थी जैसा पहले बताया जा चुका है और तभी से बारी ही राज्य की राजधानी हो गई थी, अतः यह भी अनुमानित है कि यशपाल भी बारी ही में दरबार करता था जैसा कि उसके पिता त्रिलोचनपाल के समय में शायद[1] होता था। यशपाल को उक्त लेख में महाराजाधिराज कहा गया है किन्तु यह उपाधि नाम मात्र ही की थी क्योंकि कन्नौज साम्राज्य बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था और कन्नौज के राजाओं की अमलदारी बहुत संकुचित हो गई थी।

यशपाल का शासन कब समाप्त हुआ तथा उसके बाद कन्नौज राज्य का कौन अधिकारी हुआ यह स्पष्ट नहीं है। हाँ, इतना ज्ञात है कि जब सन् १०८०–१०८५ के लगभग गाहरवार-वंशीय शासक चन्द्रदेव ने कन्नौज राज्य को हस्तगत किया। उस समय वहाँ (राष्ट्रकूट-वंशीय) कोई राजा (नाम सही तौर पर ज्ञात नहीं) शासन कर रहा था। उस राजा के सम्बन्ध में भी जानकारी न्यून है; उसका उल्लेख राष्ट्रकूट-सम्बन्धित अगले अध्याय में किया गया है क्योंकि प्रतिहार-वंश का इतिहास यहीं पर समाप्त हो जाता है।

४. कन्नौज के गुर्जर–प्रतिहार काल में कन्नौज–राज्य की विभिन्न दृष्टियों से समीक्षा

पूर्ण गौरव के साथ प्रतिहार साम्राज्य लगभग एक सदी तक चला। इसके बाद उत्तर भारत में केवल कन्नौज के गाहरवाल वंश का ही साम्राज्य हुआ जो उत्तरापथ का अन्तिम हिन्दू साम्राज्य था। प्रतिहारों ने देश के एक बड़े भाग को राजनीतिक एकता और उसके लाभ प्रदान किए। उनका सबसे बड़ा काम था यवन आक्रमणों को रोके रखना और अरबों को सिन्ध से आगे न बढ़ने देना। इस राजवंश के कई सुयोग्य शासकों की सैन्यशक्ति तथा गौरव को उनके प्रबल शत्रु अरबी लोगों ने भी स्वीकार किया था।

सभी प्रतिहार शासक हिन्दू सभ्यता के उपासक थे और वैदिक धर्म के अनुयायी थे। उनके समय की बहुत सी देव मूर्तियाँ पाई गई हैं जिनमें पार्वती, विष्णु और शक्ति की मूर्तियाँ प्रमुख हैं। प्रतिहार राजाओं के इष्टदेव अलग-अलग थे, अर्थात् प्रतिहार राजवंश का कोई विशेष एक इष्टदेव न था। कन्नौज के प्रतिहार

---

१. इसका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है।

वंश के संस्थापक नागभट्ट द्वितीय की इष्टदेवी भगवती थीं (परमभगवतीभक्तो); उसके पुत्र रामभद्र के इष्टदेव भगवान सूर्य थे। मिहिर भोज और महेन्द्रपाल प्रथम भगवती और विष्णु दोनों के उपासक थे किन्तु भोज द्वितीय और देवपाल केवल विष्णु के। महिपाल के इष्टदेव सूर्य थें और महेन्द्रपाल द्वितीय के शिव। इसी प्रकार कन्नौज के नागरिक भी विभिन्न देवताओं के उपासक थे। कन्नौज तथा आस-पास के क्षेत्र में देवियों के मन्दिर की बाहुल्यता से यह जान पड़ता है कि अधिकांश लोग शक्ति के उपासक थे। बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी बहुत कम थे।

राजशेखर की कर्पूर मंजरी नाटक से ज्ञात होता है कि प्रतिहार-काल में समाज में वाममार्गियों अथवा कौलिकों का भी स्थान था। इनमें के कुछ लोग तांत्रिक साधना से सिद्धि भी प्राप्त कर लेते थे और उसका प्रदर्शन भी करते थे। अन्य लोग भी तांत्रिक साधना करते थे। वाममार्गियों की कुछ बातें अश्लील तथा अनैतिक होती थीं जो अब भी हैं।

सौराष्ट्र का प्रख्यात मन्दिर तीन क्रमों में बना था। तीसरी बार विशालतम मन्दिर नागभट्ट द्वितीय ने सन् ८०० के लगभग निर्मित करवाया था। प्रथम मन्दिर १ ली सदी में बना तथा दूसरी बार सन् ६४०-४९ में धारासेन चतुर्थ ने बनवाया था। नागभट्ट द्वितीय द्वारा तीसरी बार बनवाए हुए भव्य मन्दिर को ८ जनवरी १०२६ के दिन महमूद गजनवी ने विध्वंस किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय लोगों ने इस खंडित मन्दिर के पुनर्निर्माण के लिए ११ मई, १९५१ को शिलान्यास किया और अब वह अपने पूर्व रूप में आ गया है। यह गौरव की बात है कि यह परम पुरातन संस्कृत-केन्द्र अब पुर्नस्थापित हो गया।

प्रतिहार साम्राज्य के अन्तर्गत कान्यकुब्ज प्रदेश के लोग काव्यगुणी, भाषा-प्रयोग और शिष्ट आचार-विचार में दक्ष होते थे। आम तौर पर नागरिक सुशिक्षित, कविता-प्रेमी तथा कोई-कोई साधारण कोटि के कवि भी होते थे। बोल-चाल मधुर तथा आकर्षक था। जबकि अन्य प्रदेशों के कवि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा पैशाची (भूत-भाषा) आदि किसी एक में ही दखल रखते थे तब कान्यकुब्ज प्रदेश के कवि सभी भाषाओं में पटु होते थे। महिलाओं का वेश-विन्यास, बोल-चाल तथा व्यवहार अन्य प्रदेशों की सभ्य महिलाओं के लिए आदर्श माना जाता था[1]।

साम्राज्य के विभिन्न अंचलों में विशेष रूप से प्रयुक्त होने वाली भाषाओं

१. यह विवरण राजशेखर कृत काव्य मीमांसा पर आधारित है।

के बारे में राजशेखर ने काव्य मीमांसा में बताया है कि गौड आदि देशों के कवि संस्कृत में अधिक रुचि रखते थे, लाट देश निवासी प्राकृत-प्रिय थे। मारवाड़ और राजपूताना (मरुभूमि) और पंजाब के कवि अपभ्रंश भाषा का प्रयोग करते थे। अवन्तिका, पारियात्र और दशपुर आदि क्षेत्रों के कवि भूत भाषा या पैशाची भाषा में रुचि रखते थे। किन्तु कान्यकुब्ज प्रदेश के कवि सभी भाषाओं का प्रयोग करते थे जिसमें संस्कृत मुख्य थी।

प्रतिहार शासकों के काल में कन्नौज राज्य संस्कृति और राजसत्ता की दृष्टि से अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया था। इसी काल में हिन्दू राजाओं का शासन भारत के बाहर देशों में भी फैल गया था, उदाहरणार्थ, सुमात्रा, जावा, मलाया।

अध्याय–१८

कन्नौज के राष्ट्रकूट तथा अन्य सम्बन्धित शासक

(लगभग १०२५-१०८५)

सारपत्रक

१. कन्नौज के राष्ट्रकूट, राष्ट्रकूटों की उत्पत्ति तथा शाखाएँ ।

२. कनौजिया राष्ट्रकूट राजाओं की वंशावली ।

३. कन्नौजिया राष्ट्रकूट शासकों का विवरण ।

४. अन्य समकालीन शासक (कन्नौज के) ।

१. कन्नौज के राष्ट्रकूट, राष्ट्रकूटों की उत्पत्ति तथा शाखाएँ

प्रतिहारों के अवसान के तुरन्त बाद तथा सन् १०८५ के लगभग गाहड़वाल राज्यवंश की स्थापना के पहले कन्नौज पर और बाद में बदायूँ पर राष्ट्रकूट वंश की एक शाखा ने शासन किया। (यह शाखा दक्षिणी राष्ट्रकूट शाखा से भिन्न थी)। इस शाखा की राजधानी पहले कन्नौज नगर थी किन्तु बाद में जब गजनी के सुलतान ने कन्नौज नगर पर कब्जा कर लिया तब कन्नौज का राष्ट्रकूट शासक बदायूँ चला गया और वहीं अपने संकुचित इलाके की राजधानी कायम की। यह इलाका कान्यकुब्ज प्रदेश का ही भाग था। अतः यह शासक कन्नौज भूभाग के ही राजा समझे जाते हैं चाहे वह भूभाग छोटा ही रहा हो।

राष्ट्रकूटों की उत्पत्ति—इस विषय में भारतीय विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लेखक उन्हें यदुवंशी क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं, कुछ के अनुसार राष्ट्रकूट द्रविड़ थे जो उत्तर भारत से जाकर दक्षिण भारत में बस गए थे। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि ये लोग रट्‌ट नामक व्यक्ति की सन्तान थे जिसके पुत्र का नाम राष्ट्रकूट था और उसी से इस वंश का नाम राष्ट्रकूट पड़ा।

राष्ट्रकूटों की दो शाखाएँ—राष्ट्रकूट अपने को क्षत्रिय कुल का बताते हैं किन्तु इनकी उत्पत्ति के बारे में विद्वानों के विभिन्न मत हैं जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। उत्पत्ति कुछ भी हो परन्तु यह निर्विवाद है कि इनकी दो शाखाएँ हैं, यथा—

(क) दक्षिणी राष्ट्रकूट और

(ख) कनौजिया राष्ट्रकूट।

कनौजिया राष्ट्रकूटों पर दृष्टिपात करने के पहले दक्षिणी शाखा का सूक्ष्म विवरण नीचे दिया जा रहा है।

दक्षिण की शाखा का वर्णन—दक्षिणी राष्ट्रकूटों का संस्थापक दन्तिदुर्ग (आत्मज इन्द्र) था जिसने स्वतंत्र शासक के रूप में सन् ७३६ के लगभग नासिक को अपनी राजधानी बनाया। उसके पूर्वज किसी समय वातापि के चालुक्यों के सामन्त थे जिन्होंने ७वीं सदी में बरार में एक छोटे से सामन्ती राज्य की नींव डाली और फिर उसको बढ़ाया। बाद में दन्तिदुर्ग ने चालुक्य शक्ति के पतन का लाभ उठाया और अन्तिम चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन द्वितीय को परास्त कर चालुक्य-राज्य के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया और स्वतंत्र शासक के रूप में नासिक को राजधानी बनाकर राज्य करने लगा। कालान्तर में उसने या उसके किसी उत्तराधिकारी ने नासिक के बजाय मान्यखेत (आधुनिक मालखण्ड) को राजधानी बनाया। दक्षिण में राष्ट्रकूटों ने लगभग २३७ साल (७३६-९७३ ई०) राज्य किया। इस वंश मे १४ शासक हुए जिनमें से प्रमुख हैं :—दन्तिदुर्ग (७३६-७५६), कृष्ण प्रथम (७५६-७८०), ध्रुव (७८०-९३), गोविन्द तृतीय (७९३-८१४), अमोघवर्ष प्रथम (८१४ ७८), इन्द्र तृतीय (९१४-२७)। इस शाखा का अन्तिम राजा कक्कं द्वितीय (९७२-९७३) था जिसे कल्याणी के चालुक्य शासक तैलप ने सन् ९७३ में पराजित करके मान्यखेट पर अधिकार् कर लिया। तभी दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश की इतिश्री हुई।

यह राष्ट्रकूट शासक प्राचीन हिन्दू धर्म के प्रवल समर्थक थे तथा संस्कृत-साहित्य के भी पोषक थे, साथ ही स्वयं विद्वान भी। उन्होंने कई भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया। इलोरा का जगत्प्रसिद्ध शिव मन्दिर (कैलाश मन्दिर)[1] राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम (७५६–७२) द्वारा बनवाया गया था। राष्ट्रकूटों का साम्राज्य सशक्त, उन्नतिशील (शिक्षा-क्षेत्र में विशेषकर) तथा प्रजा-हितकारी था। किसी समय इनका प्रभाव अन्तरवेद में गंगा नदी से दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हुआ था।

यद्यपि राष्ट्रकूट शासक ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे तथापि वे अन्य धर्मों का भी आदर करते थे। कुछ राजाओं का झुकाव जैन धर्म के प्रति भी हो गया था।

---

१. यह मन्दिर पूर्णतयः चट्टान को काट कर बनाया गया है और इसकी दीवारों पर पौराणिक कथाएँ अंकित हैं। कला की दृष्टि से यह मन्दिर अद्वितीय है।

दक्षिण के राष्ट्रकूट कन्नौज राज्य पर समय-समय पर आक्रमण करते रहे थे और यदा-कदा गौड़ राज्य (बंगाल) पर भी। साथ ही सिन्ध के अरबों के प्रति उनका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। अरबी लेखकों ने इस वंश के शासकों को बल्हरा (वल्लराज) की संज्ञा दी है। अरब यात्री सुलेमान ने अमोघवर्ष प्रथम (८१४–७८) की शक्ति और वैभव की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वह विश्व के तत्कालीन चार महान शासकों में एक था।

२. कनौजिया राष्ट्रकूट राजाओं की वंशावली

इन राजाओं का विवरण देने के पहले उनकी वंशावली नीचे दी जा रही है जो भारतीय विद्या भवन, बम्बई की History and Culture of Indian People, volume V, pp, 50 et seq. पर आधारित है :—

शासक का नाम	रिश्तेदारी	शासन काल का ज्ञात सन्	कैफियत
१	२	३	४
१. चन्द्र	प्रथम शासक	....	राजधानी कन्नौज
२. विग्रहपाल	नं० १ का पुत्र	१०५०और	
३. भुवनपाल	नं० २ का पुत्र	१०७५ के बीच	
४ गोपाल	नं० ३ का पुत्र	यथावत्	इसे गाधिपुर (कन्नौज) का राजा कहा गया है।
५, त्रिभुवन पाल	नं० ४ का सबसे बड़ा पुत्र	नं० ४ का सबसे बड़ा पुत्र	राजधानी कन्नौज से उठकर बदायूँ हुई।
६. मदन पाल	नं० ४ का मझला पुत्र	१११९	सहेत-महेत (जि० गोंडा) तक राज्य सीमा थी। मदनपाल को क्षितिपति कहा गया है।
७. देवपाल	नं० ४ का सबसे छोटा पुत्र	....	

१	२	३	४
८. भीमपाल	नं० ७ का पुत्र	....	
९. सुरपाल	नं० ८ का पुत्र	....	
१०. अमृतपाल	नं० ९ का बड़ा पुत्र	....	
११. लखनपाल	नं० ९ का छोटा पुत्र	१२वीं सदी के अन्तिम वर्ष तथा १३वीं सदी का प्रारंभ	कुतुबुद्दीन ने कन्नौज पर कब्जा करके इलतुतमिश को उसका गवर्नर बनाया।
१२. धारादेव	अज्ञात	१३वीं सदी का प्रारम्भ	इसे महासामन्त कहा गया है किन्तु यह निश्चय नहीं है कि कन्नौज-देश में उसकी अमलदारी कहाँ थी। कदाचित् वह कन्नौज के गाहरवालों का सामंत था।

बदायूँ अभिलेख में पांचाल (कान्यकुब्ज) के राष्ट्रकूट वंश का उल्लेख है, उसका एक श्लोक निम्नलिखित है :—

प्रख्याताखिल राष्ट्रकूट कुलजक्ष्मा पालदोः पालिता।
पांचालाभिध देश भूषण करी वोदामयूता[1] पुरी[2] ॥

भावार्थ, अत्यन्त प्रसिद्ध राष्ट्रकुल में उत्पन्न राजाओं द्वारा पालन (शासन) की जाने वाली पांचाल देश की अलंकार स्वरूपा यह वोदामयूत (बदायूँ) नगरी थी।

३. कनौजिया राष्ट्रकूट राजाओं का विवरण

इस विषय पर उपलब्ध सामग्री बहुत कम है तथा उस पर भी स्थिति स्पष्ट नहीं है। भारतीय विद्या भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ, History and Culture of Indian People, Volume V, तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के आधार पर इन शासकों का सूक्ष्म वृत्तान्त निम्न प्रकार है :—

१. बदायूँ का प्राचीन नाम वोदामयूत था।
२. Ep. Ind., I, p. 61, f. n.

इस शाखा का प्रथम ज्ञात शासक चन्द्र था। ऐसा अनुमान है कि उसने कन्नौज पर अधिकार उस समय किया जब सन् १०२० वाले महमूद गजनवी के दूसरे आक्रमण के परिणामस्वरूप कन्नौज राज्य में अराजकता फैल गयी थी। कन्नौज नगर से अन्तिम रूपेण सम्बन्धित गुर्जर-प्रतिहार वंश का शासक राज्यपाल था जो महमूद के पहले हमले (१०१९ ई०) के अवसर पर कन्नौज को छोड़कर बारी मुकाम पर चला गया था जो कन्नौज से ३० मील की दूरी पर गंगा पार पूर्व की ओर स्थित था। उसके भागने के साथ-साथ नगर के नागरिक भी अपने घर-द्वार छोड़कर इधर-उधर चले गये थे। नगर वीरान हो गया था और २०-२५ वर्ष तक इसी अवस्था में रहा क्योंकि राज्यपाल और उसका उत्तराधिकारी त्रिलोचनपाल दोनों ही अपने दरबार बारी ही में करते थे। एक साल बाद सन् १०२० में महमूद ने राज्यपाल के उत्तराधिकारी त्रिलोचन पाल पर हमला किया जिसमें त्रिलोचनपाल पराजित हुआ। उक्त दोनों हमलों के फलस्वरूप राज्य में पूर्णतयः अराजकता फैल गयी। इसका एक कारण यह भी था कि चन्देल शासक ने राज्यपाल की कायरता से रुष्ट होकर उस पर हमला किया था जिसमें राज्यपाल मारा गया था। राज्य की इस शोचनीय और अस्थिर अवस्था का लाभ उठाकर राष्ट्रकूट चन्द्र ने कन्नौज नगर पर कब्जा कर लिया। इतिहास को यह ज्ञात नहीं कि इसके पहले चन्द्र की क्या हैसियत थी तथा कब उसने कन्नौज को हस्तगत किया।

चन्द्र के बाद उसका पुत्र विग्रहपाल गद्दीधर हुआ। इस सम्बन्ध में लाट के चालुक्य वंशीय एक शासक के सन् १०५० के लेख से ज्ञात होता है कि उस समय कन्नौज में एक राष्ट्रकूट वंश स्थापित था। बदायूँ के लेख[1] में भी इस राष्ट्रकूट वंश का कुछ विवरण दिया गया है और जिसे पांचाल देश (कान्यकुब्ज) पर शासन करते हुए बताया गया है—११वीं और १२वीं सदी में।

विग्रहपाल के बाद उसका पुत्र भुवनपाल गद्दीधर हुआ। इन दोनों का शासन-काल १०५० और १०७५ के बीच आंका जाता है। इसी अन्तराल में दक्षिण के सोमेश्वर—१ (चालुक्य शासक) तथा चोल राजा विरजेन्द्र ने कन्नौज पर हमला किया किन्तु कन्नौज उनके हाथों में नहीं गया।

भुवनपाल के बाद इस वंश का चौथा शासक गोपाल था जिसे उक्त बदायूँ अभिलेख में गाधिपुर (कन्नौज) का शासक कहा गया है जिससे यह प्रकट होता है कि उसके पहले के तीनों राजा भी कन्नौज से ही सम्बन्धित थे। ऐसा अनुमान है कि गोपाल के राज्यकाल में गजनी के सुल्तान के पुत्र महमूद (महमूद गजनवी

---

१. Ep. Ind., I, p. 61.

नहीं) ने कन्नौज को जीत लिया। इस पराजय के बाद राष्ट्रकूटों ने अपने को बोदामयूत (अब का बदायूँ) में स्थापित किया जो शीघ्र ही एक प्रतिष्ठित नगर बन गया। उसके बारे में हसन निजामी[1] ने लिखा है कि बदायूँ एक आधुनिक नगर है तथा हिन्दुस्तान के प्रमुख नगरों में एक है। गोपाल के राज्यमंत्री जनक का नाम भी आता है—दृष्टव्य सेहत-मेहत (१११८ ई०) का शिला लेख।[2]

गोपाल के बाद उसका सबसे बड़ा लड़का त्रिभुवनपाल राजा हुआ और उसके बाद उसका छोटा भाई मदनपाल जो सन् १११९ में शासक था और जिसका राज्य गोंडा जिले के सहेत-महेत तक था। उस पर गजनी के सुल्तान मसूद ने आक्रमण किया जिसे मदनपाल ने विफल कर दिया। मदन से सम्बन्धित लेख[3] सन् १११८ का है जिसमें उसे क्षितिपाल (क्षितिपाल मदन) कहा गया है। मदन का मंत्री विद्याधर था जिसने एक बुद्ध विहार की स्थापना की थी। विद्याधर गोपाल के राज्यमंत्री जनक का पुत्र था।

मदनपाल के बाद उसका सबसे छोटा भाई देवपाल राजा हुआ जिसके राज्य-काल में सन् ११२८ के लगभग सहेत-महेत उसकी अमलदारी से निकल गया और कन्नौज[4] के गाहरवालों के हाथ में चला गया—ऐसा जान पड़ता है।

देवपाल के बाद क्रमशः भीमपाल, सुरपाल तथा अमृतपाल के हाथ में शासन आया—इनमें प्रत्येक अपने पहले के राजा का पुत्र था।

अमृतपाल के बाद उसका छोटा भाई लखनपाल राज्य का स्वामी हुआ जिसने १२वीं सदी के अन्तिम वर्षों में राज्य किया। सन् १२०२ में दिल्ली के शासक कुतुबुद्दीन ने कन्नौज को (कदाचित लखनपाल से) जीत कर इल्तुतमिश को वहाँ का गवर्नर बनाया। इस प्रकार इस शाखा का स्वतंत्र-स्वामित्व समाप्त हो गया। बदायूँ का शिलालेख जिसका जिक्र पहले किया जा चुका है लखनपाल द्वारा ही उत्कीर्ण किया गया था।

लखनपाल के बाद राष्ट्रकूट-वंशीय धारादेव का नाम आता है जिसे महा-सामन्त कहा गया है और जो कान्यकुब्ज देश के किसी इलाके पर आरूढ़ था—

---

१. ताजुल-मासीर (हसन निजामी कृत)।

२. Ind. Ant., Octr., 1927, pp. 694-95.

३. सहेत-महेत का शिलालेख (Ind. And, Ant. Octr. 1927, pp. 694-95), मदनपाल के समय का।

४. गोपाल के समय ही में कन्नौज राष्ट्रकूटों के हाथ से निकल कर गजनी वालों के अधिकार में चला गया था और अन्ततः वह गाहरवालों के कब्जे में आया। राष्ट्रकूट बदायूँ ही में रहते रहे।

वह कौन स्थान था यह ज्ञात नहीं। अनुमान लगाया गया है कि वह गाहड़वालों का सामन्त था। धारादेव के बाद के किसी राष्ट्रकूट राजा या सामन्त का उल्लेख नहीं मिलता है।[1]

४. अन्य समकालीन शासक (कन्नौज के)

प्रतिहार वंश का अन्तिम ज्ञात शासक यशपाल था जिसका राज्याभिषेक सन् १०३५ में हुआ था। इसके लगभग ६० साल बाद कन्नौज का स्वामित्व गाहड़वालों के हाथ में गया। इस ६० वर्ष के अन्तराल में कन्नौज पर :—

(क) कनौजिया राष्ट्रकूटों का अधिकार रहा, तथा

(ख) कुछ अन्य शासकों का भी।

राष्ट्रकूट राजाओं का विवरण ऊपर आ चुका है किन्तु अन्य शासकों से सम्बन्धित स्थिति अस्पष्ट है और अक्रम्य भी। जिन कुछ राजाओं के नाम मिलते हैं उनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

(१) गंग अथवा गांगेयदेव, चेदि राज्य[2] का कलचुरि-वंशीय शासक जिसका शासन-काल कम से कम सन् १०१९ से १०४१ तक रहा। इसका अधिकार वाराणसी और कन्नौज राज्य के कुछ पूर्वी भाग पर था। बैहाकी की तारीख-उल-सुबक्तगीन में आया है कि सन् १०३३ में गजनी के सुल्तान के पंजाब स्थित गवर्नर अहमद नियाल्तगीन ने वाराणसी पर आक्रमण किया जो उस समय गंग के अधिकार में थी। नगर के मन्दिरों और नागरिकों को लूटने के बाद वह अन्तर्वेदी (कन्नौज राज्य) होता हुआ लाहौर लौट गया। उसी पुस्तक में यह भी उल्लेख है कि गंग का अधिकार उस भू-भाग पर भी था जो पहले कन्नौज राज्य के पूर्व में था। कन्नौज राज्य के कुछ भू-भाग पर उसके आधिपत्य की पुष्टि इससे भी होती है कि उसने प्रयाग के अक्षयवट के निकट जाकर प्राण त्यागे और उसकी १०० रानियाँ भी वहीं सती हो गयीं।[3]

(२) मालवा के परमार—वंशीय भोज (लगभग सन् १०००-१०५०) का भी अधिकार कन्नौज राज्य के कुछ भू-भाग पर होना माना जाता है क्योंकि

---

१. ऊपरलिखित वृतान्त भारतीय विद्या भवन, बम्बई, द्वारा प्रकाशित History and Culture of Indian People, Vol. V, pp. 50 et seq. पर आधारित है।

२. गंगा और नर्मदा नदियों के बीच का भाग; मालवा उत्तरी महाराष्ट्र का भू-भाग।

३. जबलपुर ताम्रपत्र लेख, Ep. Ind., II. pp. 4, 6.

मेरुतुंग की प्रबन्ध चिन्तामणि[1] में कहा गया है कि जब विजय-यात्रा के लिए निकला तब कन्नौज का राजा उसके नत-मस्तक हुआ। इसके अतिरिक्त बसही (इटावा जनपद) का ताम्रपत्र लेख भी बताता है कि भोज परमार का आधिपत्य कन्नौज राज्य पर (या उसके कुछ भू-भाग पर) था। सन् ११०४ का यह अभिलेख मदनपाल गाहरवाल का है और उसमें युवराज गोविन्दचन्द्र के दान का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि जब राजा भोज रमणियों के प्रेम में फँस गए और राजा कर्ण को केवल ख्याति ही बाकी रह गयी और पृथ्वी अति दुखित हुयी तब महाराज चन्द्रदेव (गाहरवाल) ने पृथ्वी का उद्धार किया।[2]

(३) गंग परमार के पुत्र कर्ण (सन् १०४१-१०७२) का भी कान्यकुब्ज राज्य पर अधिकार था। वाराणसी को उसने अपनी राजधानी बनाया था। वहाँ की कर्ण डहरिया आज भी अपनी उदारता के लिए प्रसिद्ध है। वाराणसी में उसने कर्णमेरु नामक एक विशाल शिवमन्दिर भी बनवाया था[3] और प्रयाग में कर्णतीर्थ नामक एक घाट। कन्नौज प्रदेश पर उसका अधिकार बसही ताम्रपत्र (उपर-लिखित) से भी पुष्ट होता है क्योंकि उसमें राजा भोज के साथ कर्ण का भी नाम आता है—पृथ्वी के दुख के सन्दर्भ में, और चन्द्रदेव गाहरवाल द्वारा कन्नौज पर अधिकार के सिलसिले में।

निष्कर्ष :—राष्ट्रकूट शासकों और उपरिलिखित अन्य शासकों के बारे में तिथिकाल सम्बन्धित बातें अस्पष्ट हैं और यह भी कि उनकी पारस्परिक हैसियत क्या थी। इस विषय में दो सम्भावनाएँ हैं—प्रथम यह कि राष्ट्रकूट राजा विजेता आक्रमणकारी का सामन्त हो गया हो और इस हैसियत से राज्य चलाता रहा हो। दूसरे यह कि विजित हो जाने के बाद राष्ट्रकूट राजा किसी संकुचित भू-भाग पर राज्य करता रहा हो। विद्वान इतिहासज्ञों अथवा शोधकर्ताओं द्वारा इस प्रश्न पर भविष्य में कुछ प्रकाश पड़ने की आशा की जा सकती है।

●

१. पृ० ३१ (जन-विजय मुनि द्वारा सम्पादित संस्करण)।
२. Ind. Ant., p. 103.
३. Jabalpur copper plate inscription, Ep. Ind., pp. 4,6.

अध्याय–१९

गाहरवाल वंश

(१०८५-१२००)

सारपत्रक

१. गाहरवालों का वंशक्रम तथा उत्पत्ति आदि।
२. गाहरवालों का पूर्व स्थान, पूर्वज आदि।
३. महाराज चन्द्रदेव, प्रथम शासक।
४. मदनपाल, दूसरे शासक।
५. गोविन्द्रचन्द्र, तीसरे शासक।
६. विजयचन्द्र, चौथे शासक।
७. जयचन्द्र, पाँचवें शासक } इनके लिए क्रमशः अध्याय २०
८. हरिश्चन्द्र, अन्तिम शासक } और २१ सृजित किये गये हैं।

१. गाहरवालों का वंश-क्रम तथा उत्पत्ति आदि

(क) वंशक्रम :—जहाँ तक इतिहास को ज्ञात है, उत्तर भारत के गाहरवालों का वंशक्रम निम्न प्रकार है :—

यशो विग्रह
|
महीचन्द } इनको हैसियत ज्ञात नहीं। केवल अनुमान यह है कि यह सिपहसालार थे या अधिक से अधिक सामन्त राजा।
|
महाराज चन्द्रदेव—कन्नोज के गाहरवाल वंश के संस्थापक।
|
मदनपाल
|
गोविन्दचन्द्र
|
विजयचन्द्र
|
जयचन्द्र—कन्नौज के अन्तिम गाहरवाल वंशी स्वतंत्र शासक।
|
हरिश्चन्द्र—कन्नौज के अन्तिम सामन्त शासक, इनके बाद कन्नौज राज्य मुस्लिम शासन में विलय हो गया।

(ख) कन्नौज के गाहरवाल राजवंश को तालिका—कन्नौज के गाहरवाल वंशीय प्रथम शासक महाराज चन्द्रदेव थे। उनके पितामह यशोविग्रह और पिता महीचन्द कन्नोज अथवा अन्य किसी राज्य के शासक न थे। उनके विषय में केवल इतना ही ज्ञात है कि वे प्रतापी एवं प्रतिभाशाली पुरुष थे तथा सम्भवतः

किसी भू-भाग पर सामन्त की हैसियत वाले उच्च सिपहसालार थे। निम्न तालिका में कन्नौज के प्रथम गाहड़वाल शासक चन्द्रदेव तथा उनके बाद के शासकों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

शासक का नाम	राज्ञी का नाम	शासनकाल	उपाधियाँ
१	२	३	४
१. चन्द्रदेव, चन्द्र, अथवा चन्द्रादित्य देव	अज्ञात	१०८५ ई० से ११०० तक	परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परम माहेश्वर, कान्यकुब्जाधिपति।
२. मदनपाल, मदन-चन्द्र, अथवा मदनदेव (नं० १ के पुत्र)	१. पृथ्वी श्रीका २. राल्ह देवी या राल्हण देवी	११०० ई० से १११० तक	परम भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर।
३. गोविन्दचन्द्र अथवा गोविन्द-चन्द्रदेव नं० २ के पुत्र)	१. नयनकेलि देवी, महाराज्ञी, पट्ट महादेवी, २. गोसल्ल देवी, महाराज्ञी, पट्ट महादेवी, ३. कुमार देवी, ४. वसन्त देवी, ५. भीम देवी, ६. दाल्हण देवी,	१११० ई० से ११५६ तक	परम भट्टारक, महाराजधिराज, परमेश्वर, परम माहेश्वर, अश्वपति, गजपति, नरपति, राज्यत्रयाधिपति, विविध विद्याविचार वाचस्पति॥
४. विजयचन्द्र, विजयपाल मल्लदेव अथवा मल्लदेव (नं० ३ के पुत्र)	चन्द्रलेखा	११५६ ई० से ११७० तक	वही उपाधियाँ। (इनके दो बड़े भाई थे, युवराज आस्फोट-चन्द्र और राजपुत्र राज्यपाल किन्तु वे दोनों पहले ही स्वर्गवासी हो चुके थे।)

१	२	३	४
५. जयचन्द्र, जैतचन्द्र, जयन्तचन्द्र अथवा जयच्चन्द्र (नं० ४ के पुत्र)	शुभादेवी	११७० ई० से ११९४ तक	उपाधियाँ वही। इसके अतिरिक्त इन्हें पंग, पंगुल अथवा दल-पंगुल भी कहा जाता था। एक दान पत्र में विजयी असुरेश भी कहा गया है।
६. हरिश्चन्द्र (नं० ५) के पुत्र	अज्ञात	११९४ ई० से ११९७ तक (अथवा १२२६ तक, यवनों के सामन्त के रूप में)	इन्होंने यवनों के आधिपत्य में राज्य किया, फिर इनके नाम के साथ पूर्ववत उपाधियाँ ही थीं।
			इनके बाद कन्नौज राज्य सीधे यवनों के अधीन चला गया और उन्हीं के शासन में विलीन हो गया। इस प्रकार कन्नौज (कान्यकुब्ज) का प्राचीन राज्य तथा प्रदेश सदा के लिए समाप्त हो गया।

ऊपर-लिखित वंशावली जयचन्द्र के फैजाबाद ताम्र दान पत्र[1] (वि० सं० १२४३-११८६ ई०) पर आधारित है। उस दानपत्र में लिखा है कि सम्वत् १२४३ के आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी दिन रविवार को वाराणसी में

१. Ind. Ant., XV, pp. 10-13.

गंगा-स्नान कर महाराज जयचन्द्र ने कमौली गाँव भारद्वाज गोत्रीय राउत श्री ओढ़ले को दान में दिया। उसी में यशोविग्रह, महीचन्द तथा चन्द्रदेव से लेकर जयचन्द्र तक के नाम क्रमशः दिये हुए हैं। नामों के अतिरिक्त तालिका में उल्लिखित बातें अभिलेखों आदि से ली गयी हैं।

उपर-लिखित तालिका में चन्द्रदेव के पितामह (यशोविग्रह) और पिता (महीचन्द्र) का नाम नहीं दिया गया है क्योंकि वे कन्नौज गाहरवाल राजवंश के सदस्य न थे, वह राजवंश महाराज चन्द्रदेव से ही प्रारम्भ होता है।

(ग) भविष्य पुराण के अनुसार गाहरवाल राजवंशीय वंशावली—गाहरवाल शासकों का नाम भविष्य पुराण में भी आया है। उसके आधार पर इनकी वंशावली निम्न प्रकार है—

राष्ट्रपाल—महोबा (जि० हमीरपुर) का शासक।

विजय या विजयशक्ति

प्रजम या जयशक्ति } गंगा-मंडल का शासक; राजधानी कान्यकुब्ज नगर।

वेणु (महोपाल)=वीरवती

यशोविग्रह

महीचन्द्र

चन्द्रदेव

मन्दपाल (मदनपाल)

कुम्भपाल (गोविन्दचन्द्र)

देवपाल (विजयचन्द्र)

जयचन्द्र

भविष्य पुराण के अनुसार राष्ट्रपाल ने महावतीपुरी (महोबा, जिला हमीरपुर) बसाई। उसके दो पुत्र थे जिनमें विजय बड़ा था, प्रजय छोटा। प्रजय ने गंगातट पर जाकर तपस्या द्वारा शारदा देवी की उपासना की और बरदान के रूप में एक नया नगर पाया। यह नगर कन्नौज था जिसमें उसने अपना राज्य

स्थापित किया। उसके बाद उसका पुत्र वेणु (महीपाल) राजा हुआ जिसने यशोविग्रह को उत्पन्न किया। उसके बाद उक्त वंशावली में उल्लिखित अन्य राजा हुए। यशोविग्रह सहित आगे के सब राजाओं की इतिहास में मान्यता है।

(घ) **कन्नौज के गाहरवाल शासकों की संख्या**:—उपर-लिखित तालिका के अनुसार गाहरवाल शासकों की संख्या ६ है। यदि जयचन्द्र को ही अन्तिम (स्वतंत्र शासक) माना जाय तो संख्या ५ होती है। यदि उसके पुत्र हरिश्चन्द्र को, जो केवल सामन्त राजा था, अन्तिम शासक कहा जाय तो संख्या ६ होती है।

महाराज जयचन्द्र सुल्तान मोहम्मद गोरी से युद्ध करते हुए सन् ११९४ में वीरगति को प्राप्त हुए। फलतः कन्नौज का राज्य सुल्तान के अधीन हो गया। किन्तु कतिपय कारणों से मोहम्मद गोरी ने भारत में अपने प्रतिनिधि कुतुबुद्दीन को कन्नौज का इलाका शासन हेतु नहीं दिया और न ही किसी अन्य यवन सरदार को। सुल्तान ने जयचन्द्र के पुत्र युवराज हरिश्चन्द्र को ही अपनी संरक्षता में राज्य करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार यद्यपि हरिश्चन्द्र कन्नौज के राजा (अथवा महाराजा) कहलाते थे फिर भी वे स्वतंत्र शासक न थे। यों कहिए कि असली सत्ता सुल्तान के हाथ में थी और हरिश्चन्द्र उनके प्रतिनिधि। इस राजनैतिक दृष्टि से महाराज जयचन्द्र को ही कन्नौज राज्य का अन्तिम स्वतन्त्र शासक कहा जा सकता है। तथापि इतिहासकारों ने (जैसे डॉ० त्रिपाठी ने[1]) हरिश्चन्द्र को ही कन्नौज का अन्तिम शासक माना है चाहे वह मोहम्मद गोरी के अधीन ही क्यों न रहा हो। हरिश्चन्द्र के बाद ही कुतुबुद्दीन ने कन्नौज को अपने साम्राज्य में मिला लिया और वहाँ अपना मुस्लिम गवर्नर तैनात किया।

(ङ) **गाहरवार शब्द की उत्पत्ति**:—इस विषय पर विभिन्न मत हैं। लाल-कृत छत्र प्रकाश के अनुसार गाहरवार शब्द की उत्पत्ति काशी के शासक गिहरदेव से होती है। इन्हीं के वंशज गहिरवार अथवा गहरवार के नाम से विख्यात हुए। गहिरदेव के पिता नृपमनि (अथवा नृपमणि) थे जो काशी के शासक थे और काशिराज अथवा काशीश्वर कहलाते थे। यही उपाधि इनके उत्तराधिकारियों की रही। इस सम्बन्ध में लाल कवि के पद निम्न प्रकार हैं :—

> कासिराज नृप मनि छवि छाए कासी बैठि सुजस बगराए।
> तिनके कुल जेते नृप आए काशीश्वर ते सबै कहाए।

---

१. History of Kanauj pp. 333 et seq.

गहिरदेव नन्दन तिन पाए भुव पर प्रगट सुजस बगराए।
तिनके वंस भए नृप जेते गहिरवार कहियत सब तेते।
गहिरदेव के पुत्र बखानों विमलचन्द जग जाहिर जानों।
राजा राहुचन्द तिन जाए जिन दौरन दिगपाल हलाए।
गोपचन्द जिनके सुत ऐसे करन दधीच धरम धुर जैसे।
तिनके गोविन्दचन्द गरूरे दान जूझ बलि विक्रम पूरे।
टिहनपाल तिनके भए परम धरम धुर धीर।
विन्ध्यराज तिन उर धरे जो गुन में गम्भीर ॥[1]

इस उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा इस प्रकार है :—राजा देवदास काशी के शासक थे और काशिराज कहलाते थे। यह देवदास पौराणिक नृप ययाति के सबसे छोटे पुत्र (तथा उत्तराधिकारी) की शाख में थे। देवदास बड़े पुण्यात्मा थे किन्तु शनिदेव ने उनको नष्ट करना चाहा फिर भी वे धर्मपथ से न डिगे। इसी कारण वे ग्रहवर अथवा गहवर कहलाए। उन्हीं के वंशज गहरवार [या गाहरवाल] के नाम से कहे जाने लगे।

नोट :—जब वृद्धावस्था प्राप्त होने पर भी राजा ययाति की कामवासना तृप्त न हुयी तब उन्होंने अपने पाँच पुत्रों से एक के बाद दूसरे से अपने बुढ़ापे के बदले में उसकी यौवनता माँगी किन्तु सबसे छोटे राजकुमार पुरु को छोड़कर किसी ने भी उनकी याचना स्वीकार न की। अतः ययाति ने पुरु से उसका यौवनत्व ले लिया और दीर्घकाल बाद उसका यौवनत्व उसे लौटा कर और उसी के हक में राज्य त्याग कर वन को चले गए। यह कथा भागवत में आई है, स्कन्ध ९, अध्याय १८।

दूसरा विकल्प यह है कि यदि गहर को गहवर का अपभ्रंश माना जाए तो पुराणों के आधार पर गहवर अथवा गिरि-गहवर वह जाति मिलती है जो जंगल और पहाड़ों पर रहती थी। उन्हें गहवर-वासी कहते थे जिससे गाहरवाल शब्द की उत्पत्ति सम्भव जान पड़ती है।

इसके अतिरिक्त कुछ लेखक गहड़ का अर्थ बलवान करते हैं और कहते हैं कि उसी शब्द से गहर शब्द अपभ्रन्श के रूप में प्रयुक्त होने लगा और गाहरवाल लोगों का प्रादुर्भाव हुआ। यह लोग बलवान (गहड़) इसलिए कहलाए कि इन्होंने उस समय के सबसे उत्कृष्ट भू-भाग (कान्यकुब्ज) को विजित किया था।[2]

---

१. छत्रप्रकाश, ६०४।

२. विशेश्वर नाथ रेउ कृत भारत का इतिहास (हिन्दी में) जिल्द ३ पृ० ४६२।

इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वान बताते हैं कि दक्षिण भारत में गहड़ नामक एक प्रदेश था और वहाँ के रहने वालों को गाहड़वाल (या गाहरवाल) कहा जाता था।[1] कालान्तर में इन लोगों में से बहुत से लोग उत्तर भारत में आकर बस गए और शनैः शनैः अपनी अमलदारी कायम की और अन्ततः कान्यकुब्ज राज्य पर अधिकार कर लिया।

क्या गाहरवाल लोग राष्ट्रकूट थे ?—कुछ इतिहासकारों का मत है कि गाहरवाल लोग प्रख्यात राष्ट्रकूटों (या राठौरों) की एक शाखा हैं। इसके समर्थन में निम्न तर्क दिये जाते हैं :—

(क) जयचन्द्र की पराजय के बाद उसके परिवार के कुछ लोग जाकर मारवाड़ में बस गए और वे अब भी अपने को राठौर (राष्ट्रकूट) कहते हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि जयचन्द्र भी राष्ट्रकूट (राठौर) थे।

(ख) गाहरवाल राजपूत नहीं माने जाते थे क्योंकि चन्दबरदाई के पृथ्वी राज रासो में ३६ राजपूत वंशों में गाहरवाल का नाम नहीं है। अतः यह राठौर राष्ट्रकूट ही हो सकते हैं।

(ग) यह आम विश्वास है कि महाराज जयचन्द्र राठौर कुल के थे।

(घ) ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि गाहरवालों के उत्कर्ष के पहले से ही राष्ट्रकूट कान्यकुब्ज भूभाग में बस चुके थे क्योंकि त्रिलोचनपाल के सूरत अभिलेख (११५१ ई०) में कान्यकुब्ज के राष्ट्रकूटों की एक राजकुमारी के चालुक्य राजा से ब्याह होने की बात आई है।[2]

(ङ) भविष्य पुराण में भी गाहरवालों को राष्ट्रकूट वंशी बताया गया है यथा—राष्ट्रपालान्वये जाता राष्ट्रपाला नृपाः स्मताः।[3] [अर्थात् राष्ट्रपाल (यानी राजा) के वंश में उत्पन्न राजा ही राष्ट्रपाल कहलाए]। इसके अतिरिक्त उसी पुराण में विजयचन्द्र (या विजयपाल) को देवपाल कहा गया है और यह कि देवपाल राष्ट्रपाल वंशीय (यानी राष्ट्रकूट) था, यथा, देवपालय शुद्धाय राष्ट्र-पालान्-वाय च।[4]

उक्त तर्कों में भले ही कुछ बल हो फिर भी इतिहास इन गाहरवालों को राष्ट्रकूट (या राठौर) नहीं मानता। स्वयं गाहरवाल शासकों ने अपने किसी भी

---

१. C. V. Vaid, History of Mediaeval Hindu India, Vol, III, p. 217.

२. Ind. Ant. XII, pp. 201, 203, verse 6.

३. भविष्य पुराण, ४।३।७६।

४. वही, ४।५।३।

अभिलेख में अपने को राष्ट्रकूट या राठौर नहीं कहा है। इसके विपरीत महाराज मदनपाल ने अपने निघन्टु में स्पष्ट शब्दों में अपने को गाहरवार लिखा है। इन तथ्यों से निःसन्देह प्रमाणित होता है कि यह वंश राष्ट्रकूट (राठौर) नहीं था। डॉ० त्रिपाठी का भी यही मत है।[1] यह किम्वदन्ती कि यह राठौर घराना था किसी भ्रम पर अवलम्बित हैं। इस भ्रम का एक कारण चन्द बरदाई का पृथ्वीराज रासो हो सकता है।

२. गाहरवालों का पूर्व स्थान, पूर्वज, आदि

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ की तालिका से ज्ञात होगा कन्नौज राज्य के प्रथम गाहरवाल शासक महाराज चन्द्रदेव हुये। इनके राज्यकाल का जिक्र करने के पहले इनके पूर्वजों से सम्बन्धित जानकारी दे देना अर्थसंगत होगा।

प्रतिहार वंश का डामाडोल त्रिलोचनपाल के समय (१०१९-१०३५ ई०) से ही होना आरम्भ हो गया था। ऐसी परिस्थिति में अदृष्ट समुदाय-वान कुल अपनी रक्षा के लिए कटिबद्ध होते हैं। अव्यवस्थित राज्य की जनता नए कुल की शरण ले स्वामिवत उनका आदर करती हैं। इस प्रकार एक नई शक्ति का विकास होता है जो दो-चार महत्वपूर्ण घटनाओं में सफलीभूत हो प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है। फलस्वरूप जिस स्थल में ऐसी शक्ति दृष्टिगोचर होती है वहाँ की जनता उसकी अनुयायी होकर उसकी प्रजा बन जाती है। शनैः शनैः उस नई शक्ति का नेतृत्व राजत्व में परिणित हो जाता है।

गाहरवाल वंश का इतिहास कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। यदि यह लोग किसी राजघराने के विजयी नरेश होते तो प्राप्त सामग्री में उनका इतिहास कहीं न कहीं अवश्य उल्लिखित होता—कुछ न कुछ झलक देता ही। अतएव इस वंश के अभ्युदय में उपरियुक्त सिद्धान्त ही चरितार्थ होता है। अभी तक प्राप्त जानकारी से भी यही मत पुष्ट होता है। साथ ही यह भी सत्य है कि यह कोई गया-बीता कुल न था। संगठन, परिस्थितियों का उपयोग, धर्मरक्षा, कुलरक्षा, उपनिवेष-वृद्धि, आदि में जो साहस इन गाहरवालों ने दिखलाया वह राष्ट्रीयता से अनभिज्ञ पुरुषों का कदापि नहीं कहा जा सकता।

प्रतिहार वंश का अन्तिम शासक यशपाल था। राष्ट्रकूटों का शासन यशपाल की समाप्ति के बाद प्रारम्भ हुआ और १०८५ तक रहा। इनका चौथा संचालक गोपाल राष्ट्रकूट था जिसकी सत्ता सन् १०६० के आस-पास थी। इस वंश के अन्तिम दो राजा लखनपाल तथा धारादेव (महासामन्त) थे। सन् १०८५ में गाहरवाल वंश का शासन प्रारम्भ हुआ जिसके सर्वप्रथम शासक चन्द्रदेव होते

१. History of Kanauj, pp. 299-300.

हैं। इनका राज्यकाल सन् १०८५ से ११०० तक रहा। उनके बाद उनकी पाँच पीढ़ियों ने कन्नौज राज्य का उपभोग किया। अन्ततोगत्वा सन् ११९४ में कन्नौज प्रदेश सुल्तान मोहम्मद गोरी के आधिपत्य में चला गया और सन् १२२६ के लगभग कन्नौज राज्य का सर्वदा के लिए अन्त हुआ और कन्नौज (कान्यकुब्ज) प्रदेश का इलाका दिल्ली स्थित यवन राज्य में विलय हो गया।

इतिहासकारों की खोज से यह प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में इस वंश का आगमन दक्षिण के राष्ट्रकूट देश से हुआ। वह देश शताब्दियों तक सुदृढ़ रूप से मिलता है। बदायूं के शिला लेख[1] से प्रतीत होता है कि उस समय उत्तर भारत में नितान्त अराजकता थी जिसके फलस्वरूप राष्ट्रकूट देश वालों ने वहाँ आकर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

प्रतिहार वंश के अन्तिम काल (१०१९-१०३५ ई०) में उत्तर से तुरकों के कतिपय आक्रमण हुए। यह इतने भयंकर थे कि प्रतिहार वंश के निर्मूल हो जाने की आशंका भी पैदा हो गयी थो। ऐसी परिस्थिति में सम्भव है कि प्रतिहार शासकों ने हिन्दू-पद की रक्षा के लिए राज्य संचालन तथा सैन्य-दल को सुदृढ़ करने के निमित्त राष्ट्रकूट के सरदारों को आमंत्रित किया हो। उनके आने पर उन्हें ठौर-ठौर जागीरें दे बसा लिया हो अथवा उच्च पदों पर नियुक्त किया हो।

अन्ततोगत्वा इन गाहरवालों में चन्द्रदेव नामक एक नक्षत्री पुरुष ऐसा प्रभावशाली हुआ कि सबका सिरताज हुआ और पांचाल देश (कान्यकुब्ज के अन्तर्गत) में अपना राज्य स्थापित किया। इन चन्द्रदेव के ऊपर की दो पीढ़ियों (यशोविग्रह और महीचन्द) का कुछ वृत्तान्त मिलता है किन्तु उसके ऊपर के पूर्वजों का कोई पता नहीं मिलता। सम्भवतः उनके पूर्व कोई महान उल्लेखनीय पुरुष न हुआ होगा।

वर्तमान उत्तर प्रदेश के गाहरवालों के इतिहास से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका निवासस्थान कंतित जिला मिर्जापुर था। यहाँ के एक नरपति नामक व्यक्ति के दो पुत्र मान और महेश थे।[2] यह दोनों भाई साहसी और उपायी थे। कहा जाता है कि मान ने परगना अमृतपुर में अपना ठिकाना रखा और महेश भोजपुर चला गया। परगना अमृतपुर नदियों के बीच में एक ऐसा स्थान था जो शत्रुओं को दुर्गम (इसलिए सुरक्षित) और साथ ही उपजाऊ भी था।

---

१. प्रख्यातारिवल राष्ट्रकूट कुल जक्ष्मा पालदोः पालिता।
पांचालाभिध देश भूषणकरी वोदामप्रूता पुरी।

२. N.W.P. Gazetteer (1884), p. 230.

अतएव वंश वृद्धि के लिए सुगम था। सुतरां मान के अधिकार में ४२ गांव आ गए जिससे इस इलाके का नाम ही बियालसी (४२ सी) पड़ा। उधर भोजपुर में महेश के अधिकार में ३२ गाँव थे और उसने अपना निवासस्थान रामपुर माँझगाँव में रखा।

इस प्रकार इस इलाके में भी तमाम गहरवार वंश फैल गया। फलतः इस इलाके का नामकरण भी गहरवारी हुआ। इन गहरवारियों के फैलाव का अन्दाजा इस तथ्य से किया जा सकता है कि स्वतन्त्रता (१९४७) के पूर्व परगना अमृतपुर में ८९३२ एकड़ तथा भोजपुर में ८४३९ एकड़ भूमि इन गहरवारियों के अधिकार में रही। इससें समझ पड़ता है कि इस वंश की खूब वृद्धि हुयी और यह समुदाय एक सेना से कम न रहा होगा। अन्य राष्ट्रकूट घराने जो इनके सहयोगी रहे होंगे वे इनकी समुदाय शक्ति के सामने क्षीण प्रतीत होने लगे होंगे। यह जगह कन्नौज से ३०-३२ मील की दूरी पर है। सम्भव है कि चन्द्रदेव के पिता महीचन्द्र अथवा प्रपिता यशोविग्रह वहाँ के शासन विभाग में किसी ऊँचे पद पर नियुक्त रहे हों क्योंकि उनके नाम उपरयुक्त 'मान' के नाम के साथ उल्लिखित मिलते हैं।

कन्नौज पर गाहरवाल वंश का आधिपत्य स्थापित होने के पूर्व की बातों पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। सूक्ष्म में स्थिति यह थी गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य के अवसान के बाद कन्नौज क्षेत्र पर विभिन्न प्रदेशों के शासकों का क्रमशः आधिपत्य होता रहा। साथ ही कन्नौज पर तुरुष्कों के अभियान भी, जो महमूद गजनवी के समय से प्रारम्भ हुए थे, कायम रहे। इसी समय सन् १०३३ में पंजाब के मुस्लिम शासक नियल्तगीन ने काशी को विध्वंस किया। इन सब बातों से उत्तर भारत आक्रान्त हो उठा और उसके दुख का अन्त करने के लिए गाहरवाल कुल के चन्द्रदेव नामक वीर शिरोमणि का उदय हुआ। उसने अपने पराक्रम ने प्रजा के उपद्रव को शान्त किया और गाधिपुर (कन्नौज) राज्य को प्राप्त किया। इस प्रकार चन्द्रदेव ने गाहरवाल वंश की नींव डाली।

चन्द्रदेव के पूर्वजों में केवल दो ही के नाम इतिहास को ज्ञात हैं यानी यशोविग्रह और महीचन्द। यशोविग्रह ही गाहरवाल कुल का संस्थापक माना गया है (कन्नौज के राजवंश का नहीं, उसका संस्थापक चन्द्रदेव था।) यथा—

यशो विग्रह
|
महीचन्द
परमेश्वर परममाहेश्वर → | कन्नौज प्रदेश का प्रथम
परम भट्टारक → चन्द्रदेव ←गाहरवाल शासक
महाराजाधिराज →

यशोविग्रह---अभिलेखों में इन्हें सूर्य के समान प्रतापी होना तथा उदार शासक कहा गया है, यथा---आसीद शीतद्युति-वंश जातक्ष्मा पाल-मलासु दिवं गतासु। साक्षाद विवस्वानिव भूरिधाम्ना नाम्ना यशोविग्रह इत्युदारः।[1]

भावार्थ, जब पृथ्वी के रक्षक सूर्यवंशी राजा स्वर्ग को चले गए तब सूर्य के समान प्रतापी यशोविग्रह नामक उदार शासक हुआ।

इधर प्रतिहार राजवंश की शिथिलता के कारण भारत पर यवनों के आक्रमण हो रहे थे। गाहरवाल वंश का जत्था इस समय काफी बड़ा और समीप था जिनमें प्रचुर मात्रा में साहस और शौर्य्य था। आगे चलकर भी यह देखने में आता है कि इस वंश के राजाओं ने मुसलमान आक्रमणकारियों को दृढ़तापूर्वक रोका और परास्त किया। इन सब बातों से अनुमान होता है कि किसी सैन्य विभाग में सेनानी यशोविग्रह का आधिपत्य रहा होगा। यह इतने उदार चरित्र थे कि इनकी कीर्ति कवियों के मुख के योग्य थी और इनका पद राजाओं के पद का तुलनात्मक था। कवियों ने इनके शत्रुदल पर विजय पाने का वर्णन किया है, पर कौन शत्रु और किस युद्ध में ? यदि मालूम होता तो इतिहास का रूप बनता।

भविष्य पुराण में यशोविग्रह के बारे में कहा है कि---

बभूव बलवान्धर्मी च आर्यदेश पतिः स्वयम्।[2]

अर्थात् यह बलवान और धार्मिक आर्य देश (आर्यावर्त) का राजा था। उसी में आगे यह भी कहा गया है कि उसने २० वर्ष तक राज्य किया (विंशद वर्ष कृतं राज्य तेन राज्ञा महीतले)।[3] जैसे ऊपर कहा गया है अभिलेखों में भी उसे सूर्य के समान तेजस्वी बताया गया है।[4] अतः भविष्य पुराण में कहे गये चारित्रिक गुणों का अनुमोदन अभिलेखों से होता है।

यशोविग्रह की राजत्व-सूचक कोई उपाधि नहीं मिलती जिससे इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि या तो वह उच्च सेनापति था या अधिक से अधिक वह सामन्त था, यद्यपि सामन्तों की भी कुछ उपाधि होती ही थी।

---

१. चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख, गोविन्दचन्द का कमौली ताम्रपत्र लेख।

२. भविष्य पुराण, ४।३।६१।

३. वही, ४।३।६२।

४. चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख; गोविन्द चन्द्र का कमौली ताम्रपत्र लेख।

महीचन्द—यशोविग्रह के बाद उनके पुत्र महीचन्द का प्रकरण आता है। इनका नाम कहीं महीयल और कहीं महीतल भी आया है।[1] इनका कोई विशेष वर्णन नहीं मिलता। फिर भी इनकी प्रतिभाशाली सन्तान कन्नौज नरेश महाराज चन्द्रदेव के चरित्र से यह अनुमान किया जा सकता है कि महीचन्द्र अपने पिता के गौरव रक्षक अवश्य थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिस उत्साह से उन्नत मार्ग में यशोविग्रह ने पदार्पण किया था उसी को उनके पुत्र महीचन्द्र ने पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में अपने पुत्र चन्द्रदेव की आत्मा में अर्पित किया।

महीचन्द के लिए भविष्य पुराण में उल्लेख है कि वह अपने पिता के समान ही गुणवान थे (पितस्तुल्य कृतं पदम्।[2] अभिलेखों में भी उसे तेजस्वी और यशस्वी कहा गया है।[3] पिता यशोविग्रह की तरह इनके नाम के साथ कोई राजत्वसूचक उपाधि नहीं मिलती।

३. चन्द्रदेव, प्रथम गाहड़वाल-वंशी शासक
(१०८५-११०० ई०)

नोट—महाराज चन्द्रदेव से सम्बन्धित निम्न अभिलेख प्राप्य हैं जिनका उल्लेख इनके प्रकरण में किया गया है—

अभिलेख का नाम	विक्रम सम्वत्	ई० सन्	सन्दर्भ
१	२	३	४
	(क) चन्द्रदेव के ताम्रपत्र लेख		
चन्द्रावती (ज० बनारस) ताम्रपत्र लेख	११४८	१०९०-९१	Ep. Ind., IX, pp. 302 et seq.
चन्द्रावती तामपत्र लेख	११५०	१०९३	Ep. Ind., XIV. pp. 193-6
चन्द्रदेव तथा मदनपाल का ताम्रपत्र लेख	११५४	१०९७	Ep. Ind., XVIII, pp. 9 et seq.

१. ठाकुर जगदीश सिंह गहलौत ने इनके अन्य उपनाम भी लिखे हैं, जैसे महीतन्न, महीपा, महीपट्ट।

२. भविष्य पुराण, ४।३।६२।

३. चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख; गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र लेख।

चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख	११५६	१०९९	Ep. Ind.. XV, pp. 197-209.

(ख) अन्य अभिलेख

युवराज गोविन्दचन्द्र का बसही (जि० इटावा) दानपत्र	११६१	११०४	Ind. Antq., XIV, pp. 101-04.
विजयचन्द्र और युवराज जयचन्द्र का ताम्रपत्र लेख	१०२५	११६८-६९	Ind. Ant. XV pp. 7-13.
जयचन्द्र का फैजाबाद का ताम्र दान पत्र	१२४३	११८६	Ind Ant. XV. pp. 10-13.

महीचन्द्र के पुत्र महाराज चन्द्रदेव ने सन् १०८५ के लगभग कन्नौज प्रदेश पर अधिकार किया। अनुमान है कि उसके पहले वे मध्यदेश के किसी भूभाग के सामन्त रूप में शासक थे अर्थात् उनकी वही स्थिति थी जो इनके पिता की थी। कन्नौज पर इनका अधिकार होने के बहुत समय पहले ही से मध्यदेश में अशान्ति चली आ रही थी—कभी किसी राजा का प्रभुत्व हो जाता था, कभी दूसरे का। परमार राजा भोज की मृत्यु (लगभग १०५५ ई०) और बाद में कलचुरि राजा कर्ण की मृत्यु (लगभग १०७२ ई०) के बाद तुरुष्कों के अभियान फिर जारी हो गये थे। पंजाब के गवर्नर महमूद ने कन्नौज और कालिन्जर का लुन्टन किया तथा उज्जैन पर भी हमला किया (लगभग १८८२-८४ ई०)। उसके लौट जाने के बाद उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति पूर्णतयः अस्थिर हो गयी तथा देश में त्राहि-त्राहि का वातावरण उत्पन्न हो गया। इसी स्थिति में चन्द्रदेव ने कन्नौज की राजसत्ता हस्तगत करके प्रजा के दुखों का अन्त किया, यथा—

ये जो दारतरः प्रताप-शमिता शेष-प्रजोपद्रवः।[1]

अर्थात् उसने अपने प्रताप-बल से प्रजा के दुख का निवारण किया।

इतिहास को यह सही तौरपर ज्ञात नहीं है किस राजा को पदच्युत करके वह स्वयं इस विख्यात भूभाग का गद्दीधर हुआ। चन्द्र देव तथा मदनपाल के ताम्रपत्र लेख (सन् १०९७) में बताया गया है कि चन्द्रदेव ने अपनी ही भुजाओं के बल से कान्यकुब्ज देश पर आधिपत्य उपार्जित किया था, यथा,—

१. चन्द्रदेव तथा मदनपाल का ताम्रपत्र लेख (१०९७ ई०) पृ० १६, १८।

निज भुजोपार्जित श्री कान्यकुब्जाधिराजाधिपत्य श्री चन्द्रदेवो विजयी ।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि किसी युद्ध में विजय के फलस्वरूप ही चन्द्रदेव कान्यकुब्ज के स्वामी हुए किन्तु लेख में कोई संकेत नहीं है कि किससे युद्ध हुआ और कहाँ ? इस प्रश्न पर केवल कुछ सम्भावनाएँ ही व्यक्त की जा सकती हैं जो निम्न प्रकार हैं—

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रतिहार वंश के शासन का ठीक-ठीक पता नहीं चलता । साथ ही उसी शताब्दी की समाप्ति के पूर्व ही कन्नौज राज्य पर गाहरवाल वंश का शासन प्रारम्भ हो जाता है । लगभग ६० वर्षों के समय में यहाँ किसका राज्य रहा होगा इस प्रश्न के उत्तर में प्राप्य सामग्री राठौरों (राष्ट्रकूटों) की ओर संकेत करती है । गाधिपुराधिप[2] गोपाल का नाम मिलता है और साथ ही क्षितिपति मदन का उल्लेख है । इस मदन का मंत्री विद्याधर था जिसने एक बुद्ध विहार की स्थापना की थी । उसके पिता जनक थे जो गोपाल के राजमंत्री थे । मदन से सम्बन्धित लेख सन् ११९८ का है ।

इसके अतिरिक्त महेश्वर-कृत विश्व प्रकाश में साहसांक का नाम भी मिलता है जिसे ''गाधिपुराधिप'' कहा गया है । इस ग्रन्थ की रचना सन् ११११ में हुयी थी । महेश्वर के पितामह श्रीकृष्ण थे जो साहसांक के राजवैद्य थे । उस समय (११११ ई० के आसपास) महेश्वर और मदन (राष्ट्रकूट) समकालीन थे जिससे अनुमान होता है कि गोपाल से पहले साहसांक कन्नौज का राजा था । यह साहसांक सेनवंशीय विजय के प्रताप के सामने मन्दप्रभ था—'नव्यांज विक्रम तिरस्कृत साहसांकः ।'

बदायूँ का शिलालेख जो लखनपाल राष्ट्रकूट का है (११९८ ई०) और जो गोपाल से सम्बन्धित है यह सिद्ध करता कि गोपाल का आत्मज मदन राष्ट्र-कूट (राठौर) था । मदन के समय में कान्यकुब्ज क्षेत्र पर चन्द्रदेव का आधिपत्य हो चुका था, जो कन्नौज के गाहरवाल वंशी प्रथम शासक थे । मदन के नाम के साथ गाधिपुराधिप की उपाधि नहीं है—उसे केवल क्षितिपति कहा गया है । इससे भासित होता है कि सम्भवतः कन्नौज का आधिपत्य गोपाल राष्ट्रकूट के समय ही में गाहरवालों के हाथ पहुँच चुका था । किन्तु उससे पहले गोपाल के पूर्वजों (राष्ट्रकूटों) ही का अधिकार अनुमानतः सिद्ध बैठता है । यह जनश्रुति

---

१. चन्द्रदेव तथा मदनपाल का ताम्रपत्र लेख (१०९७ ई०) पृ० १६, १८ ।

२. जैसा पहले बताया जा चुका है प्राचीन काल में कन्नौज का नाम गाधिपुरी अथवा गाधिपुर था ।

कि कन्नौज पहले राठौरों (राष्ट्रकूटों) की गद्दी थी उक्त कथन का अनुमोदन करती है।

क्या गोपाल (राष्ट्रकूट) और चन्द्रदेव (गाहरवाल) में परस्पर युद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप राजसत्ता का परिवर्तन हुआ और चन्द्रदेव नए शासक हुए ? इतिहास इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता। समस्त परिस्थितियों को देखते हुए ऐसा युद्ध सम्भव नहीं जान पड़ता। इसके विपरीत यह अनुमान किया जा सकता है कि यह परिवर्तन पारस्परिक सम्बन्ध (जो कुछ भी राठौरों और गाहरवालों में रहे हों) तथा बल-पौरुष और समय की परिस्थिति के कारण एक समझौते के रूप में हुआ। यह जान-बूझ कर समयानुकूल और नीति-संगत समझा गया और दोनों पक्षों में कोई बैर-भाव नहीं हुआ। इस प्रकार चन्द्रदेव कन्नौज के प्रथम गाहरवाल वंशीय शासक हुए। निज-भुज-उपार्जित पद से उत्पन्न सन्देह का निवारण इस प्रकार किया जा सकता है कि इनकी शक्ति-शौर्य के बल पर ही कन्नौज राज्य इन्हें सौंपा गया।

डॉ० त्रिपाठी का मत है कि यमुना तट के आस-पास में हुए संग्राम के फलस्वरूप चन्द्रदेव ने कान्यकुब्ज प्रदेश हस्तगत किया।[1] उन्होंने इस मत का आधार चन्द्रदेव के चन्द्रावती लेख (१०९०-९१ ई०) के निम्न श्लोक को बताया है जिसमें यमुना-तट पर भीषण युद्ध करके चन्द्रदेव ने विजय पाई :

यद सहन नृपानाम कामिनी वास्य-वाहे।
शिततर मिद्-मासीद यामुनां नूनमाम्भः ॥[2]

अर्थात्, उन राजाओं की पत्नियों की अश्रुधारा से, जो उनके (चन्द्रदेव के) अभियान को रोक न सके थे, यमुना का जल और भी (पहले से अधिक) काला हो गया।

यह ज्ञात नहीं है कि वे नृपगण कौन थे जो यमुना के तट के पास पराजित हुए तथा जिनकी पत्नियों की यह अश्रुधारा थी। फिर भी डॉ० त्रिपाठी का कहना है कि इस युद्ध के परिणाम स्वरूप चन्द्रदेव ने कान्यकुब्ज पर अधिकार पाया।

एक अन्य सम्भावना यह है कि चन्द्रदेव के समय में दो प्राचीन क्षत्रिवंश जीवित थे, यानी मालवा में और हैहय चेदि वंश में। यद्यपि इन राज परिवारों की प्रभा अवसान को प्राप्त हो रही थी फिर भी अस्त होता हुआ सूर्य जब तक अन्धकार में विलीन नहीं हो जाता तब तक द्वैज का चन्द्र प्रभावित नहीं हो पाता। इसी सिद्धान्त के अनुसार यशोविग्रह कुल की चन्द्रिका छिटकने में विलम्ब

---

१. History of Kanauj p. 301.

२. श्लोक १४।

हुआ। चन्द्रदेव के समय में उत्तर भारत के राजवंश तिमिराच्छन्न हो रहे थे। अथवा यों कहिए कि प्रतिहार वंश का अस्त और गाहरवाल वंश का उदय हो रहा था। मध्य वर्तीय संध्या ऐतिहासिक गणना से अल्पजीवी थी।

कवियों ने बड़ी ओजस्वी भाषा में चन्द्रदेव के चरित्र का कीर्तन किया है। उदाहरणार्थ :—

याते श्री भोज भूपे विवुध वरवधू नेत्र सीमातिथित्वं।
श्री कर्णे कीर्ति शेषं गति वति च नृपे क्ष्मात्यये जाय माने॥
भर्तार याम धरित्री त्रिदिव विभुनिभं प्रीति योगा-दुयेता।
त्राता विश्वास पूर्वं सम्भव-दिह सक्ष्मा पतिश्चन्द्रदेवः॥[1]

भावार्थ—जब राजा भोज रमणियों के प्रेम-पाश में फँस गए और राजा कर्ण की केवल ख्याति ही बाकी रह गयी और पृथ्वी अति दुखित हुई तब चन्द्रदेव ने पृथ्वी का उद्धार किया।

इससे प्रतीत होता है कि राजा भोज और राजा कर्ण की मृत्यु के बाद महाराज चन्द्रदेव का सितारा चमका। यह भोज मालवा के राजा परमार वंशी कहे जाते हैं और कर्ण चेदि देश के राजा कलचुरि हैहय वंश के माने जाते हैं। पीड़ित पृथ्वी स्वयं चन्द्रदेव के पास शरण में आई—इस कथन से यह भाव निकलता है कि यह महाराज बड़े प्रजावत्सल थे। पास-पड़ोस के रजवाड़ों में इनकी सम्पन्न प्रजा की नाम्बरी थी। इनका शील, व्यवहार और धर्मपरायणता ही इनको इस उच्च आसन पर ले गयी, ऐसा भास होता है। महाराजाधिराज पद पर अभिषिक्त होने पर किसी ने इनका विरोध नहीं किया और न आपत्ति ही। मानो उनके सद्व्यवहारों ने सभी को एवमस्तु कहने को बाध्य कर दिया। गंगा-यमुना के द्वाब के राठौरी सरदारों से भी इनका प्रीतिभाव रहा होगा। वस्तुतः वे इनके दाहिने हाथ रहे होंगे क्योंकि गाहरवाल वंश से और अन्य राष्ट्र वालों से विवाहादि का चलन पाया जाता है। पुरानी राष्ट्रीयता के नाते सम्भवतः यह सब परस्पर हिले-मिले थे।

चन्द्रदेव का काल निर्णय—गाहरवाल वंश का शासन-काल ११वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के पूर्व नहीं हो सकता। प्रतिहार वंश का अन्तिम राजा यशपाल था—सन् १०३५ ई० तक उसका प्रमाण है। इधर चन्द्रदेव का १०९१ से १०९९ तक का प्रमाण मिलता है। इनके बीच १०९७ के लेख में इनके पुत्र युवराज मदनपाल का उल्लेख है और ११०४ वाले में महाराज मदनपाल (अर्थात् उनके

---

१. इं० ऐ०, भाग १४, पृ० १०३, पंक्ति ३ (युवराज गोविन्दचन्द्र का बसही ताम्र दान पत्र)।

राज्याभिषेक हो जाने के बाद) का कथन है और साथ ही उनके पुत्र गोविन्दचन्द्र के युवराज होने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रदेव का राज्यकाल सन् ११०० के लगभग बीत गया। कुछ इतिहासकारों ने इनका समय १०९० ई० से १११४ तक तथा १०८० ई० से ११०७ तक माना है। दोनों में मतभेद है और दोनों ही सन्देहात्मक प्रतीत होते हैं। सन् १०९१ व १०९३ वाले लेखों में युवराज मदनपाल का उल्लेख नहीं है। इससे अनुमान होता है कि १०९४ से पहिले चन्द्रदेव सम्राट-पद प्राप्त न कर पाए हों। सम्भव है सम्राट पद पर महाराज चन्द्रदेव का अभिषेक १०९४ के निकट हुआ हो और उसके पूर्व का समय सम्राट पद सम्बन्धित योजना में व्यतीत हुआ हो। अतएव ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रदेव का शासन काल लगभग १०८५ में प्रारम्भ हुआ और लगभग ११०० तक रहा।

पन्द्रह साल के लगभग शासन काल में महाराज चन्द्रदेव ने कन्नौज राज्य को पुनः विकसित किया और इस प्रकार इस पुनीत भूभाग का भाग्य फिर उदय हुआ और एक सदी से ऊपर कायम रहा यानी सन् ११९४ तक जब कि महाराज जयचन्द्र मोहम्मद गोरी से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।

चन्द्रदेव का राज्य विस्तार—स्मिथ महोदय चन्द्रदेव का राज विस्तार काशी और अयोध्या तक मानते हैं। रेऊ जी काशी, अयोध्या और इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) तक मानते है। किन्तु चन्द्रदेव की सम्राट-पद की उपाधि (महाराजाधिराज) तथा अन्य कीर्तियाँ इससे कहीं अधिक विस्तृत राज्य की सूचक हैं। मालवा और चेदि प्रदेशों पर इनका आधिपत्य इनसे सम्बन्धित लेखों से भासित होता है—

तीर्थानि काशि कुशिकोत्तर कौशलेन्द्रस्।
थानीय-कानि परिपालय-ताधि गम्यः ॥[1]

[काशि=काशी; कुशिक = कन्नौज; उत्तर कोशल = अयोध्या; इन्द्रस्थान = इन्द्रप्रस्थ अर्थात् दिल्ली। डॉ० अवस्थी ने ''कौशलेन्द्रस् थानीय-कानि'' का अर्थ कौशलेन्द्र (श्री राम का स्थान, अयोध्या) स्थानीय कानि (बहुत से स्थान) लगाया है।]

उक्त उद्धरण से द्वाब में चन्द्रदेव का अधिकार होना असंदिग्ध है। यह कथन केवल कीर्ति-प्रसंग के साथ नहीं कहा गया है। उधर द्वाब से दक्षिण चन्द्र-

---

१. द्रष्टव्य चन्द्रदेव तथा मदनपाल का ताम्रपत्र लेख (१०९७ ई०), पृ० १६, १८; विजयचन्द्र तथा युवराज जयचन्द्र का ताम्रपत्र लेख (११६८-६९ ई०), पृ० ७, ८।

देव द्वारा संग्राम में पाई गई विजय यह संकेत करती है कि द्वाब से दक्षिण ओर भी इनका इलाका था।

चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख (१०९५ ई०) से प्रकट होता है कि इनके राज्य में बावन पत्तल भी शामिल था जिसकी पहचान हरदोई जनपद के परगना बावन से की गई है। उसमें यह भी बताया गया है कि चन्द्रदेव ने इस विस्तृत भूखण्ड को अपनी उदारता (दानधर्म), शक्ति और शासन से व्यवस्थित कर अन्तर्वेदी में फैले हुए प्रजा के उपद्रवों को शान्त किया।[1]

चन्द्रावती के ताम्रपत्र लेख (१०९५ ई०) से भी अनुमान होता है कि चन्द्रदेव का राज्य तैलंग, करनाटक और उड़ीसा तक फैला हुआ था। उसमें लिखा है कि नरपति, गजपति, त्रिशंकुपति और गिरिपति इनका लोहा मानते थे। कुछ इतिहासकारों का मत है कि तैलंग और करनाटक के राजाओं की उपाधि नरपति थी तथा उड़ीसा के राजा की गजपति थी। त्रिशंकुपति और गिरिपति के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं किन्तु अनुमान है कि यह भी चन्द्रदेव के सामन्त थे।

तैलंग, कर्नाटक आदि की विजय के सम्बन्ध में निम्नांकित पद भी कहा गया है :—

तैलंग कर्नाटक अंग बंगान
कलिंग कारुपक मालवादीन्।
विजित्य सर्वान्ननुदेश मुख्यान्
व भूव राजा किल चन्द्रदेवः॥

इससे यह लक्षित होता है कि चन्द्रदेव द्वारा विजित स्थानों में मुख्य थे तैलंग, कर्नाटक, अंग, बंगाल, कलिंग, कामरूप तथा मालवा।

इनके जीवन की घटनाओं में प्रमुख स्थान उन युद्धों का है जिनमें कि इन्होंने उत्तर दिशा से भारत में आक्रमण करने वाले यवनों को पराजित किया और उनके उपद्रवों से प्रजा की रक्षा की।

विना वीरता के उस युग में कोई भी व्यक्ति उन्नति न कर सकता था। महाराज चन्द्रदेव का राज्योन्नति करना निर्विवाद है किन्तु किन-किन युद्धों में उन्होंने वीरता प्रदर्शित की इसकी ठीक-ठीक खोज अभी तक नहीं हो पाई।

संध्याकर नान्दी के रामचरित ग्रन्थ में आए हुए चन्द्र सम्बन्धित कथन को डॉ० त्रिपाठी इन्हीं चन्द्रदेव से जोड़ते हैं और बताते हैं कि पाल-वंशी बंगाल के मदनपाल और चन्द्रदेव ने मिल कर मगध के विजयसेन को उसके राज्यप्रसार के

---

१. पंक्ति ४, ७।

अभियानों को रोका था और जिसने मदनपाल पर आक्रमण किया था, मिथिला के नान्यदेव को कैद कर लिया था और जिसकी जल-सेना विजयी होकर गंगा नदी में पूरे पश्चिम तक बढ़ गयी थी।[1]

चन्द्रदेव के राज्य विस्तार की अन्य बातें—महाराज चन्द्रदेव निस्सन्देह वीर शिरोमणि और प्रबल प्रतापी शासक थे। राजधानी कन्याकुब्ज (कन्नौज) थी। बिना वीरता इतना महान राज्य स्थापित करना सम्भव न था। एक बार माडंलिक राजाओं में से किसी एक ने चन्द्रदेव के शासन की अवहेलना की और राज्यकर देना रोका तब उस राजा की माता ने निम्नांकित पद्य लिख कर अपने पुत्र को स्वाभिमान ज्वर से रोका :—

यस्मिन शासतिनो सन्ति स्वैरीस्तेयी सुराग्रही: ।
नावर्णीनान्यवर्णीवा न तथैवह्मना श्रमी ।।
कन्याकुब्जाधिपः श्रीमान् माभूत्वं कोप भाजनः ।
नेत्राम्भोभिमलि वीनां श्यामा भून्नमर्दापुरा ।।

भावार्थ, हे पुत्र वह सम्राट धर्मज्ञ है। उसके राज्य में सब अपने वर्ग के अनुसार धर्मपालन करते हैं। कोई भी अवर्णी नहीं है और अन्य वर्णी भी नहीं, या यों कहिए कि अपने वर्ण को छोड़ कोई भी पर वर्ण धर्म पर आरूढ़ नहीं होता है। उसी प्रकार कोई अनाश्रमी भी नहीं है अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रम वाले अपने-अपने आश्रम धर्म का पालन कर रहे हैं। कोई आश्रम धर्म का भी व्यत्यय नहीं करता। ऐसा सुयोग्य सम्राट अवहेलना योग्य कदापि नहीं। इसकी अवहेलना पहिले मालवाधिपति ने की थी, फल यह हुआ कि वैधव्या मालवीय स्त्रियाँ जो अपने पति पुत्रादि को जलांजली देने नर्मदा तट पर आतीं और अंजली देते समय शोकाश्रु बहातीं, उनके नेत्राश्रुओं में कज्जल होने से तथा अत्यधिक होने से नर्मदा का स्वच्छ जल श्यामवर्ण हो गया था। इस कारण इससे लड़ने का ध्यान कदापि न करो, यह परम वीर और उग्र भी है।

कन्नौज राजधानी के अन्तर्गत देश जो चन्द्रदेव को कुल परम्परा से प्राप्त थे उनपर उसका शासन पहिले ही से था। उसका राजसंचालन भी अत्युत्तम था। उसके राज्य में चोर भय न था। व्यभिचारी भी न थे, मद्यपी का नाम न था। समस्त प्रजा सुखी थी। औरस पुत्र की भाँति वह अपनी प्रजा का पालन करता था। अपराधों में दण्ड नीति भी कड़ी ही होगी तभी तो अपराध नहीं के बराबर थे। इसके शासन काल में वर्णाश्रम धर्म का भी यथार्थ रूप से पालन होता था जैसा कि उक्त शासक राजमाता ने अपने शासक पुत्र से कहा था।

---

१. History of Kanauj p. 303.

चन्द्रदेव का धर्म तथा उपाधियाँ—चन्द्रदेव वैदिक धर्म के उन्नायक थे तथा उन्होंने काशी, कुशिक (कन्नौज), अयोध्या आदि तीर्थ स्थानों की रक्षा की (तीर्थानि काशि कुशिकोत्तर-कौशलेन्द्रस्)। वे परम माहेश्वर थे यानी उनके इष्टदेव भगवान शंकर थे। साथ ही वे विष्णु के भी अनन्य उपासक थे। काशी का आदि केशव मंदिर इन्हीं का निर्माण कराया हुआ है। इनकी धर्म परायणता इससे भी सूचित होती है कि इन्होंने काशी को भी अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। स्कन्द पुराण में इन्हें काशिराज चन्द्रदेव कहा गया है—ऐलस्य चन्द्रदेवस्य काशिराजस्य।[1]

इनकी उपाधियाँ सम्राट सूचक थीं, यानी परम भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परम माहेश्वर।[2]

महेश्वर के विश्वप्रकाश[3] (११११ ई०) में आया है कि गाधिपुर में साहसांक नामक एक राजा था जिसके दरबार में श्रीकृष्ण राजवैद्य थे जो महेश्वर के पितामह थे। डॉ० त्रिपाठी का मत है कि यह साहसांक चन्द्रदेव ही था जिसने साहसांक (साहस + अंक) की उपाधि भी धारण की थी। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने चन्ददेव के उस कथन को बताया है जिसमें कहा गया है कि चन्द्रदेव ने गाधिपुर (कान्यकुब्ज) राज्य को अपनी भुजाओं से ही प्राप्त किया था—"श्रीमद् गाधिपुराधिराज्यम् दोर्विक्रमेणार्जितम्।"

भविष्य पुराण में चन्द्रद्देव के लिए केवल इतना ही आया है कि उन्होंने अपने पिता महीचन्द के समान ही राज्य किया ("चन्द्रदेवस्तस्य सुतोराज्यं तेनु पितुः समम्")।[4]

चन्द्रदेव का चरित्र—वीर शिरोमणि होते हुए भी महाराज बड़े भगवत भक्त थे। इन्होंने कन्नौज से काशी तक एक बार फिर सार्वभौम सत्ता स्थापित की तथा आर्यावर्त में फिर से आर्य संस्कृति की प्रतिष्ठा की। देश को तुरुष्क आक्रमणों से भी इन्होंने बचाया था जैसा कि युवराज गोविन्द चन्द्र के बसही ताम्रपत्र में उत्कीर्ण है।

इनके कोश में विपुल धन था जिसका प्रचुर भाग दान में व्यय होता था। एक दान में तो इन्होंने ५०० ब्राह्मणों को दान दिया (चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख,

---

१. Dr. Avasthi, Studies in Skandapurana, Part I, p. 196.

२. चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख।

३. चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला, बम्बई, १९११, श्लोक ५-६, ११-१२।

४. भ० पु०, ४।३।६३।

१०९५ ई० पंक्ति १९२)। महाराज प्रायः सुवर्ण का तुलादान[1] करते थे जैसा कि इनसे सम्बन्धित लेखों से विदित होता है। इन्होंने भूमिदान भी किए।

चन्द्रदेव की धर्म रुचि भी प्रशंसनीय है और इनके आचार-विचार शास्त्रोक्त नियमों पर अवलम्बित थे। जैसा पहले कहा जा चुका है काशी में आदि केशव का मन्दिर इन्हीं के द्वारा बनवाया गया था।

जयचन्द्र के फैजाबाद दानपत्र (सं० १२४३ = ११८६) में चन्द्रदेव की प्रशस्ति में दो श्लोक उत्कीर्ण हैं। उनमें बताया गया है कि इस वीर शिरोमणि नृप ने दुःख से आक्रान्त पृथ्वी का उद्धार किया, प्रजा के ऊपर हो रहे उपद्रवों को शान्त किया, कान्यकुब्ज क्षेत्र को अपने शौर्य द्वारा विजित किया, काशी, कन्नौज, अयोध्या आदि तीर्थ स्थानों का परिपालन किया तथा स्वर्ण का तुलादान करके ब्राह्मणों को समर्पित किया।[2]

× × ×

वृद्धावस्था प्राप्त होने पर युवराज मदनपाल का राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं वन में चले गए। वहाँ भगवत भजन और तपश्चर्या में संलग्न रहते हुए अपने अन्तिम दिन व्यतीत किए।

४. महाराज मदनपाल, द्वितीय शासक
(११००–१११० ई०)

मदनपाल के अतिरिक्त इनके अन्य नाम भी मिलते हैं जैसे मदनपालदेव, मदनदेव, मदनचन्द्र, मन्दपाल। गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारी देवी के सारनाथ शिलालेख[3] में इन्हें मदनचन्द्र सम्बोधित किया गया है, यथा—

नृपति मदनचन्द्रस्य चंड-भूपाल-चूड़ामणिः।

अर्थात्, प्रचण्ड राजाओं के चूड़ामणि (crest-jewel)।

इनकी दो रानियाँ थी, पृथ्वीश्रीका और राल्हादेवी या रल्हन देवी।

( ) राज्यकाल इनका राज्यकाल लगभग १० वर्ष चला। जान पड़ता

---

१. तुलादान की प्रथा अब भी प्रचलित है। आमतौर पर तुलादान अब अन्न, तिल, मिठाई, गुड़, फल, आलू, शकरकन्द आदि से माघ मास की मकर संक्रान्ति के दिन किया जाता है। तुजुक-ए-जहाँगीर में बताया गया है कि सम्राट जहाँगीर भी तुलादान करता था।

२. सन् ११८६ का जयचन्द्र का फैजाबाद का दानपत्र, श्लोक ४-५।

३. Ep. Ind., IX, pp. 319-28. The inscription is undated, a rather unusual circumstance.

है कि इन्होंने प्रौढ़ावस्था में राजमुकुट पहना, जिस समय तक इनके पुत्र गोविन्दचन्द्र इस योग्य हो गए थे कि वे युवराज पद को शोभित करते। द्विजालोचित शास्त्र और शस्त्रविद्या का अच्छा अध्ययन इन्होंने अपनी युवावस्था में कर लिया था। इनको हर प्रकार से योग्य समझ कर पिता चन्द्रदेव ने इन्हें राज्य भार सौंपा।[1]

राहन ताम्रपत्र लेख[2] (११०९ ई०) जो मदनपाल और महाराजपुत्र[3] गोविन्दचन्द्र द्वारा उत्कीर्ण हुआ था बताता है कि धनेसरामऊ पहला (तहसील) में स्थित अहुआम ग्राम ब्राह्मण वामनस्वामि देव को दिया गया जिसे पहले चन्द्रदेव ने दिया था तथा जिसकी पुष्टि अब मदनपाल द्वारा हुई। इसके बाद का मदनपाल का कोई अभिलेख या दानपत्र प्राप्य नहीं है किन्तु यह ज्ञात है कि सन् १११४ में इनके पुत्र गोविन्दचन्द्र के नाम को शासक की उपाधियाँ अलंकृत करती हैं (परमभट्टारक, महाराजाधिराज आदि)। इन तथ्यों से सिद्ध है कि मदनपाल का राज्यकाल सन् १११० और १११३ ई० के बीच समाप्त हो गया। आम तौर पर इतिहासकार इसकी समाप्ति सन् १११० आँकते हैं। उसका प्रारम्भ सन् ११०० के लगभग महाराज चन्द्रदेव के अवसान पर हुआ था।

इस गणना से मदनपाल का राजत्व १०-१२ वर्ष से अधिक न चला होगा। सन् ११०४ में गोविन्दचन्द्र युवराज पद प्राप्त कर चुके थे जिससे स्वतः सिद्ध है कि सन् ११०४ के पूर्व गोविन्दचन्द्र शासन के योग्य हो गए थे। उक्त बातों से स्पष्ट है कि चन्द्रदेव ने दीर्घायु तक राज्य चलाया। फिर पुत्र मदनपाल का उनकी प्रौढ़ावस्था में राजतिलक कर और पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न परिवार को छोड़ कर वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय लिया।

अतएव मदनपाल ने जो शस्त्र एवं शास्त्र का ज्ञानोपार्जन किया वह सब पिता की छत्रछाया में किया। इसी कारण इनकी रणकीर्ति भी चन्द्रदेव की कीर्ति से विलग नहीं की जा सकती।

मदनपाल के अभिलेख सन् ११०४ से ११०९ तक के प्राप्य हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इनके राज्य के अन्तर्गत बनारस, अधिकांश इटावा जनपद और प्राचीन पांचाल देश (कन्नौज राज्य के उत्तर भूभाग) के भाग थे—कन्नौज राज्य के अतिरिक्त।

(२) मदनपाल का शौर्य तथा उनके युद्ध—गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी

१. अनुमानतः इसके बाद चन्द्रदेव वानप्रस्थी हो गए।
२. *Ind. Antq.*, XVIII, pp. 10-11, 13.
३. युवराज को महाराजपुत्र भी कहा जाता था।

के सारनाथ शिलालेख[1] (तिथि अंकित नहीं) में मदनपाल को प्रचण्ड राजाओं में चूड़ामणि (कलंगी का रत्न)[2] कहा गया है, जिसने पूरे देश को एक छत्र के नीचे स्थापित किया तथा जिसको दृढ़ तेजाग्नि की गरिमा (राजश्री) इन्द्र की तेजश्री से भी महान थी। इससे दर्शित होता है कि यह तेजस्वी और बलवान शासक था जिसने प्रजा की रक्षा हेतु सार्वभौम साम्राज्य स्थापित किया। इसे दन्तिसिंह[3] भी कहा गया है, अर्थात् दन्तियों (तुरुष्कों) को नष्ट करने वाले सिंह के समान।

मदनपाल ने कतिपय लड़ाइयाँ जीतीं[4] और इनके शौर्य से मुसलमान अमीर (हम्मीर) भयभीत रहते थे।[5] ऐसा अनुमान है कि इनका समय तुरुष्कों के साथ युद्ध करने ही में बीत गया। भविष्य पुराण के अनुसार मन्दपाल (मदनपाल) का राज्यकाल आपत्ति का समय था[6] क्योंकि इस काल में गजनी के तुरुष्क शासकों के भारत पर अभियान हुए और उन्होंने बहुत से प्रदेशों को नष्ट-भ्रष्ट कर लूटा। मदनपाल द्वारा तुरुष्कों से युद्ध करने में युवराज गोविन्दचन्द्र ने महाराज का साथ दिया और अपने गुणों का परिचय दिया। युवराजों का यह धर्म ही था। गुप्तकाल में भी कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल में युवराज स्कन्दगुप्त ने भी युद्ध किया था और इस प्रकार पिता की सहायता की थी।

डॉ० यच० सी० रे ने लिखा है कि एक युद्ध में मदनपाल यवनों से हार गया और बन्दी हुआ, निदान विजेता को बहुत सा धन देकर प्राणदान पाया।[7] इसका आधार मुसलमान इतिहासकार सलमान का कथन है जिसने अपने दीवान में लिखा है कि अलादुद्दौला मासूद तृतीय (गजनी का शासक, १०९९-१११५ ई०) ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया जिसकी राजधानी कन्नौज थी। उसने राजा मल्ही या मल्हीर को बन्दी बना लिया जिसने बहुत सा धन देकर अपनी प्राणरक्षा की। इस मल्ही की पहचान कुछ विद्वानों ने मदनपाल से की है किन्तु

---

१. *Ep. Ind*, IX, pp. 319-28.
२. Crest-jewel.
३. गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र।
४. भारत के प्राचीन राजवंश।
५. *Ind. Antq.*, XVIII, pp. 14-19 (Rahan copper plate of Madanpala and Govind chandra of 1109 A. D.), *vide* p. 15.
६. भविष्य पुराण, ४।३।६३।
७. H. C. Ray, Dynastic History of Northern India, Vol. I p. 514. Also see Elliot and Dowson, IV, 518.

अन्य इतिहासकारों[1] को इस पर सन्देह है। फिर भी यदि इस पहचान को सत्य मान भी लें तब भी यह सही नहीं है कि वह बन्दी बनाया गया और धन देकर छूटा। वास्तविकता ऐसी जान पड़ती है कि उक्त आक्रमण के प्रारम्भ में मदनपाल की कुछ हार हुई और क्षति पहुँची किन्तु अन्ततः युवराज गोविन्दचन्द्र ने स्थिति पर काबू पा लिया और शत्रु को वापस होने के लिए बाध्य किया।

नोट—इस युद्ध के बारे में अन्य बातों पर गोविन्दचन्द्र सम्बन्धित अगले शीर्षक में प्रकाश डाला जायगा।

इस कथन के विवेचन में कि मदनपाल बन्दी बनाया गया और धन देकर मुक्त हुआ यह कहना है कि कई तर्क इसकी असत्यता को प्रमाणित करते हैं। प्रथम यह कि मदनपाल तेजस्वी और बलवान शासक था जैसा कि पहले बताया जा चुका है। इसको मुद्राओं में अंकित अश्वारोही का चित्र तथा सामन्त की उपाधि से सिद्ध होता है कि वह रणकुशल और साहसी योधा था। अतः इसके बीर होने में सन्देह न होना चाहिए। ऐसे वीर को बन्दी बनाया जाना सम्भव नहीं; वह रणभूमि में वीरगति प्राप्त करना पसन्द करेगा न कि बन्दी बनना।

प्रश्नगत कथन की असत्यता के बारे में विद्वान इतिहासज्ञ डॉ० अवस्थी ने निम्न तर्क दिया है—"मुस्लिम इतिहास-लेखक के मल्ही या मल्हीर की मदनपाल से पहचान करने में डॉ० नियोगी को भी सन्देह है।[2] सलमान द्वारा उल्लिखित 'मल्ही की पराजय' को यदि हम मदनपाल की पराजय मान लें, तो उसके अभिलेख में वर्णित उसकी उपलब्धि [पृथ्वी (अन्तर्वेदी) में एक छत्र शासन स्थापित कर अपने तेज बल से इन्द्र को भी मात कर दिया] व्यर्थ ही लिखा गया। क्या मुस्लिम इतिहासकार द्वारा वर्णित मासूद की विजय पूर्ण सत्य है? यह कहना ठीक नहीं लगता कि "मदनपाल ने आक्रमणकारी को धन देकर छुटकारा प्राप्त कर लिया।"[3] इस कन्नौज विजय का लेखक अपने मुस्लिम शासक के समक्ष गिड़गिड़ा कर उसकी प्रशंसा करता हुआ कह रहा था—

"I sing thy praises like a nightingale."[4]

---

१. For example, Dr. R. Niyogi in History of the Gaharwal Dynasty, p. 59.

२. History of Gaharwal Dynasty, p 59.

३. Majumdar and Pusalkar, *Struggle for Empire*, p. 52.

४. Elliot and Dowson, *History of India*, Vol. IV, pp. 526-27.

इस कथन को भी, जो बहुत बाद का है, अभिलेख के सामने सत्य मानना ठीक नहीं लगता। तत्कालीन अभिलेखों में मदनपाल की अत्यन्त प्रशंसा की गयी है। वहाँ बताया गया है कि उसने अनेक युद्धों में भाग लिया और उसने कलि के दोषों को मिटाकर धरती पवित्र कर दी।[1] वह एक विजेता शासक था। उसे 'दन्तिसिंह' (हाथियों के लिए सिंह के समान)[2] की उपाधि दी गयी है"।[3] (डॉ० अवस्थीकृत राजपूत राजवंश पृ० २९०)

यह भी कहना है कि सलमान की दीवान में कही बात पूर्णतया मान्य नहीं हो सकती क्योंकि सुलतान की प्रशंसा में उसने यह विवरण तब लिखा जब वह स्वयं बन्दी था जैसा कि इलियट और डाउसन का कथन है[4]। अपने तुरुष्क स्वामी के सम्मुख उसकी प्रशंसा में वह कह रहा था कि मैं आप की प्रशंसा कोयल के तुल्य गान कर रहा हूँ, जैसा कि ऊपर बताया गया है। इसके अतिरिक्त इसकी बात इसलिए भी विश्वसनीय नहीं है कि यह लेखक बहुत बाद का है।

३. **युवराज गोविन्दचन्द्र का योगदान**—कतिपय अभिलेखों से विदित होता है कि पिता मदनपाल के राज्यकाल ही में युवराज की हैसियत से गोविन्दचन्द्र को सक्रिय कार्य करना पड़ा। कमौली (जिला वाराणसी) दानपत्र[5] (सन् ११०५) में उसकी माँ के साथ उसका नाम मिलता है जिससे युवराजत्व काल ही में राज्य का भार उस पर आ पड़ना लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त मदनपाल और स्वयं द्वारा उत्कीर्ण राहन ताम्रपत्र[6] (सन् ११०९) में बताया गया है कि उसने पाल वंशीय गौड राजा को परास्त किया तथा युद्धभूमि में तुरुष्कों को सन्धि करने के लिए विवश किया। इस प्रकार पिता के साथ युद्ध करते हुए उसने पालों और तुरुष्कों को पराजित किया। इस योगदान के विषय में अतिरिक्त विवरण गोविन्दचन्द्र सम्बन्धित अगले शीर्षक में दिया जायगा क्योंकि यद्यपि पिता के राज्यकाल में उसने अनेक प्रशंसनीय बातें की तथापि वे उसके स्वयं के व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। अतः वही शीर्षक उन तथ्यों का उचित स्थान है।

---

१. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र लेख, श्लोक ६७।
२. दन्ति का अभिप्राय तुरुष्क आक्रमणकारियों से है।
३. गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र लेख, श्लोक ४।
४. History of India, Vol. IV, p. 521.
५. Ep. Ind., II, pp. 358-61.
६. *Ind. Antq.*, XVIII, pp. 14-19.

(४) **काशिराज की संज्ञा**—मदनपाल कृत मदनविनोद निघन्टु में इनको काशिराज कहा गया है। काशी का भूभाग उस समय कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत था (जैसा कि चन्द्रदेव के समय में भी था।) इसलिए इनके काशिराज होने में कोई सन्देह नहीं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि मदनपाल कन्नौज के शासक न थे। सम्भव है कि जब मदनपाल ने इस ग्रन्थ की रचना की उस समय इनके पिता चन्द्रदेव कन्नौज सिंहासन पर उपस्थित हों और मदनपाल पूर्वी राज्य के प्रबन्धकर्ता हों और उस समय उनकी उपाधि केवल काशिराज हो। अथवा इनको स्वयं काशी का निवास प्रिय हो और अपने को काशिराज कहने लगे हो। काशी का एक किला गाहड़वाल राजवंश का कहा जाता है, सम्भव है वह मदनपाल द्वारा ही निर्मित हुआ हो।

कन्नौज जो वैदिक धर्म का केन्द्र था इन धर्मधुरीण राजाओं के समय में सदाचार, व्यवहार एवं पवित्र विचारों से देवलोक ही हो गया था। वह इतना पुनीत माना जाने लगा कि इस स्थान की संज्ञा ही दूसरी काशी हो गई थी और काशी-कन्नौज एक साथ उच्चरित होने लगे थे। प्रायः वृद्ध पण्डितों के मुख से अब भी ऐसा सुना जाता है। सम्भव है उन लोगों का काशी से यही अभिप्राय हो क्योंकि जहाँ कहीं उन्हें काशी (बनारस) का कथन करना था वहाँ 'वाराणसी' लिखा मिलता है।[1] दूसरे शब्दों में यह कि जब केवल काशी का ही अभिप्राय वांछित है तब शब्द 'वाराणसी' का प्रयोग हुआ है और जब अधिक भूखंड का अभिप्राय दर्शित करना होता है तब 'काशी-कन्नौज' (या कन्नौज-काशी) प्रयुक्त हुआ है। प्रायः गाहड़वाल अपनी उत्पत्ति काशी से बतलाते हैं, यानी गाहड़वालों की वंशवेलि काशी से ही उत्पादित हुई। यह भी एक कारण काशिराज कहाए जाने का हो सकता है। स्वयं को काशिराज लिखना इसीलिए प्रिय होना चाहिए।

स्कन्द पुराण में मदनपाल के पिता तथा गाहड़वाल राजवंश (कन्नौज) के संस्थापक महाराज चन्द्रदेव को भी काशिराज कहा गया है, यथा—

ऐलस्य चंद्रदेवस्य काशिराजस्य[2]।

उनका आधिपत्य काशी पर भी रहा जो उनके द्वारा विजित हुआ था। बाद में भी गाहड़वाल शासकों का काशी पर स्वामित्व रहा और कन्नौज के अतिरिक्त वे काशी में भी रहते थे और कभी-कभी वहाँ अपना दरबार भी करते थे। इस प्रकार कन्नौज राज्य की राजधानियाँ दो थीं कन्नौज और काशी। भारत में

---

१. *Indian Antiquary*, Vol. IV, p. 102.

२. Avasthi, Studies in Skanda Puran, Part I, p. 196.

काशी का बड़ा महत्व सदैव से रहा है इसलिए भी गाहरवाल शासक अपने को काशिराज कह कर अपना गौरव प्रकाशित करते थे।

(५) मदनपाल के सिक्के—मदनपाल के चाँदी और ताँबे के सिक्के पाए गए हैं।[1] चाँदी के सिक्कों में चाँदी के साथ अन्य धातु की भी मिलावट है। सिक्को की सीधी ओर घुड़सवार का चित्र है और निम्न शब्द उत्कीर्ण है—

मदन या मदनपालदेव, या
कभी-कभी केवल मद या श्री म।

पुस्त की ओर साँड़ (नन्दी) बैल या गाय का चित्र है और निम्न शब्द अंकित हैं :—

माधव श्री सामन्त या माधव श्रीसाम या
कभी-कभी सामन्त या माध।

रैपसन महोदय ने ये सिक्के कन्नौज के मदनपाल के बताए हैं।[2] सिक्कों पर बैल की आकृति इस कथन की पुष्टि करती है कि अन्य गाहरवाल शासकों की तरह मदनपाल भी शिवभक्त था। अभिलेखों में भी इन शासकों को परम-माहेश्वर (शिव के परम उपासक) कहा गया है।

(६) मदनविनोद निघन्टु (वैद्यक ग्रन्थ) के रचयिता—इसके अतिरिक्त इन्हें स्वास्थ्य शास्त्र से भी बड़ा आकर्षण था जो इनकी पुरुषार्थ रक्षा की धारणा की ओर संकेत करता है। मदनपाल ने स्वयं एक वैद्यक ग्रन्थ रचा है जो इस दिन भी मदनविनोद निघुन्टु या मदनपाल निघन्टु के नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ में आपने स्वयं लिखा है :

तेन श्रीमदनेन्द्रेण निघंटु मयमद्भुतम्।
कृत सुकृतिना लोक हितायहि महात्मना॥

भावार्थ—संसार कल्याण के लिए सुकृती (जिसका चरित्र अच्छा हो) महात्मा श्रीमदनेन्द ने निघंटु नामक ग्रन्थ रचा।

तथाचि :—

रोगाम्बुधौ मव जनस्य निमंज तोयः।
प्रीतिः प्रयच्छतु शुभानि च काशिराजः॥

---

१. *Catalogue of Coins in Indian Museum*, Calcutta. Vol. I, page 260, plate 26, no. 17.

२. E. J. Rapson, *Indian Coins*, p. 31.

अर्थात् काशिराज ने रोगरूपी समुद्र में डूबते हुए संसारी जनों को देख कर सुन्दर प्रीति से (प्रसन्नतापूर्वक) इसे अर्पण किया।

यद्यपि इनका एक यही ग्रन्थ पाया जाता है तथापि यह उनका विद्या तथा साहित्य प्रेम को घोषित करने के लिए पर्याप्त है।

(७) **इष्टदेव तथा उपाधियाँ**—पिता की भाँति यह भी शिव के उपासक थे और इसीलिए इन्हें अभिलेखों में परममाहेश्वर कहा गया है। गाहरवाल वंशीय अन्य शासक भी शैव थे। इनकी शिवभक्ति घनिष्ट थी क्योंकि इन्होंने अपने सिक्कों पर बैल या नन्दी की प्रतिमा उत्कीर्ण कराई थी।

इनकी भी वही उपाधियाँ थीं जो पिता चन्द्रदेव की, यानी परम-भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर।

(८) **भविष्य पुराण में मदनपाल का उल्लेख**—भविष्य पुराण में कतिपय प्राचीन राजवंशों की वंशावलियाँ तथा उनका सूक्ष्म विवरण मिलता है। गाहरवालों की वंशावली[1] में मदनपाल का नाम मिलता है जिसे चन्द्रदेव का पुत्र कहा गया है, यथा—

चन्द्रदेवस्तस्य सुतो राज्यं राज्यं तेन पितुः समम्।
कृतं तस्मात् सुतो जातो मंदपालो महीपतिः ॥[2]

[अर्थात् उसका (महीचन्द का) पुत्र चन्द्रदेव था जिसने अपने पिता के समान ही राज्य किया। उसका (चन्द्रदेव का) पुत्र राजा मंदपाल था]। मंदपाल नाम मदनपाल का ही पर्यायवाची है। उक्त पुराण में मन्दपाल के राज्यकाल को आपत्ति का समय बताया गया है, यथा—

तस्य भूपस्य समये सर्वे भूपाः समन्ततः।
त्यक्त्वा तं मंदपाल च तद् दत्ते संस्थिता गृहे ॥[3]

अर्थात् उसके समय में सभी सामन्त राजा मन्दपाल को छोड़ कर उसके दिए हुए घरों में रहने लगे।

उसी पुराण में मन्दपाल के पुत्र को कुम्भपाल की संज्ञा दी गई है जिसकी पहचान गोविन्दचन्द्र से की गई है। इस प्रकार विदित होगा कि भविष्य पुराण

---

१. भविष्य पुराण, ४।३, श्लोक ६१–७३, इन १३ श्लोकों में यशोविग्रह से लेकर जयचन्द्र तक के नाम उल्लिखित हैं। यशोविग्रह के पहले के तीन राजाओं के नाम भी उक्त श्लोकों के पूर्व के श्लोकों में दिए गए हैं।

२. भविष्य पुराण, ४।३।६३।

३. वही, ४।३।६४।

की बातें अधिकांश में ऐतिहासिक साक्षों के अनुरूप ही हैं। उसमें उल्लिखित गोविन्दचन्द्र से सम्बन्धित बातें अगले शीर्षक में मिलेंगी।

५. महाराज गोविन्दचन्द्र, तीसरे शासक
(सन् १११०–११५६, लगभग)

वाराणसीम् भुवन रक्षण दक्ष ऐको।
दुस्तातुरुष्क सुभटा दवि तुम् हरेण॥
उक्तो हरिः स पुनरत्र बभूव तस्माद्।
गोविन्द चन्द्र इति प्रथिताभिधानः॥[1]

अर्थात्, इस वाराणसी के भुवन रक्षणार्थं दुस्तर यवन सुभटों के विनाशार्थ भगवान शंकर ने हरि से कहा। वही हरि भगवान गोविन्दचन्द्र प्रसिद्ध राजा हुए।

गोविन्दचन्द्र की महारानी कुमार देवी के सारनाथ शिलालेख[2] में इन्हें गोविन्दपाल कहा गया है। भविष्य पुराण में मदनपाल के पुत्र को कुम्भपाल[3] कहा गया है जिसकी पहचान गोविन्दचन्द्र से की गई है।[4]

महान नृप—इनके समय में कन्नौज राज्य अपने उन्नत शिखर पर था। इस क्षेत्र का गौरव जो हर्ष के समय में विश्व विदित था वह महाराज गोविन्दचन्द्र के राज्यकाल में एक बार फिर से लौट सा आया था। युद्ध कौशल में यह अपने पूर्वजों से कम न थे। भारत पर यवन आक्रमणकारियों से यह सफलतापूर्वक लड़े और उनकी विध्वंसकारक नीति से देश के तीर्थ स्थानों की रक्षा की जैसा कि ऊपरलिखित श्लोक से सिद्ध है। चेदि और गौड़ देशों पर भी इन्होंने विजय प्राप्त की थी।[5] अपने पिता के शासनकाल के समय ही में युवराज की हैसियत से यह राज्य के वास्तविक प्रबन्धकर्ता हो गए थे और युद्ध करके विजयें प्राप्त की थीं।

गोविन्दचन्द्र गाहरवाल वंश का सबसे प्रतिष्ठित शासक हुआ। युवराज अवस्था ही में वह शासनकार्य में दक्ष हो गया था और भारत पर मुसलमानों

---

१. गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी का सारनाथ शिलालेख (तिथिहीन), Ep. Ind, IX pp, 319-28.
२. वही, पृ० ३२४, ३२७, श्लोक १६।
३. भ० पु० ४।३।६४-६५।
४. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० ३०९-३१०।
५. भारत के प्राचीन राजवंश, पृ० १०४।

के आक्रमणों को कई बार विफल कर दिया था। इस प्रकार वह अपनी वीरता तथा स्वदेश प्रेम का परिचय दे चुका था। सिंहासनारूढ़ होने पर उसने अपने राज्य को बहुत बढ़ाया, उदाहरणार्थ उसने मगध पर भी अधिकार कर लिया और पटना, मुंगेर आदि नगर उसके अन्तर्गत आ गए। काश्मीर, गुजरात और दक्षिण के चोल शासक उसके मित्र थे। वह बड़ा दानी था जैसा कि उसके चालीस से अधिक प्राप्त दानपत्रों से साबित होता है। वह स्वयं विद्वान था और विद्या प्रेमी भी। उसकी बौद्धधर्मिणी रानी कुमार देवी ने सारनाथ में एक बृहत् विहार बनवाया था जिसमें अतुल धन व्यय हुआ था।

महाराज का शौर्य—लक्ष्मीधर कृत कल्पतरु तथा अभिलेखों में गोविन्दचन्द्र की वीरता का वर्णन मिलता है। लक्ष्मीधर ने लिखा है कि बड़े-बड़े शत्रु इनकी सेना के भेरीघोष से ही घबड़ा जाते थे।[1] फिर यह भी कि—

सकिल सकल दृप्त क्षत्र-नक्षत्र-लक्ष्मी।
हरण किरण माली कस्य न स्यान् नमस्य ॥[2]

अर्थात् क्षत्रियरूपी नक्षत्रों की लक्ष्मी का हरण करने वाला सूर्य किससे वन्दित न था (कस्य न स्यान्नमस्य), अर्थात् सभी से वन्दित था। वह महान विजेता था जिसने अपने शत्रुओं का दमन किया था (रिपुरंगभंगी)।[3] लक्ष्मीधर के अनुसार विजयी गोविन्दचन्द्र मनुष्य रूप में इन्द्र था तथा उस महाविजयी के सैनिक अभियानों से शत्रुओं का हृदय काँप जाता था।[4]

तुरुष्क आक्रमण तथा देश रक्षा—गाहरवाल राजवंश के पहले भी भारत पर तुरुष्कों के आक्रमण होते रहते थे जिनका विवरण पूर्व के अध्यायों में दिया जा चुका है। उत्तर भारत के प्रतिहारों, चन्देलों, कलचुरियों और परमारों ने देश को इन आक्रमणकारियों से बचाने का कभी सफल, कभी असफल प्रयत्न किया था। अन्ततः मुसलमानों (अरबों, तुरुष्कों) का सिन्ध और पंजाब पर अधिकार हो गया था। चन्द्रदेव के समय में भी तुरुष्कों के अभियान हुए थे जैसा कि उनके (चन्द्रदेव के) प्रकरण में बताया जा चुका है।

तुरुष्क लोग मध्य एशिया के रहने वाले थे जिनका पेशा युद्ध करना था।

---

१. कृत्यकल्पतरु, जि० १, पृ० २, श्लोक ६।
२. वही, श्लोक ७।
३. गोविन्दचन्द्र का कमौली लेख; कुमारदेवी का सारनाथ लेख; गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र।
४. कृत्यकल्पतरु, जि० १, पृ० २, श्लोक ४, ६-७।

उनके देश के घोड़े उत्तम होते थे (उत्तमोऽश्वस्तुरुष्कजः[1]) और उन्हीं पर सवार होकर वे युद्ध करते थे और साधारणतः युद्धभूमि छोड़कर भागते न थे। पद्मपुराण में लिखा है वे सभी कुछ खाने वाले थे, तथा वध करने और बन्दी बनाने में लगे रहते थे।[2] शनैः शनैः इनका अधिकार पंजाब और आस-पास के क्षेत्र में हो गया था।

सन् ११०९ के कुछ पहले इन्हीं तुरुष्कों का आक्रमण कन्नौज राज्य पर हुआ था। उस समय मदनपाल गद्दीधर थे। उन्हें इस आक्रमण से निपटने में कुछ असफलता रही किन्तु बाद में युवराज की हैसियत से गोविन्दचन्द्र ने युद्ध करके उन्हें सन्धि करने के लिए बाध्य किया। यह आक्रमण गजनी के अमीर मसूद तृतीय के सेनापति के नेतृत्व में हुआ था। इसी युद्ध के सम्बन्ध में मदनपाल एवं गोविन्दचन्द्र के राहन ताम्रपत्र (११०९ ई०)[3] में उत्कीर्ण है कि—

कुम्भनि भेद भीमो हम्मीरं न्यस्त वैरम्
मुहुर समस्रण क्रीडया यो विधत्ते।

भावार्थ, कि गोविन्दचन्द्र ने बारम्बार अपने अद्वितीय रणकौशल से हम्मीर (तुरुष्क अमीर) को बैर त्याग कर (मैत्री, सन्धि) करने के लिए विवश किया था।

इस प्रकार तुरुष्कों से देश का बचाव करने के फलस्वरूप गोविन्दचन्द्र को कीर्ति प्राप्त हुई और उसे हरि (विष्णु) का अवतार माना गया जैसा कि कुमारदेवी के सारनाथ लेख में वर्णित है और जिसका उद्धरण प्रारम्भ में ही दे दिया गया है।

इस सम्बन्ध में यह भी कहना है कि सलमान के दीवान में इसी संघर्ष का सन्दर्भ है और उसी क्रम में उसने लिखा है कि मदनपाल बन्दी हो गया था तथा बहुत सा धन देकर अपने को मुक्त कराया था। जैसा कि मदनपाल के प्रकरण में कहा जा चुका है उक्त कथन असत्य है। सही बात यही है कि युद्ध में असफल होने के कारण तुरुष्क नेता को सन्धि करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

सलमान की दीवान के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह है कि भविष्य पुराण में भी आया है कि मदनपाल अथवा गोविन्दचन्द्र के राज्यकाल में तुरुष्क शासक को बहुत धन दिया गया (ततः म्लेच्छपतिः शूरो दत्वा तस्मै धनं बहु[4])।

---

१. गरुड़पुराण, १।२०।१४।
२. पद्म पुराण, ४।४४।७४-७५
३. Ind. Antq., XVIII, pp. 14-19
४. भ० पु०, ४।३।६१-७३।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मदनपाल या 'गोविन्दचन्द के उत्तर-पूरब भूखण्ड पर किसी सामन्त राजा पर तुरुष्क नेता ने आक्रमण किया हो और उसने आक्रमणकारी का आधिपत्य स्वीकार कर लिया हो और उसी हैसियत से उक्त धन दिया हो। इस प्रकार किसी भी हालत में मदनपाल या गोविन्दचन्द्र द्वारा तुरुष्क नेता से पराजित होकर धन देने की बात अविश्वसनीय है।

डॉ० अवस्थी ने कहा है[1] कि इस तुरुष्क नेता की पराजय में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है क्योंकि उस समय पंजाब में गजनियों की सत्ता निर्बल थी। कर्णसुन्दरी नाटक से भी ज्ञात होता है कि उसी युग में राजपूत सेनाओं ने गज्जण नगर (गजनी) की विजय की थी।[2]

उक्त संघर्ष में बदायूं के सामन्त राजा मदनपाल (राष्ट्रकूट) ने गोविन्द-चन्द्र की सहायता की थी। इस विषय में बदायूं अभिलेख[3] में बताया गया है कि उसके (मदनपाल राष्ट्रकूट) के पौरुष के कारण ही हम्मीर (अमीर) के गंगातट पर आने की कथा फिर नहीं सुनाई दी।

गोविन्दचन्द्र के मन्त्रीश्वर महासन्धिविग्रहक लक्ष्मीधर ने लिखा है कि गोविन्दचन्द्र ने युद्ध में वीर तुरुष्कनेता (हम्मीर, अमीर) को भी पराजित किया (मवधिर विधि युद्धे येन हम्मीर वीरः[4])। उसका यह भी कथन है इस तुरुष्क पराभव का मूल कारण गोविन्दचन्द्र की मंत्रि-महिमा थी (अर्थात् योग्य मन्त्रियों को परामर्श) जिसका वर्णन ग्रन्थकार ने अपने कृत्यकल्पतरु के राज-धर्म काण्ड में किया है। इस मन्त्रि-शक्ति के द्वारा ही गोविन्दचन्द्र ने (मत्त) हाथियों के समान राजाओं को पराजित किया।[5] हाथियों का अभिप्राय यहाँ मातंग गजों (गजनंकों, गजतुर्कों) से है। मातंग शब्द गज का पर्यायवाची है। मातंग देश भी था अतः मातंगदेश (या गजनदेश) गजनवी देश था। पृथ्वी-राज विजय में भी मातंगों को गर्जनान् मत्तान मातंगान कहा गया है।[6] गोविन्दचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र लेख[7] में तुरुष्कों को गजाः कहा गया है।

---

१. राजपूत राजवंश, पृ० २९७।

२. अंक ४, पृ० ५३-५६।

३. Ep. Ind., I, pp. 62, 64, line 4. This inscription was engraved in the reign of Lakhanpal, Rashtrakuta, a vassal of Kanauj kingdom.

४. कृत्यकल्पतरु, जि० १, पृ० २, श्लोक ६।

५. वही, मंगल श्लोक।

६. ११४९-५०; ५।११३।

७. पंक्ति १०।

गोविन्दचन्द्र के बनारस ताम्रपत्र लेख में भी मत्त-दन्तियों (तुरुष्कों) पर गोविन्दचन्द्र की विजय का उल्लेख है (मत्त-शौर्यंक-दन्तिनः[१]—शूर तुरुष्क)।

जयचन्द्र के फैजाबाद ताम्र दानपत्र (११८६ ई०) में बताया गया है कि गोविन्दचन्द्र ने 'नवराजगजो नरेन्द्रः' को पराजित किया। गोविन्दचन्द्र के गगहा (जि० गोरखपुर) के ताम्रपत्र (११४२ ई०)[२] में भी बताया गया है कि गोविन्दचन्द्र ने नवराजगज नरेन्द्र को काबू में किया (पराजित किया)। डॉ० अवस्थी के मतानुसार नवराजगज का अर्थ है 'नया राज्य' जिसे गज (तुर्कों) ने (पंजाब में) स्थापित किया था; अतः नवराज्यगज नरेन्द्र का अर्थ हुआ कि (तुर्कों द्वारा स्थापित) नए गज राज्य का राजा।[3] अन्य इतिहासकार (डॉ० त्रिपाठी, डॉ० रोमा नियोगी)[४] नव राज्य का अर्थ जम्बूद्वीप बताते हैं किन्तु डॉ० अवस्थी का मत अधिक सारयुक्त जान पड़ता है।

गौड तथा मगध विजयें—यह विजयें अभिलेखों और लक्ष्मीधरकृत कृत्य-कल्पतरु से सिद्ध होती हैं। राहन ताम्रपत्र (११०९ ई० मदनपाल और गोविन्दचन्द्र का)[५] से प्रमाणित होता है कि गोविन्दचन्द्र ने गौड के बलवान हाथियों की सेना को पराजित किया। लक्ष्मीधर ने भी लिखा है कि गोविन्दचन्द्र गौड के गरजते हाथियों से उत्पन्न भय को रोकने वाला स्तम्भ ही था।[६] बाद में पालों ने कुछ भागों (गया आदि) पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया था जैसा कि जयनगर और गदाधर अभिलेखों से विदित होता है।[७]

मगध की विजय बिहार प्रदेश के मानेर लेख (११२६ ई०)[८] से ज्ञात होती है। उसमें गोविन्दचन्द्र द्वारा पडली ग्राम (जि० पटना) ज्ञानेश्वर शर्मन को दिए जाने का उल्लेख है। इसके बाद सन् ११४६ में महाराज मुद्गगिरि (मुंगेर, बिहार प्रदेश) में थे तब अक्षय तृतीया के दिन गंगा में स्नान करके पीतचवद

---

१. पंक्ति ५-६।
२. Ep. Ind., XIII, pp. 216-20.
३. राजपूत राजवंश, पृ० २९५-९६।
४. History of Kanauj (Dr. Tripathi), P. 312.
५. Ind. Anq,, XVIII, pp. 14-19.
६. कृत्यकल्पतरु, जि० १, पृ० २, श्लोक ४।
७. Dr. Tripathi, History of Kanauj, p. 31υ.
८. Journal of Bihar and Orissa Research Society (1916). Vol. II, Pt. IV, pp. 441-47.

ग्राम को श्रीधर ठाकुर को दान में दिया—दृष्टव्य ११४५ ई० का लार (जि० गोरखपुर) ताम्रपत्र।[1]

दशार्ण (पूर्वी मालवा) विजय—गोविन्दचन्द्र ने इस प्रदेश को भी विजित किया था। यह नयचन्द्रकृत रम्भामंजरी से ज्ञात होता है जिसके अनुसार उन्होंने यह विजय उस दिन को थी कि 'जिस दिन उनके पौत्र जयचन्द्र (विजयचन्द्र के पुत्र) का जन्म हुआ था।[2] पूर्वी मालवा जिसकी राजधानी विदिशा (भिलसा) थी वह उस समय दशार्ण देश के नाम से जाना जाता था। उस समय दशार्ण चन्देल राजा मदनवर्मन के आधिपत्य में था (११२९-११६३ ई०)[3]।

चेदि (कलचुरि) संघर्ष—करंड (करन्द) अभिलेख (११२० ई०)[4] बताता है कि करन्द ग्राम को पहले कलचुरि शासक यशकर्ण ने अपने राजपुरोहित को दान में दिया था और उसी को बाद में गोविन्दचन्द्र ने वसिष्ट ठाकुर के नाम कर दिया।[5] इससे जान पड़ता है कि चेदि देश पर गोविन्दचन्द्र का प्रभुत्व था। यह ज्ञात नहीं कि यह अधिकार किस प्रकार प्राप्त हुआ किन्तु ऐसा अनुमान है कि यह संघर्ष का ही परिणाम था।[6] ऐसा कथन मिलता है कि पूर्व समय में गोविन्दचन्द्र का चेदियों से कोई वैरभाव नहीं था—मैत्री थी—जैसा कि दक्षिण कोशल के कलचुरी राजा जाजल्लदेव के रतनपुर अभिलेख[7] से सिद्ध होता है। यह जाजल्ल त्रिपुरी के कोकल्ल की संतति में था। अभिलेख में आया है कि अपने शौर्य के फलस्वरूप जाजल्लदेव ने कान्यकुब्ज के शासक द्वारा मित्र के सदृश आदर पाया था।

चन्देल सम्बन्ध—मऊ का एक खंडित अभिलेख[8] प्राप्त हुआ है जो सल्लक्षण वर्मन द्वारा उत्कीर्ण हुआ था। उससे कुछ ऐसा भासित होता है कि गोविन्दचन्द्र और अन्तर्वेदी चन्देलों के बीच कुछ कार्यवाही हुई थी। अभिलेख के खंडित होने के कारण यह ज्ञात नहीं हो सका कि वह कार्यवाही क्या थी। सल्लक्षण वर्मन का समय लगभग ११००-१११५ ई० आंका जाता है।

---

१. Ep. Ind., VII, pp. 98-100.
२. रम्भामंजरी (बम्बई संस्करण, १८९९), पृ० ४।
३. History and Culture of Indian People V.
४-५. J. A. S. B., XXXI, p, 124.
६. Dr. Tripathi, History of Kanauj, p. 311,
७. Ep. Ind , I, pp. 35, 33, verse 21.
८. Ep. Ind., I, pp. 201, 206, verse 38.

अन्य विजयें—मंत्रीप्रवर लक्ष्मीधर के अनुसार गोविन्दचन्द्र ने अन्य छोटे-छोटे शासकों के साथ युद्ध में विजयलक्ष्मी प्राप्त की।[1]

बंगला भाषा की पुस्तक प्राकृत पैंगलम[2] में लिखा है कि काशिराज (गोविन्दचन्द्र) ने सफलतापूर्वक निम्न राजाओं से युद्ध किया—गौड, वंग, कलिंग, तेलंग, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, चम्पारन, नेपाल, भोटा (तिब्बत ?), चीन, लोहावर (लाहौर), ओड्र और मालवा। इन राजाओं में से कुछ पर विजय करने की बात तो अन्य साक्षों से भी प्रमाणित है किन्तु नेपाल, चीन और तिब्बत से युद्ध तथा विजय की बात अतिशयोक्ति है।

तुरुष्क-दंड का प्रश्न—गाहरवालों के सन् १०९० और उसके बाद के कुछ भूमिदान पत्रों में तुरुष्क-दण्ड का उल्लेख हुआ है। दानपत्रों में उन गाँवों के विवरण हैं जो दान में दिये गये तथा यह भी बताया गया है कि गाँव के जंगलों, तालाबों, बागों आदि की आमदनी पर दान प्राप्तकर्ता का अधिकार होगा। साथ ही यह भी कहा गया है कि दान प्राप्तकर्ता को प्रायः उन सभी विभिन्न स्रोतों आदि की आमदनी को वसूल करने का अधिकार होगा जो दान के पूर्व शासन द्वारा वसूले जाते थे, जैसे लगान आदि। उसी संदर्भ में तुरुष्कदंड का जिक्र आया है किन्तु दानपत्रों में यह नहीं बताया गया है कि यह दण्ड क्या था तथा इससे सम्बन्धित बातें क्या थीं। अतः इतिहासकारों ने इस विषय में कई सम्भावनाएँ बतायीं हैं जो नीचे दी जा रही हैं—

(१) डॉ० अवस्थी लिखते हैं[3] कि गोविन्दचन्द्र ने तुरुष्कवीर अमीर (हम्मीर वीर) को भी युद्ध में पराजित किया[4] तथा उस पराजित तुरुष्क को अपना करद बनाकर छोड़ दिया। उससे प्राप्त कर (राजकर, tribute) ही तुरुष्क-दंड था जैसा कि गोविन्दचन्द्र के बनारस अभिलेख (पंक्तियाँ १५-१६) से ज्ञात होता है इस कथन के समर्थन में डॉ० अवस्थी लिखते हैं कि "पृथ्वीराज रासो से भी ज्ञात है कि तुरुष्क शासक को परास्त करने के बाद पृथ्वीराज तृतीय ने दण्ड-कर लगाया था (सुरतान दण्ड लीनी सुकर; पृथा विवाह, १०)। तुर्क शासक को पराजित कर दंड के रूप में उससे घोड़ों का लेना उचित ही था (दण्ड हय मंगिय सुद्धी)। सुलतान ने भी ईराकी घोड़े दिये (असल मोल नव सहस सत्त सै दीन ऐकाकी)।"

---

१. कृतकल्पतरु, जि० १, पृ० २, श्लोक ७।

२. C. M. Ghosh (Ed.), Bibliotheca Indica, Calcutta.

३. राजपूत राजवंश, पृ० २९९।

४. गोविन्दचन्द्र के दरबारी विद्वान लक्ष्मीधरकृत कृत्यकल्पतरु, पृ० २, श्लोक ६-७।

वैद्य महोदय का कथन (नं० ५) कि तुरुष्क-दण्ड कन्नौज से गजनी को राजकर के रूप में दिया जाता था यानी उसी को देने के लिए प्रजा पर यह कर लगाया गया था सही नहीं है, कारण—

(क) यह कि यदि ऐसा होता तो इस कर को तुरुष्क-दण्ड कह कर न वसूला जाता क्योंकि ऐसा कहने से शासन की तौहीन होती और प्रजाजन को हर समय ग्लानि होती रहती कि वे तुरुष्कों के पराधीन हैं। धन एकत्र करने के लिए अन्य साधन अपनाये जा सकते थे, जैसे कि प्रचलित करों की बढ़ोत्तरी।

(ख) यह कि कोई ऐसा मानने योग्य साक्ष नहीं है कि जिससे यह, सिद्ध हो कि कन्नौज द्वारा गजनी को राजकर (tribute) दिया जाता था। कम से कम सलमान की दीवानी (जिसका जिक्र मदनपाल के प्रकरण में हुआ है) में इसका उल्लेख अवश्य होता। उसने तो केवल इतना ही कहा है कि मल्ही (मदनपाल) ने धन देकर अपने को कैद से मुक्त करवाया। गजनी के शासक को राजकर दिये जाने की कोई बात उसमें नहीं है।

अतः वैद्य महोदय का मत त्याज्य है।

डॉ० त्रिपाठी ने इस दण्ड के विषय में अपना निजी मत व्यक्त नहीं किया है—केवल दो-तीन इतिहासकारों के कथन का जिक्र करके प्रश्न को समाप्त कर दिया है।[1]

अन्ततः भारतीय इतिहास कोश तथा स्मिथ महोदय की बात ही मानने योग्य जान पड़ती है (क्रमशः नं० २ और ३), यानी यह कर तुरुष्कों के आक्रमण का मुकाबला करने हेतु धन एकत्रित करने के लिए लगाया गया था।

गोविन्दचन्द्र का राज्य बिस्तार—पूर्वकथित विजयों आदि से सिद्ध होता है कि इनके राज्य का विस्तार निम्नांकित था :—

(क) पूर्व में मगध तथा गौड प्रदेश;

(ख) पश्चिम में दशार्ण (पूर्वी मालवा);

(ग) उत्तर-पूरब में कलचुरियों का चेदि प्रदेश;

(घ) उत्तर दिशा में पंजाब, पेशावर आदि का अधिकांश भूखण्ड, जो तुरुष्कों पर विजय के फलस्वरूप इनके आधिपत्य में आया। तुरुष्कों से तो महाराज ने जयत्पत्र सा लिखा लिया था; वही विजय इनकी कीर्तिपताका को बढ़ाती गई।

(ङ) दक्षिण में गंगा-यमुना का पूरा दोआब जिसमें इटावा आदि शामिल है, तथा दक्षिण भारत के कुछ प्रदेश और भूखण्ड।

सूक्ष्म में यह कहा जा सकता है कि गोविन्दचन्द्र का राज्य विस्तार विस्तृत

---

१. History of Kanauj, pp. 348-49.

था तथा उत्तर भारत में उसका सार्वभौम शासन था। इस प्रकार उसके राज्य-काल में कन्नौज की कीर्ति पुनः स्थापित हो गई।[१]

अन्य देशों से सम्बन्ध—देशान्तरों के राजाओं से गोविन्दचन्द्र का घनिष्ट व्यवहार था। वे इनका बड़ा मान करते थे। काश्मीर नरेश लोहार-वंशीय जयसिंह के यहाँ एक विशाल राज्य सम्मेलन हुआ था जिसमें गोविन्दचन्द्र का दूत पंडित सुहल आमंत्रित होकर गया था। जयसिंह के मंत्री अलंकार ने दूतवर सुहल का अभिनन्दन किया—

> अन्यः स सुहलस्तेन ततोऽवन्धिते पंडितः।
> दूते गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जेस्य भूभुजः॥[२]

इसी प्रकार सुदूर दक्षिण में भी गोविन्द चन्द्र का व्यवहार फैला हुआ था। वहाँ के एक शासक सिद्धराज जयसिंह ने गोविन्दचन्द्र के दरबार में दूत भेजा था।[३] चोल देश (तान्जोर) से भी महाराज के सम्बन्ध थे। यह उस क्षतिग्रस्त अभिलेख से प्रमाणित होता है जो गंगेय-कोन्ड-चोलपुरम (चोल राज्य की प्राचीन राजधानी, त्रिचनापल्ली जिले में) से प्राप्त हुआ था। वह सन् ११११ के तुरन्त बाद का है और राजा कोलोतुंग प्रथम के समय का है। उसमें गाहरवालों की वंशावली यशोविग्रह से लेकर चन्द (गोविन्दचन्द्र) तक की दी गई है। लेख स्पष्ट नहीं है किन्तु ऐसा अनुमान है कि वह गाहरवाल वंशीय किसी राजकुमारी द्वारा जारी किया गया था जो चोल के किसी राजा, राजपुत्र या सामन्त को व्याही थी और जिसका अभिप्राय उन दानों आदि का विवरण देना था जो उसके द्वारा प्रदत्त हुए थे। इस सम्बन्ध में वाकाटक रानी प्रभावती का अभिलेख भी दृष्टव्य है कि जिसमें उसने अपने पिता, पितामह और प्रपितामह के नामों का उल्लेख किया है।[४] उक्त गाहरवाल-वंशीय राजकुमारी के खंडित अभिलेख के बारे में वेने कैया महोदय साफ तौर पर यह बताते हैं कि उस लेख से यह सिद्ध होता है कि कन्नौज के गाहरवालों और तान्जोर के चोलों में कुछ सम्बन्ध अवश्य था।[५]

---

1. *Cf.* Dr Tripathi, History of Kanauj, p. 312.
२. मंख कवि कृत श्रीकंठ-चरित्र।
३. प्रबन्ध चिन्तामणि, ३।१२१।
४. उक्त विवरण भारतीय विद्याभवन, बम्बई, के ग्रन्थ History and Culture of Indian People, Vol. V, पर अधिकांशितः आधारित है।
५. Annual Report of Archeological Survey of India, 1907-8 p. 228.

इस प्रकार सुदूर दक्षिण के राज्यों से भी गोविन्दचन्द्र का पारस्परिक सम्बन्ध लक्षित होता है।

गोविन्दचन्द्र के सिक्के – इनके समय के सोने और ताँबे के सिक्के बहुतायत से पाए गए हैं। सन् १८८७ में नानपारा (जि० बहराइच) ही में ८०० स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त हुई थीं। ताम्र मुद्राओं में सामने "श्रीमद्गोविन्दचन्द्र' लिखा है और पीठ पर लक्ष्मी जी की मूर्ति बनी है। सोने के सिक्कों पर 'श्रीमद्गोविन्द-चन्द्रदेव' लिखा है और साथ ही राजचिह्न त्रिशूल अंकित है। पुश्त पर वही लक्ष्मीं जी का चित्र है।[1] इससे विदित होता है कि शिव (त्रिशूल का चिह्न) और लक्ष्मी जी दोनों ही महाराज के इष्टदेव थे। साथ ही साथ महाराज को अन्य मतों से किसी प्रकार का द्वेष नहीं था। इनकी कई रानियाँ बौद्ध आचार्यों को गुरु मानती थीं और विपुल धन से बौद्ध धर्म की संस्थाओं को सहायता भी देती थीं।

स्वर्ण मुद्राओं में अन्य धातुओं का मिश्रण पाया गया है तथा उनकी बनावट बहुत साधारण कोटि की है। इससे विदित होता है कि उस समय राज्य दरबार को आर्थिक कठिनाइयाँ थीं।

महाराज की रानियाँ तथा संतति—गोविन्दचन्द्र की कई रानियाँ थीं जिनमें से निम्न के नाम मिलते हैं :—

(१) पटरानी नयनकेलि देवी, महाराज्ञी, पट्ट महादेवी।[2]

(२) गोसल्ल देवी, महाराज्ञी, पट्ट महादेवी।[3]

(३) कुमार देवी।

(४) बसन्त देवी।

(५) भीम देवी।

(६) दाल्हण देवी।

नं० १, नयकेलि देवी पटरानी थी क्योंकि इनकी उपाधि पट्टमहादेवी की थी जो पटरानी-पद सूचित करती है। नं० २, गोसल्लदेवी के नाम के साथ भी यही उपाधि है जिससे जान पड़ता है कि नं० १ के अवसान के बाद यह पटरानी

---

१. "*Catalogue of Coins in Indian Museum*" by V. A. Smith, Vol. I, pp. 257, 260-61.

२. ए० इं०, भाग ४, पृ० १०८; इं० भा०, १८, पृ० २१।

३. Archeological Survey of India Report (1881), Vol. I, p. 96; List of Inscriptions of Northern India by K Horbes.

हुई। नं० ३ कुमार देवी चिक्कोर वंश की राजकन्या थीं। इनके पिता का नाम देवरक्षित था जो पीठिका (या पीठी) के राजा थे। यह बौद्ध धर्म की चेली थीं। इन्होंने एक मंदिर बनवा कर बौद्ध मत के जितसेन को दिया था। इसके अतिरिक्त एक प्राचीन किन्तु खंडित बौद्ध मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया था[1] तथा कुछ बौद्ध विहार भी निर्मित करवाए थे या उनका जीर्णोद्धार करवाया था। नं० ४, वसन्तदेवी भी, बौद्ध धर्म के महायान पन्थ की थीं जैसा कि अष्ट-साहश्रिका[2] नामक ग्रन्थ के निम्न वाक्य से विदित होता है :—

"श्रीमद् गोविन्दचन्द्रदेवस्य प्रतापवसतः राज्ञी श्रीप्रवर-महायान यायिन्याह परमोपासिका राज्ञी वसन्तदेव्यादेय धर्मोयम्।"

भावार्थ, अत्यन्त प्रतापी श्रीमान गोविन्दचन्द्र देव की रानी बसन्तदेवी श्रीप्रवर महायान की परम उपासना करने वाली थीं। उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। नं० ५ (भीम देवी) और नं० ६ (दाल्हण देवी) के बारे में जानकारी नहीं है।

गोविन्दचन्द्र की बहु पत्नियाँ तथा उनको बड़े-बड़े दान देने में उत्साहित रखने से प्रकट होता है कि महाराज सौन्दर्यासक्त अवश्य थे। लड़ाकू जातियों में बहु-संतान की कामना स्वाभाविक है, अतः उनमें बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। क्षत्री राजाओं में भी यही सिद्धान्त लागू होता था। धर्मशास्त्रों में भी बहु-विवाह का निषेध नहीं है। सम्भव है कि गोविन्दचन्द्र ने जिन-जिन राजाओं को पराजित किया उनकी राजकन्याओं को विवाहित कर लिया।

× × ×

गोविन्दचन्द्र के तीन पुत्र थे, यथा—

(क) अस्फोटचन्द्र देव जो जेष्ठ होने के नाते महाराज पुत्र (यानी युवराज) था। सन् ११३४ में युवराज पद पर अभिषिक्त होने पर उसने पिता की अनुमति से एक दान किया था जिसका उल्लेख गोविन्दचन्द्र और युवराज अस्फोटचन्द्र के बनारस ताम्रपत्र में है।[3] महाराज के जीवनकाल ही में यह गत हो गया था, कदाचित् किसी संग्राम में।

(ख) राज्यपाल देव जिसने सन् ११४२ में पिता की अनुमति से एक गाँव

---

१. कुमार देवी का सारनाथ शिलालेख।

२. यह अप्रकाशित पुस्तक नेपाल राज्य दरबार के पुस्तकालय में है (तीसरे संग्रह का क्रमांक ३८१)।

३. Ed. Ind., VIII, pp. 155-56.

दान में दिया था जिसका उल्लेख गगहा (जि० गोरखपुर) के ताम्रपत्र[१] में है जो गोविन्दचन्द्र और राज्यपाल द्वारा जारी हुआ था। इसके अतिरिक्त भदैनी मन्दिर (बनारस) ताम्रपत्र[२] से ज्ञात होता है कि इसने एक नगर भी बसाया था जो इसी के नाम पर राजपालपुर कहलाता था। यह भी अपने पिता के समय ही में दिवंगत हुआ।

(ग) विजयचन्द्र जो सबसे छोटा था और जो महाराज का उत्तराधिकारी हुआ।

महाराज के पौत्र (और विजयचन्द्र के पुत्र) जयचन्द्र का जन्म भी महाराज के जीवनकाल ही में हुआ जैसा कि नयचन्द्रकृत रम्भामंजरी में बताया गया है। पौत्र के जन्मदिवस के दिन ही महाराज ने दशार्ण देश पर विजय पाई—इस भूखंड की पहचान पूर्वी मालवा से की गई है।

गोविन्दचन्द्र की विद्वत्ता तथा विद्या प्रेम—महाराज बड़े विद्यानुरागी थे। उनकी उपाधि "विविध-विद्याविचारवाचस्पति" (बृहस्पति के समान) से स्पष्ट है कि वह कई विद्याओं के पंडित थे। काव्य प्रेमी और कवियों के आश्रयदाता भी थे। इनके समय में शंखधर नामक कवि हुए जिन्होंने लटक-मेलक (प्रहसन) रचा।[3] इनकी रानी कुमारदेवी के सारनाथ शिलालेख का लेखक आठ भाषाओं का जानने वाला था।

इसके अतिरिक्त महाराज की आज्ञा से लक्ष्मीधर ने व्यवहार-कल्पतरू (या कृत्य-कल्पतरू या कृत्य-कल्पद्रुम) नामक ग्रन्थ बनाया। लक्ष्मीधर महाराज के मंत्री थे और उनका पद संधि-विग्रहिक का था। उन्होंने अन्य ग्रन्थ भी लिखे किन्तु व्यवहार कल्पतरू की विशेष ख्याति है। यह विशाल ग्रन्थ है जिसमें १४ वृहत्त खंड (कांड) हैं। उन खंडों में मुख्य है व्यवहार-कल्पतरु, विवाद-कल्पतरु, दान-कल्पतरु, राजधर्म-कल्पतरु। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे निम्न विषयों का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है :—

समाज-वर्ण-व्यवस्था;	श्राद्ध;
आश्रम-व्यवस्था;	तीर्थ;
गृहस्थ-धर्म;	राजधर्म;
दान, व्रत, पूजा;	व्यवहार (न्याय व्यवस्था);
शुद्धि, यज्ञ;	मोक्ष-धर्म।

---

१. Ibid, XIII, pp. 216-20.
२. Ibid. VIII, pp. 156-58.
३. भारतीय इति वृत्ति, पृ० ४६।

इन विषयों के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने तत्कालीन जीवन के उन आदर्शों की रक्षा की है जिनको मिटाने के लिए तुर्क लोग कटिबद्ध थे। गोविन्दचन्द्र के बारे में भी ग्रन्थ में अनेक बातें आई हैं जिनका जिक्र किया जा चुका है। लक्ष्मीधर ने न्याय और व्यवस्था आदि पर अन्य ग्रन्थ भी लिखे किन्तु कल्पतरु उनमें मुख्य है।

लक्ष्मीधर गोविन्दचन्द्र की शान्ति तथा युद्ध मन्त्रीश्वर था—महासन्धि-विग्रैहिक। उसी की मन्त्रणा से महाराज ने तुरुष्क-विजय की थी तथा अन्य विजयें भी। महामन्त्री (मन्त्रीश्वर) लक्ष्मीधर विद्वान, वीर, शासन-प्रबन्धकर्ता तथा शास्त्रज्ञ था। उसने काशीपति (गोविन्दचन्द्र) का राज-राजत्व प्रतिष्ठित किया, यथा—

. पृथ्वी साधयता समुद्रवसना श्रीदेवकाशीपते।[१]

[समुद्र-वसना पृथ्वी का काशिराज श्रीदेद्र (गोविन्दचन्द्र) ने शासन किया]

गोविन्दचन्द्र के दरबार के दूसरे रत्न सुहल पंडित थे जो उस समय के योग्यतम विद्वानों में गिने जाते थे। विदेश सम्बन्धी मामलों में वे निपुण थे और अन्य प्रदेशों में जाकर महाराज का प्रतिनिधित्व करते थे।

लक्ष्मीधर और सुहल पंडित के अतिरिक्त महाराज के दरबार में अनेक विशिष्ट ग्रन्थकार थे किन्तु उनके ग्रन्थ अप्राप्य होने के कारण उनके नाम ज्ञात नहीं। इस सम्बन्ध में डॉ० त्रिपाठी लिखते हैं—

"Perhaps there were many other authors of repute in the court of Govind Chandra who is himself described in the grants as—

विविधविद्या-विचार-वाचस्पति,

but their works having disappeared, it is impossible to rescne their names from the oblivion of time."[२]

गोविन्दचन्द्र की दानवीरता—महाराज जितने रणवीर थे उससे कहीं अधिक दानवीर थे। इनके दानपत्र इनके राज्यकाल के प्रायः प्रत्येक वर्ष के पाए गए हैं, जैसे—

---

१. कल्पतरु, जिल्द १, पृ० २।
२. History of Kanauj, p. 314.

सन्	सन्
११०४;	११२५-२६ लगायत ११२८-२९;
११०५;	११३० लगायत ११३४;
११०९;	११३९ लगायत ११४५;
१११४;	११५०-५१
१११५-१६;	११५१;
१११७ लगायत ११२१-२२;	११५४

इनकी उदारता इससे भी सिद्ध है कि यह गाँव के गाँव दान करते थे। सब दान शास्त्रोक्त विधान से करते थे जिसका उदाहरण प्रतापगढ़ जिले में पाया गया ताम्रपत्र है। यह ताम्रपत्र कौहरिया ग्राम में बाराही मन्दिर के समीप सई नदी के तट पर मिला है। उसमें महाराज्ञी और युवराज सहित दान का वर्णन है। यह भूमिदान कश्यप गोत्रीय ब्राह्मणों को दिया गया था—एक का नाम ठा० श्रीशील शर्मण और दूसरे का ठा० श्रीकुमार था।

जान पड़ता है कि जिस तीर्थ को यह जाते थे वहाँ भी दान करते थे।[1] गंगा-स्थान के पर्वों पर भी दान करते थे।[2]

महाराज की रानियाँ भी उन्हीं के समान उदार थीं। एक रानी भीमदेवी थीं जिनके गुरु हरगोविन्द थे। उन्हें गुरुदक्षिणा में रानी ने अवध का एक वृहत्त भूखंड दिया था जिसका उपभोग हरगोविन्द् के वंशज १४ पीढ़ी तक करते रहे।[3]

महाराज की उपाधियाँ तथा धर्म—इनकी उपाधियाँ निम्नलिखित थीं :—

परमभट्टारक;	अश्वपति;
महाराजाधिराज;	गजपति;
परमेश्वर;	नरपति;
परममाहेश्वर	राजत्रयाधिपति;
गाधिपति;	विविधविद्या-विचार-वाचस्पति।

महाराज परममाहेश्वर थे अर्थात् शिव के अनन्य भक्त। साथ ही वे दूसरे धर्मों के प्रति भी उदार थे तथा बौद्धधर्म की ओर उनका विशेष लगाव था और

---

१. ए० ई०, भाग ४, पृ० १०१-१०३ तथा पृ० १०४-०६ (वाराणसी सम्बन्धित)। यह कमौली (जि० वाराणसी) के दो दानपत्र हैं।

२. वही, पृ० १००, १०८; जर्नल बं० ए० सो०, भाग ३७, पृ० २४२।

३. Lucknow Gazetteer (1904), p. 137.

वे उसके संरक्षक भी थे। सारनाथ उनके अधिकार क्षेत्र में था और शासन द्वारा उसकी देख-रेख भी होती थी। इनके सहेत-महेत (जि० गोंडा) अभिलेख (११२९ ई०)[१] से ज्ञात होता है कि महाराज ने ६ गाँव जीत वन[२] विहार में रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं (सावय भिक्षुओं) को दान में दिए थे। इन भिक्षुओं का अगुआ बुद्ध-रक्षित आचार्य था। कतिपय उच्चकोटि के बौद्ध विद्वानों से प्रभावित होने के फलस्वरूप महाराज ने इतना बड़ा दान दिया था।

बौद्ध धर्म के प्रति महाराज कितने उदार थे वह इससे भी विदित होता है कि उनकी कम से कम दो रानियाँ (कुमारदेवी तथा भीमदेवी) बौद्धधर्म की अनुयायी थीं। कुमारदेवी के सारनाथ लेख से ज्ञात होता है कि उसने भारत का सर्वश्रेष्ठ विहार (धर्मचक्र-जिन-विहार) बनवाया था (विहारो नव-खंड-मंडल महीहारः कृतोऽयं तया)[3] और उसमें वसुधरा देवी की प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया था। उस लेख में अशोक विहार और धर्मचक्र की रक्षा का भी उल्लेख है।[४] सारनाथ में स्थित कई प्राचीन इमारतों का जीर्णोद्धार भी इन्हीं महारानी ने करवाया था। इस प्रकार सारनाथ बौद्धधर्म का स्फुरित केन्द्र हो गया था।

गोविन्दचन्द्र की धर्म सहिष्णुता का एक प्रमाण यह भी है कि उन्हीं की तरह उनका मंत्रीश्वर लक्ष्मीधर भी वैदिक धर्म का अनुयायी होने के साथ-साथ बौद्धधर्म के प्रति उदार था। कृत्यकल्पतरु में उसने लिखा है कि विहार (बुद्ध विहार) बनवाना पुण्यकर्म है।[५] यह भी कहा है कि महात्मा बुद्ध विष्णु का अवतार थे तथा दशावतारों में उनकी गणना होती है।[६]

गोविन्दचन्द्र का मूल्यांकन तथा अन्त—उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाराज प्राचीन भारत के एक महान तथा दूरदर्शी शासक थे जिनके मूल्यांकन में निम्न बातें आती हैं—

(१) वीर और साथ ही साथ बुद्धिमान योद्धा तथा कुशल शासक। इनका यश दूर-दूर तक फैला था जिसके फलस्वरूप अनेक राजा इनकी मित्रता के लिए लालायित रहने लगे थे।

(२) तुरुष्कों से देश की रक्षा करना इन्होंने अपना परम धर्म समझा।

(३) महादनी नृप।

---

१. Ep. Ind., XI, pp. 20-26.

२. जीतवन में महात्मा बुद्ध बहुत समय तक रहे थे।

३-४. पंक्त २३; २५-२६।

५. कृ०क०, जिल्द ५, पृ० २७५, पंक्ति ३-४।

६. वही, जिल्द ६, पृ० ३३१-३३३; ४०२।

(४) पिता-भक्त पुत्र ।

(५) वैदिक धर्म का अनुयायी तथा साथ ही अन्य धर्मों के प्रति श्रद्धावान ।

(६) स्वयं प्रगाढ़ विद्वान तथा विद्वानों का आदरकर्ता । कला का भी उन्नायक ।

गोविन्दचन्द्र का राज्यकाल, सन् १११० से प्रारम्भ होता है और लगभग ११५८ तक व्यतीत होता है, यानी लगभग ४८ साल । अनुमान है कि पुत्र शोक के कारण इनका बुढ़ापा सुखी न रहा । इनका बड़ा पुत्र आस्फोटचन्द जिसका युवराजाभिषेक हो चुका था और जो राजकाज में कुशलता प्राप्त कर चुका था सिंहासनारूढ़ न हो सका—युवावस्था में ही उसकी मृत्यु हो गई । दूसरा पुत्र राज्यपाल भी महाराज का प्रिय था क्योंकि उसके दान पत्र भी पिता की सम्मति से दिए गए मिलते हैं तथा यह भी सिद्ध है कि उसने एक नगर बसाया जैसा कि पहले कहा जा चुका है । वह भी युवावस्था में पिता के जीवनकाल ही में स्वर्गवासी हुआ । इन दोनों राजपुत्रों की अल्पायु या तो पिता के रचे हुए संग्रामों में हुई अथवा किसी अन्य प्रकार । फलतः तीसरा पुत्र विजयचन्द इनका उत्तराधिकारी हुआ जिसका विशेष वर्णन गोविन्दचन्द्र की शौर्यकथा में नहीं मिलता ।

इस प्रतापी सम्राट ने, जिसने शत्रुओं को पराजित कर गंगा-यमुना द्वाब में मध्य देश की रक्षा की और आर्य संस्कृति का उत्कर्ष किया, जीवन की संध्या में सन्यास ग्रहण किया । बाद में योगध्यान तथा अद्वैत धर्म का पालन करते हुए देह त्याग दी ।

कृतकल्पतरु के अनुसार गोविन्दचन्द्र ने वृद्धावस्था में विजयचन्द्र को राज्य सौंप कर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया, यथा—

> कोशान् गेहेष्व मुंचन् पथिकरि-तुरगान् वान्धवानर्ध मार्गे ।
> दुर्गे ह्यन्तः पुराणि प्रतिरव चकिताः पर्वतेभ्यो निवृताः ॥[१]

अर्थात् वह कोश, सेना, मित्र, परिवार, दुर्ग और अन्तःपुर को छोड़कर पर्वतों पर योगी हो गया था ।

उसी ग्रन्थ में यह भी आया है कि 'ऐसा शासक गोविन्दचन्द्र निःसन्देह ज्ञान और पराक्रम का निवास स्थान था; काम, माया आदि के पाशों को काट कर कुछ ही दिनों में उस कृतकार्य सम्राट ने अद्वैत (ब्रह्ममय जगत) ज्ञान को प्राप्त कर लिया'[२] (अद्वैत मारोपितः) ।

---

१. कृतकल्पतरु, जि० १, पृ० २, श्लोक ६ ।

२. कृ० कृ० जिल्द १, पृ० २, श्लोक ५ ।

इस प्रकार इस परम धार्मिक तथा दार्शनिक चिन्तक नृप ने वृद्धावस्था में पुत्र-पौत्रों की उपस्थिति में शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करते हुए वानप्रस्थ आश्रम का आश्रम लिया।

६. विजयचन्द्र, चौथे शासक
(११५६-११७० ई०)

नोट—विजयचन्द्र सम्बन्धित अभिलेख जिनका जिक्र आगे किया जायगा निम्नांकित हैं—

नाम अभिलेख	विक्रम संवत्	सन् ई०	सन्दर्भ
१	२	३	४
१. विजयचन्द्र और युवराज जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र लेख	१२२४	११६७	Ep. Ind., IV, pp. 117-20.
२. जौनपुर का शिलालेख	१२२५	११६८-६९	Ep. Ind., V, Appendix, p. 22, no. 150.
३. विजयचन्द्र और युवराज जयचन्द्र का ताम्रपत्र लेख	१२२५	,,	Ind. Antq., XV, pp. 7-13
४. ताराचन्दी (बिहार के शाहाबाद जिले में) चट्टान अभिलेख (महानायक प्रतापधवल का) जिसमें विजयचन्द्र का उल्लेख है।	१२२५	,,	Ep. Ind. V, Appendix, p. 22, No. 153.

उक्त लेखों में से दो (नं० १ और ३) में राजपुत्र जयचन्द्र के युवराज-पद का भी जिक्र है जिससे ज्ञात होता है कि इनके समय तक युवराज सम्बन्धित वही पुरानी शासन पद्धति रही जो महाराज चन्द्रदेव के समय से चली आती थी। उसके अनुसार ज्येष्ठतम राजपुत्र को बालिग अवस्था प्राप्त होने पर या उसके कुछ समय बाद युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया जाता था और तभी से राज्य-शासन व्यवस्था में उसे कतिपय राजतन्त्र अधिकार प्राप्त हो जाते थे।

इस प्रकार जयचन्द्र भी युवराज की हैसियत से कुछ शासकीय अधिकारों का उपयोग करते थे। अभिलेख नं० ३ जो सन् ११६८-६९ का है विजयचन्द्र और युवराज जयचन्द्र दोनों ही का है। उसके शीघ्र बाद सन् ११७० में जयचन्द्र का ही समय आ जाता है।

विजयचन्द्र के अन्य नाम भी मिलते हैं, यथा—

विजयपाल	....	चन्दबरदाईकृत पृथ्वीराज रासो[1] में।
मल्लदेव	....	नयचन्द्रकृत रम्भामंजरी में।[2]
देवपाल	....	भविष्य पुराण में।[3]

विजयचन्द्र की विजयें, युद्ध आदि—इनका राज्यकाल लगभग २४ साल रहा। चूंकि गोविन्दचन्द्र ने दीर्घकाल तक राज्य किया[4] अतएव सिंहासनारूढ़ होने के समय विजयचन्द्र की काफी उम्र हो चुकी थी और उनका शासन-समय भी अधिक न रहा। इसी कारण उनके गुण-जौहर के प्रकाश को अवकाश ही न मिला। फिर भी इनके वीर होने में सन्देह नहीं। जैसा ऊपर कहा गया है इनका एक नाम मल्लदेव भी था जिससे विदित होता है कि यह उच्च कोटि के योद्धा थे। इनकी शूरता निम्न पद से भी झलकती है जो इनके तथा युवराज जयचन्द्र के ताम्रपत्र लेख (संवत् १२२५=११६८-६९ ई०) में उत्कीर्ण है—

भुवन-दलन-हेला हर्म्य-हम्मीर नारी।
नयन-जलद-धारा धौत भूलोकः ताप: ॥[5]

अर्थात् उसने (विजयचन्द्र ने) हम्मीर[6], जो संसार को नष्ट करने के प्रयास में रत रहता था, की पत्नियों की अश्रुधारा से भूलोक के ताप को दूर किया।

जान पड़ता है कि इनके आतंक से तुरुष्क अमीर लोग त्राहि त्राहि करते थे। जयचन्द्र सम्बन्धित लेखों में विजयचन्द्र को दिग्विजयी कहा गया है जिससे भासित होता है कि उन्होंने दूर देशों में जाकर तुरुष्कों आदि को परास्त किया।

विजयचन्द्र का युद्ध किन तुरुष्क अमीरों से हुआ यह स्पष्ट नहीं है। अनुमानतः अमीर खुसरो से अभिप्राय जान पड़ता है। खुसरो को सुल्तान अलाउद्दीन

---

१. श्यामसुन्दर दास का संस्करण, पृ० १२३, पाद-टिप्पणी।
२. बम्बई संस्करण, १८९९, पृ० ४।
३. भ०पु०, ३।५।३,७।
४. गोविन्दचन्द्र का राज्यकाल (४६ साल) दो पीढ़ियों से कम न था।
५. उल्लिखित लेख का श्लोक ९।
६. तुरुष्क अमीर।

गोरी[1] ने गजनी का प्रबन्ध सौंपा था जिसके बाद खुसरो ने पंजाब पर अधिकार कर लिया था। स्यात् उसका विचार हिन्दुस्तान में राज्य स्थापन करने का था। उसकी मृत्यु ११६१ ई० में हुई जिसके बाद उसका पुत्र खुसरो मलिक पंजाब का शासक हुआ। सम्भवतः इन्हीं दोनों से विजयचन्द्र की मोर्चाबाजी रही हो। अन्त में शहाबुद्दीन गोरी[2] ने पेशावर, मुल्तान और पंजाब से खुसरो मलिक को हटाया। इससे प्रतीत होता है कि कन्नौज राज्य का उत्तरी भाग विजयचन्द्र के समय में बहुत कुछ निकल गया।

चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज-रासो में कहा है कि विजयचन्द्र ने दिग्विजय करते समय पूर्वी समुद्रतट के कटक के सोमवंशी राजा मुकुन्ददेव पर चढ़ाई की किन्तु मुकुन्ददेव का साहस उनका सामना करने का न हुआ। प्रत्युत उसने महाराज का स्वागत किया और उन्हें प्रसन्न करने के लिए अतुल धन और अपनी कन्या महाराज को भेंट की तथा संयोगिता इसी से उत्पन्न थी।

रासोकार ने इसी प्रकार की अन्य बातें भी लिखी हैं जैसे कि उक्त घटना के बाद महाराज सेतुबन्ध गए; वहाँ से लौटते हुए कई देश जीते जिनमें तैलंग, कर्नाट, मिथिला, पुंगल, आसेर, गुर्जर, गुण्ड, मगध और कलिंग थे। अन्त में उन्होंने पट्टनपुर (अनहिलवाड) के राजा भोला भीम पर चढ़ाई की और भीम के पुत्र ने उन्हें धन देकर संतुष्ट किया। इस तरह समग्र देश पर उन्होंने अपना एक मात्र अधिकार कर लिया; केवल अजमेर के चौहान राजा ने उनकी अधीनता स्वीकार न की। इतिहासकारों ने रासो का उक्त वर्णन विश्वस्त नहीं माना है। विजयचन्द्र की वृद्धावस्था के थोड़े समय में यह सब कथन अमान्य है। विद्वानों ने रासो को अप्रामाणिक ग्रन्थ माना है।

इसी प्रकार हेमचन्द्र ने अपने कुमारपाल-चरित महाकाव्य में लिखा है कि मगध के कुमारपाल ने कन्नौज को नष्ट किया और कन्नौज नरेश को भयातुर किया। यह कन्नौज नरेश कौन था यह नहीं बताया गया है किन्तु वह या तो गोविन्दचन्द्र या विजयचन्द्र हो सकता है क्योंकि कुमारपाल का राज्यकाल (लगभग ११४४-११७२ ई०) इन्हीं दो नरेशों के समय के अन्तर्गत आता है। कुमारपाल जैसे छोटे राजा के लिए गोविन्दचन्द्र ऐसे शक्तिशाली शासक को पराजित करना सम्भव नहीं माना जा सकता। अतः पराजित नृप विजयचन्द ही हो सकता

---

१. गजनी राज्य का शासक।
२. शहाबुद्दीन गोरी (जो मोहम्मद गोरी के नाम से भी जाना जाता है) अलाउद्दीन गोरी का छोटा भाई था। अलाउद्दीन के बाद वह स्वयं गजनी का शासक हुआ।

है किन्तु यह सम्भावना भी संदिग्ध है क्योंकि एक तथ्य से विजयचन्द्र का मगध के कुछ भाग पर अधिकार होना प्रमाणित होता है। वह तथ्य दक्षिण मगध के सामन्त राजा प्रतापधवल की सन् ११६९ की उद्घोषणा[1] है जिसमें कहा गया है कि उसकी अमलदारी के अन्तर्गत कलहन्डी और बदपिल ग्रामों का दान विजयचन्द्र ने अपने सेवक देउ को दान में दिए थे किन्तु सम्बन्धित ताम्र दानपत्र को कुछ ब्राह्मणों ने छलपूर्वक देउ को रिश्वत देकर प्राप्त कर लिया है। उद्घोषणा में प्रतापधवल ने अपने उत्तराधिकारियों को आगाह किया था कि वे उक्त दान पत्र को मान्यता न दें बल्कि उन गाँवों का लगान (उत्पादन के आंशिक रूप में) बदस्तूर वसूल करते रहें। विजयचन्द्र द्वारा देउ को दिए गए ग्रामदान से सिद्ध होता है कि दक्षिण बिहार (मगध का भाग) पर उनका प्रभुत्व था तथा प्रतापधवल उनका सामन्त राजा था।

विजयचन्द्र का राज्यविस्तार—पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में विजयचन्द्र ने एक विशाल तथा सुगठित राज्य पाया था। उसका सम्हालना उस संघर्षकाल में आसान काम न था। अतः विजयचन्द्र को यह श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने उस पैत्रिक राज्य को करीब-करीब सुरक्षित रखा। करीब-करीब शब्द का प्रयोग इसलिए करना पड़ता है कि अवश्य ही उस विस्तृत राज्य का कुछ भूभाग विजयचन्द्र के अधिकार से निकल गया।

उक्त भूभाग कन्नौज प्रदेश के उत्तर और पश्चिम में थे। उत्तर में हुई क्षति का जिक्र पहले किया जा चुका है; पश्चिम के ओर की स्थिति नीचे वर्णित की जा रही है।

पश्चिम में साकम्भरी के चाहमान राजा विग्रहराज बीसल देव ने विजयचन्द्र के राज्य को क्षति पहुँचाई जिसके फलस्वरूप दिल्ली का भूभाग जो चन्द्रदेव के समय से कन्नौज साम्राज्य का अंग था विजयचन्द्र के अधिकार से निकल गया। यह निम्न अभिलेखों से प्रमाणित होता है :—

(क) दिल्ली-शिवालिक स्तम्भ या फीरोज-कोटला लाट सन् ११६४ का एक लेख उत्कीर्ण है जिसमें अभिमान पूर्वक बताया गया है कि विग्रहराज ने विन्ध्या और हिमालय के बीच के भूभाग पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था।[2]

(ख) विजोलिया (मेवाड़) का अभिलेख[3] जिसमें बीसलदेव द्वारा दिल्ली-विजय का उल्लेख है।

---

१. ताराचन्दी का चट्टान अभिलेख, दृष्टव्य पूर्वांकित तालिका।
२. Ind. Antq., XIX, p, 219.
३. J. A. S. B., LV, Pt. I (1886), p. 42, Verse 22.

(ग) इसी प्रकार दिल्ली संग्रहालय का अभिलेख[1] बताता है कि दिल्ली में चाहमानों का कुछ काल तक निवास स्थान रहा जिसके बाद मोहम्मद गोरी ने दिल्ली को जीत लिया था।

अतः जान पड़ता है कि बीसलदेव ने विजयचन्द्र के राज्यकाल में कन्नौज साम्राज्य का दिल्ली भूभाग हस्तगत कर लिया था।

इस प्रकार उत्तर और पश्चिम की दिशाओं में विजयचन्द्र का राज्यविस्तार क्षति को पहुँचा प्रतीत होता है।

महाराज की रानियाँ तथा जयचन्द्र का युवराज्याभिषेक—विजयचन्द्र की दो रानियों का उल्लेख मिलता है। नयचन्द्र की रम्भामंजरी में महाराज की रानी (जो पटरानी थीं) का नाम चन्द्रलेखा बताया गया है जिन्होंने जयचन्द्र को जन्म दिया, यथा—

चन्द्रलेखायास् तनुजन्मा जैत्रचन्द्रो।[2]

इसके विपरीत पृथ्वीराज-रासो में विजयचन्द्र की रानी तथा जयचन्द्र की माता का नाम सुन्दरीदेवी बताया गया है और कहा गया है कि वे दिल्ली के शासक अनंगपाल तोमर की सबसे बड़ी पुत्री थीं।[3]

रासो में यह भी कहा गया है कि कटक के सोमवंशी राजा मुकुन्ददेव ने विजयचन्द्र को अपनी पुत्री को ब्याह में दिया था। यह उसने महाराज से मैत्री स्थापित करने के अभिप्राय से किया था। पुत्री का नाम नहीं बताया गया है।

आषाढ़ शुक्ला १० सं० १२२४ (१६ जून ११६८ ई०) रविवार को महाराज ने चन्द्रलेखा रानी से उत्पन्न अपने पुत्र जयचन्द्र का युवराज्याभिषेक कर दिया।

भविष्य पुराण में विजयचन्द्र का उल्लेख—इस पुराण में विजयचन्द्र को देवपाल के नाम से कहा गया है। उसे राष्ट्रपाल-वंशीय बताया गया है—देवपालय शुद्धाय राष्ट्रपालान् वाय च।[4] अतः गाहड़वाल वंश का मूल राष्ट्रपाल (राष्ट्रकूट) वंश से होना विदित होता है। भविष्य पुराण में यह भी आया है विजयचन्द्र ने अनेक राजाओं के ऊपर विजय प्राप्त की और पिता के समान ही राज्य किया—

---

१. Ep. Ind., I, pp. 93-94, verse 4.

२. रम्भामंजरी, प्राक्कथन, पृ० ४, तथा अंक १, पृ० ६।

३. रासो, श्यामसुन्दर दास का संस्करण, पद्य ६८१-८२, पृ० १३०।

४. भ० पु० ३।५।३, ७।

जित्वा भूपाननेकशः; पितुस्तुल्यं कृतं राज्यम् ।[1]

उनकी रानी का नाम अनंगपाल की पुत्री चन्द्रकान्ति बताया गया है (जो चन्द्र-लेखा का ही दूसरा नाम था) और उसी से जयचन्द्र तथा रत्नभान की उत्पत्ति बताई गई है। पृथ्वीराज-रासो में भी अनंगपाल तोमर की दो पुत्रियाँ बताई गई हैं जिनमें एक का विवाह विजयचन्द्र से तथा दूसरी का पृथ्वीराज तृतीय के पिता सोमेश्वर के साथ हुआ था, यथा—

अनंगपाल पुत्री उभय, इक धन्नी विजयपाल ।
इक वन्नी सोमेस कौं बाज बवन कलि काल ॥[2]

विजयचन्द्र के इष्टदेव तथा उपाधियाँ—महाराज के इष्टदेव शंकर भगवान थे जो इनके कुल के भी इष्टदेव थे। अपने पूर्वजों की भाँति यह भी परम-माहेश्वर (शंकर जी के परम भक्त) कहे जाते थे। इसके अतिरिक्त यह विष्णुभक्त भी थे और इन्होंने अनेक भगवान-मंदिर भी बनवाए थे।

इनकी भी वही उपाधियाँ थीं जो पिता गोविन्दचन्द्र की थीं अर्थात् परम-भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधि-पति, विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति ।

चारित्रिक गुण—महाराज विजयचन्द्र परम विद्वान थे और विद्वता के कारण ही उन्हें विद्वानों द्वारा विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति की उपाधि से सम्मानित किया गया था। वे विद्वानों का आदर करने वाले तथा उन्हें आश्रय देने वाले भी थे। नैषध-चरितम् तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष उनके (तथा बाद में जयचन्द्र के भी) दरबारी कवि थे। दरबार में महाराज स्वयं अपने हाथ से उन्हें दो बीड़ा पान और आसन देकर सम्मानित करते थे, यथा—

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात ।[3]

[उन्हें (दरबार में) कान्यकुब्जेश्वर के हाथ से दो[4] बीड़ा पान प्राप्त होते थे और उन्हीं के द्वारा आसन भी दिया जाता था।]

---

१. भ० पु०, ४।३।७१ ।

२. पृ० रा०, आदि कथा, ३८ ।

३. महाकवि श्रीहर्ष विरचित नैषधीय चरितम्; ग्रन्थ के अन्त में कवि प्रशस्ति का श्लोक ४ ।

४. दो बीड़ा पान विशिष्ट व्यक्तियों को ही दिया जाता था; अन्य लोगों को एक बीड़ा ही मिलता था। फिर स्वयं शासक के हाथ से मिलना उच्चतम सम्मान सूचक माना जाता था।

महाराज में अन्य सभी राजकीय गुण प्रचुर मात्रा में समाहित थे। उनके गुणों का वर्णन श्रीहर्ष ने अपने विजय-प्रशस्ति नामक काव्य ग्रन्थ में किया है। यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है किन्तु उसका अस्तित्व अविवादास्पद है। इस तथ्य का एक प्रमाण श्रीहर्ष विरचत नैषधीय चरितम् में मिलता है जिसमें ग्रन्थकार ने अपने द्वारा विरचित विजयप्रशस्ति का उल्लेख किया है, यथा—

तस्य श्रीविजय-प्रशस्ति रचना तातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीय चरिते सर्गोऽगमत् पंचमः ॥[1]

अर्थात् उसके (श्रीहर्ष के) रचित विजय-प्रशस्ति नामक ग्रन्थ का सहोदर (यानी दोनों ग्रन्थों का एक निर्माणकर्ता होने से सहज भाई) सुन्दर नैषधचरित नामक महाकाव्य का यह पंचम सर्ग समाप्त हुआ।

विजयचन्द्र सम्बन्धित निम्न तीन श्लोक (संख्या १०, ११, १२) जयचन्द्र के फैजाबाद ताम्र दानपत्र[2] (सं० १२४३ = ई० ११८६) में उत्कीर्ण हैं जिनसे इनके चरित्र का आभास मिलता है :—

अजनि विजयचन्द्रो नाम तस्मान् नरेन्द्रः
सुरपतिरिव भूभृत् पक्ष विच्छेद दक्षः।
भुवन दलनहेला हर्म्य हम्मीर नारी
नयन जलद धारा धौत भूलोक तापः ॥१०॥
लोकत्रया क्रमण केलि विश्रृंखलानि
प्रख्यात कीर्ति कवि वर्णित वैभवानि।
यस्य त्रिविक्रम पद क्रमभांजि भान्ति
प्राद्द्योत यन्ति बलिराज भयं यशान्शि ॥११॥
यस्मिश् चलत्यु दधि नेमि मही जयार्थम्
माद्यत करीन्द्र गुरुभार निपीडि ते व।
याति प्रजापति पदं शरणार्थिनी भूस्
त्वंगत् तुरंग निवहोत् थर जश्छलेन ॥१२॥[2]

उक्त श्लोकों का अंग्रेजी अनुवाद जर्मनी के प्रो० कीलहार्न ने निम्न प्रकार किया है :—

Verse 10—From him (Govind Chandra) was born the ruler of men, Vijayachandra by name, expert in destroying the

---

१. नैषध-चरित, ५।१३८।

२. Indian Antiquary, XV (1886 A. D.), pp. 6 et seq.

hosts of (hostile) princes, as the lord of the gods (was) in clipping the wings of the mountains. He swept away the affliction of the globe by the streams (of water flowing as from clouds) of the tears of the wives of Hammira, the abode of wanton destruction on the earth.

Verse 11—His bright fame which met with no check in its playful course through the three worlds and whose glory was sung by poets of known renown, made intense the fear of king Bali when he strode along like Trivikrama (i. e. Vishnu).

Verse 12—When he goes out to conquer the earth g rt by the ocean, the earth distressed, as it were, by the heavy weight of his mtty royal elephants, goes seeking protection upto the throne of Prajapati, in the guise of the dust rising from the multitude of his prancing horses[1].

७. महाराज जयचन्द्र, पाँचवें शासक

इन पर आगे का अध्याय संख्या २० सृजत किया गया है।

८. हरिश्चन्द्र, अन्तिम शासक; वंश का अन्त

अध्याय संख्या २१ में उक्त विजय सम्बन्धित बातें उल्लिखित की गई हैं।

●

---

१. Indian Antiquary, XV (1886 A. D.), pages 6 et seq.

अध्याय–२०

गाहरवाल वंश-उत्तरार्ध भाग

महाराज जयचन्द्र

(११७०–११९४ ई०)

सारपत्रक

१. प्रारम्भिक बातें ।
२. महाराज की रानियाँ तथा आत्मज ।
३. जयचन्द्र और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की बातें ।
४. सैन्यशक्ति, रणकौशल तथा विजयें ।
५. राज्यविस्तार ।
६. महाराज के कुछ चारित्रिक गुण ।
७. आल्हा-ऊदन के आश्रयदाता ।
८. मोहम्मद गोरी का परिचय तथा उसके आक्रमण ।
९. महाराज की वीरगति–मोहम्मद गोरी के विरुद्ध चन्दावर के युद्ध में ।
१०. महाराज सम्बन्धित कुछ विभिन्न बातें ।
११. पराजय के परिणाम ।

१. प्रारम्भिक बातें

जयचन्द्र सम्बन्धित अभिलेख—दान पत्रों के रूप में जयचन्द्र के बारे में अनेक ताम्र-पत्र प्राप्त हुए हैं जिनसे इनके शासन काल की बातों पर प्रकाश पड़ता है तथा इनके चारित्रिक गुणों का भी आभास मिलता है । उन अभिलेखों में निम्नांकित मुख्य हैं :—

नाम अभिलेख	सम्वत्	सन्	सन्दर्भ
१	२	३	४
१. विजयचन्द्र और युवराज जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र	१२२४	११६७-६८	Ep. Ind., IV, pp. 117-20.

१	२	३	४
२. विजयचन्द्र और युवराज जयचन्द्र का ताम्र दानपत्र रोआयल एशिआटिक सोसाइटी में सुरक्षित	१२२५	११६८-६९	Ind. Antq., XV pp. 7-13.
३. जयचन्द्र का कमौली ताम्र दान-पत्र	१२२६	११७०	Ep. Ind., IV, pp. 120-121.
४. सिहवर (जि० बनारस) ताम्र-दानपत्र (लखनऊ संग्रहालय में)	१२३२	११७५	Ind. Antq., XVIII. pp. 129-34.
५. जयचन्द्र का फैजाबाद ताम्र दानपत्र	१२४३	११८५ (११८६)	Ind. Antq., XV, pp. 6 et seq.

उत्तराधिकार आदि—विजयचन्द्र के बाद युवराज जयचन्द्र सन् ११७० में दिवंगत महाराज के उत्तराधिकारी के रूप में कन्नौज राज्य पर अभिषिक्त हुआ। उसके समय में बुन्देलखण्ड के चन्देल और अजमेर-दिल्ली के चौहान प्रबल होने लगे थे पर उत्तर भारत में गाहरवाल कुल प्रमुख समझा जाता था। जयचन्द्र कन्नौज राज्य का अन्तिम प्रतिभाशाली तथा स्वतंत्र शासक था। उसने अनेकों युद्ध किए जिनमें कई बार उसने यवन आक्रमणकारियों से मोर्चा लिया और उन्हें पद्दलित किया।[1] उसकी प्रशस्ति में हिन्दी भाषा के सर्वप्रथम कवि चन्दबरदाई ने अपने ग्रन्थ पृथ्वीराज-रासो[2] में निम्न बातों का उल्लेख किया है :—

> नृप जयचन्द्र पराक्रमी शासक था। उसकी सेना सदैव विचरण करती रहती थी इसलिए उसे दल-पंगुल भी कहा जाता था। विजयपाल का वह पुत्र देव-तुल्य था। उसमें पृथ्वी को धारण करने की शक्ति थी और उसकी शरण में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही रहते थे (शरण ह्यन्दू तुरक)। उसकी तलवार की धारवर्षा से दिशाएँ डूब गईं—
>
> "सुदिसि विदस वर बोरि, वीर कमधज्ज खग्गझर"

---

१. डॉ० अवस्थी, राजपूत राजवंश, पृ० ३०५।

२. पृथ्वीराज-रासो हिन्दी भाषा का आदि-ग्रन्थ माना जाता है। उसके पहले की हिन्दी में उल्लिखित कोई रचना प्राप्य नहीं है।

और उसकी अथाह सेना की बाढ़ उमड़ पड़ती थी।[1]

चन्दरबरदाई अजमेर—दिल्ली नरेश पृथ्वीराज का दरबारी कवि था जिसने जयचन्द्र और पृथ्वीराज के बीच वैमनस्य की बातें भी कहीं हैं। अतः पृथ्वीराज का आश्रित होने के नाते जब वह अपने स्वामी के विपक्षी जयचन्द का गुणगान करता है तो उसका कथन विश्वसनीय समझा जाना चाहिए। अन्य लेखकों ने भी जयचन्द्र के बारे में प्रशंसात्मक बातें कही हैं। उदाहरणार्थ राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्ध कोश में कहा है कि काशिराज जयचन्द्र विजेता था और गंगा-यमुना द्वाब तो उसका विशेष रूप से अधिकृत प्रदेश था।[1] नयचन्द्र ने रम्भामंजरी में जयचन्द्र को यवनों को नाश करने वाला कहा है (निखिल यवन क्षयकर:)। विद्यापति ने पुरुष-परीक्षा में कहा है कि जयचन्द्र द्वारा आक्रमण करने पर शहाबुद्दीन कई बार भाग खड़ा हुआ। उक्त कथन जयचन्द्र के राज्यकाल की प्रारम्भिक कीर्तियों से सम्बन्धित है क्योंकि शहाबुद्दीन से सन् ११९४ वाले चन्दावर के युद्ध में जयचन्द्र वीरगति को प्राप्त हुए थे।

जयचन्द्र के नामों का पाठान्तर—महाराज के नाम कई प्रकार से लिखे मिलते हैं, जैसे

जयचन्द्र; जयचन्द;
जैचन्द्र; जैचन्द;
जयन्तचन्द्र; जयन्तचन्द;
जैत्रचन्द्र।

सभी दानपत्रों में तथा मेरुतुंग के प्रबन्ध-चिन्तामणि[2] में प्रयुक्त नाम "जयचन्द्र" है। राजशेखर सूरि ने प्रबन्धकोश[3] में जयन्तचन्द्र और रम्भामंजरी[4] में नयचन्द्र ने जैत्रचन्द्र लिखा है। अन्य पाठान्तर ऐतिहासिक तथा साहित्यिक पुस्तकों (हिन्दी और अंग्रेजी) में मिलते हैं। अधिक प्रचलित नाम जयचन्द्र है और इस पुस्तक में उसी का प्रयोग किया गया है।

नामकरण, युवराजपद तथा राज्याभिषेक—जिस दिन जयचन्द्र के पितामह

---

१. पृथ्वीराज रासो, सामंत, पंग, युद्ध, २५, ३१।
२. प्रबन्धकोश का ११वाँ प्रबन्ध (हर्ष कवि प्रबन्ध), पृ० ५४।
३. पृ० ११२।
४. दृष्टव्य, श्रीहर्षकृत नैषध-चरित की भूमिका शिवदत्त द्वारा लिखित, पृ० ३ तथा आगे।
५. पृ० ४।

गोविन्दचन्द्र ने दशार्ण देश (पूर्वी मालवा) पर विजय प्राप्त की थी उसी दिन इनका जन्म हुआ था। इसी के उपलक्ष में इनका नाम जैत्रचन्द्र रखा गया जैसा कि रम्भामंजरी के निम्न वाक्य में आया है :—

पितामहेन तज्जन्मदिने दशार्णदेशेगु प्राप्तं प्रबलम्
यवन सैन्य जितम् अतएव तन्नाम जैत्रचन्द्रः।[1]

अर्थात् इनके जन्म के दिन पितामह ने युद्ध में यवन सेना पर विजय प्राप्त की अतः इनका नाम जैत्रचन्द्र पड़ा। (विजय की तिथि नहीं दी गई है)।

उक्त ग्रन्थ के अनुसार इनकी माता का नाम चन्द्रलेखा देवी[2] था जो अनंगपाल की जेष्ठ पुत्री थीं किन्तु पृथ्वीराज-रासो में उनका नाम सुन्दरी देवी[3] बताया गया है।

विजयचन्द्र ने आसाढ़ शुक्ल १०, सं० १२२४ (=रविवार १६-६-११६८ ई०) को इन्हें युवराज पद पर अभिषिक्त करके लगभग सभी राजकीय अधिकारों से संयुक्त किया। उसी अवसर पर वाराणसी में गंगास्नान कराने के बाद इन्हें भगवान् कृष्ण का उपासक बनाकर वैष्णव धर्म की दीक्षा दी गई और तभी इन्होंने हरीपुरा नामक ग्राम विष्णु-उपासना का मंत्र देने वाले गुरु महापुरोहित प्रहराज शर्मन को दान में दिया—विजयचन्द्र और युवराज जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र लेख (१६-६-११६८ ई०)।[4]

महाराज का राज्याभिषेक आसाढ़ शुक्ल ६, सं० १२२६ वि० (=२१ जून ११७० ई०, दिन रविवार) को हुआ। उस अवसर पर इन्होंने ओसिया नामक ग्राम महापुरोहित प्रह्लाद शर्मन को दान में दिया (जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र लेख सं० १२२६=सन् ११७०)।

२. महाराज की रानियाँ तथा आत्मज

रानियाँ—महाराज के बारे में ऐसा प्रचलित है कि इनकी कई रानियाँ थीं। सम्भव है कि ऐसा ही हो किन्तु इतिहास को सही तौर पर ज्ञात नहीं है कि इनकी विवाहिता रानी या रानियों के क्या नाम थे। यह तो आया है कि हरिश्चन्द्र इनका पुत्र था जो इनके पतन के बाद मोहम्मद गोरी के सामन्त के रूप में कन्नौज राज्य के एक संकुचित भाग का उत्तराधिकारी हुआ किन्तु उसकी माता का नाम नहीं मिलता।

---

१. नयचन्द्रकृत रम्भामंजरी की प्रस्तावना।
२. वही, प्रस्तावना का पृ० ४।
३. पृ० रासो, पृ० १३४, छन्द ६८१-८२।
४. Ep. Ind., IV, pp. 118, 119.

राजशेखर सूरि के प्रबन्धकोश में बताया गया है कि सूहवदेवी (या सुहावा देवी) नामक महिला महाराज की भोगपत्नी थी अर्थात् रखेली या अविवाहिता रानी। महाराज से उत्पन्न अपने पुत्र को वह युवराज बनवाना चाहती थी यद्यपि महाराज की विवाहिता रानी से उत्पन्न पुत्र मौजूद था। स्वयं महाराज उसके आग्रह को मानने के इच्छुक थे किन्तु मंत्रियों के विरोध के कारण उसका मनोरथ सफल न हुआ।

क्षुब्ध होकर उसने अपने गुप्त दूतों से तक्षशिलाधिपति सुरत्राण (सुलतान मो० गोरी) को सन्देश भिजवाया कि वह कन्नौज राज्य पर आक्रमण करें। बाद में आक्रमण अवश्य हुआ और महाराज धराशायी हुए किन्तु यह आक्रमण मो० गोरी ने स्वयं अपनी शक्ति, विवेक और लाभ के आधार पर किया था न कि उक्त सन्देश के कारण। स्पष्ट है कि यह महिला महाराज की विवाहिता रानी नहीं थी यद्यपि उसे महाराज से राज्ञी के तुल्य ही स्नेह और आदर प्राप्त था।

सूहव देवी के बारे में यही बात मेरुतुंग ने प्रबन्ध-चिन्तामणि में सूक्ष्म में यों कही है कि अपने पुत्र के युवराज पद पर प्रतिष्ठित न किए जाने के कारण वह कुढ़ गई और बदले की भावना से उसने तुरुष्कों को कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए बुलावा भेजा था।[1]

इसी महिला का नाम नयचन्द्र ने अपनी पुरुष-परीक्षा में शुभादेवी बताया है और कहा है कि शहाबुद्दीन् के साथ युद्ध में जयचन्द्र अपनी रानी शूभादेवी के विश्वासघात के फलस्वरूप मारा गया।[2] ग्रन्थकार का शूभादेवी को 'रानी' कहना भ्रमात्मक है क्योंकि राजा की विवाहिता पत्नी ही को रानी की संज्ञा दी जाती है न कि भोगपत्नी अथवा रखेली स्त्री को। इस भ्रम का कारण यह जान पड़ता है कि इस महिला ने अपने को 'कलाभारती' उपाधि से प्रचलित करवाया था और महाराज उसे राज्ञीवत ही मानते थे तथा उसे उस पद की सभी मान्यताएँ प्राप्त थीं।

आत्मज—राजस्थान की प्रशस्तियों, आईन अकबरी, प्रबंधकोष तथा किंवदन्तियों में महाराज के कई पुत्रों के नाम मिलते हैं, जैसे अश्वस्थामा, सुटीक, वावेज, बरदाई सेन, ब्रजपाल, मेघचन्द्र, लाखन। किन्तु इनके वास्तविक पुत्र का इसमें नाम भी नहीं। महाराज का पुत्र निस्सन्देह हरिश्चन्द्र था। उसके जन्म पर जो उत्साह और उदारता महाराज ने दिखाई उससे जान पड़ता है कि इसके पहिले उनके कोई और सन्तान न थी। ऐसा अनुमान है कि जब तीर्थयात्रा को

१. प्रबन्ध-चिन्तामणि, पृ० ११३-१४।
२. पुरुष-परीक्षा, घासपर कथा पृ० १४६-१५३।

काशी गए थे तब वहाँ पुत्र की मानता मानी थी और जब लौट कर पुत्र लेकर इष्टदेव के चरणों में रखा तब वहीं काशी में पूर्व संकल्प की पूर्ति की। हरिश्चन्द्र का नामकरण संस्कार वि० सं० १२३२ भाद्र शु० १३=३१ अगस्त सन् ११७५ ई० को हुआ और तभी दो गाँव हृषीकेश नामी ब्राह्मण को दिये गये। यह संस्कार जन्म के २१वें दिन हुआ था। जातकर्म संस्कारोत्सव में बटसर (बटेश्वर) गाँव अपने कुलगुरु को दिया था जो १० अगस्त सन् ११७५ ई० को सम्पन्न हुआ था। इसलिए यह दोनों घटनाएँ वि० सं० १२३२ की हैं, यानी ११७५ ई० की, और अलग-अलग हैं। किन्तु इन दोनों का एक ही दानपत्र (बनारस वाले) में उल्लेख है और ताम्रपत्र[1] की पंक्ति ३१ व ३२ से पत्र का खोदा जाना वि० सं० १२३५ (=११७९ ई०) का पाया जाता है, अर्थात् तीन वर्ष बाद जब दूसरे संस्कार (मुण्डन) की अवधि आ पहुँचती है और पहिले संस्कार का मुल्तवी करना इतने बड़े महापुरुष के लिए अयोग्य था। इसी प्रकार काशी (सम्भवतः कन्नौज) से जो दान पत्र वि० सं० १२३१ (=सन् ११७४ ई०) से सम्बन्धित है वह भी सन् ११७९ ई० का ताम्रपत्र की पंक्ति ३५ से जाहिर होता है।[2]

नोट :—जयचन्द्र स्वयं अपने पितामह गोविन्द चन्द्र के सामने इतने बड़े हो चुके थे कि उनके सामने जैंति पत्र लिखवाने लगे थे। राज्याभिषेक हुए भी पाँच वर्ष बीत चुके थे। सामान्य रीति से पुत्रहीन घर कुछ नहीं माना जाता, फिर क्षत्रिय जातियों में और उनमें भी राजराजेश्वर। दूसरे इन महाराज की देवी देवताओं और तीर्थों में श्रद्धा भी बहुत थी जिससे पुत्र कामना की मानता आदि मानना स्वाभाविक सा जान पड़ता है।

उधर यदि इनके इतनी संतानें होतीं जिनकी गणना ऊपर की जा चुकी है है और वे उसी यौवन अवस्था में थीं जैसा कि उनका वर्णन मिलता है तो कोई कारण नहीं जान पड़ता कि उनका युवराजत्व आदि किसी ताम्रपत्र में न पाया जाता जब कि यह राष्ट्र परिपाटी इस कुल का प्राचीन चिह्न था। यद्यपि ऐसे किसी ताम्रपत्र का न पाया जाना इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि वास्तव में ऐसा ताम्रपत्र उत्कीर्ण ही नहीं हुआ क्योंकि बहुत से ताम्रपत्र सम्प्रति अप्राप्य हैं। फिर भी इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात यह है कि जब जयचन्द्र का शरीर पात हुआ था उस समय तो हरिश्चन्द्र १८ वर्ष का पौगंड बालक ही था और उस स्थिति में यदि उसका कोई बड़ा भाई होता तो उसको ही मोहम्मद गोरी अपना सामन्त बनाता न कि हरिश्चन्द्र को।

---

१. ए० ई०, भाग ४ पृ० १२७।

२. ए० ई० भाग ४, पृ० १२।२।

राजशेखर सूरि के प्रबन्धकोश में महाराज का मेघचन्द्र नामक एक औरस पुत्र बताया गया है और रखेली रानी सुहावादेवी के पुत्र के मुकाबले में मंत्रियों ने उसे ही युवराजपद के योग्य बताया था किन्तु उसके इस पद पर अभिषिक्त होने का अवसर ही न आया क्योंकि इसी बीच में मुहम्मद गोरी से युद्ध करते हुए सन् ११९४ में महाराज का निधन हो गया। अतः प्रश्न है कि मेघचन्द्र का क्या हुआ ? उत्तर में निम्न सम्भावनाएं जान पड़ती हैं—

(क) प्रथम यह कि हरिश्चन्द्र का ही दूसरा नाम मेघचन्द्र था;

(ख) दूसरे यह कि महाराज के जीवन काल ही में वह दिवंगत हुआ;

(ग) तीसरे मो० गोरी से युद्ध करते हुए वह भी महाराज की तरह वीरगति को प्राप्त हुआ।

सही स्थिति कुछ भी हो, इतना तो निश्चित जान पड़ता है कि यदि उसका दूसरा नाम हरिश्चन्द्र न था तो वह हरिश्चन्द्र से ज्येष्ठ अवश्य था क्योंकि यदि ऐसा न होता तो मंत्रीगण उसके नाम के बजाय हरिश्चन्द्र का नाम प्रस्तावित करते।

उक्त सम्भवनाओं में प्रथम सम्भावना ही मानने योग्य है, कारण यह कि यदि वह यानी मेघचन्द्र भी महाराज का पुत्र होता तो उसके जन्म, नाम करण आदि के उपलक्ष में भी महाराज द्वारा भूमि-दान दिए जाते जैसा कि हरिश्चन्द्र के जन्म और नाम-करण के अवसरों पर हुआ था और वे दान ताम्रपत्रों में उत्कीर्ण होते। साथ ही इसके प्रतिवाद में यह कहना आवश्यक है कि वास्तव में ऐसे दान दिए गए हों किन्तु सम्बन्धित ताम्रपत्र अभी तक अप्राप्य हैं।

लाखन केवल एक पोष्य पुत्र सा था। राजभवन ही में इसका पालन-पोषण हुआ होगा क्योंकि लाखन गाहरवाल वंशजात शिशु था और महाराज का मुँह लगा था तथा उनके प्रियवर्ग में था। इसी प्रकार और भी जो कोई अपने को जयचन्द्र का पुत्र कहते होंगे वे हरिश्चन्द्र की अनुपस्थिति में पुत्रवत् समझे जाते होंगे। राजगद्दियों में ऐसा होता था कि औरस पुत्र के अभाव में कुटुम्बी जागीरदारों के पुत्र राजभवन में राजकुमारवत लालित-पालित होते थे और जो बालक शासक का विशेष प्रीतिपात्र होने के कारण महल की शोभा के लिए इस प्रकार रखा जाता था उसे प्रायः लोग भावी युवराज समझने लगते थे और उसी भाँति सम्बोधित करने लगते थे। औरस पुत्र उत्पन्न हो जाने पर भी उस पोषित बालक को राजपुत्रवत् ही रखते थे और मान्यता देते थे। महाराज जयचन्द्र के कथित पुत्रों के सम्बन्ध में यही बात लागू होती है।

अन्त में महाराज की औरस सन्तान के प्रश्न पर इसी बात पर संतोष किया जाना चाहिए कि हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त उनका कोई औरस पुत्र न था।

संयोगिता की कथा कल्पित—महाराज जयचन्द्र के सन्दर्भ में उनके द्वारा अपने को चक्रवर्ती राजा घोषित करने के अभिप्राय से राजसूय यज्ञ तथा उनकी कथित आत्मजा संयोगिता के स्वयंवर की बात कही जाती है। संयोगिता का जयचन्द्र की पुत्री होना सत्य नहीं है। और न ही उसके विवाह के लिए महाराज द्वारा स्वयंवर रचना प्रमाणित है। राजसूय यज्ञ का कथन भी प्रमाणित नहीं है। यदि स्वयंवर और या राजसूय यज्ञ हुए होते तो उनका जिक्र किसी न किसी समकालीन राजा के अभिलेख में अवश्य होता और साथ ही उनका संकेत स्वयं जयचन्द्र के प्राप्य ताम्रपत्रों और लेखों में मिलता। इसके अतिरिक्त स्वयंवर और राजयज्ञ राजसूय यज्ञ की प्रथाएँ जयचन्द्र के समय के दीर्घकाल पहिले ही अप्रचलित हो गयीं थीं। भारत के किसी राज्य में भी उस समय अथवा उसके निकट पूर्व में किसी राज स्वयंवर अथवा राजसूय यज्ञ होने का कहीं उल्लेख नहीं है। कतिपय विद्वान इतिहासकारों ने इस कथा का कोई अस्तित्व नहीं माना है। अतः जयचन्द्र का राजसूय यज्ञ और संयोगिता स्वयंवर रासोकार की कल्पना मात्र है।

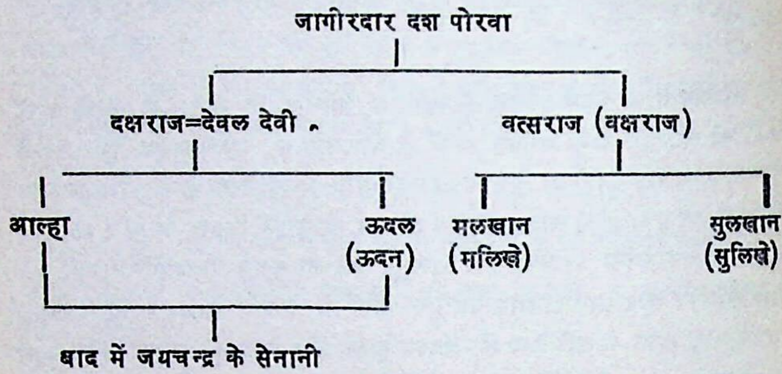
यदि रासो की पुष्टि में आल्हखंड का प्रमाण दिया जाए तो संयोगिता की कथा आल्हा के इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं रखती अर्थात् वह क्षेपक मात्र है और वह भी आल्हखंड का क्षेपक। अतिरिक्त इसके आल्हखंड के अनुसार संयोगिता लाखन राना कनउजवाले' (कन्नौज वाले) की दासी की पुत्री थी। क्या कोई चक्रवर्ती शासक अपने राजसूय यज्ञ में किसी दासी पुत्री के स्वयंवर का विधान रखेगा? कदापि नहीं।

आल्हखंड के प्रमुख पात्र इस प्रकार हैं—

(१)

परिमर्दिदेव (परिमाल) = मल्हनादेवी
चन्देल वंशी महोबा के शासक
(बुन्देलखंड) |
ब्रह्मजित (ब्रह्मा) = बेला
(पृथ्वीराज की कन्या)

(२)



(३)

उरई का जागीरदार माहिल
(राजा परिमाल का मंत्री)

आल्हखंड के अनुसार सन् ११७४ ई० में उरई के रणक्षेत्र में पृथ्वीराज परास्त हुए और आल्हा के बन्दी हुए और आँखें निकाल ली गई। माहिल ने चुगली करके आल्हा ऊदल को महोबा से देश निकाला करवा दिया। तब वे कन्नौज जाकर जयचन्द्र के आश्रित हुए। माहिल ही ने पृथ्वीराज द्वारा महोबा पर चढ़ाई करवाई। स्पसा के रण में मलखान मारा गया। जगनिक (आल्ह खंड का रचयिता) आल्हा को मना लिया कि वे पृथ्वीराज से महोबा के विध्वंस को बचाएँ। उरई के रण में उदल और ब्रह्मा भी मारे गए। आल्हा विरक्त हो गये[1]।

आल्हखंड के पात्रों पर ध्यान देने से समझ पड़ेगा कि जयचन्द्र की अपेक्षा पृथ्वीराज बहुत छोटे राजा थे और जिनकी पुत्री को (आल्हखंड के अनुसार) परिमाल जैसे छोटे शासक के पुत्र ब्रह्मा ने आल्हा ऊदल की सहायता से बलपूर्वक व्याह लिया। ऐसी परिस्थिति में क्या यह माना जा सकता है कि जयचन्द्र के राजभवन से उनकी पुत्री को पृथ्वीराज बलात्कार हरण कर सकें ?

उक्त कथन के बाद एक बात फिर भी शेष रह जाती है और वह यह कि भविष्य पुराण में भी संयोगिनी (संयोगिता) स्वयंवर का उल्लेख मिलता है जो

---

१. आल्हा ऊदल की कथा, लेखक भगवती प्रसाद सिंह, माधुरी, ज्येष्ठ तुलसी सं० ३०६, पृ० ६०१।

इस प्रकार है—राजा जयचन्द्र के १६ रानियाँ थीं किन्तु उनमें से किसी से कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ था। जयचन्द्र की महिषी दिव्यविभावरी गौड राजा की पुत्री थी। उसकी सुरभानवी नामक दासी ने संयोगिनी को जन्म दिया था। उसकी १२ वर्ष की आयु होने पर जयचन्द्र ने उसके स्वयंवर की व्यवस्था की जिसमें विभिन्न राजाओं को आमंत्रित किया किन्तु पृथ्वीराज को नहीं बुलाया अपितु उसकी स्वर्णनिर्मित मूर्ति कान्यकुब्ज सभा में स्थापित को। पृथ्वीराज सेना लेकर कन्नौज आया और संयोगिनी का अपहरण कर अपनी राजधानी को लौट गया।[1]

प्रश्न यह है कि क्या यह कथानक भी अमान्य है? उत्तर में कहना है कि इसको सत्य मानने में निम्न आपत्तियाँ हैं—

(१) क्या कोई राजा (चाहे वह चक्रवर्ती ही क्यों न हो) एक दासी पुत्री के लिए स्वयंवर ऐसे विशाल आयोजन को कार्यान्वित करेगा?

(२) क्या एक दासी पुत्री के पाणिग्रहण के लिए वह राजाओं को आमंत्रित करेगा?

(३) क्या आमंत्रित होने पर कोई भी राजा एक दासी पुत्री द्वारा वरण किये जाने की अभिलाषा करेगा और निमंत्रण को स्वीकार करेगा?

(४) क्या स्वाभिमानी राजा पृथ्वीराज एक गुणहीन (कथनानुसार संयोगिनी केवल १२ वर्ष ही की थी) तथा दासी पुत्री का अपहरण करने के लिए सेना लेकर आयेगा?

उक्त प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट हैं जिनके फलस्वरूप इस पौराणिक कथा को सत्य नहीं माना जा सकता।

३. जयचन्द्र और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की बातें

महाराज पृथ्वीराज चौहान (?११७७-११९३ ई०)—जयचन्द्र के समकालीन महाराज पृथ्वीराज पहले अजमेर राज्य के शासक थे। बाद में वे दिल्ली के भा शासक हुए क्योंकि इनके नाना तथा दिल्ली के तोमर वंशीय शासक अनंगपाल ने इन्हें गोद लिया था क्योंकि स्वयं उनका कोई औरस पुत्र न था।

महाराज पृथ्वीराज चाहमान (चौहान) वंश के थे। सातवीं सदी के प्रारम्भ में चौहान नरेश अजयपाल (अथवा अजयदेव) ने अजमेर राज्य की स्थापना की थी। अजमेर का मूल नाम अजयमेरु था जो कालान्तर में विकृत होकर अजमेर हो गया। किम्वदन्ती के अनुसार चाहमान वंश का आदिपुरुष पुष्कर तीर्थ में की

१. भ० पु०, प्रतिसर्ग, पर्व, अध्याय ६।

गई यज्ञ के कुण्ड से प्रकट हुआ था। उसके चार हाथ होने के कारण उसे चाहुवान की संज्ञा दी गई जो कालान्तर में अपभ्रन्शित होकर चाहमान हो गई। उक्त अजयपाल का उत्तराधिकारी अर्णोराज (अणोजी या अन्नाजी) था।

चौहानों में अत्यधिक विक्रमशाली नरेश विग्रहराज चतुर्थ (बीसल देव, ११५३-११६४ ई०) हुआ। योधा होने के साथ-साथं वह प्रख्यात कवि और साहित्यानुरागी भी था। "पृथ्वीराज-विजय' (११९० ई० का रचना) में उसकी मुक्तिकंठ से प्रशंसा की गई है। विग्रहराज को ही अजमेर को चौहान राज्य की राजधानी बनाने का श्रेय प्राप्त है। उसके पहली उसकी राजधानी सांभर थी।

पृथ्वीराज की पराजय के बाद मोहम्मद गोरी अजमेर से आगे जाते हुए अपने कर्मचारियों को आदेश दे गया था कि उसके लौट कर आने तक उसके नमाज पढ़ने के लिए मसजिद बन कर तैयार मिलनी चाहिए। राजसेवकों ने आज्ञा का पालन किया। विग्रहराज द्वारा स्थापित सरस्वती मन्दिर नामक संस्कृत विद्यालय को एक आलीशान दीवार का पर्दा खड़ा करके मसजिद के रूप में बदल दिया गया। बाद में कुतुबद्दीन और सुल्तान इलतुतमिश ने इसमें सात कमानियाँ व मेहराब बनवाए थे। इस मसजिद को "अढ़ाई दिन का झोपड़ा" की संज्ञा दी गयी थी क्योंकि प्रारम्भ में विद्यालए को काम चलाऊ मसजिद का रूप देने में इतना ही समय लगा था।

उपरलिखित पृथ्वीराज के पहले इनके वंश के दो पूर्व शासक पृथ्वीराज प्रथम और पृथ्वीराज द्वितीय हो चुके थे अतः इतिहास में सम्प्रति पृथ्वीराज को पृथ्वीराज तृतीय कहा गया है। इनका नाम वीरता के लिए प्रसिद्ध है। इन्होंने मोहम्मद गोरी को सन् ११९१-९२ में तरायन की प्रथम लड़ाई में पूर्णतया पराजित किया था। युद्ध में मोहम्मद गोरी घायल हो गया था किन्तु अपनी वीरता और उदारता के कारण पृथ्वीराज ने उस भागते हुए वैरी का पीछा करके वध नहीं किया। किन्तु अगले वर्ष (११९३) मोहम्मद गोरी ने अत्याधिक तैयारी करके पृथ्वीराज पर फिर हमला किया और दोनों में फिर घमासान युद्ध हुआ (तरायन की दूसरी लड़ाई)। इसमें पृथ्वीराज की पराजय हुई और उन्हें वीर गति प्राप्त हुई। इस प्रकार उत्तर भारत में मुसलमानी शासन का प्रारम्भ हुआ। मोहम्मद गोरी ने कुतुबुद्दीन को भारत में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया और स्वयं अपने देश को लौट गया। अगले वर्ष (११९४) में उसने जयचन्द्र को भी पराजित करके कन्नौज का राज्य भी अपने प्रभुत्व में कर लिया।

टाड महोदय ने कहा है कि पृथ्वीराज ने सुलतान गौर को एक से अधिक बार परास्त किया और यह भी कि यवन लेखकों ने भी स्वीकार किया है कि उत्तर भारत को अन्ततः विजित करने के पहले शहाबुद्दीन कई बार पूर्णरूपेण हराया

गया था[१]। इसी प्रकार अबुल फजल कृत आईन अकबरी में भी बताया गया है कि राजा पिथौरा के राज्यकाल में सुलतान मोइज़उद्दीन (मो० गोरी) ने गजनी से भारत पर कई अभियान किये। साथ ही ग्रन्थ में यह भी उल्लेख किया गया है कि ऐसा कहा जाता है कि पृथ्वीराज ने सुलतान पर सात घमासान युद्धों में विजय प्राप्त की[२]।

नोट—इन पृथ्वीराज तृतीय के पहले पृथ्वीराज द्वितीय (११६७-११७० ई०) को भी तुरुष्कों से युद्ध करने पड़े थे और वह विजयी भी हुए थे। अतः सम्भव है कि उपरोक्त विजयों में पृथ्वीराज द्वितीय की विजयें भी शामिल हों।

जयचन्द्र और पृथ्वीराज के बीच विषमता का प्रश्न—चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज-रासो में पृथ्वीराज और जयचन्द्र में आपसी बैर-भाव की बात कही है और उसका कारण संयोगिता स्वयंवर बताया है। उसका कथन है कि जयचन्द्र ने अपने को सार्वभौम (चक्रवर्ती) शासक प्रदर्शित करने के उद्देश्य से यज्ञ का आयोजन किया और उसी के बाद संयोगिता के स्वयंवर का। इन उत्सवों में सम्मिलित होने के लिए सभी राजाओं को निमंत्रण भेजे गये किन्तु पृथ्वीराज और मेवाड़ के समरसिंह ने आने से इन्कार कर दिया। अतः जयचन्द्र ने इनकी स्वर्ण प्रतिमाएँ बनवा कर दरबार में इसका प्रकार स्थापित कीं कि जिससे इनकी तौहीन समझी जाये। यह अपमान पृथ्वीराज को असह्य हुआ अतः उसने कन्नौज पर यकायक हमला किया और संयोगिता का (जो उससे आकर्षित थी) का अपहरण करके दिल्ली ले गया। चन्दबरदाई का कहना है कि इसी से दोनों राजाओं में वैमनस्य हो गया जिसके कारण मोहम्मद गोरी द्वारा दोनों ही नष्ट किये गये।

सभी विद्वान इतिहासकारों ने राजसूय यज्ञ और संयोगिता स्वयंवर की कथा को कवि की कल्पना माना है क्योंकि यदि इनमें सत्यता होती तो किसी न किसी अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ में इनका उल्लेख मिलता तथा कोई न कोइ अभिलेख भी मिलता। इनके अभाव में विद्वानों का ऐक्यमत है कि यह दोनों बातें निराधार हैं।

इस प्रकार स्थिति यह हो जाती है कि रासो के उक्त वृतान्त को त्यागने के बाद ऐसा कोई आधार शेष नहीं रह जाता जिसके बल पर जयचन्द्र और पृथ्वीराज के बीच की विषमता को सहारा मिले। इसी कारण कई विद्वानों का

---

१. Tod, Annals and Antiquit jes of Rajasthan, Vol. II. p. 452.

२. ग्लैडविन (Gladwin) महोदय द्वारा अनूदित आईन अकबरी पृ० ९७।

मत है कि इन दोनों में वैरभाव होने का कोई कारण नहीं है। उदाहरणार्थ डॉ० रोमा नियोगी ने अपने अंगरेजी शोध ग्रन्थ History of the Gaharwal Dynasty (गाहरवाल राजवंश का इतिहास) में स्पष्ट लिखा है कि दोनों में वैर होने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।[1]

महाराज जयचन्द्र पर कुछ लेखकों ने यह आरोप लगाया है कि उन्होंने पृथ्वीराज पर दूसरी बार आक्रमण करने के लिए मोहम्मद गोरी को आमंत्रित किया। यह आरोप सर्वदा असत्य है जैसा कि आगे के अध्याय में भली भाँति दर्शाया गया है।

४. सैन्यशक्ति तथा विजयें

सैन्यशक्ति—युद्धप्रिय होने के कारण इन्होंने अपनी सेना शक्ति ऐसी बढ़ाई की वह अद्वितीय हो गई जिससे जयचन्द्र को दलपंगुल की उपाधि (वीरुद) से जाना जाने लगा, यथा—"प्रचालयितु मक्षमत्वात् पंगुरित प्राप्त गुरु विरुदस्य[2]।" भावार्थ, यह कि चूँकि इनकी सेना विचरण करती रहती थी इसलिए इन्हें दलपंगुल का वीरुद दिया गया। यही बात रासो में भी कही गई है।[3] दल-पंगुल की उपाधि का एक अन्य कारण यह बताया गया है कि जयचन्द्र की सेना का अग्रभाग रणक्षेत्र में पहुँच जाये और पृष्ठ भाग नगरकोट के बाहर न हो सकें।[4]

जयचन्द्र की सेना चतुरंगिणी थी जिसका वर्णन सूरज प्रकाश ग्रन्थ में निम्न प्रकार मिलता है—

(क) जिरह बख्तर वाले योधा....	८०,०००
(ख) घुड़सवार....	३०,०००
(म) पैदल सैनिक....	३,००,०००
(घ) तीरंदाज व फरसावाले.......	२,००,०००
(ङ) हाथी मय हथिसवार योधा....	हजारों की संख्या में।

कुमारत्व-काल की विजयें—पितामह गोविन्दचन्द्र ने मानो प्रसन्न होकर अपने आशीर्वाद से जयचन्द्र को शूर बना दिया था और इनकी वीरता के कार्य

---

१. पृ० १०७।

२. रम्भामंजरी की प्रस्तावना।

३. पृथ्वीराज-रासो, सामंत पंग युद्ध, ३१।

४. पृथ्वीराज-रासो पर आधारित टाड महोदय का कथन।
(Tod's Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. II, p. 926).

स्वयं अपनी आँखों देख सुख से पितृलोक में बास किया होगा। कुछ अभिलेखों से (प्रायः गोविन्दचन्द्र के) तथा अन्य साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि अपने दादा के जीवनकाल ही में युवा जयचन्द्र ने कई मैदान फतह किये, उदाहरणार्थ—

(क) कालिन्जिर के चन्देल राजा मदनवर्मा को जयचन्द्र ने परास्त किया जिसका वर्णन रम्भामंजरी में निम्न प्रकार है—

अभिनव—रामावता श्रीमन् मदनवर्म—मेदिनी दयुत साम्राज्य लक्ष्मी करेणुक आलान : स्तंभायमान वाहुदण्डस्य ।[1]

अर्थात्, मानो मदनवर्मा की मेदिनी और राज्यलक्ष्मी रूपी हथिनियों को बाँधने के लिए (जयचन्द्र के) दो वाहु खम्भे रूप थे।

मदनवर्मा का राज्यकाल लगभग ११२५ से ११६५ ई० तक था जिससे निष्कर्ष निकलता है कि यह विजय जयचन्द्र ने अपने राजकुमार काल ही में प्राप्त की होगी।

(ख) लगभग इसी समय जयचन्द्र ने खोर के भोरों को हरा कर अपने अधिकार में किया।

राजत्वकाल की विजयें—पूर्व-लिखित अपनी विशाल तथा सुगठित सेना के जरिये जयचन्द्र ने अनेकों विजयें तथा युद्ध किए जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

(१) महाराज ने सिन्धु नदी पर मुसलमानों (सुल्तान गोर) से ऐसा घोर संग्राम किया कि रक्त के प्रवाह से नदी का नील जल एकदम ऐसा लाल हुआ मानो अमावस्या की रात्रि में ऊषा का अरुणोदय हो गया हो। यह वर्णन रासो[2] में आया है और सत्य है क्योंकि विद्यापति ने अपुनी पुरुष परीक्षा में स्पष्टतः लिखा है कि—

बारंबारं च यवनेश्वरः (सहावदीनः) पराजयी पलायते ।[3]

अर्थात्, यवनेश्वर सहावदीन (शहाबुद्दीन या मोहम्मद गोरी) को (जयचन्द्र ने) कई बार रण में पछाड़ा।

उक्त कथन की पुष्टि रम्भामंजरी से भी होती है जिसमें जयचन्द्र को यवनों का नाश करने वाला कहा गया है (निखिल यवन क्षयकरः[4])।

१. रम्भामञ्जरी, प्रस्तावना पृ० ४, अंक १, पृ० ५-६।
२. रसो-सार, पृ० ९५-९८
३. पुरुष परीक्षा, अध्याय ४, ११वीं कथा (घासमार कथा), पृ० १४६-४७।
४. रम्भामंजरी, अंक १, पृ० ५।

उपरलिखित अभियान जयचन्द्र के राज्यकाल के पूर्वार्द्ध के हैं क्योंकि अन्त में चन्दावर के मैदान में शहाबुद्दीन द्वारा पराजित हो महाराज वीर गति को प्राप्त हुए।

(२) टाड महोदय ने लिखा है कि चौहान इतिहासकार–कवियों ने जयचन्द्र की महानता की पुष्टि करते हुए बताया है कि उन्होंने टेहरी के युद्ध में उत्तर के आठ मांडलिक राजाओं को कैद्र कर लिया था और अनहिलवाड (गुजरात) के शासक सिद्धराज को दो बार हराया तथा अपनी राज्य-सीमा को उत्तर से लेकर दक्षिण में नर्मदा के दक्षिणी तट तक बढ़ाया।[1]

(३) राजशेखर सूरि के प्रबन्धकोश में काशीपति जयन्तचन्द्र और बंगाल के सेन-वंशीय लक्ष्मणसेन (लक्ष्मण सेन) के बीच शत्रुता का उल्लेख मिलता है। उसमें बताया गया है कि एक अवसर पर जयन्तचन्द्र ने सेन-राजधानी लक्षणावती दुर्ग पर अपार सेना लेकर चढ़ाई की। दुर्ग पर आक्रमण करने के पहले सेना का पड़ाव दुर्ग के बाहर टिक गया। बचाव के लिए लक्ष्मणसेन ने अपने को असमर्थ पाकर कुमारदेव नामक अपने बुद्धिमान मत्री के चातुर्य द्वारा आक्रमण को रुकवा लिया और जयचन्द्र वापस चला गया। यह विवरण प्रबन्धकोश के "लक्ष्मणसेन मंत्री कुमार देव प्रबन्ध" नामक २०वें प्रबन्ध में आया है।[2] इससे यह प्रतीत होता है कि लक्ष्मणसेन द्वारा आधीनता स्वीकार हो जाने पर जयचन्द्र उससे दंड (कर) लेकर अपनी राजधानी लौट आया।

प्रबन्धकोश में वर्णित बातों की सत्यता इससे भी प्रमाणित होती है कि ग्रंथकार ने जयचन्द्र तथा पृथ्वीराज का मोहम्मद गोरी द्वारा धराशायी होना भी स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है। ग्रंथ के वस्तुपाल प्रबंध (संख्या २४) में बताया गया है कि ७०० (या १०७)[3] योजन भूमि का स्वामी (सप्तशत योजन भूमयो) जयचन्द्र भी म्लेक्षों द्वारा नष्ट कर दिया गया—जयचन्द्रोऽपि क्षयंनीतः। और यह भी कि पृथ्वीराज भी शहाबुद्दीन द्वारा बन्दी बनाया गया—पृथ्वीराजोऽपि बद्धः। म्लेक्ष दुर्जय थे—दुर्जया अमी।[4]

५. जयचन्द्र का राज्य-विस्तार

"योजन-शत-मानां पृथ्वीम्-असाधयत् अर्थात् (जयचन्द्र ने) ७०० योजन पृथ्वी

---

१. Tod's Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. II, p. 936.

२. प्रबन्धकोश, पृ० ८८-९०।

३. ग्रन्थ में "सप्तशत-योजन" लिखा है जिसके दो अर्थ लगाये जा सकते हैं, अर्थात् सात सौ या ७ + १००=१०७। इनमें ७००। योजन ही सही है।

४. प्रबन्धकोश, पृ० ८९।

को अपने अधिकार में किया। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि जयचन्द्र का राज्य ५६०० वर्गमील में फैला था क्योंकि एक योजन ८ मील के बराबर माना जाता है। इब्न असीर के प्रमाण (कामिल-उत्-तवारीख[1]) से कन्नौज राज्य लम्बाई में चीन से मालवा प्रदेश तक और चौड़ाई में समुद्रतट से दस मंजल लाहौर तक विस्तृत था। साधारणतयः २० मील (१० कोस) की एक मंजल समझी जाती है, इस प्रकार लाहौर से २०० मील की दूरी तक। इब्न असीर ने यह भी कहा है कि बनारस का राजा भारत का सबसे बड़ा शासक था और देश का सबसे बड़ा भूभाग उसके अधीन था।[2]

सीमान्त नरेशों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि जयचन्द्र के राज्य की उत्तरी सीमा में महाराज पृथ्वीराज चौहान का राज्य (अजमेर से दिल्ली तक) था; पश्चिम (गुजरात प्रदेश) में सिद्धराज जयसिंह का राज्य था और दक्षिण बुन्देलखण्ड में महोबा वाले मदनवर्मन (११२५-११६५ ई०) तथा परमाल (परिमर्द्दि देव) (११६५-१२०६ ई०) के राज्य थे।

एक उल्लेख यह भी है कि बंगाल के सेन-वंशी शासक लक्ष्मणसेन (मुसलमान इतिहासकारों का राय लखमनियाँ) के विजयस्तूप प्रयाग और बनारस में थे।[3] किन्तु इस बात से यह सिद्ध नहीं होता है कि वे दोनों स्थान जयचन्द्र के राज्य में नहीं थे। वस्तुतः वे दोनों नगर जयचन्द्र के राज्य के अप्रथक्कीय अंग थे जैसा कि कतिपय प्रमाणों से सिद्ध होता है जिनमें से दो नीचे दिए जा रहे हैं :—

(क) पूर्व में गया तक का क्षेत्र निसन्देह जयचन्द्र के अन्तर्गत था क्योंकि उस क्षेत्र में पाये गये एक अभिलेख से विदित होता है कि महात्मा श्रीमित्र गया में निवास करते थे और उनकी सेवा में १०० सामंत रहते थे—नृप-शत कृत-सेवः। उनके ठाठ-बाठ से यह दर्शित होता है कि जयचन्द्र का उस ओर पूर्ण प्रभुत्व था क्योंकि बौद्ध भिक्षु श्रीमित्र जयचन्द्र के आध्यात्मिक गुरु थे और उन्हीं की सेवा के लिए उन्होंने उक्त व्यवस्था की थी।

(ख) अभिलेखों से यह पूर्णतयः सिद्ध है कि प्रयाग, बनारस और आस-पास के इलाके जयचन्द्र के राज्य में सम्मिलित थे। खास कर बनारस तो गाहड़वालों की दूसरी राजधानी के रूप में थी। प्रबन्ध चिन्तामणि (मेरुतुंगकृत) में जयचंद्र को काशी का राजा कहा गया है—अथ काशी-नगर्याम् जयचन्द्र इतिनृपः[3] यवन

---

१. Vide Elliot and Dowson, History of India, Vol. II, p. 251.

२. वही।

३. प्रबन्ध चिन्तामणि, V, २१०।

इतिहासकारों ने जयचन्द्र को राय बनारस कहा है।[1] फरिश्ता ने जयचन्द्र को कन्नौज और बनारस दोनों का युवराज कहा है।[2] मदनपाल निघण्टु में महाराज मदनपाल ने अपने को 'काशिराज' कहा है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि लक्ष्मणसेन केवल एक मांडलिक राजा था और जयचन्द्र के अधीन था। यदि उसने प्रयाग और बनारस तीर्थों में स्तूप बनवाए तो जयचन्द्र की सहमति से ही बनवाए होंगे। वह स्वयं स्वतंत्र शासक न था और न इतना बलवान ही कि जयचन्द्र के राज्य के किसी भी भूभाग पर कब्जा कर सकता क्योंकि सन् ११९७ में जब कुतुबुद्दीन के सरदार बखतियार खिलजी ने केवल एक छोटी टुकड़ी के साथ उस पर आक्रमण किया तब वह भयभीत होकर राजमहल से भाग निकला।

दक्षिण में चन्देलों की उपस्थिति एक दूसरी समस्या उत्पन्न करती है क्योंकि चन्देल मदनवर्मन (लगभग ११२५-११६५ ई०) की प्रशंसा में कहा गया है कि उसने अभियान करके काशिराज को सन्धि करने के लिए विवश किया, यथा—

कालम् सौहाद्दव वृत्या गमयति सतत त्रासतः काशिराजः।[3]

[अर्थात् उसने (मदनवर्म ने) काशिराज को मित्रतायुक्त व्यवहार करते हुए अपने समय को व्यतीत करने के लिए विवश किया।] उक्त पद में काशिराज की संज्ञा का प्रयोग किया गया है किन्तु यह नहीं बताया गया है कि काशिराज का नाम क्या था। इतिहासकारों का मत है कि काशिराज से अभिप्राय महाराज विजयचन्द्र से है। अब कहना यह है कि मदनवर्म के आतंक के संकोच से विजयचन्द्र ने मैत्रीभाव रखा हो ऐसा सम्भव है किन्तु यह कोई प्रष्ट दलील नहीं है कि जयचन्द्र भी मदन के बाद चन्देल शासक परिमाल (परिमर्द्दिदेव, ११६५-१२२३ ई०) के समय में दब कर रहा हो। इसके प्रतिकूल रम्भामंजरी के रामावतार अभिनय में साफ लिखा है कि मदन की मस्ती जयचन्द्र के बाहुदंड से बँधी थी ("श्रीमन् मदनवर्मन मेदिनी") जैसा कि इसी अध्याय में पहले उल्लेख किया जा चुका है।

इस प्रकार दक्षिण में चन्देलों की कोई स्वतन्त्र शक्ति होना सिद्ध नहीं होता

---

१. Elliot & Dowson, History of India, pp. 222, 223, 300 etc.

२. Briggs, I p. 178.

३. Mau inscription, Ep. Ind. I, pp. 198, 204, Verse 15.

और वास्तव में ऐसा था भी नहीं। परिमाल के समय में महाराज पृथ्वीराज का उसकी राजधानी महोबा पर अधिकार करना प्रमाणित है।[1]

उक्त तथ्यों से विदित होगा कि पंजाब का उत्तरी भाग छोड़ कर, और यदि पृथ्वीराज को जयचन्द्र का सम्राट-पद अस्वीकृत था तो उसके इलाके को भी छोड़ कर, जयचन्द्र समस्त उत्तरी भारत का सार्वभौम शासक (सम्राट) था। इस सीमा में गुजरात भी शामिल था क्योंकि वहाँ के सिद्धराज जयसिंह को मदनवर्मन चन्देल जीत चुका था[2] और स्वयं मदन ने जयचन्द्र की सार्वभौमिकता स्वीकार कर ली थी जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

पृथ्वीराज के सम्बन्ध में यह कहना है कि रासो के सिवाय ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि पृथ्वीराज को जयचन्द्र का महाराजाधिराज होना स्वीकृत न था क्योंकि रासोकार के अनुसार दोनों में वैमनस्य था, किन्तु रासो में उल्लिखित बहुत सी बातें ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत पाई गई हैं। फिर भी इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि जयचन्द्र का सभी पड़ोसी राज्यों पर पूरा आधिपत्य न हुआ होगा क्योंकि यदि ऐसा होता तो उन राज्यों का अस्तित्व ही क्या रहता, सब एक-क्षत्र राज्य समझा जाता। तथापि उसकी तटस्थ रहने की नीति से यह नहीं कहा जा सकता कि वह उत्तर भारत का सम्राट न था।

६. महाराज के कुछ चारित्रिक गुण

महाराज जयचन्द्र के कतिपय ताम्रपत्रों से यह प्रमाणित होता है कि वे बड़े क्रियावान, ब्रह्मभक्त और दानी थे। उन्हें तीर्थों में विशेष श्रद्धा थी। प्रयाग, वाराणसी (काशी), गया आदि स्थानों में जा-जा कर दान दिए। भगवती भागीरथी की इन्हें बड़ी भक्ति थी।[3] संस्कारों में भूमि दान देना गाहड़वाल वंश की परम्परा थी। महाराज ने इसे कायम ही न रखा अपितु इसे बढ़ावा भी दिया। युवराज पद पर अभिषिक्त होने पर इन्हें वैष्णव धर्म की दीक्षा दी गई और उसी अवसर पर महापुरोहित प्रहराज शर्मा को हरिपुर ग्राम दिया गया। इसी प्रकार राजतिलक के अवसर पर महापुरोहित प्रह्लाद को ओसिया ग्राम दिया गया। राजपुत्र हरिश्चन्द्र के जातकर्म संस्कार पर उन्हीं प्रह्लाद शर्मा को बटेसर गाँव दिया

---

१. Progress Report of Archeological Survey of India, 1903-4, p. 55.

२. J. A. S. B., XVII, Pt. I, pp. 317-20.

३. ए० ई०, भाग ४, पु० १४०, १४१।

गया। तदन्तर उनके नामकरण संस्कार में महापंडित हृषीकेश शर्मा को दो गाँव दिए गए।[१] भूमि के अतिरिक्त इन पुरोहितों को प्रचुर द्रव्य, वस्त्र, पशु तथा खाद्य सामग्री भी दी गई। इसी प्रकार अन्य पंडितों आदि को दान दिए गए।

महाराज को इमारतें बनवाने का भी बड़ा शौक था। इन्होंने कई स्थानों पर दृढ़ दुर्ग बनवाये। कन्नौज, इटावा, असद (जिला इटावा) और कुर्रा तथा असनी (जिला फतेहपुर) में इनके किले थे। अपने सामन्तों को भी महाराज भवन आदि बनवाने के लिए प्रोत्साहित करते थे। कन्नौज में आज भी आल्हा ऊदल द्वारा बनवाई हुई कचहरी के चिह्न अवशेष हैं। वह आल्हा ऊदल की कचहरी के नाम से जानी जाती है। यह सामन्त योधा उसी में अपना दरबार करते थे।

इन दोनों रणशूरों ने अन्य सुदूर स्थानों में भी अपने स्मारक छोड़े हैं। नथवन आदि स्थानों में विजय प्राप्त करने के उपरान्त यह दोनों भाई लखनऊ के मार्ग से मोहनलालगंज कस्बे होते हुए कन्नौज लौटे थे। वही एक विशाल कुआँ इन्हीं का बनवाया हुआ बताया जाता है।[२] जिला प्रतापगढ़ से सई नदी के तट पर देवी के मन्दिर के समीप एक कुआँ बना है जो भी आल्हा ऊदल का बनवाया हुआ कहा जाता है। बुन्देलखंड में (विशेषकर महोबे में) बहुत से स्थान इन लोगों के नाम से अब भी प्रसिद्ध है।

महाराज की साहित्यिक रुचि—महाराज बड़े साहित्य-प्रेमी थे और स्वयं कवि भी थे।[२] कवियों का बड़ा मान करते थे। इसका एक उदाहरण यह है कि महाकाव्य नैषध-चरित के रचयिता तथा परम विद्वान श्रीहर्ष को महाराज स्वयं अपने हाथ से दो बीड़ा पान देकर उनका सम्मान करते थे। इतना ही नहीं महाराज स्वयं उन्हें उच्च आसन भी प्रदान करके उनके प्रति अपना आदर भी व्यक्त करते थे।

नोट—दो बोड़ा पान का विशेष महत्व माना जाता था क्योंकि दो बीड़ा प्रतिष्ठित व्यक्तियों को ही मिलता था, अन्य को केवल एक ही बीड़ा। फिर स्वयं महाराज के हाथ से प्राप्त करना उच्चतम आदर सूचक था।

नैषधकार ने बड़े गौरव से अपने काव्य के अन्त में (कवि-प्रशस्ति में) अपने इस सत्कार का निम्न पद में उल्लेख किया है :—

"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।"

---

१. Sihvar (Dt. Varanasi) Copper Plate (1175 A. D.), Ind. Antq., XVIII, pp. 129-34.

२. Lacknow Gazetteer, 1904, p. 137.

३. भारत के प्राचीन राजवंश, पृ० ११२।

महाकवि श्रीहर्ष कान्यकुब्ज ब्राह्मण शांडिल्यगोत्री मिश्र थे। उस समय नगर कंपिल[1] में रहते थे। इनके वंशज सरायमीरां (कन्नौज के समीप) और शाहाबाद (जिला हरदोई) में रहते थे। अब तितर-बितर होकर शहरों में आबाद हो गए हैं।

कन्नौज की साहित्यिक ख्याति अधिकतर इन्हीं श्रीहर्ष पर दृढ़ित है, अतः इनकी और इनके ग्रन्थों की चर्चा एक अलग परिशिष्ट में की जावेगी।

महाराज का शौर्य तथा सैनिकों के प्रति उदारता—महाराज जयचन्द्र जैसे वीर थे वैसे ही वीरों के आश्रयदाता भी। इनकी सेना में भर्ती होने के लिए आया हुआ कोई भी अभ्यर्थी विमुख नहीं जाता था। वीर भेष में किसी भी जाति-पाँत का महाराज को विचार न था। अतः इनकी सेना में भर्ती होने के लिए तेली, तमोली, धानुक आदि सभी जातियों के लिए खुला दरबार था। यह बात दूर-दूर तक मशहूर थी। पारसी और तातारी भी इनकी फौज में भर्ती थे। उक्त बातें अकबर के विद्वान दरबारी अबुल फजल ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक आईन अकबरी में लिखी हैं।

बल्लभदेव कृत सुभाशितावली में आया है कि शहाबुद्दीन द्वारा (उत्तर-पूर्व के) राजाओं का पद्दलित होना सुन कर महाराज जयचन्द्र ने उसे ताड़ित करने हेतु अपने दूत के द्वारा निम्न पद लिख भेजा :—

स्वच्छन्दं सैन्य संघेन चरन्त मुक्तो भयं।
शहाबुद्दीन भूमीन्द्रं प्राहिणोदिति लेखकम्॥
कथं न हि विशंकसेऽयज कुरग लोलक्रमं।
परिक्रमितु मीहसे विरमनैत्र शून्यं वनम्॥
स्थितोत्र गजयूथनाथ मथनोच्छलच्छोणितम्।
पिपासुररि मर्दनः सच सुखेन पंचाननः॥

—सुभाषितावली।

भाषा—स्वतंत्र और महती सेना के साथ निर्भय भारतवर्ष में शाहबुद्दीन द्वारा राजाओं का पद्दलित होना सुन कर महाराज जयचन्द्र ने यह पद्य अपने दूतों के जरिये उसे भेजा; ऐ तुच्छ मृगशावक, तू अपनी चंचलता से इस महावन रूपी भारतवर्ष में उछल-कूद मचाए हुए है, तेरी समझ में यह वन शून्य है अथवा तुझ सा पराक्रमी अन्य जन्तु इस महावन में नहीं है, यह केवल तुझे धोखा और भ्रम है। ठहर, ठहर, आगे मत बढ़, निःशंकता छोड़ देख यह आगे मृगराज गजराजों

---

१. कन्नौज और फर्रुखाबाद के मध्य गंगा तट पर कम्पिल की बस्ती दाहिने किनारे स्थित है।

के रक्त का पिपासु बैठा है, यह महा-अरिमर्दक है; मेरे ऐसों को मारते इसे कुछ भी श्रम प्रतीत नहीं होता, वह इस समय यहाँ सुख से विश्राम ले रहा है।

जयचन्द्र के सम्बन्ध में उनके फैजाबाद ताम्र दान-पत्र (सं० १२४३ ई० ११८६) में निम्न श्लोक उत्कीर्ण है जिसमें सूक्ष्म में उनकी उपलब्धियों का वर्णन है :—

अद्भुत विक्रमादय जयच्चन्द्राभिधानः पतिर्-
भूपानाम वतीर्ण एप भुवनोद् धाराय नारायणः।
धीमा वमपास्य विग्रह रुचिं धिक्कृत्य शान्ताशया
सेवन्ते यमुदग्र बन्धन भय ध्वंसार्थिनः पार्थिकाः ॥१३॥
छेन् मूच्र्छामतुच्छां न यदि कवल येत् कूर्म पृष्टा मिधात
त्यावृत्तः श्रमार्तो नम दखिल फणश्वा वसात्या सहस्रम।
उद्योगे यस्य धावद् धरणि धर धुनी निर्झरस् फारधार-
श्यद् दानन्द् विपाली वहल भरगलद् वैर्यं मुद्रः फणीन्द्रः ॥१४॥

भावार्थ—पहले श्लोक में बताया गया है कि विजयचन्द्र के बाद जयचन्द्र हुआ जो अद्भुत वीर था। राजाओं का स्वामी जयचन्द्र नारायण का अवतार ही था जिसने पृथ्वी के सुख हेतु जन्म लिया। अन्य राजा लोग उसकी स्तुति करते थे। दूसरे श्लोक में कहा गया है कि उसकी हाथियों की सेना के बोझ से शेषनाग दब जाते थे और मूर्छित होने की अवस्था को प्राप्त होते थे।

इन दोनों श्लोकों का अंग्रेजी रूपान्तर जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० कीलहार्न ने निम्न प्रकार किया है :—

Verse 13. After him (i. e. Vijaichandra) possessed of wonderful valour, (comes) the lord of princes named Jayachandra; he is Narayana, having become incarnate for the salvation of the earth. Having put aside (all) dissension (and) cursing (their own) liking for war, peacefully = disposed princes pay homage to him, seeking to rid themselves of the intense dread of the punishment (inflicted by him).

Verse 14. When he puts forth his might, the lord of the serpents has his reputed strength failing under the great weight of the lines of elephants whose rutting-juice flows down in broad streams resembling torrents rushing down from moving mountains; distressed by he exertion of turning up

again when pressed down upon the back the tortoise, he would completely faint away if he did not inhale the thousand strong breezes from all his bending hoods."[१]

उक्त ताम्रपत्र के पूर्ण अभिलेख का सम्पादन तथा उसका अनुवाद उन्हीं विद्वान प्रो० कीलहार्न द्वारा किया गया है।

७. आल्हा-ऊदल के आश्रयदाता

महाराज वीरों का केवल उत्साह ही नहीं बढ़ाते थे वरन वीरता पर मुग्ध होते थे। वे वीर चाहे जो उपद्रव कर डालें सब क्षम्य थे। उनके यहाँ लड़ाई की कोई मनाही न थी; आल्हा ऊदल की लड़ाइयों से यह स्पष्ट है। यह दोनों योधा बड़े उपद्रवी थे इसलिए महोबा के राजा परिमाद्दिदेव (परिमाल) ने ११६५ ई० में इनको अपने राज्य से निकाल दिया था। जयचन्द्र ने इसे दुर्गुण नहीं समझा और प्रसन्न हो अपने यहाँ रख लिया। इन दोनों भाइयों का स्वभाव महाराज के सरदार लाखनपाल[२] (लाखन) के स्वभाव के अनुकूल था अतः तीनों में मैत्री हो गई। लाखन संभवतः बदायूँ का जागीरदार था और गाहड़वाल-वंशी युवक था। वंशीय होने के निहोरे अथवा और किसी नाते से वह महाराज का मुँह लगा था। इसी बहाने जयचन्द्र की क्षत्रछाया में इन लोगों ने दूर-दूर प्रदेशों में जाकर अनेक उत्पात किये यहाँ तक कि दिल्लीपति चौहान पृथ्वीराज का लोहा लिया और उन्हें कैद कर लिया।[३]

कहावत है कि इसी तरह लड़-झगड़ कर जबरदस्ती पृथ्वीराज की बेटी बेला का ब्याह परिमाल के पुत्र ब्रह्मजित (ब्रह्मा) से कर दिया था। एक ही प्रकृति के इन युवकों का एक अच्छा जत्था हो गया था। जहाँ कहीं किसी जगह से राजकर ठीक समय पर न आया अथवा और कोई बहाना मिला कि ये लोग दौड़ पड़े और धन एकत्र कर लाए। इसी भाँति नथवन के राजा बिजली से और अन्य राजाओं जैसे अमेठी, सरसवान, देवगढ़, लोह-गांजर के राजाओं से युद्ध कर इन्होंने विजय पाई। कहते हैं कि लोह-गांजर में इन्हें पर्याप्त सिद्धि नहीं हुई।[४]

---

१. Indian Antiquary, XI, (1886 A. D.) pp. 6 et seq.

२. कहीं-कहीं लाखन को जयचन्द्र का पुत्र कहा गया है जो सही नहीं है। महाराज के केवल एक ही पुत्र था जिसका नाम हरिश्चन्द्र था।

३. माधुरी, ज्येष्ट तुलसी सं० ३०६ पृ० ६०१, 'आल्हा ऊदल की कथा' लेखक भगवती प्रसाद सिंह। इन्होंने युद्ध का समय सन् ११७४ ई० दिया है।

४. गजेटियर, फर्रुखाबाद, (१९०४) पृ० १३७।

महाराज को उद्द जाति के राजा कर देते थे। इससे प्रकट होता है कि क्षत्रिय मंडल इनके अधीन था। महाराजाधिराज और बरदाई सेन की उपाधियाँ इसीलिए थीं।

८. मोहम्मद गोरी का परिचय तथा उसके आक्रमण

मोहम्मद गोरी कई नामों से जाना जाता है, यानी गाजी मोहम्मद गोरी, शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी, मुईजुद्दीन मोहम्मद गोरी, मोहम्मद-बिन-साम ('बिन' का अर्थ है पुत्र; अर्थात् साम का पुत्र मोहम्मद)। आम तौर पर उसे मोहम्मद गोरी या शहाबुद्दीन ही कहा जाता है और इन्हीं नामों का प्रयोग प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

देश के इतिहास में मोहम्मद गोरी का विशेष स्थान है क्योंकि भारत में यवन शासन की बुनियाद उसी ने डाली थी यद्यपि ७वीं सदी में सिन्ध पर अरबों का अधिकार हो चुका था किन्तु वे सिन्ध के आगे बढ़ने में विफल रहे।

मोहम्मद गोरी के भारत पर कई आक्रमण हुए किन्तु उसके अन्तिम तीन आक्रमण ही बहुचर्चित हैं यानी—

(क) सन् ११९१ का आक्रमण (तरायन का प्रथम युद्ध) जिसमें वह पृथ्वीराज द्वारा पूर्णतया पराजित हुआ।

(ख) सन् ११९२-९३ का आक्रमण (तरायन का दूसरा युद्ध) जिसमें पृथ्वीराज धराशायी हुआ, जिसके फलस्वरूप दिल्ली, अजमेर आदि यवनों के अधिकार में चले गये।

(ग) सन् ११९४ का आक्रमण (चन्दावर का युद्ध) जिसमें जयचन्द्र की मृत्यु हुई और फलतः कन्नौज राज्य पर भी मोहम्मद गोरी का प्रभुत्व हो गया।

नोट—सन् ११९५ में गोरी का भारत पर एक मामूली किस्म का हमला हुआ था जिसमें उसने बयाना किले पर अधिकार किया किन्तु शीघ्र ही वह गजनी लौट गया जहाँ कुछ स्थानीय मामले उठ खड़े हुए थे। यह किला राजस्थान के भरतपुर जिले में एक पहाड़ पर था। उस युग में दिल्ली पर अभियान करने वाली सेनाओं के लिए इस किले पर कब्जा करना महत्वपूर्ण माना जाता था।

मोहम्मद गोरी (११७३-१२०६ ई०) गजनी और गोर (अफगानिस्तान) राज्यों का अधिष्ठाता था। गजनी का राज्य महमूद गजनवी के पूर्वजों ने स्थापित किया था जिसे महमूद ने खूब बढ़ाया। उसका शासनकाल सन् ९९७ से १०३० तक रहा। उसके गद्दीनशीन होने के समय गजनी के राज्य में आधुनिक अफगानिस्तान, खुरासान और ईरान देश का कुछ भूभाग शामिल था। अपने राज्यकाल में उसने पंजाब, मुलतान तथा भारत के कुछ अन्य भूभागों पर अधिकार कर लिया

था। कालान्तर में मुहम्मद गोरी के बड़े भाई गयासुद्दीन ने, जो गोर देश का शासक था, महमूद के सामयिक उत्तराधिकारी से गजनी राज्य जीत लिया और मोहम्मद गोरी को अपना सिपहसालार तथा नायब बनाया (११७१ ई०)। गजनी के शासक ने भाग कर लाहौर में शरण ली जो उस समय भी गजनी राज्य के अधीन पंजाब प्रान्त की राजधानी था और वहीं अपने को स्थापित किया। उसके बाद सुल्तान खुसरो मलिक लाहौर का अन्तिम गजनवंदी शासक हुआ जो सन् ११८६ में मोहम्मद गोरी द्वारा पदच्युत किया गया और तभी पंजाब भी गोरी के बड़े भाई के राजत्व में चला गया। उसके बाद उसने भारत पर सन् ११९१, ११९२-९३ और ११९४ में उपरलिखित तीन आक्रमण किए जिनका विवरण निम्न प्रकार है :—

(१) तरायन का प्रथम युद्ध—सन् ११९१ के कुछ साल पहले सुल्तान मोहम्मद गोरी ने पंजाब और सिन्ध के अधिक भाग पर कब्जा कर लिया था। अब उसने दिल्ली पर कब्जा करने का प्रयत्न किया। प्रथमतर उसने सिरहिन्द में स्थित हिन्दुओं के प्रतिष्ठित किले पर कब्जा किया, फिर दिल्ली की ओर बढ़ा। महाराज पृथ्वीराज ने उससे मुकाबला करने के लिए, जयचन्द्र को छोड़ कर अन्य राजपूत राजाओं को भी अपनी सहायता के लिए आमंत्रित किया और इस प्रकार लगभग १२० राजा और सामन्त युद्ध क्षेत्र में एकत्रित हुए। पृथ्वीराज ने उन सबका सुसंगठित नायकत्व किया। जयचन्द्र के आने का प्रश्न ही न उठा क्योंकि उन्हें आमंत्रित नहीं किया गया और बिना युद्ध-निमंत्रण के एक राजा दूसरे राजा के सहायतार्थ न जाता था ऐसी उस समय की राजनीतिक परिपाटी थी। अब भी यही राजनीति बर्नी जाती है।

सन् ११९१ में तरायन के मैदान में पृथ्वीराज की अध्यक्षता में घुड़सवारों हाथियों और पैदल सैनिकों की विशाल सेना उपस्थित हुई जिसके मुकाबले में मोहम्मद गोरी की सेना थी। पृथ्वीराज के नेतृत्व में दो लाख घुड़सवार और ३,००० हाथी थे और इनके अतिरिक्त प्रचुर संख्या में पैदल सैनिक थे। मोहम्मद गोरी की सेना इनसे बहुत कम थी। लड़ाई के प्रारम्भ ही में सुल्तान घायल हो गया। अवश्य ही उसका बध हो जाता यदि उसके एक स्वामिभक्त सिपाई ने उसे लड़ाई के मैदान से बड़ी कठिनाई से निकाल न लिया होता। नेता के अभाव में गोर सेना भाग खड़ी हुई। कहा जाता है कि राजपूतों ने घायल सुल्तान को पकड़ लिया था• किन्तु पृथ्वीराज ने उसे अभयदान दिया। कुछ भी हो गोर सेना की पूर्ण पराजय हुई यद्यपि मोहम्मद गोरी किसी प्रकार बच कर गजनी वापस पहुँचा। साथ ही राजपूतों ने सिरहिन्द के किले पर घेरा डाला किन्तु उस पर कब्जा करने में लगभग एक साल लग गया।

यह युद्ध तरायन के प्रथम युद्ध के नाम से जाना जाता है। कभी-कभी इसे पानीपत का प्रथम युद्ध भी कहते हैं क्योंकि पानीपत तरायन से केवल ३० मील की दूरी पर ही स्थित था।

(२) **तरायन का दूसरा युद्ध**—तरायन के प्रथम युद्ध के पहले मुसलमानों ने हिन्दुओं से ऐसी लज्जाजनक हार कभी न खाई थी जैसी कि मोहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज द्वारा। गोरी इस लज्जा को न भूला और अपने शौर्य को प्रदर्शित करने के लिए गजनी लौटने पर और कुछ स्वस्थ हो जाने के तुरन्त बाद उसने एक बहुत बड़ी सेना का संगठन प्रारम्भ कर दिया। पूर्णरूपेण तैयारियाँ करने के बाद सन् ११९२-९३ में, १,२०,००० सवार तथा बड़ी संख्या में पैदल आदि लेकर पृथ्वीराज पर पुनः आक्रमण करने के लिए चल दिया। उसका मुकाबला करने के लिए पृथ्वीराज ने पुनः अन्य राजपूत राजाओं की सहायता प्राप्त की। दोनों दलों में फिर एक बार तरायन के रणक्षेत्र में ही घमासान युद्ध हुआ। यद्यपि पृथ्वीराज के नेतृत्व में राजपूत सेनाओं ने बड़ी बहादुरी से युद्ध किया और प्रारम्भ में उन्हें सफलता प्राप्त हुई किन्तु बाद में मोहम्मद गोरी ने बड़ी चतुराई से उन चुने हुए सवारों द्वारा, जिन्हें उसने पहले ही से सुरक्षित कर रखा था, थकी हुई राजपूत लाईनों पर भीषण वार किया और विजयी हुआ। महाराज पृथ्वीराज इस युद्ध में मारे गए और उस भूभाग पर मोहम्मद गोरी का प्रभुत्व स्थापित हो गया। विजित इलाके का शासन-भार अपने सेनापति कुतुबुद्दीन को अपने नायब की हैसियत से सौंप कर मोहम्मद गोरी गजनी लौट गया।

पृथ्वीराज रासो पर आधारित अन्य काल्पनिक बातों के समान यह किम्वदन्ती भी असत्य प्रमाणित हुई है कि पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर मोहम्मद गोरी गजनी ले गया जहाँ चन्दबरदाई भी अपने स्वामी के साथ गया और वहीं शब्दवेधी वाण चलाने की कला का प्रदर्शन करने के सिलसिले में पृथ्वीराज ने तीर मार कर सुलतान का बध कर दिया तथा पृथ्वीराज और चन्दबरदाई ने स्वयं अपने-अपने को कटार मार कर प्राणान्त किया। मोहम्मद गोरी का बध सन् १२०५-०६ में झेलम जिले के समीप एक जंगली वर्ग के कुछ शत्रुओं द्वारा किया गया जब रात में वह अपने खेमे में सो रहा था। यह बात स्मिथ महोदय ने निम्न शब्दों में कही है—

"A Hindu tale that Prithviraj was taken to Gazni, where he shot the Sultan is false. Sultan shab-ud-din was assassinated at the halting-place of 'Damyek' in the Hijri year 602 (A.D. 1205-6) by a fanatic of the Mulahidah sect. The exact spot,

the scene of the surprise, has been identified at Dhamiak in the Jhelum district, Punjab''[1] (now in Pakistan).

पृथ्वीराज की पराजय के अन्य कारणों में एक कारण यह भी था कि मोहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज को धोखे में रख कर रातो-रात राजपूत सेना पर आक्रमण कर दिया जिसके फलस्वरूप सोते हुए सैनिकों में गड़बड़ी पड़ गई। धोखे की बात इस प्रकार पैदा हुई कि पृथ्वीराज ने मोहम्मद गोरी के पास यह सन्देश भेजा कि अपनी पूर्व पराजय को स्मरण करके वह युद्ध की कामना त्याग करके स्वदेश लौट जाए। इसका उत्तर चतुर सुल्तान ने यह दिया कि वह स्वयं गजनी के वास्तविक शासक, जो उसका बड़ा भाई भी है, के अधीन है तथा उसकी अनुमति या आज्ञा से ही उसने यह अभियान किया है, अतः उसे समय दिया जाए कि वह महाराज के प्रस्ताव पर अपने सुल्तान की अनुमति प्राप्त कर ले। इस उत्तर के पाने पर राजपूत सेना में निश्चिन्तिता की भावना उत्पन्न हो गई और इस स्थिति का लाभ उठाकर गोरी ने रातो-रात हमला कर दिया। यद्यपि शीघ्र ही राजपूत सिपाही युद्ध के लिए तैयार हो गए फिर भी इस धोखे से उनके चरित्रबल में कुछ शिथिलता अवश्य ही पैदा हो गई होगी जिसके कारण अन्ततः वे हारगए।

(३) गोरी का जयचन्द्र पर आक्रमण (११९४ ई०)—यह आक्रमण गोरी ने उत्तर भारत में अपने विजित इलाके को सुरक्षित रखने के अभिप्राय से किया था। वह जानता था कि बिना शक्तिशाली कन्नौज राज्य को अधीन किए भारत में उसकी सत्ता कायम न रह सकेगी। इस आक्रमण का विवरण इसी अध्याय के अगले अनुशीर्षक में दिया जायगा।

× × ×

मोहम्मद गोरी से सम्बन्धित कुछ अन्य बातें—उक्त सभी अभियान गोरी ने अपने बड़े भाई सुलतान गयासुद्दीन के प्रतिनिधि के रूप में किए थे क्योंकि सन् ११९७ के लगभग अपनी मृत्यु तक गयासुद्दीन ही गजनी का नामधारी शासक रहा यद्यपि सम्पूर्ण राजसत्ता मोहम्मद गोरी के ही हाथों में थी और उसे भी सुल्तान कहा जाता था। अतः गयासुद्दीन की मृत्यु के बाद ही सन् ११९७ के लगभग वह भाई की वसीयत के अनुसार गजनी का गद्दीधर हुआ। यद्यपि गयासुद्दीन का महमूद नामक एक नाबालिग पुत्र विद्यमान था तथापि उसने गोरी को ही अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया क्योंकि वही वास्तविक शासक था और ऐसी हालत में महमूद के हाथ में सत्ता का टिकना सम्भव न था। फिर भी गद्दीधर होने पर गोरी ने महमूद को एक बड़े इलाके का सरदार बना दिया।

---

१. Smith, Early History of India.

लगभग ३२ साल राजसत्ता का लाभ उठाने के बाद सन् १२०६ में मोहम्मद गोरी का कत्ल हो गया। उस समय लाहौर से गजनी लौटते समय उसने मार्ग में पड़ाव डाला था जहाँ खेमें में सोते समय बागी गुक्करों के कुछ लोगों ने उसका बध कर दिया। उसकी लाश को गजनी में उस मकबरे में दफनाया गया जिसे उसकी लड़की के लिए बनवाया गया था।

भारत पर आक्रमणों में तथा अन्य युद्धों में मोहम्मद गोरी कई बार पराजित हुआ था किन्तु इससे उसके हौसले में कमी न आई और अन्ततः वह भारत में तुरुष्क सत्ता स्थापित करने में सफल हुआ।

भारत पर मोहम्मद गोरी के लगभग नौ आक्रमण हुए थे जिनमें दो को छोड़ कर उसने अतुल धन-सम्पत्ति हस्तगत की। इस विशाल धनराशि का कुछ अनुमान इस बात से लग सकता है कि मृत्यु के समय उसके पास केवल विभिन्न किस्म और तौल के हीरों का ही वजन ५०० मन के लगभग था।

९. मोहम्मद गोरी के विरुद्ध युद्ध में जयचन्द्र की वीरगति

यह निश्चय है कि महाराज जयचन्द्र मोहम्मद गोरी से युद्ध करते हुए चन्दावर के मैदान में सन् ११९४ में वीरगति को प्राप्त हुए। लगभग दो वर्ष पूर्व सन् ११९२-९३ में सुल्तान ने महाराज पृथ्वीराज को तरायन की लड़ाई में रणशायी कर अजमेर दिल्ली पर अधिकार कर लिया था। तभी अपने मुख्य सेनापति कुतुबुद्दीन को अपना प्रतिनिधि मनोनीत किया और विजित देश का शासक बनाकर गजनी लौट गया। तदनन्तर सन् ११९४ में भारत पर फिर आक्रमण किया और इस बार महाराज जयचन्द्र को रणशायी किया। यह युद्ध चन्दावर के मैदान में हुआ जो आगरा और इटावा के बीच यमुनातट पर स्थित था। अब वह फीरोजाबाद नगर की बस्ती है। इस प्रकार उत्तर भारत के एक बड़े भाग पर मुसलमानों का शासन हो गया। उक्त आक्रमण तथा युद्ध का कथन कई ग्रन्थों में मिलता है किन्तु सबमें एक सा विवरण नहीं है। विभिन्न वर्णनों का सार नीचे दिया जा रहा है—

(क) राजशेखर सूरि कृत प्रबन्धकोश में इसकी कथा यह है कि सुहावादेवी नामक एक विधवा थी जो अत्यन्त रूपवती तथा कुशाग्र बुद्धिवती थी। जयचन्द्र का पद्माकर नामक प्रधान मंत्री उसे अणहिलपुर (गुजरात) से लाया और महाराज को भेंट किया। महाराज उसके रूप-लावण्य पर मोहित हुए और उसे अपना पासवान बना लिया। उससे मेघचन्द्र नाम का पुत्र हुआ। उसके युवा होने पर सुहावादेवी ने महाराज से हठ किया कि मेघचन्द्र को युवराज पद दिया जाए। मंत्री विद्याधर के विरोध के कारण सफल मनोरथ न होने पर वह रुष्ट

हो गई और राज्य के अनिष्ट का संकल्प किया। उसे कार्यान्वित करने के लिए उसने गुप्त रूप से अपने दूत को तक्षशिला भेजा और सुल्तान को कन्नौज पर चढ़ाई करने के लिए आग्रह किया।

जयचन्द्र का मंत्री विद्याधर बड़ा प्रवीण था। गुप्तचरों द्वारा उसने यह भेद जान लिया और राजा को उसकी सूचना दी। जयचन्द्र सुहावादेवी की भक्ति सत्य ही समझता रहा और मन्त्री की बात पर विश्वास न किया। विद्याधर को इस पर बड़ी ग्लानि हुई और भावी अनर्थ के शोक से पुण्यमयी गंगा में प्राण समर्पण कर दिए। कुछ काल बाद अवसर पाकर (किन्तु उक्त आग्रह पर नहीं) सुल्तान ने आक्रमण किया। समाचार पाकर जयचन्द्र युद्ध के लिए आगे बढ़े। बीच में दोनों सेनायें आ मिलीं। विकराल युद्ध के बाद सुल्तान विजयी हुआ किन्तु यह ज्ञात नहीं कि जयचन्द्र रणक्षेत्र में धराशायी हुए अथवा लज्जा से स्वयं प्राण त्याग दिए।

यह प्रबन्ध कोष राजशेखर सूरि ने वि० सं० १४०५=१३४९ ई० में लिखा था जब कि घटना सं० १२५०=११९४ ई० की है अर्थात् १५५ वर्ष बाद का यह ग्रन्थ है। इसमें कुछ जनश्रुति का भी अंश हो सकता है और इस कारण कुछ भेद भी सम्भव हैं। तथापि समय का इतना बड़ा अन्तर नहीं है कि सारा कथन निर्मूल मान लिया जावे।

(ख) प्रबन्ध चिन्तामणि से भी सुहावादेवी की कथन का समर्थन होता। विद्यापति की पुरुष परीक्षा में भी यह लिखा है कि जयचन्द्र को उसकी रानी शूभादेवी ने उसको धोखा देकर शहाबुद्दीन द्वारा मरवा डाला (कथा ११, घास-मार कथा)।

(ग) ख्वाजा हसन निजामी ने ताज-उल-मासीर में लिखा है कि दिल्ली पर अधिकार करने के दो बरस बाद कुतुबुद्दीन ऐबक ने जयचन्द्र पर चढ़ाई की। सुल्तान शहाबुद्दीन रास्ते में आ मिला। सेना में ५०,००० सवार थे। कुतुबुद्दीन फौज में आगे रखा गया था। जयचन्द्र ने इटावा के पास चन्दावर में सामना किया। युद्ध के समय राजा जयचन्द्र हाथी पर बैठ सेना का संचालन करने लगा। अन्त में वह मारा गया। सुल्तान ने असनी[1] का खजाना लूटा। आगे बढ़ कर बनारस की भी वही दशा की। इस लूट में ३०० हाथी भी थे।

(घ) मौ० मिनहाजुद्दीन की तबकाते-नासिरी में सिर्फ इतना ही वर्णन है कि ५९० हिजरी (=११९४ ई०) में सुल्तान शहाबुद्दीन के साथ दो सेनापति थे जिनके नाम कुतुबुद्दीन और इजुद्दीन थे जिन्होंने चन्दावर के पास जयचन्द्र को हराया।

---

१. जिला फतेहपुर में गंगा नदी के बाएँ तट पर स्थित है। यहाँ भी जयचन्द्र का किला और खजाना था।

(ङ) कामिलुत्तवारीख[1] में लिखा है कि ५९० हिजरी (=१२९४ ई०) में शहाबुद्दीन गोरी ने चन्दावर में राजा जयचन्द्र को हराया और बनारस को लूटा । उस लूट को वह १,४०० ऊँटों पर लाद कर ले गया ।

× × ×

उद्धृत प्रमाणों से जयचन्द्र के अन्तिम युद्ध की कथा सम्बन्धी बातों पर जो प्रकाश आता है वह निम्नांकित है—

दो प्रमाणों से युद्ध का समय निर्विवाद स्थापित होता है जो ५९० हिजरी (११९४ ई० व वि० सं० १२५०) होता है। इसी प्रकार युद्धस्थल भी मालूम हो जाता है कि वह भदावर (या चन्दावर) था । यह जिला इटावा में है। इटावा में जयचन्द्र का किला भी था ।

सुल्तान शहाबुद्दीन गोरी की चढ़ाई का वर्णन जैसा प्रबन्धकोष में दिया हुआ है उससे ज्ञात होता है कि कुपात्र का सहवास कितना भयंकर है । सुहावादेवी न्यून कोटि की स्त्री थी । राजशेखर ने उसके रूप तथा राजनीति-निपुणता की प्रशंसा की है जिससे जान पड़ता है कि उसमें सौन्दर्य के अतिरिक्त मेधावी गुण भी था । जयचन्द्र उस रूपवती व बुद्धिमती महिला के पाश में ऐसे बँधे कि उसको यह अभिमान हो गया कि उसकी इच्छा के विरुद्ध महाराज को कुछ भी करने का साहस नहीं हो सकता । महाराज का औरस पुत्र कुछ विलम्ब से उत्पन्न हुआ। उससे पहले उन्होंने सुहावादेवी की कोख से जन्मित अनौरस सन्तान का मुँह देखा औरस पुत्रवत् उससे स्नेह करता रहा । इसीलिए सुहावादेवी ने अपने पुत्र मेघचन्द्र के लिए युवराजपद का हठ किया । औरस पुत्र के होते हुए तथा मन्त्री की सलाह के विरुद्ध महाराज उसकी इच्छा पूर्ण करने में भयभीत रहे । इससे उन दोनों के चित्तों में ग्रन्थि पड़ गई ।

इधर दिल्लीपति महाराज पृथ्वीराज ने अवसान से भारत में मुसलमानों का पदारोपण हो गया और उधर जयचन्द्र के मुँह लगे झगड़ालू सेनापतियों ने चारों ओर मांडलिक राजाओं से युद्ध करके देश में अराजकता सी फैला रखी थी। समझ पड़ता है कि इस अराजकता के समाधान के लिए कन्नौज की फौज चारों ओर शान्ति स्थापित करने के लिए इधर-उधर भेजी गई हुई थी । राजपूताना सरीखे सुदूर देशों में पहुँच जाने के कारण उसका जल्दी लौटना सम्भव न था।

अभी तक मुसलमानों के आक्रमण केवल लूटमार करने के अभिप्राय से हुआ करते थे । उनका कोई दृढ़ राज्य स्थापित न हो पाया था । जयचन्द्र ने कई

1. इब्न नसीर विरचित ।

बार मुसलमानों को हराया था और वें लोग उसके नाम से थर्राते थे। उस जयचन्द्र को भला कुतुबुद्दीन ऐवक सरीखों से मोर्चा लेने में क्या भय हो सकता था।

कुतुबुद्दीन और शहाबुद्दीन को जयचन्द्र के घर भेदियों ने बताया होगा कि उस समय उसके पास न कोई विशेष सेना है और न सेनापति। यदि वे दोनों महाराज की उस समय की स्थिति का कच्चा चिट्ठा न पाते तो क्षत्रीकुल की प्रसिद्धि वीरता के कारण उसके चंगुल में फँसने से भयभीत होकर चढ़ाई का साहस न करते। निदान उन्होंने कई टुकड़े अपनी फौज को विभिन्न मार्गों से से जयचन्द्र की ओर लाए। उधर जयचन्द्र का योग्य मन्त्री विद्याधर मृत हो चुका था अन्यथा वह इन भेदों का पता लगा लेता और बचाव की तैयारी करता।

अनुमान होता है कि जयचन्द्र को केवल इतना ही भेद मिला कि कुतुबुद्दीन अमुक मार्ग से आक्रमण करने आ रहा है। सुल्तान शहाबुद्दीन, इजुद्दीन और कुतुबुद्दीन तीनों ने मिलकर चढ़ाई की है यह सब जयचन्द्र न जान पाया।

जो फौज उस समय जयचन्द्र के पास थी उसे ही लेकर वह कुतुबुद्दीन का मार्ग रोकने के लिए आगे बढ़ा। फल यह हुआ कि वह अकेला ही तीन मार्गों से आई हुई फौजों के बाँध में फँस गया। यह भी मालूम होता है कि जयचन्द्र के पास बहुत कम फौज थी क्योंकि मुसलमानी तवारीखों में सुल्तान के फौज की संख्या में ५०,००० सवार बताए गए हैं और जयचन्द्र की फौज की संख्या भी बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताई गई है जिससे उन्होंने सुल्तान की बहादुरी का पक्ष बढ़ाने का प्रयत्न किया है। तथापि किसी भी ग्रन्थकार ने जयचन्द्र के किसी भी सेनापति का उल्लेख नही किया। यदि उसके साथ कोई भी सेनापति उस युद्ध में मारा गया होता या परास्त हुआ होता तो भी सुल्तान की कीर्ति के साथ कहा जाता कि उसने जयचन्द्र को अमुक सेनापति के साथ मारा और यह वर्णन कदापि न आता कि वह स्वयं हाथी पर चढ़कर सैन्य संचालन कर रहा था।

यह भी वर्णन किसी ने नहीं किया कि जयचन्द्र की फौज भाग खड़ी हुई। इससे समझ पड़ता है कि वह वीर अकस्मात् ही इस स्थिति में आ पड़ा। यह भी कि उसकी फौज ने उस रणयज्ञ में अपने प्राण समर्पण कर दिए। लूट के वर्णन से भी यही प्रतीत होता है कि जयचन्द्र बहुत साधारण रूप में था और उसका लाव-लश्कर बहुत कम था क्योंकि जो लूट का माल सुल्तान के हाथ लगा वह बनारस (या कन्नौज) का और असनी के किले का वर्णित है। युद्ध क्षेत्र की लूट का वर्णन नहीं है। इतिहासकारों ने केवल इतना ही लिखा है इस फौजी विजय में विजेता को ३०० हाथी प्राप्त हुए। यदि महाराज के साथ पूरी फौज

होती तो हस्तगत हाथियों की संख्या इससे कहीं अधिक होती क्योंकि महाराज की सेना में हजारों की संख्या में हाथी थे। इसी प्रकार हजारों घोड़े भी मिलते। इन सब तथ्यों से सिद्ध होता है कि लूट का वर्णन नहीं है। युद्ध क्षेत्र में जयचन्द्र के पास पर्याप्त सेना तथा माल-असवाव नहीं था। फिरिश्ता के आधार पर तो यहाँ तक कहा गया है कि कुतुब के तीर से घायल होकर जयचन्द्र का प्राणान्त हो गया और उसका शरीर हादे से गिर पड़ा। कुछ भी हो यह निर्विवाद है कि उक्त कठिनाइयों के होते हुए भी महाराज ने हाथी पर सवार होकर स्वयं युद्ध क्षेत्र में कुशलता से युद्ध का संचालन किया और बड़ी वीरता से लड़े। यदि दुर्भाग्यवश उनको तीर न लग गया होता तो युद्ध का परिणाम उनके माफिक ही होने की सम्भावना थी।

हसन निजामी का कहना है कि जयचन्द्र युद्ध में मारा गया। प्रबन्धकोशकार ने कहा है कि यह ज्ञात नहीं कि वह मरा या उसका क्या हुआ। इन दोनों कथनों से इतना तो स्पष्ट है कि जयचन्द्र (जीवित या मृतक) विजेता के हाथ नहीं लगा। उसके शत्रुओं ने भी यह नहीं कहा कि वह रणभूमि से भाग निकला। इससे समझ पड़ता है कि युद्ध में वह साहसपूर्वक लड़ा और वीर गति पाई।

विजय के बाद मोहम्मद गोरी के हाथ नगर की लूट से अच्छा माल आया। तीन सौ हाथियों के अतिरिक्त जो माल लूटा गया वह १४०० ऊँटों पर लादकर मुल्तान ले गया जिसमें बहुमूल्य वस्तुएँ ही होंगी। यह लूट बनारस की वर्णन की गई है। बनारस से मुसलमानी लेखकों का अभिप्राय कन्नौज से समझ पड़ता है क्योंकि युद्ध क्षेत्र से बनारस बहुत दूर था, कन्नौज निकट था। वस्तुतः वह लूट कन्नौज ही में हुई होगी।[१] फरिश्ता और हसन निजामी का कहना है कि शहाबुद्दीन ने चन्दावर से जाकर पहले असनी (जिला फतेहपुर) का किला लूटा जहाँ राजकोश का विशाल खजाना सुरक्षित था। यह स्थान कन्नौज से पूर्व की ओर गंगा तट पर था। उसके बाद विजेता ने हिन्दुस्तान के केन्द्र बनारस को विध्वंस किया। कुतुबुद्दीन को यह इलाका भी सिपुर्द हो गया। कुछ दिनों उसने असनी पर अपना झण्डा खड़ा रखा जिसके फलस्वरूप आस-पास के भूमिस्वामियों ने उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया।

इस नाम भ्रम का कारण यह समझ पड़ता है कि काशी और बनारस

---

१. कन्नौज नरेश महाराज मदनपाल ने अपने निघंटु ग्रन्थ में अपने को काशिराज लिखा है। अन्य कारणों से भी कन्नौज और काशी (बनारस) में उन दिनों भ्रम हो जाता था।

पर्य्यायवाची शब्द हैं किन्तु गाहरवाल वंश ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कन्नौज को काशी बना रखा था और अपने को काशीपति कहते थे और बनारस को वाराणसी कहते थे। इसलिए दूरस्थ देशों के लोग इस भेदान्तर को न समझ कर कन्नौज और बनारस में भ्रम कर बैठते थे। इस सम्बन्ध में इतिहास की दृष्टि से एक बात और उल्लेखनीय है कि कन्नौज पर मुसलमानों का अधिकार इस युद्ध के बाद होना सिद्ध नहीं है।

उक्त वर्णन स्वयं इस बात का साक्षी है कि मोहम्मद गोरी ने कन्नौज पर चढ़ाई प्रधानतयः लूट की गरज से की थी और लूटमार करके तुरन्त वापस चला गया। इस वापसी का एक कारण यह हो सकता है कि सुल्तान को भय था कि जयचन्द्र की युद्ध क्षेत्र के बाहर की सेना अनन्त थी तथा उसके सेनापति बड़े मर्कट थे जो समाचार पाते ही टूट पड़ेंगे और कठिन स्थिति आ खड़ी होगी। दूसरी सम्भावना यह कि प्रचुर धन-सम्पत्ति तथा फौजी सामग्री मिल जाने से उसको सन्तोष हो गया होगा और वह स्वदेश लौट गया। सर थामस होल्डिच ने लिखा है कि लूट का माल ४,००० ऊँटों पर लाद कर गजनी ले जाया गया।[१] इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि कन्नौज पर अधिकार करने में कोई अन्य बाधाएँ उपस्थित हुई हों। किन्तु हरिश्चन्द्र सम्बन्धित आगे के अध्याय से यह निश्चयः प्रतीत होगा कि कन्नौज मुसलमानों के अधिकार में अभी क्या एक चौथाई शताब्दी आगे चल कर नहीं हुआ।

इस कथन पर कि मोहम्मद गोरी ने कन्नौज नगर को लूटा, न कि बनारस को, एक बात कुछ सन्देह उत्पन्न करती है वह यह कि डॉ० नलिनाक्षदत्त तथा डॉ० कृष्णदत्त बाजपेई ने अपनी पुस्तक "उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास" में लिखा है कि मोहम्मद गोरी द्वारा काशी नगरी की बड़ी बर्बादी हुई और सारनाथ भी न बच सका जहाँ की अनेक विशाल इमारतें नष्ट की गईं और यह भी कि सारनाथ के बौद्ध भिक्षु या तो मारे गए या अन्यत्र चले गए; धीरे-धीरे यह स्थान पूर्णतया निर्जन बन गया यहाँ तक कि कालान्तर में लोग इसके अस्तित्व तक को भूल गए। यह भी लिखा है कि मुगलकाल में यहाँ के टीलों पर एक इमारत बनी जिसे चौखण्डी कहते हैं।[२] इस शंका के समाधान में यह कहना है कि मोहम्मद गोरी के समय के पहले काशी का विध्वंस यवन आक्रमणकारियों ने किया था। उदाहरणार्थ, सन् १०३३ में अहमद नियाल्तिगीन ने बनारस को

---

१. *India*, by Sir Thomas H. Holdich. The author (like other historians) has referred to the sack of "Benares", but the purport of this word is "Kanauj" as already explained.

२. उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ० २५२-५३।

लूटा था। नियाल्तिगीन गजनी साम्राज्य की ओर से पंजाब प्रान्त का गवर्नर था जो अपने को गजनी से स्वतन्त्र करना चाहता था। अतः अपने मन्सूबे को कार्यान्वित करने के लिए उसे धन की आवश्यकता थी। बनारस के लोग तथा वहाँ के मन्दिर धन-धान्य के लिए भारतवर्ष भर में विख्यात थे अतः अपने मनोरथ को सिद्ध करने के लिए नियाल्तिगीन ने बनारस पर धावा किया और उसे तथा वहाँ के मन्दिरों को खूब लूटा और अतुलित सोना, चाँदी, जवाहरात तथा अन्य बहुमूल्य सामग्री एकत्रित करके पंजाब लौट गया।[१] उस समय बनारस कलचुरी शासक गंग (गंगदेव) के अधीन था। इस प्रकार काशी के साथ सारनाथ पहले ही ध्वंस हो गया था। काशी ने तो धीरे-धीरे अपनी स्थिति सम्हाल ली किन्तु बौद्ध धर्म के पराभव के कारण सारनाथ वीरान ही पड़ा रहा। अतः उक्त विद्वान लेखकों को भ्रम हुआ कि काशी और सारनाथ का विनाश सन् ११९४ में मोहम्मद गोरी द्वारा किया गया। भ्रम का दूसरा कारण यह भी समझ पड़ता है कि इतिहासकारों ने मोहम्मद गोरी द्वारा बनारस के विध्वंस की बात कही है जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है।

१०. जयचन्द्र सम्बन्धित कुछ विभिन्न बातें

सोने के तार से पुष्ट किए गए महाराज के दाँत—रणभूमि में दिवंगत होने पर महाराज का पार्थिव शरीर अन्य वीरों के शरीर के साथ में मिल कर दब गया था अतः उसे ढूंढने का प्रयत्न किया गया। बड़ी मुश्किल से एक शरीर प्राप्त हुआ किन्तु यह निश्चय न हो सका कि वह महाराज का ही शरीर है। कुछ समय पूर्व महाराज के कुछ दाँत सोने के तार से बाँधे गए थे, अतः इसी निशान से उसके शरीर की पहचान हो सकी। यह बात इब्न असीर ने कामिल-उत-तवारीख में कही है :—

No one would have recognised Jaichand's dead body "but for the fact that his teeth, which were weak at their roots, being fastened by golden wire[२]".

इसी बात को सर थामस होल्डिच ने निम्न शब्दों में कहा है :—

"The number of slaim on this day was so great that it

---

१. दृष्टव्य, इलियट का भारत का इतिहास, भाग २, पृ० १२३-२४।

२. Elliot and Dowson, *History of India*, Vol. II, p. 251. Also John Briggs, *Rise of Mahomedan Power in India* (*Tarikh-i-Firishta*), Vol. I, p. 192.

was long ere the body of the Raja could be found by his friends who were permitted to search for it; till at length his corpse was recognised by his artificial teeth which were fixed in by golden wires[1]"

इस तथ्य से यह बात भी पुष्ट होती है कि उस समय कन्नौज में अन्य कलाओं के साथ-साथ दन्तकला भी उन्नतशील थी।

जयचन्द्र का स्वाभिमानी सफेद हाथी—महाराज की पराजय होने पर मोहम्मद गोरी को अन्य सैनिक सामग्री के अलावा ३०० हाथी भी प्राप्त हुए जिनमें एक सफेद हाथी था। सभी हाथी गोरी को सलाम करने के लिए लाए गए। फीलवानों के निर्देश पर सफेद हाथी को छोड़कर सभी हाथियों ने विजेता को सलाम किया। फीलवान के बारम्बार अंकुश देने पर भी इस स्वाभिमानी हाथी ने सुल्तान को सलाम नहीं किया। इस विवरण का उल्लेख मो० गोरी के समय के इतिहासकार इब्न-अल-असीर ने अपनी पुस्तक कामिल-उत-तवारीख में किया है।

इसी सफेद हाथी के बारे में सर थामस होल्डिच ने लिखा है कि जब युद्ध में प्राप्त हुए इन ३०० हाथियों को कुतुबुद्दीन ने सुलतान के सम्मुख पेश किया तब इस सफेद हाथी को छोड़कर अन्य सभी हाथियों ने महावतों का इशारा मिलने पर सुलतान को सलाम किया। इस घटना का वर्णन ग्रन्थकार ने निम्न प्रकार किया है—

"The drivers, on a signal given, made the elephants bow down when brought before the king, excepting one white elephant which refused. This animal was reckoned as a great curiosity and, though extremely tractable at other times, had on this occasion almost killed his rider when he endeavoured to force him to make his obeisance.

"The king, while leaving India, sent the white elephant back, as a present to Kutupuddin, styling him son in his letter. Kutupuddin ever afterwards rode this animal; and at his death the elephant is said to have pined away with visible sorrow, and to have expired on the third day.

---

१. *India*, by Sir Thomas Hungerford Holdich.

"This was the only white elephant I[1] have heard in Hindoostan, though it is said that the King of Pegu has always two white elephants, and that when one dies, orders are issued to search the woods for another to supply his place."[2]

भविष्यपुराण में जयचन्द्र का विवरण—इस पुराण में जयचन्द्र के बारे में बताई गई बातों का सार निम्न प्रकार है—

(१) अन्तर्वेदी (अर्थात् गंगा-यमुना का दोआब) के कान्यकुब्ज राज्य पर राजा जयचन्द्र राज्य करता था, यथा—

अन्तर्वेद्यां कान्यकुब्जे जयचन्द्रो महीपतिः ॥

(२) इसी समय देश में बहुत से शासक थे जिनमें से एक राजा अनंगपाल तोमर था जिसका शासन इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) भूभाग पर था। उसकी दो पुत्रियाँ थीं, चन्द्रकान्ति और कीर्तिमालिनी, क्रमशः बड़ी और छोटी। चन्द्रकान्ति का विवाह देवपाल (विजयपाल का दूसरा नाम) के साथ हुआ और कीर्तिमालिनी का अजमेर के चाहमान शासक सोमेश्वर के साथ।

(३) उक्त चन्द्रकान्ति से जयचन्द्र का जन्म हुआ, यथा—

त्यक्त्वा देहं स शुद्धात्मा चन्द्रकांत्याः सुतोऽभवत् ।
जयचन्द्र इतिख्यातो बाहुशाली जितेन्द्रियः ।

(४) जयचन्द्र का रत्नभानु नामक एक छोटा भाई भी था जिसने गौड़, वंग और मरु देशों की विजय की थी, यथा—

जयचन्द्रो रत्नभानुर्दिशं पूर्वां तथोत्तरम् ।
आर्यं देशस्य वैजित्वा वैष्णवो राज्यमाप्तवान ॥

(५) रत्नभानु का पुत्र लक्षण हुआ, यथा—

रत्नभानोश्च तनयो लक्षणो नाम विश्रुतः ।
कुरुक्षेत्रे रणं प्राप्य त्यक्त्वा प्राणान्दिवः गतः ॥

(६) अनंगपाल, कीर्तिभामिनी के पुत्र तथा अपने नाती पृथ्वीराज तृतीय को दिल्ली का राज्य देकर, हिमालय पर तपस्या करने चला गया। कन्नौज में यह समाचार मिलने पर जयचन्द्र ने सोचा कि मैं भी तो अपने नाना के आधे राज्य

---

१. ग्रन्थकार (होल्डिच महोदय) से तात्पर्य है :
२. *India* by Sir Thomas H. Holdich.

का अधिकारी हूँ तो फिर पृथ्वीराज उस सम्पूर्ण राज्य का लाभ क्यों उठाता है। इसी से दोनों में घोर बैरभाव पैदा हो गया—तयोर्घोरं वैरं चासीन महीतले। यह बैर ही अग्निकुल (के राजपूतों) के नाश का कारण बना।

उक्त विवरण भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व के पदों तथा कुछ अन्य पदों पर आधारित है।

११. पराजय का परिणाम

महाराज पृथ्वीराज की पराजय के बाद उत्तर भारत का एक बड़ा भाग मोहम्मद गोरी के साम्राज्य के अन्तर्गत चला गया था और अब कन्नौज राज्य भी उसके अधिकार में आ गया। इस प्रकार लगभग पूर्ण उत्तर भारत में यवन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। जिस प्रकार पृथ्वीराज पर विजय प्राप्त करने के बाद गोरी ने पृथ्वीराज के पुत्र को अजमेर का सामन्त शासक बनाया था उसी प्रकार राजनीतिक दृष्टि से सुल्तान ने कन्नौज का पूर्ण शासन न तो कुतुबुद्दीन को सिपुर्द किया और न ही अपने किसी अन्य सरदार, सेनानी अथवा कुटुम्बी को सौंपा। इसके विपरीत उसने जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र को ही कन्नौज की गद्दी पर आरूढ़ कर दिया कि वह सुल्तान की क्षत्रछाया में शासन चलाये। पर वह केवल नाम का ही शासक रहा क्योंकि वास्तविक सत्ता मुसलमानों ही के हाथ में रही और उन्हीं के आदेशानुसार उसे राज्य संचालन करना पड़ा। उसके मंत्री और उच्च कर्मचारी भी सुल्तान अथवा कुतुबुद्दीन द्वारा ही मनोनीत हुए थे। हरिश्चन्द्र कब तक गद्दीनशीन रहा यह अनिश्चित है किन्तु अनुमानतः वह लगभग १२२६ ई० तक कन्नौज राज्य का दिखावटी शासक रहा। अस्तु।

यद्यपि हरिश्चन्द्र ने यवन सत्ता को स्वीकार कर लिया और किसी प्रकार एक संकुचित भाग का प्रबन्ध करता रहा किन्तु अनेक स्वाभिमानी राजपूत सरदारों ने विजेता के सम्मुख शिर न झुकाया और अपनी जन्मभूमि को छोड़कर पश्चिम दिशा की ओर चले गए और सिन्ध नदी के पूर्व मरुभूमि में अपने को स्थापित किया। वहीं उन्होंने कतिपय फौजी रियासतें कायम कीं और वह भूभाग उनके नाम के अनुरूप ही राजपूताना कहा जाने लगा जिसे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वैधानिक रूप से राजस्थान की संज्ञा दी गई है। उसके पहले भी इस भूभाग को यदा-कदा राजस्थान भी कहते थे जैसा कि टाड महोदय ने अपनी पुस्तक[1] का नामकरण करके निर्देशित किया है। कन्नौज के सरदारों की तरह दिल्ली, अजमेर आदि के सरदारों ने भी शनैः-शनैः उसी ओर जाकर छोटे-बड़े

---

१. Annals and Antiquites of Rajasthan.

स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। यह सब प्रतिष्ठित योद्धा दीर्घ काल तक यवन सत्ता से टक्कर लेते रहे और तरह-तरह के कष्ट उठाकर अपने स्वाभिमान की रक्षा करते रहे यद्यपि कालान्तर में उनमें से कुछ ने दिल्ली साम्राज्य की सार्वभौमिकता स्वीकार कर ली।

यही बात गढ़वाल गजेटियर में निम्न प्रकार कही गई है—

"In 1194 after Mohammed Ghori had overthrown Maharaja Jaichand of Kannauj, the Rathors migrated into Rajputana and there founded the kingdom of Marwar with Jodhpur as the capital. Also, early in the thirteenth century, many Rajput ruling chiefs with their families and followers retired into the Himalayas and, in the region now called Nepal, established kingdoms of their own."

अध्याय–२१

गाहरवाल वंश (उत्तरार्ध)—हरिश्चन्द्र, जयचंद्र का उत्तराधिकारी—वंश का अंत

(११९४-१२२६ ई०)

सार-पत्रक

१. प्रारम्भिक बातें।
२. हरिश्चन्द्र सम्बन्धित अभिलेख।
३. हरिश्चन्द्र द्वारा राज्य प्राप्ति।
४. हरिश्चन्द्र की राज्य सीमा।
५. कन्नौज पर गाहरवाल शासन का समूल अन्त।
६. हरिश्चन्द्र के पौत्र सीहाजी का अपने को मारवाड़ में स्थापित करना।
७. चन्देल तथा चेदि शासक।

१. प्रारम्भिक बातें

सन् ११९४ में चन्दावर (या भदावर) के मैदान में मोहम्मद गोरी से युद्ध करते हुए महाराज जयचन्द्र वीरगति को प्राप्त हुए ऐसा पहले लिखा जा चुका हैं। तदनन्तर कन्नौज राज्य यवनों के प्रभुत्व में चला गया। अब यह देखना है कि महाराज जयचन्द्र का कोई वंशज भी रहा या नहीं। यदि हाँ तो वह कौन था तथा उसकी हैसियत (राजसत्ता, पद, आदि) क्या थी ?

पहले कहा जा चुका है कि इस गाहरवाल वंश में वैदिक शास्त्र पद्धति ही का अनुशीलन होता रहा। उनके अनुसार युवराज पद का अभिषेक राजकीय कर्मों में एक विशेष अंग होता है। जब किसी का युवराज्याभिषेक व्यक्ति रूप से हो जाता है अथवा घोषित हो जाता है तो गद्दी का उत्तराधिकारी वही व्यक्ति होता है, अन्य नहीं। औरस संतान की उपस्थिति में किसी अन्य सन्तान को उस पद को पाने का स्वत्व नहीं रहता। राजा का निधन होने पर उसका औरस पुत्र ही शासक होगा।

यहाँ हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त जयचन्द्र की भोगपत्नी सुहावा देवी के गर्भ से उत्पन्न एक पुत्र और था। इस कुमार की आलोचना सूक्ष्मतय: जयचन्द्र

के प्रसंग में उल्लिखित हो चुकी है; यवन आक्रमण की कथा भी हो चुकी है। अब एक कथा लाखन की ओर है। जनश्रुति एवं आल्हा-गायक उसे "लाखन राना कनउज वालो" अथवा "कनौजो राय" कह कर सम्बोधित करते हैं। पहले के इतिहासकार केवल इतने ही से कन्नौज की राजगद्दी अथवा जयचन्द्र का उत्तराधिकारी ऐसे ही किसी व्यक्ति को मान कर हरिश्चन्द्र को हठात् इतिहास से निकाल देते थे, किन्तु अब यह विचारधारा अमान्य हो गई है। काल्पनिक कथा रचने का अवसर तब समाप्त हो जाता है जब इतिहास को ताम्रपत्र आदि से निश्चय प्रतीत हो जाता है कि हरिश्चन्द्र महाराज जयचन्द्र का आत्मज था जिसे राजत्व भी प्राप्त था। यह बातें अब इतिहासकारों को सर्वमान्य हैं।

हरिश्चन्द्र का जन्म वि० सं० १२३५ भाद्र कृष्ण अष्टमी (=१० अगस्त ११७५, रविवार) को हुआ था। अतः जयचन्द्र की वीरगति के समय वह पौगंडावस्था (१९ साल) का था और इस कारण प्रायः युवराज पद पाने योग्य न था। सुतरा उसका या किसी अन्य व्यक्ति का युवराज्याभिषेक उल्लिखित नहीं मिलता। किन्तु जिन उपाधियों से जयचन्द्र को विभूषित पाया जाता है वे ही उपाधियाँ हरिश्चन्द्र के नाम के साथ भी मिलती हैं जैसे परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परम माहेश्वर, अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रियाधिपति, विविध-विद्याविचार-वाचस्पति।[1] यह उपाधियाँ पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में पुत्र हरिश्चन्द्र ने ग्रहण कीं। उसने १९ वर्ष की आयु में मुकुट धारण किया और लगभग (सम्भवतः) ३२ वर्ष राज्यलाभ किया। उपाधियों के सम्बन्ध में इस समय तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है जिससे वे उपाधियाँ चरितार्थ होती हुई हरिश्चन्द्र के प्रति लगाई गई हैं। इसके विपरीत स्थिति यह है कि वह या तो मोहम्मद गोरी के सामन्त की हैसियत से राज्य करता था या केवल एक संकुचित भूभाग का स्वामी था।

हरिश्चन्द्र के उपनाम हर्ष, प्रहस्त, वरदाई-सेन भी बताए गए हैं।

देश के इतिहास अनुशीलन से यही प्रतीत होता है कि जयचन्द्र के निधन से इस राजपूत महाशक्ति का क्षय प्रारम्भ हो गया और शनैः शनैः पंचत्व को प्राप्त हो गया।

२. हरिश्चन्द्र सम्बन्धित अभिलेख

निम्न चार अभिलेख इनके जीवन पर प्रकाश डालते हैं :—

(क) जयचन्द्र का कमौली ताम्र दानपत्र (सं० १२३२ = सन् ११७५)[2]—

---

१. हरिश्चन्द्र का मछलीशहर (जि० जौनपुर) ताम्र दानपत्र (११९६-९७ ई०), Ep. Ind., X, pp. 93-100.

२. Ep. Ind., IV, pp. 126-128.

इसमें लिखा है कि हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद कृष्ण पक्ष की अष्टमी सं० १२३२ (=१०-८-११७५) को हुआ और तभी पिता जयचन्द्र ने कंगली पट्टल में स्थित गाँव बदसारा को इनके जातकर्म संस्कार के उपलक्ष में पुरोहित प्रहराज शर्मन को दान में दिया।

(ख) जयचन्द्र का सिहवर (जि० वाराणसी) ताम्र दानपत्र (सं० १२३२ = सन् ११७५)[1] जिसमें बताया गया है कि सं० १२३२ के भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी (= रविवार ३१-११-११७५ ई०) का हरिश्चन्द्र का नामकर्ण संस्कार हुआ और उसी के उपलक्ष में महाराज जयचन्द्र ने महापंडित हृषिकेश शर्मन को दो गाँव दान में दिए।

(ग) स्वयं हरिश्चन्द्र का मछलीशहर (जि० जौनपुर) ताम्र दानपत्र (सं० १२५३=सन् ११९६-९७)[2]—उसमें उत्कीर्ण है कि जयचन्द्र के उत्तराधिकारी राजा हरिश्चन्द्र ने सम्वत् १२५३ के पौष शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा (= रविवार, ६-११-११९७) को गंगा के च्यवनेश्वर घाट पर स्नान करके पमही गाँव (आस-पास के झोपड़ों सहित) रहीहियक नामक व्यक्ति को दान में दिया। दानपत्र में सार्वभौम सूचक सभी उपाधियाँ गिनाई गई हैं जो पिता जयचन्द्र को प्राप्त थीं तथा जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह उपाधियाँ केवल नाममात्र ही की थीं क्योंकि जयचन्द्र के निधन के बाद हरिश्चन्द्र केवल एक सामन्तक राजा ही शेष रह गए थे अथवा किसी छोटे भूभाग के ही स्वामी थे।

(घ) राणक विजयकर्ण का बेलखारा (जि० मिर्जापुर) का शिलालेख (सन् ११९७)—बेलखारा का प्राचीन नाम बेलषारा था जो चुनार (जि० मिर्जापुर) के सन्निकट था। उस लेख में बताया गया है कि जब इस क्षेत्र का शासक राणक विजयकर्ण था तब एक स्तम्भ निर्मित किया गया था। उसमें "श्रीमत् कान्यकुब्ज-विजयराज्ये" का उल्लेख है। उनमें कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा का नाम नहीं दिया गया है किन्तु इसकी पहचान हरिश्चन्द्र ही से की गई है।

उक्त अभिलेखों के आधार पर इतिहासकारों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे आगे दिए जा रहे हैं।

३. हरिश्चन्द्र द्वारा राज्य प्राप्ति

महाराज जयचन्द्र के पतन के बाद किस प्रकार हरिश्चन्द्र राजा बना रहा यह ठीक तौर से ज्ञात नहीं है। एक मत यह व्यक्त किया गया है कि जब जयचन्द्र को पराजित करने के बाद मोहम्मद गोरी स्वदेश को लौट गया तब हरिश्चन्द्र

१. Ind. Antq., XVIII, pp. 129-34.

२. Ep. Ind., X, pp. 93-100.

ने किसी प्रकार अपने पैत्रिक राज्य के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। दूसरी सम्भावना यह बताई जाती है कि जयचन्द्र की पराजय के बाद मोहम्मद गोरी ने कन्नौज पर अपने गवर्नर या प्रतिनिधि को नियुक्त नहीं किया अपितु हरिश्चन्द्र को ही अपने सामन्त के रूप में अभिषिक्त कर दिया। यह उसने अनुमानतः दो कारणों से किया। प्रथम यह कि यदि उसने अपने सम्पूर्ण विजित इलाके को कुतुबुद्दीन को सौंप दिया तो सम्भव था कि वाइसराय कुतुबुद्दीन स्वयं भारत का स्वतंत्र शासक बन बैठे। दूसरे उसने यह भी समझा हो कि इस दूरस्थ प्रदेश को सामन्त के रूप में हरिश्चन्द्र को ही सौंप देना श्रेयकर होगा क्योंकि सुल्तान के सुहृद व्यवहार के फलस्वरूप वह उसके प्रति वफादार बना रहेगा और इस प्रकार उस क्षेत्र में सुल्तान की अमलदारी बरकरार बनी रहेगी।

उक्त मत की पुष्टि इस बात से भी होती है कि एक साल पहले पृथ्वीराज को धराशायी करने के बाद मोहम्मद गोरी ने अजमेर का इलाका मृतक पृथ्वीराज के औरस पुत्र गोला (या कोला) को दे दिया था और उसके एवज में राज्य-कर (tribute) लेता था।[1]

इस प्रकार राज्य पाने के बाद हरिश्चन्द्र जा कर मुदई में टिका। यह स्थान काली नदी के तट पर कन्नौज से कुछ मील दूर है। वहाँ उसकी गढ़ी का खंडहर अब भी मौजूद है। इससे प्रतीत होता है कि कन्नौज के शक्तिशाली सम्राट की संतति ऐसे संकुचित स्थल में कैसे वास करती होगी जब तक यह न मान लिया जाए कि जीवन दायक शक्तियाँ उसके शरीर को त्याग गई थीं।

मारवाड़ तथा राजस्थान की राज-प्रशस्तियाँ कुछ ऐसा ही सूचित करती हैं। हरिश्चन्द्र के पुत्र सेतराम (श्वेतराम, सीताराम) और पौत्र सीहाजी से राजस्थानी राठौरों की वंशवेलि कही गई है। उसी १३वीं शताब्दी में यवन रूप मेघों से गगन आच्छादित हो गया और सूर्य वंश की अन्तिम किरण भी अस्ताचल में विलीन हो गई।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि सन् ११९६-९७ के लगभग हरिश्चन्द्र मुदई या खोर से उठकर जौनपुर के निकट जफराबाद[2] कस्बे में चला गया और वहीं

---

१. Brigg's Translation of Firishta, Vol. I, pp. 177-78. Also El iot and Dowson's History of India, Vol. II, pp. 214-15, 219 (containing the translated vers on of Hasan Nizami's *Taj-ul-Maasir*.

२. जफराबाद जौनपुर से ४ मील की दूरी पर दक्षिण-पूर्व की ओर (वाराणसी की ओर) स्थित है।

उसका अन्त हुआ। पूर्व-लिखित उसका मछलीशहर का दानपत्र इस कथन की पुष्टि करता है। ऐसा भी कहा जाता है कि जफराबाद में कन्नौज के उत्तरकालीन राजाओं (हरिश्चन्द्र, आदि) का राजमहल था। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दृष्टव्य हैं :—

(1) Cunningham, Archeogolical Survey of India Report, XI, p. 104;

(2) V. A. Smith in Journal of the Royal Asiatic Society, 1908. p. 792.

(3) Fuhrer, Sharqi Architecture of Jaunpur, p. 64.

सन् १२०६ में लाहौर से अपनी राजधानी गजनी को जाते समय मार्ग के पड़ाव पर कुछ विद्रोही खोकरों[1] ने उसके शयन के खेमे में घुस कर सोते हुए मोहम्मद गोरी को छुरा मार कर कत्ल कर दिया। ये लोग उत्तर-पूर्व के पहाड़ी इलाके के निवासी थे जिनसे गोरी की पहले ही से शत्रुता चली आ रही थी और उन लोगों का उसने निर्दयता से दमन किया था।

मोहम्मद गोरी का वध हो जाने पर कुतुबुद्दीन ने अपने को भारत का स्वतंत्र शाह घोषित कर दिया। शम्शुद्दीन इल्तुतमिश (जिसे अंग्रेज इतिहासकार अल्तमश कहते हैं) उसका सैनप हुआ। अब यवनों का आधिपत्य धीरे-धीरे दिल्ली से पूरब की ओर बढ़ता गया और सन् १२१४ में इल्तुतमिश ने बदायूं का इलाका दिल्ली राज्य में मिला लिया। तदनन्तर १२ साल बाद (सन् १२२६ में) कन्नौज का भूभाग भी उसी राज्य में सम्मिलित हो गया। उसी साल (१२२६ ई०) कुतुबुद्दीन की मृत्यु पर दिल्ली का तख्त इल्तुतमिश के अधिकार में आ गया और उसने सन् १२२६ में अपने सबसे बड़े लड़के मलिक नासिरउद्दीन महमूद को कन्नौज तथा अवध के भूभाग का प्रबन्धक तथा मुख्य सेनापति नियुक्त किया जैसा कि तबकात-ए-नासिरी[2] में बताया गया है। कन्नौज के पास खोर नामक स्थान जो राजपूतों का एक ठिकाना था वह भी मुसलमान अमलदारी में चला गया। वहाँ पर बनी गढ़ी के कुछ शेषावचिह्न अब भी वहाँ मिलते हैं यद्यपि अधिकांश भाग भागीरथी काट ले गई। वहीं पर शम्शाबाद नामक कस्बा शम्शुद्दीन इल्तुतमिश का ही बसाया हुआ है जो आज भी वर्तमान है।

---

१. खोकर लोग मुलहिदह जाति के थे जिन्हें गुक्कुर भी कहा जाता था।

२. तबकात-ए-नासिरी ६ (Raverty's English translation, Vol. I, pp. 628-29).

४. हरिश्चन्द्र की राज्य-सीमा

इसके बारे में केवल इतना ही ज्ञात है कि उसका अधिकार कन्नौज के पूरब केवल एक छोटे इलाके पर ही था तथा उसकी हैसियत केवल एक सामन्त की ही थी। सन् ११९७ के लगभग कन्नौज, जौनपुर और मिर्ज़ापुर जनपद उसके कब्जे में थे जैसा कि पूर्व-लिखित उसके मछलीशहर के दानपत्र (११९६-९७ ई०) से विदित होता है। कन्नौज नगर उसके अधिकार क्षेत्र में था या नहीं इसका पुष्ट प्रमाण नहीं है यद्यपि अनुमान यही किया जाता है कि ऐसा था।

५. कन्नौज पर गाहरवाल शासन का समूल अन्त

यह निश्चित नहीं है कि कन्नौज पर गाहरवाल वंश के शासन का पूर्णतयः अन्त कब हुआ किन्तु इतिहासकारों को एक प्रमाण ऐसा प्राप्त हुआ है जिससे विदित होता है कि कन्नौज की मालगुजारी दिल्ली राजकोश में जाती थी।[1] उक्त तबकात-ए-नासिरी में यह भी बताया गया है कि मलिक नासिरउद्दीन महमूद ने कतिपय उदंड "काफिरों" तथा स्थानीय शासकों को भी काबू में किया। इस प्रकार ऐसा जान पड़ता है कि सन् १२२६ के लगभग ही कन्नौज पर गाहरवाल शासन का अन्त हुआ और गंगा-यमुना के दोआब पर मुसलमानों का सार्वभौम अधिकार हो गया तथा उनके नायब (गवर्नर) उस भूभाग के विभिन्न हिस्सों का प्रबन्ध करने लगे।

अनुमान किया जाता है कि हरिश्चन्द्र के पुत्र का नाम श्वेतराम (सेतराम, सीताराम) था तथा पौत्र सीहाजी था किन्तु ये उसके राज्य के उत्तराधिकारी नहीं हुए। कुछ लेखकों द्वारा गाहरवाल वंशीय अदक्कमल हरिश्चन्द्र का उत्तराधिकारी बताया जाता है जिसकी पहचान राष्ट्रकूट भाराहदेव से की जाती है किन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ती। इलतुतमिश के राज्यकाल में अवध का शासक बर्तू नामक व्यक्ति था जिसके पास असंख्य सेना कही जाती थी। सन् १२२६ में वह मलिक नासिरउद्दीन द्वारा पराजित हुआ और मारा गया। यह बर्तू कदाचित अदक्कमल का सामन्त था। उसका अन्य सामन्त महानन्ददेव सन् १२३७ में कहीं का शासक था। अन्ततः अपने राज्य से पदच्युत होकर अदक्कमल नागोद (राजस्थान) में रहने लगा। अदक्कमल के बाद गाहरवाल वंश के राजाओं के नाम नहीं मिलते।

---

१. J. A. S. B., 1881, Pt. I, p. 66.

६. हरिश्चन्द्र के पौत्र सीहाजी का अपने को मारवाड़ में स्थापित करना

हरिश्चन्द्र के बाद कन्नौज पर गाहरवाल वंश का अस्तित्व समाप्त हो गया। किन्तु यह ज्ञात नहीं कि हरिश्चन्द्र का अन्त कब और कैसे हुआ। केवल इतना माना जाता है कि सन् ११२६ के आस-पास गंगा-यमुना के दोआब पर मुसलमानों का प्रायः पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद ही उसका पतन हुआ होगा। उसके बाद उसके पौत्र[1] सीहाजी ने भीनमाल (मारवाड़) पर अपना अधिकार करने का प्रयास किया किन्तु असफल रहा। तत्पश्चात् उसने पाली के पल्लीवाल गणतंत्र से सहयोग किया और वहीं कुछ राजकीय अधिकार प्राप्त किए। कालान्तर में उसके वंशज आस्थान ने मारवाड़ में अपनी सत्ता स्थापित की। उसका पुत्र मल्लीनाथ प्रतिष्ठित शासक हुआ और उसकी यादगार में मेवानगर के तिलवाड़ा ग्राम में अब भी एक वार्षिक मेला लगता है।

तदनन्तर मल्लीनाथ के छोटे भाई वीरमदेव के वंशजों ने जोधपुर में एक विस्तृत राज्य की नींव डाली। बाद में इसी वंश के जोधा नामक प्रतिभाशाली राजा ने जोधपुर के किले का निर्माण करा कर वहाँ अपनी नई राजधानी बनाई। इसी वंश की एक शाखा ने बीकानेर में भी अपनी सत्ता स्थापित की। किशनगढ़, अहमदनगर तथा रतलाम तक विस्तृत राजस्थान के भूभाग पर जो मध्यकालीन राजपूत राजा हुए वे सब इसी वंश से सम्बन्धित थे। इसके अतिरिक्त बुन्देलखण्ड के बुन्देला, अजयगढ़ व दतिया के शासक तथा पन्ना के प्रख्यात राजा छत्रसाल भी उसी वंश के थे। उक्त सभी राजा अपने को राठौर वंश का बताते थे।

उक्त विवरण डॉ० वाचस्पति गैरोला ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति और कला" में दिया है। ग्रन्थकार ने यह भी कहा है कि "सुदूर दक्षिण, मध्य भारत, राजस्थान और उत्तर भारत तक विस्तृत राष्ट्रकूटों[2] का यह इतिहास-प्रसिद्ध वंश कन्नौजपति जयचन्द्र के कारण अधिक प्रख्यात हुआ।"[3]

---

१. सीहाजी को कहीं-कहीं हरिश्चन्द्र का पुत्र भी कहा गया है, अतः उसका रिश्ता संदिग्ध है।

२. यह प्रश्न कि गाहरवाल शासक राष्ट्रकूट वंशीय थे अब तक विवादास्पद है।

३. भारतीय संस्कृति और कला, पृ० ४५३-५४।

७. चन्देल तथा चेदि शासक

गाहरवाल वंश की समाप्ति के बाद उस परिवर्तन युग में कुछ समय के लिए बुन्देलखण्ड के चन्देल राजाओं का शासन कन्नौज पर भी समझ पड़ता है (१२११-१२३० ई०)। सन् १२११-१२ का एक ताम्रपत्र रीवाँ (बुन्देलखण्ड) के पास मिला है जिसमें चन्देल राजा त्रैलोक्यवर्म को "कान्यकुब्जाधिपति" कहा गया है। वह १३वीं सदी का बड़ा शक्तिशाली शासक बताया जाता है। मुसलमान शासकों से उसने कालिन्जर का किला हस्तगत कर लिया था। उसके बाद गाहरवाल-वंश की अवनति पर्यन्त उसने कन्नौज को भी आत्मसात् कर लिया ऐसा माना जाता है। एक किम्वदन्ती के अनुसार गाहरवालों के बाद कन्नौज पर आठ चन्देल राजाओं ने शासन किया। यद्यपि इस किम्वदन्ती पर इतिहासकार स्मिथ महोदय ने कुछ बल दिया है किन्तु वह पूर्णतयः सही नहीं जान पड़ती।

इसी कालान्तर में कुछ समय के लिए चेदि शासकों का भी कन्नौज पर अधिकार की सम्भावना व्यक्त की गई है किन्तु यह बात भी अमान्य समझ पड़ती है।

अध्याय-२२

यह आरोप असत्य कि जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया

सार-पत्रक

१. सम्प्रति अध्याय का आधारभूत सिद्धान्त।
२. पृथ्वीराज पर मोहम्मद गोरी के दूसरे आक्रमण का वास्तविक कारण जिससे जयचन्द्र का कोई सम्बन्ध न था।
३. कथित आरोप का आधार—महाराज की रखेली रानी सुहावा-देवी का षड्यंत्र।
४. जयचन्द्र की निर्दोषिता के प्रमाण में विद्वानों के मत।
५. समकालीन ग्रन्थों में इस आरोप का जिक्र नहीं।
६. कुछ लेखकों के विपरीत मत पर टिप्पणी।
७. कन्नौज के पूर्व शासकों, जयचन्द्र के पूर्वजों तथा स्वयं जयचन्द्र ने मुसलमान आक्रमणकारियों से युद्ध किए थे।
८. जयचन्द्र ने पृथ्वीराज की (गोरी से निपटने के लिए) सैनिक सहायता नहीं की, इसका समुचित कारण था।
९. निमंत्रण तभी सार्थक माना जा सकता था जबकि उसके साथ सैनिक सहायता का आश्वासन होता और साथ ही युद्ध संचा-लन के लिए प्रचुर अग्रिम धन भेजा जाता।
१०. पृथ्वीराज द्वारा पराजित गोरी को कुछ ही समय बाद निमं-त्रण भेजने की बात तर्क-संगत नहीं।
११. संयोगिता स्वयंवर की कथा कल्पित, अतः जयचन्द्र और पृथ्वीराज में वैमनस्य का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं।
१२. कन्नौज की सेना इतनी वृहत् तथा शक्तिशाली थी कि जयचन्द्र बिना किसी की सहायता के पृथ्वीराज को पराजित कर सकते थे।
१३. क्या जयचन्द्र इतने विचारहीन थे कि स्वयं अपने ही सर्वनाश की योजना बनाते ?

१४. क्या महाराज मंत्रियों के परमर्श की उपेक्षा कर सकते थे।

१५. यदि मोहम्मद गोरी और जयचन्द्र में मैत्री होती (जैसा कि कथित आरोप में निहित है) तो बाद में गोरी जयचन्द्र पर आक्रमण न करता।

१६. पृथ्वीराज के शौर्य के समर्थन ही में कुछ लेखकों ने निमंत्रण की कथा का आविष्कार किया।

१७. आरोप सम्बन्धी बातों का निष्कर्ष।

१. सम्प्रति अध्याय का आधारभूत सिद्धान्त

इस विज्ञान प्रधान युग में सभी विषयों के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रभुत्व है। अतः महाराज जयचन्द्र के कथित देशद्रोह के सम्बन्ध में इसी पद्धति के अनुसार विचार करना लाजमी होगा। किन्तु विचार करने के पहले इस पद्धति का स्पष्टीकरण उचित होगा।

वैज्ञानिक शोध पद्धति के अनुसार विचारणीय विषय के हर पहलू पर निरीक्षण करना आवश्यक है। इस निरीक्षण में पद-पद पर शंका तथा तर्क का प्राधान्य होता है। वैज्ञानिक की दृष्टि में उस तथ्य को श्रेय नहीं माना जा सकता जो ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष न किया जा सके। किसी व्यक्ति विशेष अथवा ग्रंथ के कथन के आधार पर ही वह किसी समस्या पर विश्वास नहीं कर सकता जब तक कि वह स्वयं अपनी विधि से उसे भली-भाँति परख नहीं लेता। सत्य के अन्वेषण में वैज्ञानिक अपने या अन्य किसी के मत को अपने विश्लेषण में बाधक नहीं होने देता। या यों कहिए कि वह अपने को तटस्थ रखता है। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक पद्धति को बुद्धि का मार्ग कहा जा सकता है।

वैज्ञानिक की दृष्टि में कोई भी पूर्व निर्धारित तथ्य सदैव के लिए मान्य नहीं होता। समय-समय पर उसका परीक्षण आवश्यक है क्योंकि नई परिस्थितियों में उसमें बदलाव होना सम्भव है। अतः कोई मान्यता-प्राप्त निष्कर्ष तभी तक सत्य माना जाता है जब तक परिस्थितियों से उसका खंडन नहीं होता। इस दृष्टिकोण से कोई तथ्य अन्तिम सत्य नहीं कहा जा सकता।

इस पूर्व कथन के बाद प्रश्नगत आरोप का खंडन तथा महाराज जयचन्द्र की निर्दोषिता का विवेचन सार-पत्रक में अंकित उपकरणों के अन्तर्गत किया जाएगा।

२. पृथ्वीराज पर मोहम्मद गोरी के द्वितीय आक्रमण का वास्तविक कारण जिससे जयचन्द का कोई सम्बन्ध न था

अपनी गिरी हुई प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करना ही एकांकी कारण था जिसने मोहम्मद गोरी को पृथ्वीराज पर दूसरा आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था।

सन् ११९१ के हमले में सुल्तान की भीषण पराजय हुई थी और वह मरते-मरते बचा था। युद्ध में घायल होकर वह अपने घोड़े से गिर पड़ा था और राजपूत सिपाहियों द्वारा उसका वध होने को ही था कि उसका एक अंगरक्षक, अपने जीवन को जोखिम में डाल कर, उसे युद्ध भूमि से उठा ले गया। इस प्रकार वह मौत के मुंह से निकाला गया।

यद्यपि सुलतान को पुनर्जीवन मिला तथापि उसका हृदय ग्लानि से परिपूरित हो गया। उसने यही समझा इस प्रकार कायरतायुक्त जीवन-लाभ से तो युद्ध भूमि में मर जाना ही श्रेयकर होता। स्वदेश लौटने पर वह स्वस्थ तो हो गया किन्तु वह सदैव चिन्तित ही दिखाई पड़ता था। एक विशिष्ट व्यक्ति द्वारा इसका कारण पूछने पर उसने कहा था कि पृथ्वीराज से युद्ध में उसकी शर्मनाक पराजय ही उसकी चिन्ता का कारण थी। फिर युद्ध करके तथा विजय प्राप्त करके अपनी प्रतिष्ठा को पुनः जीवित करना ही अब उसका परम ध्येय हो गया। इसी की तैयारी में वह निरन्तर लगा रहता था। शीघ्र ही उसने एक अधिक शक्तिशाली तथा विशाल सेना का संगठन कर लिया और दूसरे साल ही सन् ११९२-९३ में उसने पृथ्वीराज पर दुबारा आक्रमण किया।

गोरी के दूसरे आक्रमण का कारण गेन्से महोदय निम्न शब्दों में लिखते हैं—

"Muhammad of Ghor was not the man to submit to defeet (at the hands of Prithviraj) in quiet despair. In his own words :

'Since the day of defeat, despite external appearances, I have never slumbered in ease, or wakened but in sorrow.'

"He, therefore, made ready to retrieve his losses, recover his honour, or die in the attempt.

"As soon as his wounds were healed, he set to work to organize a new military expedition, and in 1193 Muhammadans and Hindus once more faced each other on the historic battlefield of India, the plains of Panipat, in the neighbourhood of Tarain."[१]

इसी विषय पर विस्तृत वर्णन फरिश्ता ने अपनी पुस्तक 'तारीख-ए-फिरिश्ता' में किया है जिसे ब्रिग्स महोदय ने अंग्रेजी में अनूदित किया है। उसी से निम्न

१. J. H. Gense, *History of India* (1954), p. 102.

उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं।[1]

"Mahomed Ghoory was in person in the centre of his army, and, being informed that both wings were defeated, was advised to provide for his own safety. Enraged at this counsel, he cut down the messenger, and rushing on towards the enemy with a few followers, committed terrible slaughter. The eyes of Chamund Ray[2] falling on him, he drove his elephant directly against Mahomed Ghoory who, pesceiving his intention, charged and delivered his lance full into the Raja's mouth, by which many of his teeth were knocked out. In the meantime the Raja of Dehly (Chamund Ray) pierced the king through the right arm, with an arrow. He had almost fallen, when some of his chiefs advanced to his resscue. This effort to save him gave on opportunity to one of his faithful servants to leap up behind Mahomed Ghoory who, faint from loss of blood, had nearly fallen from his horse, but was carried triumphantly off the field though almost wholly deserted by his army, which was pursued by the enemy for nearly forty miles. After this defeat, when he had recovered from his wounds at Lahore, he appointed governors to the different provinces he possessed in India, and returned in person to Ghoor. At Ghoor, he disgraced all those officers who had deserted him in the battle, and compelled them to walk round the city with their horse's mouth-bags, filled with barely, hung about their necks· at the same time forcing them to eat the grain like brutes...."

........Mahomed remained for a few months with his

---

१. John Briggs, *Rise of the Mahomedan Power in India* (*Tarikh-i-Firishta*), Vol. I, pp. 170 et seq..

२. Chamund Rai was Prithviraj's brother and was governor of the Delhi province under Prithviraj who had his headquarters at Ajmer, his ancestral kingdom.

brother at Ghoor, who still retained the title of king, and then returning to Ghizny, spent the ensuing year in pleasure and festivity. At length, having recruited an army, consisting of 1,20,000 chosen horse, composed of Toorks, Tajeeks, and Afghans, many of whom had their helmets ornamented, with jewels, and their armour inlaid with silver and gold, he marched from Ghizny towards India, without disclosing his intentions.

"When he had advanced as far as Pishawur, an old sage of Ghoor, prostrating himself before him, said, 'O, King, we trust in thy conduct and wisdom, but as yet thy design has been a subject of much speculation among us.' Mahomed Ghoory replied :

'Know, old man, that since the time of defeat in Hindoostan, notwithstanding external appearances, I have never slumbered in ease, or wakened, but in sorrow and anxiety. I have, therefore, determined, with this army, to recover my lost honour from those idolaters, or die in the attempt.'

The sage, kissing the ground. said;—'Victory and triumph be thy attendants, and fortune be the guide of the paths. But, O, King, let the petition of thy slave find favour in thy ears, and let those chiefs you have so justly disgraced be permitted to take the same opportunity of wiping away the stain on their character.'

"The prince listened to his request, and sent an order to Ghizny to release the disgraced officers from confinement, commanding such of them as were desirous of recovering their character to attend him. They all accordingly joined the camp, and each received a robe of honour, according to his rank. The nex day, the royal standard was put in motion and the army advanced to Mooltan, where Mahomed conferred titles and offices on all who had been firm to his interests. Ho then proceeded to Lahore, from whence he despatched

Kowam-ool-Moolk Humzvy, one of his principal chiefs, ambassador to Ajmeer, with a declaration of war, should the Indians refuse to embrace the true faith.

"Pithow Ray sent a haughty answer, and immediately wrote for succour to all the neighbouring princes. Nor did his allies refuse their aid, so that he was soon enabled to meet Mahomed Ghoory with an army consisting (according to the most authentic record) of 300,000 horse, besides above 3,000 elephants, and a body of infantry. The Hindoos waited to receive the Mahomedans on the former field of battle. The two armies encamped in sight of each other, with the river Soorsutty between them.

"The Rajpoot princes, to the number of 150, had assembled in this vast camp having sworn, by the water of the Ganges, that they would conquer their enemies, or die martyrs to their faith.

"They then wrote a letter to Mahomed in these terms—'To the bravery of our soldiers we know you are no stranger; and to our great superiority in nnmber, which daily increases, your eyes bear testimony. If you are wearied of your own existence, yet have pity upon your troops, who may still think it a happiness to live. It were better that you should repent in time of the rash resolution you have taken, and we shall permit you to retreat in safety in the morning, and not crush the army which your ambition has led to ruin.'

"Mahomed returned them this politic answer—'I have marched into India at the command of my brother, whose general only I am. Both honour and duty bind me to exert myself to the utmost in his service; I canno retreat, therefore, without orders; but I shall be glad to obtain a truce till he is informed of the situation of affairs, and till I have received his answer.'

"This letter produced the intended effect; for the enemy conceiving that Mahomed was intimidated, spent the night in riot and reverly, while he was preparing to surprise them. He accordingly crossed the river a little before the dawn of the morning, drew up his army on the sands, and had entered part of the Indian camp before the alarm was spread. Notwithstanding the confusion which naturally ensued on this occasion, the Hindoo line was of such extent that they had sufficient time to draw out theii cavalry, which served to check the approach of the Mahomedans, until they themselves were able to advance, which they did with great resolution and some order, in four lines."

"Mahomed Ghoory, on seeing this, ordered his troops to halt....and to renew the attack by turns, wheeling to the near afetr they had discharged their arrows. If hard pressed, they had orders to give ground graqually as the enemy advanced with their elephants. In this manner he fought, retreating in good order till sun-set, when thinking he had sufficiently worm out the enemy and deluded them with a hope of victory, he put himself at the head of 12,000 of his best horse, whose riders were covered with steel armour, and making one desparate charge, carried death and destruction throughout the Hindoo ranks. The disorder increased every where, till at length the panic became general. The Moslems, as if they now only began to be in earnest, committed such havoc, that this prodigious army once shaken, like a great building, tottered to its fall and was lost in his own ruins........"

इस प्रकार ज्ञात होगा कि इस दूसरे आक्रमण में जयचन्द्र किसी प्रकार चित्र में नहीं आते हैं। दूसरे शब्दों में न तो पहले आक्रमण में, और न दूसरे ही में, जयचन्द्र का कोई हाथ था। पहले आक्रमण के बारे में किसी ने भी जयचन्द्र पर कोई आरोप नहीं लगाया है। वस्तुतः दोनों ही आक्रमण सुल्तान ने स्वेक्षा तथा स्वविवेक से किए थे।

३. कथित आरोप का आधार—महाराज की रखेली रानी सुहावादेवी का षड्यन्त्र ।

जयचन्द्र पर देशद्रोह का निराधार आरोप क्यों कर प्रचलित हो गया इसके कई कारणों में एक कारण महाराज की भोग-पत्नी सूहब (सुहावा) देवी का षड्यंत्र जान पड़ता है जिसका विवरण जैन ग्रन्थकार राजशेखर सूरि के प्रबन्धकोश में आया है। यह ग्रन्थ सन् १३४८ के लगभग रचा गया, अर्थात् जयचन्द्र के निधन के १५४ वर्ष बाद। ग्रन्थ में कतिपय निबन्ध हैं जिनमें एक का शीर्षक है, 'श्रीहर्ष-विद्याधर-जयन्तचन्द्र-प्रबन्ध'। उसमें सूहब देवी (सुहावादेवी) का वृतान्त नैषधीय चरितम् के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के सन्दर्भ में, और फिर महाराज जयचन्द्र (जिन्हें जयन्तचन्द्र कहा गया है) के सन्दर्भ में, दिया गया है। यह सूहब देवी मृत शालापति (या शलापति) की विधवा रानी थी—शालापति उत्तर-पश्चिम क्षेत्र का अमलदार था। सुहावादेवी अत्यन्त सुन्दरी तथा राजनीति निपुणा विदुषी थी। जयचन्द्र के पद्माकर नामक प्रधान मंत्री ने इस 'परम-विलासवती एवं राजनीति निपुणा' महिला को किसी प्रकार प्राप्त कर और फिर सोमनाथ की यात्रा कर जयचन्द्र की भोगपत्नी बनाया। महाराज उसके प्रेम-पाश में बँध गए जिसके फलस्वरूप राज्यशासन में उसका काफी प्रभाव हो गया और वह 'कला भारती' की उपाधि से जानी जाने लगी।

राज दरबार के श्रीहर्ष महाकवि 'नर-भारती' कहे जाते थे जिससे सूहब देवी को असह्य ईर्षा उत्पन्न हो गई थी। एक अवसर पर उस मत्सरिणी ने बड़े आदर के साथ श्रीहर्ष को बुलाकर प्रश्न किया कि आप कौन हैं? प्रत्युत्तर में कवि ने अपने को 'कला-सर्वज्ञ' बताया। तब उसने श्रीहर्ष से कहा कि 'जूता पहनाओ', इस अभिप्राय से कि यदि वे ब्राह्मण होने के नाते कहते हैं कि मैं नहीं जानता तो वे कला-सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होते। अतः कवि ने वृक्षों के बक्कल आदि से जूता बनाकर पहना तो दिया किन्तु इस अपमान से वे बहुत खिन्न हुए। अतः महाराज से सब बातों को बता कर गंगातट पर जाकर संन्यास ले लिया।

यह हुई श्रीहर्ष और सूहब देवी की कथा। अब सूहब देवी और जयचन्द्र का प्रकरण आता है। जयचन्द्र को अभिषिक्त रानी से मेघचन्द्र नामक एक पुत्र था तथा एक पुत्र सूहब देवी से भी था जो यद्यपि मेधावी था किन्तु दुर्विनीत भी था। जब दोनों युवावस्था को प्राप्त हुए तब महाराज ने विद्याधर नामक मंत्री से पूछा कि किसे युवराज पद पर अभिषिक्त किया जाए। स्वयं उनकी इच्छा सूहब देवी के पुत्र को अभिषिक्त करने की थी किन्तु योग्य मंत्री ने कुलीन तथा सत्पुरुष मेघचन्द्र के हक में राय दी और महाराज को उस पर राजी कर लिया।

इस पर सूहब देवी क्रोधित हो गई और गुप्त रूप से अपने विश्वासपात्र दूतों को तक्षशिलाधीश्वर 'सुरत्राण' के पास इस सन्देश के साथ भेजा कि वह काशी में महाराज पर चढ़ाई करे। राजशेखर सूरि लिखते हैं कि, विद्याधर ने गुप्तचरों से ज्ञात किया कि 'प्रत्येक पड़ाव पर सवा लाख स्वर्णमुद्रा व्यय करता हुआ वह काशी पर चढ़ाई करने के लिए चल पड़ा है। तब विद्याधर ने सूहब देवी कृत इस षड्यंत्रीय विरोध का महाराज से निवेदन किया किन्तु महाराज ने अज्ञानतावश विद्याधर को यह कहकर टाल दिया कि 'वह मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करेगी।'

महाराज के इस कथन से राजभक्त विद्याधर अति चिन्तित हुआ और विचार किया कि जब विधाता ही प्रतिकूल हो गया है तब राजभ्रंश होने से पहले ही मर जाना श्रेयकर होगा। अत: उनने राजा से कहा कि 'प्रभो, यदि आज्ञा हो तो मैं गंगाजी में डूबकर प्राण त्याग कर दूँ। 'यह सोचकर कि यह मंत्री मेरे काम में कंटकभूत होता है महाराज ने मंत्री के प्रस्ताव का विरोध नहीं किया। तब मंत्री ने सोचा कि मृत्यु के सभी पूर्व रूप राजा में दृष्टिगोचर हो रहे हैं अर्थात् हित वचनों को न सुनना; दुर्नीति में प्रवृत्त होना, प्रिय लोगों में भी दोष देखना तथा गुरुजनों का अपमान करना। अत: उनकी मृत्यु अब आसन्न है, ऐसा मंत्री ने सोचा। मंत्री विद्याधर को चिन्तामणि विनायक के प्रसाद से एक पारस-पत्थर प्राप्त हुआ था जो सब धातुओं को सुवर्ण बना देता था। उसी के प्रभाव से वह प्रतिदिन ८८०० ब्राह्मणों को भोजन देता था जिस कारण वह 'लघु युधिष्ठिर' की उपाधि से लोक-प्रसिद्ध हो गया था। उस पारस को लेकर विद्याधर ने गंगा में प्रवेश किया और संकल्पपूर्वक उसे ब्राह्मण को दान में दे दिया। तब उस हतभाग्य ब्राह्मण ने मंत्री से कहा कि 'तुम्हें धिक्कार है जो मुझ ब्राह्मण को गंगातट पर बुलाकर दान में पत्थर दे रहे हो।' यह कहकर उसने उस अमूल्य पत्थर को गंगा में फेंक दिया और घर चला गया। साथ ही विद्याधर ने गंगा में डूबकर प्राण त्याग किया। उधर तक्षशिलाधीश्वर सुरत्राण (सुल्तान) ने काशी पहुँचकर नगर को नष्ट किया एवं यवनों ने लूटपाट की। अन्त में राजशेखर ने लिखा है कि राजा मारा गया या उसका क्या हुआ कुछ पता नहीं चला। इस कथा के बाद श्री हर्ष-विद्याधर-जयन्तचन्द्र-प्रबन्ध समाप्त हो जाता है।

यद्यपि उक्त निबन्ध में उल्लिखित सभी बातें ऐतिहासिक साक्ष्यों द्वारा प्रमाणित नहीं है तथापि उससे निम्न बातें स्पष्ट होती हैं, यानी—

(१) यह कि 'सुरत्राण' (सुल्तान) को जयचन्द्र ने आमंत्रित नही किया बल्कि सूहब देवी ने गुप्त रूप से ऐसा किया जिसमें जयचन्द्र का कोई हाथ न था।

(२) सूहब देवी ने भी सुल्तान को महाराज पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए बुलावा नहीं भेजा बल्कि जयचन्द्र पर, क्योंकि अपने पुत्र को राजपुत्र (युवराज) न बनाए जाने पर वह राजद्रोही हो गई थी। केवल एक भोगपत्नी होने के कारण तथा दूरस्थ प्रदेश को रहने वाली होने के कारण उसे कन्नौज राज्य से कोई सहानुभूति न थी।

(३) यद्यपि राजशेखर के अनुसार सूहब देवी ने सुरत्राण के पास बुलावा भेजा किन्तु इसका अर्थ यह नहीं निकलता कि सुल्तान ने यह आक्रमण उस महिला के कहने पर किया। सुल्तान को सूहब देवी में कोई दिलचस्पी न थी और न ही उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा ही की जा सकती थी। सुल्तान ने हमला स्वयं अपनी शक्ति के बल पर तथा अपने स्वार्थ साधन के लिए किया था न कि सूहब देवी के आग्रह पर।

मेरुतुंग कृत प्रबन्ध-चिन्तामणि में भी बताया गया है कि अपने पुत्र के युवराज पद पर प्रतिष्ठित न किए जाने के कारण सूहब देवी क्रुद्ध गई थी और बदले की भावना से उसने तुरुष्कों को कन्नौज राज्य पर आक्रमण करने के लिए बुलावा भेजा था।[१]

विद्यापति की पुरुष-परीक्षा में इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कहा गया है कि शहाबुद्दीन के साथ युद्ध में जयचन्द्र अपनी रानी शूभादेवी (सूहबदेवी) के विश्वासघात के फलस्वरूप मारा गया।[२]

४. जयचन्द्र की निर्दोषिता से सम्बन्धित विद्वानों के मत

आम तौर पर इतिहासज्ञों ने महाराज जयचन्द्र के विरुद्ध इस आरोप को असत्य माना है कि उन्होंने मोहम्मद गोरी को यह आमंत्रण भेजा कि वह दिल्ली पति महाराज पृथ्वीराज पर आक्रमण करे। इस बात को असत्य की संज्ञा उन्होंने इस कारण दी कि उसका न तो कोई प्रमाण है और न कोई समुचित तर्क ही। और यह भी कि केवल इस तथ्य से कि जयचन्द्र और पृथ्वीराज में अनबन थी यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जयचन्द्र ने गोरी को बुलावा भेजा।

महाराज जयचन्द्र के समर्थन में कुछ इतिहासज्ञों तथा विद्वानों के मत नीचे दिए जा रहे हैं।

---

१. जिन विजयमुनि का संस्करण, पृ० ११३-१४।

२. Nerukar's English Translation, Bombay (1914), Chap. IV, 11th Tale (Ghasmar Katha), pp. 146-153.

डा० राम कुमार दीक्षित तथा श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी का संयुक्त मत—डॉ० दीक्षित लखनऊ विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के प्राध्यापक थे तथा श्री वाजपेयी पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा के संस्थापक थे। उक्त दोनों विद्वान "कन्नौज" नामक पुस्तिका के रचयिता हैं जो सन् १९५५ में शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश, द्वारा प्रकाशित हुई है। उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक केन्द्रों की पुस्तकमाला का यह चौथा प्रकाशन है। मोहम्मद गोरी के आक्रमण तथा जयचन्द्र के विषय में उस पुस्तक का निम्न उद्धरण दृष्टव्य है—

'सन् ११९२ ई० में मोहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज को तलावरी के युद्ध में पराजित किया। चाहमान राजा पराजित हुआ, दिल्ली पर विदेशियों का अधिकार हुआ और देश के केन्द्र में मुस्लिम राज्य की नींव पड़ी। जयचन्द्र ने पृथ्वीराज को सहायता नहीं दी और इस संकुचित नीति का फल उसे शीघ्र ही भोगना पड़ा। सन् ११९३ ई० में मोहम्मद गोरी कन्नौज की ओर अग्रसर हुआ। गाहड़वाल नरेश ने इटावा के निकट चन्दावर के मैदान में उसका सामना किया परन्तु विजयी न हो सका। यह निर्विवाद है कि जयचन्द्र ने पृथ्वीराज को सहायता नहीं दी थी। यह उसकी महानतम राजनैतिक भूल थी। परन्तु उसे देशद्रोही मानना सर्वथा अनुचित है। इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि उसने मोहम्मद गोरी को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया था। जयचन्द्र वीर था और उसने वीरतापूर्वक युद्ध करके संग्राम क्षेत्र में ही अपने प्राण विसर्जित किए। भारतीय ही नहीं, मुसलमान लेखकों ने भी उसकी प्रतिभा का वर्णन किया है। कामिल-उत्तवारीख के रचयिता (इब्न नसीर) ने उसे भारत का सर्वश्रेष्ठ शासक माना है।'[1]

डॉ० आर सी० मजूमदार का मत—इनके अनुसार इस कथन में कोई सत्यता नहीं है कि महाराज जयचन्द्र ने पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए मोहम्मद गोरी को आमंत्रित किया : लेखक के शब्द हैं :—

"There is, however, nothing to support the current story that Jayachandra invited the Muslim king to invade India to wreak his vengeance against Prithviraj.[2]

अपनी एक अन्य पुस्तक में इन्हीं विद्वान इतिहासकार ने निमंत्रण की बात का खण्डन किया है। उनका कथन है कि मोहम्मद गोरी का पृथ्वीराज पर दूसरा

---

१. कन्नौज, पृ० १५, प्रथम संस्करण।

२. *Ancient India*, p, 336. Dr. Majumdar was Principal, College of Indology, Varanasi Hindu University.

हमला गोरी द्वारा गजनवियों को पूर्णतया परास्त कर पंजाब पर अधिकार कर लेने का प्रायः अनिवार्य परिणाम था। उनके शब्दों में—

"....the invasion of this country was an almost inevitable corollary to Muhammad's complete victory over the *Gaznavids* in the Punjab."[१]

डॉ० (मिस) रोमा नियोगी का मत—इनका कथन निम्न प्रकार है :—

[२]"Chand's statement that Jayachandra invited the Guri Sultan to destroy his rival Prithviraj, has been rejected by all eminent historians and Dr. R. C. Majumdar has justly pointed out that 'the invasion of this country was an almost inevitable corollary to Muhammad's complete victory over the *Gaznavids* in the Punjab'.—(An Advanced History of India)."

पावेल-प्राइस महोदय का मत—इनका कहना है कि यह बात आधारहीन है कि महाराज जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया। ग्रन्थकार के ही शब्दों में—

"The story that Jaichand invited Mohammad Ghori to attack Prithviraj is presuming too much.[3]

नोट—पावेल-प्राइस महोदय ने उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग में सेवा की थी और अन्त में शिक्षा निदेशक के पद से अवकाश प्राप्त किया था। रिटायर होने के बाद उन्होंने भारतीय इतिहास पर अपनी पुस्तक विलायत में लिखी थी।

डॉ० राम शंकर त्रिपाठी का कथन—विद्वान इतिहासकार ने प्रश्नगत आरोप को असत्य बताया है इस आधार पर कि सामयिक मुसलमान इतिहासकार इस बात पर पूर्णतया मौन हैं कि जयचन्द्र ने ऐसा कोई निमंत्रण भेजा। वे लिखते हैं :—

"Indeed, Major Raverty, following Chand-Bardai, asserts that Jaychandra was even in secret communication with Siha-

---

१. *An Advanced History of India*, p 278.

२. Dr. Niyogi, *History of Gahadvala Dynasty*, p. 112.

३. J. C. Powell-Price (late of Indian Educational Service), *History India*, p. 114.

buddin to ensure the humiliation of Prithviraj[1]. This does not, however, appear to be true, as the contemporary Moslem historians are totally silent about any such invitation having been made by the Garharwala monarch."[2]

श्री महेन्द्रनाथ मिश्र, इतिहासज्ञ का मत—श्री महेन्द्र मिश्र (जो कि एक अच्छे इतिहासकार हैं) ने जयचन्द्र के विरुद्ध देश-द्रोहिता के आरोप को असत्य माना है। उनका कथन[3] निम्न प्रकार है :—

"The theory of Jaichand having performed Rajsuya Swayambar, and invited Muslims, is based on the book[4] written by one of the poets[5] of Prithviraj, a rival of Jaichand. Many writings of this period have been found, 'Prithviraj Vijaya', 'Hammir Mahakavya', 'Rambha Manjari', 'Prabandh Kosh', and none of them has these facts. No Muslim traveller has memtioned this either. Hence to believe on the writings of a court poet of a rival King is quite unjustified.

"History shows that Jaichand fought in the battle of Chandawar (Etawah) bravely and died as a hero on the battle-field. It was such a fierce battle[6] that his body was found after a great search among the heaps of warriors. with Jaichand passed that glorious period of Kannauj once and for all."

अर्थात्, यह धारणा कि जयचन्द्र ने राजसूय स्वयंवर (यज्ञ) किया ओर

---

१. Ravery, *Tabaqat-i-Nasiri* (English translation), Vol. I. p. 466, note 1, and p. 467.

२. Tripathi, History of Kanauj, p. 328.

३. Article on "Kannauj, Past and Present" by Sri Mahendra Nath Misra, published in the *National* Herald, dated 20-4-1958.

४. पृथ्वीराज रासो।

५. कवि चन्द बरदायी।

६. Battle between Mohammad Ghori and Jaichand in 1193 A. D.

मुसलमानों को (पृथ्वीराज पर चढ़ाई करने के लिए) आमन्त्रित किया उस पुस्तक पर आधारित है जिसे पृथ्वीराज के एक दरबारी कवि ने लिखा था (चन्दबरदायी कृत पृथ्वीराज-रासो)। उस समय के कतिपय ग्रन्थ प्राप्य हैं किन्तु किसी में भी इन बातों का उल्लेख नहीं है। वे ग्रन्थ हैं—पृथ्वीराज-विजय, हम्मीर महाकाव्य, रम्भा-मंजरी तथा प्रबन्ध-कोष। किसी भी मुसलमान यात्री ने इसका जिक्र नहीं किया है। अतः यह अनुचित होगा कि जयचन्द्र के प्रतिद्वन्दी शासक पृथ्वीराज के दरबारी कवि पर विश्वास किया जाए। इतिहास साक्षी है कि जयचन्द्र ने चन्दावर (इटावा के पास) में मोहम्मद गोरी से शौर्यपूर्ण युद्ध किया था जिसमें उसे वीरगति प्राप्त हुई थी। वह युद्ध इतना भीषण था कि बड़ी देर की खोज के बाद महाराज का शव सहस्त्रों वीरों के शवों के बीच में पाया गया था। जयचन्द्र के साथ ही कन्नौज का गौरव सदा के लिए नष्ट हो गया।

डॉ० ईश्वरी प्रसाद का मत—प्रख्यात इतिहासकार डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने अपने "भारत का इतिहास" में जयचन्द्र पर प्रश्नगत दोषारोपण नहीं किया है। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि जयचन्द्र ने पृथ्वीराज को सहायता नहीं दी। उन्हीं के शब्दों में :—"....वह प्रतिभाशाली राजा था। उसका राज्य बनारस तक विस्तृत था। दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान के साथ उसकी घोर शत्रुता थी। जब मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई की, तब जयचन्द्र ने चौहान राजा को कुछ सहायता नहीं पहुँचाई। तराइन (११९२ ई०) के युद्ध में पृथ्वीराज पराजित हुआ और दिल्ली के हिन्दू साम्राज्य का अन्त हो गया। एक वर्ष बाद मुहम्मद ने कन्नौज पर आक्रमण किया और जयचन्द्र को हराया। चन्दावर के युद्ध में वीरता के साथ लड़ते हुए उसकी मृत्यु हुई।"

इब्न नसीर का कथन—इब्न नसीर कृत कामिल-उत-तवारीख में भी स्पष्ट कहा गया है कि यह बात कि जयचन्द्र ने शहाबुद्दीन को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया नितान्त असत्य है—दृष्टव्य बचनेश अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७२। शहाबुद्दीन अच्छी तरह जानता था कि जब तक उत्तर भारत के महाशक्तिशाली जयचन्द्र को परास्त न किया जाएगा तब तक उसका दिल्ली और अजमेर आदि भूभागों पर किया गया अधिकार स्थाई न होगा क्योंकि जयचन्द्र के पूर्वजों ने और स्वयं जयचन्द्र ने तुरुष्कों से अनेकों बार मोर्चा लेकर हराया था और स्वयं उसको भी। उसने सभी हमले अपनी नीति के अनुसरण में किए थे न कि किसी के कहने से।

स्मिथ महोदय के ग्रन्थ में इस आरोप का उल्लेख नहीं—अपने प्रख्यात ग्रन्थ, Early History of India, में तरायन के दूसरे युद्ध के प्रकरण में स्मिथ महोदय ने लिखा है कि पृथ्वीराज की सहायता के लिए अनेकों राजाओं की

सेनाएं आई थीं जिनका नेतृत्व पृथ्वीराज ने किया था किन्तु १२,००० सुशसज्ञित तथा प्रशिक्षित मुसलमान घुड़सवारों के वेग को राजपूतों की भारी भीड़ न रोक सकी।[१] इस पराजय के लिए विद्वान ग्रन्थकार ने जयचन्द्र पर न तो कोई दोषारोपण किया है और न कोई आक्षेप ही। अतः तर्क यह है कि यदि प्रश्नगत आरोप में तनिक भी बल होता तो स्मिथ महोदय उसका कुछ न कुछ जिक्र अवश्य करते। भारत के ऐतिहासिकारों में स्मिथ महोदय का विशिष्ट स्थान है तथा इस विषय पर उनके विभिन्न ग्रन्थों की बातों को प्रमाणित माना जाता है। अतः स्मिथ महोदय के आधार पर भी यह आरोप खण्डित हो जाता है।

डॉ० राजबली पाण्डे[२] का मत—इन्होंने अपनी पुस्तक प्राचीन भारत में पहले लिखा है कि "११९३ ई० में जब शहाबुद्दीन गोरी ने चाहमानों (पृथ्वीराज चौहान) पर चढ़ाई की तो अपनी पारस्परिक शत्रुता के कारण जयचन्द्र ने देश के परम शत्रु तुर्कों का साथ दिया और सदा के लिए अपयश कमाया।" फिर पादटिप्पणी में वे लिखते हैं कि "यह विश्वास कि गोरी को जयचन्द्र ने पृथ्वीराज के विरुद्ध निमन्त्रित किया था, डॉ० त्रिपाठी के अनुसार ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि मुसलमान लेखकों ने कहीं भी इसका जिक्र नहीं किया है—देखिए, वही पृ० ३२८।" (डॉ० त्रिपाठी की History of Kanauj, p 328)।[३] इसके अर्थ यह होते हैं कि डॉ० पाण्डे डॉ० त्रिपाठी के कथन से सहमत हैं क्योंकि उन्होंने उसका प्रतिवाद नहीं किया है।

५. समकालीन ग्रन्थों में इस आरोप का जिक्र नहीं है

समकालीन ग्रन्थों में इस आरोप के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार फारसी (इस्लामी) समकालीन ग्रन्थों में भी इस बात का संकेत तक नहीं है कि जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को आमन्त्रित किया था। बुलावे की बात इतनी गम्भीर थी कि यदि उसमें तनिक भी सत्यता होती तो उक्त ग्रन्थों में उसका सन्दर्भ अवश्य मिलता।

इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण बातें निम्न प्रकार हैं :—

(१) पृथ्वीराज रासो में यह बात कहीं नहीं कही गई कि जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को बुलाया या बुलवाया। ग्रन्थकार ने केवल इतना ही लिखा है कि संयोगिता के अपहरण के कारण जयचन्द्र और पृथ्वीराज के बीच वैमनस्य बढ़ गया।

---

१. Early History of India, p. 403.

२. भूतपूर्व प्राचार्य तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, आदि।

३. प्राचीन भारत, पृ० ३५३-५४।

जिसके कारण तुरुष्कों द्वारा दोनों ही नष्ट किए गए।

(२) ने भी पृथ्वीराज-विजय में इस बात का न तो उल्लेख किया है और न कोई संकेत ही।

(३) कुछ मुस्लिम लेखकों ने तो इस आरोप को असत्य ही बनाया है।

यहाँ यह भी कहना है कि फारसी में उल्लिखित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें मुसलमानों द्वारा भारत पर किए गए आक्रमणों आदि का ऐतिहासिक वर्णन है और जिनमें यह भी बताया गया है कि किस प्रकार भारत पर मुसलमानों की सत्ता स्थापित हुई। उदाहरणार्थ फिरिश्ता की तारीख-ए-फिरिश्ता जिसे उसने सन् १६०९ में अपने आश्रयदाता बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय के आदेशानुसार पूरा किया। यह प्रसिद्ध ग्रन्थ आज भी भारत में मुसलमानी शासनकाल का सबसे प्रमाणिक आधार माना जाता है। यद्यपि उसमें मोहम्मद गोरी के जीवन तथा विजयों का विस्तृत वर्णन है किन्तु उसमें भी इस निमंत्रण आदि का कोई उल्लेख या इशारा नहीं है।

उक्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में डॉ० त्रिपाठी ने स्पष्ट लिखा है कि सामयिक मुस्लिम इतिहासकार इस बात पर पूर्णतया मौन हैं कि जयचन्द्र ने गोरी को कोई आमंत्रण भेजा।[1]

कुछ लेखकों के विपरीत मत पर टिप्पणी

महाराज की निर्दोषिता के विरुद्ध कुछ लेखकों ने अपना मत अभिव्यक्त किया है। उनकी सूची यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है—केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उन्होंने अपने कथन के समर्थन में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए हैं। अतः वह उनका निजी मत ही कहा जा सकता है जिसका न कोई आधार है और न कोई तर्क ही। इतिहास में इस प्रकार के मत अथवा कथन का कोई स्थान नहीं है। अभिमत तब सार्थक माना जा सकता है जब उसका कोई आधार हो अथवा वह तर्कयुक्त हो, अन्यथा उसका कोई मूल्य नहीं होता। दूसरे शब्दों में जो वसूल न्यायिक मामलों में सत्य की खोज में लागू होते हैं वही ऐतिहासिक तथ्यों की खोज में भी।

उदाहरणार्थ, आईन अकबरी में अबुल फजल ने लिखा है कि शहाबुद्दीन ने कन्नौज के राजा जयचन्द्र से एक करार करने के बाद एक बड़ी सेना सृजित की और राय पिथौरा के राज्य पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने अपनी पूर्व विजय का स्मरण करके केवल एक छोटी ही फौज एकत्रित की और सुल्तान का

---

१. Tripathi, History of Kanauj, p. 328.

मुकाबला करने के लिए कूच की । लड़ाई में पृथ्वीराज बन्दी हो गया और गजनी ले जाया गया । स्वामिभक्त चन्दबरदाई भी अपने स्वामी के साथ गजनी गया जहाँ पहुँच कर उसने सुलतान से पृथ्वीराज की शब्दवेधी वाण चलाने की कला की प्रशंसा की । सुल्तान ने इसे स्वयं अपनी आँखों से देखने की इच्छा से एक आयोजन किया जिसमें पृथ्वीराज ने तीर चला कर सुल्तान का वध कर दिया ।

उक्त विवरण की असत्यता के निम्न प्रमाण हैं :—

(क) महाराज पृथ्वीराज का शरीरपात युद्ध में पराजय के बाद युद्ध स्थल में ही किया गया । उन्हें गजनी ले जाने की कथा कल्पित प्रमाणित हो चुकी है । इसी प्रकार चन्दबरदाई का निम्न पद भी कवि की कल्पना है :—

चार बांस चौबीस गज अंगुल अष्ट प्रमान ।
ता ऊपर सुल्तान है मत चुको चौहान ।।

अबुल फजल का कथन चन्दबराई के पृथ्वीराज रासो पर आधारित है जिसकी अनेकों बातें असत्य सिद्ध हो चुकी हैं जिनमें उक्त बात भी शामिल है ।

(ख) अबुल फलज ने अपना ग्रन्थ अकबर के राज्यकाल (१५५६-१६०५ ई०) में लिखा यानी घटना (११९२ ई०) के लगभग ४०० वर्ष बाद । सामयिक ग्रन्थ न होने के कारण उसमें इतनी पुरानी घटना के विवरण पर बल नहीं दिया जा सकता यद्यपि अकबर के राज्यकाल से सम्बन्धित उसमें उल्लिखित बातें सही मानी जाती हैं । प्रश्नगत कथन केवल सुनी-सुनाई और चन्दबरदाई के विवरण पर आधारित हैं न कि ऐतिहासिक साक्ष्यों पर ।

(ग) यह प्रमाणित है कि शहाबुद्दीन गोरी की मृत्यु सन् १२०६ में हुई जबकि लाहौर के निकट कुछ घक्कारों ने बदले की भावना से उसे कत्ल कर दिया था ।

कुछ लेखकों ने कहाँ तक जयचन्द्र पर दोषारोपण की किम्वदन्ती को असत्य बल दिया है वह महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा के निम्न कथन से परिलक्षित होगा :—

"जयचन्द्र के समय में दिल्ली, अजमेर आदि का राजा पृथ्वीराज था । इन दोनों में बनती नहीं थी । जयचन्द्र ने अपने राजसूय यज्ञ में द्वारपाल के स्थान पर पृथ्वीराज की मूर्ति रखी थी । राजसूय यज्ञ के बाद जयचन्द्र की कन्या का स्वयंवर हुआ । कन्या ने सभी राजाओं को छोड़कर पृथ्वीराज की मूर्ति को माला पहिनाई । पृथ्वीराज को पहले से ही खबर थी । वह भी कहीं आस ही पास थे । वे कन्या को लेकर रफूचक्कर हुए । अब जयचन्द्र और पृथ्वीराज में लड़ाई

ठनी। सहायता के लिए जयचन्द्र ने काबुल की ओर से सहायदीन (शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी) को बुलाया। सहायदीन ने आकर छल-बल से पहले पृथ्वीराज को, फिर जयचन्द्र को, दुरुस्त किया। पृथ्वीराज के मरने पर जैसी करुण दशा भारतवर्ष की हुई उसे लिखने की सामर्थ्य लेखनी में नहीं है।''[1]

इस उद्धरण में यह बात असत्य है कि जयचन्द्र ने पृथ्वीराज पर आक्रमण किया (लड़ाई ठनी)। लड़ाई ठनने के माने एक का दूसरे पर आक्रमण किन्तु न तो जयचन्द्र ने पृथ्वीराज पर अथवा पृथ्वीराज ने जयचन्द्र पर हमला किया था।

दूसरी असत्यता यह है कि जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को अपनी सहायता के लिए बुलाया। जब न तो जयचन्द्र ने पृथ्वीराज पर आक्रमण किया और न ही पृथ्वीराज ने जयचन्द्र पर तब जयचन्द्र का अपनी सहायता के लिए किसी अन्य के बुलाए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

तीसरी बात यह है कि जयचन्द्र के पास स्वयं इतनी अधिक और बलवान सेना मौजूद थी कि उन्हें पृथ्वीराज को परास्त करने के लिए किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता ही न थी।

और भी यह कि जयचन्द्र की मोहम्मद गोरी से न तो मित्रता ही थी और न ही पहले से कोई राजनीतिक अथवा अन्य सम्बन्ध। इस स्थिति से भी यह स्पष्ट होता है कि बुलाने की बात नितान्त काल्पनिक और निराधार है।

× × ×

इस प्रकार यह विदित होगा कि उक्त लेखकों ने ऐतिहासिक तथ्यों और साक्ष्यों को नजरन्दाज करके केवल किम्वदन्तियों के आधार पर जयचन्द्र पर दोषारोपण किया है। अतः उनके कथन पर कोई बल नहीं दिया जा सकता।

७. कन्नौज के पूर्व शासकों ने, जयचन्द्र के पूर्वजों ने, तथा स्वयं जयचन्द्र ने, मुसलमान आक्रमणकारियों से युद्ध किये थे

मोहम्मद गोरी के भारत पर किये गए आक्रमण उन आक्रमणों का सिलसिला थे जो विदेशी जातियाँ भारत में सदियों पहले से करती आ रही थीं और जिनमें अधिकतर यवन लोग ही थे। इन आक्रमणों का मुकाबला भारतीय शासकों ने समय-समय पर किया था तथा इन शासकों में महाराज जयचन्द्र के पूर्वज तथा स्वयं जयचन्द्र भी थे। कन्नौज राज्य के पूर्ववर्ती अन्य राजाओं ने

---

१. श्री रामवतार शर्मा निबन्धावली के अन्तर्गत भारतवर्ष का इतिहास शीर्षक निबन्ध, पृ० २३८।

भी ऐसे ही मुकाबले किये थे। इस कथन का तात्पर्य यह है कि महाराज जयचन्द्र तथा उनके पूर्वज आदि देश की रक्षा के लिए प्रयत्नशील थे और इस दृष्टिकोण से यह बात अनर्गल हो जाती है कि उन्होंने आतताई मोहम्मद गोरी को भारत विजय के लिए निमंत्रित किया अथवा प्रोत्साहित।

उक्त आक्रमणों के विरुद्ध मुकाबले के कतिपय दृष्टान्त निम्नलिखित हैं—

महाराज यशोधर्मन द्वारा हूणों का मुकाबला—यह सन् ५२८ की बात है जिसका संदर्भ इस प्रकार है—हूण आक्रमणकारियों का पहला शासक तोरमाण था तथा दूसरा मिहिरकुल जिसकी राजधानी उत्तर में साकलनगर (आधुनिक स्यालकोट) में थी। मिहिरकुल के अत्याचारों के कारण आस पास के भारतीय राजाओं ने एक गुट बनाकर सन् ५२८ में उस पर आक्रमण किया। इस गुट के नेता थे मध्यभारत (कन्नौज भूभाग) के शासक यशोधर्मन तथा मगध के शासक बालादित्य। इतिहासज्ञ राय चौधरी लिखते हैं—

"The Hun king Mihirkul (or gul), whose head had never previously been lowered down in the humility of obeisance to any mortal, was compelled to do reverence to Yashodarman's feet.

अर्थात् हूण शासक मिहिरकुल को, जिसने कभी भी किसी मनुष्य के सामने सिर नहीं झुकाया था, अब यशोधर्मन के पाँव परे पड़ना पड़ा।

महाराज यशोधर्मन द्वारा इस प्रकार पराजित तथा अपमानित होने पर मिहिरकुल ने काश्मीर जाकर वहाँ के शासक की शरण ली।

महाराज यशोवर्मन का अरबों से युद्ध—यशोवर्मन ने कन्नौज राज्य पर सन् ७२५ में ७५२ तक राज्य किया। उसके पूर्व सन् ७१२ में अरबों ने सिन्ध पर अधिकार कर लिया था। उनके बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए यशोवर्मन को बहुत समय तक अरबों से घोर युद्ध करना पड़ा और अन्त में महाराज की विजय हुई।[1]

नागभट्ट द्वितीय—यह प्रतिहार वंश (कन्नौजीय शाखा) का संस्थापक था (सन् ८१५-८२५) तथा कान्यकुब्ज भूभाग का सार्वभौम नरेश था। उसने तुरुष्कों (मुसलमान आक्रमणकारियों) का दमन किया था। उसके पहले मालवा-गुजरात के गुर्जर प्रतिहारों ने भी अरब आक्रमणकारियों से अनेक बार देश की रक्षा की थी।

---

१. प्राचीन भारत का इतिहास (डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी कृत) पृ० ८८, ९३।

मिहिरभोज द्वारा आक्रमणकारियों का मुकाबला—प्रतिहार वंशीय मिहिरभोज अपने पिता रामभद्र की मृत्यु पर सन् ८३५ में कन्नौज का शासक हुआ। उसके शासनकाल में प्रतिहारों की शक्ति उत्कर्ष को प्राप्त हुई और कन्नौज फिर उत्तरी भारत का प्रमुख राज्य बन गया। इतिहासज्ञ सरदार पनिक्कर उसके बारे में लिखते हैं—

> "मिहिरभोज हर्ष की तरह केवल महाराजाधिराज ही नहीं था; उसने कई एक राज्यों को विजय किया, सीमावर्ती नगरों की रक्षा का उचित प्रबन्ध किया और उसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही उसके वंशज एक शताब्दी से अधिक तक मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना करते रहे।"[१]

ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि मिहिरभोज के पिता रामभद्र को भी अरबों से युद्ध करना पड़ा और उसी में कदाचित् उनकी मृत्यु हुई।

सन् १००१ तथा १००८ में महमूद गजनवी के विरुद्ध कन्नौज के शासक को लाहौर के शासक की सहायता—महमूद का पहला आक्रमण सन् १००१ में लाहौर के शासक जयपाल पर हुआ था जिसमें कन्नौज के प्रतिहार शासक राज्यपाल ने जयपाल की सहायता की थी। उसके बाद महमूद का भारत पर चौथा आक्रमण सन् १००८ में जयपाल के पुत्र आनन्दपाल पर हुआ। उस युद्ध में भी राज्यपाल ने (अन्य राजाओं की भाँति) उसकी मदद के लिए अपनी सेना भेजी थी।

गाहरवाल शासकों के भी यवनों से युद्ध—इतिहास साक्षी है कि महाराज जयचन्द्र के सभी पूर्वजों ने यवनों से युद्ध करके देश की रक्षा की थी। गाहरवाल वंशी कन्नौज के प्रथम स्वतंत्र शासक महाराज चन्द्रदेव थे। अपने राज्यकाल (१०८५-११००) में उन्होंने मुसलमान आक्रमणकारियों से देश को बचाया था। निम्न तालिका में गाहरवाल वंशीय शासकों का तुरुक्षों के विरुद्ध संघर्ष का सूक्ष्म विवरण दिया जा रहा है—

शासक का नाम	विवरण
१	२
महाराज चन्द्रदेव (गाहरवाल वंशीय) (१०८५-११०० ई०)	अपने राज्यकाल में कन्नौज के महाराज चन्द्रदेव ने देश को मुसलमान आक्रमणकारियों से बचाया[२]। यह कन्नौज के गाहरवाल वंश के प्रथम स्वतंत्र शासक थे।

१. K. M. Panikkar, *A Survey pf Indian History*. p, 87.

२. राजपूत राजवंश (डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी कृत), पृ० २८८।

१	२
मदनपाल (मदनचन्द्र) (११०४-१११३ ई०)	महाराज मदनपाल (मदनचन्द्र) महाराज चन्द्रदेव के आत्मज थे। मदनपाल को भी मुसलमानों से युद्ध करना पड़ा। इन मुसलमानों को तुरुष्क कहा गया है जो मध्य एशिया की एक लड़ाकू जाति के थे। ऐसा अनुमान है कि मदनपाल का ९ साल का राज्य-काल तुरुष्कों के साथ युद्ध करने में ही बीत गया। युवराज गोविन्दचन्द्र ने अपने पिता को तुरुष्क विजय में सहायता दी।[1]
गोविन्दचन्द्र (१११०-११५५ ई०)	अपने पिता (मदनपाल) के राज्यकाल में ही गोविन्दचन्द पर राज्य का भार आ पड़ा था। युवराज के पद पर होते हुए भी उन्होंने पिता के साथ युद्ध करते हुए तुरुष्कों और पालों को पराजित किया था। गद्दीनशीन होने के बाद भी गोविन्दचन्द्र ने तुरुष्कों का सामना किया था और शत्रुओं को पराजित कर गंगा-यमुना द्वाब में शान्ति-सुरक्षा द्वारा मध्यदेश में सुव्यवस्था कायम की और संस्कृति की रक्षा की। इन्होंने गजनी (गज्जण नगर, अफगानिस्तान में) की भी विजय की थी।[2]
विजयचन्द्र (११५५-११६९ ई०)	अपने पिता के समान ही विजयचन्द्र पराक्रमी सम्राट था। पिता की भाँति उसे भी तुरुष्कों के साथ युद्ध करना पड़ा और उसने तुरुष्क नेता हम्मीर को पराजित किया।[3]
जयचन्द्र (११७०-११९३ ई०)	महाराज जयचन्द को पराक्रमी और जितेन्द्रिय शासक कहा गया है। अपने पिता विजयचन्द्र की भाँति इन्होंने भी (सन् ११९३ में मोहम्मद गोरी से परास्त होने के पूर्व) यवनों को हराया था जिसके फलस्वरूप इन्हें "निखिल-यवन-क्षयकर्ता" (यवनों का

१. राजपूत राजवंश, पृ० २८९, २९०, २९३।
२. राजपूत राजवंश (डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी कृत), पृ० २९१, २९३-२९७।
३. वही, पृ० ३०१।

१	२
	नाश करने वाला) कहा गया है।[1] विद्यापति-कृत पुरुष-परीक्षा में जयचन्द्र के लिए कहा गया है कि इन्होंने बारंबार यवन शासक को हराया ("बारंबार च यवनेश्वरः पराजयी पलायते")।

क्या स्वयं मोहम्मद गोरी भी उल्लिखित यवन आक्रमणकारियों में एक था इसका निश्चय नहीं है। अपने अन्तिम तीन आक्रमणों (सन् ११९१ तथा ११९२-९२ में पृथ्वीराज पर तथा ११९४ में स्वयं जयचन्द्र पर) के पूर्व भी गोरी के भारत के उत्तर-पश्चिमी इलाके पर एक-दो आक्रमण हुए थे किन्तु यह निश्चित नहीं है कि उनमें से किसी में जयचन्द्र ने उसका मुकाबला किया था।

निष्कर्ष—उपरलिखित तथ्यों से यह स्पष्ट है कि महाराज जयचन्द्र तथा उनके सभासद यवन आक्रमणकारियों की हिन्दुओं से स्वाभाविक शत्रुता, उनकी बर्बरता, धर्मान्धता, स्त्रियों पर अत्याचार, हिन्दुओं को जबरन मुसलमान बनाने आदि की नीति से अनभिज्ञ न थे। ऐसी दशा में यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को देश की दुर्दशा तथा हिन्दुओं पर शासन करने के लिए आमंत्रित किया हो। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि महमूद गजनवी के भारत पर १७ आक्रमणों में दो आक्रमण कन्नौज पर भी हुए थे। कन्नौज पर सन् १०१८ के पहले आक्रमण में महमूद ने कन्नौज नगर को ध्वंस कर दिया था तथा उसके सहस्त्रों मंदिरों को धराशायी कर दिया था। नगर की जनता के धन को लूटा था तथा उन पर जघन्य अत्याचार किए थे। इतना ही नहीं, अपितु वह सहस्त्रों नर-नारियों को बन्दी बनाकर गजनी ले गया था जहाँ वे गुलामों के रूप में बाजार में बेचे गए थे। क्या यह सब कुकृत्य उस समय भुलाये जा सकते थे?

यह भी स्मरणीय है कि उस आक्रमण के समय कन्नौज का शासक प्रतिहार-वंशीय राज्यपाल था जिसने भयभीत होकर राजधानी छोड़ दी थी और बाद में सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली थी। सुलतान के लौट जाने पर आसपास के राजपूत राजाओं ने राज्यपाल को उसकी कायरता का दण्ड देने के लिए उस पर आक्रमण करके उसका वध कर दिया था। इससे जाहिर होता है कि भारतीय जनता में यवनों के प्रति प्रतिशोध की कितनी अधिक भावना थी।

उस समय देश की तथा अपने वंश की परम्परा के अनुसार महाराज

१. रम्भामंजरी नाटक जिनका निर्देश डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी की पुस्तक राजपूत राजवंश के पृ० ३०५ पर दिया गया है।

जयचन्द्र यवनों के कट्टर विरोधी थे अतः उन पर प्रश्नगत आरोप सर्वथा निर्मूल है।

यह भी स्मरण रहे कि इसका कोई प्रमाण नहीं है कि जयचन्द्र और मोहम्मद की एक दूसरे से कभी भी भेंट हुई या उनमें कोई मैत्रीपूर्ण व्यवहार हुआ। इस प्रकार वे एक दूसरे के अजनबी थे। ऐसी अवस्था में जयचन्द्र का एक अजनबी को आमन्त्रित करने की बात तर्कहीन है।

८. जयचन्द्र ने पृथ्वीराज की (मोहम्मद गोरी से निपटने के लिए) सैनिक सहायता नहीं की—इसका अकाट्य समुचित कारण था

यह प्रमाणित है कि जयचन्द्र ने पृथ्वीराज की सहायता के लिए अपनी सेना नहीं भेजी। किन्तु यह इस बात को साबित नहीं करता कि जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को आमंत्रित किया। दोनों बातें एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ अन्य शासक भी गोरी के दूसरे आक्रमण के अवसर पर शत्रु से लड़ने के लिए नहीं आए। उनमें से कुछ वे भी थे कि जिन्होंने गोरी के प्रथम आक्रमण पर पृथ्वीराज का साथ दिया था।

जहाँ तक जयचन्द्र की बात है उन्होंने न तो प्रथम आक्रमण पर और न दूसरे पर ही अपनी सेना के साथ पृथ्वीराज की मदद की। क्या इस नकार्मक कार्य के लिए जयचन्द्र के पास कोई माननीय कारण था, अब इस प्रश्न पर विचार कर लिया जाए।

जयचन्द्र का सेना लेकर न स्वयं जाना और न ही अपने सेनानायक के साथ सेना भेजना एक राजनीतिक सिद्धान्त पर आधारित था और जो सिद्धान्त आज भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में लागू है। वह सिद्धान्त यह है कि कोई स्वतंत्र शासक दूसरे स्वतंत्र शासक के राज्य में उसी की ही मदद के लिए अपनी सेना तब तक न भेजता था जब तक कि दूसरा शासक इसके लिए निवेदन न करे। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में यह निवेदन रण-निमंत्रण के रूप में किया जाता था। न तो पहिले आक्रमण के अवसर पर, और न दूसरे पर, पृथ्वीराज ने जयचन्द्र को रण-निमंत्रण भेजा और इसी कारण जयचन्द्र ने अपनी फौज पृथ्वीराज की मदद के लिए नहीं भेजी।

यदि यह कहा जाए कि चूंकि देश पर संकट आने को था इसलिए निमंत्रण न मिलने पर भी जयचन्द्र को पृथ्वीराज की सहायता करना चाहिए था तो इसका भी समुचित उत्तर है। वह यह कि क्योंकि दोनों में आपसी रंजिश थी इसलिए यदि जयचन्द्र अपनी सेना अपने ही मन से भेजता तो पृथ्वीराज उसे कबूल न करता, इस आशंका से कि कहीं जयचन्द्र उसके खिलाफ कोई कार्यवाही न कर

बैठे। सामाजिक क्षेत्र में भी इसी प्रकार का एक उदाहरण दिया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति दूसरे की बारात में बिना बुलाये नहीं जाता है।

जब एक शासक दूसरे शासक के पास कोई सन्देश आदि भेजता था तो उसके साथ प्रचुर मात्रा में भेंट सामग्री भी भेजता था। जयचन्द्र के मामले में भेंट सम्बन्धी कोई प्रमाण अथवा कथन नहीं—स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक जब देशी रियासतें कायम थीं, यह पुरातन नियम था कि जब एक शासक दूसरे शासक के पास अपने कार्य सिद्धि के लिए कोई सन्देश, स्तुति आदि भेजता था तो सन्देश-वाहक के द्वारा प्रचुर मात्रा में भेंट भी भेजता था। यह भेंट पाने वाले तथा भेजने वाले की हैसियत के अनुरूप होती थी। यही नियम भारत के बाहर के अन्य स्वतंत्र देशों के साथ भी लागू थे। भेंट में हाथी, घोड़े, सुवर्ण मुद्राएं, शाल-दुशाले तथा अन्य रेशमी वस्त्र, आभूषण आदि होते थे।

इस नियम का एक उदाहरण ब्रिटिश राज्यदूत, सर टामस रो, का है जो सम्राट जहाँगीर के राज्य काल में भारत आया था। वह ब्रिटिश राज्ञी महारानी इलिजिबेथ प्रथम का दूत था और भारत इस कार्य से आया था कि जहांगीर अंग्रेज सौदागरों को भारत से व्यापार करने की अनुमति दे। सम्राट को भेंट के लिए महारानी ने सर टामस रो, द्वारा एक जहाज भर सामान भेजा था जिसमें अत्यन्त सुन्दर विलायती घोड़े भी थे।

इसी प्रकार जब राजच्युत अवध के नवाब वाजिदअली शाह की माता विलायत में वाजिदअली शाह की पैरवी करने गई थीं कि उनके आत्मज को अवध की गद्दी पर पुनर्स्थापित किया जाय तब अपने साथ बहुमूल्य भेंट ले गई थी जो उन्होंने महारानी विक्टोरिया को नजर में अर्पित की थी। उसमें हीरे जवाहिरात, स्वर्ण-मुद्राएँ, आभूषण, बेशकीमती रेशमी वस्त्र, काश्मीरी शालें शामिल थीं।

दूसरा उदाहरण नाना साहेब को पेंशन न मिलने से सम्बन्धित है। सिंहासनच्युत पेशवा बाजीराव (द्वितीय) की मृत्यु हुई। दक्षिण भारत में बाजीराव विस्तृत इलाके के शासक थे। इन्होंने कम्पनी (अंग्रेजी) सरकार से युद्ध किया जिसमें वे पराजित हुए। अंग्रेजों ने इन्हें रु० आठ लाख सालाना पेंशन देकर दक्षिण भारत से निर्वासित कर दिया और वे बिठूर (ब्रह्मावर्त, जिला कानपुर) में आकर राजसी ठाठ से बस गए। उनके कोई सन्तान न थी अतः उन्होंने नाना साहेब (या नाना राव) को गोद ले लिया था। बाजीराव की मृत्यु पर नाना साहब ने बाजीराव के उत्तराधिकारी की हैसियत से उक्त पेंशन पाए जाने की स्तुति की किन्तु सामयिक गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने उसे खारिज कर दिया

जिसका एक कारण उन्होंने यह दिया कि नाना राव बाजीराव के औरस पुत्र न थे तथा उनके गोदनामे को कम्पनी सरकार द्वारा अनुमोदित नहीं किया था। इस पर नाना राव ने अपने खास हिमायती मुंशी अजीमुउल्ला खां को विलायत भेजा कि वे महारानी विक्टोरिया से उनके हक की वकालत करें। तभी नाना राव ने उनके द्वारा राज्ञी को बहुमूल्य नजर भेजी थी। नाना राव को विलायत में भी सफलता नहीं मिली। बाद में सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में उत्तर प्रदेश की बागी सेना ने उनको अपना नेता चुना। अन्त में जब अंग्रेजों ने विजय प्राप्त कर ली तब नाना राव (तथा अन्य नेता) नैपाल चले गए। अंग्रेजों के बहुत दबाव डालने पर भी नैपाल ने नाना साहब को उनके हवाले नहीं किया। बादहू नैपाल ही में उनका शरीरान्त हुआ।

आधुनिक युग में भी यही प्रथा कायम है, अर्थात् जब भारत के राष्ट्रपति अथवा प्रधान मंत्री अन्य स्वतंत्र राज्य में जाते हैं तो तरह-तरह के तोहफे ले जाते हैं यद्यपि अब हीरे जवाहिरात, स्वर्ण मुद्रा आदि ले जाने का चलन उठ गया है। इसी प्रकार दूसरे देश का शासक जब भारतवर्ष जाता है तो समुचित चीजें भेंट स्वरूप राष्ट्रपति के लिए लाता है।

९. निमंत्रण तभी सार्थक माना जा सकता था जब कि उसके साथ सैनिक सहायता की प्रतिज्ञा होती और साथ ही युद्ध संचालन के लिए प्रचुर मात्रा में अग्रिम धन भेजा जाता।

यदि निमंत्रण की बात सही मानी जाय तो सुलतान गोरी के निमंत्रण वाहक से दो प्रश्न होते जिनका उसके पास कोई समुचित उत्तर न था। प्रश्नों का आशय और उनसे सम्बन्धित स्थिति निम्न प्रकार दर्शाई जा सकती है :—

प्रश्न का आशय	स्थिति का विवेचन
१	२
१. यदि मैं आक्रमण करूँ तो क्या महाराज जयचन्द्र मेरी सैनिक सहायता करेंगे ? यदि हाँ, तो किस प्रकार ?	ऐसी सहायता करना जयचन्द्र के लिए किसी प्रकार सम्भव न था। जयचन्द्र का राज्य दिल्ली राज्य के दक्षिण में था जबकि आक्रमण उत्तर की ओर से होना था। दिल्ली क्षेत्र से होकर जयचन्द्र की सेना का गोरी की सेना की सहायता करना नितान्त असम्भव था क्योंकि पृथ्वीराज की सेना और उसके सहायक राजाओं की सेनाएँ इसमें बाधक होतीं। अतः निमंत्रण

वाहक के किसी प्रकार के उत्तर से सुलतान संतुष्ट न होता और केवल निमंत्रण के आधार पर आक्रमण के लिए अग्रसर न होता।

२. क्या महाराज ने निमंत्रण की पुष्टि में खजाना भेजा है ?

खजाना भेजने के सम्बन्ध में न तो कोई प्रमाण है और न किसी इतिहासकार का कथन ही। साथ ही यदि खजाना भेजा होता तो मार्ग में उसकी रक्षा के लिए घोड़ों, हाथियों आदि के साथ सेना की एक बड़ी टुकड़ी भी होती और साथ ही में निमंत्रण-वाहक सामन्त तथा सेनानायक और फौज के खिदमतदार, रसद सामग्री, उसके वाहन, इत्यादि भी होते। सुलतान के राज्य में पहुँचने के लिए इस काफिले को पृथ्वीराज के क्षेत्र से ही गुजरना पड़ता जिसमें काफी समय भी लगता। यह सम्भव नहीं था यह फौज और उसके साथ का जन समूह पृथ्वीराज के इलाके से छिप कर निकल जाता और उन्हें इसका ज्ञान भी न होता। ज्ञान होने पर वे उसे विध्वंस कर देते।

हाँ, तो यदि खजाना नहीं भेजा, जैसा कि उपरोक्त बातों से सिद्ध है, तो निमंत्रण भेजने का न तो कोई अर्थ था और न उस पर सुलतान आक्रमण की कोई योजना ही बनाता क्योंकि कोरे निमंत्रण पत्र के आधार पर ही आक्रमण कर देना नासमझी की बात होती जिसे बुद्धिमान सुलतान कभी न करता।

निष्कर्ष—उपरोक्त दलीलों से यह प्रमाणित होता है कि निमंत्रण सम्बन्धी आरोप कल्पना मात्र है। महाराज जयचन्द तथा उनके मंत्रीगण इतने नासमझ नहीं थे कि वे यह विश्वास करते कि कोरे निमंत्रण मात्र से सुल्तान पर तनिक भी प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार का निमंत्रण बिल्कुल निरर्थक था और उसके भेजने से वांछित कार्यसिद्धि न होती। इसके विपरीत सुलतान के दरबार में महाराज की हँसी होती कि भारतवर्ष के इतने बड़े और समृद्धशाली शासक ने समानान्तर शासक को भेंट रूप में न तो जवाहरात, जेवर, सोना-चाँदी, स्वर्णमुद्रा,

शाल-दुशाले तथा अन्य वस्त्र, हाथी, घोड़े आदि भेजे और न युद्ध के खर्चे के लिए खजाना।

इतना ही नहीं, भेंट न भेजना सुलतान को अपमानित करना था जिससे वह क्रोधित हो जाता। कन्नौज का राज दरबार इस स्थिति से अनभिज्ञ न था। इसके अतिरिक्त दोनों शासकों की एक दूसरे से पहले कभी मुलाकात भी नहीं हुई थी और इस प्रकार वे अजनबी थे। इस स्थिति में निमंत्रण भेजने का प्रश्न ही नहीं उठता। निमंत्रण उसी को भेजा जाता है जिससे कुछ पहले का परिचय हो।

आज के अन्तर्राष्ट्रीय युग में भी यही स्थिति है कि कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सैनिक सहायता बिना उसकी संस्तुति के नहीं करता—सैनिक सहायता की विनय (प्रार्थना) या रण-निमंत्रण के कुछ आधुनिक दृष्टान्त नीचे दिए जा रहे हैं :—

(१) प्रथम विश्व संग्राम (१९१४-१८) के अवसर पर जर्मनी को फ्रांस पर आक्रमण करना था जिसके लिए उसे बेल्जियम राज्य से अपनी सेना ले जाना अनिवार्य था क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य विकल्प न था। कारण कि फ्रांस और जर्मनी के बीच की सरहद पर फ्रांस ने मजबूत किलाबन्दी कर रखी थी जिसे पार करना सम्भव न था। जर्मनी ने बेल्जियम से अनुमति मांगी कि वह जर्मन सेना को बेल्जियम की भूमि से गुजर जाने दे किन्तु बेल्जियम के शासक ने इसे स्वीकार न किया। फलस्वरूप जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण कर दिया जिसे रोकने के लिए बेल्जियम ने अपनी पूरी सैनिक शक्ति लगा दी। बेल्जियम की इंग्लैण्ड से मित्रता थी तथा एक सन्धि भी थी जिसके अनुसार इंग्लैण्ड बेल्जियम की सैनिक मदद करने के लिए बचनवद्ध था किन्तु उसने बेल्जियम में अपनी सेना तब तक नहीं भेजी जब तक कि बेल्जियम के राजा ने मदद की दरख्वास्त नहीं की। राजा ने यह दरख्वास्त कई दिन बाद की जब कि बेल्जियम पूर्णतया हताहत हो चुका था। तभी इंग्लैण्ड ने बेल्जियम भूमि पर अपनी सेना उतारी। यदि इंग्लैण्ड हमला होते ही अपनी सेना भेज देता तो बेल्जियम की इतनी दुर्गति न हुई होती जितनी कि वास्तव में हुई। किन्तु इंग्लैण्ड का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त पर आश्रित था और पूर्णतया उचित। किसी भी मित्र राष्ट्र ने इंग्लैण्ड के कार्य को दोषपूर्ण नहीं ठहराया और न स्वयं बेल्जियम ने ही।

(२) बिल्कुल यही स्थिति द्वितीय विश्व संग्राम के अवसर पर हुई यानी उस समय पर भी इंग्लैण्ड ने बेल्जियम की सहायता के लिए अपनी फौज तभी भेजी जब कि बेल्जियम के राजा ने नियमानुसार और औपचारिक तोर पर मदद नहीं मांगी।

(३) दूसरे विश्व संग्राम के दौरान जर्मनी ने सहसा रूस पर आक्रमण कर दिया। तुरन्त ही ब्रिटिश प्रधान मंत्री विन्सटन चर्चिल ने घोषणा कर दी कि इंग्लैण्ड रूस के साथ है। किन्तु इतने पर भी ब्रिटेन ने अपनी सेना रूस की भूमि पर नहीं भेजी क्योंकि रूस ने अन्त तक इसके लिए आवेदन नहीं किया। जर्मनी ने रूस को प्रायः पददलित कर दिया था और जर्मन सेना स्टैलिनग्रेड तक पहुँच गई थी। उसी समय'यदि भयानक जाड़े ने रूस को समारोपित न कर दिया होता तो रूस पर हिटलर का कब्जा हो जाता। इस भयावह स्थिति में भी रूस से इंग्लैण्ड की सेना को रूसी भूमि पर नहीं बुलाया। इंग्लैण्ड से उसका आग्रह यह था कि इंग्लैण्ड जर्मनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोले अर्थात् किसी अन्य स्थल से जर्मनी पर हमला करे। यह तभी सम्भव हुआ जब अमेरिका भी जापान द्वारा पर्ल बन्दरगाह पर आक्रमणित होने पर जर्मनी के विरुद्ध संग्राम में शामिल हुआ। किन्तु अमरीकी फौजें भी रूसी भूमि पर नहीं गई क्योंकि रूस ने यह नहीं चाहा था। यह सब बातें पूर्व वर्णित अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त के अनुरूप थीं।

(४) अन्त में अपने ही देश का एक उदाहरण पेश किया जा सकता है। सन् १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देशी रियासतें अपने को भारत सरकार से स्वतंत्र मानने लगी थीं और यह बात सम्विधानिक कानून के अन्तर्गत भी थी यद्यपि अन्त में वे भारत में विलय हो गईं। विलय के पूर्व काश्मीर रियासत पर यवन सरहदियों ने आक्रमण कर दिया और रियासत का एक बड़ा भाग अपने कब्जे में कर लिया। कश्मीरी सेना उनको रोकने में. असमर्थ रही किन्तु काश्मीर नरेश ने भारत से मदद की संस्तुति नहीं की। कई दिनों बाद जब सरहदी लोग श्रीनगर के सन्निकट आ गए और पूर्ण रियासत का उनके अधिकार में चला जाना निश्चितप्राय सा हो गया तभी काश्मीर नरेश ने भारत सरकार से सहायता माँगी जो दी गई और रियासत का आक्रमणकारियों के अधिकार में चला जाना बच गया। रियासत के कुछ भाग पर उनका कब्जा बना ही रहा जो अब भी आजाद काश्मीर के नाम से जाना जाता है।

उक्त आक्रमण से भारत सरकार बहुत चिन्तित थी किन्तु काश्मीर नरेश की अनुमति के बिना उसने अपनी फौज रियासत के संरक्षण के लिए नहीं भेजी। इसमें काफी देर हुई जिसके कारण सामयिक प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू की टीका टिप्पणी भी हुई। पं० नेहरू का कहना था कि बगैर काश्मीर नरेश की अनुमति अथवा संस्तुति के रियासत की भूमि पर भारतीय सेना का भेजना अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध होता। पंडित नेहरू अन्तर्राष्ट्रीय मसलों में दक्ष थे और उनका तर्क अन्तर्राष्ट्रीय विधि विशेषज्ञों के अनुसार सही था।

१०. पृथ्वीराज द्वारा गोरी की पराजय के कुछ ही समय बाद निमन्त्रण भेजने की बात तर्क संगत नहीं

तरायन के प्रथम युद्ध में महाराज पृथ्वीराज ने मोहम्मद गोरी को सन् ११९१ में परास्त किया। किसी लेखक ने यह नहीं कहा है कि इस आक्रमण करने के लिए जयचन्द्र ने गोरी को आमन्त्रित किया; केवल इतना ही कहा गया है कि यद्यपि अनेकों अन्य राजपूत राजाओं ने पृथ्वीराज की सैनिक सहायता की किन्तु जयचन्द्र ने अपनी सेना नहीं भेजी। लगभग डेढ़ साल के अन्दर ही गोरी ने नई सेना को सुसज्जित कर पुनः आक्रमण किया और इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि यह आक्रमण गोरी ने जयचन्द्र के निमन्त्रण पर किया। अब विचारणीय बात यह है कि इस न्यून अन्तराल में क्या यह सम्भव था कि जयचन्द्र अपने दूत-मण्डल या दूतों को सुदूर गजनी भेज कर ऐसा निमन्त्रण निवेदित करते और निमन्त्रण प्राप्त करने के बाद क्या एक-दो माह ही में गोरी के लिए एक चुनी हुई और शक्तिशाली सेना का संगठन करना सम्भव था? दूत-मण्डल को तैयार करने में तथा उसके गजनी पहुँचने में कई माह अवश्य लगते। दूसरे यह कि पराजय के तुरन्त बाद इस प्रकार का निमन्त्रण हास्यपद तथा अपमानजनक भी समझा जाता। इन सब परिस्थितियों पर विचार विनिमय करने से स्पष्ट होगा कि कथित निमन्त्रण का आरोप तर्क की कसौटी पर टिक नहीं सकता।

११. संयोगिता स्वयंवर की कथा कल्पित मात्र

भविष्य पुराण में संयोगिता (संयोगिनी) के स्वयंवर की कथा इस प्रकार आती है कि राजा जयचन्द्र के १६ रानियाँ थीं, और उनसे उसका कोई पुत्र न था। उसकी एक रानी की दासी से जयचन्द्र द्वारा संयोगिनी की उत्पत्ति हुई थी। जब वह १२ साल की हुई तब जयचन्द्र ने उसके स्वयंवर में विभिन्न राजाओं को बुलाया परन्तु पृथ्वीराज को न बुला कर उसकी स्वर्णनिर्मित मूर्ति कान्यकुब्ज की सभा में स्थापित कराई। पृथ्वीराज भी सेना लेकर वहाँ गया और संयोगिता का अपहरण कर अपनी राजधानी को लौट आया।[1] इस कथा का अनुमोदन पृथ्वीराज रासो में हुआ है। ऐसा कहा गया है कि दोनों राजाओं में जो पहले का बैर था वह इस घटना से और भी बढ़ गया। कतिपय इतिहासकारों ने इस घटना को सत्य मान लिया किन्तु डॉ० राम शंकर त्रिपाठी इस मत से सहमत नहीं हैं। उन्होंने इसके समुचित कारण भी बताए है और कहा है कि यह केवल कथा मात्र है ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं। उन्हीं के शब्दों में—

"It is, however, difficult to accept this romantic story as a

---

१. भविष्य पुराण, प्रतिसर्ग पर्व, अध्याय ६।

historical fact for at this time *svayamvaras* and *rajasuya* yagnas had become obsolete, and if they hed been performed, they must have found mention in inscriptions.[1]"

यही मत डॉ० रोमा नियोगी का भी है। उनके अनुसार जयचन्द्र और पृथ्वीराज में बैरभाव होने का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है।[2]

इस प्रकार यदि संयोगिता की कथा निरस्त हो जाती है तो फिर उसके साथ दोनों राजाओं में शत्रुता की बात भी समाप्त हो जाती है। तब फिर मोहम्मद गोरी का जयचन्द्र द्वारा बुलाए जाने का कोई कारण भी नहीं रह जाता है।

१२. कन्नौज की सेना इतनी वृहत् तथा शक्तिशाली थी कि कि जयचन्द बिना किसी की सहायता के पृथ्वीराज को पराजित कर सकते थे

महाराज गोविन्दचन्द्र के समय में कन्नौज राज्य साम्राज्य के रूप में था तथा अपनी उच्चतम सीमा को पहुँच गया था। गोविन्दचन्द्र ने मगध पर भी अधिकार कर लिया था और पटना, मुंगेर आदि नगर उसके अन्तर्गत आ गए थे। दिल्ली का इलाका भी उनके अधिकार में था किन्तु उनके पुत्र विजयचन्द्र के समय (११५५-११६९ ई०) वह क्षेत्र कन्नौज के अधिकार से निकल कर चाहमान राजा वीसलदेव के पास चला गया था।

लगभग यही स्थिति (अर्थात् दिल्ली के इलाके को छोड़कर) गोविन्दचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र तथा पौत्र जयचन्द्र के समय में भी थी। राज्य की सेना विशाल थी तथा देश भर में कोई भी शक्ति ऐसी नहीं थी कि जो उसका मुकाबला कर सकती।

इसके विपरीत महाराज पृथ्वीराज का अजमेर और दिल्ली का इलाका दोयम श्रेणी का था यद्यपि पृथ्वीराज स्वयं उच्चकोटि के वीर योद्धा तथा शासक थे। उनकी सेना की संख्या भी कन्नौज की सेना की तुलना में बहुत कम थी। इसी कारण मोहम्मद गोरी से सन् ११९१ में युद्ध करने के लिए उन्हें अनेकों अन्य शासकों से सहायता लेनी पड़ी थी और अपने नेतृत्व तथा शौर्य के बल पर उन्होंने शत्रु को भीषण पराजय दी थी।

उक्त तुलनात्मक बातें पृथ्वीराज की प्रतिष्ठा को न्यून करने के अभिप्राय से नहीं कही गई हैं; वस्तुतः पृथ्वीराज अपने समय में शौर्य में अद्वितीय थे तथा

१. History of Kannauj, p. 326.

२. History of the Gaharwal Dynasty, p. 107.

उनकी सेना के राजपूत सैनिक वीरता तथा रणकुशलता में किसी से कम नहीं थे। आशय केवल इतना ही है कि कन्नौज की सेना में हाथियों, घुड़सवारों तथा पैदलों की अपार संख्या को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि कन्नौज की सेना दिल्ली की सेना से युद्ध करने के लिए मैदान में आती तो संख्या को देखते हुए विजय कन्नौज की सेना को ही मिलती। अतः यह तथ्य सामने आता है कि यदि जयचन्द्र का पृथ्वीराज को हराने का लक्ष्य होता तो उन्हें किसी अन्य शक्ति के सहयोग की आवश्यकता न थी। इस स्थिति में मोहम्मद गोरी के बुलाने का प्रश्न निरस्त हो जाता है।

१३. क्या जयचन्द्र इतने विचारहीन थे कि स्वयं अपने ही सर्वनाश की योजना बनाते ?

महाराज जयचन्द्र के समय के पूर्व भारतवर्ष पर मुसलमानों के अनेकों आक्रमण हुए थे और आक्रमणकारियों ने बर्बरता के साथ हिन्दुओं का कत्लआम किया था, देश को लूट कर अगणित मूल्य की सामग्री उठा ले गए थे और मन्दिरों तथा धार्मिक स्थलों को ध्वंस किया था, कलापूर्ण देव मूर्तियों को खण्डित किया था, मन्दिरों के स्थान पर उन्हीं के मलबे से मस्जिदें बनवाई थीं, और भी तरह-तरह के अत्याचार किए थे, मसलन् महिलाओं के साथ दुराचार, हिन्दुओं को जबरन् मुसलमान बनाना। यह सब बातें प्रत्येक हिन्दू को विदित थीं। ऐसी अवस्था में क्या यह सम्भव था कि विचारशील तथा हिन्दू धर्म के घनिष्ठ उपासक महाराज जयचन्द्र मोहम्मद गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण के लिए प्रोत्साहित करते। दिल्ली का राज्य उत्तर से आने वाले आक्रमणकारियों से कन्नौज राज्य को बचाने के लिए बीच का एक अरगल क्षेत्र[1] था। इसके माने यह थे कि यदि दिल्ली का राज्य मुसलमान शासकों के हाथ में चला गया तो कन्नौज राज्य की खैर न थी क्योंकि दिल्ली से कन्नौज पर आक्रमण करने में कोई बाधा न थी इसलिए कि बीच में कोई राज्य न था जिसका शासक आक्रमणकारी को अपने राज्य से होकर जाने में रोकता। अतः दिल्ली का मुसलमानों के हाथ में चले जाने का अर्थ था कि अगली बारी कन्नौज की ही थी। इस तर्क के अनुसार जयचन्द्र का मोहम्मद गोरी को दिल्ली पर आक्रमण करने का आग्रह करना इस बात का प्रयास होता कि कन्नौज भी शीघ्र ही इस्लाम सत्ता के अधीन हो जाए।

उपर्युक्त बातें एक साधारण बुद्धि के व्यक्ति में आसानी से समझ में आ जाती हैं। अतः यह मान लेना असंगता होगा कि महाराज जयचन्द्र को और

---

१. Buffer State.

उनके मंत्रियों को भी अपने तथा देश के सर्वनाश की परवाह न थी। शासक सदैव अपनी प्रजा का हितचिन्तक होता था और अब भी है; अतः अपने नाश के अतिरिक्त प्रजा को भी निर्दय आक्रमणकारियों को सिपुर्द कर देना कथित निमन्त्रण में निहित होता।

१४. क्या महाराज मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा कर सकते थे ?

सभी शासकों की भाँति महाराज जयचन्द्र भी अपने मन्त्रियों की सलाह से, और उनके द्वारा ही, राज्य संचालन करते थे। भारतीय इतिहास की यह परम्परागत शैली है। अतएव प्रश्न यह उठते हैं—

(१) क्या महाराज के मन्त्रियों ने स्वतः यह सलाह दी थी कि मोहम्मद गोरी को भारतवर्ष पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया जाय ? (महाराज पृथ्वीराज पर आक्रमण करना भारत पर ही आक्रमण करने का प्रतीक होता है)।

(२) यदि नहीं, तो क्या मन्त्रियों ने महाराज के इस प्रस्ताव का समर्थन किया था कि सुल्तान गोरी को आक्रमण के लिए बुलाया जाय ?

(३) यदि यह भी नहीं, तो क्या महाराज ने मंत्रियों की सलाह के विरुद्ध सुलतान को आमन्त्रित किया था ?

जाहिर है कि प्रश्न (१) और (२) के उत्तर नकारात्मक हैं। मन्त्रियों को महाराज पृथ्वीराज से कोई व्यक्तिगत द्वेष न था। इसके अतिरिक्त कोई भी विचारशील व्यक्ति ऐसा कदापि न करेगा। अतः प्रश्न (३) ही विनिमय योग्य है।

शासक के समक्ष मन्त्रियों की सलाह का वजन—इस प्रश्न पर (कि क्या महाराज ने मन्त्रियों की इस सलाह की अवहेलना की कि सुल्तान को आमन्त्रित न किया जाए) विचार करने के पूर्व एक आम तथ्य पर प्रकाश डालना समुचित होगा। वह यह कि उस समय के युग में मन्त्रि परिषद् की सलाह की किस हद तक मान्यता थी। इस विषय पर प्रोफेसर अनन्त सदाशिव अलतेकर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति' (१९५९) में सप्रमाण विवेचन किया है। उस पुस्तक तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर निम्न बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) मौखरि वंश के राज्यकाल में मन्त्रियों के विशिष्ट अधिकार थे। उसका एक प्रमाण यह है कि उस वंश के अन्तिम शासक गृहवर्मन का यकायक निस्सन्तान निधन हो जाने पर मन्त्रियों ने ही थानेश्वर राज्य के शासक महाराज हर्षवर्धन को कन्नौज राज्य का सिंहासन प्रदान किया था।[1]

---

१. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति तथा T. Watters' "On Yuan Chwang's Travels in India", volume I, p. 343.

(२) कन्नौज के गाहरवाल राजाओं के प्रायः सभी ताम्र पट्टों (दान-पत्र, आदि) में उनके 'महामात्य' प्रधान मन्त्री) का उल्लेख पाया जाता है। यही बात गुजरात के चालुक्य शासकों के प्रति भी लागू है।[1] गाहरवाल राजाओं के ताम्रपत्रों का उल्लेख सम्बन्धित स्थानों में पहले ही किया जा चुका है। शासकों पर मन्त्री के प्रभाव का यह भी उदाहरण है। गाहरवाल ताम्रपत्रों में कोषाध्यक्ष (वित्त मन्त्री) का नाम भी बराबर मिलता है।[2]

(३) राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि काश्मीर राज्य के शासन में मन्त्रियों का स्थान उच्च महत्व का था। काश्मीर नरेश ललितादित्य (जो एक शक्तिशाली शासक था) अपने मन्त्रियों को यह स्वतन्त्रता देता था कि यदि उनकी (शासक की) कोई आज्ञा अनुचित जान पड़े या ऐसे समय दी गई हो जब वे पूर्णरूपेण मानसिक स्थिति से संतुलित न हों तो मन्त्री उसका पालन न करें और ऐसा करने पर वह मन्त्रियों को धन्यवाद भी देता था।[3]

(४) दक्षिण के राष्ट्रकूट, चालुक्य और शिलाहार वंश के राजाओं के लेखों से भी विदित होता है कि शासन में मन्त्रियों का उच्चतम स्थान था। यादव वंश के एक दान-पत्र में बताया गया है कि मन्त्रियों की सहमति से ही पत्र में वर्णित दान दिया गया है।[4]

(५) दक्षिण भारत के कतिपय लेखों से ज्ञात होता है कि आमतौर पर मन्त्रियों की हैसियत सामन्त राजाओं के समान ही उच्च थी। अतएव वे महासामन्त तथा महामंडलेश्वर आदि ऊँची उपाधियों से अलंकृत किए जाते थे।[5]

(६) पंचतन्त्र से ज्ञात होता है कि शासक अपने मन्त्रियों का विशिष्ट सम्मान करते थे। मन्त्री अपने को प्रजा के हितों का संरक्षक समझते थे तथा वे राज्य के स्तम्भ माने जाने थे।[6]

(७) शासक को कुमार्ग पर जाने से रोकना यह मंत्री का सबसे बड़ा कर्तव्य था, साथ ही राजा पर नियंत्रण रखना।[7]

उपरोक्त तथ्य इस बात के प्रतीक हैं कि मंत्रियों की मन्त्रणा की अवहेलना

---

१. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ११९।
२. वही, पृ० १२७।
३. राजतरंगिणी, ४।३२०।
४, Indian Antiquary, Volume 12, p. 107.
५. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ११९-२०।
६. पंच-तंत्र, पृ० ६६।
७. कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग १, अध्याय ३।

करना किसी भी शासक के लिए अत्यन्त कठिन था। महाराज जयचन्द्र एक प्रतिष्ठित राजवंश के शासक थे और उसी वंश के पूर्व शासकों ने मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना किया था तथा स्वयं जयचन्द्र ने भी जैसा कि पूर्व के शीर्षक में उल्लेख किया गया है।

ऐसी स्थिति में यह तनिक भी सम्भव नहीं जान पड़ता कि जयचन्द्र ने ऐसा निन्दनीय तथा घृणित कार्य किया हो अर्थात् सुलतान मोहम्मद गोरी को महाराज पृथ्वीराज पर (यानी भारतवर्ष पर) आक्रमण करने के लिए बुलावा दिया हो। किसी भी स्थिति में उनके मन्त्रियों ने ऐसी योजना का पूर्ण विरोध किया होगा यदि यह मान भी लिया जाय कि महाराज ने स्वयं ऐसा देशद्रोहक प्रस्ताव किया हो। मन्त्रियों की उपरलिखित मान्यता को ध्यान में रखते हुए यह नितान्त अमाननीय है कि महाराज उनके विरोध की अवहेलना करके अपनी ही मनमानी बात पर अटल रहे हों।

महाराज द्वारा मन्त्रियों की सलाह मानने का एक दृष्टान्त—पहले कहा जा चुका है कि महाराज सुहावादेवी के पुत्र को युवराज बनाना चाहते थे, अतः इस प्रस्ताव पर उन्होंने मन्त्रियों से विचार-विमर्श किया। मन्त्रियों ने इसका विरोध किया और कहा कि रखेली रानी द्वारा उत्पन्न पुत्र कन्नौज के पुनीत सिंहासन पर नहीं बैठ सकता विशेषतः जबकि महाराज की विवाहिता रानी से उत्पन्न औरस पुत्र (मेघचन्द्र) मौजूद था यद्यपि वह सुहावादेवी के पुत्र से आयु में कम था। महाराज ने इस सलाह को मान कर अपने प्रस्ताव को तर्क कर दिया था।

१५. यदि मोहम्मद गोरी और जयचन्द्र में मैत्री होती (जैसा कि कथित आरोप में निहित है) तो गोरी बाद में जयचन्द्र पर आक्रमण न करता

मोहम्मद गोरी के भारत पर अन्ततः तीन आक्रमण हुए। प्रथम सन् ११९१ में हुआ जिसमें वह पृथ्वीराज द्वारा पराजित हुआ और युद्धभूमि में कत्ल हो जाता यदि उसका एक स्वामिभक्त सैनिक अपनी जान खतरे में डाल कर उसको घायल अवस्था में रण के दौरान से निकाल न ले जाता। इस हार से गोरी इतना शर्मिन्दा हुआ कि उसने दूसरी बार विजयी होने की दृढ़ प्रतिज्ञा की और स्वस्थ होने के बाद दूसरे साल, सन् ११९२-९३ में पृथ्वीराज पर फिर आक्रमण किया और विजय प्राप्त करके अपने सिपहसालार कुतुबुद्दीन को विजित क्षेत्र का अपने प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल (गवर्नर) नियुक्त किया। फिर एक साल बाद, सन् ११९४ में, कुतुबुद्दीन तथा मोहम्मद गोरी ने मिलकर जयचन्द्र

पर आक्रमण किया जिसमें जयचन्द्र वीरगति को प्राप्त हुआ और सुल्तान का कन्नौज राज्य पर कब्जा हो गया।

मोहम्मद गोरी का जयचन्द्र पर आक्रमण करने के तथ्य से यह नतीजा निकलता है कि जयचन्द्र के प्रति गोरी की कोई सद्‌भावना न थी। अस्तु, यदि यह बात सत्य थी कि जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को आमंत्रित किया था तो यह दोनों शासकों के बीच मैत्री अथवा सद्‌भावना का प्रतीक थी। इस संदर्भ में जयचन्द्र पर गोरी का आक्रमण इस सद्‌भावना के विपरीत ठहरता है। तो फिर न तो दोनों में मैत्री थी या सद्‌भावना थी और न ही पूर्व परिचय और यदि ऐसा न था तो किस हैसियत से जयचन्द्र ने गोरी को आमंत्रित किया? यह सर्वमान्य है कि एक शासक दूसरे शासक को किसी अन्य शक्ति पर आक्रमण करने के लिए तभी प्रोत्साहित करता है जब प्रथम कहे दोनों शासकों में मैत्री अथवा सद्‌भावना अथवा पूर्व परिचय हो और प्रोत्साहित करने वाला शासक दूसरे शासक को सैनिक और अन्य सहायता करने को तैयार हो।

उक्त विनिमय से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि जयचन्द्र द्वारा गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित करने की बात अमान्य है।

१६. पृथ्वीराज के शौर्य के समर्थन ही में कुछ लेखकों ने निमंत्रण की कथा की कल्पना की

भारतीय इतिहास में महाराज पृथ्वीराज की वीरता प्रसिद्ध है। पृथ्वीराज-रासो के अनुसार—

सोमेश्वर महावाहो, तस्यापूर्व तपो गुणम्।
तेन पुण्य जगज्जेता गर्भान्तिरे पृथुराडयम्॥[1]

(अर्थात्, महाबली सोमेश्वर की पूर्व जन्म की तपस्या के फलस्वरूप पृथ्वीराज का जन्म अत्यन्त पुण्य समय में हुआ जो जगत विजयी था)। तरायन के प्रथम युद्ध में महाराज ने गोरी को पूर्णरूपेण पद्‌दलित करके अपने पराक्रम का परिचय दिया। दूसरे युद्ध में उनकी पराजय अवश्य हुई किन्तु उससे उनकी वीरता की ख्याति में विशेष अन्तर नहीं आया जैसे कि सन् १५२७ में बाबर द्वारा खानवा की लड़ाई में पराजित होने पर भी मेवाड़ के पराक्रमी राना सांगा की शौर्य कीर्ति में न्यूनता नहीं आई। इसी प्रकार यद्यपि सन् १५७६ में हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप अकबर की सेना द्वारा पराजित हुए किन्तु उनका शौर्य आज भी भारतीय इतिहास में उच्चतम स्थान पर है। इसी प्रकार योरुप में महापराक्रमी नेपोलियन भी अन्ततः अंग्रेजों द्वारा पराजित होकर बन्दी हुआ

१, रासो, आदि कथा, ५१।

तथापि संसार के महान शूरवीरों में उसकी गणना होती है। फिर भी कुछ लेखकों ने पृथ्वीराज की पराजय के लिए किसी अन्य को दोषी ठहराने की बात सोची और इसके लिए उन्हें संयोगिता की कथा के आधार पर जयचन्द्र को दोषी बताने का अवसर मिला। अतः यह कहा जाने लगा कि निजी द्वेष के कारण जयचन्द्र ने पृथ्वीराज को सैनिक सहायता नहीं दी जिससे उनको हार हुई और मुसलमानों का भारत पर अधिकार प्रारम्भ हुआ। तदनन्तर इसी बात को आगे बढ़ा कर कुछ अन्य लेखकों ने कथित निमंत्रण की बात आविष्कार की। इस प्रकार जयचन्द्र का नाम बदनाम हुआ, ऐसा समझ पड़ता है।

इस सम्बन्ध में भारत के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री मोरार जी देसाई का निम्न वाक्य स्मरणीय है जिसे उन्होंने १२ सितम्बर, १९७७ में जनता संसदीय पार्टी को सम्बोधित अपने वक्तव्य में कहा था—

"Irresponsible criticism had been the bane of this country for centuries, and it was in eirdence even today to some extent...."

भावार्थ—अनियंत्रित आक्षेप करने की भावना सदियों तक इस देश का दुर्भाग्य रहा है और यह रवैया कुछ हद तक आज भी दृष्टिगोचर हो रही है।

१७. आरोप सम्बन्धी बातों का निष्कर्ष

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह तथ्य निकलते हैं—

(१) यह कि महाराज जयचन्द्र ने मोहम्मद गोरी को महाराज पृथ्वीराज पर सन् ११९२ में दूसरा आक्रमण करने के लिए आमंत्रित नहीं किया।

(२) यह कि मोहम्मद गोरी ने उक्त आक्रमण स्वतः विवेक से किया था न कि किसी के कहने से। सन् ११९१ के पहले आक्रमण में वह पृथ्वीराज द्वारा पूर्णतया पराजित हुआ था तथा मरते-मरते बचा था। अतः वह अपने ऊपर इस कालिख के टीके को मिटाने के लिए प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील था और उसके लिए उसने दूसरे आक्रमण की तैयारी स्वदेश पहुँचते ही प्रारम्भ कर दी थी।

(३) यह कि कथित आरोप चन्दबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो के इस कथन पर ही आधारित है कि संयोगिता का अपहरण करने के कारण पृथ्वीराज और जयचन्द्र में वैमनस्य बढ़ गया था। चन्दबरदाई पृथ्वीराज का दरबारी कवि था और उसने अपने स्वामी के यश-वर्धन हेतु कतिपय काल्पनिक बातें लिखी हैं जिनमें संयोगिता के उपहरण की भी कथा है।

(४) यह कि कतिपय इतिहासकारों ने चन्दबरदाई के उक्त वैमनस्य के कथन को सत्य मान कर निमंत्रण की बात की कल्पना की तथा अन्य सम्बन्धित

बातों को नजरन्दाज कर दिया। फिर भी कतिपय प्रख्यात इतिहासकारों ने आरोप को अप्रमाणित माना है किन्तु उनका मत उतना प्रकाश में नहीं आया जितना कि आरोप समर्थकों का मत। इसी कारण आम जनता में जयचन्द्र के विरुद्ध कथित भावना फैल गई।

जैसा कि पूर्व के एक अध्याय में दर्शाया गया है कि किसी असत्य बात को बारम्बार दुहराने से वह सत्य प्रतीत होने लगती है और आम तौर पर लोग बिना अपने स्वविवेक को प्रयोग में लाए उस पर विश्वास कर लेते हैं। यही बात प्रश्नगत आरोप के सम्बन्ध में लागू होती है। एक बार किसी लेखक ने गलत फहमी से इसके बारे में लिख दिया तो बाद के लेखकों को उसका अनुसरण करने में हिचकिचाहट नहीं हुई। यह महाराज जयचन्द्र का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। अस्तु।

अन्त में यह कहना है कि सम्प्रति अध्याय को पढ़ने के बाद प्रबुद्ध पाठकों के मन से यह भावना (यदि वह पहले रही हो) निकल जाएगी कि जयचन्द्र ने पृथ्वीराज पर दूसरा आक्रमण करने के लिए मोहम्मद गोरी को आमंत्रित किया अथवा उसे किसी अन्य प्रकार से प्रोत्साहन दिया। उसने दोनों आक्रमण अपनी स्वेच्छा से किये थे न कि किसी के कहने अथवा सलाह से।

भाग ५

आधुनिक काल तथा भारत महिमा एवं उपसंहार

(अध्याय २३ से २६ तक)

अध्याय–२३

यवन-काल में कन्नौज तथा आस-पास का भूभाग

सारपत्रक

१. दिल्ली के मुसलमान राजवंशों का क्रम ।

२. गुलाम-वंश के समय में कन्नौज प्रदेश ।

३. तुगलकों के राज्य काल में ।

४. जौनपुर के शर्की वंश का आंशिक आधिपत्य ।

५. हुमायूँ, शेरशाह तथा अकबर के राज्यकालों से सम्बन्धित ।

६. फर्रुखाबाद के बंगेश नवाब मोहम्मद खाँ के समय में ।

७. कन्नौज के सामन्त चन्दरराय की पुत्री तथा गढ़मंडल की रानी दुर्गावती की शौर्य गाथा ।

१. दिल्ली के मुसलमान राजवंशों का क्रम

मोहम्मद गोरी द्वारा भारत में मुसलमानी शासन स्थापित होने के बाद राजसत्ता निम्न घरानों के अधिकार में रही—

(१) गोरी वंश (११९४-१२०६ ई०);

(२) गुलाम वंश (१२०६-१२८८ ई०);

(३) खिलजी वंश (१२९०-१३२१ ई०);

(४) तुगलक वंश (१३२१-१४१४ ई०);

(५) लोदी वंश (१४१४-१५२६ ई०);

(६) मुगल वंश, पहला दौर (१५२६-१५४० ई०);

(७) सूर वंश (१५४०-१५५५ ई०);

(८) मुगल वंश, दूसरा (अन्तिम) दौर (१५५५-१८५७ ई०) ।

इस प्रकार दिल्ली का तख्त लगभग ६६० साल मुसलमानों के अधिकार में रहा यद्यपि मुगल वंश के अन्तिम ५० सालों में उनका अधिकार घटता ही गया और सन् १८५७ के अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम के समय मुगलवंश के अन्तिम सदस्य बहादुरशाह की अमलदारी केवल दिल्ली के लाल किले के अन्दर ही सीमित रही ।

इस दीर्घ काल में केवल कुछ ही ऐसी घटनाएँ हुईं जिनका कन्नौज इलाके

से सम्बन्ध कहा जा सकता है। उन्हीं का सूक्ष्म विवरण इस अध्याय में दिया जा रहा है।

२. गुलाम वंश के समय में कन्नौज

मोहम्मद गोरी द्वारा सन् ११९४ में विजित होने से लेकर सन् १२०६ तक कन्नौज प्रदेश गजनी साम्राज्य के अन्तर्गत रहा क्योंकि कुतुबुद्दीन मोहम्मद गोरी का केवल प्रतिनिधि ही था न कि स्वतंत्र शासक। वस्तुतः मोहम्मद गोरी की मृत्यु (१२०६ ई०) तक उसने अपने को गोरी का सेनानायक ही कहा यद्यपि भारत में राजसत्ता उसी के हाथ में थी। गोरी के कोई पुत्र न था अतः उसकी मृत्यु के बाद कुतुबुद्दीन दिल्ली का स्वतंत्र शासक हो गया।

गुक्कुरों द्वारा मोहम्मद गोरी के बध के बाद उसका भतीजा, सुलतान महमूद गजनी साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ और उसी समय उसने कुतुबुद्दीन के पास स्वतन्त्र सत्ता के सभी चिह्न भेजे, यानी, राजतख्त, क्षत्र, झण्डे, ढोल और साथ ही उसे 'बादशाह' संज्ञा से अलंकृत किया। उसका अभिप्राय कुतुबुद्दीन को अपना मित्र बनाने का था क्योंकि वह जानता था कि यदि कुतुबुद्दीन ने उसके उत्तराधिकार को मान्यता न दी[1] तो वह कुतुबुद्दीन का सामना न कर सकेगा। कुतुबुद्दीन ने यह सब अलंकार लाहौर में विनम्रता पूर्वक ग्रहण किए और वहीं स्वतन्त्र शासक के रूप में तख्त पर बैठा। फिर २-४ दिन बाद दिल्ली लौट आया। इस प्रकार कुतुबुद्दीन वैधानिक ढंग से ही दिल्ली का गद्दीधर हुआ। क्योंकि पहले वह गुलाम था अतः वह और उसके उत्तराधिकारी गुलाम वंशीय कहे जाते हैं। इस वंश का राज्यकाल सन् १२०६ से १२८८ तक रहा इसमें १० शासक हुए जिनमें इलतुतमिश (अल्तमश), रजिया बेगम और बलबन के नाम उल्लेखनीय हैं।

कन्नौज प्रदेश का क्षेत्र बराबर इस वंश के साम्राज्य का अंग रहा। प्रारम्भ में लगभग सन् १२२६ तक जयचन्द्र का पुत्र हरिश्चन्द्र सामन्त के रूप में इस भूभाग पर प्रतिष्ठित रहा जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। मोहम्मद गोरी द्वारा ही हरिश्चन्द्र को मान्यता दी गई थी और स्वामिभक्त कुतुबुद्दीन ने उस मान्यता का आदर किया और हरिश्चन्द्र के साथ उसका सद्व्यवहार रहा। यह कुतुबुद्दीन के स्वभाव के अनुरूप ही था क्योंकि इतिहास में वह अपनी दानवीरता तथा हार्दिक विशालता के लिए प्रसिद्ध है। इसी कारण उसे 'लाखबवंश' (लाखों का देने वाला) भी कहा जाता था यदि किसी व्यक्ति की दानवीरता की प्रशंसा करनी होती थी तब यह कहा जाता था कि 'वह कुतुबुद्दीन के समान दानदाता

१ उत्तराधिकार पाने के लिए अन्य दावेदार भी थे।

है।[1] सन् १२१० में पोलो खेल खेलते समय घोड़े से गिर कर उसकी मृत्यु हो गई।

जयचन्द्र के शरीरपात के बाद मुसलमानों ने कन्नौज नगर पर कब्जा नहीं किया जैसा कि राजा हरिश्चन्द्र के प्रकरण में लिखा जा चुका है। स्मिथ महोदय के अनुसार उस समय कन्नौज एक महत्वहीन स्थान समझा जाता था जिससे कि मुस्लिम सत्ता को कोई भय न था। यह स्थिति सन् १२२६ तक रही जब इस वंश के तीसरे सुलतान इलतुतमिश ने अपने राज्यकाल में (१२११-१२३६ ई०) सन् १२२६ के लगभग कन्नौज को फतह करके उसे अपने सीधे अधिकार में ले लिया।[1] इससे यह अनुमान होता है कि उसके पहले कन्नौज यवन साम्राज्य के अन्तर्गत (या पूर्णतया अन्तर्गत) न था। विजय के उपरान्त इलतुतमिश ने कन्नौज पर एक सूबेदार नियुक्त किया (जिसके अधीन सैनिक भी थे) और हिन्दुओं के दमन की नीति अपनाई। फिर भी समय-समय पर हिन्दुओं द्वारा विद्रोह होता रहा और इल्तुतमिश के बाद के शासकों ने भी दमनचक्र जारी रखा। बलबन, अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक, आदि क्रूर शासकों ने इस प्रान्त पर बर्बरता बरती और जनता को शस्त्रहीन कर दिया। कर-भार भी असह्य था और सहस्रों निरीह प्राणियों का वध किया गया। पूरे प्रान्त में अफगान सैनिक नियुक्त किए गए, अतः यहाँ अफगानों का प्रभुत्व हो गया।

३. तुगलकों के राज्य काल में

दिल्ली सम्राट मोहम्मद तुगलक (१३२५-१३५१ ई०) कुछ समय के लिए अपना दरबार दिल्ली से फर्रुखाबाद जिले के सरगद्वारी (स्वर्ग का फाटक) नामक क़स्बे में ले गया था। यह स्थान कन्नौज से लगभग ५०-६० मील पश्चिम की ओर गंगातट पर स्थित था। कदाचित् उसने कन्नौज में भी डेरा डाला था क्योंकि उस समय भी वह प्रसिद्ध नगर था। इस बदलाव का कारण सन् १३३४-४१ का सप्तवर्षीय अकाल था। वह इतना भयंकर था कि दिल्ली में एक सेर अन्न १६ जीतलों[2] में बिकने लगा था जब कि सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६) के समय में अनाज का भाव औसतन लगभग ६ जीतल प्रति मन निर्धारित था। चारों ओर हाहाकार था अतः प्रजा की रक्षा के विचार से सुल्तान मोहम्मद तुगलक उस स्थान पर आ गया था। वहाँ उसने अवध के जिलों से पर्याप्त अनाज और चारा मँगवाया और जनता में बँटवाया। अकाल

---

१. Smith, Early History of India, p. 404. f n. Also J. & Proc. A.S.B., 1911, pp. 761, 765, 769.

२. जीतल का मूल्य उस समय की दुवन्नी (दो आना) के लगभग था।

की भीषणता कम करने के लिए उसने कुएँ खुदवाए और तकावी भी बँटवाई। फिर भी इन कार्यों से विशेष लाभ न हुआ क्योंकि सरकारी कर्मचारियों ने गल्ला और तकावी का धन आपस में बाँट लिया और इस प्रकार प्रजा का कष्ट जारी रहा तथा सहस्रों स्त्री-पुरुष भूखों मर गए।[1]

फिरोज तुगलक (१३५१-१३८८ ई०) की मृत्यु (१३८८ ई०) पर राज्य के दावेदारों में संघर्ष चलता रहा और अन्ततः महमूद तुगलक सल्तनत का उत्तराधिकारी हुआ। उसके राज्यकाल में सन् १३९८ में भारत पर तैमूर लंग ने आक्रमण किया और दिल्ली शहर के बाहर महमूद को हराकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। नगर लूटा गया और कत्लेआम हुआ। उसके बाद वह स्वदेश लौट गया। इस आक्रमण से साम्राज्य में अराजकता फैल गई और प्रान्तीय सूबेदार स्वाधीन होने लगे। कुछ समय इधर-उधर भटकने के बाद सुलतान महमूद दिल्ली लौट आया जो अब उजाड़ हालत में थी। कारणवश वह सन् १४०१ से १४०५ तक कन्नौज में रहा जहाँ उसको आदर सत्कार दिया गया। वस्तुतः इन चार वर्षों में कन्नौज ही तुगलक साम्राज्य की राजधानी रहा। दिल्ली लौटने पर उसे षड्यंत्रकारियों का सामना करना पड़ा और महत्वाकांक्षी अमीर-उमराओं के अध्यक्ष दौलत खाँ लोदी ने उसका विरोध किया। सन् १४१३ में मृत्यु होने तक उसका शेष जीवन अमीरों के प्रभुत्व ही में बीता। उसके साथ ही तुगलक वंश का अन्त हुआ और लोदी वंश प्रकाश में आया।

तुगलक वंश की अवनति के बाद दिल्ली साम्राज्य का क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया जिसका मुख्य कारण यह था कि दोआब (कन्नौज प्रदेश आदि) का अधिकतर भाग राजपूतों एवं अफगान सरदारों के अधीन बना रहा और उन्होंने दिल्ली की प्रभुता को नहीं माना।

४. जौनपुर के शर्की वंश का कन्नौज इलाके पर आंशिक आधिपत्य

सन् १३९४ में तुगलक साम्राज्य के जौनपुर सूबे के सूबेदार मलिक सरवर ख्वाजाजहाँ ने बगावत करके एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की जिसकी राजधानी जौनपुर थी। शर्की शासकों ने लगभग ८० वर्ष तक दिल्ली के सुलतानों का तीव्र विरोध किया और कन्नौज तथा अन्य सीमान्त जिलों पर उनका प्रभुत्व नहीं माना। कन्नौज प्रदेश का कुछ भूभाग भी उनके राज्य के अन्तर्गत चला गया। पन्द्रहवीं सदी के पहले ८० वर्षों में दिल्ली और जौनपुर के शासकों के

---

१. डॉ० ईश्वरी प्रसाद, भारतवर्ष का इतिहास (१९५७), पृ० २१५।

बीच युद्ध होते रहे। कन्नौज प्रदेश दोनों संघर्षकारियों की सीमाओं के मध्य स्थित था इसलिए उसे उनके आक्रमण तथा प्रत्याक्रमण सहने पड़े। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सन् १४०१ से १४०५ तक महमूद शाह तुगलक कन्नौज में रहा था किन्तु जैसे ही वह दिल्ली वापस गया वैसे ही शर्कियों ने नगर पर कब्जा कर लिया।

इसी प्रकार कन्नौज प्रदेश में बराबर अशान्ति बनी रही। अन्ततः सन् १४७८-७९ में दिल्ली सुलतान बहलोल लोदी ने शर्की शासन नष्ट कर सम्बन्धित क्षेत्र को दिल्ली सल्तनत के अधीन कर लिया।

५. हुमायूँ, शेरशाह सूरी और अकबर से सम्बन्धित

सन् १५२६ में बाबर ने पानीपत के युद्धक्षेत्र में सुल्तान इब्राहीम लोदी को पराजित करके दिल्ली के सिंहासन पर कब्जा कर लिया। बाद में बाबर और उसके उत्तराधिकारी हुमायूँ को कन्नौज प्रदेश पर अधिकार करने के लिए अफगानों से युद्ध करने पड़े क्योंकि उन्होंने इस प्रदेश को अपना गढ़ बना रखा था। अतः कन्नौज, इटावा, कालपी, जौनपुर आदि में तथा गंगाघाटी में उन्होंने अपना प्रतिरोध जारी रखा और भीषण युद्धों के बाद ही आत्म समर्पण किया।

सन् १५३० में बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूँ तख्तनशीन हुआ। तदनन्तर बिहार के अफगान सरदार शेरशाह सूरी ने कन्नौज के निकट हुमायूँ को पराजित करके दिल्ली साम्राज्य पर अधिकार कर लिया जिसके फलस्वरूप कन्नौज का इलाका भी उसके अधीन हो गया। हुमायूँ ने भाग कर सिन्ध में शरण ली और फिर बाद में वह ईरान पहुँचा जहाँ उसका स्वागत किया गया और उसे शरण मिली।

मोहम्मद गोरी की सन् ११९४ की कन्नौज-राज्य विजय के उपरान्त कन्नौज नगर की प्रतिष्ठा लोपप्राय हो गई थी। जो कुछ भी उसकी मान-मर्यादा बच रही थी वह अब शेरशाह सूरी ने समाप्त कर दी। उसने कन्नौज नगर को ध्वस्त कर दिया और पास ही में शेरसूर नामक एक नया नगर बसाया—हुमायूँ पर विजय प्राप्ति के उपलक्ष में। इसका उल्लेख १५८० ई० में अकबर के समय के लेखक अब्बास ने किया है। उसका कहना है कि शेरशाह द्वारा कन्नौज नगर के नष्ट किए जाने का कोई सन्तोषजनक कारण वह न जान पाया और यह भी यह काण्ड बहुत निन्दाजनक माना गया था।[1]

शेरशाह का उत्तराधिकारी सिकन्दरशाह सूरि शक्तिहीन शासक था अतः

१. Smith, *Early History of India*, p, 39.

सन् १५५५ में हुमायूँ ने भारत के बाहर की सेना के साथ उस पर आक्रमण करके सूरि सत्ता का अन्त कर दिया और अपने पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया। तथापि मुगल साम्राज्य की पुनर्स्थापना सन् १५५६ के बाद ही हुई जब अकबर ने पानीपत के मैदान में हिन्दू संगठन के नेता हेमू को परास्त किया। अब कन्नौज प्रदेश मुगल साम्राज्य का अन्तरंग भाग बन गया। अकबर के शासनकाल (१५५६-१६०५ ई०) में वह आगरा सूबा के अधीन एक 'सरकार' था जिसमें ३० 'महाल' सम्मिलित थे। मुगल शासनकाल में १८वीं सदी तक यहाँ शान्तिमय वातावरण रहा।

अकबर द्वारा प्रस्थापित समन्वय की नीति से देश में तथा कन्नौज भूभाग में उत्कर्ष का युग रहा जिसमें कन्नौज क्षेत्र का महत्वपूर्ण योगदान रहा। अकबर के दो विख्यात मंत्री राजा टोडरमल और राजा बीरबल इसी क्षेत्र के थे।

६. फर्रुखाबाद के बंगेश नवाब मोहम्मद खाँ के समय में

कन्नौज से कुछ दूर उत्तर-पश्चिम दिशा में स्थित कायमगंज कस्बे के निकट एक गाँव में अफगान वंशीय मोहम्मद खाँ का जन्म हुआ था (१६६५ ई०) जिसने इस भूभाग के इतिहास को बनाने में महत्वपूर्ण कार्य किया। मुगल साम्राज्य के प्रति उसकी आस्था थी अतः वह स्थानीय मुगल सूबेदारों की सैनिक सहायता भी करता रहा। लगभग २८ साल की उम्र तक वह काफी प्रभावशाली हो गया और कन्नौज के भूभाग का अमलदार बन गया। फिर भी सन् १७१२ के पूर्व उसे किसी बड़े काम में अपनी विशिष्ट योग्यता का परिचय देने का अवसर न मिला था। उसी वर्ष बहादुरशाह प्रथम की मृत्यु पर फरुखसियर का जहाँदार शाह से दिल्ली के तख्त के लिए युद्ध हुआ। उस समय फरुखसियर फतेहपुर जिले के खजुहा कस्बे में था जहाँ से उसने मोहम्मद खाँ को सैनिक सहायता के लिए सन्देश भेजा। मोहम्मद खाँ १२,००० सैनिकों के साथ फरुखसियर के साथ हो लिया और जनवरी १७१३ में दोनों प्रतिद्वन्दियों में आगरा के निकट युद्ध हुआ जिसमें मोहम्मद खाँ ने बड़ी वीरता का परिचय दिया। जहाँदारशाह पराजित हुआ और फरुखसियर दिल्ली की गद्दी का स्वामी हुआ।

मुहम्मद खाँ की सेवाओं से अनुगृहीत होकर फरुखसियर ने उसे नवाब की पदवी से अलंकृत किया और पुरस्कार के रूप में बुन्देलखण्ड तथा कन्नौज प्रदेश की जागीर दी। इस प्रकार सम्मानित तथा पुरस्कृत होने के बाद मोहम्मद खाँ अपने इलाके में लौट आया और अपने नाम से मुहम्मदाबाद तथा अपने बड़े लड़के कायम खाँ के नाम से कायमगंज नगर बसाने में लग गया। सम्राट को जब यह समाचार मिला कि उसी की दी हुई जागीर में मोहम्मद खाँ अपने ही

नाम की नींव डाल रहा है तब वह बहुत अप्रसन्न हुआ। अतः अपने स्वामी को संतुष्ट करने के लिए उसने फर्रुखसियर के नाम से फर्रुखाबाद नगर बसाने की घोषणा की। जब नवाब नगर बसाने में व्यस्त था तभी उसके श्वसुर कासिम खाँ बंगेश की बमतेला लुटेरों ने फर्रुखाबाद से तीन मील की दूरी पर स्थित एक गाँव में हत्या कर दी। क्रुद्ध होकर नवाब ने आस-पास के दो बमतेला गाँवों की भूमि लेकर अपनी पूर्व घोषणा के अनुसार १७१४ ई० में फर्रुखाबाद की नींव डाल कर उसे बसाया तथा कायमगंज को भी बसाया। इस प्रकार इस क्षेत्र में फर्रुखाबाद का महत्व बढ़ गया। परिणाम स्वरूप कन्नौज का नाम पीछे पड़ गया और उसके स्थान पर फर्रुखाबाद स्थानीय शासन केन्द्र बन गया।

उत्तराधिकार के युद्ध के अतिरिक्त मोहम्मद खाँ ने दिल्ली सम्राट की अन्य अवसरों पर भी सैनिक रूप में बहुत सेवा की। उसे इलाहाबाद का और बाद में मालवा का भी सूबेदार नियुक्त किया गया। सन् १७४३ में ७८ वर्ष की आयु में अपनी मृत्यु के समय उसके शासन के अन्तर्गत वर्तमान फर्रुखाबाद जिला और मैनपुरी, एटा, कानपुर, अलीगढ़, इटावा, बदायूँ और शाहजहाँपुर जिलों के भाग थे।

बाद में मोहम्मद खाँ के पुत्र कायम खाँ को अवध के नवाब सफदरजंग ने रुहेलखंड के रुहेलों से युद्ध के लिए प्रेषित किया जिसमें सन् १७४९ में बदायूँ के युद्ध में वह मारा गया। तभी फर्रुखाबाद का इलाका अवध की अमलदारी में मिला लिया गया किन्तु दूसरे ही साल मोहम्मद खाँ के दूसरे पुत्र अहमद खाँ ने अवध के सूबेदार राजा नवलराय को परास्त कर फर्रुखाबाद को पुनः प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् इस भूभाग की राजनीति अस्थिर हो गई और फलतः फर्रुखाबाद भी अस्थाई रूप से विभिन्न नवाबों और राजाओं के हाथ में रहा। अवध के नवाब, रुहेला सरदारों और बंगेश नवाब के पारस्परिक युद्धों में मुगल सम्राट, मराठे और अंग्रेज भी सम्मिलित हुए थे। इस संघर्ष के दौरान कन्नौज भी अनेक बार हस्तान्तरित हुआ—कभी नवाब अवध के अधीन, कभी मराठों के, कभी बंगेशों के। मराठों का अधिकार सन् १७७३ में समाप्त हो गया जबकि अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने संघर्ष करके उनसे यह इलाका पुनः प्राप्त कर लिया। सन् १८०१ में अवध के प्रभुत्व से हट कर यह अंग्रेजों के अन्तर्गत आया और फर्रुखाबाद का नवाब अवध के बजाए अंग्रेजों को खिराज देने लगा। अंग्रेजों ने फर्रुखाबाद में अपना एक रेजीडेन्ट भी रख दिया। अन्ततः समस्त प्रदेश ईस्ट इण्डिया कम्पनी (कम्पनी सरकार) के अधिकार में चला गया।

७. कन्नौज के सामन्त चन्दरराय की पुत्री तथा गढ़मंडल की रानी दुर्गावती की शौर्य गाथा[1]

गढ़मण्डल का युद्ध सम्राट अकबर के शासनकाल (१५५६–१६०५ ई०) की एक प्रसिद्ध घटना है। इस युद्ध में रानी दुर्गावती ने अपूर्व साहस, पराक्रम तथा कर्तव्यनिष्ठा का परिचय दिया था। जिस समय अकबर की यश-पताका हिमालय से बंगाल की खाड़ी तक फहरा रही थी उस समय जबलपुर के पास एक छोटे से राज्य गढ़मण्डल (गोंडवाना) में रानी दुर्गावती के शौर्य की ख्याति हो रही थी। बड़े-बड़े प्रतापी राजा जिस बल-विक्रम को सह न पा रहे थे उसी की अवहेलना वीर रानी दुर्गावती ने निडर होकर की।

रानी दुर्गावती कन्नौज राज्य के सामन्त राजा चन्दरराय की पुत्री थी।[2] जब वह विवाह के योग्य हुई तब पिता ने राजपूताना के राजकुमारों में से योग्य वर की खोज का प्रयत्न किया। किन्तु यह आवश्यक न था क्योंकि दुर्गावती गढ़मंडल के स्वामी दलपति शाह की वीरता पर मुग्ध थी। चन्दरराय को दलपति शाह से सम्बन्ध करना अमान्य था। दलपति शाह भी दुर्गावती पर आसक्त थे अतः उसने बाहुबल से इस राजकुमारी को प्राप्त करना चाहा। चन्दरराय और दलपति शाह में संग्राम हुआ जिसके फलस्वरूप दुर्गावती दलपति शाह को प्राप्त हुई।

गढ़मण्डल में पहुँच कर दुर्गावती व दलपति शाह का विधिपूर्वक विवाह हुआ। कुछ काल के बाद उनके वीर नारायण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिस समय वीर नारायण केवल तीन वर्ष का था राजा दलपति स्वर्गवासी हो गए। अब रानी दुर्गावती राजकाज स्वयं देखने लगीं। वह जानती थी कि किसी न किसी दिन मुगल सम्राट की दृष्टि उसके छोटे राज्य पर अवश्य पड़ेगी इसलिए वह अपनी सेना को सुसज्जित रखती थी।

दुर्गावती की योग्यता, उसकी तत्परता तथा प्रजावत्सलता अकबर के कानों तक पहुँची। उसके अधिकारियों ने उसे गढ़मण्डल को अपने अधीन कर लेने की सलाह दी, किन्तु उदार हृदय अकबर ने ऐसा करना अनुचित समझा। बार-बार अधिकारियों के परामर्श से अकबर ने आसफ खाँ नामक सरदार को गढ़मण्डल पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी।

---

१. यह प्रकरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के "रानी दुर्गावती" शीर्षक प्रबन्ध पर आधारित है।

२. राजा चन्दरराय स्वतन्त्र शासक न थे, केवल भूमिपति थे। "राजा" उनका खिताब था।

रानी दुर्गावती जानती थी कि विशाल मुगल सेना के सामने उसकी सेना ठहर न सकेगी तथापि उसने आत्म समर्पण करने की अपेक्षा रणक्षेत्र में प्राण देना ही उचित समझा। रानी के इस संकल्प को जान कर उसकी प्रजा भी अपनी स्वाधीनता के रक्षार्थ दृढ़ प्रतिज्ञ हो गई। शीघ्र ही ८,००० अश्वारोही उपस्थित हो गए और रानी दुर्गावती भी घोड़े पर सवार होकर सेना सहित संग्राम भूमि में उतरी।

उधर आसफ खाँ को विश्वास था कि भयभीत होकर रानी आत्म समर्पण कर देगी। ऐसा सोचकर उसने केवल ५,००० अश्वारोही लेकर आक्रमण किया था। रणक्षेत्र में रानी के सैनिक उत्साहित होकर शत्रुओं का संहार करने लगे। विपक्षी भाग निकले और स्वयं आसफ खाँ बड़ी कठिनाई से अपने को बचाने में समर्थ हुआ।

आसफ खाँ के पलायन का समाचार सुनकर अकबर बहुत लज्जित हुआ। उसने डेढ़ वर्ष के अनन्तर विपुल सैन्य के साथ आसफ खाँ को फिर गढ़मण्डल पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस बार भी रानी की सेना ने पूर्ववत् बल-विक्रम का प्रदर्शन किया और शत्रुसेना पराजित हुई। आसफ खाँ को दूसरी हार से अत्यधिक लज्जा हुई। उसने इस रूप में अकबर को मुँह दिखाना उचित न समझा। अब उसने कूटनीति का सहारा लिया और गढ़मण्डल में विश्वास घातक बीज बोया। रानी के सैनिकों में फूट पड़ गई। अब उसने जान लिया कि युद्ध में विजय की कोई आशा नहीं है। फिर भी वह आसफ खाँ से युद्ध करने में विरत न हुई। इस बार आसफ खाँ की सेना अपरिमित थी। बड़ा लोमहर्षक युद्ध हुआ। इस समय रानी ने देखा कि उसका चौदह वर्षीय पुत्र वीर नारायण घायल होकर गिर पड़ा है। रानी विचलित न हुई। उसकी सेना के कई सैनिकों ने घायल वीर नारायण को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया; फिर रानी से प्रार्थना की कि वह पुत्र के अन्तिम दर्शन कर ले। रानी ने उत्तर दिया, 'यह समय पुत्र से मिलने का नहीं है। मुझे गर्व है कि मेरे पुत्र ने युद्ध में वीरगति पाई है। मैं उससे देवलोक में मिलूँगी।'

अन्त में रानी ने देखा कि अब बैरियों द्वारा पकड़े जाने की सम्भावना है तब उसने गढ़मण्डल की ओर देखकर अपनी तलवार से अपना सिर अलग कर दिया। रानी के मृतक शरीर को उसके सैनिकों ने सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया जहाँ उसके पुत्र के साथ उसकी अन्तिम क्रिया हुई।

इस प्रकार रानी दुर्गावती ने अपने पुत्र के तथा अपने प्राणों की बलि दे दी परन्तु देश के सम्मान और स्वाभिमान पर आँच न आने दी।

सुहृदय अकबर को इस विषय से सन्तोष के बजाय क्षोभ ही हुआ। अतः कुछ समय बाद उसने इस इलाके को वहीं के एक राजा को देकर अपने मन की ग्लानि को मिटाया।

यह है भारत की वीरांगनाओं के आदर्श का एक उदाहरण। रानी दुर्गावती ऐसी वीर रानी का स्मरण करके देशवासियों का उत्साहवर्धन होता है।

अध्याय-२४

ब्रिटिश काल में कन्नौज का क्षेत्र

(१७५७- ९४७ ई०)

सार-पत्रक

१. अंग्रेजी राज्य की स्थापना का सिंहावलोकन ।

२. सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में फर्रुखाबाद भूभाग का योगदान ।

३. सन् १८५७ के बाद के राष्ट्रीय आन्दोलनों में फर्रुखाबाद भूभाग का सक्रिय प्रयत्न ।

नोट—ब्रिटिश शासन के पूर्वार्ध युग में, अर्थात् प्रारम्भ के लगभग १०० वर्षों में, कन्नौज के भूभाग में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई । तदनन्तर सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में फर्रुखाबाद जिले में (जिसमें कन्नौज नगर भी शामिल है) अंग्रेजों के विरुद्ध प्रबल संघर्ष हुआ और लगभग सात महीनों तक इस जनपद में अंग्रेजी हुकूमत विलीन हो गई । अन्ततः पूरे देश में स्वतन्त्रता संग्राम विफल हुआ और अंग्रेजी सत्ता फिर कायम हो गई । तत्पश्चात् अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध देश में जो राष्ट्रीय आन्दोलन हुए उनमें भी इस इलाके ने सक्रिय योगदान किया । फरुखाबाद और कन्नौज में स्वतंत्रता संग्राम तथा आन्दोलनों का विवरण देने के पहले देश में अंग्रेजी राज्य की स्थापना का सूक्ष्म सिंहावलोकन नीचे दिया जा रहा है ।

१. अंग्रेजी राज्य की स्थापना का सिंहावलोकन

ईस्ट इण्डिया कम्पनी (पूर्व भारत कम्पनी) (१६१२-१८५८)—अभी तक भारत पर उत्तरी स्थल दिशा से आक्रमण होते रहे थे । अब देश के धन और समृद्धि की कथाएँ योरुप में भी पहुँची । अतः वहाँ के विभिन्न देशों ने भी भारत से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए । प्रथमतम पुर्तगाल के वास्कोडिगामा ने सन् १४९८ में सूरत में पदार्पण किया । बाद में डच, डेन, फ्रान्सीसी और अंग्रेज लोगों का भी शनैः शनैः आगमन हुआ और उन्होंने भारतभूमि पर अपने-अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किए । इन सभी विदेशियों में सर्गनागीरी के धेय से आपसी द्वन्द चलते रहे । अन्ततः अंग्रेजों को छोड़ कर सभी राष्ट्रों के पाँव भारत

भूमि से उखड़ गए। अंग्रेजों को फ्रान्सीसियों से तीव्र मुकाबला करना पड़ा किन्तु सन् १७६० में वान्डीवाश के युद्ध में अंग्रेजों द्वारा पराजित होकर फ्रान्सीसियों को भी देश छोड़ना पड़ा।

अब धीरे-धीरे अंग्रेजों ने व्यापारिक शक्ति के अतिरिक्त राजनीतिक शक्ति भी प्राप्त करना आरम्भ किया। इस प्रकार बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को सन् १७५७ में पलासी के युद्ध में पराजित कर क्लाइव ने भारत में अंग्रेजी शासन की नींव डाली।

अंग्रेज लोग ईस्ट इण्डिया कम्पनी (पूर्व भारत कम्पनी) के अन्तर्गत भारत में आये थे। यह कम्पनी सन् १६०० में विलायत में इस उद्देश्य से बनी थी कि भारत में अंग्रेजी व्यापार चालू हो। सम्राट जहाँगीर की अनुमति से इस कम्पनी ने सन् १६१२ में सूरत बंदरगाह के समीप अपना कारखाना स्थापित किया तथा बाद में कलकत्ता वगैरह में भी। अपने अन्तर्गत आये हुए इलाकों पर कम्पनी द्वारा ही शासन होता रहा, ब्रिटिश सरकार का उसमें सीधा हाथ न था।

पलासी के युद्ध के २० वर्ष के अन्दर ही कम्पनी ने अपना राज्य दोआब में कानपुर तक फैला लिया। फिर सन् १८१८ में मराठा शक्ति का अन्त हो गया जबकि अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव द्वितीय को पराजित करके उसके राज्य को कम्पनी के अन्तर्गत कर लिया। कुछ समय तक अंग्रेजों का द्वन्द्व हैदरअली और बाद में उसके उत्तराधिकारी टीपू सुलतान से चलता रहा। आखीर में सन् १७९९ में अंग्रेजों ने टीपू सुलतान को श्रीरंगापट्टम के युद्ध में पराजित करके लगभग पूरे दक्षिण भारत पर भी अपना आधिपत्य कर लिया। सन् १८४९ तक अंग्रेजों ने सिखों पर भी काबू पा लिया और सन् १८५२ में दक्षिणी बर्मा भी उनकी अधीनता में आ गया।

इस प्रकार देश के अधिकतम भूखण्ड पर कब्जा करने के साथ-साथ अंग्रेजों ने भारतीय रियासतों के शासकों के साथ सन्धियाँ करके उनके ऊपर भी अपना राजनीतिक आधिपत्य कर लिया। कुछ भागों में कम्पनी का शासन जनप्रिय था किन्तु अनेक बातों में प्रजा उससे असन्तुष्ट थी और इसी कारण समय-समय पर छोटे तौर पर सैनिक विद्रोह तथा असैनिक संघर्ष होते रहे।

प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, १८५७, तथा कम्पनी के शासन का अन्त—ऊपरलिखित अप्रियता कम्पनी के गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौजी के प्रशासन से बहुत बढ़ गई क्योंकि उसने कई भारतीय रियासतों को किसी न किसी कारण कम्पनी के राज्य में शामिल कर लिया। इनमें से अवध, झाँसी

सितारा के नाम उल्लेखनीय हैं। डलहौजी के बाद सन् १८५६ में लार्ड कैनिंग ने गवर्नर जनरल का पद सम्हाला और अपनी सुधारक नीतियों से जनता में शासन के प्रति सद्भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया। जब तक यह प्रयास कुछ सफल हो कि सन् १८५७ का विद्रोह प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में उठ खड़ा हुआ। यद्यपि कम्पनी ने इस विद्रोह का दमन कर लिया तथापि ब्रिटिश संसद ने कम्पनी के शासन को समाप्त करने का निश्चय करके शासन को ब्रिटिश ताज के नाम से सीधे अपने हाथ में सन् १८५८ में ले लिया।

सन् १८५७ के बाद के स्वाधीनता प्रयास तथा आन्दोलन—यद्यपि सन् १८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम असफल रहा तथापि उसके कुछ वर्ष बाद ही राष्ट्रीयता की भावना फिर जाग्रत हुई और स्वराज्य प्राप्त करने हेतु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सन् १८८५ में स्थापना हुई। तदनन्तर अनेकों स्वदेश प्रेमी नेताओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन को जारी रखा, उदाहरणार्थ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचन्द्र पाल, दादाभाई नारोजी, लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय। इस कार्य में अवकाश-प्राप्त एक अंग्रेज अफसर का भी योगदान रहा। वह था ऐलेन आक्टेवियन ह्यूम कि जिसको राष्ट्रीय कांग्रेस स्थापित करने का श्रेय है। एक आइरिश महिला ऐनी बेसन्ट का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की गति को बहुत बढ़ावा दिया।

सन् १९०५ में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल के विभाजन ने राष्ट्रीय भावना को अति उत्तेजित किया जिसके फलस्वरूप स्वदेशी आन्दोलन शुरू हुआ यानी विलायती चीजों का बहिष्कार और उनके स्थान पर स्वदेशी वस्तुओं, वस्त्रों, आदि का उपयोग। हिंसक प्रवृत्तियाँ भी बढ़ीं। यद्यपि सन् १९११ में वंग विच्छेद रद्द कर दिया गया किन्तु इससे राष्ट्रीय भावना में कमी न हुई।

सन् १९१४ में प्रथम विश्व संग्राम शुरू हुआ जिसमें भारत ने इस आशा से पूर्ण योगदान दिया कि उसके अन्त में उसे स्वराज्य प्राप्त हो जाएगा। सन् १९१९ में संग्राम के समाप्त होने पर अंग्रेजों ने कुछ सत्ता और अधिकार भारतीयों को स्थानान्तरित किए किन्तु उनसे जनता सन्तुष्ट न हुई।

महात्मा गाँधी—इसी समय महात्मा गाँधी भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में आए। उसके पहले उन्होंने दक्षिण अफ्रिका में अपने राजनीतिक कार्यों से ख्याति प्राप्त की थी। सन् १९२० में उन्होंने अपना पहला अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया जो असहयोग आन्दोलन (non-cooperation movement) के नाम से जाना जाता है। उसके बाद महात्मा गाँधी ने इसी प्रकार के अन्य आन्दोलन चलाए। फलस्वरूप साइमन आयोग की सिफारिशों के आधार पर ब्रिटिश संसद ने भारत की सरकार विधेयक, १९३५, पारित किया जिसके अनुरूप प्रान्तों में

अर्धस्वतंत्र सरकारें सन् १९३७ में स्थापित हुई और लगभग सभी प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रियों ने शासन सम्हाला।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों को प्रान्तों में शासन करते दो वर्ष ही बीते थे कि सन् १९३९ में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया और ब्रिटिश सरकार ने भारत को भी उसमें अपने साथ शरीक कर लिया यद्यपि भारत इस युद्ध में शामिल होने के विरुद्ध था। फलतः कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया और महात्मा गाँधी ने असैनिक अनुज्ञा या सत्याग्रह आन्दोलन (Civil Disobedence Movement) और बाद में (सन् १९४२ में) भारत छोड़ो आन्दोलन (Quit India Movement) चलाए। उधर सैनिक स्तर पर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने बन्दीगृह से निकल जाकर दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय राष्ट्रीय फौज का अंग्रेजों के विरुद्ध संगठन किया।

तदनन्तर ब्रिटिश सरकार और भारतीय नेताओं में भारत के भविष्य सम्बन्धित वाद-विवाद चलते रहे। अन्ततः सन् १९४५ में विश्व युद्ध समाप्त हुआ और उसके बाद ब्रिटिश सरकार ने स्वराज्य देने की घोषणा की जिसे वाइसराय लार्ड माउन्टबैटन ने कार्यान्वित किया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति—इस प्रकार १५ अगस्त १९४७ को देश स्वतन्त्र हो गया और पं० जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री बने। साथ ही पाकिस्तान का भी गठन हुआ। तदनन्तर संविधान सभा द्वारा बनाया हुआ भारत का संविधान २६ जनवरी, १९५० से लागू हुआ जिसके अनुसार देश में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली का शुभारम्भ हुआ।

२. सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में फर्रुखाबाद क्षेत्र का योगदान

सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का बीजारोपण स्वामी विरजानन्द के नेतृत्व में इसी भूभाग से हुआ था और क्रान्ति के विस्फोट हो जाने पर यहाँ की जनता ने प्रशंसनीय भूमिका का निर्वाह किया। यद्यपि विद्रोह का प्रारम्भ मई सन् १८५७ में मेरठ छावनी में हुआ तथापि फर्रुखाबाद भूभाग में वर्ष के शुरू से ही गुप्त रूप से विद्रोह की चर्चा होने लगी थी जिसमें स्वामी जी का भी योग था। यह अफवाह फैलने लगी कि रुपयों के सिक्कों में कुछ अंश चमड़े की मिलावट का भी है और यह भी कि भारतीय सैनिकों के लिए प्रयुक्त आटे में हड्डियों का चूर्ण भी मिश्रित रहता है। क्रान्तिकारियों के नेताओं ने सैनिकों में विद्रोह की भावना को उत्तेजित करने के अभिप्राय से ही यह अफवाहें प्रसारित की थीं।

मई १४, १८५७ को फतेहगढ़ (फर्रुखाबाद की छावनी) में मेरठ विद्रोह की खबर पहुँची। अगले हफ्ते इसके अलीगढ़ तक फैलने की सूचना मिली। मई

२९ को यहाँ की १० वीं देशी रेजिमेन्ट में विद्रोह के लक्षण दिखाई दिए। तब कम्पनी ने फर्रुखाबाद के नवाब तफज्जुल हुसैन खाँ की पेंशन बन्द करने का हुक्म जारी किया। जून ३ को सीतापुर (अवध) के विद्रोहियों का एक दस्ता गंगा पार करके यहाँ पहुँचा और अगले दिन यहाँ भी विद्रोह प्रारम्भ हो गया। जिले के अंग्रेज अधिकारी एवं निवासी उसी दिन शाम को जिला छोड़ कर चले गए किन्तु थोड़े दिन बाद ही अनेक अधिकारी वापिस चले आए और १८ जून तक रहे। उसी दिन देशी सिपाहियों ने नवाब को अपना अगुआ करार दिया और तभी नवाब ने अपने को इस इलाके का शासक घोषित किया। तत्पश्चात् सीतापुर से ४१वीं देशी फौज फतेहगढ़ पहुँची और इसी बीच अंग्रेजों ने किले को मजबूत करना शुरू कर दिया। जून २५ को विद्रोहियों ने किले पर हमला किया और ४ जुलाई को अंग्रेजों को उसे खाली करना पड़ा। किले में बारूद बिछा कर अंग्रेज नावों में सवार होकर गंगा नदी से कानपुर की ओर भाग निकले। पहली नाव बिठूर पहुँची जिसमे सवार सभी अंग्रेजों को कानपुर के क्रान्तिकारियों ने मार डाला। दूसरी नाव को फतेहगढ़ किले से नीचे १० मील गंगा की धारा में रोक लिया गया और उसमें के तीन व्यक्तियों को छोड़कर सभी मार डाले गए।

अक्टूबर २३ तक नवाब तफज्जुल हुसैन फतेहगढ़ में हुकूमत करते रहे। उसी दिन कन्नौज के निकट नवाब की फौज को अंग्रेजों ने हरा दिया किन्तु अंग्रेज फौज आगे चली गई और नवाब और बरेली के बख्त खाँ फतेहगढ़ में शासन करते रहे। दूसरी जनवरी १८५८ को अंग्रेज फौज ने काली नदी पार की और अगले दिन उसने फतेहगढ़ पर कब्जा कर लिया। जनवरी १८ को ब्रिगेडियर होप ने शम्शाबाद में बदायूँ के विद्रोहियों को हरा दिया। उसके बाद अप्रैल के प्रारम्भ में ब्रिगेडियर सीरन ने विद्रोहियों के एक दूसरे दस्ते को पराजित किया। फिर मई में बुन्देलखण्ड के ३,००० विद्रोहियों का एक दस्ता जिले में पहुँचा और कायमगंज कस्बे को घेर लिया किन्तु शीघ्र ही वे अंग्रेजों से परास्त होकर अवध चले गए। नवाब तफज्जुल हुसैन भाग कर रुहेलखण्ड पहुँचे और इस प्रकार अपने प्राण बचाए।

जिले पर पुनः स्थापित होते ही अंग्रेजों द्वारा बदला लेने की कार्यवाही शुरू हुई और चारों ओर आतंक छा गया। नवाब तफज्जुल हुसैन की कोठी ध्वस्त कर दी गई। जनवरी के प्रारम्भ में अंग्रेज सैनिकों ने नगर की सड़कों में परेड करके लोगों को भयभीत कर दिया। बड़ी संख्या में क्रान्तिकारी पकड़े गए और बहुतों को बगैर किसी कार्यवाही के पेड़ों पर टाँग कर फाँसी दी गई। उनके

अतिरिक्त बहुत से अन्य क्रान्तिकारियों पर स्पेशल कमिश्नरों के सम्मुख दिखावटी मुकदमा चलाया गया और उनमें से बहुतों को फाँसी दी गई और बहुतों को कालापानी की सजा देकर अंडमान भेजा गया। नवाब तफज्जुल हुसैन के अनेक परिवारवालों और रिश्तेदारों को फाँसी दी गई।

नवाब तफज्जुल हुसैन का मृत्यु दण्ड कैसे माफ हुआ—फर्रुखाबाद के तत्कालीन नवाब ने सन् १८०२ में अपना इलाका अंग्रेजों को सौंप दिया था जिसके एवज में उसे तथा उसके आगे आने वाले वंशजों को १,०८,००० रु० की सालाना पेंशन मुकर्रर हुई। विद्रोह के समय नवाब तफज्जुल हुसैन यह पेंशन पाते थे। विद्रोह के सिलसिले में कम्पनी सरकार ने यह पेंशन जब्त कर ली थी। विद्रोह के दमन पश्चात् नवाब ने ७ जनवरी १८५९ को महारानी विक्टोरिया की घोषणा जारी होने पर आत्म समर्पण कर दिया क्योंकि अन्य बातों के अतिरिक्त उसमें यह भी कहा गया था कि उन क्रान्तिकारियों को जिन्होंने स्वयं अंग्रेजों की हत्या नहीं की है आत्म समर्पण करने पर माफ कर दिया जायगा। नवाब के खिलाफ एक विशेष अदालत के समक्ष मुकदमा चलाया गया। मुख्य रूप से दो आरोप लगाए गए—पहला विद्रोह और अंग्रेज सरकार के खिलाफ लड़ाई का और दूसरा काफी संख्या में अंग्रेजों, यूरेशियनों और अंग्रेजों के प्रति वफादार भारतीयों की हत्या कराने का। नवाब को अपराधी करार देकर मृत्युदण्ड दिया गया। यह भी निर्णय हुआ कि नवाब की सम्पत्ति जब्त कर ली जाए। निर्णण होने के पहले नवाब की ओर से कहा गया (जो सत्य भी था) कि आत्म समर्पण के पूर्व कमान्डर-इन-चीफ के विशेष कमिश्नर मेजर बैरो ने नवाब तफज्जुल हुसैन को चिट्ठी लिखी थी कि जिन लोगों ने स्वयं किसी अंग्रेज की हत्या नहीं की है उन्हें आम माफी में शामिल कर लिया गया है और यह भी कि यदि नवाब ने अंग्रेजों की प्रजा की हत्या खुद नहीं की है तो उन्हें बेहिचक आत्म समर्पण कर देना चाहिए। जब मामला अंग्रेज सरकार के सम्मुख आया तब सरकार ने मेजर बैरो के इस कार्य की निन्दा की और साथ ही नवाब की मौत की सजा इस शर्त पर स्थगित कर दी कि वह तुरन्त ब्रिटिश सीमा के बाहर चले जाएँ अन्यथा उन्हें फाँसी दे दी जाएगी। अतः नवाब तफज्जुल हुसैन भारत छोड़कर मक्का शरीफ चले गए जहाँ सन् १८८२ में उनका इन्तकाल हुआ।

इस प्रकार नवम्बर १८५९ के प्रारम्भ तक दमन नीति चलती रही और लगभग सभी क्रान्तिकारियों का अन्त हुआ। तदनन्तर १५ नवम्बर १८५९ को वाइसराय लार्ड कैनिंग ने फतेहगढ़ में एक दरबार किया जिसमें उनकी प्रतिष्ठा में

तोपों की सलामी दी गई। उसी उद्घोष में स्वतन्त्रता का नारा कई दशकों के लिए विलीन हो गया।

३. सन् १८५७ के बाद राष्ट्रीय आन्दोलनों में फर्रुखाबाद क्षेत्र का सक्रिय प्रयत्न

यद्यपि प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में भारतीय जनता को सफलता न मिली और प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार किए गए फिर भी स्वदेश प्रेम की भावना कुण्ठित न हुई। अतः कुछ दशकों के बाद इस क्षेत्र के साधुओं, संन्यासियों तथा अन्य देश प्रेमियों ने गुप्त रीति से जनता में फिर जाग्रति पैदा की। इसी समय सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति को सफल करने के उद्देश्य से महर्षि दयानन्द भी यहाँ आए और जनता को प्रभावित किया। विद्यार्थियों ने देश-प्रेम का प्रसार किया और अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध संघर्ष की भावना को उत्तेजित किया। स्वाधीनता के पुजारियों ने गुप्त रूप से कन्नौज में रह कर क्रान्तिकारी संगठन स्थापित किया।

मैनपुरी षड्यंत्र के क्रान्तिकारियों का केन्द्र फर्रुखाबाद में—इस जनपद में सन् १९२० से अंग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन में तीव्रता आई। इसके पूर्व प्रथम विश्व युद्ध में यहाँ के अनेक युवकों ने अपने शौर्य का परिचय दिया था। युद्ध की समाप्ति के बाद देश की स्वाधीनता के लिए जो आन्दोलन महात्मा गाँधी ने चलाया था उसे दबाने के लिए सरकार ने दमन नीति का सहारा लिया जिसके कारण यहाँ की जनता में भी बढ़ा असन्तोष फैल गया। ऐसी स्थिति में यहाँ के रेजीमेन्ट के सैनिकों एवं जनता के मध्य सम्पर्क स्थापित हो गया और सेना के सहयोग को लेकर अंग्रेजों को समूल नष्ट करने की योजना बनाई गई जो 'मैनपुरी षड्यंत्र' के नाम से जानी जाती है।

सन् १९१९ में सरकार ने दो दमनकारी कानून बनाए जो रौलट ऐक्ट के नाम से कहलाए क्योंकि वे रौलट कमेटी की सिफारिशों पर बनाए गए थे। इसके द्वारा भारतीय समाचार पत्रों पर कठोर नियन्त्रण लगाए गए, फौजदारी कानून सख्त किया गया और बिना मुकदमे के नजरबन्दी का प्राविधान किया गया। इस कानून का देश भर में विरोध हुआ, हड़तालें तथा दंगे भी हुए। उसी क्रम में फर्रुखाबाद इलाके में एक ऐतिहासिक हड़ताल हुई।

सन् १९२७ में ब्रिटिश सरकार द्वारा साइमन कमीशन की नियुक्ति इस उद्देश्य से की गई कि वह प्रशासनिक सुधारों के लिए तथा भारतीयों को अधिक राज्याधिकार देने के लिए अपनी रिपोर्ट तैयार करे। इस आयोग में कोई भारतीय नेता सदस्य के रूप में सम्मिलित नहीं किया गया था अतः देश भर में

इसका बहिष्कार किया गया और हड़तालें हुईं। परिणाम स्वरूप राजनैतिक चेतना उभर कर सामने आई और इस क्षेत्र के शिक्षा संस्थाओं के छात्रों ने अनेक विरोध दिवस बड़े धूमधाम से मनाए। इसकी प्रेरणा कन्नौज में आकर पं० बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' ने दी।

सूक्ष्म में फरुखाबाद जनपद, इलाहाबाद मण्डल में अहिंसा, खादी, हिन्दू-मुस्लिम ऐकता, हरिजन-सेवा एवं विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के लिए अग्रणी बना। तदनन्तर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा सन् १९३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में इस भूभाग ने सक्रिय रूप से भाग लिया। मार्च १९३० में फर्रुखाबाद में नमक कानून तोड़ने के आरोप में ६०० व्यक्ति गिरफ्तार किए गए थे।

सन् १९३६-३७ के चुनावों में फर्रुखाबाद से भी कांग्रेसी प्रत्याशियों की विजय हुई। नेताजी सुभाष बोस भी अपने नए दल, 'फारवर्ड ब्लाक', के गठन के सम्बन्ध में यहाँ पहुँचे थे। इसके पूर्व प्रदेशीय कांग्रेस कमेटी का एक अधिवेशन गणेश शंकर विद्यार्थी के सभापतित्व में यहाँ हो चुका था जिसमें २२ सितम्बर को महात्मा गांधी और आचार्य कृपालानी भी आए थे।

सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन से सम्बन्धित 'करो या मरो' अभियान में क्रान्तिकारियों ने एक बार फिर से फर्रुखाबाद को केन्द्र बनाया। रेलवे स्टेशन, डाकघर तथा अन्य सरकारी कार्यालयों पर हमले हुए और रेल की पटरियाँ उखाड़ दी गईं। तिरवा कस्बे में जनता ने एक थानेदार का रिवाल्वर तक छीन लिया। सरकार ने आन्दोलन का दमन बर्बरता से किया और बड़ी संख्या में लोगों को बन्दी किया जो सन् १९४५ में आशातीत स्वाधीनता के परिपेक्ष में मुक्त हुए।

उसके बाद फिर किसी नए संघर्ष की आवश्यकता नहीं पड़ी और स्वाधीनता की पूर्व संध्या में राजनीतिक वातावरण की लहर उमड़ पड़ी यद्यपि इस काल में भारत-विभाजन के प्रश्न पर देश के प्रमुख सम्प्रदाओं द्वारा भीषण मारकाट हुई।

अन्ततः स्वतन्त्रता प्राप्ति होने पर फर्रुखाबाद-कन्नौज क्षेत्र में भी १५ अगस्त १९४७ को प्रथम स्वतन्त्रता दिवस बड़े उल्लास से मनाया गया।

अध्याय–२५

स्वतंत्रता के बाद का कन्नौज

सारपत्रक

१. संविधान सम्बन्धित सूक्ष्म कथन।
२. पुरातत्व संग्रहालय, कन्नौज।
३. एक दो अन्य बातें।

१. संविधान सम्बन्धित सूक्ष्म कथन

द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने पर ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १९४७[1], पारित करके देश को स्वतन्त्रता का दर्जा दिया। फलतः १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया जैसा पहले कहा जा चुका है। महात्मा गाँधी ने भारत सरकार में कोई भी पद लेने से इन्कार कर दिया। पण्डित जवाहरलाल नेहरू स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री बने।

उसी समय पूर्वी बंगाल (अब बंगला देश) और पश्चिमी भारत में पश्चिमी पंजाब, सिन्ध तथा अन्य समीपवर्ती क्षेत्र भारत भूमि से पृथक होकर पाकिस्तान के रूप में एक नए देश में गठित हो गए।

सन् १९४७ में प्राप्त हुई उपलब्धि स्वतन्त्रता तो थी किन्तु वह पूर्ण स्वराज्य नहीं थी। वह उपनिवेशिक प्रणाली की स्वराज्य थी यानी भारत को उपनिवेश का दर्जा दिया गया था।[2] उसके अनुसार भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक स्वतंत्र उपनिवेश[3] बना था जैसे कि कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड। इस प्रकार भारत का ब्रिटिश ताज से सम्बन्ध कायम रखा गया था।

उक्त प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान सभा गठित हुई इस उद्देश्य से कि वह भारत में स्वतन्त्र प्रशासन हेतु एक स्वतः पूर्ण संविधान बनाए। लगभग दो साल के विचार-विमर्श के बाद भारत का संविधान बना जो २६ जनवरी, १९५०, से लागू हो गया। उसके द्वारा भारत को सर्वसम्पन्न गणतंत्र राज्य[4] का दर्जा दिया गया। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति

१. Indian Independence Act, 1947.
२. Dominion Status.
३. Dominion.
४. Sovereign Democratic Republic.

हुए और पं० जवाहरलाल नेहरू प्रधान मन्त्री। इस प्रकार महात्मा गाँधी का राजनैतिक ध्येय पूरा हुआ। उनको राष्ट्रपिता का विरुद दिया जाना पूर्णतया उपयुक्त है।

संविधान लागू हो जाने के बाद की घटनाएँ अभी "इतिहास" शब्द के मूल दायरे के अन्तर्गत नहीं आतीं। साथ ही कन्नौज के इतिहास को समझने के लिए उनकी जानकारी वांछित भी नहीं है तथापि स्वतंत्रता के बाद की दो-एक बातें कन्नौज के इतिहास से सम्बन्धित हैं जिनका सूक्ष्म विवरण इस अध्याय में दिया जा रहा है।

सन् १९४७ में देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद कन्नौज नगर की स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। उत्तर प्रदेश में वह तृतीय श्रेणी के नगरों में परिगणित है और अपने नाम की तहसील का मुख्यालय है। मुन्सिफ़ की इजलास भी यहाँ है। तहसील का कार्यालय तथा मुंसफी न्यायालय नगर से लगभग तीन किलोमीटर की दूरी पर सरायमीरां (या मीरासरांय) नामक मौजे में स्थित हैं जो ग्रान्ड ट्रंक रोड पर बसा हुआ है। पूर्वोत्तर रेलवे का कन्नौज स्टेशन भी इसी स्थान पर है।

इस प्रकार कन्नौज नगर का ऐतिहासिक महत्व अब केवल एक स्वप्नमात्र रह गया है। इस स्वप्न की कुछ यादगारें कन्नौज के पुरातत्व संग्रहालय में संजोई हुई हैं जो कुछ वर्ष पूर्व स्थापित हुआ था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नगर के आसपास के कुछ स्थलों की खुदाई की जाने पर उक्त सामग्री समाप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त नगर के कुछ उदार महानुभावों ने भी अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएँ भेंट की। यह सब उक्त संग्रहालय में सुरक्षित है जिसका वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

२. पुरातत्व संग्रहालय, कन्नौज

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की कन्नौज नगर के लिए सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि पुरातत्व संग्रहालय की स्थापना है। इसका श्रेय उत्तर प्रदेश के सामयिक राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी (अब स्वर्गीय) को है। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल का पद सम्हालने के बाद साहित्य एवं इतिहास मर्मज्ञ श्री मुन्शी का ध्यान इस प्राचीन काल के विख्यात नगर की ओर आकृष्ट हुआ और उनके सुझाव पर "कन्नौज विकास संघ" का जन्म हुआ। तदनन्तर श्री मुन्शी महोदय के प्रयत्न से उत्तर प्रदेश पुरातत्व विभाग तथा भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के तत्वावधान में कन्नौज में उत्खनन का कार्य इस ध्येय से प्रारम्भ हुआ कि इससे नगर के प्राचीन गौरव का दिग्दर्शन होगा। स्वयं महामहिम मुन्शी महोदय

कन्नौज आए और अक्टूबर १९५५ में उस टीले पर कि जिसके नीचे महाराज जयचन्द्र का किला दबा है फावड़ा चलाकर उत्खनन कार्य का शुभारम्भ किया। उत्खनन के फलस्वरूप कतिपय सामग्री प्राप्त हुई जिससे कि नगर की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ा। वैज्ञानिक जाँच के बाद कन्नौज का इतिहास कम-से-कम ईसा पूर्व १००० वर्ष तक पहुँच गया।

प्रारम्भिक उत्खनन में केवल लगभग ६० महत्वपूर्ण पुरातात्विक वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं किन्तु बाद में कन्नौज विकास संघ तथा संग्रहालय प्रबन्ध समिति के अनुरोध से देशभक्त नागरिकों ने अपने निजी संग्रहालयों से पुरातात्विक सामग्री संघ को अर्पित करके अपनी उदारता का परिचय दिया। इन सब बहुमूल्य वस्तुओं को संग्रहालय का रूप देने के लिए पी० एस० एम० डिग्री कालेज के पूर्व स्थापना भवन में दो बड़े-बड़े कमरे प्राप्त हुए जहाँ उक्त वस्तुएँ प्रदर्शित हैं।

संग्रहालय का प्रबन्ध करने तथा उसे विकसित करने के लिए रजिस्ट्रीशुदा एक प्रबन्ध समिति है जिसके पदेन अध्यक्ष फर्रुखाबाद के जिलाधीश हैं। निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ तथा निदेशक, पुरातत्व विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ, उसके पदेन सदस्य हैं।

संग्रहालय का औपचारिक उद्घाटन सितम्बर १९७५ में सामयिक राज्यपाल डॉ० चेन्ना रेड्डी द्वारा हुआ। इसकी उपयोगिता उन्हीं महानुभाव के निम्न शब्दों से दर्शित होती है जो उन्होंने दर्शक-पुस्तिका में लिखे थे :—

> "मैं इस संग्रहालय को देखकर प्रसन्न हुआ। यह दुर्लभ तथा आकर्षक सामग्री का संग्रह है जिसमें कन्नौज की कला और कन्नौज की गरिमा अंकित है। यह कुछ उत्साही व्यक्तियों का प्रशंसनीय प्रयास है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह कालान्तर में एक बड़े संग्रहालय का रूप ग्रहण करेगा।...."

अभी तक संग्रहालय का अपना निजी भवन नहीं है किन्तु नगर के प्रबुद्ध सज्जन तथा उत्साही नवयुवक इस कमी को पूरा करने में संलग्न हैं।

अभी हाल में (१९७८ मे) पुरातत्व संग्रहालय कन्नौज ने "कन्नौज : पुरातत्व और कला" शीर्षक एक अनुपम ग्रन्थ प्रकाशित किया है। इसकी उपयोगिता डॉ० कृष्णदत्त वाजपेयी, विजिटिंग प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, ने निम्न वाक्यों में की है :—

"इसमें कान्यकुब्ज के इतिहास के साथ यहाँ प्राप्त प्रायः सभी उल्लेखनीय कलाकृतियों का सचित्र विवरण दिया गया है। ललित कलाओं के क्षेत्र में कन्नौज ने जो अप्रतिम स्थान प्राप्त किया था उसका दिग्दर्शन इस प्रकाशन में मिलेगा।

अभी तक कन्नौज के पुरातत्व पर विस्तृत प्रमाणिक ग्रन्थ प्राप्त न था। इसकी कमी प्रस्तुत पुस्तक से दूर हुई है।....''

उक्त ग्रन्थ में १२९ चित्रों की सपरिचय चित्रावली है। यह चित्र मूर्तियों, अस्थि-उपकरणों, हाथी दाँत निर्मित वस्तुओं, मृतिका पात्रों, सिक्कों, मन्दिरों, मसजिदों, मकबरों आदि के हैं। अनेक वस्तुओं का पर्याप्त विवरण भी दिया गया है।

३. एक-दो अन्य बातें

प्राचीन काल में कन्नौज नगर तथा उसके इर्द-गिर्द के क्षेत्र में अनेक धुरन्धर विद्वान, कवि, प्रशासक आदि हुए हैं जिनमें से अधिक प्रख्यात व्यक्तियों का विवरण सम्बन्धित पूर्व अध्यायों में दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त उनका विशेष विवरण एकजाई तौर पर आगे की परिशिष्टियों में दिया जाएगा। यहाँ पर केवल स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के समय के एक-दो महान व्यक्तियों का उल्लेख किया जा रहा है।

प्रथम नाम महापुरुष डॉ० जाकिर हुसैन का है जिन्होंने अपने अन्तिम वर्षों में भारत के राष्ट्रपति के पद को सुशोभित किया। वह कन्नौज और फर्रुखाबाद के मध्य में स्थित कायमगंज कस्बे के रहने वाले थे जहाँ उनका पैतृक निवास स्थान था। वहीं उनका जन्म भी हुआ और बाल्यकाल भी बीता। वह अरबी और फारसी के धुरन्धर विद्वान थे तथा शिक्षा के क्षेत्र में उनका अपूर्व योगदान रहा। वह अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे। राष्ट्रपति होने के पहले वे उपराष्ट्रपति पद पर भी रहे थे। उनकी सौजन्यता अप्रतिमेय थी। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी उनका विशेष आदर करते थे।

दूसरा नाम परमविदुषी महिमा श्रीमती महादेवी वर्मा का है जो आधुनिक युग की उत्कृष्ट कवित्री मानी जाती हैं। छायावादी कविता के क्षेत्र में इनकी विशेष ख्याति है। इस क्षेत्र को इनकी जन्म-भूमि होने का गौरव प्राप्त है क्योंकि इनका जन्म खास फर्रुखाबाद जनपद में हुआ था।

इस क्षेत्र का महत्व इस तथ्य से भी दर्शित होता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यहाँ देश के मूर्धन्य नेता समय-समय पर ऐतिहासिक यात्राओं पर आते रहे, उदाहरणार्थ राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती (अब प्रधान मन्त्री) इन्दिरा गाँधी, भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन्, भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री। गणमान्य नेता डॉ० राममनोहर लोहिया यहीं से दो बार लोकसभा के लिये चुने गए थे।

अध्याय-२६

कन्नौज राज्य के संदर्भ में भारत का गौरव तथा मौलिक एकता; उपसंहार

सारपत्रक

१. भौगोलिक विवरण ।
२. भारत का गौरव ।
३. भारत की मूल एकता ।
४. उपसंहार ।

१. भौगोलिक विवरण

भौगोलिक स्थिति का महत्व—प्रत्येक देश की भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु उसके इतिहास को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में भूमि और मनुष्य दोनों ही देश के इतिहास के मूल आधार हैं। देश के पहाड़, मैदान, नदियाँ, रेगिस्तान, जंगल तथा जलवायु मनुष्य के स्वभाव, रहन-सहन तथा अन्य सामाजिक बातों को प्रभावित करते हैं। साथ ही देश की समृद्धि अथवा गुरुत्व के कारण भी वे ही हैं। भारत की समृद्धि इन्हीं भौगोलिक तथ्यों का फल है और यही समृद्धि अतीत से उसके ऊपर बाहरी आक्रमणों का कारण रही है। सूक्ष्म में भारत का इतिहास उसकी भौगोलिक स्थिति तथा आर्थिक सम्पन्नता पर निर्भर रहा है न कि केवल उसके सैनिकों की वीरता तथा राजनीतिक सिद्धान्तों पर।

भारत के प्राकृतिक भाग—आम तौर पर भारत तीन प्राकृतिक भागों में विभाजित किया जाता है, यथा—

(१) हिमालय का प्रदेश, अर्थात् हिमालय पर्वत तथा उसके आस-पास बसे हुए स्थल। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी नगर (नैनीताल, अल्मोड़ा, मंसूरी आदि) इसके अन्तर्गत आते हैं।

(२) दूसरे भाग के अन्तर्गत मध्य देश आता है जिसे निम्नस्थ प्रदेश की संज्ञा भी दी जाती है। यह भूभाग उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत के मध्य में स्थित है। प्राचीन काल में यह ऋषि-मुनियों एवं रामायण तथा महाभारत के सत्पुरुषों, योद्धाओं आदि का निवास स्थान था। कान्यकुब्ज प्रदेश भी इसके अन्तर्गत था और अनेकों पवित्र तीर्थ भी। यह विस्तृत मैदान सिन्धु, गंगा,

यमुना, ब्रह्मपुत्र नदियों से सिंचित था। पंजाब से चल कर आर्य लोग यहाँ आकर बसे। बादह् सभी विजेतागणों ने अपने राज्य इसी क्षेत्र में स्थापित किए। इस भूभाग को उत्तर भारत अथवा उत्तरापथ भी कहते हैं।

(३) दक्षिण का भूभाग तीसरे विभाजन में आता है। इसे दक्षिण भारत अथवा दक्षिणापथ भी कहते हैं। इसके तीन ओर पहाड़ हैं—उत्तर में विन्ध्य तथा सतपुरा, पूर्व में पूर्वी घाट और पश्चिम में पश्चिमी घाट। दक्षिणापथ का इतिहास भारत के इतिहास से सम्बद्ध होते हुए भी अपना विशेष स्थान रखता है। यहाँ द्रविड़ सभ्यता प्रचलित है जो भारतीय सभ्यता का ही अंग है।

हिमालय की ख्याति—भारतीय साहित्य, धर्म तथा कथानकों में हिमालय को विशेष महत्व दिया गया है। वह देवताओं का निवास स्थान माना गया है। ऋषियों की पुण्यभूमि भी यहीं है और यहाँ अनेक तीर्थ स्थान भी हैं। इस पर्वत का अत्यन्त रुचिकर वर्णन महाकवि कालिदास कृत कुमार-सम्भव में निम्न प्रकार आता है :—

अस्तुत् तरस्यां दिशि देवतात्मा,
हिमालयो नाम नगाधि राजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य,
स्थितः पृथिव्यां इव मानदन्डः ।।

अर्थात्, हिमालय नाम का पर्वतों का राजा देवताओं की दिशा (उत्तर दिशा) में है। उसके पूर्व और पश्चिम में समुद्र हैं और वह पृथ्वी पर इस प्रकार स्थित है मानो कि वह पृथ्वी को तौलने के लिए तराजू रूप है।

सीमाएँ—भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत की श्रेणी है जो लगभग १५०० मील तक फैली हुई है। माउन्ट एवरेस्ट इसकी सबसे ऊँची चोटी है जो समुद्रतल से २९,००० फुट ऊँची है। पूर्व की ओर वह भूभाग है जिसमें बहती हुई ब्रह्मपुत्र नदी नीचे आकर गंगा में मिलती है, उसके बाद बर्मा देश है। दक्षिण तथा पश्चिम में बंगाल की खाड़ी, हिन्द महासागर तथा अरब सागर देश को घेरे हुए हैं।

भारत का व्यापार, सुरक्षा तथा जलवायु देश की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर रहे हैं। इसके पूर्व में मलाया, इन्डोनेशिया, आदि घने बसे हुए देश हैं तथा पश्चिम में अफगानिस्तान, ईरान, अरब आदि देश हैं।

क्षेत्रफल, जनसंख्या—भारत का क्षेत्रफल लगभग १२,७०,००० वर्गमील है। सन् १९४७ के विभाजन के अनुसार पाकिस्तान एक अलग स्वतंत्र देश के रूप में भारत से पृथक हो गया।

२. भारत का गौरव

अखिल भारत की महिमा—इस सम्बन्ध में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी का निम्न पद जो लक्ष्मण जी को सम्बोधित था दृष्टव्य है :—

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

अर्थात्, हे लक्ष्मण ! यद्यपि यह लंका सोने की है तथापि यह मुझे रोचक नहीं जान पड़ती; माता और जन्मभूमि स्वर्ग से भी उच्च है।

यह उस अवसर की बात है जब कि श्री राम द्वारा वधित होकर लंकेश रावण सद्‌गति को प्राप्त हुआ था। उस समय विभीषण ने श्री राम से प्रार्थना की कि अयोध्या के लिए प्रस्थान करने के पहले आप इस सोने की लंका को देख लें क्योंकि इसकी सुन्दरता अपूर्व है और जिसके लिए यह जगत विख्यात है। लक्ष्मण इस नगरी को देखने के उत्सुक थे, अतः उन्होंने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। तभी श्री राम ने लक्ष्मण के प्रति यह शब्द कहे थे।

श्री राम का यह कथन मातृभूमि की अतुलनीय प्रशस्ति के रूप में है जो सर्वविदित है। अपनी जन्म-भूमि भारत की महिमा के लिए इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है, फिर भी विषय पूर्ण करने के उद्देश्य से निम्न पद नीचे दिए जा रहे हैं :—

(१)

गायन्ति देवाः किलगीतकानि,
धन्यास्तुते भारत भूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्ग[1] भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
=विष्णुपुराण, २।३।२४.

भावार्थ—हे भारत भूमि, तू धन्य है, ऐसे सुन्दर गीत देवता गाते हैं। स्वर्ग और मोक्ष पदों के मार्ग में जाते हुए यहाँ अवतारी पुरुष बार-बार होते हैं।

(२)

तपस्विनां यत्र तपो वनानि
रम्याण्यने कानि च काननानि।
दिव्यौषधिर् जीवनदोऽपि वायुः
स राजते भारतवर्ष देशः॥

---

१. किसी-किसी ग्रन्थ में 'मार्ग' शब्द के स्थान पर 'हेतु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

भावार्थ—तपस्वियों के जहाँ तपोवन हैं, जहाँ अनेकों रम्य वन हैं जिनमें दिव्य औषधियाँ पाई जाती हैं और जिनकी वायु जीवनदायी है, ऐसा यह भारतवर्ष देश शोभायमान है।

(३)

धन्योऽयं भारती देशो धन्येयं सुरभारती ।
तदुपास कावयं धन्या अहोधन्य परम्परा ॥

भावार्थ—सरस्वती देवी का (विद्वानों का) यह देश धन्य है; भारत की यह देवभाषा (संस्कृत) धन्य है; उसकी उपासना करने वाले हम लोग धन्य हैं; अहो, यह परम्परा धन्य है।

ब्रिटिश प्रधान मंत्री लाड पामर्सटन ने भारत की प्राचीनता तथा सभ्यता के विषय में फरवरी १२, १८५८, को ब्रिटिश संसद (House of Commans) में अपने विचार व्यक्त किए थे जब कि उन्होंने उस विधेयक को पेश किया था कि जिसके द्वारा ब्रिटिश भारत के शासन को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से ब्रिटिश सरकार को सौंपा जाना था। उनके वाक्य यह थे :—

"It is perhaps one of the most extraordinary facts in the history of mankind that these British Islands should have acquired such an extensive dominion in a remote part of the globe as that which we exercise over the continent of India. It is indeed remarkable that those regions in which science and art may be said to have first dawned upon mankind should now be subject to the rule of a people inhabiting islands which, at a time when these eastern regions enjoyed as high a civilization and as great a prosperity as that age could offer, were in a state of uttar barbarism."[1]

भावार्थ—मानव के इतिहास में यह एक अत्यन्त असाधारण तथ्य है कि इन ब्रिटिश टापुओं ने भारत के सुदूर महाद्वीप पर इतनी बड़ी सत्ता प्राप्त कर ली कि जितनी हम लोग इस समय वहाँ प्रयोग कर रहे हैं। पृथ्वी पर विज्ञान और कला का सर्वप्रथम उद्भव उसी इलाके में हुआ था और कालान्तर में वहाँ के निवासियों

---

१. Vicount Palmerston (House of Commons, 12-2-1858), speaking in the House of Commons while introducing the Bill for the transfer, from the East India Company to the Crown of the government of British India.

ने उच्च कोटि की सभ्यता तथा अतुल समृद्धि प्राप्त कर ली थी उस समय जब कि हमारे पूर्वजों की स्थिति बर्बरता की पराकाष्ठा पर थी। वस्तुतः यह एक अनोखी बात है कि वही लोग अब हमारे शासन के अधीन हैं।

३ भारत की मूल एकयता

बहुत समय तक पहले यह धारणा थी कि भारत केवल एक भौगोलिक नाम है जिसमें बसने वाले अपनी परम्पराओं, भाषाओं, धर्मों और नीतियों में एक दूसरे से पृथक हैं और यह कि उनमें राष्ट्रीयता की कोई भावना नहीं है। यह धारणा अब अमाननीय हो गई है। विशिष्ट इतिहासकार डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक The Fundamental Unity of India[1] में प्रमाण सहित यह दर्शाया है कि वस्तुतः भारत में अतीत काल से मूल एकयता रही है और साथ ही राष्ट्रीय भावना भी। डॉ० मुकर्जी द्वारा वर्णित कुछ तत्व निम्न प्रकार हैं :—

सांस्कृतिक एवं सामाजिक एकयता—निम्न श्लोक इस एकयता का प्रमाण है :—

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन सन्निधिं कुरु॥

अर्थात्, ये गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी आइए तथा मेरे इस पूजन करने वाले जल में प्रवेश कीजिए।

उक्त श्लोक में नामांकित सातों नदियाँ भारत भूमि के विभिन्न भागों में बहती हैं यानी पूर्ण देश का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह श्लोक प्रतिदिन लाखों हिन्दुओं द्वारा स्नान और पूजा के समय उच्चारित होता है जिसके द्वारा वह जल को पवित्र करते हैं और मन में स्वदेश की भावना को जाग्रत करते हैं। संकुचित स्तर के बजाय वे एक उच्च और विशाल स्तर का अनुभव करते हैं जो भारत भूमि के रूप में प्रदर्शित होती है। राष्ट्रीयता की भावना इससे अधिक क्या हो सकती है।

यही आशय निम्न श्लोक में भी ध्वनित होता है :—

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्ष दायिकाः॥

इस श्लोक में भारत के सात मुख्य स्थान गिनाए गए हैं जो पुण्य भूमि हैं और जो देश के लगभग पूर्ण क्षेत्र को समाहित कर लेते हैं। प्रत्येक धर्मात्मा हिन्दू के लिए यह वांछनीय है कि इन स्थानों के दर्शन करे जिनके नाम यह हैं :—

---

१. अर्थात्, भारत की मूल एकयता। यह पुस्तक सन् १९१४ में प्रकाशित हुई थी। डॉ० मुकर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के प्रधान थे।

१. अयोध्या;
२. मथुरा;
३. माया (हरद्वार);
४. काशी (वाराणसी);
५. कान्ची (कान्जीवरम);
६. अवन्ती (उज्जैन), और
७. द्वारावती (द्वारका, गुजरात में)।

राजनीतिक क्षेत्र—ऐसे अनेकों ताम्रलेख आदि प्राप्त हुए हैं जिनमें पुराने समय के शासकों को अखिल भारत का सत्ताधारी वर्णित किया गया है। उदाहरणार्थ, गुप्त राजवंश (३२०-६०० ई०) के शासकों को निम्न उपाधियों से अलंकृत पाया जाता है :—

महाराजाधिराज, अर्थात् सम्राट;
परमेश्वर, अर्थात् सर्वोपरि राजा या शासक।
परम भट्टारक, अर्थात् अत्यन्त पूजनीय या श्रद्धेय।
राजाधिराज, अर्थात् राजाओं का राजा।
चक्रवर्तिन, अर्थात् चक्रवर्ती शासक।

सम्राट स्कन्ध गुप्त (४५५-४६७ ई०) के नाम के साथ परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज की उपाधियाँ जुड़ी हुई हैं जो राजनीतिक क्षेत्र में उसकी अखिल भारतीय सत्ता की द्योतक हैं।

इसी प्रकार कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन के वीरुद थे 'परम भट्टारक', 'महाराजाधिराज' तथा 'परमेश्वर'। उसके सोने के सिक्कों पर अंकित था 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री महाराज हर्ष देवो'।[1]

कतिपय अन्य कान्यकुब्ज सम्राटों को भी निम्न उपाधियों से अलंकृत किया गया है, उदाहरणार्थ महाराज चन्द्रदेव की उपाधियाँ थीं परमेश्वर, परममाहेश्वर, परम भट्टारक तथा महाराजाधिराज।

ब्रिटेन के रैमसे मैकडानल्ड ने भी डॉ० मुकर्जी के निष्कर्ष से सहमति व्यक्त की है जो उक्त पुस्तक के प्राक्कथन में उल्लिखित है। उस समय वे ब्रिटिश संसद के सदस्य थे फिर बाद में प्रधान मंत्री हुए थे। उनके निम्न शब्द मार्मिक हैं :—

"....the Hindu, at any rate, from his traditions and his religion, regards India not only as a political unit, naturally the subject of one sovereignty—whether British, Mohammedan or Hindu—but as the outward embodiment (as the temple,

१. प्रो० कृष्ण दत्त वाजपेयी, जर्नल नूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, जिल्द २८, भाग १, पृ० ६८ (१९६६)।

nay, even as the goddess mother) of his spiritual culture. India and Hinduism are organically related as body and soul."

अर्थात्, हिन्दू अपनी परम्पराओं और अपने धर्म के अनुरूप भारत को एक राजनीतिक इकाई के रूप में मानता है जो इकाई एक ही सर्वसत्ता के अधीन रही है चाहे वह सत्ता ब्रिटिश, मुसलमानी अथवा हिन्दू रही हो। वह सत्ता उसकी आध्यात्मिक शिष्टता का बाहरी स्वरूप है। यह उसी प्रकार है जैसे कि मन्दिर उसकी आन्तरिक भावनाओं का ऊपरी रूप है और जैसे कि देवी माता भी हैं। भारत और भारत के हिन्दू जन एक दूसरे से शरीर और आत्मा के रूप में सम्बन्धित हैं।

निष्कर्ष---उपरोक्त तथ्यों से विदित होगा कि भारत में सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक एक्यता मौलिक रूप में रही है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अनेक बातों में भिन्नता होते हुए भी भारतवासी एक ही राष्ट्रीय तंत्र में जुड़े हुए रहे हैं और हैं तथा देश की बुनियादी एकता के विभिन्न किन्तु अविभाजित अंग हैं।

४. उपसंहार

राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से मौर्यों से लेकर गुप्तों तक का इतिहास गौरवपूर्ण रहा है। तत्पश्चात् कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन ने राष्ट्रीय अखंडता के परम्परागत आदर्शों का निर्वाह किया जिसके लिए उसे आजीवन संघर्ष करना पड़ा। इसी कारण भारतीय इतिहास में उसका नाम महान् शासकों की सूची में अंकित है। हर्ष के बाद भारत की एकच्छत्र हिन्दू शासन-व्यवस्था का अन्त हुआ और उसके स्थान पर अनेक बड़े-छोटे राज्यों के रूप में शासन-सत्ता विकेन्द्रित हो गयी। इस विच्छिन्न अवस्था के उत्तराधिकारी मध्ययुगीन राजपूत हुए जिनके कतिपय वंश देश के विभिन्न भूभागों में सत्ताधारी हुए। इनमें प्रमुख क्षेत्र कन्नौज राज्य के अन्तर्गत था जहाँ राजपूतों की शक्ति उच्च शिखर तक पहुँची। यह स्थिति ८वीं सदी से लेकर १२वीं सदी तक रही। लगभग ५०० साल की यह अवधि भारतीय इतिहास में राजपूत युग माना जाता है।

बारहवीं सदी के अन्त में कन्नौज के अन्तिम स्वतंत्र शासक महाराज जयचन्द्र की पराजय के फलस्वरूप कन्नौज राज्य का पतन हुआ। साथ ही अन्त हुआ राजपूत युग का तथा हिन्दू शासनिक सत्ता का।

कन्नौज राज्य के पतन के बाद वहाँ के राठौर वंशी राजपूत सरदारों तथा अन्य राजपूतों ने राजपूताना में विभिन्न छोटे-छोटे राज्य स्थापित किए जैसे कि

जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, मेवाड़, जैसलमेर। इस प्रकार राजपूत वंश तो कायम रहे किन्तु कन्नौज का वैभव सदैव के लिए नष्ट हो गया।

कन्नौज राज्य का पराभव इतिहास की अटूट शृंखला की एक कड़ी है, जिस शृंखला में विभव और पराभव की अगणित कड़ियाँ हैं। इस सन्दर्भ में इस विवेचन की आवश्यकता नहीं कि किन कारणों से कन्नौज का पतन हुआ क्योंकि किसी भी स्थिति में वैभव और पराभव दोनों का यथा समय अतीत में विलीन होना निश्चित है। इस अवश्यम्भावीयता को कन्नौज के विख्यात कवि श्रीहर्ष (१२वीं सदी) ने निम्न प्रकार श्लोकबद्ध किया है :—

अवश्य भव्येष्वनवग्रहग्रहा
ययादिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते,
जनस्य चित्तेन भृशा वशात्मना॥[1]

भारतीय इतिहास का सबक—अपने इतिहास में भारत ने हर प्रकार के चढ़ाव-उतार देखे जैसा कि अन्य देशों में भी हुआ। कहा भी है कि—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वात्म वशं सुखम्।
सुखं दुःखं मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्तते॥
गरुण पुराण, १।११३।६०-६१

भावार्थ—दूसरे के परवश (पराधीन) होना दुखयुक्त है तथा दूसरे के आश्रित न होना (अथवा स्वाधीन न होना) सुखमय है। जिस प्रकार पहिये में चढ़ाव-उतार होते हैं उसी प्रकार मनुष्य के जीवन में भी सुख-दुख का परिवर्तन होता रहता है।

यह सही है कि सब दिन समान नहीं रहते और सुख-दुख आते-जाते रहते हैं तथापि भारत का भाग्यचक्र विपरीत ही रहा जहाँ तक कि विदेशियों द्वारा राजसत्ता हस्तगत करने का प्रश्न है। इसके अनेक कारण रहे हैं किन्तु उनमें प्रमुख कारण यह था कि देश के विभिन्न खण्डों के शासक एकान्ती दृष्टिकोण से प्रेरित रहते थे। दूसरे शब्दों में उनमे आपसी सहयोग की कमी थी। केवल अपना ही इलाका बचाना है, आम तौर पर यही उनका ध्येय रहता था। वह प्रायः इस बात पर दृष्टिपात नहीं करते थे कि यदि पड़ोसी के घर आग लगी है तो अपना

---

१. नैषध चरित, १।१२०। भावार्थ, अवश्य होने वाले होनहार में ब्रह्मा की इच्छा जिस ओर दौड़ती है मनुष्य का पराधीन चित्त भी वायु-समूह के तृण के समान उसी दिशा को जाता है। (होनहार को कोई टाल नहीं सकता)।

घर भी भस्म हो जाएगा। विदेशियों ने इस मनोवृत्ति का लाभ उठाया और एक-एक करके विभिन्न शासकों को पराजित करके शनैः शनैः सत्ता हस्तगत करते रहे। इस बिन्दु से सम्बन्धित स्थिति का निरूपण बंगाल के तत्कालीन गवर्नर सर हेनरी वेरलस्ट (१७६७-१७७०) अपने उस पत्र में किया था जो उसने विलायत के सत्ताधारियों को लिखा था। क्लाइव के बाद वही बंगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ था। उसका सारांश निम्न प्रकार है :—

In a letter to the Home authorites in England Sir Henry Verelst, Governor of Bengal (1767-1770) after Clive, stated that the powerful reason for the security of the Company's position in India was the exclusiveness on the part of Indian rulers. He held that the discordance of the principles, views and interests of the neighbouring Indian powers always defeated any project by a single ruler against the British, though such a project could easily have been accomplished by an association of several rulers. He then added :

"....The majority of the present princes of Hindustan become jealous and suspicious of each other, and ever ready to throw in their weight against anyone whom they see rising too high above the common level. For this reason, they at first looked on our successes with an evil eye; still our generosity to Sh ja-ud-daula[1] our attention to aur treaties and public fai'h and above all our moderat'on in not pus'ing our victories, begot a confidence in us which they had not in their countrymen, and made them rather ambit ous of our friendship than jea'ous of our power."

सहयोग के साथ काम न करने की प्रवृत्ति देश के इतिहास में जगह-जगह अंकित है। वह त्रुटि किस हद तक भारतीय चरित्र मे अब भी विद्यमान है यह

---

१. शुजाउद्दौला अवध का नवाब था (१७५४ ७७५ ई०)। दिल्ली के शाह आलम द्वितीय तथा बंगाल के मीर कासिम से सन्धि करके उसने अंग्रेजों से युद्ध किया किन्तु पराजित हुआ। फिर भी अंग्रेजों ने उसके प्रति सख्ती नहीं की।

एक स्वतंत्र विषय है जो सम्प्रति पुस्तक के प्रयोजन के अन्तर्गत नहीं आता। अतः यहाँ उसका केवल जिक्र करके छोड़ दिया जा रहा है।

समय की प्रबलता—उड़ीसा में कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्यमंदिर (१३वीं सदी) रथ के रूप में बनाया गया है जिसमें लगभग १० फुट व्यास के चौबीस विशाल पहिये बने हैं और जिन्हें सात घोड़ों से खींचते हुए दिखाया गया है। यह रथ संसार-रूप चक्र का प्रतीक माना जाता है क्योंकि इसके द्वारा सृष्टि की बदलती हुई प्रक्रिया का भाव व्यक्त किया गया है। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप न मालूम कितनी सभ्यताएँ पृथ्वी के गर्भ में दबी पड़ी हैं। कन्नौज का इतिहास भी इसी बदलती हुई सृष्टि का एक लघु उदाहरण है। अस्तु

एक पाश्चात्य कवि ने भी इस परिवर्तन रूपी चक्र को निम्न पद में व्यक्त किया है :—

> The old order changeth yielding place to new, And
> God fulfils Himself in many ways.[1]

समय के परिवर्तन तथा काल की शक्ति का बोध निम्न पद में भी कराया गया है :—

> रहे नहीं वे दारा[2] सिकन्दर, रही नहीं वे बारादरी,
> अजल[3] के मुँह में चले गये सब न खुश्की रही और रही न तरी।

इसी प्रकार श्रीमद्‌भागवत में भी कहा गया है कि संसार का चक्र बदलता रहता है, यथा—

संसार चक्रं परिवर्तयेद्यत्।[4]

इस परिवर्तन चक्र के द्वारा ही प्राचीन कन्नौज राज्य जिसका लगभग ६

---

१. पुरानी व्यवस्था बदलती है और उसका स्थान नई व्यवस्था लेती है, तथा इस प्रकार ईश्वर संसार का संचालन करता है।

२. दारा का अभिप्राय फारस (अब ईरान) के एक महान शक्तिशाली सम्राट से है जिसका राज्यकाल ई० पूर्व ५२२ से ४८६ तक था। इसे डेरियस तथा दारायवहु भी कहते हैं। उसके साम्राज्य का एक प्रान्त सिन्धुघाटी भी था। यह दारा, शाहजादा दारा शिकोह से भिन्न है जो शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र था और जो उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब द्वारा मारा गया था।

३. अजल का अर्थ है मौत का वक्त; वक्त मुकर्रर; तकदीर।

४. श्री मद्‌भागवत, ११।२३।४२।

शताब्दियों तक उत्तर भारत में सर्वोत्तम स्थान रहा स्मृति मात्र में परिवर्तित हो गया—

सर्वं यस्य वसाद गात स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः ॥[1]

---

१. भर्तृहरि कृत वैराग्य शतक, श्लोक ३६ का अन्तिम चरण।
भावार्थ, यह सब बातें (शक्तिशाली शासक, सामन्तों की शृंखला, सभासद, कवि आदि) काल में विलीन होकर स्मृति मात्र ही रह गई हैं; ऐसे काल को नमस्कार है।

भाग ६

परिशिष्ट १–१०

परिशिष्ट १

श्री हर्ष मिश्र कन्नौज के राज-कवि

१. परिचय तथा प्रशस्ति ।

२. नैषध के श्लोकों तथा लोक-युक्तियों के नमूने ।

३. श्रीहर्ष का समय तथा संक्षिप्त जीवनी ।

नोट—कभी-कभी कन्नौज के सम्राट महाराज हर्षवर्धन और कवि श्रीहर्ष में भ्रम हो जाता है । सम्राट हर्षवर्धन अपने लघुनाम "हर्ष से ही विख्यात हैं । उनका राज्यकाल ७वीं शताब्दी में था । उनका विस्तृत विवरण पूर्व के एक अध्याय में दिया गया है । सम्राट हर्ष कवि भी थे किन्तु श्रीहर्ष (१२वीं शताब्दी) से भिन्न थे । कवि बाणभट्ट विरचित सम्राट की जीवनी हर्षचरित् के नाम से विख्यात है जो एक गद्य काव्य है ।

कवि श्रीहर्ष कन्नौज सम्राट महाराज विजयचन्द्र और महाराज जयचन्द्र के राज-कवि थे । इन सम्राटों का राज्यकाल क्रमशः ११५६-११७० ई० और ११७०-११९४ ई० हैं, अर्थात् १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का भाग । इन सम्राटों का वर्णन पूर्व के सम्बन्धित अध्यायों में आया है ।

श्री शब्द श्रीहर्ष के नाम का अंग है; वह आदर सूचक नहीं है । अतएव 'श्री' और 'हर्ष' एक ही शब्द के रूप में लिखे जाते हैं, अलग-अलग नहीं—यथा 'श्रीहर्ष' ।

१. परिचय व प्रशस्ति

संस्कृत के प्रमुख पाँच महाकवियों में श्रीहर्ष की गणना है । इनके नाम, जीवन काल के क्रम में इस प्रकार है :—

१. कालिदास

१. भारवि

३, दंडी

४. माघ

५. श्रीहर्ष

श्रीहर्ष के कवित्व की प्रशस्ति में निम्न श्लोक प्रचलित है :—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दंडितः पदलालित्यं हर्षे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

अर्थात् कालिदास में उपमा का गुण है, भारवि में अर्थ-गौरव का, दंडी में पदलालित्य का और श्रीहर्ष में यह तीनों गुण हैं।

इस श्लोक के दूसरे चरण के निम्न दो पाठान्तर भी हैं :—

नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः। (नैषध से अभिप्राय श्रीहर्ष विरचित नैषध महाकाव्य से है)।

तथा

दंडिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः। (इस पद में श्रीहर्ष का नाम नहीं है।

उक्त प्रशंसा के प्रमाण में निम्न श्लोक भी प्रचलित है :—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ?

अर्थात्—भारवि की यशख्याति तब तक रही जब तक माघ का उदय नहीं हुआ। (श्रीहर्ष विरचित) नैषध काव्य के उदय होने पर माघ कहाँ और भारवि कहाँ ?

श्रीहर्ष का प्राप्य महाकाव्य नैषधचरित के नाम से विख्यात है जो संस्कृत के तीन प्रमुख महाकाव्यों में एक है। काव्यकारों के जीवन काल के क्रम में इनके नाम निम्नांकित हैं :—

(१) भारवि विरचित 'किरातार्जुनीयम्';
(२) माघ विरचित 'शिशुपाल वध', तथा
(३) श्रीहर्ष विरचित 'नैषध-चरित'।

यह तीनों ग्रन्थ 'वृहतत्रयी' के नाम से विख्यात हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शर्मा के कथनानुसार पूर्व समय में केवल निम्न पाँच काव्यों ही का पठन-पाठन प्रचलित था :

(१) रघुवंश (कालिदास कृत);
(२) किरातार्जुनीयम् (भारवि कृत);
(३) कुमार-सम्भव (कालिदास कृत);
(४) शिशुपाल वध (माघ कृत);
(५) नैषध-चरित (श्रीहर्ष कृत)।

नैषध काव्य की प्रशस्ति में निम्न श्लोक भी प्रचलित है :—

नव सर्गे गते माघे नव सर्गे च नैषधे।
नव सर्गे किराते च नव शब्द न विद्यते ॥

आचार्य श्री सीताराम शास्त्री (प्रिन्सिपल, राधाकृष्ण पोद्दार संस्कृत विद्यालय, रामगढ़, जयपुर) ने किरातार्जुनीयम् (भारवि कृत) की प्रस्तावना में उक्त पद को उद्धृत किया है जिसका भावार्थ है कि माघ के (शिशुपाल-वध के) नव (नौ) सर्ग, नैषध के नव सर्ग तथा किरातार्जुनीयम् (भारवि कृत) के नव सर्गों के बाद कोई नव (नया) शब्द बाकी नहीं रह जाता।

"नैषध" से निषध देश के शासक महाराज नल से अभिप्राय है। नैषध-चरित में नल-दमयन्ती की कथा का पूर्व अंश वर्णित है। मूल रूप से सम्पूर्ण कथा महाभारत में आई है जिसमें नलोपाख्यान २७ अध्यायों में विभक्त है। तथापि श्री हर्ष ने अपने काव्य के २२ सर्गों में महाभारत के केवल ८ अध्यायों की कथा को अपनाया है। यद्यपि नैषध का मूल स्रोत महाभारत है फिर भी श्री हर्ष ने अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा उसमें अन्य बहुत सी बातों का समावेश कर एक नवीन और वृहद् रूप दिया है। साथ ही कवि ने नल के चरित्र को दमयन्ती से विवाह तक और उसके थोड़े ही समय के बाद तक की बातों का वर्णन किया है। उसके बाद की जीवनी को छोड़ दिया है अर्थात् उस भाग को जिसमें वे द्यूत में अपने भाई पुष्कर से पराजित होकर वन में जाते हैं, वहाँ दमयन्ती का परित्याग करते हैं, बाद में अनेकों कष्ट और अपमान सहते हैं, तथा ४ वर्ष बाद दोनों दम्पत्ति फिर मिलते हैं, आदि। अपने काव्य को इस प्रकार सीमित रखने का कारण यह है कि नल-दमयन्ती का उत्तरीय जीवन दुःखद घटनाओं की कथा है। नैषध के एक प्रमुख टीकाकार नारायण भट्ट के मतानुसार महाभारत आदि में वर्णित नल का अग्रिम चरित नीरस एवं नायक के उदयाभाव वर्णन करने से रसभंग कारक था, अतएव सहृदयाहृलादोत्पान ही काव्य का मुख्य उद्देश्य होने से महाकवि श्रीहर्ष ने इस महाकाव्य में उनके शेष चरित का वर्णन नहीं किया।"

महाभारत के संक्षिप्त वर्णन को कविकला का विकसित रूप देते हुए श्रीहर्ष ने मूल कथा में कुछ परिवर्तन भी कर दिये हैं जो काव्य की दृष्टि से समुचित हैं।

श्रीहर्ष द्वारा ग्रन्थों के लिखे जाने का प्रमाण है किन्तु उनमें से केवल दो ही प्राप्य हैं प्रथम नैषध-चरित जो साहित्यिक ग्रन्थ है, द्वितीय खण्डन-खण्ड-खाद्य जो दार्शनिक ग्रन्थ है। दोनों विश्व विश्रुत ग्रन्थ रत्न हैं। खण्डन-खण्ड वेदान्त का उच्च ग्रन्थ है जिसमें नैयायिक तर्क प्रणाली का अनुकरण कर श्रीहर्ष ने न्याय सिद्धान्तों का खंडन तथा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का मंडन किया है। पांडित्य की दृष्टि से यह अनमोल दार्शनिक ग्रन्थ है।

२. नैषध के श्लोकों तथा लोकोक्तियों के नमूने

उक्त कथानक के बाद नैषध के निम्न संकलित श्लोकों के अर्थ समझने में सुविधा होगी :—

(१)

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोतिभानोः परिवेषु कैतवात् तदा विधिः कुंडलना विधोरपि ॥१।१४

अर्थात्, ब्रह्मा जब जब मन में यह सोचते हैं कि नल के तेज और यश के समक्ष सूर्य और चन्द्रमा व्यर्थ हैं तब तब उन दोनों के चारों ओर कुंडलना (गोलाकार घेरा) बना देते हैं जो उन दोनों की व्यर्थता को सूचित करता है। [यह चलन है कि लेख में किसी किसी शब्द के चारों ओर पढ़ने वाले के द्वारा गोलाकार (कुंडलना) बना दिया जाता है जिससे यह बोध माना जाता है कि वह शब्द व्यर्थ (अथवा गलत) है]

वर्णित श्लोक में की गयी कल्पना इस बात से की गयी कि यदा कदा सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर धुँधले प्रकाश का वर्तुलाकर घेरा दिखाई पड़ता है। कवि की कल्पना है कि यह घेरा सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश को नल के तेज और यश रूपी प्रकाश के मुकाबले में व्यर्थ घोषित करता है।

(२)

अयं दरिद्रो भवितेति वेधसीं लिपिं ललाटेऽर्थि जनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पित कल्प पादपः प्रर्णय दारिद्य् दरिद्रतां नलः ॥१।१५

महाराज नल के राज्य में कोई भी गरीब व्यक्ति न था इस भाव को दर्शाने के लिए कवि कहता है कि नल के राज्य में यदि कोई दरिद्रता थी तो वह दरिद्रता की दरिद्रता थी। यानी दरिद्रता का अभाव था। पूर्ण श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—कल्पवृक्ष की वैभवशीलता को तुच्छ करने वाले महाराज नल ने दरिद्रता का अभाव करके यह व्यक्ति निर्धन होगा इस प्रकार याचकों के मस्तक पर लिखी हुयी विधाता की लिपि को क्या असत्य नहीं किया ? अर्थात् अवश्य किया। नल ने धन के अभाव का अभाव करके ब्रह्मा की लिखी हुयी बात को एक प्रकार से मिथ्या कर दिया और एक प्रकार से नहीं किया। नहीं इस प्रकार किया कि याचकों की दरिद्रता बनी ही रही, किन्तु वह दरिद्रता धन के अभाव की दरिद्रता थी न कि स्वयं धन की।

(३)

विभज्य मेरुर्न यदर्थि सात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्ग जलव्ययैर्मरुः ।
आमानि तत्तेन निजायशो युगं द्विफाल वद्धश् चिकुराश् शिरस्स्थितम् ॥१।१६

राजा नल कितने दानी थे इसकी कल्पना इस श्लोक में की गयी है। भावार्थ—जो मैंने (सोने के) सुमेरु पर्वत को विभाजित कर याचकों को दान

में नहीं दे दिया तथा दान के संकल्प जल के समुद्र को मरुभूमि नहीं बना दिया इस प्रकार के दोनों ओर काले काक पक्ष (बंधे हुए केश कलाप) रूप मेरे दो अपयश सिर पर स्थित हैं, ऐसा उस नल ने माना। (यह लोक प्रसिद्ध है कि अपयश काला होता है और सिर पर स्थित होता है। (इस श्लोक में दोनों काक पक्षों (जुल्फों) का अपयश सूचक होने की कल्पना है।)

(४)

प्रयातुमस्माकमियं क्रियत्पदं धरा तदम्भोधि रपिस्थला यताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्ष ममुत्थितं रजः ॥१।६९

हमारे दौड़ने के लिए यह पृथ्वी कितने पैर (कदम) होगी ? अर्थात् बहुत कम होगी, इससे यह समुद्र भी पट कर स्थल बन जाए मानो ऐसा विचार कर राजा नल के घोड़े जिन्हें अपने वेग का अभिमान था इतनी पर्याप्त धूलि उड़ाने का प्रयत्न किया कि जिससे समुद्र पट कर दौड़ने के लिये आशातीत स्थल हो जाए।

(५)

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच् चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन् निवसन्नपां निधिर वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥१।१०७

महाराज नल ने उस वन में एक बड़े तालाब को देखा उसी का उपमारूप वर्णन इस श्लोक में है। भावार्थ—राजा नल ने वन में इस तालाब को देखकर अनुमान किया कि वह अपना छोटा रूप बनाए हुए समुद्र है जो इस वन में अपने रत्नों के खजाने को लेकर आ छिपा है। छिपा वह इस भय से कि कहीं रत्नों के पाने के लिए उसका मन्थन फिर न किया जाए।

(६)

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर् वरटा तपस्विनी ।
गतिस् तयोरेव जनस् तमर्दयन् अहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि ना ॥१।१३५

नल के द्वारा पकड़े गये हंस का विलाप इस श्लोक में बताया गया है। भावार्थ—मेरी माता वृद्ध है और मैं उसका अकेला पुत्र हूँ। मेरी तपस्विनी (पत्नी) ने अभी बच्चे को जन्म दिया है। मैं ही उन दोनों का सहारा हूँ। ऐसे मुझ प्राणी को पीड़ित करने में, हे विधाता, क्या तुम्हें करुणा नहीं आती ?

(७)

मुहूर्त मात्रं भव निन्दया दया सखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्त परं दुरुत्तरस् त्वयैव मातः ! सुत शोक सागरः ॥१।१३६

वहीं हंस फिर कहता है—दयायुक्त मेरे मित्र कुछ समय तक संसार की निन्दा से दुःख को भूल जायेंगे, अर्थात् यह कहते हुए कि संसार अनित्य है, सभी की मृत्यु होती है, इत्यादि। किन्तु हे माता! पुत्र शोक रूपी समुद्र को पार करना तुम्हारे लिये दुष्कर होगा। संक्षेप में यों कहिए कि मित्रों को मेरी मृत्यु से क्षण-मात्र दुःख होगा, किन्तु तुम, मेरी माता, को जीवन पर्यंत कष्ट सहते रहना होगा।

(८)

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या
निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवास्तिमहानलाभो
पद्येन मुंझसि वरः कतरः परस्ते ॥१३।३३

यह श्लोक संस्कृत साहित्य में पंचनली के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि इसके पाँच अर्थ होते हैं जो एक ओर तो नल की ओर घटित होते हैं और दूसरी ओर इन्द्र, यम, वरुण और अग्नि इन चारों लोकपालों को घटित होते हैं। स्वयंवर में एकत्रित राजाओं का परिचय देने के बाद देवी सरस्वती दमयन्ती को उस स्थान पर ले जाती हैं जहाँ नल की शक्ल के पाँच पुरुष बैठे हैं जिनमें से एक तो असली राजा नल और अन्य चार नल का भेष बनाए हुए चारों लोकपाल हैं किन्तु बाह्य रूप से पाँचों में तनिक भी अन्तर नहीं है। उक्त श्लोक में श्लेष अलंकार-द्वारा पाँच अर्थ निकलते हैं, अर्थात् एक अर्थ में असली नल का संकेत है, दूसरे में इन्द्र का संकेत है, तीसरे में यम का, चौथे में वरुण का और पाँचवें में अग्नि का। ऐसी दशा में दमयन्ती निश्चय नहीं कर पाती कि इनमें असली नल कौन है।

(९)

पिताऽऽत्मनः पुण्यमनापदः क्षमा
धनं मनस् तुष्टि-रथाखिलं नलः।
अतः परम पुत्रि! न कोऽपि तेऽह-
मित्यु-श्रुरेष व्यसृजन्-निजौरसीम् ॥१६/११७॥

[हे पुत्रि (दमयन्ती)! अपना (अर्थात् तुम्हारा) पुण्य ही पिता है, क्षमा ही आपत्तियों का निवारण करने वाली है, सन्तोष धन है, और सब नल ही है; अब मैं तुम्हारा कोई नहीं हूँ। इस प्रकार (कह कर) रोते हुए इसने (राजा भीम ने) अपनी पुत्री को छोड़ा यानी बिदा किया।]

नैषध में वर्णित लोक युक्तियों के नमूने—संस्कृत काव्यों में बहुत से ऐसे पद

आए हैं, जो लोकोक्तियों के रूप में प्रचलित हो गये हैं। नैषध में भी अनेकों युक्तियाँ आई हैं जिनमें से कुछ नीचे दी जा रही हैं :—

(क)

क्व भोग माप्नोति न भाग्य भाग्जनः ॥१/१०२॥

अर्थात् भाग्यवान पुरुष कहाँ पर उपयोग की सामग्री नहीं पाता ? यानी उसे आराम के साधन सर्वत्र मिल जाते हैं।

(ख)

अवश्य भव्येष्व नवग्रहग्रहा ॥१/१२०॥

अर्थात् होनहार को कोई नहीं टाल सकता। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है :—

अवश्य भवेष्व नवग्रहग्रहा, यया दिशा धावति वैधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तया नुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशा वशात्मना ॥१/१२०॥

(अवश्य होने वाली बात के लिए ब्रह्मा की कभी न रुकने वाली इच्छा जिस ओर दौड़ती है उसी ओर मनुष्य का अत्यन्त पराधीन चित्त भी जाता है, ठीक वैसे ही कि जैसे वायु के पीछे तिनका अनुगमन करता है। अर्थात् मनुष्य परवश होकर अवश्यम्भावी बात की ओर मजबूरन अग्रसर हो जाता है।)

(ग)

अन्नानुरूपां तनुरूप ऋद्धि ॥३/१७॥

अर्थात् अन्न (खाद्य पदार्थ) के अनुरूप शरीर के रूप की समृद्धि होती है।

(घ)

परस्परं योग्य समागमाय ॥३/४८॥

अर्थात्, परस्पर में योग्य बातों का समागम (ताल-मेल) होता है।

(ङ)

आत्यन्तिकासिद्धि विलम्बसिद्धोः
कारस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति ॥३/९६॥

भावार्थ, सर्वथा असिद्धि होने से विलम्ब से सिद्धि होना ही अच्छा है।

(च)

पिपासुता शान्ति भुपैति वारिणा।
न जातु दुग्धान् मधुनोऽधिकाधिक ॥९/५॥

अर्थात् प्यास पानी से ही शान्ति होती है, अधिक दूध या शहद से नहीं।

(छ)

देवा हि नान्यद् वितरन्ति किन्तु।
प्रसद्य ते साधु धियं ददन्ते ॥

अर्थात्, केवल कोई अन्य वस्तु नहीं देते किन्तु प्रसन्न होने पर अच्छी बुद्धि देते हैं।

३. श्रीहर्ष का समय तथा संक्षिप्त जीवनी

श्रीहर्ष के समय के बारे में विविध मत हैं। सबसे अधिक प्रमाणित और बाहुल्यतम् विद्वानों द्वारा मान्य मत यह है कि उनका आविर्भाव १२ सदी का उत्तरार्द्ध है और वे कन्नौज के राजा विजयचन्द्र और जयचन्द्र के राज्याश्रित कवि थे। संक्षिप्त रूप से उन्होंने अपना परिचय नैषध महाकाव्य में दिया है, यथा :—

श्रीहर्षं कविराज राजिमुकुटालंकार हीरः सुतम्।
श्री हरिः सुषवे जितेन्द्रिय च यमं भामल्लदेवी चयम् ॥१/१४५॥

(कविराज—समूह के मुकुट के अलंकार के हीरा 'श्रीहीर' तथा 'मामल्लदेवी' ने इन्द्रिय-समूह को जीतने वाले 'श्रीहर्ष' को उत्पन्न किया।)

तदन्तर ग्रन्थ के अन्त की कवि-प्रशस्ति में अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा है कि—

ताम्बूल द्वयमासनं च लभते
यः कान्यकुब्जेश्वराद्। कवि-प्रशस्ति, २२/४।

भावार्थ, (श्रीहर्ष नामक महाकवि) कान्यकुब्ज-नरेश से (समस्त विद्वानों से श्रेष्ठतासूचक) दो बीड़ा पान तथा आसन पाते हैं।

श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर पंडित जयचन्द्र के पिता महाराज विजयचन्द्र के सभा-पंडित थे। एक बार मिथिला के सुप्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य कन्नौज राजदरबार में आए जहाँ श्रीहीर पंडित से उनका शास्त्रार्थ हुआ। उसमें उदयनाचार्य ने कुछ ऐसी चालाकी बर्ती जिससे निर्णयकारों को विवश होकर श्रीहीर को पराजित घोषित करना पड़ा। श्रीहीर को इससे मृत्यु पर्यन्त गहरा दुख रहा और मरते समय वे श्रीहर्ष से कह गए कि यदि तुम सुपुत्र हो तो तुम उदयनाचार्य को शास्त्रार्थ में जीतना। उदयनाचार्य को विजयचन्द ने अपने दरबार में रख लिया था।

फलतः श्रीहर्ष ने गंगा जी के किनारे एक वर्ष तक चिन्तामणि मंत्र का जप किया। यह मंत्र त्रिपुण देवी का है जिन्होंने प्रत्यक्ष होकर इन्हें अप्रतिम पांडित्य का वरदान दिया। तदनन्तर देश के विभिन्न स्थानों में जाकर इन्होंने उच्च कोटि के आचार्यों से तर्क, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्त, योगशास्त्र, मंत्रशास्त्र आदि विषयों का गहन अध्ययन किया। देवी के आशीर्वाद से इनका पांडित्य इतना प्रखर किंवा विलक्षण हुआ कि इनकी रचनाओं के मर्म को समझना पंडितों

के लिए कठिन हो गया। व्यथित होकर इन्होंने भगवती की पुनः आराधना की। तब देवी ने इन्हें स्वप्न द्वारा बताया कि आधी रात के समय मस्तिष्क को जल से गीला रखो और दही पियो। ऐसा करने पर इनकी रचनाएँ सर्वजन संवेद्य होने लगीं।

तदनन्तर श्रीहर्ष ने खंडन-खंड-खाद्य आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की जैसा कि नैषधचरित के विभिन्न सर्गों में अपने ग्रन्थों के नामों का इन्होंने स्वयमेव उल्लेख किया है। इसके बाद श्रीहर्ष कन्नौज पहुँचे और नगर के बाहर एक बाग में टिक गए।

उच्च विद्वानों में इनकी गिनती होने लगी थी अतएव इनके आगमन का समाचार सुन कर विद्वद्गुणग्राही कन्नौज नरेश (महाराज विजयचन्द्र, जयचन्द्र के पिता) ने मंत्री, सभा पंडित आदि के साथ नगर के बाहर जाकर इनकी अगवानी की और यथोचित सत्कार किया। महाराज की गुणप्रियता से अतिशय प्रभावित हो श्रीहर्ष ने उनकी स्तुति में एक श्लोक पढ़ा और फिर उच्च स्वर से विस्तृत व्याख्यान किया। तब इनकी विद्वत्ता से महाराज और उनके सभासद अत्यन्त सन्तुष्ट हो गए। ऐसा जान कर श्रीहर्ष ने अपने पिता के विजेता उदयनाचार्य को लक्ष्य कर कटाक्ष करते हुए एक श्लोक कहा।

ऐसा सुन कर पंडित उदयनाचार्य इनके प्रखर पांडित्य से अति प्रभावित हुए और कहा, 'भारतासिद्ध वादि-गज-केसरी, विद्ववर! आपके समान कोई भी नहीं है, फिर आपसे अधिक कहाँ से हो सकता है।

सविनय कही गयी इन बातों से श्रीहर्ष का क्रोध शान्त हो गया। तब महाराज ने श्रीहीर विजयी उदयनाचार्य कृत अवसरोचित श्रीहर्ष-स्तुति की श्लाघा करते हुए दोनों विद्वानों में परस्पर स्नेह पूर्वक आलिंगन कराया। तदन्तर उनको राज भवन में ले जाकर दोनों का ही समुचित सत्कार किया और श्रीहर्ष को एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएँ दीं।

नैषध-चरित की रचना—इस प्रकार पूज्य पिता के आदेश को पूरा करके श्रीहर्ष महाराज विजयचन्द्र की राज सभा के सदस्य हुए। उसी पद पर रहते हुए इन्होंने राजाज्ञा से नैषध-चरित महाकाव्य की रचना की। वह राजाज्ञा विजयचन्द्र की थी अथवा उनके उत्तराधिकारी जयचन्द्र की, यह निश्चित नहीं है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्रीहर्ष जयचन्द्र के राज्यकाल (११७०-११९४ ई०) में भी कन्नौज दरबार के सभासद थे। जयचन्द्र भी अपने पिता के समान विद्वानों का सत्कार करते थे और राजकोष से उनको धन देते थे। स्वयं भी संस्कृत के विद्वान

थे और साहित्य प्रेमी। ऐसा जान पड़ता है कि राजाज्ञा किसी की भी रही हो नैषध-काव्य महाराज जयचन्द्र के समय में पूरा हुआ। अस्तु।

ग्रन्थ को देख कर महाराज जयचन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए और श्रीहर्ष से कहा :—

काश्मीर जाकर इस महाकाव्य को सरस्वती के हाथ में दीजिए। वहाँ पर साक्षात् निवास करती हुयी सरस्वती हाथ में दिये हुए दोषरहित ग्रन्थ का शिरः कम्पनपूर्वक अभिनन्दन करती हैं तथा इसके विपरीत दोषयुक्त ग्रन्थ को कूड़े कतवार के समान फेंक देती हैं। इस प्रकार सरस्वती देवी से अभिनन्दित ग्रन्थ का काश्मीर के शासक का प्रमाणपत्र लाइए।

यथा समय काश्मीर पहुँच कर श्रीहर्ष ने अपना काव्य राज पंडितों को दिखाया। बाद में उसे सरस्वती के हाथ में रखा गया जिसे देवी ने फेंक दिया। उस पर इन्होंने देवी से आक्षेपपूर्वक कहा :—मेरी पुस्तक को साधारण पुस्तक के समान दूषित समझ कर आपने क्यों अनादृत किया, इसमें कौन सा दोष है? इन आक्षेपपूर्ण शब्दों के उत्तर में सरस्वती ने कहा :—

"तुमने इस ग्रन्थ में यह पद लिखा है :—

'देवी पवित्रित चतुर्भुज वामभागा
वागाल पत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।'

उक्त पद के द्वारा मुझे विष्णु की पत्नी कह कर लोक प्रसिद्ध मेरे कन्यात्व का लोप किया है। इसी दोष के कारण मैंने पुस्तक को फेंक दिया क्योंकि :—

'पावको वंचको व्याधिः पंचत्वं मर्मभाषकः।
योगिनामप्यमी पंच प्रायेणोद् वेगकारकाः ॥'

अर्थात् अग्नि, धूर्त, रोग, मृत्यु और मर्मभाषणकर्ता, ये पाँच योगियों को भी उद्विग्न कर देते हैं।

इस पर पुराणों के विशेषज्ञ श्रीहर्ष ने हँसते हुए कहा :—"दूसरे जन्म में तुमने विष्णु भगवान् को पति रूप में स्वीकार नहीं किया था क्या? लोक में भी तुम्हें 'विष्णु-पत्नी' नहीं कहते हैं क्या? तब मेरे सत्य कहने पर व्यर्थ ही क्रुद्ध होकर तुम मेरी पुस्तक को क्यों सदोष कह रही हो?"

ऐसा सुनकर देवी ने पुस्तक को पुनः अपने हाथ में रखवाया और उसकी प्रशंसा की।

इसके बाद श्रीहर्ष ने राज सभासद पंडितों को सरस्वती द्वारा अनुमोदित अपने काव्य को देकर कहा :—"सरस्वती देवी ने आप लोगों के समक्ष इस पुस्तक की प्रशंसा की है, अतः आप यहाँ के राजा माधव देव को इसे दिखाकर 'यह

रचना शुद्ध है' ऐसा राजलेख लिखवा कर 'काशिराज जयन्तचन्द्र' के लिए मुझे दें। पंडितों में किसी भी नए पंडित के प्रति स्वभाव से ही असूया होती है। इसी नियम से आबद्ध उन राजपंडितों ने श्रीहर्ष की सरस्वतिभिनन्दित पुस्तक काश्मीर नरेश को नहीं दिखलाई। अतः इनको राजमुद्रामुद्रित लेख भी प्राप्त न हुआ। प्रतीक्षा में श्रीहर्ष ने कई मास व्यतीत किए। इतने अधिक समय में जयचन्द्र से प्राप्त धन समाप्त हो गया और इन्हें वाहन, बैल आदि भी बेचने पड़े।

इसी चिन्ता में एक दिन श्रीहर्ष नदी तट पर बैठे थे कि वहाँ पानी भरने के लिए दो दासियाँ आई। उन दोनों में पहिले मैं पानी का घड़ा भरूँगी इस प्रसंग को लेकर कहा सुनी होते-होते मारपीट हो गयी जिससे दोनों जख्मी हो गयीं। तब उन्होंने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि करते हुए राजा के यहाँ फरियाद की। प्रत्यक्ष-दृष्टा साक्षी माँगे जाने पर दोनों ने राजा से कहा कि एक विदेशी ब्राह्मण के अतिरिक्त वहाँ कोई न था। राजाज्ञा से श्रीहर्ष दरबार में लाए गए और दासियों के विवाद के विषय में पूछा गया। श्रीहर्ष ने उत्तर दिया :—"राजन्, परदेशी होने के कारण मैं इनकी बातों को नहीं समझ सका किन्तु दोनों ने जो शब्द एक दूसरे के प्रति कहे और जो कुछ क्रिया उसे मैं आनुपूर्वी दुहरा सकता हूँ। राजाज्ञा होने पर श्रीहर्ष ने दोनों दासियों की उक्ति-प्रत्युक्ति को ज्यों का त्यों दोहरा दिया जिससे महाराज माधवदेव इनकी धारणा-शक्ति से आश्चर्य चकित हो गए। दासियों के विवाद का निर्णय करने के बाद रीजा ने श्रीहर्ष को साष्टांग प्रणाम किया और परिचय पूछा। तब इन्होंने सम्पूर्ण वृतान्त को बताया।

श्रीहर्ष के प्रति अपने सभा पंडितों द्वारा की गयी असूया से राजा बड़े दुखी हुए और उन्हें बुलाकर इन शब्दों से धिक्कारा :—"मूर्खों, ऐसे परम विद्वान व्यक्ति के साथ स्नेह करने के बदले असूया करने वाले तुम लोगों को धिक्कार है। अब तुम लोग इनको अपने-अपने घर पर ले जाकर इनका सत्कार करो।"

तब वे राजपंडित अति लज्जित होते हुए श्रीहर्ष को अपने-अपने निवास स्थान ले जाकर आदर-सत्कार से सन्तुष्ट किया। महाराज माधवदेव ने भी उनका सत्कार कर ग्रन्थ की शुद्धता का राजमुद्रा-प्रमाणित लेख देकर उन्हें आदरपूर्वक विदा किया।

महाराज जयचन्द्र लेख देख कर अतिशय सन्तुष्ट हुए। तबसे नैषध-चरित महाकाव्य का प्रचार हुआ।

श्रीहर्ष का वैराग्य तथा संन्यास ग्रहण—महाराज जयचन्द्र की भोगपत्नी सुहावा देवी की कथा एक अध्याय में आ चुकी है। उसने अपने को 'कला भारती' के नाम से प्रसिद्ध कर रखा था। श्रीहर्ष भी 'नर भारती' कहे जाते थे जो उसको

असह्य था। एक दिन उसने श्रीहर्ष को सादर अपने यहाँ बुलाया और प्रश्न किया कि आप कौन हैं। उत्तर में इन्होंने अपने को 'कला सर्वज्ञ' बताया। तब रानी सुहावा ने इनसे कहा कि 'जूता पहिनाओ'। ऐसा उसने इनका अपमान करने के अभिप्राय से कहा, यह सोच कर कि यदि ब्राह्मण होने के नाते ये कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता हूँ' तब ये कला-सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होते।

निदान श्रीहर्ष ने रानी की बात स्वीकार कर वृक्षों के वल्कल आदि से जूता बनाकर उसे पहिना दिया। साथ ही वे अत्यन्त दुखी और खिन्न हुए। फिर महाराज जयचन्द्र से रानी की कुचेष्टा को बताकर गंगा तट पर जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

श्रीहर्ष के वंशज—श्रीहर्ष के वंशज परसू के मिश्रों के रूप में एक बड़ी संख्या में वर्तमान हैं। इन मिश्रों का मूल स्थान कम्पिल (कन्नौज और फर्रुखाबाद के बीच गंगा तट पर स्थित) था। बाद में सम्राट औरंगजेब ने ग्रान्ड ट्रंक रोड पर स्थित कन्नौज नगर से लगभग तीन किलोमीटर दूर स्थित एक स्थान पर बसने के लिए इनके पूर्वजों को भूमि आदि दी। इस स्थान पर उसने अपने एक उच्च कर्मचारी मीरन द्वारा एक बड़ी सरायँ बनवाई जो सरायँमीरां (अथवा मीरा-सँरायँ) के नाम से जानी जाती है। यह ग्रान्ड ट्रंक रोड पर यातायात वालों की सुविधा के लिए बनवाई गयी थी और उसके आस पास के क्षेत्र को आबाद करने के लिए दी, मिश्रों को वहाँ बसने के लिए बुलाया गया। परसू बाबा श्रीहर्ष के वंशज थे और उन्हीं के नाम से यह मिश्र परसू के मिश्र कहे जाते हैं। परसू के वंशज सरायँमीरां के अतिरिक्त अन्य अनेकों स्थानों में वितरित हो गये हैं। किन्तु अधिकतर वे उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के नगरों में बसे हैं।

इस पुस्तक के दोनों लेखक इन्हीं परसू बाबा की संतति हैं अतः श्रीहर्ष के वंशजों में हैं।

परिशिष्ट--२

कन्नौज के अन्य उच्च कवि, ग्रन्थकार तथा विद्वान

सारपत्रक

१. मौखरि शासकों के समय में---विशाखदत्त; भत्सु (भर्व)।

२. सम्राट हर्षवर्धन के समय के---स्वयं सम्राट हर्ष; बाणभट्ट; मयूर; मातंग दिवाकर; जयसेन; हरिदत्त।

३. महाराज यशोवर्मन के समय के---स्वयं महाराज यशोवर्मन; महाकवि भवभूति, वाक्पति।

४. मिहिरभोज तथा महेन्द्रपाल प्रथम (प्रतिहार) के समय में---महाराज मिहिर भोज; राजशेखर।

५. महाराज मदनपाल (गाहरवाल), निघन्टु के रचयिता।

६. महाराज गोविन्दचन्द्र के समय में---स्वयं गोविन्दचन्द्र; लक्ष्मीवर।

७. महाराज विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के समय में---महाकवि श्रीहर्ष; नयचन्द्र; मम्मट।

८. कन्नौज के पतन के बाद---राजशेखर सूरि; विद्यापति।

नोट---तेरहवीं सदी के अन्त में उत्तर भारत पर मुसलमानी आधिपत्य हो जाने के समय तक (तथा उसके एक सदी बाद तक भी) कन्नौज उत्तरापथ में विद्वत्ता का केन्द्र रहा। यहाँ के कई शासक स्वयं कवि थे तथा कवियों और विद्वानों के संरक्षक भी जैसा कि विभिन्न अध्यायों में दर्शाया गया है। कन्नौज के सब से प्रख्यात विद्वान महाकवि श्रीहर्ष थे जिनका नैषध-चरित सर्वविदित है तथा जिनका विस्तृत विवरण इसके पहले की परिशिष्ट में दिया गया है। अन्य कवियों और ग्रन्थकारों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। यद्यपि उनके बारे में सम्बन्धित अध्यायों में कुछ जानकारी दी गई है तथापि इस परिशिष्ट में एकजाई तौर पर क्रमबद्ध विवरण सुविधा की दृष्टि से दिया जा रहा है।

इस परिशिष्ट में दिए गए नाम का कालक्रम के अनुसार रखे गए हैं।

१. मौखरि शासकों के समय में (५००-६०६ ई०)

(क) विशाखदत्त---संस्कृत नाटक मुद्राराक्षस के रचयिता विशाखदत्त

महाराज अवन्तिवर्मन द्वारा सम्मानित थे। महाराज उनके आश्रयदाता भी थे जैसा कि विद्वानों द्वारा नाटक के पाठ से अनुमानित किया गया है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३२५-३०७ ई० पू०) द्वारा चाणक्य की सहायता से अन्तिम नन्द राजा से मगध का सिंहासन छीन लिए जाने की ऐतिहासिक घटना का वर्णन है।

(ख) भत्सु या भर्व—यह हर्ष-चरित रचयिता बाणभट्ट के गुरु थे। इन्हें मौखरि शासकों से संरक्षण प्राप्त था जैसा कि बाण की कादम्बरी के प्रारम्भ में बताया गया है, यथा—

सशेखरैः मौखरिभिः कृतार्चनम्।[1]

अर्थात् मुकुटधारी मौखरियों से सम्मानित।

इससे ज्ञात होता है कि मौखरिवंशीय शासक विद्वानों के आश्रयदाता थे।

२. सम्राट हर्षवर्धन के समय में (६०६-६४७ ई०)

(स्वयं हर्ष; बाणभट्ट; मयूर; मातंग दिवाकर; जयसेन; हरिदत्त)

(क) महाराज हर्ष, स्वयं कवि व नाटककार—महाराज हर्षवर्धन के समय में प्राचीन ग्रन्थों और शास्त्रों का पठन-पाठन पूर्णरूपेण प्रचलित था और उनके शासनकाल में काव्य, नाटक, कथा, दर्शन, धर्म-विज्ञान, गणित ज्योतिष आदि पर रचनायें बनीं। विद्वानों का आश्रयदाता होने के साथ-साथ वह स्वयं उच्च-कोटि का विद्वान तथा ग्रन्थकार था। लेखनकला में भी निपुण था जैसा कि ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण उसके हस्ताक्षर से विदित होता है।

हर्ष विरचित ग्रंथों में रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द प्रसिद्ध हैं।

उक्त नाटकों के अतिरिक्त सुप्रभातस्तोत्र भी महाराज हर्ष की रचना मानी जाती है।[2]

(ख) बाणभट्ट—कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन का राजकवि। इसकी चार रचनाएँ हैं; यथा—

हर्षचरित जो पद्य काव्य है संस्कृत में। इसमें सम्राट का प्रारम्भिक जीवन वृतान्त मिलता है जो विन्ध्याचल के जंगल में उसकी (हर्ष की) बहन राजश्री से भेंट होने के साथ प्रायः समाप्त हो जाता है। इसमें हर्ष की राज सभा, सेना और उस काल के सामाजिक जीवन का विशद् ज्ञान मिलता है।

ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद कावेल और थामस (Cowell and Thomas) द्वारा किया गया है।

---

१. कादम्बरी, पृ० १, रिडिंग महोदय द्वारा अंग्रेजी में अनूदित।
२. J. R. A. S., 1903, pp. 703-22.

कादम्बरी....यह गद्य काव्य है और संस्कृत के गद्य ग्रन्थों में इसका विशेष स्थान है।

चन्द्रिशतक....स्तोत्र।

पार्वती-परिणय....नाटक।

(ग) मयूर—यह भी सम्राट हर्षवर्धन के दरबारी कवियों में एक थे तथा बाणभट्ट के श्वसर भी थे। यह दो ग्रन्थों के रचयिता थे—मयूर-शतक और सूर्य-शतक। कहा जाता है कि मयूर-शतक लिखने के बाद इन्हें कुष्ट रोग हो गया था जो बाद में सूर्य-शतक लिखने पर नष्ट हो गया था। कुछ विद्वानों का मत है कि उक्त नाम केवल एक ही ग्रन्थ के दो अलग-अलग नाम हैं— वे दो ग्रन्थ नहीं हैं। इनकी कविताओं का संकलन "The Sanskrit Poems of Mayura" (edited by Quackenbos, Columbia University Series, Vol. 9) में किया गया है।

(घ) मातंग-दिवाकर—यह भी हर्षवर्धन के दरबारी कवि थे। यद्यपि यह ओछी जाति के थे तथापि अपनी विद्वत्ता के कारण इन्हें सम्राट द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ था तथा इन्हें दरबार के बाणभट्ट और मयूर के बराबरी का दर्जा दिया गया था। इस सम्बन्ध में सारंगधर कृत पद्धति में निम्न पद आया है :—

अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्' मातंग-दिवाकरः।
श्री हर्षस्या-भक्त सभ्यः समो वाण मयूरयो॥

अर्थात् वाग्देवी (सरस्वती) का प्रभाव (शक्ति) इतना अधिक है कि (विद्वत्ता के कारण) ओछी जाति का मातंग-दिवाकर भी महाराज हर्ष के दरबार में बाण और मयूर के बराबरी का सभासद बन गया।

अभी तक मातंग दिवाकर की कृतियों का सही पता नहीं लग सका है यद्यपि डॉ० कीथ के अनुसार इनकी कुछ कविताएँ उपलब्ध हैं।[१] फिर भी सम्राट द्वारा राज-प्रतिष्ठा पाना सिद्ध करता है कि इनकी साहित्यिक योग्यता उच्चकोटि की थी।

(ङ) जयसेन (हर्षवर्धन के दरबारी कवि)—बौद्ध विद्वान जयसेन महाराज हर्षवर्धन की राजसभा का सदस्य था[२] तथा अपनी सर्वतोमुखी विद्वत्ता के कारण

---

१. Dr. A. B. Keith, *Classical Sanskrit Literature* (Heritage of India Series, 2nd edition, 1927), p. 120.

२. डॉ० राजबली पाण्डेय, प्राचीन भारत, पृ० ३३५।

देश-विदेश में प्रख्यात था। साथ ही वह परम त्यागी भी था। उसके आश्रम में चीनी यात्री हुयेन-सांग उसके दर्शनार्थ गया था। देश-विदेश के विद्वान उसके आश्रम में आते रहते थे। हुयेन-सांग ने लिखा है कि इन महात्मा की विद्वत्ता तथा निर्मल आचरण से प्रभावित होकर सम्राट ने उड़ीसा के ८० बड़े-बड़े नगरों की राजकीय आय (मालगुजारी आदि) इन्हें निवेदित करने का कई बार प्रस्ताव किया किन्तु इस त्यागी आत्मा ने इस बहुमूल्य देय को लेने से इन्कार कर दिया।

बौद्ध साहित्य में जयसेन की कृतियाँ सुरक्षित हैं।

(च) हरिदत्त (हर्षवर्धन के सभा-कवि)—प्राचीन भारत नामक अपनी प्रमाणिक पुस्तक में डॉ० राजबली पाण्डेय ने हरिदत्त की गणना सम्राट हर्ष की राजसभा के कवियों और लेखकों में की है[1] किन्तु इनके द्वारा विरचित किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है।

३. महाराज यशोवर्मन के समय में (७२५-७५२ ई०)

(क) स्वयं महाराज यशोवर्मन—कान्यकुब्जाधिपति यशोवर्मन विद्वानों के संरक्षक तो थे ही, साथ ही वे स्वयं विद्वान और कवि भी थे। उनकी रचनाओं में केवल रामाभ्युदय नाटक ही उपलब्ध है।[2] इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि वल्लभदेव-कृत सुभाषितावली में संग्रहीत कविताओं में कुछ कविताएँ यशोवर्मन विरचित हैं।

कल्हन ने राजतरंगिणी में यशोवर्मन के सम्बन्ध में निम्न पद लिखा है—

> कविर् वाक्पतिराज-श्रीभवभूत्यादि सेवितः।
> जितो ययउ यशोवर्मा तद्गुणा स्तुतिवन्दिताम् ॥[3]

भावार्थ—कवि यशोवर्मन जिनके दरबार में वाक्पतिराज, श्रीयुक्त भवभूति तथा अन्य कवि थे उन्होंने (काश्मीर के ललितादित्य के द्वारा पराजित होने पर) स्वयं उनका (ललितादित्य का) गुणगान किया।

नोट—जैसा कि यशोवर्मन सम्बन्धित अध्याय में बताया गया है काश्मीर-नरेश ललितादित्य ने यशोवर्मन को पराजित किया था।

(ख) महाकवि भवभूति—कन्नौज के शासक यशोवर्मा (शासन काल ८ वीं

---

१. राजबली पाण्डे, प्राचीन भारत, पृ० ३३५.
२. Ind. Ant., XII (1912), p. 141.
३. राजतरंगिणी, भाग ४, श्लोक १४४।

सदी का प्रथम चतुर्थांश) द्वारा प्रसिद्ध संस्कृत कवि भवभूति सम्मानित था। यशोवर्मा उसका आश्रयदाता भी था।

भवभूति की गणना संस्कृत के पाँच महाकवियों में की जाती है; अन्य चार महाकवि हैं कालिदास, माघ, दंडी और श्रीहर्ष। भवभूति की तीन नाटकें संस्कृत साहित्य में उच्च स्थान रखती हैं, यथा मालती-माधव, महावीर-चरित तथा उत्तर-रामचरित। हर्टेल महोदय का कथन है कि यह तीनों नाटकें कन्नौज ही में लिखी गई होंगी इस अभिप्राय से कि उनका प्रदर्शन कन्नौज के कालप्रिय मन्दिर के प्रांगण में किया जाय जहाँ यात्री दर्शनार्थ आते थे। (कालप्रिय यशोवर्मन के इष्टदेव थे)।[1]

संस्कृत के विद्वानों ने भवभूति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उदाहरणार्थ बाल-रामायण में राजशेखर ने इन्हें आदि कवि वाल्मीक का अवतार बताया है।[2] कुछ अन्य लेखकों ने तो यहाँ तक कहा है कि उत्तर-रामचरित में भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गए हैं (उत्तरे राम-चरिते भवभूतिर विशिष्यते)।

यशोवर्मन के दूसरे दरबारी कवि वाक्पति ने भी इनकी प्रशस्ति में कहा है कि इनकी कविता ऐसी चमकदार है जैसे कि भवभूति नामक समुद्र के मंथन से प्राप्त अमृत-कण।

(ग) वाक्पति (या वाक्पतिराज)---यह प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध कवि ८वीं सदी में कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रय में था जिनके दरबार में महाकवि भवभूति भी थे। कहीं-कहीं इन्हें वाक्पति-राय भी कहा गया है। प्राकृत भाषा में उल्लिखित गौडवहो इनका प्रसिद्ध काव्य है जिसमें यशोवर्मा के दिग्विजय का सविस्तार वर्णन है। इसके लिखने के पहले ग्रन्थकार ने महु-मह-विजय (मधु-मथ-विजय) नामक प्राकृत में एक रचना और की थी जिसका उसने गौडवहो में जिक्र करते हुए लिखा है कि वह उसकी सबसे अच्छी रचना है[3], किन्तु यह अप्राप्य है।

गौडवहो में १२०९ पद हैं और डॉ० कीथ के अनुसार महाराज यशोवर्मन की मृत्यु के कारण यह ग्रन्थ कदाचित् अपूर्ण ही रहा। कीथ महोदय ने दूसरी सम्भावना यह व्यक्त की है कि मूल ग्रन्थ में पंडितों ने केवल उतने ही अंश संकलित किए जिनमें उनकी अभिरुचि थी और अन्य ऐतिहासिक विवरणों को निकाल दिया।[4]

---

१. Hertel, *Asia Major*, Vol. I, pp. 12-13.

२. अंक १/१६।

३. गौडवहो, पद ६९।

४. Dr. Keith, *A History of Sanskrit Literature* (1928) p. 120.

बाणभट्ट-चरित (जैन ग्रन्थ) में वाक्पति के लिए कहा गया है कि परमार-वंश में उत्पन्न यह क्षत्रियों में शीर्षस्थ मणि के समान थे। यद्यपि विद्वत्ता में यह भवभूति से बहुत कमतर थे तथापि महाराज यशोवर्मन की ओर से इनको अधिक लाभ प्राप्त होता था। इन्होंने स्वयं अपने को राजा का प्रिय मित्र कहा है और यह भी कि राज्य के कवियों में उनका नायक का दर्जा था। जैन कथानक के अनुसार प्रारम्भ में यह लक्ष्मनावटी में गौड-नृप की सेवा में थे तथा बाद में यह विजयी यशोवर्मन के दरबार में आए। ऐसी किम्वदन्ती है कि जीवन के अन्तिम दिनों में यह जैनधर्म में दीक्षित हो गए और बाद में मथुरा में घोर तपस्या करने के उपरान्त अनशन द्वारा प्राणोत्सर्ग किया—इस प्रकार शरीर त्याग करना जैन नियमों के अनुसार पुण्यतम माना जाता है।

४. मिहिर भोज (प्रतिहार) (८३६-८८५ ई०) तथा महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-९१० ई०) के समय में

(क) **स्वयं महाराज मिहिर भोज**—मिहिर भोज निपुण शासक होने के अतिरिक्त अपने समय का प्रसिद्ध विद्वान था तथा विद्वानों का आदर कर्ता भी।

नोट—यह मिहिर भोज कालिदास के संरक्षक परमार शासक भोजराज (१०१५-१०४५ ई०) से भिन्न था। भोजराज मालवा के शासक थे, तथा धारा नगरी उनकी राजधानी थी।

(ख) **राजशेखर कवि**—राजशेखर उच्चकोटि का काव्य-शास्त्री, कवि तथा ग्रन्थकार था। वह कन्नौज के प्रतिहार शासक मिहिर भोज का समकालीन था जिनका राज्यकाल लगभग सन् ८३६ से सन् ८८५ तक था। महाराज महेन्द्रपाल (राज्यकाल ८८५-९१० ई०) का वह दरबारी कवि था और युवराज महीपाल का शिक्षक भी। महिपाल प्रतिहार वंश का चौथा शासक था (सन् ९१२ से ९४४ तक)। यह राजशेखर सूरि (जैन कवि) से भिन्न हैं कि जो प्रबन्धकोश ग्रन्थ के रचयिता थे तथा जिसकी रचना उन्होंने सन् १३४८ के लगभग की थी।

राजशेखर का व्याह चाहमान वंशीय राजकुमारी अवन्ति सुन्दरी से हुआ था जो स्वयं विदुषी महिला थी।

राजशेखर के निम्नलिखित ग्रन्थ प्राप्य हैं :—

काव्य-मीमांसा···· यह काव्य-शास्त्रीय प्रसिद्ध ग्रन्थ राजशेखर की सर्वोत्तम कृति है।

बाल रामायण विद्धशाल भंजिका बाल भारत (उपनाम प्रचंड पाण्डव) कर्पूरमंजरी	यह चारों नाटकें हैं। प्रथम तीन संस्कृत में तथा कर्पूरमंजरी प्राकृत भाषा में हैं।

इनके अतिरिक्त उसने भुवनकोष तथा हर-विलास की भी रचना की क्योंकि उनका उल्लेख मिलता है किन्तु यह दोनों रचनाएँ अप्राप्य हैं।

५. महाराज मदनपाल (गाहरवाल) निघन्टु के रचयिता (११००–१११० ई०, शासनकाल)

इन्होंने केवल १० वर्ष के लगभग ही राज्य किया किन्तु यह चिकित्सा शास्त्र के प्रकांड विद्वान थे। इसका अध्ययन इन्होंने पिता चन्द्रदेव के राज्य-काल में ही किया था जब यह युवराज थे। सन् ११०० के लगभग गद्दीधर होने के बाद इन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ मदन-विनोद-निघन्टु या मदन-निघन्टु सम्पूर्ण किया जिसमें इन्होंने अपने को काशिराज कहा है क्योंकि काशी भी कन्नौज-राज्य की दूसरी राजधानी थी और जो इन्हें बहुत प्रिय भी थी। यह ग्रन्थ वैद्यक विषय पर है और उससे इनकी अपूर्व विद्वत्ता दर्शित होती है।

६. महाराज गोविन्दचन्द्र (गाहरवाल) के समय में (१११०–११५६ ई०)

(क) **स्वयं महाराज गोविन्दचन्द्र**—गाहरवाल राजवंश के तीसरे शासक महाराज गोविन्दचन्द्र प्रख्यात वीर तथा प्रशासक थे और इनके समय में कन्नौज ने बड़ी तरक्की की जैसा कि इनके प्रकरण में कहा जा चुका है। साथ ही यह मूर्धन्य कोटि के विद्वान थे जिसके उपलक्ष में यह विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति की उपाधि से विभूषित हुए थे। इस उपाधि का आशय है विविध विद्याओं का विवेचन करने वाले तथा उनमें निपुण (वाचस्पति = वाचः + पतिः, यानी वाणी का स्वामी)। देवताओं के गुरु बृहस्पति का विशेषण है वाचस्पति। महाराज के दरबार में अनेक विद्वान थे जिनमें लक्ष्मीधर, सर्वश्रेष्ठ थे तथा जिनका विवरण आगे दिया जा रहा है। अन्य की कृतियाँ उपलब्ध न होने के कारण उनके बारे में जानकारी नहीं है।

संस्कृत के अतिरिक्त महाराज कई भाषाओं के ज्ञाता थे—ऐसा कहा जाता है कि वे आठ भाषाएँ जानते थे। कदाचित् उन्होंने कुछ ग्रन्थ भी लिखे हों किन्तु वे अप्राप्त हैं इसलिए निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। केवल इतना स्पष्ट है कि विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा अनेक पुस्तकालय नष्ट किए जाने के कारण बहुत से ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं।

(ख) **लक्ष्मीधर**—लक्ष्मीधर महाराज गोविन्दचन्द्र के सान्धि-विग्रहीक अर्थात् शान्ति तथा युद्ध मन्त्री थे। इस विशिष्ट पद का कार्यभार योग्यतापूर्वक चलाने के साथ-साथ यह उच्चकोटि के विद्वान, राजनीतिज्ञ तथा कवि भी थे। इन्होंने कतिपय ग्रन्थों की रचना की जो विधि, प्रशासन, कर्मकाण्ड, व्यवहार आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ कृत्यकल्पतरु (या कल्पद्रुम) है जिसमें निम्न खण्ड (कान्ड) हैं :

ब्रह्मचर्य;	वृत;
ग्रहस्थधर्म;	शुद्धि;
नियत;	राजधर्म;
श्राद्ध;	व्यवहार;
दान;	मोक्ष।
तीर्थविवेचन;	

लक्ष्मीधर के ग्रन्थ Gaekwad Oriental Series, Baroda, द्वारा सन् १९४१ से १९५३ के बीच में प्रकाशित हुए हैं।

७. महाराज विजयचन्द्र (११५६–११७० ई०) तथा महाराज जयचन्द्र (११७०–११९४ ई०) के समय में

(क) **महाकवि श्रीहर्ष**—(बारहवीं सदी का उत्तरार्द्ध, महाराज विजयचन्द्र और जयचन्द्र के दरबारी कवि)। श्रीहर्ष की गणना संस्कृत के पाँच महाकवियों में की जाती है—अन्य चार महाकवि हैं कालिदास, माघ, भवभूति और दन्डी। श्रीहर्ष का महाकाव्य नैषध-चरित जगत-प्रसिद्ध है। पूर्व परिशिष्ट में इनका तथा इनके काव्य का विस्तृत विवरण दिया गया है।

(ख) **नयचन्द्र**—(बारहवीं सदी के पूर्वार्ध का कुछ अंश और उत्तरार्ध का कुछ अंश)। रम्भामंजरी नामक नाटक के रचयिता नयचन्द्र महाराज गोविन्दचन्द्र, विजयचन्द्र और जयचन्द्र के समय के थे। इस ग्रन्थ में मुख्यतः जयचन्द्र की बातें आई हैं, उदाहरणार्थ, उसमें बताया गया है कि जिस दिन गोविन्दचन्द्र ने दशार्ण देश पर विजय प्राप्त की उसी दिन उनके पौत्र तथा विजयचन्द्र के पुत्र जयचन्द्र का जन्म हुआ तथा इसी जीत के उपलक्ष में उनका नाम जयचन्द्र रखा गया।[1] इसी प्रकार विजयचन्द्र की राज्ञी तथा जयचन्द्र की माता का नाम चन्द्रलेखा देवी बताया गया है (चन्द्रलेखायास् तनुजन्मा जैत्रचन्द्रो)[2]।

---

१. रम्भामंजरी, पृ० ४।

२. वही, पृ० ४ तथा अंक १, पृ० ६।

इस नाटक का सम्पादन पण्डित रामचन्द्र शास्त्री द्वारा किया गया है, बम्बई, १८९९।

(ग) मम्मट—(बारहवीं सदी का उत्तरार्ध; महाकवि श्रीहर्ष के समकालीन)। मम्मट की गणना प्राचीन काल के शीर्षस्थ काव्यशास्त्रियों में की जाती है। यह न तो कन्नौज दरबार के सदस्य थे और न ही इन्हें उस राज्य से कोई संरक्षण प्राप्त हुआ तथापि इनका उदय १२वीं सदी के उत्तरार्ध के लगभग हुआ क्योंकि यह श्रीहर्ष के समकालीन थे। इनको काश्मीर से सम्बन्धित किया जाता है किन्तु अनुमान है कि इन्होंने काशी में शिक्षा पाई और अधिकतर वहीं निवास किया। काव्य प्रकाश नामक इनका ग्रन्थ काव्य-विज्ञान, व्याकरण आदि का अपूर्व ग्रन्थ माना जाता है।

मम्मट कवि श्रीहर्ष के मामा (या कुछ लेखकों के अनुसार चाचा) थे तथा दोनों विद्वानों के बारे में एक दिलचस्प कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि जब श्रीहर्ष ने नैषध-चरित को १०० सर्गों में रचकर समाप्त किया तब पाण्डुलिपि को मम्मट को दिखाया। कुछ अंशों को पढ़ने के बाद मम्मट ने कहा कि कितना कष्टप्रद है कि तुमने इसे मेरे द्वारा काव्य-प्रकाश के सातवें अध्याय लिखे जाने के पहिले मुझे नहीं दिखाया जिस अध्याय में मैंने कविता में आने वाले दोषों का वर्णन किया है। उन दोषों के उदाहरण छांटने के लिए मुझे अनेकों ग्रन्थों की छानबीन करनी पड़ी। यदि उस समय तुम्हारी यह रचना मुझे देखने को मिली होती तो इसी में मुझे सब दोषों के उदाहरण मिल जाते और मुझे विभिन्न ग्रन्थों में उन्हें ढूँढने का कष्ट न उठाना पड़ता।[1] यह सुनकर नवयुवक श्रीहर्ष को बड़ी ग्लानि हुई और आवेश में आकर उन्होंने पांडुलिपि को नदी में फेंक दिया। उसी समय उनके कुछ साथी वहाँ पर पहुँच गए और पांडुलिपि का कुछ अंश नष्ट होने से बचा लिया जो कालान्तर में केवल २२ सर्गों में प्रकाशित हुआ। सम्प्रति यह ग्रन्थ इतने ही सर्गों में पूर्ण समझा जाता है यद्यपि उसमें नैषधराज नल के जीवन के पूर्वार्ध का ही वर्णन है अर्थात् दमयन्ती-स्वयंवर के कुछ बाद तक की घटनाओं ही का।

८. कन्नौज के पतन के बाद

(क) राजशेखर सूरि (चौदहवीं सदी में)—इनका प्रादुर्भाव कन्नौज राज्य के अवसान के बाद हुआ, किन्तु यह कन्नौज क्षेत्र ही के थे। यह जैन कवि थे तथा "सूरि" इनका आदर सूचक वीरुद था। यह प्रतिहार शासक मिहिर भोज (८३६–८८५ ई०) तथा महेन्द्रपाल प्रथम (८८५–९१० ई०) के समय के

१. Indian Thought (Journal), Vol. VII, No. I (1914) p. 75.

राजशेखर से भिन्न थे कि जिन्होंने काव्य मीमांसा आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की तथा जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है।

राजशेखर सूरि ने सन् १३४८ के लगभग प्रबन्ध कोश नामक गद्य ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें विभिन्न व्यक्तियों पर अलग-अलग प्रबन्ध हैं। इनमें से एक प्रबन्ध का शीर्षक है "श्रीहर्ष, विद्याधर, जयन्तचन्द प्रबन्ध" जिसमें कन्नौज के राजकवि श्रीहर्ष (नैषध-चरितम् के काव्यकार), महाराज जयचंद्र और उनके मन्त्री विद्याधर बारे में बहुत सी बातें लिखी हैं। मोहम्मद गोरी द्वारा जयचन्द्र पर किए गए आक्रमण का भी जिक्र है। राजशेखर के अनुसार जयचन्द्र की भोगपत्नी (रखेली-रानी) सूहब देवी ने मोहम्मद गोरी द्वारा कन्नौज पर (जयचन्द्र स्वयं पर) आक्रमण करवाने के लिए कुछ षड्यन्त्र किया था क्योंकि मन्त्रियों ने उसके इस प्रस्ताव का विरोध किया था कि उसका पुत्र युवराज घोषित किया जाय और उसी विरोध के कारण जयचन्द्र इस प्रस्ताव को स्वीकार न कर सके। महाराज के मन्त्री विद्याधर ने महाराज के उक्त षड्यन्त्र की जानकारी दी थी क्योंकि उन्हें स्वयं इस कपटपूर्ण और गोपनीय छल का पता न था। फिर भी महाराज ने उक्त कथन पर विश्वास नहीं किया क्योंकि सूहब देवी के प्रति उनको अनन्य मोह था।

(ख) विद्यापति (चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में)—यह पुरुष-परीक्षा नामक ग्रन्थ के रचयिता हैं जिसमें महाराज जयचन्द्र का विवरण मिलता है। इसका अंग्रेजी रूपान्तर नेरुर्कर (Nerurkar) द्वारा किया गया है (बम्बई, १९१४)।

परिशिष्ट–३

कला, संस्कृति, विद्वत्ता और व्यापार में कन्नौज का स्थान

सारपत्रक

१. प्रारम्भिक।
२. कला-हर्ष काल के पूर्व।
३. हर्ष कालीन साहित्य एवं कला।
४. सम्राट यशोवर्मन के समय से सम्बन्धित।
५. महेन्द्रपाल प्रथम (प्रतिहार) से सम्बन्धित।
६. गाहरवालों का समय।
७. सांस्कृतिक महत्व।
८. विद्वत्ता और शिक्षा।
९. कन्नौज क्षेत्र की महिमा, कतिपय समकालीन तथा अन्य लेखकों के अभिमत।
१०. व्यापार तथा उत्पादन।
११. कन्नौज की प्राचीन शान-शौकत के भग्नावशेष।
१२. निष्कर्ष।

१. प्रारम्भिक

कन्नौज प्रदेश का स्थान उन सबसे पुरातन क्षेत्रों में है जहाँ भारतीय संस्कृति तथा कला उच्च शिखर पर पहुँची। भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, वाल्मीक, अत्रि, आदि प्रसिद्ध ऋषियों और मुनियों के या तो इस प्रदेश में आश्रम थे या वे किसी अन्य प्रकार से इस प्रदेश से सम्बद्ध रहे। विश्वामित्र जो अपनी तपस्या के लिए प्रसिद्ध हैं इस प्रदेश के कुछ समय तक शासक भी रहे—अपने पिता महाराज गाधि के उत्तराधिकारी के रूप में। पहले वे क्षत्री कुल के थे किन्तु बाद में अपनी दीर्घकालीन तपस्या के फलस्वरूप उन्होंने ब्रह्मर्षि पद को प्राप्त किया।

उपर-लिखित स्थिति प्राग्-ऐतिहासिक काल की बात है। भारत का ऐतिहासिक काल लगभग ई० पू० छठी सदी से प्रारम्भ होता है किन्तु कन्नौज प्रदेश की अपेक्षित जानकारी ई० बा० छठी सदी के लगभग से ही उपलब्ध है। यह

समय सम्राट हर्षवर्धन के राज्यकाल के ठीक पहले का है जबकि कन्नौज राज्य पर मौखरियों का शासन था। कन्नौज राज्य का अस्तित्व १२वीं सदी तक रहा और उत्तर भारत में इसका अग्रगण्य स्थान रहा। छठी सदी से १२वीं सदी तक का समय राजपूत काल (अथवा युग) के नाम से जाना जाता है। इस अध्याय में मुख्यतः इसी काल से सम्बन्धित कान्यकुब्ज (कन्नौज) प्रदेश की महिमा, सांस्कृतिक देन, व्यापार आदि का उल्लेख किया जा रहा है।

इस क्षेत्र में राज्य करने वाले अनेक राजा वैदिक अनुष्ठान करने एवं विद्वत्ता को प्रश्रय प्रदान करने में प्रयत्नशील रहे। इनके दरबारों में बाण, मयूर, दिवाकर, वाक्पति, भवभूति, राजशेखर, लक्ष्मीधर, श्रीहर्ष मिश्र जैसे विद्वान रहते थे।

हुयेन-सांग ने लिखा है कि इस प्रदेश के रहने वाले पूर्ण रूप से भाषामर्मज्ञ थे एवं वे उसे ठीक ढंग से बोलते थे। उनके उच्चारण देवताओं जैसे सुरुचिपूर्ण एवं सुन्दर थे। मात्राओं आदि की उनकी अभिव्यंजना स्पष्ट और विशिष्ट थी। यही कारण था कि वे लोग इस दिशा में दूसरों के लिए अनुकरणीय होते थे और उनके बनाए हुए नियमादि सर्वग्राह्य होते थे।

२. कला—हर्ष काल के पूर्व

गुप्त काल (३२०-६०० ई०) के बाद कन्नौज में स्थापत्य[1] और मूर्तिकला का विकास उल्लेखनीय है। गुर्जर प्रतिहार शासकों के राज्यकाल (८००-१००० ई०) में नगर में कला की विशेष उन्नति हुई। इन राजाओं में—

नागभट्ट द्वितीय,
मिहिरभोज,
महेन्द्रपाल, और
महिपाल

प्रतापी शासक हुए। इनके समय में कन्नौज हिन्दू धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था। शिव, विष्णु और देवी के अनेक मन्दिर इन राजाओं के शासन काल में बने। उनके अवशेष बड़ी संख्या में वर्तमान नगर के तीन ओर दूर-दूर तक विस्तृत हैं। यह ऊँचे-ऊँचे टीलों के रूप में हैं जिनके नीचे पुरानी इमारतें दबी हुयी हैं। पूर्व की ओर गंगा नदी का प्रवाह है।

प्राप्त श्रोतों से ज्ञात होता है कि आठवीं सदी से लेकर दसवीं सदी के अन्त तक कन्नौज में कला का बहुमखी विकास होता रहा। यथार्थ में गुर्जर-प्रतिहार कालीन कला के लिए उत्तर भारत में कन्नौज का अद्वितीय स्थान है। प्राप्त मूर्तियों में अधिक संख्या में विष्णु, महाविष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा, गणेश और

१. इमारती कला। Architecture.

महिषमर्दिनी की प्रतिमाएँ हैं । सन् १९५५ के कुछ पूर्व शिव-पार्वती-परिणय की एक आकर्षक विशाल मूर्ति मिली है। इसमें शिव और उमा का अंग विन्यास तथा पाणिग्रहण के समय दोनों के भाव कलाकार ने बड़े सुन्दर सुरुचिपूर्ण ढंग से व्यक्त किये हैं ।

चतुर्भुजी विष्णु की अनेक मूर्तियों की कला भी ऊँचे ढंग की है । एक मुख तथा चतुर्मुख शिव की कुछ प्रतिमाएं भी मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व की हैं।

उपर्युक्त मूर्तियों के अतिरिक्त पायी गयी मूर्तियों में कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—नृत्य करते हुए गणपति की कई सुन्दर मूर्तियाँ, ब्रह्मा, इन्द्र तथा कार्तिकेय की प्रतिमायें ।

उक्त सभी मूर्तियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि तत्कालीन कलाकार न केवल अंग प्रत्यंगों के सुचारु प्रदर्शन में सिद्ध हस्त थे, अपितु पृष्ठभूमि—संयोजन, अलंकरण तथा भावाभिव्यक्ति के भी मर्मज्ञ थे ।

राजपूत युग (६००-१२०० ई०) की कुछ जैन तीर्थकरों की प्रतिमाएँ भी कन्नौज और उसके आस-पास मिली हैं । इससे ज्ञात होता है कि इस काल में यहाँ जैन मन्दिर भी बन गये थे। यह प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े तीर्थंकरों की हैं ।

३. हर्षं कालीन साहित्य एवं कला

सम्राट हर्षवर्धन (राज्यकाल ६००-६४८ ई०) स्वयं कुशल शासक के अतिरिक्त विद्वत्प्रिय और स्वयमेव विद्वान तथा ग्रन्थकार था । हर्ष के काव्य-यश को सुरक्षित बनाये रखने वाली उनकी दो नाटिकाएँ और एक नाटक उपलब्ध हैं जिनके नाम हैं, १. प्रियदर्शिका, २. रत्नावली और ३. नागानन्द । दोनों नाटिकाएँ रंगमंचीय दृष्टि से संस्कृत-साहित्य की सफल रचनायें हैं । देश-विदेश में उनका अनेक बार अभिनय हो चुका है । इसी दृष्टि से उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है ।

गुप्त सम्राटों का राज्यकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग में भारतीय संस्कृति और कला का जो अभ्युदय हुआ था वह गुप्तों के बाद भी अनेक सदियों तक चलता रहा । इस परम्परा को कायम रखने का श्रेय उन सभी स्वतंत्र राज्यों को है जो गुप्त साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर स्थापित हो गए थे । इन राज्यों में कन्नौज राज्य का विशेष स्थान था। इस राज्य में गुप्तों की सांस्कृतिक थाती पल्लवित होती गयी । अखिल भारतीय राजनीतिक धरातल नितान्त अस्थिरता से प्रभावित रहा किन्तु ई० बा० छठी सदी से सन्

१२०० तक की लगभग छह-सौ वर्षों की अवधि तक भारत की परम्परागत सांस्कृतिक ज्योति मुख्यतया कन्नौज राज्य तथा अन्य राज्यों के माध्यम से पूर्ववत् अलौकित होती रही।

सम्राट हर्षवर्धन के पूर्व कन्नौज के शासक मौखरिवंशी क्षत्री थे। उनके समय की तथा हर्षयुगीन कला का सम्बन्ध गुप्त कला के साथ जुड़ा हुआ है अर्थात् उसका पृथक अस्तित्व नहीं है। हर्ष के समय में स्थापत्य की दिशा में स्वतंत्र उन्नति अवश्य हुई और नाट्यशालाओं और संगीतशालाओं का निर्माण हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि हर्ष स्वयं नाटककार था और उसकी दो नाटिकाएँ रंगमंचीय दृष्टि से सफलता प्राप्त कर चुकी थीं अतः उनके तथा अन्य नाटकों के अभिनय के लिए नाट्यशालाओं तथा संगीतशालाओं की आवश्यकता थी।

हर्ष के समय में मन्दिरों, तथा मठों का भी निर्माण हुआ। हर्ष के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि वास्तु विद्या में निपुण चंडशिव ने मंडप सहित एक सुन्दर शिव मन्दिर का निर्माण किया। लेख में चंडशिव के पिता का नाम भी दिया गया है—वीरभद्र, जिसे विश्वकर्मा की तरह सर्वज्ञ एवं कुशल सूत्रधार कहा गया है।[1] इस सन्दर्भ में सिरपुर (जिला रायपुर, बिहार) का लक्ष्मण मन्दिर भी उल्लेखनीय है जो हर्ष के राज्यकाल में निर्मित हुआ था। इसका पुनर्निर्माण ९वीं सदी में हुआ। इसी प्रकार अदरभबुआ (शहाबाद जिला) के निकट मुंडेश्वरी का अष्टकोण मन्दिर भी हर्ष के समय में बना।[2] कन्नौज नगर में तथा अन्य नगरों में मन्दिरों, मठों आदि के निर्माण में हर्ष युगीन स्थापत्य का भव्य रूप प्रकाश में आया। नालन्दा के निर्माण में भी हर्ष का महत्वपूर्ण योगदान रहा जिसका उल्लेख हुएन सांग ने किया है। वहाँ पर अन्य निर्माण कार्यों के अतिरिक्त हर्ष ने कुछ मठों का भी निर्माण कराया था। पीतल की चद्दरों से आच्छादित एक मठ की स्थापना का पता सन् १९२० के लगभग लगा था।[3]

इस प्रकार हर्ष युगीन स्थापत्य तथा मूर्तिकला का विकास मन्दिरों और मठों के रूप में बना रहा। इनके निर्माण में ईंट, चूना, प्रस्तर आदि प्रयोग होते थे किन्तु साथ ही काष्ठ के भी मन्दिर तथा मठ थे। हुएन सांग ने प्रयाग में आयोजित हर्ष के छठे पंचवर्षीय दान-महोत्सव के जिस विशाल मंडप तथा उसके पृथक-पृथक विश्राम-गृहों को उल्लेख किया है वे सब लकड़ी तथा बाँस के थे। इसके अतिरिक्त धातु तथा वस्त्रों के माध्यम से शिल्प की नयी विद्याओं का भी विकास

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, भाग १, पृ० १२३।

२. कुमारस्वामी, इंडियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० १३-१४।

३. Archeological Survey of India, Annual Report, p. 21-22.

हुआ। धातु की कारीगरी और वस्त्रों की महीन किस्में तथा उन पर की गयी नक्कासी इस युग की विशेष देन रही। इसी प्रकार काष्ठ की वस्तुओं (दरवाजे, खम्भे, आदि) पर भी नक्कासी का काम उच्च कोटि का होता था। इत्रदानों, सन्दूखों आदि पर तारकशी के काम के लिए कन्नौज नगर आज भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार की कलात्मक वस्तुओं का वर्णन बाणभट्ट रचित हर्षचरित्र के द्वितीय उच्छ्वास में आया है।

बाण ने तत्कालीन विद्या केन्द्रों पर भी प्रकाश डाला है। यह केन्द्र कन्नौज नगर के अतिरिक्त नालन्दा, काशी, अवन्ति, मथुरा और तक्षशिला आदि नगरों में स्थापित थे। स्वयं कन्नौज नगर विद्यापीठ था। इन विद्या केन्द्रों में विद्वजन तत्वचिन्तन और विद्याभ्यास किया करते थे। विद्याध्ययन की भी व्यवस्था थी जिसके अनुसार मूल ग्रन्थों को पढ़ाया जाता था। अधीत विद्याओं पर वाद-विवाद भी होता था और प्रश्नों का समाधान किए जाने पर ही अध्येता को शास्त्र-व्युत्पन्न समझा जाता था।

कन्नौज प्रदेश में द्विजातियों के परिवार सुसंस्कृत होते थे। उनमें कर्तव्य-निष्ठा, कलाभिज्ञता, शास्त्ररुचि, काव्यप्रेम आदि गुण एक साथ देखने को मिलते थे। तत्कालीन संस्कृति और आचारों का वर्णन बाण ने हर्ष-चरित के प्रथम उच्छवास में अपने बन्धु-बान्धवों के प्रसंग में निम्न प्रकार किया है :—

"श्रौत आचारों का उन्होंने आश्रय लिया था। झूठ तथा दम्भ को वे पास नहीं आने देते थे। कपट, कुटिलता और शेखी मारने की आदत उनमें नहीं थी। पापों से वे बचते थे। शठता को दूर करके अपने स्वभाव को वे निर्मल बनाए रखते थे। हीनता उनमें रंचमात्र भी नहीं थी। दूसरे की निन्दा से अपने को वे चित्त वियुक्त रखते थे। उनकी धीर बुद्धि में याचकता का नाम भी नहीं था। स्वभाव से स्थिर, प्राणिजनों पर सदय, कवि, वाग्मी, सरस, भाषा में प्रीति रखने वाले, विद्वानों के अनुरूप हास-परिहास में चतुर, मिलने-जुलने में कुशल, नृत्य-गीत-वादित्र के प्रेमी, इतिहास में अतृप्त रुचि रखने वाले, दयावान, सत्यवादी, साधुओं के इष्ट, सब तत्वों के प्रति सौहार्द रखने वाले, करुणाद्रवित, रजोगुण से अस्पृष्ट, क्षमावन्त, कलाओं में निपुण और समस्त गुणों से अलंकृत द्वि-जातियों के वे कुल असाधारण थे।"[1]

सम्राट हर्ष के समय की जनता का सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन किस प्रकार का था इसका कुछ विवरण सुबन्धु रचित वासवदत्ता में भी मिलता है। इनका स्थितिकाल सम्राट हर्ष के समय का है। उक्त ग्रन्थ में राजकुमार कन्दर्प-

१. वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला (१९७३), पृ० ४४२।

केतु और राजकुमारी वासवदत्ता की प्रणय-कथा वर्णित है। यह एक लघु उपन्यास है जिससे ज्ञात होता है कि लोग कुबेर और वरुण के समान दानी थे, उदार तथा धनवान थे। वे प्रियभाषी और प्रियदर्शी थे। दूसरे के हितों का सदैव ध्यान रखते थे। धर्म में निष्ठा और अतिथि सेवा में अभिरुचि थी। वे ज्ञानी बहुज्ञ, काव्य मर्मज्ञ और कलाविद थे।

इस सम्बन्ध में दण्डी के दशकुमारचरित का उल्लेख भी वांछनीय है। दण्डी भी संस्कृत के एक महान ग्रन्थकार हुए हैं। हर्ष के ही समय में उनका प्रादुर्भाव हुआ था। उक्त ग्रन्थ से विदित होता है कि राजकुमारों और राज परिवार के सदस्यों में विभिन्न गुण व्याप्त होते थे। उदाहरणार्थ, वे वेदों और वेदांगों का अध्ययन करते थे। काव्य, नाटक, उपाख्यान, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, न्याय, मीमांसा आदि विद्याओं में उनका प्रवेश था। संगीतशास्त्र में उन्होंने वीणा, मृदंग आदि वाद्यों को बजाने में प्रवीणता प्राप्त की थी। रत्नों और मणियों की परख करना, मन्त्रविद्या का अभ्यास, औषधि, चिकित्सा, मायाजाल आदि को जानते थे। घुड़सवारी और मृगया में उनकी विशेष गति थी।[1]

शासकों के सम्बन्ध में उक्त ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि राजा को सर्वगुण-सम्पन्न होना आवश्यक था। एक नाम अज्ञात राजा के विषय में उसमें उल्लेख किया गया है कि उसमें निम्न गुण विद्यमान थे—धर्म का अवतार, पुण्यात्मा, बलशाली, सत्यवादी, दानी, विनम्र, अच्छी नसीहत देने वाला, कृपालु, दर्शनीय, बुद्धिमान, धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवस्था देने वाला, लोकोपकारी, विद्वानों का प्रेमी, उदार, प्रजापालक, कला-कौशल, हुनर-दस्तकारियों का ज्ञाता, अर्थशास्त्र, सन्धि-विग्रह आदि छह उपायों का युक्ति के साथ उपयोग करने वाला, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उनके गुण-कर्मानुसार व्यवस्थित करने वाला, कुशल प्रशासक, दीर्घायु और श्रुतकीर्ति होना।[2]

सम्राट हर्षवर्धन (६००-६४८ ई०) यद्यपि स्वयं बौद्ध न थे पर वे बौद्ध धर्म के परिपालक थे। अतः उनके राज्यकाल में अनेकों विहार और बौद्ध धर्म सम्बन्धी अन्य इमारतें स्थापित हुई थीं जिनका उल्लेख चीनी-यात्री हुयेन सांग ने किया है। हर्षवर्धन के बाद कन्नौज में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा था। फिर भी यह आशातीत है कि बौद्ध अवशेष प्रचुर संख्या में मिलने चाहिए। अतः आश्चर्य है कि अब तक इस प्रकार के अवशेष कन्नौज तथा आस-पास के क्षेत्र में

---

१. वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृत और कला, १९७२, पृ० ४४४।
२. वही, पृ० ४४४।

नाममात्र को ही मिले हैं। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान एवं उसके व्यापक प्रभाव के कारण बौद्ध मूर्तियों का निर्माण बन्द हो गया था। फिर भी आशा की जाती थी कि बौद्ध मूर्तियाँ अच्छी संख्या में मिलेंगी। कन्नौज क्षेत्र के, खासकर गंगा नदी तटस्थ, टीलों की भविष्य में खुदाई होने पर इस आशा की पूर्ति की पूर्ण सम्भावना है। साथ ही इसके द्वारा भारत की राजपूत युगीन (६००-१२०० ई०) धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश पड़ेगा।

दीर्घकालिक बर्बादी के कारण प्राचीन कन्नौज की कला बहुत कुछ नष्ट हो गयी है, तथापि बचे हुए अवशेष महत्वपूर्ण हैं। वास्तव में गुप्तकालीन कला और उत्तर मध्यकाल की भारतीय कला के मध्य में कन्नौज की कला एक गौरवपूर्ण कड़ी है। उसका सम्यक ज्ञान तत्कालीन भारतीय इतिहास को समझने के लिए आवश्यक है।

कितनी ही दुर्लभ कला-कृतियाँ बाहर चली गयी हैं। फिर भी वर्तमान कन्नौज नगर और आस-पास के विस्तृत क्षेत्र जैसे रजगिरि, मीरासरांय, देवकली, सलेमपुर, मकरन्दनगर, में यह कला दबी पड़ी है।[1]

कहा जाता है सम्राट हर्षवर्धन के समय ही में कायस्थों का उद्भव कन्नौज में हुआ। कन्नौज नगर कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के लिए भी प्रसिद्ध था जिनमें से अनेकों व्यक्तियों ने ख्याति प्राप्त की, उदाहरणार्थ, नैषध-चरित के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष मिश्र जो महाराज विजयचन्द्र तथा महाराज जयचन्द्र के दरबारी कवि थे। कन्नौज क्षेत्र की कुछ अन्य जातियाँ भी अपने को कनौजिया विशेषण से सम्बोधित करती हैं।

४. सम्राट यशोवर्मन (राज्यकाल, ७२५-७५२) के समय से सम्बन्धित

सम्राट हर्ष के निधन काल (६४७-४८) से लेकर यशोवर्मन के राज्यारोहण (७२५ ई०) तक की लगभग ७८ वर्षों की अवधि ऐतिहासिक दृष्टि से अन्धकारपूर्ण है। यशोवर्मन के बाद कन्नौज की विलुप्त शासन परम्परा पुनर्जीवित हुई। यशोवर्मन ने रामायण की कथा के आधार पर रामाभ्युदय नाम से एक नाटक की रचना की थी जो अब उपलब्ध नहीं है किन्तु उसके अस्तित्व के प्रमाण काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में वर्तमान है। मेधावी एवं विद्वान शासक होने के साथ-साथ वह विद्वानों का भी आश्रयदाता था। भवभूति और वाक्पतिराज उसके दरबारी कवि थे। वाक्पतिराज ने गाउडवाहो (गौडवाहो) नाम से

---

१. कला सम्बन्धी यह विवरण उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित कन्नौज नामक पुस्तिका पर आधारित है। पुस्तिका का निर्देशन आधार-ग्रन्थ सूची (परिशिष्ट ९) में दे दिया गया है।

एक महाकाव्य की रचना की है जिसमें यशोवर्मन को एक महान विजेता और शक्तिशाली शासक कहा गया है।

भवभूति के तीन नाटक प्रसिद्ध हैं—मालती-माधव, महावीर-चरित और उत्तरराम-चरित। भवभूति को संस्कृत-साहित्य में करुणरस का सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना गया है। इस करुण रस को भवभूति ने उत्तरराम-चरित में सीता के विछोह में शोकातुल राम के चरित्र में बड़ी मार्मिकता से अभिव्यंजित किया है।

५. प्रतिहार वंशीय महेन्द्रपाल प्रथम से सम्बन्धित (शासनकाल ८८५-९१० ई०)

कन्नौज का यह शासक जो निर्भयराज की उपाधि से अलंकृत था विद्वानों को सम्मानित करता था। उसकी राजसभा का सर्वाधिक प्रतिष्ठित कवि एवं काव्य-शास्त्री राजशेखर था। कविराज उसका वीरुद था जो उसके असाधारण पाण्डित्य का सूचक था। उसकी काव्य-मीमांसा राजपूतयुगीन सामाजिक आचार-विचारों अन्य मान्यताओं की खान है। राजशेखर ने पांचाल देशवासियों के काव्यगुणों, भाषा-प्रयोगों और आचारों की प्रशंसा की है। पांचाल देश (अथवा मध्य देश) की सीमा थानेश्वर से लेकर प्रयाग तक और हिमालय की उपत्यका से लेकर यमुना नदी तक बताई गयी है। यह उत्तर और दक्षिण दो भागों में विभक्त था। राजशेखर ने पांचाल जनपद को अन्तर्वेदी नाम से भी कहा है। दक्षिण पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा (वर्तमान अहिच्छन्ता, गुजरात प्रदेश) थी।

राजशेखर ने लिखा है कि पांचाल देश के कवियों की रचनाओं में उच्चतर शास्त्रीय तथा लौकिक अर्थों की उक्तियाँ अभिव्यंजित होती हैं। उनकी काव्य-पाठ प्रणाली भी सर्वप्रिय होती है तथा अत्यन्त मधुर भी है। उनका भाषा ज्ञान भी पुष्ट एवं सर्वांगीण है। जबकि भिन्न-भिन्न देशों के कवि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा भूतभाषा आदि किसी एक में निपुण होते हैं, किन्तु पांचाल देश के कवि सभी भाषाओं में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

कविराज राजशेखर ने कन्नौज नगर के निवासियों के बारे में लिखा है कि वे सभ्य एवं सुशिक्षित थे। महिलाओं की वेषभूषा मुग्धकारी होती थी। उनके झुमके, हार और धोती के ऊपर ओढ़ी जाने वाली पैरों तक लटकती हुई चादर बन्दनोय थी। उनका यह वेष-विन्यास, बोल-चाल व्यवहार की शैली, केशों की सज्जा और आभूषण उच्चकोटि के होते थे। इसी कारण अन्य क्षेत्रों की स्त्रियाँ उनका अनुसरण करती थीं।

यही स्थिति महेन्द्रपाल प्रथम के उत्तराधिकारियों के समय में भी रही।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुर्जर प्रतिहारों के राज्यकाल में कन्नौज साहित्य, ज्ञान और कला का केन्द्र बन गया था।

६. गाहरवालों के समय से सम्बन्धित

गाहरवालों के समय में भी कन्नौज साहित्य और कला में प्रतिष्ठित रहा। गाहरवाल शासकों में गोविन्दचन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्वयं विद्वान होने के साथ-साथ वह विद्वानों का आश्रयदाता था। कला के क्षेत्र में उसका क्या योगदान रहा इसकी समुचित जानकारी नहीं है किन्तु यह प्रमाणित है कि उसकी महिषी कुमारदेवी ने सारनाथ में धर्मचक्र जैन विहार की एक अति भव्य इमारत बनवाई थी।

गोविन्दचन्द्र के बाद विजयचन्द्र (११५६-११६९ ई०) और जयचन्द्र (११७०-११९४ ई०) क्रमशः कन्नौज के शासक हुए। संस्कृत के महाकवि श्रीहर्ष (सम्राट हर्षवर्धन से भिन्न) इन्हीं के दरबारी राजकवि थे। महाराज जयचन्द्र के यहाँ रह कर श्रीहर्ष ने अपना प्रसिद्ध नैषधचरित लिखा था। श्रीहर्ष को राजसभा में महाराज स्वयं दो बीड़ा पान और आसन दिया करते थे। यह आदर अत्यन्त सम्मानसूचक था।

नैषध-चरित राजा नल तथा दमयन्ती की प्रणय-कथा है और उसकी संस्कृत साहित्य के पाँच महाकाव्यों में गणना होती है। श्रीहर्ष ने अन्य अनेकों ग्रन्थ लिखे थे किन्तु सिवाय खण्डन-खण्ड-खाद्य के वे अब उपलब्ध नहीं हैं। यह ग्रन्थ वेदान्त के क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध है। उससे ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष वेदान्त के अतिरिक्त चार्वाक, बौद्ध, न्याय और मीमांसा आदि दर्शन-शाखाओं के पूर्ण पंडित थे। व्याकरण और काव्य शास्त्र के भी वे प्रकांड विद्वान थे। उनकी विशेष ख्याति महाकवि के रूप में है। इनके बारे में विस्तृत जानकारी एक पृथक परिशिष्ट में पहले ही दी जा चुकी है।

कन्नौज राज्य के पतन के बाद—सन् ११९२ में महाराज जयचन्द्र के सुलतान मोहम्मद गोरी द्वारा पराजित तथा वीरगति प्राप्त होने के बाद कन्नौज राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया। तभी कन्नौज के राठौर वंशी क्षत्री राजपूताना की ओर चले गये और वहाँ छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए जिनमें भारतीय कला तथा संस्कृति कन्नौज के राठौर तथा अन्य राजपूतों द्वारा पुनर्जीवित की गयी। इसका संक्षेप में विवरण अगले शीर्षक में दिया जा रहा है।

७. सांस्कृतिक महत्व

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी कन्नौज का महत्वपूर्ण स्थान है। स्कंध पुराण के

अनुसार कन्नौज (कान्यकुब्ज) पवित्र तीर्थ स्थान था जहाँ निवास मात्र से ही प्राणियों को स्वर्ग प्राप्त होता था । यथा—

मार्गशीर्षे कान्यकुब्ज उषित्वा राजसत्तम् ।
न शोचति नरोनारी स्वर्गं याति परावरम् ॥[1]

अर्थात् श्रेष्ठ राजधानी कन्नौज में मार्गशीर्ष (अगहन) मास भर निवास करने वाले नर-नारियों को शोक नहीं होता तथा मरणोपरान्त स्वर्ग प्राप्त होता है।

गंगा नदी के तट पर स्थित होने के कारण नगर का माहात्म्य बढ़ गया था। कार्तिक मास में यहाँ स्नान करने का विशेष पुण्य बताया गया है।[2] यहाँ पर गौरी, चंडी, वामन, देवगर्भ, ब्रह्मा, मिहिर (सूर्य), आदि देवी-देवता वास करते थे अर्थात् इनके मन्दिर यहाँ विराजमान थे। वस्तुतः यह मन्दिर ही नगर की प्रतिष्ठा के आधार थे।[3]

नगर के समीप महाराज गाधि का तपःस्थान था। सुविख्यात अश्वतीर्थ भी है। कथा प्रसिद्ध है कि इस स्थान पर ऋचीक ऋषि ने वरुण देवता की कृपा से एक हजार घोड़े प्राप्त किये थे जिनको देकर उन्होंने महाराज गाधि की पुत्री सत्यवती को वरण किया था। इस कथा का विवरण एक अलग अध्याय में दिया गया है। स्कन्द पुराण में इस तीर्थ की महिमा निम्न प्रकार लिखी है :—

ततः प्रभृति विख्यातमश्वतीर्थं धरातले ।
गंगातीरे शुभे पुण्ये कान्यकुब्ज समीपगम् ॥
यस्मिन् स्नाने कृते मर्त्यो वाजिमेध फलं लभेत् ।[4]

अर्थात्, उस समय से लेकर कन्नौज नगरी पृथिवीतल पर अश्वतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस कन्नौज नगरी के समीप गंगा तट पर पवित्र कुण्ड है जिसमें स्नान करके मनुष्य अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त करता है।

विभिन्न युगों में अनेक राजाओं ने भी नगर की पुण्य भूमि पर राजसूय, अश्वमेध, आदि यज्ञ किये थे। विभिन्न अध्यायों में उनका उल्लेख किया गया है। इनमें महाराज बलि ने अनेकों यज्ञ कान्यकुब्ज भूभाग में किये थे। उनका अन्तिम यज्ञ नर्मदा नदी के तट पर किया गया था क्योंकि वह स्थल भी उनके साम्राज्य के अन्तर्गत था। उस यज्ञ में भगवान वामन ने अपने केवल दो पदों से बलि के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र को नाप लिया था और तीसरे पद से बलि के

१. स्कन्द पुराण, प्रभास खण्ड, वस्त्रापथ०, १।४९।
२. भविष्य पुराण में।
३. कन्नौज पुस्तिका का पृ० १८।
४. स्कन्द पुराण, नागर खण्ड, १६५, ३७।

शीश को। भगवान वामन के यज्ञ स्थल पर आने पर बलि ने उनसे प्रार्थना की थी कि दान रूप में वे कुछ भी माँग ले, किन्तु भगवान ने केवल तीन पद भूमि माँगी जो स्वीकार की गयी। अन्त में भगवान ने प्रसन्न होकर बलि को पाताल लोक का राज्य प्रदान किया और साथ ही उनको चिरंजीवी भी बना दिया।[1]

कन्नौज नगर तथा उसके आसपास के क्षेत्र का वर्णन बौद्ध साहित्य में भी मौजूद है। गौतमबुद्ध इस नगर में आए थे। विनय-पिटक के अनुसार एक अवसर पर वह 'कण्णकुज्ज' होकर वाराणसी गये थे। यथा—

> अनुपगम्मसोरेय्यं संकस्सं कण्णकुज्जं येन....
> गंगंनदिं उतरित्वा येन वाराणसी वद अवसरि।[2]

भावार्थ, इसके बाद विरक्त भगवान बुद्ध इस कन्नौज नगरी में निवास करके तीर्थराज-प्रयाग के लिए यात्रा की। प्रयाग की यात्रा करते समय वह सर्वप्रिय वाराणसी गए।

उक्त यात्रा के पहले बुद्ध ने इसी नगर में अपने प्रधान शिष्यों को उपदेश दिया था। इस नगर तथा प्रदेश से सम्बन्धित गौतम बुद्ध की अन्य बातें भी हैं जैसे नगर से ५० कि० मी० की दूरी पर संकिसा (सांकाश्य) गाँव है जहाँ गौतम बुद्ध अपनी स्वर्गीय माता को उपदेश देने के बाद स्वर्ग से पृथिवी पर उतरे थे। गुप्तहर्ष काल (३००–६५० ई०) में कन्नौज बौद्ध संस्कृति का केन्द्र था। यहाँ १०० बौद्ध विहार थे जिनमें १०,००० भिक्षु सम्राट हर्ष के राज्यकाल (६०६–६४८ ई०) में रहते थे।[3]

इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण अलग अध्याय में दिया गया है जिसका शीर्षक है "कान्यकुब्ज देश में बौद्ध धर्म तथा मुख्य बौद्ध केन्द्र"।

हिन्दू काल की छठी शताब्दी से यवन काल तक के समय में (अर्थात् सन् ११९२–११९४ तक जब यवनों का उत्तर भारत में पृथ्वीराज तथा जयचन्द्र की पराजय के पश्चात् शासन हो गया था) कन्नौज राज्य ने भारतीय सभ्यता को

---

१. अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपःपरशुरामश्च सप्तेतेचिरजीविनः॥
अर्थात् अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम यह सातों चिरजीवी हैं।

२. विनयपिटक (ओल्डनवर्ग द्वारा अनूदित), सं० ३११।
चीनी यात्रियों ने भी बुद्ध की कन्नौज यात्रा का उल्लेख किया है।

३. ह्वेन सांग द्वारा वर्णन।

प्रभावित ही नहीं किया अपितु देश पर हावी भी रहा। इस समय में कन्नौज नगर की जन संख्या बहुत थी और उसमें कई हजार मन्दिर तथा बुद्ध विहार स्थित थे। जनता सुखी थी और समृद्ध लोग रेशमी वस्त्र पहिनते थे। निवास-स्थान पक्के और स्वच्छ थे। इमारतें प्रायः पत्थर की थीं और नगर सात किलों से रक्षित था। नगर देवताओं की स्थली मानी जाती थी और नगर में जन्म लेना भाग्यशालिता मानी जाती थी। कला और साहित्य उन्नतिशील थे।

महिलाओं की स्थिति—कन्नौज राज्य के सामाजिक स्तर पर स्त्रियों का विशिष्ट स्थान था। इसका विवरण कवि राजशेखर ने अपनी कृति काव्य-मीमांसा में दिया है। उनका समय ८वीं सदी था और उक्त ग्रन्थ के अनुसार उस समय कन्नौज राज्य में अनेकों महिला कवित्रियाँ थीं। कवि का कथन है कि शिष्टता आत्मा से सम्बन्धित है न कि व्यक्ति का पुरुष या स्त्री होने से। स्वयं उसकी धर्मपत्नी, अवन्ति सुन्दरी परम विदुषी थी।

३. विद्वत्ता और शिक्षा

सुविज्ञ राजाओं के काल में कन्नौज विद्वानों तथा विद्या का केन्द्र बन गया था। विद्वानों को शासकों का संरक्षण प्राप्त था। पूर्व ऐतिहासिक काल के बाद इस राज्य के सर्वप्रथम स्वतन्त्र शासक मौखरी राजा थे (५४०–६०६ ई०)। वे स्वयं विद्वान थे और विद्वानों का आदर करते थे। उक्त शासकों द्वारा ग्रन्थकार बाण भट्ट के गुरु समादृत हुए थे। यथा—

स शेखरैः मौखरिभिः कृताचनन्।[1]

अर्थात् शिर में मालायें धारण किए हुए मुखर वंश के राजाओं ने जिनका पूजन किया।

मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्र गुप्तम् के रचयिता कवि विशाखदत्त के संरक्षक महाराज अवन्ति वर्मन मौखरी थे।

मौखरी वंश की समाप्ति पर सम्राट हर्षवर्धन सिंहासनारूढ़ हुआ। वह उच्च कोटि का विद्वान था और ग्रन्थकार भी जैसा कि अलग अध्याय (सम्राट हर्षवर्धन) में दर्शाया गया है। सम्राट की उदारता ने अनेक विद्वानों को आकर्षित किया जिसके फलस्वरूप कन्नौज में विद्या और ज्ञान का भण्डार एकत्रित हो गया। उक्त अध्याय में इनकी भी चर्चा है। हुएन सांग ने कान्यकुब्ज निवासियों के विद्या और कला प्रेम की प्रशंसा की है।

हर्षवर्धन के बाद महाराज यशोवर्मन (७२५–७५२ ई०) विद्या प्रेमियों में परिगणित हैं। स्वयं तो कवि थे ही कवियों के आश्रयदाता भी थे। यथा—

१. बाणकृत, कादम्बरी।

"कविर्वाक्पतिराज श्रीभवभूत्यादि सेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवंदिताम् ॥"[1]

अर्थात्, कवि वाक्पतिराज, भवभूति आदि कवियों के द्वारा सेवा किए गए महाराज यशोवर्मा ने (काश्मीर-नरेश ललितादित्य द्वारा) जीते जाने पर विजेता के गुणों की स्तुति की। [यह स्तुति यशोवर्मा ने स्वयं विरचित श्लोकों में की थी]।

उक्त कवियों के ग्रन्थों का निर्देश परिशिष्ट में दिया गया है। जिसका शीर्षक है "कन्नौज के अन्य उच्च कवि तथा ग्रन्थकार"।

उसके बाद प्रतिहार युग (७७५–१०००) आता है जिसमें कन्नौज उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा था। समकालीन मुस्लिम ग्रन्थकारों (सुलेमान, मसऊद, अलबरुनी, आदि) की रचनाओं से इसका आभास मिलता है। वे सब यहाँ की सैनिक शक्ति, धन सम्पदा, ऐश्वर्य आदि को देख कर चकित हो गये थे। इसी युग में कवि राजशेखर का प्रादुर्भाव हुआ था। राजा महेन्द्रपाल का वह गुरु तथा सभासद था। स्वयं महेन्द्रपाल कवि तथा विद्वान साहित्यिक था। उसके ग्रन्थों का वर्णन किया गया है परिशिष्ट शीर्षक में "कन्नौज के अन्य कवि"। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी विदुषी थी और उसी की प्रेरणा से कवि ने कर्पूरमंजरी रची थी। राजशेखर ने यहाँ के निवासियों को काव्य मर्मज्ञ कहा है और यहाँ के कवियों के मधुर कविता पाठ की प्रशंसा की है।[2]

सन् १०१८ में महमूद गजनवी ने कन्नौज को ध्वंस कर दिया था जिससे नगर की सभी मान्यताएँ नष्ट हो गयी थीं। बाद में बारहवीं सदी में गाहरवाल शासकों के अन्तर्गत नगर का पुनरुत्थान हुआ। यह शासक स्वयं विद्वान थे तथा विद्वानों का आदर करते थे। यही कारण था कि वे "विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति" की उपाधि से अलंकृत थे। राजा मदनपाल ने प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ "मदन-विनोद निघंटु" रचा था। महाकाव्य नैषधीय चरितम् के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष इसी काल में हुए थे। उनका विस्तृत विवरण दिया गया है परिशिष्ट (श्रीहर्ष मिश्र कन्नौज के राजकवि) में। इसी युग के अन्य कवियों का निर्देश परिशिष्ट ("कन्नौज के अन्य कवि") में मिलेगा।

महाराज गोविन्दचन्द्र के राज्यकाल (१११०–११५५ ई०) के समय काश्मीर नरेश जयसिंह के मंत्री अलंकार द्वारा अखिल भारतीय विद्वत् परिषद् आयोजित

---

१. राजतरंगिणी।

२. राजशेखर कृत काव्य-मीमांसा।

किया गया था। उसमें शरीक होने के लिए गोविन्दचन्द्र ने सुहल नामक विद्वान को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा था जैसा कि मंख विरचित श्रीकंठ चरित (२५/१०२) से विदित होता है।[1]

कान्यकुब्ज देश के विद्वानों की प्रतिष्ठा का एक सबूत यह भी है कि काश्मीर-नरेश जलौक ने यहाँ से धार्मिक तथा व्यवहार कुशल व्यक्तियों को ले जाकर अपने राज्य में बसाया था।[2] इसी प्रकार वंग (बंगाल) के राजा आदिसूर ने यहाँ से पाँच विद्वान ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया था। अन्य विभिन्न राज्यों के शासक कान्यकुब्ज देश (मध्य देश) के विद्वान ब्राह्मणों को दान सम्मान देते थे।

शिक्षा—पूर्व ऐतिहासिक काल तथा ऐतिहासिक काल में भी कन्नौज एक विद्यापीठ थी जिसका अन्त हुआ सन् ११९४ में जब मोहम्मद गोरी द्वारा महाराज जयचन्द्र पराजित तथा वीरगति को प्राप्त हुए और कन्नौज राज्य पर हिन्दू आधिपत्य समाप्त हो गया। इस प्रकार की विद्यापीठें दक्षिण भारत में पुणे (पूना) और उत्तर भारत में कन्नौज तथा काश्मीर में स्थित थीं।

कन्नौज के बौद्ध विहार भी शिक्षा के केन्द्र थे। अन्य प्रदेशों के जिज्ञासु विद्यार्थी भी यहाँ आते थे। उनके निवास तथा भोजन आदि के लिए व्यवस्था थी। चीनी यात्री हुएन सांग यहाँ के भद्र विहार में तीन महीने रहा था और पिटकाचार्य वीरसेन से शिक्षा प्राप्त की थी।

७. कन्नौज (कान्यकुब्ज) क्षेत्र की महिमा, कुछ समकालीन तथा अन्य लेखकों के अभिमत

चचनामा में—चचनामा अरबी भाषा का ग्रन्थ है किन्तु इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। इसमें अरबों द्वारा सिन्ध विजय का वर्णन है तथा समकालीन अन्य ऐतिहासिक बातें इसमें आई हैं। सन् ७१२ में अरबी सेनानायक मोहम्मद कासिम ने सिन्ध के हिन्दू शासक महाराज दाहिर को परास्त करके सिन्ध पर कब्जा कर लिया था।

उक्त पुस्तक में कन्नौज के दो शासकों के नाम आए हैं, यानी राजा राई जहतल और राजा राई हर चन्दर। यह दोनों नाम अपभ्रन्श जान पड़ते हैं, किन्तु

---

१. यथा—अन्यः स सुहलस्तेन ततोवन्द्यत पडितः।
दूतो गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जस्य भूभुजः॥
अर्थात्, कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र के दूत पन्डित सुहल सभा में सम्मानित किए गए।

२. कल्हणकृत राजतरंगिणी।

असली नाम क्या थे यह ज्ञात नहीं होता। जिस समय की यह घटना लिखी गयी है यानी सन् ७१२ के कुछ समय बाद उस दौरान में कन्नौज राज्य के शासक प्रतिहार वंशी थे जो बड़े शक्तिशाली थे। इतिहासकारों ने लिखा है कि प्रतिहारों ने अरबों को सिन्ध से आगे बढ़ने से रोका।

सन् ७१२ ई० में अरब के मुसलमानों ने सिन्ध के हिन्दू शासक दाहिर को पराजित करके सिन्ध पर अपना राज्य स्थापित किया। यह विजेता मुहम्मद कासिम था जो अरबों का सेनापति था और जो इस्लाम के खलीफा का प्रतिनिधि होकर आया था। विजय के उपरान्त वही (मुहम्मद कासिम) खलीफा द्वारा सिन्ध का गवर्नर नियुक्त हुआ। अरब लोगों ने पैगम्बर साहब की मृत्यु (सन् ६२२) के २० वर्ष के भीतर ही सीरिया, पैलेस्टाइन, मिस्र तथा ईरान को जीतने के बाद सिन्ध पर आधिपत्य किया था।

सिन्ध विजय के थोड़े ही समय बाद मोहम्मद कासिम ने मुलतान को जीता और वहीं ठहरा। उसके साथ ५०,००० सवार थे और लड़ाई का सामान भी। तब उसने अबू हकीम शैवानी को १०००० सवारों का नेतृत्व देकर कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए भेजा। उसके पास खलीफा का पत्र था जिसमें कन्नौज के राजा से कहा गया था कि वह इस्लाम धर्म ग्रहण करें, खिराज भेजे और अधीनता प्रकट करें।

उक्त विवरण चचनामा से लिया गया है। आगे चलकर उसी ग्रन्थ में निम्न बातें लिखी हैं :—

"सेना और अबू हाकिम उधाफर पहुँचते हैं—उस समय कन्नौज का राजा जहतल राई का पुत्र था। जब सेना उधापर तक पहुँच गयी तो अबू हाकिम शैवानी ने आदेश दिया कि उमरु कलाबी के पुत्र जेद को सामने उपस्थित किया जाए और उससे कहा" :—

> "जेद, तुम राई हरचन्दर के पास, जो जहतल का पुत्र है, दूत कार्य करने के लिए जाओ और उसको आदेश सुनाओ कि वह इस्लाम के अधीन हो जाए। उससे कहना कि समुद्र से काश्मीर तक सारे राजाओं ने और सामन्तों ने मुसलमानों की सत्ता और शक्ति मान ली है और अब अरब सेना के अध्यक्ष इमामुद्दीन के प्रति, जो काफिरों का उत्पीड़क है, अधीनता प्रकट की है। यह भी कहना है कि कुछ लोगों ने इस्लाम ग्रहण कर लिया है और अन्य लोगों ने खलीफा के कोष में खिराज भेजना मंजूर कर लिया है।"

"कन्नौज के राई हर चन्दर का उत्तर—राई हर चन्दर ने उत्तर दिया :—यह देश लगभग १६०० वर्ष से हमारे अधीन है। हमारी सत्ता के समय में किसी को हमारी सीमा पर अतिक्रमण करने का या हमारा विरोध करने का या हमारे राज्य पर हाथ लगाने का साहस नहीं हुआ। मुझे आपसे क्या भय है कि आप ऐसे प्रस्ताव करें और अपने मन में ऐसी असंगत बातें लावें। राजदूत को बन्दी-गृह में डालना उचित नहीं है, अन्यथा इस बात के लिए और इस असम्भव दावे के लिए तुम्हारे साथ ऐसा ही बर्ताव होना चाहिये। अब दूसरे शत्रु और राजा तुम्हारी बात को सुन सकते हैं परन्तु मैं नहीं। अब अपने स्वामी के पास लौट जाओ और उनसे कहो कि हम एक दूसरे से लड़ाई लड़ कर देख लें और अपने बल की परीक्षा कर लें। या तो मैं जीत जाऊँगा या मुझे जीत लिया जाएगा। जब लड़ाई में एक पक्ष या दूसरे पक्ष की शक्ति का और साहस का पता लग जाएगा तब युद्ध या विग्रह का निश्चय किया जाएगा।"

"जब राई हरचन्दर का पत्र और सन्देश मोहम्मद कासिम को दिया गया तो उसने मुखियाओं से, सामन्तों से, सेनापतियों से और सैनिकों से परामर्श किया और कहा—

"अब तक तो ईश्वर के अनुग्रह से हमने भारत के राजाओं को हरा दिया है और उनकी इच्छाएँ नष्ट कर दी गयी हैं और विजय इस्लाम के पक्ष में हुई है। आज हम इस अभिशप्त काफिर का सामना करने के लिये आए हैं जो अपनी सेना और हाथियों के कारण फूला हुआ है। ईश्वर की शक्ति और सहायता से हम उसको दबा देंगे और उस पर विजय प्राप्त कर लेंगे। आप लोगों को चाहिए कि खूब परिश्रम करें।"

"हर चन्दर राई के विरुद्ध लड़ने के लिए सब मिल कर तैयार थे। उन्होंने मुहम्मद कासिम को प्रेरित किया कि युद्ध की घोषणा कर दे।"

उपर्युक्त निर्णय कार्यान्वित न हो सका क्योंकि दूसरे दिन प्रातः काल मुहम्मद कासिम को अपने स्वामी बगदाद के खलीफा का पत्र मिला जिसके अनुरूप उसे तुरन्त बगदाद के लिए प्रस्थान करना पड़ा। खलीफा को मुहम्मद कासिम के विरुद्ध संगीन शिकायत मिली थी अतः उसे दण्ड देने के लिए खलीफा ने उसे बुलाया था। बगदाद पहुँचने पर खलीफा ने उसे प्राण दण्ड दिया।

अल-मसूदी द्वारा वर्णन—इसी प्रकार अल-मसूदी ने अपनी अरबी पुस्तक में कन्नौज राज्य के बारे में लिखा है। उसने अनेकों देशों का भ्रमण किया था और भारत भी आया था। उक्त पुस्तक सन् ९५६ के कुछ वर्ष पहले लिखो गयी थी। उसका भी अंग्रेजी अनुवाद सर हेनरी इलियट तथा प्रो० डाउसन ने किया था और

उसके हिन्दी अनुवाद प्रो० मथुरा लाल शर्मा ने किया था। उसमें कन्नौज नरेश के बारे में निम्न विवरण आया है :—

''कन्नौज नरेश बौऊरा[1] का राज्य लगभग १२० सिन्धी परसंग लम्बा चौड़ा है। एक परसंग इस देश के ८ मील के बराबर है। इस राजा के पास चार दिशाओं के अनुसार चार सेनाएँ हैं। प्रत्येक सेना में ७ लाख या ९ लाख आदमी हैं। उत्तर की सेना मुलतान के राजा से, मुसलमानों से और उसकी सीमस्थ प्रजा से युद्ध करती है। दक्षिण की सेना मानकिर नरेश बल्हरा से युद्ध करती है। शेष दो सेनाएँ शत्रु का सामना करने के लिए प्रत्येक दिशा में प्रयाण करती हैं।''

ऊपर बताई गयी सेना की संख्या में सैनिकों के अतिरिक्त सेना के अन्य कर्मचारियों की संख्या भी शामिल है, जैसे भोजन और रसद से सम्बन्धित कर्मचारी, घोड़ों के साईस, घसियारे, हाथियों के फीलवान, नाई, कहार, मेहतर आदि। अनुमानतः सेवकों की संख्या सैनिकों की संख्या से लगभग दूनी होती थी।

रशीदुद्दीन की अरबी पुस्तक—इसी प्रकार अरबी लेखक रशीदुद्दीन की पुस्तक जमिउत-तवारीख में कन्नौज का निम्न वर्णन आया है। यह पुस्तक सन् १३१० में प्रकाशित हुई थी। उसका अंग्रेजी अनुवाद सर हेनरी इलियट तथा प्रो० डाउसन ने किया था। उसी से डॉ० मथुरा लाल शर्मा ने हिन्दी अनुवाद किया :—

> ''कन्नौज नगर गंगा के पश्चिमीय तट पर बसा हुआ है। पहले यह बड़ा ऐश्वर्यशाली नगर था, परन्तु जब उसके शासक इसको छोड़ गए तो इस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया और यह नष्ट हो गया। अब बारी राजधानी है। यहाँ से कन्नौज की तीन दिन की यात्रा है और यह गंगा के पूर्वी तट पर बसा हुआ है। कन्नौज पांडवों के वंशजों के कारण उतना ही प्रसिद्ध''''है जितना मथुरा वासदेव (कृष्ण) के कारण प्रसिद्ध है।''

नोट—उक्त उद्धरण में कहा गया है कि 'पहले' कन्नौज नगर बड़ा ऐश्वर्यशाली था। यहाँ पहले से तात्पर्य सन् १३१० के पहले से है, जब कि उक्त पुस्तक प्रकाशित हुई थी। सन् ११९४ में महाराज जयचन्द्र मोहम्मद गोरी द्वारा पराजित होकर वीरगति को प्राप्त हुए थे और उसी के बाद राजधानी के रूप में नगर का अस्तित्व नष्ट हो गया था। महाराज के उत्तराधिकारी कन्नौज को छोड़-

---

१. जब मसूदी भारत में आया (९१६ ई०) तो कन्नौज के राजाओं के वंश का नाम बहुत करके तौवर या तोमर था। इसी का अपभ्रंश बौऊरा प्रतीत होता है। (यह पद नोट डॉ० शर्मा के अनुवाद में आया है)।

कर बारी चले गये थे और जिसे उन्होंने नई राजधानी बनाया था जैसा कि उक्त वर्णन में बताया गया है।

सुलेमान सौदागर की पुस्तक—अपनी अरबी पुस्तक 'सलसिलातुल-तवारीख' में सुलेमान सौदागर ने कन्नौज की सराहना की है। सुलेमान एक अरबी सौदागर था जिसने भारत और चीन की कई यात्रायें की थीं और उक्त पुस्तक में अपनी यात्राओं का वर्णन लिखा है। पुस्तक सन् ८५१ ई० में लिखी गयी थी। भारत तथा कन्नौज के बारे में निम्न बातें आई हैं :—

"भारतीयों में ऐसे लोग हैं जो धर्म के पक्के हैं और विद्वान हैं, इनको ब्राह्मण कहा जाता है। इन लोगों में राजसभा में रहने वाले कवि, ज्योतिषी, दार्शनिक, शाकुनिक आदि हैं। शकुन कौवों की उड़ान से भी लिये जाते हैं। यह बातें विशेषकर कन्नौज पर लागू होती हैं जो एक विस्तृत देश और जुर्ज का साम्राज्य है।"

उपरलिखित 'जुर्ज' का तात्पर्य कान्यकुब्ज साम्राज्य से जान पड़ता है, जिसकी राजधानी कन्नौज थी। इस साम्राज्य के शासकों का नाम नहीं दिया गया है किन्तु उसके बारे में निम्न बातें लिखी गयी हैं :—

"इस राजा (जुर्ज के राजा) के पास बहुत बड़ी सेना है। किसी अन्य भारतीय नरेश के पास इतनी अच्छी अश्व सेना नहीं है। इसका अरबों के प्रति मित्र भाव नहीं है परन्तु यह मानता है कि अरबों का राजा राजाओं में सबसे बड़ा है। भारतीय राजाओं में इस्लाम का शत्रु इस राजा के बराबर दूसरा कोई नहीं है। इसका राज्य भूमि की नोक जैसा है। इसके पास प्रभूत सम्पत्ति और बहुत से घोड़े और ऊँट हैं। इसके राज्य में अदल-बदल चाँदी और सोने के बुरादे से होती है। ऐसा कहा जाता है कि इस देश में इन धातुओं की खानें हैं। भारतवर्ष में दूसरा कोई ऐसा देश नहीं है जो इसके समान लुटेरों से मुक्त हो[1]।"

अल इद्रीसी कृत पुस्तक—अपनी अरबी पुस्तक में अल इद्रीसी ने उत्तर भारत (जिससे मुख्यतः कन्नौज साम्राज्य से तात्पर्य है) के निवासियों की प्रशंसा निम्न शब्दों में की है :—

"भारतीय लोग स्वभावतया न्यायप्रिय हैं। अपने व्यवहार में वे इससे कभी नहीं डिगते। उनकी ईमानदारी, वचनबद्धता तथा अपनी प्रतिज्ञाओं पर अटलता

---

१. इलियट और डाउसन (Elliot and Dowson) की अंग्रेजी पुस्तक "हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १" (भारत का इतिहास) के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत।

प्रसिद्ध हैं। इन गुणों के कारण इनकी इतनी प्रसिद्धि है कि सब ओर के लोग इस राज्य में आते हैं।"

उक्त पुस्तक बारहवीं सदी के प्रारम्भ में लिखी गयी थी। फ्रेन्च भाषा में इसका अनुवाद १८३६ ई० में हुआ था। उसी से इलियट और डाउनसन ने अंग्रेजी में अनुवाद करके अपनी पुस्तक "भारत का इतिहास, प्रथम भाग" में सम्मिलित किया। अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद डॉ० मथुरालाल शर्मा ने किया।

इलियट और डाउनसन के "भारतीय इतिहास" में कन्नौज के वैद्य को बगदाद बुलाये जाने का उल्लेख—उक्त पुस्तक में कन्नौज राज्य से एक प्रसिद्ध वैद्य का खलीफा हारुन रशीद को चिकित्सा के लिये बुलाए जाने का उल्लेख किया गया है। अरबों के इतिहास में खलीफा हारुन रशीद का शासन काल विख्यात है। उसने ७८६ से ८०९ ई० तक राज्य किया और साम्राज्य को विस्तृत तथा समृद्धशाली बनाया। उसने अपनी चिकित्सा के लिए एक भारतीय राजा से एक कुशल वैद्य को बगदाद भेजने के लिए लिखा था जो भेजा गया और जिसने खलीफा को रोग मुक्त कर दिया। यह ज्ञात नहीं कि किस राजा ने यह वैद्य भेजा था किन्तु ऐसा अनुमान है कि यह कन्नौज का राजवैद्य था। इस घटना का वर्णन इलियट और डाउनसन ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक, "भारत का इतिहास, प्रथम भाग" में निम्न प्रकार किया है :—

> "हारुन के राज्य काल में जो एक विशेष घटना हुई उसका भी उल्लेख आवश्यक है। तबरी ने लिखा है कि इस खलीफा ने अरब समुद्र के मार्ग से एक राजदूत अनेक भेटों के साथ किसी भारतीय राजा के पास भेजा और कहलवाया कि मैं एक क्रूर रोग से पीड़ित हूँ और खुरासान की लम्बी यात्रा पर जाने वाला हूँ। इसलिये भारत का प्रसिद्ध वैद्य कंका या मानकबा उस प्रान्त के दौरे में मेरी चिकित्सा के लिए भेज दिया जाए। मैं शासक की हैसियत से वायदा करता हूँ कि बल्ख पहुँचने पर मैं उसको वापस स्वदेश जाने की अनुमति दे दूँगा।"

> "इस प्रार्थना के अनुसार वैद्य भेजा गया, उसको चिकित्सा में सफलता प्राप्त हुयी और शाही रोगी इतना स्वस्थ हो गया कि हलवान की घाटियों में होकर वह अपने उद्दिष्ट स्थान पर चला गया। परन्तु अपनी यात्रा का उद्देश्य पूर्णरूपेण प्राप्त करने के पहले ही उसकी तूस पर मृत्यु हो गयी- परन्तु भारतीय वैद्य को वायदे के अनुसार यथा समय बल्ख लौट जाने की अनुमति मिल गयी और वहाँ से वह सुरक्षित अपने देश को वापस आ गया।"

"उसका स्थान सिन्ध नहीं होगा तो उसके पास ही होगा क्योंकि उसको बुलाने के लिए जो राजदूत भेजा गया था वह जलमार्ग से आया था। कुछ लेखकों ने लिखा है कि यह वैद्य हिन्दूकुश पर्वत को पार करके गया था और ईरान की खाड़ी के मार्ग से स्वदेश लौटा था।"[1]

जिस समय की उक्त घटना का उल्लेख है (७४६–८०९ ई०) उस दौरान में कन्नौज राज्य पर प्रतिहारवंशी राजा शासन करते थे। उनका राज्य विस्तृत और समृद्धशाली था तथा कन्नौज नगर विद्वत्ता, कला कौशल और आयुर्वेद का उत्तर भारत में केन्द्र था। कोई और राज्य उसके मुकाबले का सिन्ध प्रान्त के आस-पास न था। वह वैद्य सिन्ध प्रदेश का नहीं हो सकता था क्योंकि वह प्रदेश खलीफा के गवर्नर के ही अधीन था और उस पर कोई 'भारतीय' राजा शासन न करता था और यदि चिकित्सक को सिन्ध से ही बुलवाना था तो भेंट की बात असिद्ध होती है। इन तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि कथित वैद्य कन्नौज नरेश द्वारा ही भेजा गया था और उसके पास खलीफा का राजदूत भेंट लेकर आया था।

यह भी कथनीय है कि अरब वासियों ने हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का बड़ा आदर किया था और अनेक अरब विद्वानों ने भारतीय पंडितों से देश की प्राचीन विद्याओं का अध्ययन भी किया था। ज्योतिष, गणित, दर्शन-शास्त्र, आयुर्वेद आदि के संस्कृत ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद कराया गया। अरबी लोग भारतीय वैद्यों को बगदाद भी ले गये थे और उन्हीं की देख-रेख में औषधालय चलाए थे। यह तथ्य एक ओर आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति की श्रेष्ठता को प्रमाणित करता है और दूसरी ओर अरबों की गुणग्राहिता को।

कर्नल सर हन्गरफोर्ड होलडिच द्वारा प्रशस्ति—कान्यकुब्ज प्रदेश की महिमा में कर्नल सर थामस हन्गरफोर्ड होल्डिच ने कुछ विचार व्यक्त किए हैं। ब्रिटिश शासन काल में वे सर्वे आफ इण्डिया (Survey of India) के उप-अधीक्षक थे और एक इतिहासकार भी। अपनी पुस्तक इण्डिया (India) में कान्यकुब्ज प्रदेश के भूभाग के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"This has been for ages the most famous part of India. In pre-historic times it was the Central or Middle Land, the Madhya-desh of the sacred books of the Hindus, and of the

---

१. इलियट और डाउनसन कृत "भारत का इतिहास, प्रथम भाग" का डॉ० मथुरा लाल शर्मा द्वारा हिन्दी अनुवाद, १९७३, पृष्ठ ३३३।

ancient poets, the abode of the solar and lunar races[1], and of the gods and heroes of the Mahabharat and the Ramayana.

"....This tract contains the most holy places of India, Benaras, Ajodhya, Kannauj, Muttra, and many others; it was here that Buddha was born, and preached and died, and it was from this centre that his creed spread over a great part of the western world.

....In our own times, this has been politically the most important part of our Indian Empire."[2]

अर्थात्, यह भूभाग सदियों से भारत का अति प्रसिद्ध क्षेत्र रहा है। पूर्व ऐतिहासिक काल में यह मध्य देश के नाम से विख्यात था जिसका उल्लेख हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तकों में तथा प्राचीन कवियों के काव्यों में हुआ है। इसी भूभाग में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियों के आवास थे तथा महाभारत और रामायण में वर्णित देवताओं एवं शूर वीरों की स्थली भी यहीं थी।

तथा

इस क्षेत्र में भारत के पूजित नगर अधिकतम संख्या में स्थित हैं जैसे बनारस (अब वाराणसी) अयोध्या, कन्नौज, मथुरा तथा अनेकों अन्य। यहीं महात्मा बुद्ध जन्मे थे तथा यहीं उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया था और यहीं उनका निर्वाण हुआ था। बौद्ध धर्म का यही केन्द्र था कि जहाँ से वह पश्चिमी दुनिया के बड़े भाग में फैल गया था।....हम लोगों के समय[3] में भी यह भूभाग हमारे भारतीय साम्राज्य में राजनैतिक दृष्टि से अग्रगणी स्थान रखता है।

१०. व्यापार तथा उत्पादन

इत्र तथा सुगन्धित तैल—कन्नौज नगर इत्र उत्पादन तथा व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध था और अब भी है। यहाँ के बने हुये इत्र भारत भर में प्रचलित हैं और बड़ी तादाद में विदेशों को भी निर्यात होते हैं। इत्र बनाने योग्य सभी फूल और जड़ें कन्नौज में उत्पादित नहीं होते अतः यहाँ की फर्में हैदराबाद, उड़ीसा आदि सुदूर स्थानों में जाकर बहुत सा इत्र आदि बना लाती हैं। इस प्रकार

---

१. सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियों से तात्पर्य है।

२. *India*, by Col. Sir Thomas Hungerford Holdich, first Indian Reprint, 1975, by Light and Life Publishers, New Delhi, page 147.

३. अंगरेजी शासन-काल।

कन्नौज की फर्में अपनी प्रतिष्ठा को कायम किए हुए हैं। खस का इत्र बनाने के लिए उत्पादक भरतपुर, सांडा तथा कानपुर जिले के कुछ गाँवों में जाते हैं।

इत्रों के निर्यात से देश के लिए अच्छी मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

साथ ही यहाँ सुगन्धित तेलों का भी बड़ी मात्रा में उत्पादन होता है जैसे बेला, चमेली, गुलरोगन। यहाँ का गुलकन्द भी मशहूर है।

सन्दल (चन्दन लकड़ी का तेल) का उत्पादन भी यहाँ प्रचुर मात्रा में होता है। इसके लिये यहाँ कई मिलें स्थापित हैं। चन्दन की लकड़ी और बुरादा दक्षिण भारत से मँगाया जाता है। यह सन्दल इत्र बनाने के काम आता है और औषधि आदि में भी प्रयुक्त होता है। देश के अन्य भागों और विदेशों को यह निर्यात होता है। पहले समय में सन्दल काठ के देशी कोल्हुओं में चन्दन की लकड़ी को पेर कर निकाला जाता था जो उच्चकोटि का होता था। अब मिलों के हो जाने से सन्दल निकालने के काठ के कोल्हू प्रायः समाप्त हो गये हैं उसी प्रकार जैसे कि अन्य तेल पेरने के कोल्हू अब बहुत कम रायज हैं।

प्राचीन समय में कन्नौज फूलों के लिए भी मशहूर था और यहाँ सुगन्धयुक्त फूलों के बड़े-बड़े उद्यान थे। इन फूलों से इत्र, तेल, गुलकन्द (गुलाब के फूलों से) आदि बनाये जाते थे और देश के समीपवर्ती भागों को यह फूल निर्यात भी होते थे। इसी कारण कन्नौज नगर प्राचीन काल में कुसुमपुर नाम से विख्यात था।

तारकशी का काम—लकड़ी पर पीतल की तारकशी का काम भी यहाँ की एक विशेष कला है। यह काम काठ के इत्रदानों, शृंगारदानों, अन्य छोटे बक्सों, खड़ाउओं आदि पर बड़ी खूबसूरती के साथ किया जाता है। यह तारकशी टिकाऊ होने के साथ-साथ अशयाय को आकर्षक भी बना देती है।

कन्नौज के गट्टे—मिठाइयों में कन्नौज के गट्टे अपना विशेष स्थान रखते हैं। पर्यटकगण इनको तोहफों के रूप में ले जाते हैं। शक्कर में कन्द मिलाकर बनाए जाते हैं, कुछ उसी प्रकार जैसे कि लखनऊ की रेवड़ी, किन्तु आकार में यह मनुष्य के पंजे की शक्ल से मिलते जुलते पर कुछ छोटे होते हैं। तिल के बजाय इन पर किशमिश, पिस्ते की कतरन (उसके अभाव में गरी-गोले की कतरन हरी रंगी हुई) चिपकाई जाती है। खाने में अत्यन्त मुलायम, खुशबूदार और स्वादिष्ट होते हैं। कितने ही दिनों रखे रहने पर खराब नहीं होते।

कपड़े पर छपाई का काम (फर्रुखाबाद में)—कन्नौज नगर से लगभग ६० किलोमीटर की दूरी पर स्थित फर्रुखाबाद में कपड़े पर छपाई का काम विख्यात है। खासकर लिहाफों की पर्दे बहुतायत से छापी जाती है और देश के विभिन्न भागों को निर्यात होती हैं।

छिबरामऊ के पेड़े—कन्नौज से लगभग ४० किलोमीटर की दूरी पर छिबरामऊ कस्बा है जो उसी नाम की तहसील का मुख्यालय भी है। यहाँ के पेड़े उसी प्रकार मशहूर हैं जैसे कि मथुरा के पेड़े। खोये को भली प्रकार घोंट कर बनाए जाते हैं, मुलायम और सौंधे होते हैं तथा महीनों तक खराब नहीं होते। इन्हें छिबरामऊ के बाहर भेजने का प्रबन्ध नहीं है किन्तु खाने के शौकीन लोग इन्हें मंगाते रहते हैं और नगर में आने वाले भी लौटते समय अपने साथ लेते जाते हैं।

फुलवा आलू—कन्नौज क्षेत्र फुलवा आलू के लिए भी प्रसिद्ध है। यह गुलाबी रंग का होता है और खाने में मीठा। इसका बीज दूसरे प्रदेशों को निर्यात होता है।

तम्बाकू—कन्नौज क्षेत्र की तम्बाकू विख्यात है। लोनी मट्टी के खेतों में इसकी पैदावार विशेषतया होती है। खाने और पीने दोनों प्रकार की तम्बाकू की बड़ी-बड़ी पत्तियाँ होती हैं जो सुखा कर रख ली जाती हैं। इन्हीं से बाद में प्रत्येक प्रकार की तम्बाकू तैयार होती है; पत्तियाँ बाहर भी भेजी जाती हैं। खाने की तम्बाकू कई प्रकार की बनाई जाती है, जैसे जर्दा, तम्बाकू, तम्बाकू की गोलियाँ, चूने के साथ खाने वाली मिसवाँ तमाखू आदि। पीने के दर्जे में सिगरेट, बीड़ी, हुक्का आदि आते हैं। उत्तर प्रदेश में तम्बाकू की उपज के तीन क्षेत्र हैं—कन्नौज, मैनपुरी तथा सीतापुर जिले का बिसवाँ क्षेत्र। इन्हीं क्षेत्रों से तम्बाकू की पत्तियाँ सिगरेट बनाने हेतु देश के बाहर निर्यात होती हैं तथा देश में भी उनकी बहुत खपत है।

आयात-निर्यात—अपने उत्कर्ष काल में कन्नौज व्यापार के क्षेत्र में भी अपना स्थान रखता था। जिन वस्तुओं का जिक्र ऊपर किया गया है वे, तथा अन्य वस्तुएँ भी जिनके बारे में समुचित जानकारी नहीं है, भारी तादाद में निर्यात होती थीं। यातायात गंगा नदी द्वारा भी होता था। इसी प्रकार समृद्धशाली प्रदेश के निवासियों के लिए मूल्यवान चीजें (रेशमी वस्त्र, रत्न, सोना-चाँदी आदि) आयात होती थीं। वर्तमान काल में केवल इत्र-फुलेल का व्यापार ही उन्नतशील है यद्यपि अब रजवाड़ों, ताल्लुकदारों, जमींदारों की समाप्ति के बाद बेशकीमती इत्रों के उत्पादन में समुचित बढ़ोत्तरी नहीं हुई, तथापि विदेशों में कन्नौज के इत्रों की खपत पर्याप्त है।

कन्नौज की प्राचीन शान-शौकत के भग्नावशेष

आज कन्नौज की पुरानी समृद्धि की कहानी बताने वाले बहुत थोड़े निशान बचे हैं जो नगर के आस-पास अनेकों किलोमीटरों तक खण्डहरों के रूप में वर्त-

मान हैं। यह खण्डहर अधिकतर ऊँचे-ऊँचे टीलों की शक्ल में हैं जिनके नीचे प्राचीन मन्दिर, महल और भव्य इमारतों के निशान छिपे हुये हैं और जो सरकार द्वारा खुदाई करवाने पर प्रकट हो सकेंगे। कन्नौज नगर गंगा के पश्चिमी तट के किनारे-किनारे बसा हुआ है और पूर्वकाल में भी ऐसा ही था। अब गंगा की धारा कन्नौज से लगभग ४-५ किलोमीटर पूर्व की ओर हट गयी है। पुराने तट के किनारे-किनारे बहुत से टीले हैं जो प्राचीन बस्ती की ध्वंस इमारतों को ढके हुए हैं। नगर के अन्य तीनों ओर भी अनेकों भग्नावशेष हैं।

महमूद गजनवी द्वारा ध्वंस किया—सन् १०१८ में कन्नौज पर महमूद गजनवी का पहला आक्रमण हुआ था। उसने कन्नौज के मन्दिरों, मठों, जयचन्द्र के किले, आदि को पूर्णतया धरातल में विलीन कर दिया। नगर की भव्यता के बारे में स्वयं उसने लिखा था कि उसकी अट्टालिकाओं आदि को देख कर वह आश्चर्यचकित हो गया था। ब्रिग्ग महोदय के शब्दों में :—

He there saw "a city which raised its head to the skies, and which in strength and beauty might boast of being unrivalled".[1]

१२. निष्कर्ष

उपरलिखित तथ्यों से विदित होगा कि अनेक सदियों तक कन्नौज कला संस्कृति, विद्वत्ता, व्यापार आदि का केन्द्र था तथा भारत देश के अन्य भागों में यहाँ के विद्वान आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। मुस्लिम लेखक सल्मान ने अपने दीवान में लिखा है कि कन्नौज नगर "हिन्द की राजधानी" था और यह कि "यहाँ पर भारत देश का धन उसी प्रकार संचित होता था जैसे नदियों का जल समुद्र में।"

●

---

१. Briggs, I, p. 57.

परिशिष्ट ४

कान्यकुब्ज देश से सम्बन्धित कुछ विभिन्न बातें

सारपत्रक

१. गाहरवाल शासकों का वाराणसी से सम्बन्ध ।
२. आल्हा-ऊदन की कथा ।
३. कन्नौज निवासी अजामिल का उपाख्यान ।
४. योग-वासिष्ठ में कान्यकुब्ज देश व नगर का उल्लेख ।

१. गाहरवाल शासकों का वाराणसी (काशी) से सम्बन्ध

कतिपय अभिलेखों और संस्कृत तथा फारसी ग्रन्थों में कुछ गाहरवाल शासकों को काशिराज कहा गया है और उनको काशी से सम्बन्वित बताया गया है गाहरवाल राजवंश के दूसरे शासक मदनपाल ने अपने वैद्यक ग्रन्थ मदन-निघन्टु में अपने को काशिराज कहा है। इसी प्रकार तीसरे शासक गोविन्दचन्द्र को लक्ष्मीधर ने अपने कृत्यकल्पतरु में काशीपति कहा है। सामयिक मुसलमान इतिहासकारों ने जयचन्द्र को काशी का शासक (काशी-राय या राय-काशी) लिखा है यथा—हसन निजामी कृत ताजुल-मासीर तथा इब्न असीर कृत कामिलुत्तारीख में[1]। इसी प्रकार प्रबन्ध चिन्तामणि[2] (मेरुतुंग कृत) और प्रबन्धकोश[3] (राजशेखर कृत) में गाहरवाल शासकों को काशी का स्वामी या काशीपति लिखा है। पुरष-परीक्षा (विद्यापति कृत) में भी जयचन्द्र की कथा में बताया गया है कि वह काशी के राजा थे और गंगातट पर स्थित कान्यकुब्ज नगर में रहते थे।[4]

इसके विपरीत कुछ गाहरवाल शासकों के तथा कुछ अन्य शासकों के अभि-लेखों मे गाहरवाल नरेशों को कान्यकुब्जाधिपति या गाधिनगराधिपति की संज्ञा दी गई है। महाकवि श्रीहर्ष ने नैषधचरित में विजयचन्द्र और या जयचन्द्र को

---

१. Elliot & Dowson, II. pp. 223, 251.
२. पृ० ११२, १८३।
३. पृ० ५४, १८।
४. ४१२।

कान्यकुब्जेश्वर कहा है।[1] अन्य ग्रन्थों में भी गाहड़वालों को कान्यकुब्ज (या महोदय) से सम्बन्धित किया गया है।

यह तो निर्विवाद है कि कान्यकुब्ज के गाहड़वाल शासकों का आधिपत्य काशी पर भी रहा और वे समय-समय पर काशी में भी रहते थे। इनके द्वारा जारी किए गए भूमिदान-पत्रों से प्रकट होता है दानकर्ताओं ने अधिकतर दान काशी में गंगा-स्नान करके दिए तथा दानीय-ग्राम भी काशी जनपद ही में थे। रही गंगा-स्नान की बात सो तो उस समय कन्नौज भी गंगातट पर ही था यद्यपि अब गंगा की धारा कन्नौज से काफी दूर हट गई है। अतः ऐसा भासित होता है कि गाहड़वालों का काशी से निकट सम्बन्ध था।

प्रश्न यह है कि यह निकट सम्बन्ध किस प्रकार का था तथा इन विपरीत कथनों का समाधान क्या है? उत्तर में निम्न बातें इन प्रश्नों पर प्रकाश डालती हैं—

(१) ऐसा अनुमान है कि कन्नौज के प्रथम गाहड़वाल शासक चन्द्रदेव के पिता महीचन्द्र काशी के नृप (राजा, कदाचित सामन्त) थे तथा उनके अवसान के बाद चन्द्रदेव पैत्रिक भूभाग के स्वामी हुए। तदनन्तर चन्द्रदेव ने कान्यकुब्ज पर भी अधिकार कर लिया किन्तु कन्नौज नगर में सुव्यवस्था न होने के कारण उन्होंने प्रारम्भ में अपनी राजधानी काशी ही में रखी क्योंकि कन्नौज नगर महमूद गजनवी के सन् १०१८ और १०१९ के आक्रमणों और लूट से ध्वस्त हो चुका था। बाद में नगर पुनर्निर्माण करवा कर चन्द्रदेव ने अपने शासन के अन्तिम काल में कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। साथ ही अपनी पैत्रिक नगरी काशी का मान भी कम न होने दिया और समय-समय पर वहाँ निवास करते रहे तथा दरबार भी। यही स्थिति उनके उत्तराधिकारी मदनपाल के समय में भी रही जिन्हें काशी अधिक प्रिय थी।

(२) डॉ० रोमा नियोगी ने विभिन्न साक्ष्यों का विवेचन करने के बाद यह मत प्रकट किया है कि यद्यपि गाहड़वाल शासकों के राज्यविस्तार को कान्यकुब्ज राज्य या साम्राज्य की संज्ञा दी गई है तथापि उनके शासनकाल के अधिकतम समय में काशी उनके प्रशासन का केन्द्र रहा।[2]

(३) यह सही है कि गाहड़वाल शासकों के ६७ ताम्रपत्र अभिलेखों में से लगभग ४० अभिलेख काशी से जारी हुए थे तथा उनके द्वारा वहीं गंगा में स्नान

---

१. नैषध-चरित, सर्ग २२, कवि प्रशस्ति।

२. Dr. (Miss) Roma Niyogi, History of Gahadvala Dynasty, p. 242.

करने के बाद दानकर्ता ने भूमिदान किए थे किन्तु इसका कारण यह था कि काशी भारत का शीर्षस्थ पुण्य-तीर्थ था तथा वहाँ स्नान दान का विशेष महत्व था। गाहड़वाल शासक शिव के महा-उपासक थे और काशी-विश्वनाथ का मन्दिर वहाँ होने से उन्हें काशी से विशेष आकर्षण था। अभिलेखों में चन्द्रदेव ने अपने को काशी का संरक्षक भी बताया है।

(४) गाहड़वाल काल में कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर काशी के सदृश हो गया था तथा उसे दूसरी काशी भी कहते थे। अतः गाहड़वाल शासकों को काशिराज की संज्ञा दिए जाने का एक कारण यह भी हो सकता था। इसके अतिरिक्त काशी और बनारस पर्य्यायवाची शब्द होने के कारण मुसलमान इतिहासकार कन्नौज और बनारस में भ्रम कर बैठते थे। उनके द्वारा जयचन्द्र को 'राय-बनारस' कहा जाने का यही कारण हो सकता है।

× × ×

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गाहड़वाल-वंश कान्यकुब्ज या कन्नौज राज्य (या साम्राज्य) का ही शासक रहा तथा कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर ही उसकी वास्तविक राजधानी रही न कि काशी या बनारस। साथ ही यह भी कहना है कि बनारस में भी समय-समय पर राज-दरबार होते रहे और इस अर्थ में काशी भी कान्यकुब्ज राज्य की दूसरी राजधानी के तुल्य थी।

२. आल्हा-ऊदन की कथा

कालिन्जर-महोबा के चन्देल राजा परिमाल (परिमर्द्ददेव) के समय (११६५-१२०३ ई०) में जगनिक नामक एक कवि था जिसने परिमाल-रासो पद्य ग्रंथ की रचना की थी। रासो का अर्थ है राजयश अतः ग्रन्थ में राजा परिमाल का गुण-गान है। उसी ग्रन्थ का एक भाग आल्हखंड के नाम का था। अनुमान है कि ग्रन्थ वृहत रूप में था किन्तु वह अब अप्राप्य है। आल्हखंड, जिसमें अनेक लड़ाइयों का वर्णन है और जिनमें आल्हा और ऊदन ने अपना अनुपम शौर्य प्रदर्शित किया था, बुन्देलखंड, कन्नौज, फर्रुखाबाद, इटावा तथा मध्य-प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी इलाकों, आदि के अलहितों (आल्हा गाने वालों) को कंठस्थ था तथा वर्षाऋतु में उसके गाये जाने का चलन था और अब भी है। कथा का गायन प्रारम्भ करने के पहले अलहित लोग मैहर में स्थित शारदा देवी की स्तुति करते हैं, यथा—

आदि शारदा को सुमिरन कर,
ओ गनेश को शीश नवाय।

तथा

देवि शारदा मैहर वाली,
सो हम सब को होयं सहाय।

इसी सदी के प्रारम्भ में अलहितों की कंठस्थ कथाएँ लिपिबद्ध हुईं। उन्हें लिपिबद्ध कराकर छपवाने का श्रेय मिस्टर (बाद में सर) अन्टोनी मैकडानेल (Sir Antony Macdonell) को है जो उस समय फर्रुखाबाद के कलेक्टर तथा जिलाधीश थे[1] और जो अलहितों के गायन को सुनकर बड़े प्रभावित हुए थे। उसके बाद अनेक प्रकाशकों द्वारा आल्हखंड के विभिन्न संस्करण प्रकाशित हुए। अस्तु।

संक्षेप में आल्हखंड की कथा इस प्रकार है—महोबा के उपरलिखित राजा परमाल (परिमर्दंदेव) की रानी मल्हना देवी उरई के राजा माहिल की बहन थीं। उनसे उत्पन्न पुत्र का नाम ब्रह्मा था। उधर राजा माहिल का पुत्र अभई था।

राजा परिमाल के दो सामन्त या दरबारी थे, यथा—

वत्सराज (बच्छराज)=देवलदेवी — आल्हा, ऊदन (या ऊदल)

यक्षराज (यच्छराज) — मलिखे, सुलिखे

उसी काल में मान्डव में बघेल वंशी राजपूत (क्षत्रिय) राजा जम्भयराज गद्दीनशीन थे, यथा—

जम्भयराज = त्रिशला — सूरज, करिया, विजमा (पुत्री)

जम्भयराज का लोहागढ़ नामक एक प्रसिद्ध किला था जो लोहे और शीशा (धातु) का बना था अतः अत्यन्त दृढ़ था।

बच्छराज और यच्छराज क्षत्रिय वंशी बड़े बहादुर योद्धा थे तथा उन्होंने अपने स्वामी परिमाल देव के लिए अनेकों लड़ाइयाँ जीती थीं। एक दिन दोनों भाई आखेट हेतु जंगल में गए जहाँ उन्होंने दो जंगली भैंसों को आपस में लड़ते देखा जिन्हें दो नौजवान लड़कियों ने एक-एक भैंसे को अपने हाथों से उनके सींग पकड़ कर अलग कर दिया। उनका शौर्य देख कर दोनों भाइयों ने सोचा कि यदि इनसे ब्याह कर लिया जाय तो इनसे प्राप्त सन्तान अत्यन्त वीर होगी। अतः उन दोनों अविवाहित लड़कियों को महोबा लाकर उनसे यथाविधि विवाह किया यद्यपि वे क्षत्रिय वंश की न होकर ओछी जाति की थीं। कालान्तर में एक से (देवल देवी से) बच्छराज ने आल्हा और ऊदन को उत्पन्न किया और यच्छराज

---

१. बाद में वे उत्तर प्रदेश के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर बनाए गए थे।

ने दूसरी से मलिखे और सुलिखे को। आल्हा-ऊदन को बनाफर भी कहा जाता था तथा इनके विरोधियों द्वारा इन्हें ओछी जाति कहा जाता था, यथा—

"जाति बनाफर की आछी है कोउ न पिए घड़ा को पान।"

वृद्धावस्था आने पर परिमाल ने तलवार का पूजन कर अस्त्र-शस्त्रों से विदाई ले ली और पुत्र ब्रह्मा को राज्य-संचालन का कार्य सौंप दिया। तदन्तर मान्डव-नरेश जम्भयराज और युवराज करिया ने महोबा पर चढ़ाई की। ब्रह्मा तथा बच्छराज और यच्छराज ने बड़ी बहादुरी से शत्रु का मुकाबला किया किन्तु विजय मान्डवपति की हुई और दोनों भाई वीरगति को प्राप्त हुए। अपनी विजय के गर्व में मान्डववालों ने दोनों भाइयों के सिर ले जाकर दुर्ग के पास एक बरगद के वृक्ष पर टाँग दिए जिससे कि लोग आतंकित रहें। इस विजय में मांडववालों को एक नौ-लखा हार (नव लाख रुपये की लागत का), लाखा नामक पतुरिया और पचसावक नाम का बहुमूल्य हाथी प्राप्त हुए। इस युद्ध के समय आल्हा और ऊदन का जन्म हो चुका था किन्तु वे अभी कुमार ही थे।

इस प्रकार महोबा राज्य पद्दलित हो गया और तब तक वैसा ही बना रहा कि जब तक आल्हा और ऊदल सयाने न हो गए।

यौवनावस्था प्राप्त होने पर एक दिन शिकार खेलते-खेलते ऊदन अपने मामा के नगर उरई जा पहुँचे। प्यास बुझाने के लिए पनघट पर कुछ महिलाओं को देख कर पानी मांगा जिस पर उन स्त्रियों ने उनका परिचय पा लेने के बाद अपमानजनक व्यंग किया। क्रुद्ध होकर ऊदन ने महिलाओं के घड़ों को तीर मार कर छिद्रित कर दिया। महिलाओं ने जाकर ऊदन की उदण्डता राजकुमार अभई से बताई। घटना स्थल पर आकर उसने ऊदन को ललकारा और दोनों में मल्ल युद्ध हुआ जिसमें अभई की बाँह टूट गई। लज्जित होकर वह अपने महल में चला गया और ऊदन महोबा लौट आए।

उरई में ऊदन पर यह कटाक्ष भी हुआ था कि यदि ऊदन अपने को बहादुर समझते हैं तो अपनी बहादुरी मांडव में दिखायें जहाँ उनके बाप और चाचा की खोपड़ियाँ टँगी हुई हैं, यथा—

"कब से ऊदन तरबरिया भे
क्यों नहि लेंय बाप को दाँव।
टंगी खोपड़ियाँ गढ़ मांडव में
क्यों नहि लेंय बाप को दाँव॥"

इसका अर्थ ऊदन न समझ सके थे क्योंकि महोबा ने किसी ने भी उनके पिता और चाचा के बध की बातें न बताई थीं। फिर भी उक्त कटाक्ष को

सुनकर उनके हृदय को ठेस अवश्य लगी थी। अतः उन्होंने अपनी माता से इसकी चर्चा की और असली बात जानने का आग्रह किया। माता के हीला-हवाला करने पर ऊदन ने कहा कि यदि सब बात उनसे न बताई जाएगी तो वे कटार मार कर मर जायेंगे। नितान्त देवलदेवी ने रोकर मांडवराज द्वारा आक्रमण की बातें बताईं जिसे सुनकर ऊदन ने बदला लेने की प्रतिज्ञा की। आल्हा ने ऊदन को निरुत्साह करने के लिए कहा कि मांडव का कालागढ़ किला अजेय है अतः ऊदन अपने विचार को त्याग दें। ऊदन इससे सहमत न हुए और आल्हा को कायरता का लांछन लगाया। अन्ततः निश्चय हुआ कि पहले भेष बदल कर मांडव जाया जाए और स्थिति का पता लगाया जाये। अतः एक पार्टी गठित हुई जिसमें आल्हा और ऊदन ने अपने दो-चार चुने हुए साथियों को लेकर और भंगताओं का भेष बनाकर मांडव की सब बातों का पता लगा लिया। फिर बाद में सेना सुसज्जित कर जम्भयराज पर विजय प्राप्त की और युवराज करिया को बाँध लाए। महोबा वाला नौलखा हार, लाखा पतुरिया और पचसावक हाथी को भी लौटा लाये। आल्हखंड में यह घटना मांडव की लड़ाई के नाम से जानी जाती है।

इसके बाद इन्होंने अनेकों लड़ाइयाँ लड़ी जिनमें से एक पृथ्वीराज के विरुद्ध भी थी तथा जिसमें आल्हखंड के अनुसार पृथ्वीराज पराजित हुए थे, यद्यपि इतिहास की मान्यता के अनुसार पृथ्वीराज ने महोबा पर आक्रमण कर परिमर्ददेव पर विजय प्राप्त की थी। पृथ्वीराज के शौर्य में आल्ह-खंड में निम्न पद आता है—

गज भर छाती पृथ्वीराज की,
औ नैनन में बरै मसाल़।

पृथ्वीराज से सम्बन्धित संघर्ष में पृथ्वीराज की पुत्री बेला की कथा भी आती है। आल्हखंड बताता है कि आल्हा-ऊदन ने जबरन बेला का व्याह परिमाल के पुत्र ब्रह्मा से करा दिया तथा उस सिलसिले में जो युद्ध हुआ उसमें ब्रह्मा मारा गया।

लड़ाइयों के वर्णन को रोचक बनाने के लिए आल्ह-खंड में अतिशयोक्तिओं का प्रयोग हुआ है तथा कहीं-कहीं असम्भव बातें भी कही गई हैं, उदाहरणार्थ—

आधो हाथी कटि कैं गिर गो,
आधो लिए महावत जाय।

अन्ततः माहिल द्वारा रचित षड्यंत्र के फलस्वरूप परिमाल ने आल्हा ऊदन को अपने दरबार से निकाल दिया। तब दोनों वीरों ने कन्नौज जाकर जयचन्द्र

की शरण ली। यहाँ इनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ और इन्होंने जयचन्द्र की बड़ी सैनिक सहायता की। जहाँ कहीं राज्य के सामन्त या गवर्नर राज्यकर भेजने में विलम्ब करते या किसी अन्य कारण से उनका दमन करना आवश्यक होता वहाँ ये दोनों वीर सेना की टुकड़ी लेकर पहुँच जाते और अपचारी को पराजित करके धनधान्य लेकर लौट आते।

जब पृथ्वीराज ने महोबा पर चढ़ाई की थी तब आल्हा ऊदन कन्नौज दरबार में जयचन्द्र के सामन्त के रूप में रहते थे। पृथ्वीराज से मोर्चा लेने के लिए महोबा राज्य में शक्ति न थी अतः रानी मल्हना ने जगनिक को विशेष दूत के रूप में भेज कर आल्हा ऊदन को बुलवाया और उन्होंने पृथ्वीराज का मुकाबला किया। इसी युद्ध में, या पृथ्वीराज से बेला के व्याह सम्बन्धित युद्ध में, ऊदन का मारा जाना बताया गया है। आल्हा के सम्बन्ध में किम्वदन्ती है कि उनकी मृत्यु कहीं नहीं हुई अर्थात् वे अमर हैं।

कन्नौज में आल्हा ऊदन ने बड़ी ख्याति अर्जित की थी तथा उनका दरबार भी लगता था जैसा कि आल्हखंड में बताया गया है, यथा—

लगी कचहरी तुनि आल्हा की,
जहाँ विराजें बहु सरदार।

आज भी कन्नौज नगर के अन्तर्गत एक ध्वस्त स्थान को आल्हा की कचहरी कहा जाता है।

३. कन्नौज निवासी अजामिल की भगवान के पार्षदों द्वारा मृत्यु से रक्षा; भागवत वर्णित कथा

कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर में भगवान के पार्षदों ने अजामिल नामक ब्राह्मण को यमदूतों के पाश से बचाया था। इसकी कथा श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अध्याय १ से ३ में वर्णित है। रोचकता के साथ शिक्षाप्रद भी है। प्रथम अध्याय में अजामिल का उपाख्यान निम्न श्लोक से प्रारम्भ होता है—

कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद् दासीपतिः अजामिलः।
नाम्ना नष्ट सदाचारो दास्याः संसर्ग दूषितः॥[१]

अर्थात् कान्यकुब्ज नगर (कन्नौज) में एक दासीपति[२] ब्राह्मण रहता था जिसका नाम अजामिल था। दासी के संसर्ग से दूषित होने के कारण उसका सदाचार नष्ट हो चुका था।

---

१. ६-१-२१।
२. जिसने दासी (अन्य स्त्री) को रखेली रूप में रख लिया हो।

दास के संसर्ग के पहले अजामिल बड़ा शास्त्रज्ञ था। शीलवान्, सदाचारी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ और पवित्र भी था—

गुर्वग्नतिथि गुर्वग्न्यतिथि वृद्धानां शुश्रूषुर्निरहंकृतः।
सर्वभूत सुहृत् साधुर्मित वागनसूयकः॥[१]

अर्थात्, इसने गुरु, अग्नि, अतिथि और वृद्धों की सेवा की थी। इसमें अहंकार न था और यह सब प्राणियों का हित चिन्तक और उपकारी था। "मितवागनसूयकः" भी था, अर्थात् मर्यादित बोलता था और अन्य के दोष नहीं ढूंढ़ता था (अनसूयक)[२]।

एक दिन अजामिल अपने पिता के लिए जंगल से फलफूल आदि लेकर घर लौट रहा था। तभी उसने एक दुराचारी को एक वेश्या के साथ विहार करते देखा। उस वेश्या से अजामिल इतना मोहित हो गया कि उसकी सदाचार और शास्त्र सम्बन्धी चेतना नष्ट हो गयी और वह धर्म से विमुख हो गया। वेश्या को प्रसन्न करने के लिए वह उसे सुन्दर वस्त्र, आभूषण आदि देता और इसी प्रयास में उसने अपने पिता की सब सम्पत्ति जाया कर दी। अपनी धर्मपत्नी को छोड़ दिया और माता पिता को घर से निकाल दिया। इस प्रकार वह उसके साथ रहने लगा। गुजरबसर के लिए वह चोरी, धोखाधड़ी, जुआ आदि दूषित कर्म करने लगा जिससे वह अत्यन्त पतित हो गया। उस दासी से उसके दस पुत्र हुए जिनमें से सबसे छोटे का नाम था नारायण जिसे वह बहुत प्यार करता था। अपने साथ उसे खिलाता पिलाता, उसकी बोली सुनकर और उसके खेल कूद को देखकर प्रसन्न होता था।

पतित अजामिल इसी प्रकार की जिन्दगी बिता कर ८८ वर्ष का हो गया। अतिशय मूढ़ता के कारण वह यह न जान सका कि उसकी मृत्यु का समय आ गया है। एक दिन वह अपने पुत्र नारायण के सम्बन्ध में सोच विचार कर ही रहा था कि इतने में उसने देखा कि उसे ले जाने के लिए भयानक रूप के तीन यमदूत आए हैं और उसके सूक्ष्म शरीर को खींच रहे हैं। अजामिल अत्यन्त व्याकुल हो गया और तभी उसने बालक नारायण को, जो पास ही खेल रहा था, ऊँचे स्वर से पुकारा—'नारायण'। इस शब्द को सुनकर भगवान के पार्षदों ने समझा कि मरते समय अजामिल हमारे स्वामी भगवान नारायण का नाम ले रहा है, उनके नाम का कीर्तन कर रहा है। अतः वे चार की संख्या में तुरन्त

---

१. ६-१-५७।

२. जो दूसरों के दोष न देखे।

वहाँ आ पहुँचे और यमदूतों को अजामिल के शरीर से उसके सूक्ष्म शरीर को खींचते देखा। पार्षदों ने उन्हें बलपूर्वक रोक दिया। तब यमदूतों ने उनसे पूछा कि तुम लोग, जो बड़े सुन्दर और कान्तिमय दीखते हो, किसके दूत हो ? हम धर्मराज के सेवक हैं, हमें तुम लोग क्यों रोक रहे हो ?

तत्पश्चात् पार्षदों और यमदूतों के बीच लम्बा वार्तालाप हुआ जिसका विषय था धर्म का लक्षण और धर्म का तत्व, प्रायश्चित का महत्व और फल, दण्डनीय और अदंडनीय व्यक्ति आदि। उसी सन्दर्भ में यमदूतों ने कहा कि अजामिल का जीवन पापमय था और उसने कोई प्रायश्चित भी नहीं किया अतः इसे हम दण्डपाणि यमराज के पास ले जा रहे हैं जहाँ यह अपने पापों का दण्ड भोग कर शुद्ध हो जायगा।

इस पर पार्षदों ने कहा कि इसने मरते समय भगवान के नाम का उच्चारण किया है और इस प्रकार अपने सारे पापों का प्रायश्चित कर लिया है। उन्होंने नाम उच्चारण की सुन्दर व्याख्या भी की और भागवत धर्म को स्पष्ट किया। इस प्रकार उन्होंने धर्म का पूरा-पूरा निर्णय सुना दिया और अजामिल को यमदूतों के पाश से छुड़ाकर मृत्यु से बचा लिया।

यमदूतों के फन्दे से छूटकर अजामिल निर्भय और स्वस्थ हो गया। भगवान के पार्षदों को उसने प्रणाम किया और वे तत्काल अन्तर्ध्यान हो गए। पार्षदों के दर्शन से अजामिल को संसार से वैराग्य हो गया और वह सबसे सम्बन्ध और मोह को छोड़कर हरद्वार चले गए। वहाँ उन्होंने योग और तप द्वारा त्रिगुणमयी प्रकृति से ऊपर उठकर अपनी बुद्धि को भगवान के स्वरूप में स्थिर कर दिया। तभी उन्हें उन चारों पार्षदों के फिर दर्शन हुए। अजामिल ने भगवान के पार्षदों का स्वरूप प्राप्त कर लिया और फिर चारों पार्षदों के साथ स्वर्णमय विमान पर आरूढ़ होकर आकाश मार्ग से बैकुन्ठ को चले गए। यथा—

> साकं विहायसा विप्रो महापुरुष किङ्करैः।
> हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥[1]

यमदूतों और पार्षदों का सम्वाद—यमदूतों और पार्षदों की परस्पर वार्ता का जिक्र ऊपर किया गया है। यह वार्ता व्यक्तियों को जीवन मार्ग प्रदर्शित करती है। अतः उसका कुछ भाग नीचे दिया जाता है :—

---

१. भागवत ६।२।४४. अर्थात् ब्राह्मण (अजामिल) भगवान के पार्षदों के साथ स्वर्णविमान पर चढ़कर वहाँ पहुँच गया जहाँ लक्ष्मीपति निवास करते हैं।

(१)

भगवान के पार्षदों द्वारा रोके जाने पर यमदूतों ने कहा था कि "धर्मराज की आज्ञा का निषेध करने वाले तुम लोग कौन हो ? हम धर्मराज के सेवक हैं, हमें तुम क्यों रोक रहे हो ?" इस पर पार्षदों ने कहा कि यदि तुम धर्मराज के आज्ञाकारी हो तो हमें धर्म का लक्षण आदि सुनाओ। और यह भी कि दण्ड का पात्र कौन है और क्या मनुष्यों में सभी पापाचारी दण्डनीय हैं अथवा उनमें से कुछ ही।

तब यमदूतों ने कहा कि वेदों ने जिन कर्मों का विधान किया है वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है वे अधर्म हैं। पाप कर्म करने वाले सभी मनुष्य अपने-अपने कर्मों के अनुसार दण्डनीय होते हैं। मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों में पुण्य और पाप विभिन्न मात्रा में होते हैं जिनका फल उसे भोगना पड़ता है। यह अजामिल पहले बहुत अच्छा था, बाद में दुस्संगति में पड़ कर चरित्रहीन और पापी हो गया और पापों का प्रायश्चित भी नहीं किया। यमराज द्वारा दिये गये दण्ड को भोग कर यह फिर शुद्ध हो जाएगा।

(२)

तब पार्षदों ने कहा कि अजामिल ने तो पापों का पूरा प्रायश्चित कर लिया है क्योंकि इसने, विवश होकर ही सही, भगवान के कल्याणमय नाम का उच्चारण तो किया।

यथा—

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्याद घनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥[1]

अर्थात् जिस समय इसने 'नारायण' इन चार अक्षरों का उच्चारण किया, उसी समय केवल उतने से ही इस पापी के समस्त पापों का प्रायश्चित हो गया।

पार्षदों ने फिर और कहा कि भगवन्नामों के उच्चारण से मनुष्य की बुद्धि भगवान के गुण, लीला और स्वरूप में रम जाती है और स्वयं भगवान की उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है। यदि प्रायश्चित करने के बाद भी मन फिर से कुमार्ग में दौड़े तो वह पूरा-पूरा प्रायश्चित नहीं है। इसलिए जो लोग ऐसा प्रायश्चित करना चाहें कि जिससे पाप कर्मों की जड़ ही उखड़ जाए, उन्हें भगवान के गुणों का ही गान करना चाहिए क्योंकि उससे चित्त सर्वथा शुद्ध हो जाता है।

---

१. भागवत, ६/२/८।

यमदूतों को सम्बोधित करके पार्षदों ने फिर कहा कि जैसे जाने अथवा अनजाने में ईंधन का अग्नि से स्पर्श हो जाए तो वह भस्म हो ही जाता है, वैसे ही जानबूझ कर या अनजान में भगवान् के नामों का कीर्तन करने से मनुष्य के पाप भस्म हो जाते हैं। और भी जैसे अमृत का गुण न जान कर कोई उसे पी ले तो भी वह पीने वाले को अमर बना देता है, वैसे ही अनजान में उच्चारण करने पर भगवान का नाम अपना फल अवश्य देता है।

यम और यमदूतों का सम्वाद—जब भगवान के पार्षदों ने यमदूतों का प्रयत्न विफल कर दिया तब यमदूतों ने यमराज के पास जाकर उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया और निवेदन किया कि संसार में कहीं भी आपके द्वारा नियत किए गए दण्ड की अवहेलना नहीं हुई किन्तु इस समय चार अद्‌भुत सिद्धों ने आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया है। उन्होंने बलपूर्वक आपके फन्दे काट कर उस पापी को छुड़ा दिया। हम आपसे इसका रहस्य जानना चाहते हैं। हमें इस बात पर आश्चर्य है कि जैसे ही अजामिल के मुँह से 'नारायण' शब्द निकला वैसे ही वे 'डरो मत, डरो मत' कहते हुए तुरन्त वहाँ आ पहुँचे और हमसे अजामिल को बलात् छुड़ा लिया।

तब यमराज ने अपने दूतों को निम्न बात बता कर समझाया :—

(१) दूतों! मेरे अतिरिक्त एक और इस चराचर जगत के स्वामी हैं जो इस सम्पूर्ण जगत में सूत के समान ओत-प्रोत हैं। वे प्रभु सबके स्वामी और स्वयं परम स्वतंत्र हैं। उनके दूत उन्हीं के समान रूप, गुण और स्वभाव से सम्पन्न होकर इस लोक में प्रायः विचरण किया करते हैं। वे साधु पुरुषों की रक्षा करते हैं। यथा—

रक्षन्ति तद्‌भक्तिमतः परेभ्यो, मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च।[1]

अर्थात् वे भगवान के भक्तों को उनके शत्रुओं से, मुझसे और अग्नि आदि सब विपत्तियों से सर्वथा सुरक्षित रखते हैं।

(२) जीवों के लिए सबसे बड़ा कर्तव्य—परम धर्म—यह है कि वे नाम कीर्तन आदि उपायों से भगवान में भक्ति प्राप्त कर लें। भगवान के नाम उच्चारण की महिमा इतनी प्रबल है कि एक बार भी पूर्ण विश्वास से, व्यथित हृदय से, शरणागत होते हुए भगवान के नाम का उच्चारण करने से व्यक्ति मृत्युपाश से छूट जाता है जैसा कि अजामिल के साथ हुआ। उसने मरते समय चंचल चित्त से अपने पुत्र का नाम 'नारायण' उच्चारण किया जिससे उसके सब पाप क्षीण हो गये और बाद में उसे मुक्ति भी प्राप्त हो गयी।

---

१. भागवत, ६।३।१८३।

(३) भगवान् उनकी रक्षा करते हैं जो सब कुछ उन्हें ही समझ कर उन्हीं पर आश्रित रहते हैं। यथा—

ते देव सिद्ध परिगीत पवित्र गाथा
ये साधवः समदृशो भगवत् प्रपन्नाः।
तान् नोपसीदत हरेः गदयाभिगुप्तान्
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥[1]

अर्थात्, जो समदर्शी साधु भगवान् को ही अपना साध्य और साधन दोनों को समझ कर उनपर निर्भर रहते हैं, उनके पवित्र चरित्रों का देवता और सिद्ध प्रेम से गान करते रहते हैं। मेरे दूतों, भगवान की गदा सदा उनकी रक्षा करती रहती है। उनके पास भूल कर भी न जाना। उन्हें दण्ड देने की सामर्थ न मुझमें है और न साक्षात काल में ही।

(४) अन्त में यमराज ने यों कहा कि आज मेरे दूतों ने भगवान के पार्षदों के साथ अशिष्ट व्यवहार करके स्वयं भगवान का ही तिरस्कार किया है क्योंकि यह काम मेरे दूतों द्वारा किया गया अतः उनके स्वामी की हैसियत से यह स्वयं मेरा ही अपराध है। भगवान हमारा यह अपराध क्षमा करें। अज्ञानी होने पर भी हम उन्हीं के हैं और सदा उनकी आज्ञा पाने के लिए उत्सुक रहते हैं।

इस सन्दर्भ में यह स्मरण रहे कि न्याय का यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अपने सेवक, दूत, कार्यकर्ता का किया हुआ अपराध स्वामी का अपराध माना जाता है और उसके लिए उसे जिम्मेदार ठहराया जाता है। आज के न्यायालयों में भी यह सिद्धान्त माननीय है। तात्पर्य यह कि श्रीमद्भागवत सब विद्याओं से परिपूर्ण एक महान ग्रन्थ है।

अजामिल का उपाख्यान महाराज परीक्षित को सुना कर व्यासात्मज श्री शुकदेव जी ने उन्हें निम्न श्लोक कह कर सम्बोधित किया—

इत्थं स्वभर्तृगदितं भगवन् महित्वं
संस्मृत्य विस्मित धियो यम किंकरास्ते
नैवाच्युताश्रय जनं प्रति शंकमाना
द्रष्टुं च बिम्यति ततः प्रभृति स्म राजन् ॥[2]

अर्थात्, परीक्षित, जब यमदूतों ने अपने स्वामी धर्मराज के मुख से इस प्रकार भगवान की महिमा सुनी और उसका स्मरण किया तब उनके आश्चर्य की सीमा

---

१. भागवत, ६।३।२७।
२. भागवत, ६।३।३४।

न रही। तभी से वे धर्मराज की बात पर विश्वास करके अपने अनिष्ट की आशंका से भगवान के आश्रित भक्तों के पास नहीं जाते—वे उनकी ओर आँख उठाकर देखने में भी डरते हैं।

उपसंहार—अन्त में निम्न श्लोक स्मरण करने योग्य है—

वन्दे गोविन्द देवस्य नाम नारायणं सदा।
अबुद्ध्यापि यदुच्चार्य मुक्तःपापोऽप्यजामिलः ॥[1]

अर्थात्, गोविन्द भगवान के नाम को हम सदा नमस्कार करते हैं कि जिसके बुद्धिरहित उच्चारण से ही अजामिल पापों से मुक्त हो गया।

४. योग-वासिष्ठ में कान्यकुब्ज देश का उल्लेख

"कान्यकुब्ज नगर" तथा "कान्यकुब्ज देश" का जिक्र योग-वासिष्ठ ग्रन्थ में भी आया है। किस सन्दर्भ में यह नाम आए हैं उनका विवेचन करने के पहले योग-वासिष्ठ के विषय में दो शब्द कहना आवश्यक है। यह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है जिसके रचयिता महर्षि बाल्मीक हैं। यह महारामायण, वासिष्ठ रामायण, अखंड रामायण आदि नामों से भी विख्यात है। इसमें श्री राम तथा महर्षि वसिष्ठ के सम्वाद द्वारा वेदान्त के सिद्धान्तों का निरुपण किया गया है। इस वृहद ग्रन्थ में २१६ सर्ग हैं जो ७ प्रकरणों में विभाजित है। सदाचारमय तथा पुण्यमय जीवन की आवश्यकता का कथाओं द्वारा इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया गया है।

योग-वासिष्ठ की रचना बाल्मीक रामायण के बाद की है और बाल्मीक द्वारा ही यह रची गई है। विद्या अध्ययन के बाद जब श्रीराम १६ वर्ष के हुए तब अपने पिता की अनुमति लेकर लम्बी तीर्थ यात्रा की। वहाँ से लौटने पर उन्हें वैराग्य हो गया। किसी काम अथवा वस्तु में उन्हें दिलचस्पी न रही। वे एकान्त में बैठे विचार निमग्न रहते और शरीर से क्षीण होते जा रहे थे। इसी समय में मुनि विश्वामित्र महाराज दशरथ के पास आए और राक्षसों से अपनी यज्ञ रक्षा के लिए श्री राम को माँगा। राज्य दरबार में राम बुलाए गए और उनसे उनकी दुखद स्थिति का कारण पूछा गया।

श्री राम ने कहा कि तीर्थ यात्रा करने के बाद मेरी बुद्धि भोगों की ओर से विरक्त हो गई है और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि संसार नीरस है। क्यों

---

१. गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित भागवत के छठे स्कन्ध के प्रारम्भ में भगवान श्री कृष्ण का एक चित्र छपा है और उसी के नीचे यह श्लोक दिया हुआ है।

लोग पदार्थों में सुख न होने पर भी उनमें सुख मानते हैं और उसी के लोभ से इधर-उधर भटकते रहते हैं। ऐसा कौन सा उपाय है और कौन सा साधन है जिसका अवलम्बन करने से यह जीवन अमंगलकारी न हो? संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए? रागद्वेष से किस प्रकार छुटकारा पाया जा सकता है? लोक व्यवहार में तत्पर रहने पर भी मुझे दुःख प्राप्त न हो ऐसा मार्ग बताइए। मुझे उपदेश दीजिए कि वह कौन सा साधन है जिससे अनेक श्रेष्ठ पुरुष दुखरहित स्थिति, अर्थात् कल्याण, को प्राप्त हो गए हैं? उसी बीच राजसभा में अन्य महर्षियों का आगमन हुआ। तब विश्वामित्र ने श्री राम से तत्वज्ञान की कुछ बातें बता कर महर्षि वसिष्ठ से आग्रह किया कि वे ही श्री राम के चित्त के विश्राम के लिए युक्तियों का प्रतिपादन करें। इसके बाद राजसभा में दिन प्रतिदिन वसिष्ठ जी का प्रवचन चलता रहा। बीच-बीच में श्री राम ने प्रश्न भी किए। यही संवाद योग-वसिष्ठ का विषय है। इसके श्रवण एवं मनन से मनुष्य को सब सांसारिक कार्यों में रत रहते हुए भी शान्ति मिलती है।

एक ही श्लोक में योग-वासिष्ठ का सार इस प्रकार है :—

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति भृग पक्षिणाः।
स जीवत मनो यस्य मननेनोप जीवति ॥ (योग वासिष्ठ)

अर्थात् वृक्ष भी जीते हैं और पशु और पक्षी भी जीते हैं, किन्तु वास्तव में जीता वह है जिसने मन को मनन क्रिया से जीता है।

अब हम इस ग्रन्थ में लिखित कान्यकुब्ज नगर तथा कान्यकुब्ज देश के सन्दर्भ का वर्णन करते हैं। ग्रन्थ के १०८वें सर्ग से राजा विपश्चित की कथा आरम्भ होती है जिसमें यह दर्शाया गया है कि ब्रह्म का कोई अन्त नहीं है। जम्बूद्वीप में ततमिति नामक नगरी राजा विपश्चित की राजधानी थी। एक बार विपश्चित राजा पर उसके शत्रुओं ने आक्रमण किया और उसकी सेना को नष्ट कर दिया। तब राजा ने अपने इष्ट देव अग्निदेवता की आराधना की और अपने मस्तक को काटकर आहुति दी और स्वयं अग्निकुण्ड में गिर पड़े। अग्नि ने प्रसन्न होकर उनके चार शरीर बना दिए जो अग्निकुण्ड से बाहर निकले। तदनन्तर इन चारों विपश्चितों ने शत्रुओं का समुद्र तट तक पीछा किया और उन्हें परास्त किया।[1]

तदनन्तर कुछ दिनों चारों विपश्चित अपने सामन्तों के साथ समुद्रतट पर ही रहे। एक रात में शयन करने के पूर्व चारों विपश्चित आश्चर्यचकित हो इस प्रकार विचार करने लगे—"यह सब ओर फैली हुई दृश्य जगत की शोभा कितनी

१. सर्ग १०८-११३।

विस्तृत होगी ? इस जम्बूद्वीप के बाद खारे पानी का समुद्र है। उसके बाद लक्षद्वीप की भूमि है, इत्यादि। इसी प्रकार क्रम से सात समुद्र और सात द्वीपों के बाद अन्त में क्या होगा ? फिर उसके बाद भी क्या होगा ? यह दृश्यरूपी माया न जाने कितनी बड़ी और कैसी होगी ?"

ऐसा सोच कर उन विपश्चितों ने अग्निदेव का आवाहन करके निवेदन किया—"सुरेश्वर, हम इस पंचभूतात्मक दृश्य जगत का अन्त देखना चाहते हैं। सिद्ध योगी योग द्वारा जहाँ तक जा सकते हों वहाँ तक का मार्ग हम इसी शरीर से तय करें। जहाँ योगियों की भी पहुँच न हो उस अगम्य दृश्य को हम मन से ही देखें तथा हमारी मृत्यु न हो।" उत्तर में अग्नि देव यह कह कर कि ऐसा ही होगा अर्न्तध्यान हो गए।[1]

प्रातःकाल चारों विपश्चित नीति शास्त्र के अनुसार राज्य शासन की व्यवस्था कर दिगन्त के दर्शन के लिए चल दिए। चारों विपश्चितों में एक पूर्व दिशा का अन्त देखने के लिए पूर्व की ओर गया, दूसरा पश्चिम की ओर, तीसरा उत्तर की ओर और चौथा दक्षिण दिशा का अन्त देखने के लिए दक्षिण की ओर गया।[2]

इनमें से पूर्व दिशा की चरम सीमा देखने वाले विपश्चित का कान्यकुब्ज नगर व कान्यकुब्ज देश में आने की कथा का वर्णन है और उसके बाद उसकी अन्य यात्राओं और कामों का विस्तार है। प्रथम दौर में जब यह विपश्चित गंगा जी के मुहाने पर पहुँचा तब उसने एक मगर पर आक्रमण किया जो उसे निगल जाने के लिए उद्यत था। उसने मगर को गंगा से खींच कर चीर डाला, तब गंगा ने उसे पीछे लौटा कर कान्यकुब्ज नगर में छोड़ दिया। यह नगर गंगा जी के किनारे आज भी स्थित है और कन्नौज के नाम से जाना जाता है। यह सब बातें योग-वासिष्ठ में वर्णित हैं।

कान्यकुब्ज देश होता हुआ यह विपश्चित अन्यत्र भी गया। अन्य तीन विपश्चितों के भ्रमण का भी वर्णन ग्रन्थ में आया है किन्तु कन्नौज के इतिहास से सम्बन्धित न होने के कारण उसे यहाँ नहीं कहा जा रहा है।

उसके बाद मुनि वसिष्ठ ने कहा—"श्रीराम, उन विपश्चितों का सारा वृतान्त मैंने कह सुनाया। यह अविद्या कारण-ब्रह्म की भाँति ही अनन्त है। वे अज्ञानी विपश्चित उस ब्रह्माण्ड मण्डप के अन्दर भटकते रहे परन्तु उन्हें अविद्या

---

१. सर्ग ११४-१२१।

२. सर्ग ११४ आदि।

का ओर-छोर नहीं मिला। यह अनन्त रूप अविद्या ब्रह्मरूप ही है। अन्त में उनमें से एक मुक्त हो गया, एक मृग बन गया। शेष दो अपने संस्कार के वशीभूत होकर आज भी कहीं भटक रहे हैं।''

× × × ×

उपरोक्त विपश्चितों के आख्यान से कान्यकुब्ज देश की प्राचीनता सिद्ध होती है। साथ ही यह भी कि कान्यकुब्ज नगर एक विख्यात स्थान था—यदि ऐसा न होता तो इस वृहद् ग्रन्थ में उसका नाम न आता। संस्कृत के आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रसिद्ध स्थानों के ही नाम आए हैं।

परिशिष्ट–५

कन्नौज का राजपूत काल–राजपूतों की उत्पत्ति तथा प्रशस्ति, उनकी प्रशासनिक व्यवस्था, धार्मिक प्रवृत्ति, आदि

सारपत्रक

१. प्रारम्भिक कथन।
२. राजपूतों की उत्पत्ति।
३. उनका चरित्र।
४. प्रशासनिक व्यवस्था।
५. धार्मिक स्थिति–वैदिक धर्म, जैन मत, बौद्ध धर्म।
६. राजपूत युगीन कला।
७. राजपूतों के पतन के कारण।

१. प्रारम्भिक कथन

प्राचीन भारत का राजपूत-काल (वास्तव में क्षत्रिय-काल) इतिहासकारों द्वारा लगभग ७०० वर्ष का माना जाता है, अर्थात् ५०० ई० से १२०० ई० तक। इतिहासज्ञों की दृष्टि से कन्नौज का प्रमाणिक इतिहास मौखरियों से प्रारम्भ होता है जिनका प्रादुर्भाव लगभग ५०० ई० से आंका गया है तथा स्वतन्त्र राज्य के रूप में कन्नौज का अन्त ११९४ ई० में मोहम्मद गोरी द्वारा जयचन्द्र की पराजय से होता है। मौखरियों के शासन काल की जानकारी बहुत अल्प है। उनके बाद सम्राट हर्षवर्धन का राज्यकाल ६०६ ई० से प्रारम्भ होता है। तब से राजपूत-काल के अन्त तक के समय की जो भी जानकारी इस अध्याय के शीर्षक में अंकित विषयों पर उपलब्ध है उसकी समीक्षा यहाँ की जा रही है।

२. राजपूतों की उत्पत्ति

संस्कृत शब्द राजपुत्र का अपभ्रंश राजपूत है। प्राचीन काल में राजकुमार तथा राजवंशी सदस्य को राजपुत्र कहा जाता था। पुराने ग्रन्थों, शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में यह शब्द मिलता है। जब मुसलमान भारत में आए तब वे राजकुल के क्षत्रियों को राजपूत कहने लगे। स्वयं राजपूत अपने को प्राचीन वैदिक क्षत्रियों

की सन्तान बताते हैं। उनके अनुसार उनकी आदि उत्पत्ति सूर्य और चन्द्रमा से हुयी है, जो सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त एक शाखा अग्निवंशियों की है जिसमें चौहान, प्रतिहार, परमार और सोलंकी प्रमुख हैं। उनका कहना है कि हमारे आदि-पुरुष आबू पर्वत के अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए थे। यूरोपीय विद्वान तथा कुछ भारतीय इतिहासकार इन बातों को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि राजपूत लोग हूण, सिदियन आदि उन विदेशी लोगों की सन्तान हैं जिन्होंने भारत पर आक्रमण किया और हिन्दू धर्म स्वीकार करके ब्राह्मणों की सहायता से हिन्दुओं की भाँति भारतीय समाज में स्थान प्राप्त किया। जब उनके हाथ में राज्यशक्ति आई तब ब्राह्मणों ने उनकी कल्पित वंशावलियाँ बनाकर उन्हें क्षत्री पद दिया। कतिपय भारतीय इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि राजपूत प्राचीन क्षत्रियों की ही सन्तान हैं। प्रख्यात इतिहासकार डॉ० ईश्वरी प्रसाद का मत है कि राजपूत विशुद्ध आर्य क्षत्रिय नहीं हैं तथा अन्य भारतीय जातियों की तरह वे भी एक मिश्रित जाति हैं।[1]

नोट—राष्ट्रकूट शब्द राजपूत शब्द का पर्याय नहीं है। राष्ट्रकूट राजपूतों की एक शाखा है जैसे कि राठौर, चौहान, चन्देल आदि।

३. राजपूतों का चरित्र

इस विषय में डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने अपने भारतीय इतिहास में राजपूतों की प्रशंसा में निम्न संक्षिप्त वर्णन दिया है—"भारतीय इतिहास में राजपूतों ने बड़ी वीरता दिखलाई है। उन्होंने हिन्दू-शासन के आदर्श को अपने सामने रखा और प्राचीन संस्कृति की रक्षा की। शत्रु के सामने से पीछे नहीं हटते थे। अपने जातीय सम्मान के लिए वे प्राण तक देने को तैयार रहते थे। राजपूत-समाज के आदर्श उच्च थे। राजपूत बात के पक्के होते थे और युद्ध के समय भी विश्वासघात न करते थे। शरण में आए हुए शत्रु के साथ भी वे दया का बर्ताव करते थे। धोखा देना, झूठ बोलना और नीचतापूर्ण चालाकी चलना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। कभी-कभी अपनी सच्चाई के कारण उन्हें बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ झेलनी पड़ती थीं। लड़ाई में वे स्त्रियों और बच्चों पर हाथ नहीं उठाते थे। राजपूत स्त्रियों का आदर करते थे। स्त्रियाँ भी वीरता में मर्दों से कम न थीं। कठिन समय में उन्होंने भारतीय मान-मर्यादा की रक्षा की। जाति के गौरव के लिए राजपूत निजी हिताहित की परवा नहीं करते थे। इसी कारण

---

१. डॉ० ईश्वरी प्रसाद कृत भारतवर्ष का इतिहास।

उनमें जौहर[1] की भीषण प्रथा चली। जौहर उस समय किया जाता था जब वे देखते थे कि शत्रु से बचने की कोई आशा नहीं है।"

यह सर्वमान्य है कि राजपूतों में वीरता के अतिरिक्त सत्यनिष्ठा की भी प्रबल भावना होती थी। अपने वचन को वे सदा पूरा करने का प्रयत्न करते थे। इस सिद्धान्त पर उनका विश्वास था कि "प्राण जाहिं पर वचन न जाही।" साथ ही वे उच्चकोटि के मेहमान-नेवाज भी थे।

मेहमान का सम्मान तथा सेवा करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। यदि कारणवश शत्रु भी उनकी शरण में आते थे तो वे उनके साथ भी स्नेहयुक्त व्यवहार करते थे।

राजपूतों की प्रशस्ति में सर थामस हन्गरफोर्ड होलडिच ने अपनी पुस्तक इन्डिया (India) में निम्न प्रकार लिखा है ?

"Amongst the so-called Aryan races of Northern India, the Rajputs are distinctly the oldest and the noblest. They belong to one of the greatest races of history, and their past extends through thousands of years in an unbroken record of valour and nobility....He is by heredity and national instinct a warrior and a huntsman. Intensely proud of his descent, which he attributes to supernatural rather than historic origin, he is distinctly loyal to his employer."

अर्थात् उत्तर भारत की कथित आर्य जातियों में राजपूत वस्तुतः सबसे पुराने हैं और सुप्रतिष्ठित भी। इतिहास की उच्चतम जातियों में उनकी गणना है। उनका भूतकाल सहस्रों वर्ष पहले से है और इस अवधि में उनका शौर्य तथा उनकी उदारता अखंडित रही है। वंश परम्परा से और प्राकृतिक स्वभाग से भी राजपूत योधा है और शिकारी भी। उसे अपने वंशक्रम पर अत्यन्त गर्व है और वह अपनी उत्पत्ति दैवी श्रोत से होना बताता है न कि ऐतिहासिक उद्गम से। वह सदैव अपने स्वामी के प्रति बफादार रहता है।

विशिष्ट गुणों के साथ-साथ राजपूतों में दोष भी थे। राजपूत शासकों में एक दूसरे के प्रति ईर्षा तथा द्वेष की भावनायें पाई जाती थीं और वे प्रायः आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। युद्ध में उनकी बड़ी रुचि थी। उनमें सहयोग

---

१. शत्रु से घिर जाने पर राजपूत वीरांगनाएँ अग्नि में जल कर मर जाती थीं। इसी को जौहर कहते थे। इसके बाद राजपूत अपने प्राणों की आहुति देते थे।

का अभाव था। आपसी द्वन्द के कारण राजपूत राजा प्रायः शक्तिहीन हो गये थे।

राजपूत शासकों में कूटनीति का भी अभाव था। कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र में उल्लिखित कूटनीति के सिद्धान्तों पर वे विश्वास नहीं करते थे। इसके विपरीत, युद्ध में कूटनीति से काम लेना वे अपमानजनक समझते थे। उनकी राजनीति में सत्यता और ईमानदारी को बहुत महत्व दिया जाता था। सोते हुये अथवा शस्त्रहीन शत्रुओं पर वे कभी वार नहीं करते थे। वे प्रायः शत्रु को ललकार कर ही उससे युद्ध किया करते थे। युद्ध में अपनी भुजाओं के बल पर ही विजय प्राप्त करना वे अपना गौरव समझते थे। युद्ध में पराजित होकर लौटने के बजाय वे लड़ते-लड़ते मर जाना कबूल करते थे। उनके समाज में कायर तथा कमजोर व्यक्तियों से घृणा की जाती थी एवं वीरता का बड़ा सम्मान किया जाता था।

राजपूतों के उपरोक्त सात्विक गुणों का मुसलमानों नें लाभ उठाया और शनैशनैः उनका ह्रास किया।

प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति में अभिरुचि—राजपूत वैदिक धर्म के अनुयायी थे और उनकी सभ्यता तथा संस्कृति मूल रूप से प्राचीन आर्यों की सभ्यता तथा संस्कृति से मिलती जुलती थी टॉड॰ महोदय के अनुसार "धरती पर कौन सी ऐसी जाति है जिसने अपने पूर्वजों की सभ्यता तथा रीति रिवाजों का शताब्दियों तक सम्हाल कर रखा हो? मनुष्य जाति के इतिहास में राजपूतों का ही एक अनोखा उदाहरण मिलता है कि जिन्होंने तरह-तरह के अत्याचार सहते हुए भी संकट का वीरता और उत्साह से मुकाबला किया और अपने आप को जीवित रखा।"

राजपूत लोग वेद, भागवत, रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों का पाठ और श्रवण धार्मिक कर्तव्य मानते थे। विशेष रूप से स्त्रियाँ इन ग्रन्थों को सुनने सुनाने में काफी समय व्यतीत करती थीं। साथ ही राजपूत शासक कविओं और साहित्यकारों के भी संरक्षक थे और उनके राज्यकाल में संस्कृत साहित्य की विशेष उन्नति हुई।

४. प्रशासनिक व्यवस्था

(क) हर्ष-काल में

इस काल की प्रशासनिक व्यवस्था का विवरण हर्षवर्धन सम्बन्धित अध्याय में दिया गया है तथापि सम्प्रति अध्याय को पूर्ण रूप देने के अभिप्राय से उसे यहाँ भी क्रमबद्ध किया जा रहा है।

केन्द्रीय सत्ता स्वयं सम्राट में समाहित थी किन्तु आम तौर पर वह मंत्रियों की सलाह से प्रशासनिक तथा अन्य महत्वपूर्ण कार्य करता था। मंत्रियों का चयन उच्च कोटि के विद्वानों, योधाओं तथा प्रशासनिक योग्यतायुक्त व्यक्तियों में से सम्राट स्वयं करता था, जैसा कि राजनीतिक ग्रन्थों में निर्देषित थो, उदाहरणार्थ कौटिल्य का अर्थशास्त्र, महाभारत का शान्ति पर्व। हुयेन सांग का कथन है कि एक प्रकार का प्रशासकीय आयोग भी सम्राट ने सृजित किया था।

मंत्रियों में एक महासन्धि-विग्रहाधिकृत होता था अर्थात् शान्ति तथा युद्ध का महामंत्री जो कदाचित् सम्राट के साथ युद्धस्थल पर भी जाता था। बाण भट्ट के अनुसार इस पद पर अवन्ति नामक मंत्री आरूढ़ था। राजस्थानीय दूसरे मंत्री का पदनाम था जो वर्तमान काल के विशेष मंत्री का समकक्ष था। इसी प्रकार एक अन्य मंत्री का पदनाम था कुमारामात्य जो कदाचित राजकुमार होता था। एक पद दूत का भी होता था जो अन्य स्वतंत्र शासकों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने में सम्राट का प्रतिनिधि होता था।

यातायात की कठिनाइयों के कारण दूरस्थ भूखण्डों का प्रशासन गवर्नरों के सिपुर्द था जो उपरिक सामन्त या महासामन्त (महत्वता के अनुसार) कहलाते थे तथा जिन्हें राजा या महाराजा का वीरुद भी प्राप्त था। इनके पास फौज भी होती थी तथा विशेष परिस्थितियों में ओहदा पुश्तैनी भी होता था। सम्राट की आज्ञा पर यह युद्ध में भी सैनिक तथा वित्तीय सहायता करते थे।

वर्तमान शासन व्यवस्था से मिलती-जुलती नौकरशाही भी सृजित थी जैसे विषयपति जो एक विषय (वर्तमान जनपद) का अधिकारी होता था या आजकल के जिलाधीश का समकक्ष। इनकी सहायता के लिए एक समिति भी होती थी जिसके सदस्य महत्वपूर्ण रोजगार-धन्धों आदि के प्रतिनिधि होते थे। मालगुजारी या लगान की वसूली के लिए भोगिक या भोगपति का ओहदा होता था। न्याय व्यवस्था के लिए प्रमात्री का पद होता था जिसे मीमांसक भी कहा जाता था। इसी प्रकार विभिन्न अधिकारी और कर्मचारी होते थे उदाहरणार्थ—

लेखक अथवा कर्निक (लिपिक, क्लर्क);

महा प्रनिहार=प्रधान द्वार-रक्षक;

प्रतिहार=द्वार रक्षक;

सर्वगताइ=खुफिया पुलिस का कर्मचारी जो इधर-उधर जाकर गुप्त रूप से मामलों का पता लगाता था;

अक्षपटलिक=दस्तावेजों, कागजातों के रख-रखाव का अधिकारी;

सेवक=चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी।

सेना का सर्वोच्च अधिकारी महाबलाधिकृत कहा जाता था। उसके नीचे बलाधिकृत तथा सेनापति होते थे। हर्षचरित के अनुसार एक सेनापति का नाम सिंहनाद था। हाथियों की सेना का संचालक कटुक कहा जाता था।

प्रशासन की सुविधा के लिए राज्य छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित था, यथा—

भुक्ति (प्रदेश), विषय (जनपद), पथक (तहसील) और ग्राम (प्रशासन की सबसे छोटी इकाई)।

प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ़ होने के कारण अपराधों की संख्या न्यून थी और आम जनता सुहृदयता-पूर्वक रहती थी, ऐसा हुयेन सांग ने लिखा है। फिर भी राजपथों पर लुटेरों की पूर्णतया कमी नहीं थी क्योंकि स्वयं हुयेन सांग दो बार भगवत्कृपा से लुटते-लुटते बचा था। प्रथम बार जब वह नाव पर गंगा द्वारा अपने निर्दिष्ट स्थान को जा रहा था तभी कुछ डाकुओं ने उसे पकड़ लिया और देवी पर बलि देने के लिए ले चले क्योंकि वह बहुत सुन्दर था और ऐसे व्यक्ति की बलि अधिक पुण्यतम मानी जाती थी। देव कृपा से उसी समय एक काली आँधी आई जिसे डाकुओं ने देवी प्रकोप समझा और यात्री को मुक्त करके उससे माफ़ी माँगी तथा बौद्ध धर्म के आधारभूत पाँच नियमों को पालन करने की प्रतिज्ञा भी की। दूसरी बार एक बहादुर भूमिधर तथा उसके साथियों द्वारा उसकी प्राणरक्षा हुई।

जघन्य अपराधों के लिए कठोर दण्ड निर्धारित था जैसे जीवन पर्यन्त कैद, देश-निकाला, अंग-भंग। मामूली अपराधों के लिए जुर्माना किया जाता था।

दण्ड-भय के अतिरिक्त अपराधों की कमी का कारण यह भी था कि आम तौर पर लोग चरित्रवान होते थे तथा दूसरे जन्म में दण्डित होने की बात पर विश्वास करते थे।

४. (ख) यशोवर्मन तथा आयुधवंश के समय में

उक्त शासकों के बारे में प्रमाणित जानकारी नहीं है किन्तु ऐसा समझा जाता है कि हर्ष-काल की प्रशासनिक व्यवस्था ही घट-बढ़ कर लागू थी। कम से कम प्रशासनिक सिद्धान्तों में कोई बदलाव न हुआ था।

४. (ग) गुर्जर-प्रतिहारों तथा गाहरवालों के समय में

इनके शासन-काल में कन्नौज राज्य फिर वैसा ही गौरवान्वित हुआ जैसा कि वह हर्षवर्धन के समय में था। यद्यपि इन दोनों राजवंशों की शासन व्यवस्था में कुछ छोटी-छोटी बातों में भिन्नता थी तथापि दोनों की प्रशासनिक व्यवस्था के

मूल सिद्धान्त लगभग एक जैसे ही थे। अतः उनका विवरण एक साथ ही यहाँ दिया जा रहा है।

राज्य में शासक का शीर्षस्थ स्थान था और सम्पूर्ण राज्यसत्ता उसी में केन्द्रित थी। सार्वभौमता सूचक उसके अनेक वीरुद होते थे, उदाहरणार्थ—

परम भट्टारक, यानी अत्यन्त पूज्य या श्रद्धेय;

महाराजाधिराज, यानी सम्राट;

परमेश्वर, यानी सर्वोपरि राजा या शासक।

अभिलेखों में यह वीरुद प्रायः प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु कभी-कभी अत्यन्त शक्तिशाली सम्राट के नाम के साथ केवल आदरसूचक शब्द श्रीमत् अथवा मामूली उपाधि महाराजा ही उल्लिखित है; गुर्जर-प्रतिहार सम्राट मिहिर भोज इसका उदाहरण है।

गाहरवालों के ताम्रपत्र अभिलेखों में कुछ अन्य वीरुद भी मिलते हैं, जैसे—

अश्वपति, गजपति, नरपति,

राजत्रयाधिपति, विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति।

प्रथम तीन वीरुदों का आशय अस्पष्ट है किन्तु ऐसा अनुमान है कि ये विभिन्न प्रकार के सामन्तों की संज्ञा हैं। इसी प्रकार राजत्रयाधिपति भी सार्वभौमिकता का सूचक है। अन्तिम उपाधि विद्वत्ता की सूचक है।

राज्य-संचालन में मंत्रीगण शासक को परामर्श देते थे किन्तु उनकी नियुक्ति शासक की स्वरुचि से होती थी अतः प्रशासन अथवा युद्ध और सन्धि सम्बन्धित किसी विषय पर आम जनता की कोई वाणी न थी।

शासक के बाद पटरानी का नम्बर था जिसका वीरुद था अग्रमहिषी या पट्टमहिषी या पट्ट भट्टारिका। उसी के साथ युवराज भी आता था जिसे महाराजपुत्र भी कहा जाता था। इन दोनों का महत्वपूर्ण स्थान था और उन्हें कुछ राजशक्ति भी प्राप्त थी, जैसे भूमिदान करने का अधिकार। किन्तु यह दान शासक द्वारा पुष्ट होने पर ही कार्यान्वित होता था। कभी-कभी युवराज भी प्रशासन तथा युद्ध कार्य में शासक को सहयोग देता था जैसा कि युवराज गोविन्दचन्द्र ने पिता मदनपाल के शासन काल में किया था।

हर्षकाल की सामन्तशाही पद्धति प्रतिहारों और गाहरवालों के समय में सिद्धान्त रूप में प्रचलित रही। सामन्तों, राज्यपालों या गवर्नरों के लिए निम्न संज्ञाएं प्रयुक्त होती थीं—

महासामन्त, महासमताधिपति,

महाप्रतिहार, तंत्रपाल, आदि।

हर्षकाल के अनुरूप प्रशासन की सुविधा के लिए राज्य का विभाजन भुक्ति (प्रदेश), विषय (जनपद), अग्रहार (तहसील), आदि में किया गया था। मण्डल भी एक विभाजन था जिसके अन्तर्गत कतिपय जनपद आते थे।

गाहरवालों के समय के अधिकारियों के कुछ पदनाम उदाहरणार्थ नीचे दिये जा रहे हैं—

महापुरोहित पुरोहित = धार्मिक मामलों में राजा का सलाहकार। उसे राजसी पुरष्कार (भूमि आदि) भी प्राप्त होते थे जैसा कि ताम्र दान पत्रों में उत्कीर्ण हैं।

प्रतिहार = द्वार-रक्षक। यह एक महत्वपूर्ण पद था और उसका अधिकारी शासक का पार्श्ववर्ती होता था। प्रतिहारों के अभिलेखों में भी इस अधिकारी का उल्लेख मिलता है।

भिषक = चिकित्सक जो शासक के स्वास्थ्य की देख-रेख करता था तथा जनता स्वास्थ्य सेवा विभाग का उच्च अधिकारी भी था।

नैमित्तिक = राज्य-ज्योतिषी जो ग्रहों के मिलाव से होने वाले परिणामों की सूचना देता था। महत्वपूर्ण कार्यों के लिए शुभ मुहूर्त भी वह बताता था।

पट्टनाधिकारा-पुरुष = नगर अधिकारी।

स्थानाधिकारा-पुरुष = थानाध्यक्ष, थानेदार।

कायस्थ या कार्निक = दस्तावेज-नवीस के समकक्ष।

तुरुगाधिकारा-पुरुष = घोड़ों (या घुड़सवारों) का अधिकारी।

कार्या अधिकारा-पुरुष = हाथियों का अधिकारी।

अन्त-लिखित दोनों अधिकारी महत्वपूर्ण दर्जे के थे क्योंकि युद्ध में घुड़सवारों और हथियारों पर ही विजय अधिंकतर निर्भर रहती थी।

राजकोश की आय के साधन निम्नलिखित थे—भूमि-कर (यानी लगान, मालगुजारी), जिसे भाग भी कहा जाता था;[1] हिरण्य (सोना) जो व्यापार के मुनाफे पर टैक्स था; जल-कर (पानी या सिंचाई) पर टैक्स; गौ-कर (चरागाहों पर टैक्स); विभिन्न प्रकार की चुंगी, अपराधियों पर आर्थिक दण्ड, इत्यादि।

नोट—गाहरवालों के समय में 'तुरुष्क-दण्ड' भी प्रचलित था जिसकी व्याख्या महाराज गोविन्दचन्द्र के प्रकरण में की गयी है।

मौखरियों, प्रतिहारों और गाहरवालों के समय के सिक्के भी प्राप्त हुये हैं

---

१. इसकी वसूली आम तौर पर पैदावार के एक अंश के रूप में की जाती थी किन्तु कभी-कभी मुद्रा के रूप में भी होती थी।

जिनसे उस काल की वित्तीय स्थिति का कुछ आभास भी मिलता है जैसे कि यदि सोने और चाँदी की मुद्राओं में मिलावट की मात्रा अधिक है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य की वित्तीय स्थिति कमजोर थी। मिहिर-भोज प्रतिहार के समय के द्रम्म नामक चाँदी के सिक्के मिले हैं जो नाम कदाचित् ग्रीक भाषा से लिया गया है (ड्रक्मी, drachmae) तथा जो तौल में ६५ ग्रेन के बराबर होता था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि द्रम्म् कई प्रकार के होते थे।

प्रतिहारों और गाहरवालों की कर तथा मुद्रा प्रणाली से ज्ञात होता है कि इनकी आर्थिक व्यवस्था उन्नतशील थी तथा प्रजा से कर वसूलने के पर्याप्त साधन थे।

५. धार्मिक स्थिति

(क) वैदिक धर्म

जैन और बौद्ध धर्मों के उदय होने के पहले प्राचीन कान्यकुब्ज देश में वैदिक धर्म ही प्रचलित था तथा शासक भी इसी धर्म के अनुयायी थे। विष्णु, शिव और शक्ति की उपासना धर्म का अंग था और वर्णाश्रम उसका आधार था। वर्णाश्रम पद्धति के कारण समाज तथा राजसभा में ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। जैन और बौद्ध मत का अभ्युदय होने पर भी इस भूभाग में वैदिक धर्म की ही प्रधानता रही और ब्राह्मणों की स्थिति में कोई विशेष न्यूनता नहीं आई।

सम्राट हर्षवर्धन बौद्ध धर्म का प्रशंसक था और उसकी उन्नति के लिए उसने कतिपय कार्य भी किये जैसा कि उससे सम्बन्धित अध्याय में कहा गया है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की बात कही है किन्तु वास्तविकता यह है कि उसने अपने पैत्रिक वैदिक धर्म का परित्याग नहीं किया। ब्राह्मणों के प्रति भी उसके विचार उदार थे और बौद्ध भिक्षुओं के साथ-साथ वह ब्राह्मणों को भी प्रचुर दान देता था जैसा कि सम्बन्धित अध्याय में कहा गया है। इसके अतिरिक्त वह मौखरि राजवंश का उत्तराधिकारी था जो वैष्णवधर्म के अनुयायी थे और यही धर्म राज्यधर्म भी था जिसका उत्तराधिकारी के रूप में पालन करना उसका नैतिक कर्तव्य था।

प्रतिहार और गाहरवाल काल में भी वैदिक धर्म ही राजधर्म और प्रजाधर्म रहा यद्यपि कुछ गाहरवाल शासकों की अभिरुचि बौद्ध धर्म में थी, उदाहरणार्थ गोविन्दचन्द्र। इस वंश के संस्थापक महाराज चन्द्रदेव ने पुनीत वैदिक तीर्थों की रक्षा की, यानी काशी, कुशिक (कन्नौज), उत्तर कौशल (अयोध्या खण्ड) इत्यादि, जैसा कि चन्द्रदेव के चन्द्रावत ताम्रपत्र अभिलेख[1] (१०९०-९१ ई०) में बताया गया है। प्रतिहारों और गाहरवालों दोनों के समय में बड़ी संख्या में मन्दिर बने

१. Ep. Ind., IX, pp. 302-5; Ind, Ant., XV, pp. 7, 8.

जिन्हें देवगृह या चैत्य कहते थे। इन मन्दिरों की विशालता तथा सुन्दरता से विदित होता है कि उस समय वास्तुकला उन्नतिशील थी। कुछ मन्दिर तो केवल एक ही चट्टान को काटकर बनाए गए थे।[1] काल की गति तथा विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा प्रायः यह सभी नष्ट हो गये हैं।

प्रतिहार तथा गाहरवाल शासक वैदिक धर्म के प्रतिपालक होते हुए भी एक ही देवता व देवी के उपासक न थे। प्रत्येक शासक के इष्टदेव का चयन स्वयं उसके द्वारा ही होता था जो उसके पैत्रिक इष्टदेव से भिन्न भी हो सकता था। इस प्रकार कुछ शासक भगवती के उपासक थे, कुछ विष्णु के, कुछ शिव के, कुछ सूर्य के। जनता में अधिकतर विष्णु तथा शक्ति की उपासना प्रचलित थी।

ब्राह्मणों की स्थिति---क्षत्रिय (राजपूत) काल में ब्राह्मण---कुल चारों वेदों के अध्ययन में संलग्न रहते थे। तहरीके-हिन्द में अलबरुनी ने लिखा है कि ब्राह्मणों को वेद कंठस्थ थे जिनका उच्चारण वे बड़ी सरलता से करते थे यद्यपि उनके अर्थों का ज्ञान थोड़े ही ब्राह्मणों को था।[2] उसने यह भी लिखा है कि वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण समुदाय निम्न ग्रन्थों और विषयों का भी पठन-पाठन करते थे---अट्ठारहों पुराण, स्मृतियाँ, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, सांख्य, मीमांसा, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष चिकित्सा, अंकगणित, आदि विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ।[3] यद्यपि उस समय लेखनकला पूर्णरूपेण प्रचलित थी तथापि ब्राह्मण लोग वेदों को कंठ करना ही उचित समझते थे। अलबेरुनी ने इसका कारण यह बताया है कि वेदों को एक विशेष ढंग से उच्चारित किया जाता था (और अब भी) जिसको लिपिबद्ध करने में अशुद्धता होने की सम्भावना रहती थी जो गुरु द्वारा कंठस्थ कराने में नहीं रहती थी।[4]

ब्राह्मणों का वैभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था जिस कारण क्षत्री, वैश्य और शूद्र उनको दान, उपहार आदि देने में अपना गौरव मानते थे। शासकों द्वारा उन्हें भूमि-दान तथा अन्य दान भी प्रचुर मात्रा में दिये जाते थे। शासकों द्वारा आम तौर पर भूमि दान विशेष अवसरों पर ही दिये जाते थे जैसे चन्द्र या सूर्य ग्रहण, पितरों की वार्षिक श्राद्ध, जातकर्म, नामकर्ण, युवराज-पद प्राप्ति, संक्रान्ति। यह भूमिदान पुश्तैनी होते थे और दान दी हुयी भूमि को किसी भी अवस्था में वापस लेना पापमय माना जाता था।

---

१. Tripathi, History of Kanauj, p. 352.

२. Sachau, Alberuni's India, Vol. I, p. 125.

३. वही, पृ० १३०-५९।

४. वही, पृ० १२५-२६।

गाहड़वालों के कुछ अभिलेखों में ब्राह्मणों के उपनाम भी आए हैं जैसे मिश्र, द्विवेदी, त्रिपाठी, दीक्षित, पाठक, (शर्मा) अवस्थी, चतुर्वेदी। उनके लिए पंडित की उपाधि का भी उपयोग हुआ है। अतः स्पष्ट है कि उस समय में इन संज्ञाओं का प्रचलन जारी था जैसा कि वर्तमान काल में भी है।

५ (ख). धार्मिक स्थिति---जैन मत

नोट---जैनधर्म बुद्ध धर्म के लगभग २९ वर्ष पूर्व प्रकाश में आया जब कि वर्धमान महावीर को ४२ वर्ष की आयु में केवल (निर्मल) ज्ञान की प्राप्ति हुयी और तभी से वे उत्तर भारत में अपने ज्ञान और अनुभव का प्रचार करने लगे थे। उनका जन्म एक राज परिवार में ई० पू० ६०० के लगभग वैशाली के पास कुंडग्राम नामक नगर में हुआ था।

उसके लगभग २९ वर्ष बाद गौतम बुद्ध ने ई० पू० ५२८ में सारनाथ में अपने पाँच शिष्यों को उपदेश देकर बौद्ध धर्म का प्रचार आरम्भ किया था। उनका जन्म ई० पू० ५६३ में कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी वन में हुआ था और घोर तप करने के बाद ३५ वर्ष की आयु में उन्होंने उक्त उपदेश दिया था---इस घटना को धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहते हैं, अर्थात् धर्म के चक्र को चलाना। ऐसा माना जाता है कि इस सन्दर्भ में चक्र का अभिप्राय धर्म के चक्रवर्ती साम्राज्य से है।

(नोट समाप्त)

राजपूत (क्षत्रिय) काल में कान्यकुब्ज देश में जैन मत का प्रभाव बहुत कम था क्योंकि उस काल में प्रायः एक शासक को छोड़कर अन्य किसी शासक की मनोवृत्ति उस धर्म की ओर न थी। वह शासक था महाराज यशोवर्मन (७२५-७५२ ई०) का पुत्र तथा उत्तराधिकारी आमराज, जो जैन मतावलम्बी था। जैन मुनि बप्पभट्टि ने उसे जैन धर्म में दीक्षित किया था। सन् ७५२ ई० में गद्दीनशीन होने पर आमराज ने उन्हें "सूरि" के अलंकार से विभूषित किया था। आमराज के अतिरिक्त किसी अन्य शासक का जैनधर्म अवलम्बी होने का उल्लेख नहीं मिलता और न राज्य की ओर से जैन संस्थाओं आदि को प्रोत्साहन ही था।

इस प्रकार जैन धर्म की स्थिति बौद्ध धर्म से भिन्न थी क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं और संस्थाओं को राज्य की ओर से समय-समय पर प्रोत्साहन तथा संरक्षता प्राप्त होती थी जिसका जैन-मत के मुनियों और संस्थाओं के लिए प्रायः अभाव था।

जैन धर्म का मूल सिद्धान्त अहिंसा को शीर्षस्थ स्थान देता है---वह छोटे से छोटे जीवधारी की हिंसा का निषेध करता है। इस धर्म का आचार मार्ग भी अत्यन्त कठोर और कष्ट-साध्य है।

इस भूभाग में जैन मत के अप्रभावित होने के कई कारण थे, यथा—

(क) यहाँ ब्राह्मणों का बाहुल्य था जो वैदिक धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य मत के पक्षपाती न थे।

(ख) जैन मत में अहिंसा की पराकाष्ठा थी जो क्षत्रियों और शूद्रों को अमान्य थी क्योंकि उनमें मांस-भक्षण और पशुबलि प्रचलित थी जिसे वे परित्याग न कर सकते थे।

(ग) वैश्य वर्ग में ही यह मत प्रचलित हो सकता था (और हुआ भी). किन्तु ब्राह्मणों, क्षत्रियों और शूद्रों के मुकाबले में वैश्यों की संख्या बहुत कम थी। वैश्यों ने इस मत को इस कारण अपनाया कि उनका सम्बन्ध यज्ञ, युद्ध और श्रम से बहुत कम था तथा उनका काम दूकान पर बैठने और लेखे-जोखे से चल सकता था।

(घ) इस धर्म के आचरण के नियम इतने कष्टप्रद हैं कि आम लोगों के लिए उन्हें बरतना सम्भव न था।

यद्यपि राज्य की ओर से जैनियों को काई सहायता प्राप्त न थी फिर भी कन्नौज के निकट काम्पिल्य (अब कम्पिल) नामक स्थान उनका प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र था और अब भी है। यह केन्द्र राजपूत युग के पहले ही स्थापित हो चुका था और उस काल में भी उसकी प्रतिष्ठा पूर्ववत रही क्योंकि न तो शासन की ओर से और न ही जनता की ओर से जैनियों के प्रति कोई विरोध था। अतः जैनियों द्वारा उस तीर्थस्थल की उन्नति करने में किसी प्रकार की बाधा न थी। इस तथ्य से वैदिक धर्म की सहनशीलता भी दर्शित होती है तथा अन्य धर्मों की ओर सद्भावना। साथ ही उपरलिखित जैनमतावलम्बी आमराज के समय (सन् ७५२ व उसके कुछ समय बाद तक) में जैन तीर्थ के रूप में कम्पिल की उन्नति अवश्य हुई होगी।

नोट—कम्पिल तीर्थ का विवरण अन्यत्र दिया गया है।

५ (ग). धार्मिक स्थिति—बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक प्रसार का गौरव प्राचीन कान्यकुब्ज देश के उस भूभाग को प्राप्त है जो वर्तमान उत्तर प्रदेश का उत्तर-पूर्वी भाग है। यद्यपि बौद्ध धर्म का जन्म बिहार में हुआ था किन्तु उसके बाद उसका पूर्ण विकास कौशल (अवध) में ही हुआ। वर्तमान उत्तर प्रदेश राज्य मुजफ्फरनगर (पश्चिम में) से बलिया (पूरब मे) तक तथा टेहरी गढ़वाल (उत्तर में) से मिर्जापुर (दक्षिण में) तक विस्तृत है। इसके उत्तर में नेपाल और हिमांचल प्रदेश, पूर्व में बिहार राज्य, दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में मध्यप्रदेश राज्य तथा पश्चिम में हरियाना, पंजाब और राजस्थान है। सम्पूर्ण क्षेत्रफल लगभग १,१३,५०० वर्ग मील है।

इस प्रकार इस विस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत प्राचीन काल के राज्यों में से निम्न-लिखित भूभाग कान्यकुब्ज देश के अंग होते हैं—

कोशल (अवध), काशी, वत्स, पंचाल और शूरसेन तथा

शाक्यों, कोलियों, मल्लों और भर्गों के गणतंत्र राज्य। राजकुमार सिद्धार्थ गौतम की जन्मभूमि कपिलवस्तु[1] यद्यपि उत्तर प्रदेश की उत्तर-पूर्वी सीमा से कुछ किलोमीटर दूर है किन्तु वह स्थान भी कान्यकुब्ज देश से सम्बन्धित था क्योंकि वह प्राचीन कोशल राज्य के अन्तर्गत था। बुद्ध के समय में कोशल राज्य का विस्तार आधुनिक अवध की भूमि पर था जिसकी पूर्वी सीमा गंडक नदी, पश्चिमी सीमा गोमती नदी, दक्षिणी सीमा सई नदी और उत्तरी सीमा नेपाल को स्पर्श करती थी।

नोट—राजकुमार सिद्धार्थ का जन्म कपिलवस्तु नगर के निकट लुम्बिनी नामक राज्योद्यान में हुआ था। यह उद्यान कपिलवस्तु से उत्तर-पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर स्थित है। जब उनकी माता का प्रसव काल निकट आया तब उन्हें उनके पितृनगर देवदह की ओर ले जाया गया। मार्ग में इस उद्यान में कुछ देर के लिए विश्राम किया। तभी बालक सिद्धार्थ का जन्म हो गया।

(नोट समाप्त)

जैसा कि जैन मत के प्रकरण में कहा गया है बौद्ध धर्म का प्रचार जैन-धर्म के लगभग २९ वर्ष बाद ई० पू० ५२८ में प्रारम्भ हुआ था। उसका श्रीगणेश गौतम बुद्ध ने सारनाथ में अपने पाँच शिष्यों को नये ज्ञान का उपदेश देकर किया था और जिस ज्ञान को उन्होंने लगभग ८ वर्ष की घोर तपस्या के बाद प्राप्त किया था। उन्होंने नैतिक तथा दार्शनिक दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का प्रचार किया। नैतिक उपदेश में उन्होंने बताया कि संसार में दुःख ही दुःख है (सर्वं दुःखं दुःखम्), यानी जन्म-मरण, बुढ़ापा (जरा), रोग तथा इच्छाओं की आपूर्ति। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो सर्वथा दुःख से मुक्त हो। फिर उन्होंने बताया कि दुःखों का अन्त करने का उपाय तृष्णा या वासना पर काबू पाना है। यही निर्वाण प्राप्त करने का साधन है, अर्थात् सम्पूर्ण तृष्णा-क्षय और दुःखरहित अवस्था। जैन धर्म की कठिन शारीरिक तपश्चर्या के बजाय उन्होंने युक्त आहार-विहार के मध्यम मार्ग पर बल दिया। दार्शनिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है, उसके अनुसार जगत की उत्पत्ति के लिए किसी कर्ता की आवश्यकता नहीं; कार्य-कारण शृंखला से संसार चलता रहता है। बुद्ध स्थायी आत्मा में भी विश्वास नहीं

---

१. इस स्थान की पहिचान उत्तर-पूर्वी रेलवे के नौतनवा स्टेशन से १२ मील उत्तर-पश्चिम तिलौराकोट नामक स्थान से की गयी है।

करते थे। उनका सिद्धान्त था कि जब मनुष्य की तृष्णा और वासना के सम्पूर्ण क्षय से उसका अहंकार नष्ट हो जाता है तब उसको निर्माण यानी परम शान्ति प्राप्ति होती है। इस परम पद को प्राप्त करने के लिए उन्होंने नैतिक आचरण और दार्शनिक ज्ञान को आवश्यक बताया और वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया।

सम्राट अशोक के समय (ई० पू० २७४-२३२ ई० पू०) में बौद्ध धर्म अपने उच्च शिखर पर था और स्वयं सम्राट उसमें दीक्षित हो गये थे। कालान्तर में मध्य देश में बौद्ध धर्म की अवनति गुप्त-काल (सन् ३१९ ४९५ ई०) से प्रारम्भ हो गयी थी यद्यपि उस काल में बौद्ध धर्म मानने वालों की संख्या कम न थी और चीनी यात्री फाहियान (सन् ४०८-४१६ ई०) ने बहुत से स्थानों में बौद्ध स्तूप, विहार और चैत्य देखे थे तथापि उत्कीर्ण अभिलेखों और उसके यात्रा-वर्णन से ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म शनैः शनैः अपना क्षेत्र बढ़ा रहा था और सम्प्रदाय रूप में बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था। फाहियान के अनुसार कपिलवस्तु, श्रावस्ती आदि गौरवशाली बौद्ध केन्द्र बहुत अंशों में क्षीण हो चुके थे। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि बौद्ध धर्म लुप्तप्राय हो रहा था।

कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन (सन् ६०६-६४८ ई०) के समय को छोड़ कर क्षत्रिय-काल में बौद्ध धर्म अवनति की ओर ही चलता रहा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है हर्ष वर्धन वैदिक धर्म का अनुयायी होते हुए भी बौद्ध धर्म का उन्नयक था। उसकी बहिन राज्यश्री भी बौद्ध धर्म से सम्बन्धित थी। इन्हीं कारणों से हर्ष के राज्यकाल में बौद्ध भिक्षुओं तथा संस्थाओं को प्रचुर प्रोत्साहन प्राप्त था।

हर्ष के लगभग ७५ वर्ष बाद कन्नौज के इतिहास में महाराज यशोवर्मन (७२५-७५२ ई०) का नाम मिलता है जिन्होंने भी बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन दी जैसा कि नालन्दा अभिलेख[1] से विदित होता है। यशोवर्मन के बाद कन्नौज राज्य पर आयुध-वंश का अधिकार रहा, लगभग सन् ७७० से ८३३ तक। इस काल में मध्यदेश में बौद्ध धर्म की स्थिति की जानकारी नहीं है किन्तु अनुमान है कि वह अवनति पर ही रहा। उसके बाद गुर्जर-प्रतिहार वंश का शासन आता है, सन् ८३३ से लगभग १०३६ तक। उस काल में बौद्ध धर्म निश्चय ही अवनति पर था और वैदिक धर्म तथा पौराणिक देवताओं की मान्यता उन्नतिशील थी। प्रतिहार वंशी सभी शासक किसी न किसी पौराणिक देवता (विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य आदि) के परम उपासक थे।

---

१. Ep. Ind., XX (Jain, 1929), pp. 37-46.

अन्ततः लगभग ५० वर्ष के अनिश्चित अन्तराल के बाद सन् १०८५ के लगभग गाहरवाल वंश का शासन स्थापित हुआ। इनके राज्यकाल में भी बौद्ध धर्म का ह्रास जारी रहा और वैदिक धर्म का उन्नयन होता रहा। फिर भी यह प्रमाणित है कि शासन की ओर से बौद्धों को आर्थिक सहायता (दान आदि के रूप में) मिलती थी। उदाहरणार्थ, गोविन्दचन्द्र का सुहेत-महेत अभिलेख बताता है कि महाराज ने कई ग्रामों को जेतवन के विहार में रहने वाले शाक्य भिक्षुओं की सेवा के लिये समर्पित किया था तथा जिनका अधिष्ठाता बुद्धरक्षित था।[1] इसी प्रकार महाराज की बौद्ध रानी कुमारदेवी ने सारनाथ में एक नये विहार का निर्माण करवाया और उसमें धर्मचक्र "जिन" की पुरानी प्रतिमा का जीर्णोद्धार करा कर स्थापित कराया था।[2] महाराज जयचन्द्र भी बौद्ध मत के समर्थक थे क्योंकि उनके बोधगया शिलालेख से ज्ञात होता है कि वे बौद्ध भिक्षुओं के नेता महात्मा श्रीमित्र के शिष्य थे।[3] महाराज ने उन्हें भूमि, धन, आदि भी दिया था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गाहरवालों के समय में बौद्धों को शासन की ओर से संरक्षता प्राप्त थी।

महात्मा बुद्ध कन्नौज गए थे—पाली ग्रन्थों के अनुसार महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों के साथ कन्नौज (उस समय का नाम कान्यकुब्ज) भी गए थे। उन्होंने जिन स्थानों में यात्राएँ कीं और धर्म का प्रचार किया उनका क्षेत्र अधिकांश में भारत के मध्य एवं पूर्व भागों तक सीमित था। जिन स्थानों में बुद्ध ने यात्राएँ की थीं वे एक दूसरे से ऐसे मार्गों द्वारा सम्बद्ध थे जिन पर अधिकतर व्यापारियों के दल यात्रा किया करते थे। सुरक्षा तथा भोजन आदि की सुविधाएँ मिलने के कारण इन व्यापारी दलों के साथ प्राचीन काल के साधु संन्यासी भी प्रायः यात्रा किया करते थे क्योंकि उन दिनों वे भी लुटेरों के भय से मुक्त नहीं थे। पाली ग्रन्थों में कुछ ऐसे मार्गों का निर्देश है जिनसे होकर महात्मा बुद्ध के दर्शनार्थ जाते थे।

विनय पिटक (३, ११) में एक मार्ग का वर्णन है जिससे होकर बुद्ध राजगृह गये थे। यह पश्चिम में बेरंज से आरम्भ होकर—

१. Ep. Ind.; XI, pp. 24-26.
२. Undated Sarnath Inscription of Kumardevi, Ep. Ind., IX, pp. 319-28.
३. Ep. Ind., V, Appendix, p. 26, no. 177.

सोरेय्य, संकस्स[1], कण्णकुज्ज[2], पयागतित्थ[3] होते हुये वाराणसी जाता था जिसमें सोरेय्य को छोड़ कर शेष सभी उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत हैं—उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास ।[4]

अंगुलिमाल की कथा—बुद्ध के अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी थी किन्तु उन सबका नाम ग्रन्थों में नहीं आया। फिर भी ऐसे अनेक व्यक्तियों के नाम मिलते हैं जिन्हें बुद्ध ने अपने धर्म का उपदेश दिया और जो उनके अनुयायी हो गये। इनमें अंगुलिमाल का विशेष स्थान है।

अंगुलिमाल कोसल के राजा प्रसेनजित के राजगुरु गग्ग[5] का पुत्र था। उसका पूर्व नाम अहिंसक था किन्तु बाद में वह अंगुलिमाल के नाम से दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया। उसका चरित्र बड़ा विचित्र और उदात्त था और क्योंकि उसने ९९ व्यक्तियों का वध करके उनकी उँगलियाँ काटी थी उसको लोग अंगुलिमाल कहने लगे थे।

अहिंसक ने तक्षशिला में विद्याध्ययन किया। अपने अन्य साथियों से वह विद्या में बहुत आगे बढ़ गया जिसके कारण वे उससे ईर्षा करने लगे। उन्होंने आचार्य और अहिंसक के बीच मतभेद उत्पन्न कर दिया। फलतः आचार्य ने उससे अपना पिंड छुड़ाने के लिए १०० मनुष्यों की उँगलियाँ गुरुदक्षिणा में माँगी। यह दक्षिणा देना अपना धर्म समझ कर वह कोसल चला गया। वहाँ वह मार्ग के किनारे छिपकर बैठा रहता और उधर से आने वाले यात्रियों का वध कर देता। इस प्रकार उसने ९९ मनुष्यों को मारकर उनकी उँगलियाँ एकत्र की। संयोग से सौवीं बलि उसकी माता की ही होने वाली थी। बुद्ध को ज्ञात हुआ कि अहिंसक के बहुत पुण्य संचित हैं परन्तु यदि वह मातृहत्या का महापातक करेगा तो वे सब पुण्य नष्ट हो जायेंगे। अतः वह तुरन्त उस स्थान पर पहुँचे जहाँ अहिंसक छिपा बैठा था और सौवें व्यक्ति वह स्वयं हो गए। अपनी असाधारण शक्ति के द्वारा

---

१. इसकी पहिचान कन्नौज से ४५ मील पर अतरंजी और कन्नौज के बीच संकिसा-बसंतपुर से की गयी है। संकिसा से मथुरा की दूरी ४ योजन (कच्चायन, ३/१) और श्रावस्ती से ३० योजन थी (जातक, ४।२६५)। एक योजन = ३ मील के लगभग।

२. कन्नौज (कान्यकुब्ज) का उस समय का नाम था।

३. इलाहाबाद। कोसंबी से बनारस की दूरी यमुना से होकर ३० योजन अर्थात् लगभग ९० मील थी, जो अनुमान प्रायः ठीक जान पड़ता है।

४. पृष्ठ ११-१३।

५. अथवा भग्गव।

उन्होंने अहिंसक की बुद्धि को सन्मार्ग पर लगाया और उसे बौद्ध संघ में प्रविष्ट कर लिया। उसके पश्चात् शीघ्र ही उसे अर्हत् पद प्राप्त हुआ।[1] इस प्रकार पूर्वनामधारी अहिंसक बाद में अंगुलमाल के नाम से ही विख्यात हुआ।

अंगुलिमाल को साहसिक (डाकू) समझा जाता था। एक दिन राजा प्रसेनजित् ५०० अश्वारोही योद्धाओं के साथ उसे बन्दी करने के लिए जा रहा था। तभी राजा ने बुद्ध से मिल कर उन्हें अपना उद्देश्य बतलाया। बुद्ध ने राजा से पूछा कि यदि तुम अंगुलिमाल को सिर मुड़ाए और पीला वस्त्र पहने हुए भिक्षु के रूप में पाओ तो क्या करोगे। प्रसेनजित् ने उत्तर दिया कि मैं उसका उचित सम्मान करूँगा। तब बुद्ध ने राजा का ध्यान अपने दाहिने पार्श्व में बैठे हुए एक भिक्षु की ओर आकर्षित किया और कहा कि अब इससे भय का कोई कारण नहीं है।

अंगुलिमाल जब पुरवासियों के पास भिक्षा माँगने के लिए जाता था तो लोग उससे घृणा करते थे और उसे शारीरिक कष्ट भी देते थे। एक बार भिक्षा माँगने पर उसने एक स्त्री को असह्य प्रसववेदना से पीड़ित देखा। लौट कर उसने बुद्ध से यह बात बतायी। बुद्ध ने उसे उस स्त्री के पास फिर जाने को कहा और आदेश दिया कि उससे इस प्रकार कहो कि मेरे इस सत्यवचन के प्रभाव से कि मैंने अपने जन्म से लेकर आज तक कभी जान बूझ कर किसी जीव की हत्या नहीं की, तुम स्वस्थ हो जाओ और सुख से प्रसव करो।

इस पर अंगुलिमाल ने बुद्ध की ओर सन्देह की दृष्टि से देखा, तब उन्होंने बताया कि मेरा तात्पर्य एक दीक्षा प्राप्त भिक्षु के रूप में तुम्हारे पुनर्जन्म से है। अंगुलिमाल के इस सत्य कर्म का अभीष्ट फल हुआ और कोसल भर में उसका यश फैल गया।[2]

अंगुलिमाल ने बुद्ध की स्मृति में श्रावस्ती में एक स्तूप भी बनवाया था। सन् ६२९ से ६४५ ई० तक के अपने भारत भ्रमण में चीनी परिव्राजक हुएनसांग ने इस स्तूप को तथा अन्य स्तूपों को देखा था जो श्रावस्ती में उस समय मौजूद थे।[3]

अन्त में कान्यकुब्ज देश के प्रमुख बौद्ध तीर्थों का सूक्ष्म विवरण देकर इस प्रकरण को समाप्त किया जाएगा।

---

१. उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृ० ८६।
२. मज्झिम निकाय ३, पृ० ९७ तथा आगे।
३. उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृ० २४२।

लुम्बिनी या लुम्बिनीवन—इस स्थान पर गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था अतः बौद्धों का यह पवित्र तीर्थ है। यह स्थान बुद्ध के पिता राजा शुद्धोदन की राजधानी कपिलवस्तु के पास था और अब रुम्मिनदेई के नाम से जाना जाता है। कपिलवस्तु का स्थान आजकल बस्ती जनपद के पूर्वोत्तरी सीमा पर नेपाल राज्य की तराई में है और अब उसे तिलौराकोट कहते हैं। जब बुद्ध के जन्म लेने का समय निकट आया तब इनकी माता कपिलवस्तु से अपने मायके देवदह (गोरखपुर जनपद में) जा रही थीं। मार्ग में एक वन में (लुम्बिनी वन में) ही बुद्ध का जन्म हुआ।

सारनाथ—बौद्धों का यह प्रसिद्ध केन्द्र वाराणसी से लगभग ८ किलोमीटर की दूरी पर है। इस स्थान पर महात्मा बुद्ध ने अपना प्रथमतम उपदेश अपने पाँच शिष्यों को दिया और इस प्रकार उन्होंने धर्मचक्र को चालू किया। जिस स्थान पर यह प्रवचन हुआ वह हिरण-उद्यान (मृगदाओ) के नाम से जाना जाता है और जहाँ शान्तिमय वातावरण है। सम्राट अशोक के समय (ई०पू० २७४-ई० पू० २३२) में सारनाथ ने प्रचुर महत्व प्राप्त किया और सम्राट ने यहाँ अनेकों स्तूप तथा इमारतें बनवाई। यवन आक्रमणकारियों द्वारा यह स्थान कई बार ध्वंस किया गया जिससे यहाँ खण्डहर ही खण्डहर हो गए। कालान्तर में भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा खुदाई होने पर अनेकों प्राचीन विहारों आदि के चिह्न प्राप्त हुए। प्रख्यात धमेक स्तूप खण्डहरों के मध्य में अब भी अपनी भव्यता दर्शा रहा है। विख्यात अशोक स्तम्भ (जिसके शिखर पर सिंह की प्रतिमा है)[1] सारनाथ संग्रहालय में अन्य पुरातात्त्विक सामग्री के साथ सुरक्षित है। वर्तमान काल में वहाँ मूलगंधकुटी-विहार नामक एक विशाल विहार बनवाया गया है जिसमें महात्मा बुद्ध के कुछ चिह्न रखे हुये हैं।

सांकाश्य (सनकिसा)—यह स्थान फर्रुखाबाद जनपद में है और अपभ्रंश रूप में अब इसका नाम सनकिसा है। चीनी यात्री युआन च्वांग (६२९-६४४ ई०) जो कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन के समय (६०६-६४८ ई०) में भारत-यात्रा पर आया था यहाँ भी गया था और अपने ग्रन्थ में इस स्थल को कपित्थ की संज्ञा दी। बौद्धों का विश्वास है कि महात्मा बुद्ध स्वर्ग को गये थे और फिर इसी स्थान पर स्वर्ग से उतरे थे। इस समय यहाँ पर एक छोटा सा गाँव है जिसमें बिसारी देवी का मन्दिर है और पास ही मे एक अशोक स्तम्भ भी जिस पर हाथी की प्रतिमा उत्कीर्ण है। प्रत्येक श्रावण मास में देवी जी के मन्दिर के

---

१. इसी के आधार पर स्वतंत्र भारत की राजचिह्न मुद्रा बनाई गई है।

आस-पास एक मेला लगता है। बौद्धों के अतिरिक्त यह हिन्दुओं का भी पूज्य स्थान है।

कुशीनगर—अब यह नगरी कसिया के नाम से जानी जाती है जो देवरिया से ३० किलोमीटर की दूरी पर हैं। महात्मा बुद्ध को यहीं पर महापरिनिर्वान प्राप्त हुआ था अर्थात् शरीरपात हुआ था। यहाँ के एक स्तूप में बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है। गुप्त काल (३२०-६०० ई०) के अनेक विहार तथा मन्दिर भी हैं। बौद्धों का यह महत्वपूर्ण तीर्थ-स्थान है।

श्रावस्ती—कन्नौज-नरेश गोविन्दचन्द्र गाहरवाल के राज्य काल के अभिलेख श्रावस्ती की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। यह खुदाई जनरल कनिंघम द्वारा कराई गयी थी जिसके फलस्वरूप अनेकों मूर्तियाँ, सिक्के और अभिलेख भी मिले जिन सभी से श्रावस्ती की प्राचीनता और भी पुष्ट हुई।

उत्तर प्रदेश के बहराइच जनपद में स्थित बौद्ध तीर्थ श्रावस्ती प्राचीन भारत की प्रमुख नगरी थी। यह बलरामपुर से २१ किलोमीटर पश्चिम गोन्डा-बहराइच सीमा पर राप्ती नदी के तट पर स्थित थी। अब उसके खन्डहर नदी के तट पर सहेत-महेत नाम से बिखरे हुये हैं।

महात्मा गौतम बुद्ध ने अपने जीवन के अन्तिम २४ वर्ष श्रावस्ती के जतवन विहार में गुजारे थे। कुख्यात दस्यु अंगुलमाल यहीं पर उनके उपदेशों के प्रभाव से बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ था। महात्मा बुद्ध के समय श्रावस्ती श्री रामचन्द्र जी के वंशधर राजा प्रसेनजित् के राज्य की राजधानी थी। महाराज प्रसेनजित् कोसल प्रदेश के शासक थे। इस समृद्ध प्रदेश की राजधानी होने के नाते के अतिरिक्त श्रावस्ती उस समय उत्तर भारत की प्रमुख व्यापारिक नगरी भी थी। श्रीवास्तव कायस्थों का मूल स्थान श्रावस्ती ही माना जाता है। यह नगर जैनियों का भी प्रधान तीर्थ था और अब भी है।

६. राजपूतयुगीन कला

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है राजपूत युग का समय ६०० ई० से १२०० ई० तक का है अर्थात् लगभग कन्नौज के मौखरियों के शासन काल से अथवा सम्राट हर्षवर्धन के समय से उस समय तक जबकि दिल्ली और कन्नौज मोहम्मद गोरी के अधिकार में आए। इस युग में उत्तर भारत में कन्नौज राज्य का ही प्रभुत्व रहा अतएव राजपूत युगीन कला कन्नौज राज्य तथा उसी के शासकों से सम्बद्ध है। साथ ही उसका सम्बन्ध उन राजपूत घरानों से भी है जो कन्नौज राज्य के पतन के बाद राजपूताना की ओर चले गये थे और वहाँ छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित किये। इनमें से एक नया राज्य जोधपुर था

जिसे कन्नौज के राठौर वंशीय क्षत्री वीर ज़ोधा ने स्थापित किया और जिसने जोधपुर का किला निर्मित कराया था। राठौर वीरों द्वारा अन्य ऐसे राज्यों के उदाहरण हैं जयपुर, उदयपुर, चित्तौर, अजमेर।

उपरोक्त स्थिति के अनुसार राजपूत युगीन कला केवल राजपूत युग (६००-१२०० ई०) तक ही सीमित नहीं रही बल्कि उसके बाद भी राजपूताना के शासकों के समय तक चलती रही, अर्थात् लगभग मुगल काल के अन्त तक।

इसी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कला के रूप में कन्नौज राज्य की विरासत कन्नौज राज्य के नष्ट हो जाने के बाद भी लगभग पाँच सदियों तक जीवित रही। सम्प्रति शीर्षक के अन्तर्गत अब इसी विरासत का संक्षेप विवरण दिया जा रहा है।

नोट—कन्नौज राज्य के अस्तित्व के समय तक (६००-१२०० ई०) की कला आदि का वर्णन पिछली परिशिष्ट (कला, संस्कृति, विद्वत्ता और व्यापार में कन्नौज का स्थान) में पहले ही दे दिया गया है।

वास्तुकला—इस क्षेत्र में राजपूतों को विशेष अभिरुचि थी जिसके उदाहरण राजस्थान और वर्तमान मध्य प्रदेश के भूभाग में विशाल दुर्गों, राजमहलों, मन्दिरों तथा निजी आवासों के रूप में आज भी सुरक्षित हैं। चित्तौर, रणथम्भौर, जोधपुर, बीकानेर, ग्वालियर, अम्बर (जयपुर के पास अब उजाड़ नगरी), आदि में जो गढ़, राज महल आदि मौजूद हैं वे 'राजपूतों की वास्तुकला प्रियता के साक्षी हैं। उन्हें जिन प्राकृतिक वातावरण में निर्मित किया गया है और उन्हें जिन कृत्रिम झीलों से सौन्दर्यमय बनाने का प्रयत्न किया गया है वह अत्यन्त सराहनीय है। किलों में विशेषकर उल्लेखनीय हैं चित्तौर, जोधपुर, ग्वालियर और मांडू के किले तथा महलों में जयपुर और उदयपुर के राजमहल। राजपूतों के शासन काल ही में जैनियों ने आबू पर्वत पर संगमरमर के अति सुन्दर मन्दिरों का निर्माण किया, जो भारत को वास्तुकला के इतिहास में अद्वितीय हैं।

इस सम्बन्ध में निम्न उद्धरण दृष्टव्य है जो सर थामस हन्गरफोर्ड होलडिच (Sir T.H. Holdich) की पुस्तक इन्डिया (India) से लिया गया है—

"In the south-eastern half of Rajputana....there are the great cities of Rajputana Jaipur, Jodhpur, Ajmere, Chittor and Udaipur still attest, with the lofty battlemented walls and scarped defences, the strength of those ancient strongholds which have witnessed centuries of stirring action and many a bold defence; whilst the magnifence of the relics of ancient architectural structure and art designs with which they abound

attest equally to the high development of early Rajput culture. No towns or cities in India so amply repay a visit as those of Rajputana. There is nothing in India to exceed the beauty of the city of Udaipur, the seat of the most ancient of Rajput races, with the white brightness of its towers and terraces reflected in the waters of its still clear lake and its noble surroundings of hill and plain; nothing in the art of marble carving to beat the records of that race of sculptors which decorated Amber, the ancient site of Jaipur, nothing historically so fascinating as the blood-stained courtyards and walls and towers of Chittor. No district in India can compare with Rajputana in historical interest."[१]

भावार्थ—राजपूताना के दक्षिण-पूर्वी भाग में राजपूताना के बड़े-बड़े नगर हैं। जयपुर, जोधपुर, अजमेर, चित्तौर तथा उदयपुर नगरों की ऊँची तथा किलेबन्द दीवारें तथा बचाव की अन्य तदवीरें अब भी इस बात की गवाही देती हैं कि अपने समय में वे कितने मजबूत थे और जिन्होंने कई सदियों के दर्मियान विभिन्न आक्रमणकारियों का किस बहादुरी के साथ सामना किया था। इसी प्रकार वहाँ की अनेकों कलायुक्त इमारतों के भग्नावशेष प्राचीन राजपूतों की कलाप्रियता, वास्तुनिपुणता तथा शिष्टता को प्रमाणित करते हैं। भारत का कोई भी नगर राजपूताना के इन नगरों की विशेषताओं का मुकाबला नहीं कर सकता। उनको देखने के लिए जाना सर्वदा सार्थक सिद्ध होगा। उदयपुर से अधिक सुन्दर भारत में कोई भी नगर नहीं है। वहाँ की चमकती हुयी श्वेत मीनारें तथा घरों की पंक्तियाँ झील के स्वच्छ जल में प्रतिबिम्बित होती हैं। नगर के चारों ओर आकर्षक पहाड़ियाँ और सुन्दर मैदान हैं। यह नगर राजपूत वंशों में सबसे प्राचीन वंश का केन्द्रस्थल था। इसी प्रकार वर्तमान जयपुर के निकट अम्बर नामक नगरी थी जो पहले उन शासकों की राजधानी थी कि जिन्होंने बाद में जयपुर को अपनी राजधानी बनाया।[२] अम्बर के अब उजाड़ महलों में संगमरमर

---

१. Page 200 of *India* by Sir Thomas Hungerford Holdich.

२. अम्बर उस क्षेत्र की राजधानी थी कि बादहू जिसकी राजधानी जयपुर हुयी और जो जयपुर से कुछ ही किलोमीटर की दूरी पर स्थित थी। इसकी प्रतिष्ठा महाराज मानसिंह के समय (१५९२-१६११) तक रही। उनके बाद महाराज जयसिंह ने अम्बर के बजाय अपनी राजधानी के लिए एक नया नगर निर्माण किया जो उन्हीं के नाम पर जयपुर कहलाया। प्राचीन काल में जयपुर राज्य विराट के नाम से जाना जाता था।

की नक्काशी बेजोड़ है और उन संगतराशों की उत्तम कला की याद दिलाती है कि जिन्होंने अम्बर के महलों को अलंकृत किया था तथा जिनके कुल अब भूतकाल में विलीन हो गये हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक रोचकता की दृष्टि से कुछ भी इतना आकर्षक तथा रोचक नहीं है जितना कि चित्तौर की रक्त-रंजित दीवारें, मीनारें एवं प्रांगण जो कि अब केवल स्मृति शेष के रूप में वर्तमान हैं। भारत का कोई भी जनपद ऐतिहासिक दिलचस्पी में राजपूताना से तुलना नहीं कर सकता है।

राजपूतों द्वारा पल्लवित वास्तुकला का प्रभाव मन्दिरों पर भी लक्षित हुआ जिसके फलस्वरूप अनेकों भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। उदाहरणार्थ उदयपुर का उदयेश्वर का मन्दिर तथा खजुराहों के अनेक मन्दिर। उदयेश्वर भगवान का मन्दिर भारत के सुन्दरतम मन्दिरों में से अन्यतम है। उसके प्रत्येक अंग वास्तुशास्त्र के विधानों पर निर्मित हुए। ग्यारहवीं सदी में यह मन्दिर महाराज उदयादित्य परमार द्वारा बनवाया गया था। इस प्रकार मध्य प्रदेश के छतरपुर नगर के पास खजुराहो के मन्दिर १०वीं और ११वीं सदी के बीच चन्देल राजपूतों द्वारा निर्मित हुए थे। वास्तुकला के यह अद्वितीय उदाहरण हैं।

मूर्तिकला—महलों और मन्दिरों के भीतर तथा बाहर उत्कीर्णित प्रस्तर मूर्तियों तथा भित्ति चित्रों को देख कर राजपूतों की कलाप्रियता का आभास मिलता है। मन्दिरों में स्थापित भव्य मूर्तियाँ मूर्तिकला की सराहनीय उपलब्धियाँ हैं। मूर्तिकला के विद्वानों ने मूर्तियों की विशेषताओं के दृष्टिकोण से उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वर्ग में अप्सराओं, नर्तकियों और नायिकाओं को रखा गया है। ये नारी मूर्तियाँ भारतीय आदर्श की प्रतीक हैं। दूसरे वर्ग में कामकला को प्रदर्शित करने वाली विभिन्न क्रियाओं का समावेश हैं। तीसरे वर्ग की मूर्तियों में लोक भावना सन्निहित है और उनमें राजसी वातावरण, खेल-कूद त्यौहार, उत्सव नृत्य-संगीत आदि धार्मिक तथा सामाजिक विषयों के दृश्य अंकित हैं। चौथे वर्ग में नटराज शिव की नृत्य-मुद्राओं को रखा गया है। ये मुद्राएँ शास्त्रीय विधानों पर आधारित हैं।

चित्रकला, आदि—भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजपूत शैली का विशिष्ट स्थान है तथा इसका क्षेत्र विस्तृत है जिनमें ग्वालियर, अम्बर, मेवाड़, बीकानेर, किशनगढ़, कोटा, बूंदी के केन्द्रों का नाम मुख्य है तथा जिनकी शैलियाँ अलग-अलग हैं। इन शैलियों द्वारा बृहतचित्र, लघुचित्र, प्रतिकृति चित्र (शबीहें), चित्रफलक, भित्तिचित्र और ग्रन्थचित्र आदि के चित्रों का निर्माण हुआ। उनके

विषय मुख्यतः सामाजिक और धार्मिक रहे हैं। पुस्तक चित्रों में रामायण, भागवत, गीतगोविन्द, सूरसागर के नाम उल्लेखनीय हैं। भित्तिचित्रों में अम्बर के समीप बिहारीमल तथा भगवान दास (दोनों १६ वीं सदी) की छतरियों और बिराट के मानसिंह (१६वीं सदी) के उद्यान भवन की दीवारों पर अंकित भित्तिचित्र दर्शनीय हैं।

राजपूत चित्रकला मुख्यतः कविता पर आधारित है। उसमें रामायण, भागवत जैसे धार्मिक ग्रन्थों से लेकर तथा रामानन्द, गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव, सूर, कबीर, मीरा जैसे सन्तों एवं भक्तिकालीन कवियों और केशव, मतिराज, बिहारी, पद्माकर आदि रीतिकालीन कवियों की कविताओं को रूपात्मक सज्जा दी गयी है। भागवत के राधा-कृष्ण राजपूत शैली के मुख्य आकर्षण रहे हैं। राजस्थान पर वैष्णवधर्म के वल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव होने के कारण चित्रकारों ने राधा-कृष्ण की लीलाओं का आकर्षक चित्रण किया है। इसी प्रकार ब्रजभूमि पर आधारित प्राकृतिक शोभायुक्त इन्हीं के अनेक मुद्राओं में विकसित अगणित चित्र हैं।

भगवान शिव के चित्रों की भी कमी नहीं है। विराग को धारण किये हुये शान्ति तथा एकान्त के प्रतीक शंकर के चित्रों में पारभौतिकता को (सूक्ष्मता) से दर्शाया गया है।

राजपूत चित्रकला में भावनाओं का विशेष स्थान है। इसके उदाहरण हैं ग्रामीण जीवन के चित्रण, प्रेमकथाओं, लोककथाओं और रीति-रिवाजों के अंकन। वस्त्र बुनता हुआ जुलाहा, छपाई करता हुआ रंगसाज, जाड़े की रात में अलाव के पास बैठकर आग सेंकता हुआ किसान आदि के दृश्य जन-जीवन की मार्मिक झाँकियाँ हैं।

यह चित्रकला राजस्थान के शासकों, राजपुत्रों, सामन्तों और जागीरदारों के आश्रय में पल्लवित हुई। उन्होंने कवियों, विद्वानों और कलाकारों को प्रश्रय देने में अपना गौरव समझा। उनके लिए वृत्तियाँ बाँधी, जागीरें दीं और धन-मान द्वारा उन्हें सम्मानित किया। इस प्रकार कला एक पुश्तैनी व्यवसाय बन गया। अनेक शासकों ने प्रचुर धन व्यय करके चित्र-संग्रह तैयार कराये। चित्रों पर मोती, माणिक, पन्ना तथा नग जड़वा कर उन्हें राज दरबारों में सज्जित किया। इन कला-प्रेमियों में जिनके नाम उल्लेखनीय हैं वे हैं जयपुर के महाराजगण प्रताप सिंह, ईश्वरी सिंह, रामसिंह, कोटा के महाराज क्षत्रसाल, बूँदी के महाराज रामसिंह, उदयपुर के संग्राम सिंह द्वितीय, अमर सिंह, भीम सिंह, जोधपु र के बख्तार सिंह और बीकानेर के सूरत सिंह।

राजपूत शैली के चित्रकारों में चित्रों पर अपने नाम लिखने की प्रथा नहीं थी जैसी कि मुगल शैली के चित्रकारों में थी। फिर भी कुछ चित्रकारों के नाम उपलब्ध हैं जैसे साहिबराम, लालचन्द, लक्ष्मणदास, रामचन्दर, गंगाबख्श।

राजपूत चित्रकला का स्वर्णयुग मुगलों के समय में रहा अतः राजपूत शैली में मुगलों की महानता, उदारता और कलानुरागिता के गुण समाविष्ट हुए मिलते हैं। यद्यपि राजपूत और मुगल शैलियों के विकास का समय एक ही है और दोनों शैलियों के अधिकतर चितेरे एक ही थे तथापि दोनों में अपनी मौलिक भिन्नतायें हैं। विषय की दृष्टि से मुगल शैली के चित्रों में जहाँ राजसी परम्पराओं का प्रभाव है, वहाँ राजपूत शैली कल्पना और जनवादी विचारधारा से प्रेरित है। मुगल कलम के मुसव्विरों ने जहाँ बादशाहों और सामन्तों के चित्र बनाए, वहाँ राजपूत शैली के चित्रकारों ने धार्मिक रीति-रिवाजों और प्रेम कथाओं के चित्रण की ओर विशेष रुचि दिखाई।

संगीत कला—इस क्षेत्र में भी राजपूत पीछे न थे। वे हिन्दुत्व के पोषक थे और इसीलिए भक्ति भावना की प्रबलता के कारण संगीत विद्या में भी रुचि लेते रहे। राजपूत चूड़ामणि महाराज पृथ्वीराज स्वयं वीणावादन में सिद्धहस्त थे। कुछ राजपूत शासकों ने स्वयं संगीत ग्रन्थों की रचना की और कुछ ने अपने आश्रित संगीतज्ञों से ग्रन्थ लिखवाए। उदाहरणार्थ, मेवाड़ के महाराणा कुम्भन देव ने वाद्यरत्नकोश लिखा (१७४८ ई०) तथा नवानगर (सौराष्ट्र) के महाराजा जाम साहब के आश्रित श्रीकंठ पंडित ने रसकौमुदी की रचना की।

७. राजपूतों के पराजय के कारण

अद्वितीय वीरता, सत्यनिष्ठा, सुहृदयता तथा अन्य सात्विक गुणों के होते हुए भी राजपूत लोग कालान्तर में अवनति को प्राप्त हुए। कान्यकुब्ज सम्राट हर्षवर्धन के बाद भारत की एकछत्र शासन व्यवस्था अनेक हिन्दू रजवाड़ों में बँटकर विच्छिन्न हो चुकी थी। कालान्तर में देश का शासनतंत्र राजपूतों के हाथों में आया और लगभग ८०० वर्षों तक वे भारतीय जन-जीवन के स्रोत बने रहे। वे युद्धजीवी, शूर वीर और त्याग-बलिदान के प्रतीक थे तथापि वे मुसलमान विदेशी आक्रमणकारियों और बाद में देश के मुसलमान शासकों से पराजित होते रहे। अन्ततः राजपूत शासक काल के गर्भ में विलीन हो गए। इतिहासकार इसके निम्न प्रमुख कारण बताते हैं—

(१) उनके रणकौशल के पुराने तरीके। खड्ग के धनी, अद्भुत साहसी और स्वाभिमान की भावना से ओत-प्रोत होते थे किन्तु उनमें युद्ध कुशल अश्वारोही सेना का अभाव था। वे हाथियों और पैदल सिपाहियों पर

अधिक भरोसा रखते थे। इसके प्रतिकूल मुसलमानों के पास घुड़सवारों की सेना थी। मुसलमानी और तुर्की घुड़सवार जब चाहते तभी अपनी जगह छोड़कर शीघ्रता से शत्रु पर चारों ओर से धावा कर सकते थे। वे चारों ओर से राजपूत सेना को दबाते थे और ज्यों ही हाथी, रथ और पैदल सिपाहियों के साथ सिमिट जाने से गड़बड़ी फैलती त्यों ही वे वेग से उनपर टूट पड़ते और बात की बात में अपनी पराजय को विजय में बदल लेते थे। अधिकतर ऐसा भी होता था कि हाथी, जो सेना का अग्रभाग होते थे, बिचक कर या डर कर भागने लगते थे जिसके फलस्वरूप अपने ही पैदल सिपाही रौंद जाते थे।

(२) राजपूत शासक (या उसकी अनिवार्य अनुपस्थिति में उसका प्रधान सेनापति) हाथी पर सवार होकर रण संचालन करता था। कभी-कभी हाथी बेकाबू होकर भाग खड़ा होता था तभी सारी सेना भी भागने लगती थी और विजय शत्रु को प्राप्त हो जाती थी। अथवा शत्रु के तीरन्दाजों द्वारा शासक घायल हो जाता था और तब फीलवान हाथी को रणभूमि से निकालने का प्रयत्न करता था। ऐसी अवस्था में भी सेना भाग खड़ी होती थी। सन् ११९४ में मोहम्मद गोरी द्वारा महाराज जयचन्द्र की पराजय तथा मृत्यु इसी कारण हुयी थी। इसी प्रकार सन् १००८ में महमूद गजनवी ने जब लाहौर के राजा आनन्दपाल पर चढ़ाई की तब बारूद के यकायक फटने से आनन्दपाल का हाथी डर गया और रणक्षेत्र से भाग निकला। तत्पश्चात् उसकी सेनाओं में शीघ्र ही भाग दौड़ मच गयी और महमूद विजयी हुआ यद्यपि प्रारम्भ में वह राजपूतों की वीरता से हतोत्साहित हो गया था और उसे हिन्दुओं की विजय के प्रति कोई सन्देह न था। इसका कारण यह था कि आनन्दपाल के साथ अन्य शासकों की भी सेनाएँ थीं जिनमें कन्नौज, कालिन्जर, ग्वालियर, अजमेर, उज्जैन तथा दिल्ली राज्य की सेनाएँ प्रमुख थी और इन संयुक्त सेनाओं को पराजित करना सम्भव न था।

(३) राजपूत शासकों के यहाँ कोई ऐसा विभाग नहीं था जो विदेशी राज्यों का गुप्तचरों द्वारा हाल जानता। पश्चिमोत्तर सीमा के बाहर के देशों का उनको ज्ञान न था। उनको यह जानकारी न थी कि उन राज्यों में कितनी सेना है, वह किस प्रकार संगठित है तथा उनके युद्ध करने के तरीके क्या हैं। यह जानकारी न होने के कारण वह उनके हमलों को रोकने में असमर्थ होते थे। इसके विपरीत विदेशी आक्रमणकारी इस विषय में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद ही हमला करते थे। इसी प्रकार बाद में भारत के मुसल-

मानी शासक भी शत्रु की ताकत और कमजोरी दोनों का मूल्यांकन कर लेते थे और उससे लाभ उठाते थे।

(४) भारत की सीमा की रक्षा की ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। फिर एक बार जब विदेशी आक्रमणकारी देश में घुस आए तो उन्हें रोकना असम्भव हो गया।

(५) राजपूतों में पारस्परिक संगठन की कमी थी और वे अलग-अलग फिरकों में बँट कर युद्ध करते थे। एकता और राष्ट्रीय अखण्डता की भावना का अभाव था। उनका बल-वैभव अपने-अपने रजवाड़ों तक ही सीमित था। उनकी यह दृष्टि इतनी एकांगी और संकीर्ण बन गयी थी कि पड़ोसी रियासत पर मुसलमानों का आक्रमण होने पर भी वे तटस्थ ही रहते थे क्योंकि वे भारतीय राष्ट्र के विचारकोण से स्थिति को न देखते थे। वे अपने को गुर्जर, राष्ट्रकूट, चन्देल, गाहरवाल, चौहान, सोलंकी, आदि की जातीय संकीर्णताओं में उलझ कर राष्ट्रीय एकता को भूला बैठे थे। यह भी उनके पराभव का एक कारण था।

(६) तेरहवीं सदी के अन्त तक यह स्थिति बन गयी थी कि जहाँ मुसलमान आक्रमणकारी धर्म के नाम पर अपनी सेना को उत्साहित करते थे वहाँ राजपूत शासक केवल आत्मरक्षा के दृष्टिकोण ही से लड़ते थे। दूसरे शब्दों में मुसलमान आक्रमणकारी अपने सिपाहियों में यह भावना उत्पन्न करते थे कि उन्हें इस्लाम की रक्षा के लिए तथा उसे बढ़ाने के लिए युद्ध करना है। राजपूत सिपाहियों में केवल यह भावना स्थान रखती थी कि उन्हें केवल शासक की गद्दी को ही बचाना है, यानी युद्ध के परिणाम में उनका कोई विशेष निजी स्वार्थ नहीं है और न धर्म रक्षण का हेतु ही।

(७) बाहरी शत्रु के मुकाबले के लिए जब कभी राजपूत राजाओं ने संघ बनाया तो उसका उद्देश्य देश को स्वाधीन रखना न था वरन् अपने राज्य को बचाने का संकुचित स्वार्थ। इसके विपरीत मुसलमानों का संगठन अच्छा था। मुसलमानी शासक जब अपने सिपाहियों को विचलित देखते थे तब उन्हें धर्म के नाम से उत्तेजित करते थे। राजपूतों के पास इस प्रकार का प्रोत्साहन देने का कोई साधन न था।

(८) मुसलमानी सिपाहियों को यह लालच भी प्रेरित करता था कि विजय के बाद वे नगर वासियों को लूट मार कर धन एकत्रित कर सकेंगे और स्त्रियों का अपहरण भी। अपनी वीर रणनीति तथा सात्विक विचारधारा के कारण राजपूत सिपाहियों के मन में यह बात आती ही न थी। इसके अतिरिक्त आक्रमणकारी दूर से आते थे और रणभूमि में पड़ाव डालते थे,

अतः उनके पास ऐसी सामग्री न होती थी जिसकी लूटमार से कोई निजी प्रयोजन सिद्ध हो।

(९) राजपूतों की सामन्ती भावना ने उनको शेष समाज से अलग कर दिया था। उनके विशेषाधिकारों के फलस्वरूप वर्गवाद तथा शोषक-शोषितों की असमानता का उदय हुआ और उनके प्रति आम जनता का सहयोग विलीन हो गया।

(१०) राजनीतिक उथल-पुथल के साथ देश की सामाजिक दशा भी शोचनीय थी। लोग विभिन्न जातियों और उपजातियों में विभक्त थे और मिलकर काम करना नहीं जानते थे। लड़ने का काम केवल राजपूतों पर ही निर्भर था। अधिकांश लोग न तो युद्ध करना जानते थे और न युद्ध कला में उनकी रुचि थी। अतः युद्ध काल में पर्याप्त संख्या में सिपाहियों का मिलना कठिन हो जाता था। मुसलमान लोगों में जाति भेद न होने के कारण वे एक होकर काम करते थे। समानता और मातृभाव के कारण उनकी सामाजिक तथा सेनानी शक्ति हिन्दुओं से कहीं अधिक थी। पारस्परिक ईर्षा, द्वेष तथा जातीय भेदभाव ने हिन्दुओं को अशक्त बना दिया था।

(११) युद्ध के आवेग में राजपूत राजा और प्रधान सेनापति रणनीति की प्रायः उपेक्षा करते थे और अपने को सुरक्षित न रख कर स्वयं युद्ध में सामने आ जाते थे क्योंकि राजपूती युद्ध परम्परा में वैयक्तिक शूरता प्रदर्शन को गौरवमय माना जाता था। अतएव उनके मारे जाने पर सेना भाग खड़ी होती थी। उदाहरणार्थ मोहम्मद गोरी के खिलाफ युद्ध में पृथ्वीराज चौहान (तरायन का दूसरा युद्ध), जयचन्द्र (इटावा का युद्ध) और चन्देल वीरों (महोबा का युद्ध) ने यह भूल की।

(१२) युद्ध करने में राजपूत लोग सारी की सारी सेना प्रथम आक्रमण ही में झोंक देते थे, अर्थात् बचाव के लिए अथवा उसी युद्ध में दूसरा आक्रमण करने के लिए कुछ चुनी हुई सेना बचा कर सुरक्षित नहीं रखते थे (reserve force)। इसके विपरीत मुसलमान आक्रमणकारी प्रतिकूल परिस्थिति आ जाने का भी ख्याल रखते थे और इस हेतु सुरक्षित सेना (reserve force) बचा रखते थे।

परिशिष्ट ६

कन्नौज राज्य के समकालीन राज्यों तथा राजवंशों का विवरण

१. प्रारम्भिक कथन

२. (क) उत्तर भारत के प्रमुख राज्य व राजवंश

(ख) दक्षिण भारत के प्रमुख राज्य व राजवंश

१. प्रारम्भिक कथन

कन्नौज राज्य के इतिहास को पूर्णतया समझने के लिए देश के समकालीन अन्य राज्यों तथा राजवंशों के बारे में जानकारी वांछित है। इसका सूक्ष्म विवरण यहां दिया जा रहा है।

स्मरण रहे कि कन्नौज राज्य का ऐतिहासिक समय लगभग ई० सन् ५५० से प्रारम्भ होता है जब इस राज्य पर मौखरि वंश के शासक राज्य करते थे। गुप्त वंश के पतन के बाद ही कन्नौज राज्य का ऐतिहासिक काल प्रारम्भ होता है क्योंकि उसके पहले के समय की स्थिति ऐतिहासिक रूप में ज्ञात नहीं है।

इस प्रकार कन्नौज राज्य का स्वतन्त्र तथा ऐतिहासिक अस्तित्व लगभग ई० सन् ५५० से लगभग सन् १२०० तक माना जाता है। यह अवधि, लगभग ६०० साल की, राजपूत काल के नाम से भी जानी जाती है।

कन्नौज राज्य के समकालीन राज्य तथा राजवंश इसी काल के अन्तर्गत आते हैं। इसके पूर्व तथा बाद के राज्य एवं राजवंश कन्नौज राज्य के समकालीन नहीं कहे जा सकते। अतः उनका जिक्र निम्न वर्णन में नहीं किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक के अन्य स्थानों में निर्देष मिलेगा।

आगे का विवरण दो भागों में बांटा गया है, यथा—

(क) उत्तर भारत के प्रमुख राज्य व राजवंश, और

(ख) दक्षिण भारत के प्रमुख राज्य व राजवंश।

दोनों भागों में उन घटनाओं का भी निर्देष है जो कन्नौज राज्य से सम्बन्धित हैं। उन घटनाओं का विस्तृत वित्ररण सम्बन्धित अध्यायों में मिलेगा।

२. (क) उत्तर भारत के प्रमुख राज्य व राजवंश (सन् ६००-१२००)

सातवीं सदी से लेकर १२वीं सदी तक उत्तरी भारत में राजपूतों के कई स्वतंत्र राज्य स्थापित थे। वे राज्य प्रायः एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते थे

और उनके प्रदेश समय-समय पर बदलते रहते थे। इन शताब्दियों में बहुत से राजपूत वंशों का उत्थान तथा पतन हुआ। मुख्य राजपूत राज्यों तथा वंशों का संक्षेप विवरण निम्न प्रकार है—

थानेश्वर राज्य पुष्यभूति या वर्धन वंश

यह राज्य भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित था। इसके नाम स्थाण्वीश्वर और श्रीकंठ भी थे। इसका क्षेत्र पूर्वी पंजाब समझना चाहिए। कन्नौज के महाराज हर्षवर्धन इसी वंश के थे।

राज-तेज पुञ्ज पुष्यभूति (या पुष्पभूति) नामक पराक्रमी और दक्ष शासक इस वंश के स्थापनकर्ता थे। इनके उत्तराधिकारियों के नाम पर यह वंश वर्धन वंश भी कहलाता है। पुष्यभूति के पुत्र नरवर्धन उनके उत्तराधिकारी हुए। इस राज्य के सबसे प्रतापी शासक महाराज प्रभाकरवर्धन थे जिनके तीन सन्तानें थीं—

राज्यवर्धन;

हर्षवर्धन, और

राज्यश्री (आत्मजा)—कन्नौज के मौखरी राजा ग्रहवर्मन की रानी।

प्रभाकर वर्धन की मृत्यु (सन् ६०४) के पश्चात् राज्यवर्धन शासनाधिकारी हुए। एक राजनैतिक षड्यंत्र के फलस्वरूप उनका वध हो गया जिस पर हर्ष-वर्धन गद्दी पर बैठे। इसके एक साल पूर्व उनकी बहन तथा कन्नौज के राजा ग्रहवर्मन की रानी राज्यश्री पर महान संकट आ पड़ा। ग्रहवर्मन का मालव के राजा देवगुप्त द्वारा वध हो गया और राज्यश्री को बन्दी बनाकर राज्य के बाहर कहीं ले जाया गया। इसी स्थिति के सिलसिले में राज्यवर्धन का भी वध हुआ था। बाद में हर्ष कन्नौज आए जहाँ दुर्भागी राज्य के मंत्रियों के अनुरोध पर गद्दी नशीन होना स्वीकार किया क्योंकि मृत ग्रहवर्मन सन्तानहीन थे। इस प्रकार हर्ष कन्नौज तथा थानेश्वर राज्यों के स्वामी हुए।

महाराज हर्षवर्धन पुत्रहीन थे। यह भी माना जाता है कि उनकी एक आत्मजा थी जो बलभी राज्य (काठियावाड़, सौराष्ट्र) के शासक ध्रुवसेन को व्याही थी। सन् ६४७-४८ में उनकी मृत्यु के बाद उनके वंश का अन्त हो गया।

सम्राट हर्ष पर एक अलग अध्याय 'सम्राट हर्षवर्धन; हर्षकाल'' के शीर्षक के साथ प्रस्तुत किया गया है।

काश्मीर; ललितादित्य आदि

(करकोट, उत्पल तथा लौहर वंश)

गुप्त साम्राज्य के अन्तिम दिनों में (सन् ५२८ में) मगध के शासक बालादित्य तथा मध्य भारत के शासक यशोधर्मन से पराजित होकर मिहिरकुल नामक एक हूण नेता ने काश्मीर राज्य में आश्रय लिया; बाद में वह वहाँ के राजा का वध करके स्वयं शासक बन गया। चीनी यात्री हुयेन सांग के समय (६२९-६४५ ई०) यहाँ शाही राजा राज्य करता था। उसके अनुसार यह विस्तृत राज्य था।

कल्हण के ग्रन्थ राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि महाराज हर्ष के शासन काल में (६०६-६४८ ई०) कारकोट वंश के एक व्यक्ति (दुर्लभवर्धन) ने काश्मीर में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। उसका पौत्र ललितादित्य शक्तिशाली शासक था जिसने कन्नौज नरेश यशोवर्मन (७२०-७५२ ई०) को पराजित किया। इसके अतिरिक्त उसने मगध, उड़ीसा, मालवा, गुजरात आदि कई राज्यों को विजय किया। दक्षिण के चालुक्यों और सिन्ध के अरबों से भी उसके युद्ध हुए। इस प्रकार आठवीं सदी में काश्मीर महत्वपूर्ण देश था। धार्मिक मामलों में उसकी विशेष रुचि थी। उसके राज्य काल (७२५-७६० ई०) में कन्नौज उसके अधीन था और उसकी आय को उसने मार्तण्ड के प्रसिद्ध मन्दिर के दैनिक खर्च में लगाया—यह मन्दिर उसी ने बनवाया था।

ललितादित्य की मृत्यु (७६० ई०) के कुछ ही समय बाद काश्मीर के आधिपत्य से कन्नौज निकल गया था। बाद में उसके पौत्र जयपद (सन् ७७९-८१०) ने कन्नौज पर पुनः अधिकार कर लिया जो उसके राज्यकाल तक कायम रहा। जयपद विद्वानों का पोषक था और उसके दरबार में कई उच्चकोटि के कवि तथा साहित्यकार थे।

सन् ८३५ के लगभग कारकोट वंश का अन्त हो गया और सन् ८५५ में अवन्तीवर्मन ने उत्पल वंश की नींव डाली। उसने गुर्जर-प्रतिहारों से युद्ध करके पंजाब अपने अधीन कर लिया। इस वंश की शक्ति थोड़े समय ही रही क्योंकि आपसी कलह के कारण वह दुर्बल हो गया था। ग्यारहवीं सदी में इस वंश का अन्त हो गया। उसके पश्चात् लौहर वंश की स्थापना हुई। उसमें केवल दो शासक हुए। अन्त में यह देश यवनों के अधिकार में चला गया।

हिन्दू शाही राज्य; जयपाल

उत्तरी भारत का यह प्रख्यात राज्य था जो सरहिन्द से लमगान और काश्मीर से मुलतान तक फैला हुआ था। कुछ समय तक काबुल प्रदेश भी इसका

अंग था किन्तु बाहरी आक्रमणों के कारण वह इससे अलग हो गया था। ग्यारहवीं शताब्दी में प्रारम्भ में इसकी राजधानी लाहौर थी और इस वंश पाँचवां शासक जयपाल था। जिसने महमूद गजनवी के पिता सुबुक्तगीन (सन् ९७७-९९७) के साथ युद्ध किए थे पर विजयी न हुआ। इस पर भी उसने तुर्कों के आधिपत्य को स्वीकार नहीं किया। बाहरी आक्रमणकारियों से वह बराबर संघर्ष करता रहा और वही नीति उसके उत्तराधिकारियों ने भी अपनाई।

शाही राजाओं की काश्मीर से पुरानी शत्रुता थी जिससे शाही शासकों की स्थिति दुर्बल हो गई थी और बाहरी आक्रमण रोकना उनके लिए सम्भव न हो सका।

हिन्दूशाही राजा तुर्क वंश के थे किन्तु प्राचीन काल में उन्होंने हिन्दू धर्म को अपना लिया था।

दिल्ली और अजमेर--चाहमान (चौहान) वंश

गुवक नामक शासक द्वारा चाहमान वंश का उत्थान हुआ जिसकी राजधानी साँभर थी, राजपूताना में।

इस वंश के शासक अजयदेव ने अजमेर विजित किया और इस प्रकार सांभर तथा अजमेर में चाहमान वंश का राज्य स्थापित हो गया। अजयदेव के उत्तराधिकारी वीसल देव ने सन् ११५३ तक राज्य से ११६४ तक राज्य किया।

चाहमान वंश का सबसे प्रसिद्ध तथा अन्तिम राजा पृथ्वीराज चौहान था जिसे 'राय पिथौरा' के नाम से भी जाना जाता है। उसने (११७० ई० या ११७२ ई०) से ११९२ तक राज्य किया। पहले वह अजमेर का शासक था। पृथ्वीराज के नाना तथा दिल्ली के शासक अनंगपाल का कोई औरस पुत्र न था अतः उन्होंने अपने नाती पृथ्वीराज को दत्तकपुत्र के रूप में माना। उनकी मृत्यु पर पृथ्वीराज दिल्ली का भी शासक हुआ। सन् ११९२-९३ में पृथ्वीराज मोहम्मद गोरी द्वारा पराजित होकर दिवंगत हुआ। तभी इस वंश का अन्त हुआ और शीघ्र ही उत्तर भारत में हिन्दू शासन का अन्त भी।

महाराज पृथ्वीराज के विषय में विस्तृत विवरण अन्यत्र दिया गया है।

मालवा-मालव राजवंश (परमार)

यह राज्य भारत के उत्तर पश्चिम की ओर स्थित था जिसकी राजधानी उज्जैन थी।

गुप्त वंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) (३७५-४१३ ई०) ने

मालवा को जीत कर गुप्त साम्राज्य में मिला लिया था। बाद में बुधगुप्त के शासन-काल (४७५-४९५ ई०) के उपरान्त यह राज्य हूणों के अधिकार में कुछ समय के लिए चला गया। तत्पश्चात् यशोधर्मन ने हूणों को पराजित करके इसे अपने अधिकार में ले लिया और उस पर स्वशासन किया। थानेश्वर नरेश प्रभाकर-वर्धन (लगभग ५८५-६०५) ने उसे पराजित किया था। मालव-राज के पुत्र कुमारगुप्त और माधवगुप्त थानेश्वर के राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के साथी थे। माधवगुप्त को हर्ष की मित्रता का इच्छुक बताया गया है। मालवराज देवगुप्त द्वारा कन्नौज नरेश ग्रहवर्मन की हत्या की गई थी (सन् ६०५)। उसके बाद ही गौड़ (बंगाल) के शासक शशांक ने राज्यवर्धन की हत्या की (सन् ६०६)।

कुछ समय के लिए अर्थात् नौवीं सदी से दसवीं सदी के प्रारम्भ तक मालवा प्रदेश कन्नौज के प्रतिहार वंश के अधीन रहा। उसके बाद इस प्रदेश में परमार वंश का शासन स्थापित हुआ। इस वंश का पहला महान शासक मुंजदेव था। एक विजेता होने के साथ-साथ मुंजदेव एक कवि भी था। वह विद्वानों का बहुत आदर करता था। उसने कई मंदिरों का निर्माण भी करवाया। उसने ९७४ ई० से ९९५ ई० तक राज्य किया। परन्तु परमार-वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक भोज था। उसे धारा (जो मालवा की राजधानी थी) के राजा भोज के नाम से याद किया जाता है। उसने १०१८ ई० से लेकर १०६० ई० तक राज्य किया। उसके शासनकाल में मालवा राज्य की प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा बढ़ गई। उसने भोपाल के दक्षिण पूर्व में एक सुन्दर झील (भोजपुर झील) बनवाई। वह उच्च-कोटि का विद्वान था तथा साहित्य और शिक्षा का महान संरक्षक था। उसने धारा में एक संस्कृत विद्यालय स्थापित किया। भोज की मृत्यु के पश्चात् उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के कारण परमार-राज्य का पतन होने लगा और कुछ समय बाद यह पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गया। महाकवि कालिदास महाराज भोज के दरबारी कवि थे।

चीनी यात्री हुएन सांग ने मालवा को एक प्रसिद्ध राज्य बताया है। यहाँ के निवासी शिष्टता एवं विद्वत्ता के लिए विख्यात थे।

सिन्ध-अरबों का आधिपत्य

यह राज्य पश्चिमी भारत का भूभाग था और राजनीति का मुख्य केन्द्र। सिन्ध का निचला भाग गुप्तवंशी सम्राट समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०) के सीमान्त राज्य के रूप में था। इस क्षेत्र में विदेशियों (शक, यवन, पल्हव) की बस्तियाँ बढ़ती गई थीं। पारसीयों का आधिपत्य भी यहाँ था जिनको कन्नौज शासक यशोवर्मन (सन् ७२०-७५२ ई०) ने पराजित किया था। थानेश्वर-नरेश प्रभाकर वर्धन ने सिन्ध को जीता था।

सन् ६४६ के लगभग यहाँ के शासक साहसी की मृत्यु होने पर उसके मन्त्री चच ने गद्दी पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। उसके थोड़े समय बाद राजा दाहिर यहाँ का शासक हुआ। सन् ७१२ में मुहम्मद बिन कासिम ने इस देश पर अरब सत्ता स्थापित की।

सिन्धु नद-सागर-संगम पवित्र तीर्थ था जहाँ मुनि देवल का आश्रम था जो देवल नगर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस क्षेत्र के बारे में देवल-स्मृति में यह पद आता है—

"सिन्धु तीरे सुखासीनं देवल मुनि सत्तमम्।"

[अर्थात्, सिन्धु के तट पर मुनिश्रेष्ठ देवल सुख पूर्वक रहते थे।]

सुराष्ट्र अथवा सौराष्ट्र-गहलौत वंश

यह राज्य भारत के पश्चिम में खंभात की खाड़ी के आस-पास था जिसकी राजधानी वलभी थी। इसके शासक गहलौत वंशी राजपूत थे जो अपने को सूर्य वंशी कहते थे। लगभग चौथी सदी के आस-पास इन्होंने अपने राज्य का विस्तार किया। वलभी के पतन के बाद बापा रावल ने ७३४ ई० के लगभग अपनी राजधानी चित्तौर में स्थापित की।

महाराज हर्षवर्धन (६०६-६४८) ने अपनी दिग्विजय की योजना में इस प्रदेश को भी विजय करके अपने साम्राज्य में मिला लिया था।

गुजरात-सोलंकी वंश

गुजरात का देश पहले तो कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत था परन्तु दसवीं सदी में इस पर सोलंकी वंश का शासन स्वतन्त्र रूप से स्थापित हुआ। मलराज (सन् ९६०-९९५) इसका संस्थापक था जो बड़ा वीर और योग्य था। उसने प्रतिहार, परमार, चाहमान आदि वंशीय राजपूत शासकों से सफल युद्ध किए थे। उसके वंशजों में चामुण्डराज (९९६-१०१० ई०) बलवराज (१०१०-१०२२) और भीमदेव प्रथम (१०२२-१०६४) महमूद गजनवी के समकालीन थे।

वल्लभी इस राज्य की राजधानी थी। कुछ समय अनहलवारा भी इसकी राजधानी थी।

कन्नौज तथा चालुक्य राज्यों के बीच में होने से यह राज्य सैनिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। सम्राट हर्ष के समय (६०६-६४८) इस पर ध्रुवसेन द्वितीय राज्य करता था वल्लभी पर आक्रमण करके हर्ष ने उसे पराजित किया किन्तु उसने राज्य को हस्तगत नहीं किया बल्कि ध्रुवसेन से मैत्री कर ली और अपनी पुत्री का विवाह भी उससे कर दिया।

बुन्देलखण्ड-चन्देल वंश

प्रारम्भ में बुन्देलखण्ड कन्नौज के प्रतिहार साम्राज्य (८१६-१०१९ ई०) का भाग था। नौवीं सदी में यहाँ चन्देल वंश की स्थापना हुई जो नानक चन्देल द्वारा मानी जाती है। यशोवर्मन (कन्नौज के यशोवर्मन से भिन्न[1]) इस वंश का महान शासक माना जाता है जिसकी राजधानी महोबा नगर (जिला हमीरपुर) थी। चेदियों को हराकर उसने कालिन्जर के प्रसिद्ध किले को हस्तगत कर लिया था। कन्नौज के प्रतिहार वंश के राजा देवपाल को भी उसके द्वारा हराया जाना बताते हैं (९४८-४९)।

यशोवर्मन के बाद धंग, गंड, कीर्तिवर्मन, आदि ने राज्य किया। खजुराहो का विशाल शिव-मन्दिर धंग द्वारा बनवाया गया था। गंड ने कन्नौज के शासक राज्यपाल का वध करवाया था क्योंकि कन्नौज पर महमूद गजनवी के (सन् १०१८ वाले) आक्रमण पर वह राज्य छोड़ कर बाहर चला गया था। गंड ने इसे पूरी राजपूत जाति पर कलंक समझा जिसके लिए उसने राज्यपाल को दण्डनीय माना।

राजा कीर्तिवर्मन ने महोबा के पास "कीरतसागर" नामक एक सुन्दर झील खुदवाई।

इस वंश का अन्तिम राजा परमाल था। कुतुबुद्दीन ऐबक ने उसे पराजित करके इस प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

प्रसिद्ध योधा आल्हा और ऊदन महोबा ही के थे। बाद में महाराज जयचन्द्र के समय में (११७०-११९४) वे कन्नौज चले गए थे। उनके शौर्य की कथा पहले ही दी जा चुकी है।

मगध राज्य तथा साम्राज्य

मगध राज्य दक्षिणी बिहार में स्थित था जिसकी राजधानी पहले राजगृह थी। आदि में यह राज्य साधारण कोटि का था किन्तु बिम्बसार वंश के राज्य-काल (ई० पू० ५४३-ई० पू० ४११) में यह उत्तर भारत का सबसे शक्तिशाली तथा प्रधान राज्य बन गया। कालान्तर में अजातशत्रु के पौत्र उदयन ने राजगृह के बजाय पाटलिपुत्र (अब का पटना) को साम्राज्य की राजधानी बनाया। नन्द साम्राज्य, मौर्य साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य, आदि का यह केन्द्र-शासित प्रदेश था। ई० पू० छठी सदी से ईसवी छठी सदी अर्थात् लगभग १२०० वर्ष तक मगध

---

१. प्रायः इन दोनों शासकों के बारे में भ्रम हो जाता है और चन्देल यशोवर्मन को कन्नौज का यशोवर्मन समझ लिया जाता है।

साम्राज्य कायम रहा। गुप्त साम्राज्य के पतन पर मगध केवल एक साधारण प्रदेश के रूप में रह गया।

कन्नौज-नरेश यशोवर्मन के समय (७२५–७५२) में मगध कान्यकुब्ज साम्राज्य के अन्तर्गत था।

कलिंग (उत्कल = उड़ीसा); शैलोद्भव वंश

यह अत्यन्त प्राचीन राज्य था। गुप्त साम्राज्य के समय (३२०-६०० ई०) यह उसी के अन्तर्गत था। ईसा की छठी सदी के अन्त में यहाँ शैलोद्भव वंश का राज्य था जिस वंश में माधवराज प्रथम, अयशोभित प्रथम, माधवराज द्वितीय, आदि, शासक थे। माधवराज गौड महाराजाधिराज शशांक का सामन्त था। शशांक के बाद इस देश पर हर्ष का अधिकार हो गया था।

गौड राज्य—राजा शशांक, पाल वंश तथा सेन वंश

इस राज्य में अब के बंगाल और बिहार सम्मिलित थे। स्वतंत्र राजा शशांक के पहले यह भूभाग, अर्थात् पूर्वी बंगाल (बंग), समतट, डवाक और उत्तरी बंगाल, गुप्त साम्राज्य के अधीन था। गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ इस क्षेत्र की दशा भी बिगड़ गई और अन्ततः अन्य राज्यों की भाँति (जैसे मौखरियों का कन्नौज राज्य, पुष्यभूति का थानेश्वर राज्य (गौड राज्य की भी स्थापना हुई। राजा शशांक (६वीं सदी, कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन का समकालीन) इसका संस्थापक था। इसका साम्राज्य गंगा की घाटी से वाराणसी तक फैला था और वह "एकवीर" (महा पराक्रमी) रूप में प्रसिद्ध हो गया।[1]

शशांक ने अपने को महाराजाधिराज की उपाधि से अलंकृत किया था।

क्योंकि शशांक का राज्य कन्नौज के मौखरियों और थानेश्वर के पुष्यभूति वर्धनों के राज्यों की सीमाओं तक था अतः इन तीनों शक्तियों में संघर्ष होता रहा जिसका ब्योरा इस पुस्तक में अन्यत्र मिलेगा।

पाल वंश तथा सेन वंश

आठवीं सदी में गोपाल ने बंगाल में पालवंश की नींव डाली। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था और उसने उदान्तपुर में एक विशाल मठ का निर्माण करवाया। गोपाल का पुत्र धर्मपाल इस वंश का एक महान शासक था। वह उच्च कोटि का योद्धा था। उसका राज्य बंगाल की खाड़ी से लेकर उत्तर में दिल्ली तथा जालन्धर तक और दक्षिण में विन्ध्य-पर्वत तक फैला हुआ था। उसने ७८० से ८१५ ई० तक राज्य किया।

---

१. मंजुश्री-मूलकल्प, तृतीय भाग, पृ० ६३४/६-७।

बारहवीं सदी के प्रारम्भ में बंगाल में सेन वंश का स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गया और पाल वंश के पास केवल बिहार रह गया। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बिहार पर भी मुसलमानों ने विजय प्राप्त कर ली। इस प्रकार लगभग ४०० वर्षों के शासन के बाद पाल वंश का अन्त हुआ।

बारहवीं सदी के प्रारम्भ में विजयसेन ने बंगाल को पाल राज्य से स्वतंत्र करके सेन वंश की नींव डाली। उसने १११९ ई० से लेकर ११५८ ई० तक राज्य किया। सन् १२०० ई० तक इस वंश के अन्य राजाओं ने राज्य किया। उसके बाद बंगाल मुसलमानी शासन के अधीन हो गया।

प्रागज्योतिष (आसाम)

यह राज्य भारत के पूर्व में था जो अब आसाम के नाम से जाना जाता है। कन्नौज सम्राट हर्ष (६०६-६४८ ई०) ने इस प्रदेश को भी जीत लिया था।

कामरूप; भास्करवर्मन

इसका क्षेत्र आज कल के आसाम के आस-पास था। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०) के साम्राज्य का यह सुदूर भूभाग था।

कन्नौज के हर्षवर्धन के समय (६०६-६४८ ई०) यहाँ का राजा भास्कर वर्मन था, कुशल और वीर शासक। पड़ोसी गौड शासक शशांक की बढ़ती हुई शक्ति से शंकित होकर इसने हर्ष से मित्रता कर ली थी।

अन्य उत्तरापथ राज्य

छठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी (सन् ६००-१२०० ई०) तक उत्तर भारत में कुछ अन्य राज्य भी स्थापित थे। कन्नौज राज्य की समकालीन घटनाओं से इन राज्यों का कोई विशेष सम्बन्ध न था, अतः उनके विषय में जानकारी अनावश्यक है क्योंकि वह इस पुस्तक के अभिप्राय के बाहर है। फिर भी जहाँ कहीं इन राज्यों में से किसी का संदर्भ आया है वहाँ उसकी संक्षिप्त जानकारी दे दी गई है, या तो पाद-टिप्पणी के रूप में या अन्य प्रकार। इन राज्यों के निम्न उदाहरण हैं :—

तोमर वंश का दिल्ली राज्य; भोज; मत्स्य, भद्र; कुरु; यदु;
यवन; अवन्ति; गान्धार; कीर; उत्तर पांचाल; चित्तौर।

२. (ख) दक्षिण भारत के प्रमुख राज्य व राजवंश (सन् ६००-१२००)

वातापी राज्य; चालुक्य वंशीय शासक—जिस समय सम्राट हर्ष कन्नौज की गद्दी पर बैठा (६०६ ई०) उस समय दक्षिण भारत में नर्मदा नदी के उस पार बादामी राज्य का चालुक्य वंश उन्नति कर रहा था। पुलकेशिन द्वितीय

सामयिक शासक था। वह बड़ा प्रतापी-प्रवीर था। दक्षिण भारत की विजय के प्रयोजन से हर्ष ने पुलकेशिन पर आक्रमण किया किन्तु विजयी न हो सका।

चालुक्यों की दो शाखाएँ थीं—वातापी के चालुक्य और कल्याणी के चालुक्य। प्रथम शाखाओं के राजाओं ने बीजापुर जिले में स्थित वातापी को राजधानी बना कर शासन किया। दूसरी शाखा की राजधानी कल्याणी थी, जिसके नाम पर यह कल्याणी चालुक्य कहलाए।

कांची राज्य; पल्लव वंश—यह वंश भी ईसा की छठी सदी में ही उभर उठा, अर्थात् चालुक्य वंश के लगभग साथ-साथ। इसके शासकों ने चालुक्य तथा अन्य निकटवर्ती राजाओं से प्रभुता के अभिप्राय से संघर्ष किए। पुलकेशिन द्वितीय ने "सकलोत्तरापथ-पथेश्वर" सम्राट हर्ष को परास्त कर "अपर परमेश्वर"[1] (दक्षिण का परमेश्वर) बनने का प्रयत्न किया और उसी उद्देश्य से उसे पल्लवों से युद्ध करना पड़ा क्योंकि उन्होंने बिना संघर्ष के पुलकेशिन के वान्छित पद को अस्वीकार किया।

यह राज्य दक्षिण भारत के पूर्वी तट पर स्थित था और कांजीवरम् उसकी राजधानी थी।

तांजोर राज्य, चोल वंश—इस वंश का इतिहास बहुत पुराना है। चोल शासक बड़े न्यायप्रिय थे जिसके कुछ उदाहरण दक्षिण भारत के प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। परन्तु इनका निश्चित इतिहास दूसरी सदी से प्रारम्भ होता है!

चोल राजा बड़े कुशल शासन-प्रबन्धक थे और उनकी न्याय-व्यवस्था उच्च कोटि की थी। वे कला तथा साहित्य-प्रेमी भी थे और उन्होंने दक्षिण भारत में अनेक बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण कराया।

ग्यारहवीं सदी के अन्त में इस राज्य का पतन आरम्भ हुआ और बारहवीं सदी के शुरु में मदुरा राज्य के पांड्यों ने इसे पूर्णतया छिन्न-भिन्न कर दिया।

मदुरा राज्य; पांड्य वंश—दक्षिण भारत की यह भी एक प्रमुख सत्ता थी। इस वंश के और चालुक्य एवं पल्लव शासकों में परस्पर संघर्ष होते रहे जिसके कारण तीनों हां की क्षति हुई।

राष्ट्रकूट वंश, राजधानी मान्यखेट—इस वंश का आदि पुरुष राष्ट्रकूट नामक व्यक्ति था। बादामी के चालुक्य वंश के पतन के लगभग राष्ट्रकूटों ने एक राज्य की स्थापना की और मान्यखेट को राजधानी बनाया (लगभग ७५३)। इस राजवंश का संस्थापक दन्तिदुर्ग था जो बादामी चालुक्य राज्य का सामन्त था। जब चालुक्य शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई (लगभग ७५३) तब उसने उस वंश

---

१. सार्वभौम शासक।

के अन्तिम राजा कीर्तिवर्मन द्वितीय को परास्त करके बादामी चालुक्य राज्य पर अधिकार कर लिया और स्वतंत्र 'शासक बन गया (७५३)।

इस वंश का सबसे शक्तिशाली शासक इन्द्र था (सन् ८८०-९१४ ई०) जिसका प्रभाव उत्तर में गंगा नदी से दक्षिण में कन्या कुमारी तक फैला था। उसने प्रतिहार वंशीय कन्नौज के राजा महिपाल को युद्ध में पराजित किया, ९१२ के लगभग। बाद में ९१३ के लगभग यह वंश समाप्त हो गया जब कि चालुक्य वंश के तिलप द्वितीय ने राष्ट्रकूट राज्य को जीत कर एक नए राजवंश की नींव डाली जो कल्याणी के चालुक्य वंश के नाम से जाना जाता है।

आंध्र राज्य अथवा वेंघी वंश—यह इलाका दक्षिण भारत के पूर्वी तट की ओर गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच में था। मौर्य सम्राट अशोक (ई० पू० २७४-२३२ ई० पू०) ने उसे जीत लिया था किन्तु कुछ ही समय बाद वह राज्य फिर स्वतंत्र हो गया। आन्ध्र शासकों ने अपने राज्य को खूब बढ़ाया और उसकी सीमाएं दक्षिण के दोनों समुद्र तटों तक थी। मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में भी उनका प्रभाव हो गया था।

कान्यकुब्ज-नरेश ईश्वरवर्मन (मौखरि वंशीय) के समय (५२४-५५० ई०) में आन्ध्र शासक ने कान्यकुब्ज राज्य पर आक्रमण किया परन्तु पराजित हुआ यद्यपि मौखरि शासन-नौका कुछ डगमगा गई थी। ईश्वरवर्मन के पुत्र ईशान वर्मन (५५०-५७७ ई०) ने भी आन्ध्र के नरेश को पराजित किया था, इस बार वही आक्रमणकर्ता था।

अन्य दक्षिणापथ राज्य—उक्त राज्यों के अतिरिक्त दक्षिण भारत में अन्य राज्य भी छठवीं सदी में विकसित थे किन्तु उनमें ऐसी कोई घटनाएँ नहीं हुईं जिनका विशेष सम्बन्ध कन्नौज राज्य से रहा हो। अतः उनका विवरण प्रस्तुत पुस्तक के उद्देश्य के अन्तर्गत न होने के कारण यहाँ देना अनावश्यक है। यदि किसी अध्याय में ऐसे किसी राज्य का निर्देश आया है तो पाद-टिप्पणी के रूप में अथवा अन्य प्रकार से उसकी संक्षिप्त जानकारी दे दी गई है।

परिशिष्ट-७

कन्नौज से संबंधित अभिलेखों आदि का संदर्भ

कन्नौज का इतिहास प्राचीन भारत के इतिहास का एक बहुत बड़ा अंश है जो प्रायः लगभग १२वीं सदी के अन्त तक माना जाता है अर्थात् जब मोहम्मद गोरी ने पहले पृथ्वीराज को तथा बाद में जयचन्द्र को पराजित करके उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर आधिपत्य प्राप्त किया। इस काल के इतिहास के दो स्रोत हैं यानी—

साहित्यिक और पुरातत्व परक।

सामान्यतः हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०) और यशोवर्मन (७२०-७५२ ई०) के राज्यकाल के कुछ अंशों को छोड़ कर कन्नौज के ऐतिहासिक युग की साहित्यिक सामग्री बहुत कम है। अतः इस इतिहास की जानकारी के मुख्य साधन पुरातत्व परक ही हैं।

आधुनिक काल में प्राचीन इतिहास की खोज में पुरातत्व विद्या का महत्व-पूर्ण स्थान है। इस विद्या के द्वारा पृथ्वी के अन्दर छिपे हुए साधनों-साक्षों को खोद कर ऊपर लाया जाता है और फिर उनका अध्ययन करके ऐतिहासिक तथ्यों की शृंखला बनाई जाती है। इसके अन्तर्गत वह साक्ष्य भी आते हैं जो धरातल के ऊपर पूर्ण या अवशिष्ट रूप में पाए गए हों।

प्रागैतिहासिक युग (पाषाण-काल, कांस्य-काल और लौह-काल) की बातों पर मिट्टी के बर्तन, हथियार, औजार (पत्थर या धातु के) प्रकाश डालते हैं किन्तु उस युग की बातें प्रस्तुत पुस्तक के दायरे के बाहर हैं। जहाँ तक प्राचीन ऐतिहासिक युग का प्रश्न है कि पुरातत्व परक के जिन साधनों से जानकारी प्राप्त होती है वे हैं :—

(क) अभिलेख;

(ख) मुद्राएँ और मोहरें (seals), तथा

(ग) शिल्पकला (इमारतें और स्मारक)।

कन्नौजीय इतिहास से सम्बन्धित मुद्राएँ और मोहरें बहुत अल्प संख्या में प्राप्त हुई हैं और यही स्थिति प्राचीन इमारतों और स्मारकों के अवशेषों के लिए लागू है। अतः प्राचीन अभिलेख ही अन्ततः इस इतिहास के मुख्य स्रोत हैं।

यह अभिलेख दान, समर्पण, प्रशस्ति, स्मारक आदि रूपों में प्राप्त हुए हैं। दान वाले अभिलेख ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण हैं तथा अन्य अभिलेख कभी-कभी ताम्रपत्रों पर किन्तु अधिकतर प्रस्तर पर लिखे हैं। इस सब अभिलेखों का संग्रह इपिग्राफिया इण्डिका (Epigraphia Indica) नामक प्रकाशन में है जिसकी अनेक जिल्दें हैं। भारतीय पुरातत्व विभाग द्वारा वे प्रकाशित की गई हैं। प्रथमतम इनका प्रकाशन सन् १८९२ में प्रारम्भ हुआ था। उसके पूर्व बहुत से अभिलेख उसी विभाग द्वारा प्रकाशित कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकारम (Corpus Inscriptionum Indicarum) में छपे थे। इपिग्राफिया इण्डिका की पूर्व मुद्रित प्रतियों के समाप्त हो जाने पर उसी विभाग ने सन् १९७१ में उन जिल्दों की फोटो-कापी तकनीक से बनी प्रतियाँ जारी कीं।

कन्नौज राज्य से सम्बन्धित अभिलेख उक्त दोनों प्रकाशनों में दिये हुए हैं। प्रत्येक अभिलेख के अंग्रेजी अनुवाद के साथ-साथ उस पर यथोचित टिप्पणी भी है जिसमें बताया गया है कि अभिलेख कहाँ और कैसे प्राप्त हुआ। अभिलेख का नामकरण भी किया गया है जो प्रायः उस स्थान के नाम पर है कि जहाँ वह पाया गया था। अभिलेखों को सम्पादित भी किया गया है जिसमें अस्पष्ट बातों पर प्रकाश डाला गया है और खण्डित भाग को यथा सम्भव पूर्ण करने का प्रयास भी किया गया है।

कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकारम और इपिग्राफिया इण्डिका के अतिरिक्त अभिलेखों पर समय-समय पर शोध निबन्ध ऐतिहासिक पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होते रहे हैं, उदाहरणार्थ—

Indian Antiquary;
Journal of the Royal Asiatic Society;
Journal of the Asiatic Society of Bengal;
Journal of U. P. Historical Society;
Archeological Survey of India Reports (Annual);

उक्त अभिलेखों में दान, समर्पण और प्रशस्ति के अतिरिक्त काल या और तत्कालीन राजा का उल्लेख मिलता है और कहीं-कहीं राजा की वंशपरम्परा भी। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दशा का भी बोध होता है। प्राचीन भारतीय इतिहास में जहाँ साहित्यिक प्रमाणों का अभाव सा है वहाँ यह अभिलेख उस कमी को कुछ हद तक पूरा करते हैं। वे साहित्यिक प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डालते हैं और उनमें से कुछ काव्य के दृष्टिकोण से अत्यन्त सुन्दर हैं किन्तु इस विशिष्टता के कारण उनमें प्रायः अतिशयोक्ति भी प्रवेश कर गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक दोष माना जाता है।

इपिग्राफिया इण्डिका की प्रथम जिल्द[1] में उल्लिखित भूमिका में भारतीय अभिलेखों के महत्व को निम्न शब्दों में दर्शाया गया है—

"Indian inscriptions—more so even than those of any other country—are the real archives of the annals of its ancient history; the contemporaneous witnesses of the events and of the men whose deeds they hand down; and their authenticily renders them most valuable for the historian, and deserving of careful record. They supply important data bearing on the chronology, geography, religious systems, affiliations of families and dynasties, taxes, land tenures, magistrates, customs, manners, organization of societies, language and systems of writings of ancient times. Hence the great need for collecting and publishing them with the best translations and comments that modern scholarship can supply."

कन्नौज राज्य से सम्बन्धित अभिलेख मौखरि वंश के समय (५४०-६०६ ई०) से प्रारम्भ होते हैं। उसके बाद महाराज हर्षवर्धन (६०९-६४८ ई०) के अभिलेख भी उसके इतिहास के अमूल्य साधन हैं। हर्षोत्तर प्राग्मुसलिम काल पर भी अभिलेख ही ऐतिहासिक तथ्यों के जानने के प्रमुख साधन हैं। यह अभिलेख प्रचुर संख्या में प्राप्त हुए हैं जैसा कि निम्न तालिका से विदित होगा—

अभिलेखों से सम्बन्धित राजवंशों शासकों के नाम		अभिलेखों की लगभग संख्या
१		२
मौखरि वंश (५४०-६०६ ई०)	....	४
हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०)	....	४
यशोवर्मन (७२०-७५२ ई०)	....	२
आयुधवंश (७७०-८१६ ई०)	....	२

१. New photo-copy reprint issued by the Director General of Archeological Survey of India in 1971. The original was issued, with inscriptions duly edited and translated, tn 1892.

गुर्जर-प्रतिहार वंश (८१६-१०१९ ई०)	....	३२
अन्य राज्यों के शासक जिनके अभिलेखों से प्रतिहारों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है	....	२७
गाहड़वाल वंश (१०८५-१२३० ई०)—		
चन्द्रदेव तथा मदनपाल	....	८
गोविन्दचन्द्र	....	४२
विजयचन्द्र	....	३
जयचन्द्र	....	१६
हरिश्चन्द्र	....	२

उक्त अभिलेखों में से तीन अभिलेखों का विवरण उदाहरणार्थ नीचे दिया जा रहा है—

१. महाराज हर्षवर्धन का मधुवन ताम्र दानपत्र

यह दानपत्र हर्ष सम्वत् २५. (=६३१-३२ ई०) में जारी हुआ था। इसका सम्पादन वियना के प्रो० बूलर ने अपने उस लेख में किया है जो इपिग्राफिया इन्डिका, जिल्द १, पृ० ६७ तथा आगे के पृष्ठों पर मुद्रित है जिसमें से निम्न उद्धरण दिया जा रहा है—

"....The plate was discovered in January 1888, by a cultivator whose ploughshare struck against it in a field near Madhuban a village in pargana Nathupur of tahsil Sagri, 32 miles NE from Azamgarh in the North-Western Provinces. It was obtained by Dr. A. Führer[1] from the Collector of Azamgarh and is now in the Lucknow Museum.

"The inscription is incised on a simgle copper-plate measuring $20\frac{9}{8}$ inches by $13\frac{9}{8}$ and which weighs $८\frac{9}{8}$ lbs, but has no ring or seal."

दानपत्र का सम्वत् २५ है जो हर्ष सम्वत् का अंक है और जो ६०६ ई० से प्रारम्भ हुआ था जब हर्षवर्धन ने कन्नौज राज्य को गृहवर्मन मौखरी के वध के बाद सम्भाला था। अतः दानपत्र की तिथि ६३१-३२ ई० समझना चाहिए।

१, Dr. Führer was Archeological Survey or, North-Western Provinces & Oudh (now Uttar Pradesh).

दानपत्र के आरम्भ में हर्षवर्धन की वंशावली दी गई है। बाद में महाराज द्वारा भट्ट वातसवामिन नामक ब्राह्मण को एक गाँव के दान का उल्लेख है।

२. गुर्जर-प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल प्रथम के समय (८८५-९१० ई०) की तिथि रहित एक प्रशस्ति

इपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० २४२ तथा उसके बाद के पृष्ठों पर इस प्रशस्ति पर प्रो० बूलर (वियना के) का लेख प्रकाशित है जिससे ज्ञात होता है कि कितनी तत्परता एवं लगन से पुरातत्व विभाग के अधिकारी प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री को एकत्रित करते थे।

प्रशस्ति का लेख एक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण है जो पिहोआ (जिला करनाल, पंजाब) में पाया गया था। विद्वान प्रोफेसर ने निम्न शब्दों में बताया है कि किस प्रकार यह शिलालेख प्राप्त किया गया था—

"Dr. Burgess[1] found that the stone-slab, on which it (the inscription) is incised was fixed in the wall of a house, in the bazar, belonging to a Siddh, close to the jamb of a door, and was used as a seat. As this jamb partly rested on the slab and covered a portion of the inscription, Dr. Burgess got Mr. Rodgers, the Archeological Surveyor in the Punjab, to try to Prevail on the owner of the building to allow the slab to be removed. The latter, however, was unwilling to allow this and Mr. Rodgers was than asked to undertake further negotiations and to get the countenance of Mr. Drummond, the Deputy Commissioner of Karnal, in either purchasing the slab or in exchanging it for anothei that would do the same service to theo wner. Through the kind offices of Mr. Drummond, the stone was finally secured and sent to the Lahore Museum, where Mr. J. L. Kipling, CIE, took two excellent paper-impressions, which were forwarded to Dr. Burgess by Mr Rodgers and made over to me for preparing a new edition of the inscription.

---

१. Dr. Burgess was Director General of the Archeological Survey of India.

"The stone-mason has done his work with great care; for there are very few Indian epigraphical monuments which show an equal amount of neatness and artistic finish in their execution."

उक्त अभिलेख में विष्णु भगवान के लिए बनवाए गये एक मन्दिर के बारे में बातें बताई गई हैं। उसी परिवेष्टि में वह लेख प्रशस्ति के रूप में लिखा गया है जैसा कि उसके श्लोक संख्या २६ में स्पष्टतः उल्लिखित है।

३. महाराज जयचन्द्र का फैजाबाद ताम्र दानपत्र, सम्वत् १२४३ = ११८६ ई०

इस दान पत्र का उल्लेख इण्डियन एण्डीक्वरी (Indian Antiquary), जिल्द १५ (१८८६ ई०) पृ० ६ तथा बाद के पृष्ठों पर है। इसका सम्पादन गोट्टिनजेन (जर्मनी) के प्रो० कीलहान ने किया है। उक्त स्थान पर प्रोफेसर महोदय ने दो दानपत्रों का सम्पादन किया है, यथा—

(A) Royal Asiatic Society Plate of Vijaychandra and Yuvaraj Jaychchandra, Sambat 1225 (=1168-69 A. D.), and

(B) Faizabad Plate of Jaychchandra, Sambat 1243 (= 1186 A D.).

यहाँ पर दूसरे दानपत्र का ही विवरण देना पर्याप्त होगा। इस अभिलेख की रूपरेखा का वर्णन विद्वान प्रोफेसर महोदय ने निम्न शब्दों में किया है—

"*B. Faizabad Plate of Jaychchandra, Sambat 1243* (=1186 A.D.)—" This inscription is from a copper-plate which was found near Faizabad in Oudh and is now in the Library of the Royal Asiatic Society in London.

"The plate which is inscribed on one side only, measures about 1′–8½″ by 1′–4″. It is quite smooth, the edges being neither fashioned thicker nor raised into rims, but the inscription is in perfect order throughout. The seal is circular about 2¾″ in diameter; it has, in relief on a countersunk surface—across the centre the legend "Srimaj-Jayachchandradevah—in the upper part, Garuda, half-man and half-bird, kneeling and facing to the proper right—and in the lower part, a *sankha*-shell The seal slides by its socket ring, which is about

$\frac{1}{2}''$ thick and $1\frac{3}{4}''$ in diameter, on a plain ring about $\frac{1}{2}''$ thick and 4" in daimter, which passes through the ringhhole in the top of the plate; the latter ring had been cut before the grant came under Mr. Fleet's notice for preparing the lithograph. The weight of the plate is 6 lbs. 5 oz. and the seal with its own ring and the other, 2 lbs. $6\frac{1}{4}$ oz.; total weight 8 lbs. $11\frac{1}{4}''$ oz:"

यह अभिलेख कई अर्थों में हृदयग्राही है—इसमें जयचन्द्र तक गाहरवालों की प्रमाणित वंशावली दी गई है; जयचन्द्र के पूर्वजों की प्रशस्ति में रोचक पद कहे गये हैं और स्वयं जयचन्द्र के लिए भी। काव्य की दृष्टि से भी इसके श्लोकों की रचना आकर्षक है क्योंकि उनमें पदलालित्य भी है। अनुप्रासों के साथ-साथ विषय के अनुरूप विभिन्न प्रकार के छन्दों का उपयुक्त प्रयोग किया गया है। अन्ततः इस अभिलेख से सामयिक दस्तावेज-नवीसी का भी आभास मिलता है, विशेषकर भूमि स्थानान्तरण के बारे में। अतः इसकी सम्पूर्ण इबारत नीचे दी जा रही है—

ओं स्वस्ति।

अकुंठोत्. कंठ वैकुंठ कंठ पीठ लुठत करः।
संरम्भः सुरतारम्भे स श्रियः श्रेयसेऽस्तु वः ॥१॥
आसीद शीत द्युति वंश जातक्षमा पाल मालासु दिवं गतासु।
साक्षाद् विवस्वानिव भूरिधाम्ना नाम्ना यशोविग्रह इत्युदारः ॥२॥
तत्सुतोऽभून् महीचन्द्रश् चन्द्र धाम निभं निजम्।
येनापार मकूपार पारे व्यापारितं यशः ॥३॥
तस्याभूत्तनयो नयैकरसिकः क्रान्तद् विषन् मंडलो
विध्वस् तोद् धत वीरयोधतिमिरः श्रीचन्द्रदेवो नृपः।
येनोदार तर प्रताप शमिता शेष प्रजोपद्रवं
श्रीमद् गाधिपुराधि राज्यमसमं दोर्विक्रमेणार्जितम् ॥४॥
तीर्थानि काशि कुशिकोत्तर कोशलेन्द्र
स्थानीय कानि परिपालयताऽधिगम्य।
हेमात्म तुल्य. मनिश ददता द्विजेभ्यो
येनांकिता वसुमती शत शस्तु लाभिः ॥५॥
तस्यात्मजो मदनपाल. इतिक्षितीन्द्र-
चूडामणिर् विजयते निजगोत्र चन्द्रः।

तस्याभिषेक कल शोल्लसितैः पयोभिः
प्रक्षालितं कलिरजः पटलं धरित्र्याः ॥६॥

तस्यासीद् विजय प्रयाण समये तुङ्गा चलोच् चैश्चलन्
माद्यत् कुम्भि पद क्रमासमभर भ्रश्यन् महीमंडले।
चूडारत्न विभिन्नता लुगलितम् त्याना सृगुद् भासितः
शेषःशैष वशादिव क्षणमसौ क्रोडे निलीना ननः ॥७॥

तस्यादजायत निजायत बाहु बल्लि
बन्धा वरद्ध नव राज्य गजो नरेन्द्रः।
सान्द्रा मृत द्रव मुचां प्रभवो गवां यो
गोविन्दचन्द्र इति चन्द्र इवाम्बु राशेः ॥८॥

न कथ मप्यल मन्त रणं क्षमांस तिसृषु दिक्षु गजानथ वज्रिणः।
ककुभिः बभ्रमुर भ्रमुवल्लभ प्रति भंदा इत्र यस्य घटा गजाः ॥९॥

अजनि विजयचन्द्रो नाम तस्मान् नरेन्द्रः
सुरपतिरिव भूमृत् पक्ष विच्छेद दक्षः।
भुवन दलनहेला हर्म्यः हम्मीर नारी
नयन जलद धारा धौत भूलोक तापः ॥१०॥

लोक त्रथी क्रमणकेलि विश्रृंख लानि
प्रख्याल कीर्ति कवि वर्णित वैभवानि।
यस्य त्रिविक्रम पद क्रम भांजि भान्ति
प्रोद्योत यन्ति बलिराज भयं यशान्सिस ॥११॥

यस्मिंश् चलत्यु दधि नेमि महीज यार्थम्
माद्यत् करीन्द्र गुरुभार निपीडि तेव।
याति प्रजापति पदं शरणार्थिनी भूस्
त्वंगत् तुरंग निवहोत् थर जश्छलेन ॥१२॥

तस्माद् भुत विक्रमादथ जयच्चन्द्राभिधानः पतिर्
भूपानामवतीर्ण एष भुवनोद् धाराय नारायणः।
द्वैभीभावमपास्य विग्रह रुचिं धिक्कृत्य शान्ताशयाः
सेवन्ते यमुदग्र बन्धन भयं ध्वंसार्थिनः पार्थिवाः ॥१३॥

गच्छेन मूर्च्छामतुच्छां न यदि कवल येत् कूर्म पृष्ठाभियात्।
प्रत्यावृत्त श्रमार्त्तो नमदखिल फण श्वासवात्या सहस्रम॥
उद्योगे यस्य धावद् धरणि धर धुनी निर्झरस् फारधार-
भ्रश्यद् दानद् विपाली वहुल भरगलद् धैर्यः मुद्र फणीन्द्रः ॥१४॥

सोयं समस्त राजचक्र संसेवित चरणः स च परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परम माहेश्वर निज भुजोपार्जित कान्यकुब्जाधिपत्य श्री चन्द्रदेव पादानुध्यात परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परम माहेश्वर श्री मदनपाल देव पादानुध्यात परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परम माहेश्वर अश्वपति गजपति नरपति राजत्रयाधिपति विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति श्री गोविन्दचन्द्र देव पादानुध्यात परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परम माहेश्वर अश्वपति गजपति नरपति राजत्रयाधिपति विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति श्री विजयचन्द्र देव पादानुध्यात परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परम माहेश्वर अश्वपति गजपति नरपति राजत्रयाधिपति विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति श्रीमज् जयच्चन्द्र देवो विजयी । असुरेस पत्तलायां कमौली ग्राम निवासिनो निखिल जन पदानुपगता नपि च राजराज्ञी युवराज मन्त्रि पुरोहित प्रतिहार सेनापति भांडागारिकाक्ष पटलिक भिषग्नैमित्ति कांतः पुरिक दूत करि तुरग पत्तनाकरस् थान गोकुलाधिकारि पुरुषा नाज्ञा पयति बोधयत्यादि शति च—विदितमस्तु भवतां—यथो परिलिखित ग्रामः सजलस्थलः सलोहलवणाकरः समत्स्याकरः सगर्त्तोषरः सगिरिगहननिधानः समधूकआम्रवन वाटिका विटप तृण यूति गोचर पर्यन्तः सोर्ध्वाधश् चतुराघाट विशुद्धः स्वसीमा पर्यन्तस् त्रिचत् वारि शदधिक द्वादश शत संवत्सरे अषाढ़े मासि शुक्ल पक्षे सप्तम्यां तिथौ रवि दिने अंकतोपि संवत् १२४३ आषाढ़ शुदि रवौ । अद्येह श्रीमद् वाराणस्यां गंगायां स्नात्वा विधिवत् मंत्र देव मुनि मनजु भूत पितृ गणांस् तर्पयित्वा तिमिर पटल पाटन दुदुमह समुष्ण रोचिष मुपस्था यौषधि पति शकल शेखरं समभ्यर्च्य त्रिभुवन त्रातुर् भगवतो वासुदेवस्य पूजां विधाय प्रचुर पायसेन हविषा हविर्भुजं हुत्वा माता पित्रोरात्मनश्च पुण्य यशोभिवृद्धयेऽस्मा भिर्गोकर्ण कुशला पूत करतलोदक पूर्वकं भारद्वाज गोत्राय भारद्वाज अंगिरसबारहस्पत्येतित्रि प्रवराय राउत श्री ओढले पौत्राय राउत श्री ढुंटा पुत्राय डोड राउत श्री अणंगाय चन्द्रार्क यावच्छासनी कृत्य प्रदत्तोमत्वा यथादीय मान भोग-भोग कर प्रवणि कर प्रभृति नियता नियत समस्ता दाया नाज्ञा विधेयीभूय दास्यथ इति ।

भवन्ति चात्र श्लोकाः

भूमियः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमि प्रयच्छति ।
उभौ तौ पुण्य कर्माणौ नियतं स्वर्ग गामिनौ ॥
शंखं भद्रासनं छत्रं वराश्वा वर वारणाः ।
भूमि दानस्य चिह्नानि फल मेतत् पुरंदर ॥

षाष्टिं वर्ष सहस्रेण स्वर्गे वसति भूमिदः ।
आच्छेत्ता चानुमन्ता च तांन्येव नरके वसेत ॥
ब्रहुभिर्व्व सुधामुक्ता राजभिः सगरादिभिः ।
यस्य यस्य यदा भूमिस् तस्य तस्य तदा फलम् ॥
स्वदत्तां पर दत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां ।
स विष्टायां कृमिर् भूत्वा पितृभिः सह मज्जति ॥
तडागानां सहस्रेण वाजपेय शतेन च ।
गवां कोटि प्रदानेन भूमिहर्ता न शुध्यति ॥
वारि हीनेष्व रण्येषु शुष्क कोटर वासिनः ।
कृष्णसर्पाश्च जायन्ते देव ब्रह्म स्वहारिणः ॥
न विषं विष मित्याहुर् ब्रह्मस्वं विष मुच्यते ।
विष मेका किनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्र पौत्रिकम् ॥
वाता भ्रवि भ्रम मिदं वसुधाधिपत्य-
मापात मात्र मधुरा विषयोप भोगाः ।
प्राणास्तृणाग्र जल विन्दु समा नराणां
धर्मः सखा परमहो परलोक याने ॥

यानीह दत्तानि पुरा नरेन्द्रैर्, दानानि धर्मार्थ यशस् कराणि ।
निर्माल्य वान्त प्रति मानि तानि, को नाम साधुः पुनराददीत ॥

विदित होगा कि यह अभिलेख तीन भागों में विभाजित है, यथा—

- प्रथम भाग में जयचन्द्र की वंशावली है जिसमें उनके प्रत्येक पूर्वज की प्रशस्ति भी है; इसमें १४ श्लोक हैं ।
- दूसरे भाग में महाराज चन्द्रदेव से लेकर जयचन्द्र के नाम देने के बाद गाँव के दान का विवरण है जिसमें बताया गया है कि भूमि के साथ-साथ कौन-कौन आमदनी दान लेने वाले को प्राप्त होगा तथा भूमि के साथ ही किस-किस सम्पत्ति पर उसका अधिकार होगा; यह खण्ड गद्य में है ।
- तीसरे भाग में दानदाता की प्रशस्ति में श्लोक हैं तथा भूमिदान का फल वर्णित है; यह भी कि दान में दी गई भूमि को अपहरण करने से अपहरणकर्ता की दूसरे जन्म में क्या दुर्गति होती है; यह खण्ड पद्य में है ।

प्रो० कीलहार्न महोदय ने पहले और दूसरे खण्ड का अंगरेजी में अनुवाद किया है । तीसरे खण्ड के अनुवाद की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी क्योंकि उसमें केवल दानकर्ता की प्रशस्ति है तथा परम्परागत भाषा में

भूमिदान का फल तथा भूमि अपहरण के नारकीय परिणामों का कथन है। उक्त दोनों खण्डों का अनुवाद निम्न प्रकार है—

Translation

"On ! May it be well !

(*Verse 1.*—May the agitation of Lakshmi, during the amorous dalliance, when her hands wander over the neck of Vaikuntha filled with eager longing, bring you happiness !

Verse 2.—After the protectors of the earth born in solar race had gone to heaven, there came a noble (Personage) Yashovigraha by name, (who) by his plentiful splendour (was); as it were, the sun incarnate.

Verse 3.—His son Mahichandra who spread his boundless fame, resembling the moon's splendour, (even) to the boundary of the ocean.

Verse 4.—His son was the king, the illustrious Chandradeva, whose one delight was in statesmanship who attacked the hostile hosts (and) scatterd the haughty brave warriors as (the moon does the) darkness. By the valour of his arm he acquired the matchless sovereignty over the glorious Gaadhipura, when an end was put to all distress of the people by his noble prowess.

Verse 5.—Protecting the holy bathing-places of Kashi, Kushik, Uttar-Koshala, and the city of Indra after he had obtained them, (and) incessantly bestowing on the twice born gold (equal in weight) to his body, he hundreds of times marked the earth with the scales (on which he had himself weighed).

Verse 6.—Victorious is his son Madanpala, the crestjewel of the rulers of the earth, the moon of his family. By the sparkling waters from his coronation-jars the coating of impurity of the Kaliyuga was washed off from the earth.

Verse 7.—When he went forth to victory, the orb of the earth bent down beneath the excessive weight of the foots-

teps of his rutty elephants, marching along, tall as towering mountains : then, as if suffering from cold, Shesha, radiant from clotted blood that trickled from his palate pierced by the crest-jewel, hid his face for a moment in his bosom.

Verse 8.—As the moon, whose rays diffuse in abundance liquid nectar, from the ocean, so was born from him the ruler of men Govindchandra, who bestowed cows giving abundant milk. As one restrains an (untrained) elephant so he secured by his creeper-like long arms, the new (i. e. newly acquired) Kingdom.

Verse 9.—When his war-elephants had in three quarters in no wise found elephants their equals for combat, they roamed about in the regions of the wielder of the thunderbolt, like rivals of the mate of *Abhramu*

Verse 10.—From him was born the ruler of men, Vijaychandra by name, expert in destroying the hosts of (hostile) princes, as the lord of the gods (was) in clipping the wings of the mountains. He swept away the afflication of the globe by the streams (of water flowing as from clouds) of the tears of the wives of Hammira, the abode of wanton destruction on the earth.

Veres 11.—His bright fame which met with no check in its playful course through the three worlds (and) whose glory was sung by poets of known renown, made intense the fear of King Bali when he stroodc along like Trivikrama (i. e. Vishnu).

Veres 12.—When he goes out to conquer the earth girt by the ocean, the earth, distressed as it were by the heavy weight of his rutty royal elephants, goes seeking protection

१ अभ्रमु Abhramu is the female elephant of the East (the region of Indra) the mate of Airavat (ऐरावत).

upto the throne of Prajapati, in the guise of the dust rising from the multitude of his prancing horses.

Veres 13.—After him (i. e. Vijaichandra) possessed of wonderful valour, (comes) the lord of princes named Jayachchandra; he is Narayana, having become incarnate for the salvation of the earth. Having put aside (all) dissension (and) cursing (their own) liking for war, peacefully-disposed princes pay homage to him, seeking to rid themselves of the intense dread of the punishment (inflicted by him).

Verse 14.—When he puts forth his might, the lord of the serpents has his reputed strength failing under the great weight of the lines of elephants whose rutting-juice flows down in broad streams resembling torrents rushing down from moving mountains; distressed by the exertion of turning up again when pressed down upon the back of the tortoise, he would completely faint away if he did not inhale the thousand strong breezes from all his bending hoods."

इन १४ श्लोकों के अनुवाद के बाद दूसरे खण्ड का अनुवाद आता है जो गद्य में है और जिसमें जयचन्द्र द्वारा गाँव दान में दिए जाने का विवरण है। वह निम्न प्रकार है—

"He who has homage rendered to his feet by the circle of all Rajas. And he, the most worshipped, the supreme king of Maharajas, the supreme lord, the devout worshipper of Maheshwara, the lord over the three Rajas (*viz.*) the lord of horses, the lord of elephants and the lord of men, (like) Brihaspati, in investigating the various sciences, the illustnous Jayachchandradeva,—who meditates on the feet of the most worshipful (etc.; as above), the illustrious Vijaychandra, who meditated on the feet of the most worshipful (etc., as above), the illustrious Govindchandra,—who meditated on the feet of the most worshipful, (etc., as above) the illustrious madanpala,—who mediafted at the feet of the most worshipful, the supreme

king of Maharajas, the supreme lord, the devont worshipper of Maheshwara, the illustrious Chandradeva, who by his arm had acquired the sovereignty over the glorious kanyakubja :

"He the victorious, commands, informs and decrees to all the people assembled, resident at the village of Kamoli in the Asuresa Pattala[1] and also to the *Rajas*, *Rajnis*, *Yuvarajas*, counsellors, chaplains, warders of the gate, keepers of records, physicians, astrologers, superintendents of gynaeceums, messengers, and to the officers having authority as regards elephants, horses, towns mines, *Sthanas* and *Gokulas*—

"Be it known to you that,—after having bathed here today in the Ganges at the glorious Varaṇasi, after having duly satisfied the sacred texts, divinities, saints, men, beings and the group of ancestors, after having worshipped the sun whose spendour is potent in rending the veil of darkness, after having praised him whose crest is a portion of the moon, after having performed adoration of the holy Vasudeva, the protector of the three worlds, after having sacrificed to fire an oblation of abundant milk, rice and sugar,—we have, in order to increase the (spiritual) merit and the fame of our parents and ourself, on Sunday, the seventh lunar day in the bright half of the month of Ashadha in the twelve-hundred-and-forty-third year—in figures too, on Sunday the 7th Shudi Ashadha 1243,—given the above-written village with its water and dry land, with its mines of iron and salt, with its fisheries, with its ravines and saline wastes, with the treasure in its hills and forests, with and including its groves of *madhuka* and mango trees, enclosed gardens, bushes, grass and pasture land, with what is above and below, defined as to its four abuttals, up to its proper boundaries, to the *Doda Rauta* the illustrious

1. Pattala denotes the sub-division of a district, corresponding to present-day tahsil.

Anangaya, son of the Rauta the illustrious Dumta, grandson of the Rauta the illustrious Adhale of the Bharadvaja *gotra* (and) whose three *Pravaras* are Bharadvaja, Angirasa and Barhaspartya,—(confirming our gift) with (the pouring out) from the palm of our hand (of) water purified with *Kusha* grass········(and) ordaining (that it shall be his) as long as moon and sun (endure). Aware (of this), you, being ready to obey (our) commands, will make over (to him) every kind of income, fixed and not fixed, the due share of the produce, the *Pravarikar*, and so forth."

इसके बाद तीसरे खण्ड में आशीर्वादसूचक श्लोक आते हैं और भूमि अपहरण करने के नारकीय कुफल बताए गए हैं। उसमें कही गई बातों के कुछ अंशों का भावार्थ निम्न प्रकार है :—

- जो भूमि का दान देता है उसे स्वर्ग प्राप्त होता है; वह ६,००० वर्ष स्वर्ग में बास करता है। दान लेने वाले को भी स्वर्ग मिलता है।
- जिसके अधिकार में पृथ्वी है उसी को भूमिदान का फल मिलता है।
- जो दान पहले दिए जा चुके हैं उनका अपहरण करना निर्माल्य की तरह त्याज्य होता है। कोई भी सज्जन पुरुष दान देकर उसे फिर वापस नहीं लेता।
- भूमि का अपहरण करने वाला नरकगामी होता है। उसके पितरों को भी उसके पाप का भागी होना पड़ता है और उसके पुत्र पौत्रों को भी।
- दान में दी गई भूमि को अपहरण करने से जो पाप लगता है उसका प्रायश्चित सम्भव नहीं। हजारों तालाबों के बनवाने से, सैकड़ों वाजपेय यज्ञ करने से, लाखों गायों का दान करने से भी भूमिहर्ता शुद्ध नहीं होता।
- देवताओं और ब्राह्मणों की सम्पत्ति को हरण करने वाले की दुर्गति होती है।
- पृथ्वी का राजा होना वायु के बवन्डर के समान है; प्राण पानी के बुलबले के समान नाशवान है। परलोक यात्रा में धर्म ही साथ होता है।

परिशिष्ट–८

कुछ विशेष शब्दों, स्थानों आदि का सूक्ष्म परिचय

अग्निकुल—राजपूतों की चार जातियाँ जिनकी गणना इस कुल में होती है, यथा—

पवार (परमार);	चौहान (चाहमान), और
परिहार (प्रतिहार);	सोलंकी अथवा चालुक्य ।

ऐसा कहा जाता है कि इनकी उत्पत्ति उस अग्निकुण्ड से हुई थी जो दक्षिणी राजपूताने के आबू पहाड़ पर यज्ञस्थल में बना था। ऐसा भी मत है, और जो सही प्रतीत होता है, कि यह यज्ञ विदेशी जातियों को वर्णाश्रम व्यवस्था में लेने के लिए किया गया था और इस प्रकार इन जातियों को उच्च क्षत्रिय वर्ग में स्थान दिया गया।

अफगान—उन पर्वतीय जातियों के लिए प्रचलित शब्द जो अफगानिस्तान में बसती थीं तथा पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त में भी रहती थीं। भारत की सम्पदा पर लुब्ध होकर ये लोग व्यापारियों और लुटेरों, दोनों रूपों में, भारत आते रहे। महमूद गजनवी पहला अफगान सुल्तान था जिसने भारत पर १७ आक्रमण किए जिनमें से एक आक्रमण कन्नौज पर भी था। उसके बाद सन् ११९३-११९४ में शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी (अफगान सुल्तान) ने पृथ्वीराज और कन्नौज के शासक जयचन्द्र को हराकर भारत में मुसलमानी शासन की नींव डाली। दिल्ली के जिन सुल्तानों ने १२०० से १५२६ ई० (मुगलवंशी बाबर के पहले) तक भारत में राज्य किया वे सभी अफगान अथवा पठान पुकारे जाते थे यद्यपि उनमें से अधिकांश तुर्क थे। केवल लोदी राजवंश के सुल्तान (१४५०-१५२६ ई०) ही असल पठान थे। प्रथम मुगल बादशाह बाबर ने पानीपत की पहली लड़ाई में पठान शासन का अन्त कर दिया। शेरशाह ने दुबारा पठान राज्य (१५३९-४२ ई०) स्थापित किया किन्तु कुछ ही वर्षों बाद हुमायूँ ने शेरशाह के उत्तराधिकारी को परास्त कर मुगल सत्ता फिर कायम कर ली।

अलबरूनी—(९७३-१०४८ ई०)। एक विद्वान इतिहास लेखक जो महमूद गजनवी की सेना के साथ भारत आया और कई वर्षों तक पंजाब में रहा। भारत में रह कर उसने संस्कृत पढ़ी और संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया। उसके द्वारा रचित फारसी भाषा की पुस्तक "तहरीक-ए-हिन्द" (भारत की खोज) में हिन्दुओं

के इतिहास, चरित्र, आचार-व्यवहार, परम्पराओं और वैज्ञानिक ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसमें मुसलमानों के आक्रमण के पहले के भारतीय इतिहास और संस्कृति का विवरण है।

अन्हिलवाड़—आठवीं सदी से १५वीं ई० सदी तक गुजरात का प्रमुख नगर। यहाँ पर अब पाटन नामक नगर है। सन् ११७८ में मोहम्मद गोरी ने भारत पर जो प्रथम आक्रमण किया था उसे अन्हिलावाड़ के शासक मूलराज ने विफल कर दिया था और गोरी की पराजय हुई थी। राजा मूलराज की इस विजय से गुजरात मुसलमानी आधिपत्य से एक सदी तक बचा रहा।

अलमसूदी—एक अरबी यात्री जिसने ९१५ ई० में कन्नौज राज्य के प्रतिहार राजा महिपाल के राज्यकाल में उसके राज्य की यात्रा की। अलमसूदी ने राज्य के घोड़ों और ऊँटों का भी विवरण दिया है।

अहिच्छत्र—यह प्राचीन नगर आधुनिक बरेली जनपद में स्थित था और जहाँ पर अब रामनगर का कस्बा है। महाभारत के अनुसार यह नगर उत्तर पांचाल राज्य की राजधानी था, जिसको द्रोणाचार्य ने जीत लिया था। कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन के समय सातवीं सदी में जब हुयेन सांग (चीनी यात्री) भारत आया तब यह नगर विस्तृत क्षेत्र में फैला था।

अंग—पूर्वी बिहार का प्राचीन नाम। इसकी राजधानी गंगा के किनारे आधुनिक भागलपुर नगर के निकट चम्पा थी। ईसा पूर्व पाँचवीं सदी में यह मगध साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। उस समय इसमें पटना, गया और दक्षिणी बिहार के क्षेत्र शामिल थे। महाभारत के अनुसार दुर्योधन ने अपने मित्र तथा सहयोगी महारथी कर्ण को अंग देश का राजा बनाया था।

आर्यावर्त—इसका अर्थ है आर्यों का वासस्थान। मनु संहिता (२०० ई०) में इस शब्द का प्रयोग हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक समस्त उत्तरी भारत के लिए किया गया है। आर्य लोग कब इस क्षेत्र में आए, इसका सही पता नहीं लग सका है। ऋग्वेद (२००० ई० पू०) की रचना के काल में आर्य लोग अफगानिस्तान और पंजाब तक सीमित थे। पंजाब में बस जाने के बाद आर्यों का पूर्व की ओर बढ़ने तथा पूरे आर्यावर्त में फैलने में कई सौ वर्ष लग गए होंगे।

कन्दहार (अथवा कंधार)—काबुल के बाद अफगानिस्तान का दूसरा बड़ा नगर। कुछ समय इस पर फारस (ईरान) का कब्जा रहा। अन्ततोगत्वा यह मगध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के अधीन हुआ और अशोक के साम्राज्य का भाग रहा।

कलिंग—पूर्वी समुद्र तट पर स्थित प्राचीन राज्य का नाम जिसके अन्तर्गत आधुनिक उड़ीसा आ जाता था। सातवीं सदी में यह राज्य कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन के अधीन था। यहाँ का सूर्य मन्दिर प्रसिद्ध है जो जगन्नाथपुरी से २६ मील उत्तर-पूर्व दिशा में समुद्र तट पर कोणार्क नामक स्थान पर अवस्थित है। इसका निर्माण गंग वंशीय राजा नरसिंह देव प्रथम ने १३वीं सदी में करवाया था।

कोशल—इस नाम के दो प्राचीन प्रदेश थे, यथा—

उत्तर कोशल, और

दक्षिण कोशल।

उत्तर कोशल अवध के भूभाग में स्थित था और इसकी राजधानी अयोध्या थी। दक्षिण कोशल दक्षिण भारत में महानदी की उत्तरी घाटी में स्थित था और उसमें आधुनिक विलासपुर, रायपुर तथा सम्भलपुर जिले (बिहार के) शामिल इसकी राजधानी श्रीपुर थी जो रामपुर जिले में अब है। भारतीय इतिहास में इस राज्य का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

इसके विपरीत उत्तर कोशल राज्य प्राचीन काल में महत्वपूर्ण राज्य था और बाद में अवध की नवाबी के रूप में भी। अवध शब्द अयोध्या का ही विकृत रूप है। रामायण के अनुसार रामचन्द्र जी के पिता राजा दशरथ कोशल के राजा थे और अयोध्या उनकी राजधानी थी। अवध के नवाबों की राजधानी भी पहले अयोध्या के पास फैजाबाद नगर में थी, बाद में वह लखनऊ उठ आई थी। यह निश्चय रूप से ज्ञात नहीं कि कब उत्तर कोशल राज्य अयोध्या के नाम से विख्यात हुआ।

सातवीं सदी में उत्तर कोशल कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन के साम्राज्य में सम्मिलित था और नौवीं सदी में कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य का भाग रहा।

गजनी—अफगानिस्तान का एक नगर जो काबुल से दक्षिण-पश्चिम ७८ मील पर स्थित है। दसवीं सदी में अलप्तगीन नामक तुर्क ने यहाँ एक छोटे से राज्य की स्थापना की और गजनी को राजधानी बनाया। यह राज्य गजनी राज्य के नाम से जाना जाता था, किन्तु अब इसका अस्तित्व नहीं है। गजनी के शासक गजनवी कहलाये जिनमें से सुलतान महमूद गजनवी प्रमुख था। वह अलप्तगीन का पौत्र और सुबुक्तगीन का पुत्र था। ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में उसने भारत पर १७ आक्रमण किए जिनमें दो आक्रमण कन्नौज पर भी थे। गजनी नगर बड़े-बड़े भवनों, चौड़ी सड़कों और संग्रहालयों से परिपूर्ण था, लेकिन सन् ११५१ में

गोर के एक शासक ने इसे जलाकर नष्ट कर दिया। बाद में शहाबुद्दीन गोरी ने इसका उद्धार किया और इसे अपना सदर मुकाम बनाया और यही गोरी सन् ११९२-९३ और ११९४ में पृथ्वीराज और जयचन्द्र को पराजित कर भारत में मुसलमानी शासन का संस्थापक बना।

गौड़—इसका आशय पश्चिमी और पश्चिमोत्तर बंगाल क्षेत्र और वहाँ के निवासियों, दोनों से ही है। बंग नाम का प्रयोग केवल पूर्वी और मध्य बंगाल के लिए होता था। सातवीं सदी में गौड़ नरेश शशांक ने थानेश्वर के पुष्यभूति वंशीय राजा राज्यवर्धन का विश्वासघात करके बध किया। इसका बदला लेने के लिए राज्यवर्धन के भाई, कन्नौज के सम्राट, हर्षवर्धन ने शशांक के विरुद्ध लम्बा युद्ध किया किन्तु शशांक ने उसकी सेना का तीव्र प्रतिरोध किया और युद्ध अनिर्णनायक रहा। गौड नाम का एक नगर भी था जो ११वीं और १२वीं सदी में सेन राजाओं के शासनकाल में बंगाल की राजधानी था। अब यह पश्चिमी बंगाल के आधुनिक माल्दा जिले में है।

चाहमान—यह अपभ्रन्शित शब्द चौहान का शुद्ध रूप है। चाहमान राजपूतों की एक शाखा है। महाराज पृथ्वीराज इसी शाखा के सदस्य थे।

चेदि—बुन्देलखण्ड क्षेत्र का प्राचीन नाम।

चोल—कावेरी के तट पर बसे हुए एक प्राचीन देश का नाम था। अब यह कर्णाटक कहलाता है।

चौहान—राजपूतों का एक कुल। इसका नाम चाह्मान अथवा चाहमान भी मिलता है। कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन के अवसान के बाद चौहानों ने राजपूताने के एक भाग पर, जिसकी राजधानी अजमेर थी, शासन किया। इस वंश का सर्वाधिक उल्लेखनीय शासक पृथ्वीराज (तृतीय) या राय पिथौरा था। अजमेर और दिल्ली के चौहानों का पतन ११९२-९३ ई० में तरायन के दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज की हार और मृत्यु के बाद हो गया।

जैजाक भुक्ति—इसे जझौती भी कहते हैं। यमुना और नर्मदा नदियों के बीच में स्थित भूभाग जिसे पूर्वकाल में उक्त नाम से जाना जाता था तथा अब इसे बुन्देलखण्ड कहते हैं। इस पर चन्देल राजाओं का शासन था। इस समय इसका अधिकांश भाग उत्तर प्रदेश में है, तथा कुछ मध्य प्रदेश में सम्मिलित है। इसके मुख्य नगर महोबा, कालिंजर तथा खजुराहो हैं। खजुराहो में बहुत से सुन्दर मन्दिर आज भी वर्तमान हैं।

तीर्थ—प्राचीन ग्रन्थों में देवस्थान, मन्दिर, घाट तथा इसी प्रकार के स्थान को तीर्थ की संज्ञा दी गई है। कहीं-कहीं उस नगर को भी तीर्थ कहा गया है कि जहाँ उक्त स्थान स्थित हों।

तुरुष्क—पुराने ग्रन्थों में यह शब्द मुसलमान आक्रमणकारियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। तुरुष्क तुर्क शब्द से बना है किन्तु इसका अभिप्राय केवल तुर्क लोगों से ही नहीं है बल्कि सभी मुसलमान जातियों से।

तोमर—राजपूतों की एक शाखा। ये लोग ११वीं सदी में वर्तमान दिल्ली क्षेत्र के शासक थे। तोमर-अग्रणी अनंगपाल ने उसी सदी के मध्य में दिल्ली नगर की नींव डाली थी। बारहवीं सदी में यह नगर अजमेर के चौहानों के हस्तगत हो गया।

थानेश्वर (स्थानेश्वर)—एक प्राचीन नगर का नाम जो आधुनिक दिल्ली के उत्तर में अम्बाला और करनाल के बीच स्थित था। इसी के निकट कुरुक्षेत्र है जहाँ कौरवों और पाण्डवों के बीच महाभारत का युद्ध हुआ था। छठी सदी में यह पुष्यभूति राजवंश की राजधानी बना। कन्नौज के शासक हर्षवर्धन (७वीं सदी) इसी राजवंश के थे। इनकी बहन राजश्री कन्नौज के शासक गृहवर्मा को ब्याही थी। गृहवर्मा की मृत्यु पर यह कन्नौज के भी शासक हुए क्योंकि गृहवर्मा सन्तानहीन थे।

दशार्ण—वह प्राचीन देश जिसमें दशार्ण (दसन) नामक नदी बहती है। यह मालवा का पूर्वी भाग था तथा इसकी राजधानी विदिशा नगरी थी जिसे वर्तमान भिलसा माना जाता है।

देश—प्राचीन ग्रन्थों में देश शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है और वह अर्थ है प्रदेश या भूभाग। सामूहिक संस्था के रूप में भी उसका प्रयोग हुआ है।

पंचाल या पांचाल—प्राचीन काल का प्रसिद्ध प्रदेश जो गंगा यमुना का मध्यवर्ती भाग था, अतः गंगा दोआब भी कहलाता था। यह दो भागों में विभाजित था यानी उत्तर पांचाल और दक्षिण पांचाल। भागीरथी का उत्तरी भाग उत्तर पांचाल था जिसकी राजधानी अहिक्षत्र थी। प्रदेश का दक्षिण भाग दक्षिण पांचाल था जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी जो अब फर्रुखाबाद जिले में कम्पिल नामक बस्ती है और गंगा तट पर स्थित है। महाभारत के अनुसार पहले सम्पूर्ण पांचाल राजा द्रुपद के अधीन था किन्तु बाद में विश्वामित्र द्वारा पराजित होने पर द्रुपद को आधा राज्य द्रोणाचार्य को देना पड़ा और इस बँटवारे के अनुसार द्रोण उत्तर पांचाल के स्वामी हुए और द्रुपद के आधिपत्य में दक्षिण पांचाल ही रह गया। बाद में द्रौपदी का स्वयंवर काम्पिल्य नगरी में हुआ था।

पारसीक—पर्शिया (अब ईरान) देश के रहने वालों के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता था। इस देश से भारत में घोड़ों के आने का उल्लेख मिलता है।

प्रागज्योतिष—आसाम प्रदेश का प्राचीन नाम। प्रागज्योतिषपुर इसकी राजधानी थी जो अब गौहाटी के नाम से जानी जाती है। इस भूभाग को पुराणों में कामरूप कहा गया है तथा महाभारत में प्रागज्योतिष। मुसलमान इतिहासकारों ने कामरूप शब्द का प्रयोग किया। बाण रचित हर्ष-चरित्र में यहाँ के शासक भास्कर वर्मा का उल्लेख है जो ७वीं सदी में राज्य करता था और कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन का सम-सामयिक था। भास्कर वर्मा की मृत्यु ६४९ ई० में हर्ष के देहावसान के बाद हुई। चीनी यात्री हुयेन सांग के यात्रा वर्णन में उसका उल्लेख है।

बुन्देला—राजपूतों की एक शाखा जिनका राज्य उस भूभाग पर था जो उनके नाम पर बुन्देलखण्ड कहलाता है। इसके पहले यह जैजाकभुक्ति के नाम से प्रसिद्ध था और चन्देलों द्वारा शासित था। बुन्देले १४ वीं सदी में शक्ति-सम्पन्न हो गए थे।

महादेवी—पूर्व समय में राजा की पत्नियों को 'देवी' अथवा 'भट्टिनी' कहा जाता था। इसी प्रकार सम्राट की पत्नियों के लिए 'महादेवी'; 'पट्टदेवी'; 'परम-भट्टिनी' (या परमभट्टारिका) आदि शब्दों का प्रयोग होता था। यह लाक्षणिक (technical) शब्द थे।

यवन—यह शब्द संस्कृत में प्राचीन है। श्रीमद्भागवत और बाल्मीकीय रामायण प्रभृति में यह शब्द व्यवहृत हुआ है। इस शब्द से मुसलमान जाति अथवा किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं है। हिन्दू लेखकों ने मूलतः यह शब्द विदेशी यूनानियों के लिए प्रयोग किया, किन्तु बाद में यह मुसलमानों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। आम तौर पर मुसलमानों के लिए तुरुष्क शब्द का प्रयोग हुआ है।

यामिनी वंश—इस वंश की स्थापना गजनी के शासक सुलतान महमूद गजनवी ने ११ वीं सदी में की थी। बगदाद के खलीफा द्वारा उसे सार्वभौम राजसत्ता का अधिकारी प्रमाणित किया गया था और तभी उसने सुलतान की उपाधि धारण की। खलीफा ने उसे यामिनउद्दौला का खिताब भी दिया था और इसी कारण उसका वंश यामिनी वंश के नाम से जाना जाता है। महमूद तुर्की सम्प्रदाय के मुसलमानों का सदस्य था।

युग—प्राचीन ग्रन्थों में यह शब्द किसी भी दीर्घ काल के लिए प्रयुक्त होता था, चाहे वह पाँच वर्ष का हो या लाखों वर्ष का। महाभारत में पाँच वर्षों के युग की चर्चा है, उदाहरणार्थ पांडवों के जन्म के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख है :—

अनु संवत्सरं जाता अपि ये कुरु सत्तमाः ।
पांडु पुत्रा व्यराजंत पंच सम्वत्सरा इव ।।२२।।

आदि पर्व, अ० १२४ ।

अर्थात्, एक-एक वर्ष के अन्तर से उत्पन्न हुए कुरुओं में श्रेष्ठ पांडु के वे पाँचों पुत्र (युग के) पाँच वर्षों के समान लगते थे ।

इस पुस्तक में भी युग शब्द का प्रयोग दीर्घ काल के लिए किया गया है ।

योजन—लम्बाई की नाप का मानदंड । एक योजन लगभग ३ मील के बराबर होता है ।

राज्याभिषेक—राज्य + अभिषेक की सन्धि है । अभिषेक का अर्थ है जल छिड़कना । राज्यपद पर निर्वाचित होने पर शासक का अभिषेक आवश्यक माना जाता था । इस अवसर पर पुरोहित, एक मित्र नरेश, निर्वाचित राजा का कोई निकट सम्बन्धी या भाई और एक वैश्य उस पर १७ तीर्थों का पवित्र जल छिड़कते थे ।

राष्ट्र—प्राचीन ग्रन्थों (महाभारत आदि) में प्रदेश तथा इसी प्रकार के किसी पृथक भूभाग के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार यह अर्थ आधुनिक अर्थ से भिन्न है ।

लाट—उस देश का प्राचीन नाम जो नर्मदा के पश्चिम में फैला हुआ था । ब्रोच, बड़ौदा और अहमदाबाद इसमें सम्मिलित थे ।

वंग—पूर्वी बंगाल का प्राचीन नाम । यह भूखण्ड उत्तरी बंगाल या गौड़ देश से बिल्कुल भिन्न है ।

सदी (शताब्दी; शती; शतक)—सौ वर्ष का काल । सदी और शताब्दी पर्यायवाची शब्द हैं अपितु सम्प्रति पुस्तक में शब्द सदी का ही अधिकतर प्रयोग किया गया है क्योंकि यह तुलनात्मक दृष्टि से सरल है । सदी की गणना किसी काल के १०० वें वर्ष के प्रारम्भ होने से लेकर अन्त के १००वें वर्ष तक की जाती है, यथा ७वीं सदी सन् ६०१ से प्रारम्भ होकर सन् ७०० में समाप्त होती है । उसके बाद ८ वीं सदी सन् ७०१ से प्रारम्भ होती है; इसी प्रकार आगे भी और पूर्व में भी ।

सामन्त, सामन्त प्रथा—कभी-कभी विजयी राजा पराजित राजा को या उसके वंश के किसी व्यक्ति को विजित प्रदेश लौटा देता था जिससे वह विजयी राजा के अधीन सामन्त बन जाता था । इस प्रकार के समझौते को सामन्त-प्रथा की संज्ञा दी गई है । महाकाव्य काल (५०० ई० पू० से ४०० ई० तक) में अनेक छोटे-छोटे राजा तथा सरदार सामन्त रूप में बड़े सम्राटों के अधीन हुआ करते

थे। यह सामन्त अपने सम्राट के अश्वमेध यज्ञ में भाग लेते थे और युद्ध के समय उसकी सैनिक सहायता करते थे। सामन्त-प्रथा का आरम्भ उक्त काल में हुआ बताया जाता है। बाद में यह दृढ़ हो गई और ब्रिटिश काल तक कायम रही। ब्रिटिश भारत के अर्धस्वाधीन राज्य (Indian States) इसी प्रथा के नमूने थे।

सौराष्ट्र—भारत के पश्चिमी भाग में स्थित। पहिले यह मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। बाद में कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन (७ वीं सदी) ने इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसके बाद यह स्थानीय हिन्दू राजाओं के अधीन रहा। आठवीं सदी में इस पर अरबों का अधिकार हुआ। अन्ततोगत्वा यह ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। प्रभास नामक प्रसिद्ध सरोवर (तथा तीर्थ) इसी प्रदेश में स्थित था।

हुएन सांग ((*Hiuen Tsiang*)—एक चीनी बौद्ध भिक्षु और विद्वान जो बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों की खोज में भारत में आया था। कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन के राज्यकाल में वह कन्नौज राज्य में आठ साल (६३५-४३ ई०) तक रहा। यह साम्राज्य उस समय सारे उत्तर भारत में विस्तृत था और उसने यहां के लगभग सभी राज्यों को देखा। उसने अपनी यात्रा का विस्तृत वृत्तान्त लिखा है जिससे हर्षकालीन भारत के इतिहास पर बहुमूल्य सूचना मिलती है।

क्षत्रिय (क्षत्री)—यह शब्द राजपूत शब्द का पर्यायवाची नहीं है। राजपूतों का उत्कर्ष सातवीं सदी में कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु से लेकर १२वीं सदी के अन्त तक (अर्थात् मुसलमानों की भारत विजय तक) रहा। इस ५०० साल की अवधि में राजपूतों ने भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके पहिले राजपूत शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उस समय राजन्य वर्ग और युद्धोपजीवी लोगों को क्षत्रिय कहा जाता था जो दो वंशों में विभाजित थे, सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी (सोमवंशी)। महाराज रामचन्द्र जी सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। क्षत्रिय शब्द का अर्थ है—जो (दूसरों को) क्षति से बचावे। यथा उनका कार्य युद्ध करना तथा प्रजा की रक्षा करना था। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार क्षत्रियों की गणना ब्राह्मणों के बाद की जाती थी। राजपूतों की कई शाखाएँ अपने को क्षत्रियों का वंशज बताती हैं।

परिशिष्ट—९

आधार ग्रन्थ सूची

(प्रधानतया कन्नौज के इतिहास से तथा सामान्यतया भारत के इतिहास से सम्बन्धित)

नोट—जिन ग्रन्थों में कन्नौज के बारे में कुछ न कुछ सामग्री उपलब्ध है उनकी संख्या बहुत है। यहाँ केवल खास-खास ग्रन्थों का संदर्भ दिया जा रहा है।

संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, अरबी तथा फारसी में उल्लिखित ग्रन्थ

अलबरूनी का भारत—अलबरूनी कृत अरबी ग्रन्थ 'तहरीक मामिल्हिन्द' का हिन्दी रूपान्तर। अलबरूनी महमूद गजनवी का राजदरबारी लेखक था जो महमूद की सेना के साथ भारत आया था। उसने १०२७-२८ ई० में भारत की यात्रा की थी तथा कई वर्षों तक पंजाब में रहा। बादह गजनी लौटने पर उसने भारत के विभिन्न विषयों पर उक्त ग्रन्थ को लिखा; ग्रन्थ का अर्थ है "भारत की खोज"। इसमें मुसलमानों के आक्रमण के पहले के भारतीय इतिहास और संस्कृति का प्रामाणिक और अमूल्य विवरण मिलता है। इसका अंग्रेजी अनुवाद ई० सी० सचाऊ ने किया है (लन्दन, सन् १९१४)।

उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास—लेखक डॉ० नलिनाक्ष दत्त तथा कृष्ण दत्त वाजपेयी। प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ, (१९५६)।

उदयसुन्दरी कथा—सोडढल कृत।

उद्भट-सागर (तृतीय प्रवाह)—यह संस्कृत में विभिन्न विषयों पर लिखे गए पदों का संकलन है। इसके संकलनकर्ता हैं कवि भूषण पूर्णचन्द्र दे जो कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० परीक्षा के परीक्षक थे। प्रकाशक गुरुदास चटर्जी एण्ड सन्स, कलकत्ता (१९३९-४०)।

कथा सरित्सागर—सोमदेव कवि की सन् १०६३ और १०८१ के बीच की रचना। इसमें भारतीय वणिक-पुत्रों द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया के समुद्रों में साहसिक यात्राएँ करने के अनेक वर्णन मिलते हैं, इत्यादि।

कन्नौज; पुरातत्व और कला—पुरातत्व संग्रहालय, कन्नौज, द्वारा प्रकाशित (१९७८)। सम्पादक डॉ० प्रताप नारायण टंडन।

कन्नौज (उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक केन्द्रों की पुस्तकमाला का खण्ड ४)—

लेखक, डॉ० राम कुमार दीक्षित, भूतपूर्व प्राध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय। संपादक श्री कृष्ण दत्त बाजपेयी। प्रकाशक, शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, (१९५५ ई०)।

कर्पूर मंजरी---राजशेखर कृत। Edited by Konow and Lanman Harvard Oriental Series, 1901.

कृत्यकल्पतरु---लक्ष्मीधर कृत। यह १४ बृहत खंडों (कांडों) का विशाल ग्रन्थ है जिसे महाराज गोविन्दचन्द्र के मंत्री लक्ष्मीधर ने लिखा था।

काव्य मीमांसा---रचयिता काव्यशास्त्री, कविराज और नाटककार राजशेखर (नवीं सदी)। इस ग्रन्थ के देश-विभाग नामक १७ वें अध्याय में प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। अध्याय के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने कहा है कि कवि के लिए देश और काल का ज्ञान होना नितान्त अपेक्षित है क्योंकि इसके बिना वह देश के लोक-व्यवहार, ऋतुओं आदि का सही वर्णन करने में विमूढ़ रहता है। प्राचीन कान्यकुब्ज देश की सीमा के संबन्ध में इसके कुछ अंश प्रकाश डालते हैं।

काव्य मीमांसा---हेमचन्द्र कृत, Gaekwād's Oriental Series, 1924.

कौटिल्य अर्थशास्त्र---मूल लेखक कौटिल्य जिन्हें चाणक्य अथवा विष्णुगुप्त भी कहते हैं। यह चन्द्रगुप्त मौर्य (३२२-२९८ ई० पू०) के प्रधान अमात्य बन गए थे। प्रारम्भ में कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर अधिकार करने में मदद की थी। कौटिल्य का अर्थशास्त्र संस्कृत में राजशास्त्र का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है इसका अंग्रेजी अनुवाद शामशास्त्री ने किया है (तीसरा संस्करण, मैसूर, १९२९)।

गौडवाहो---वाक्पति कृत, एस०पी० पंडित द्वारा संपादित, बम्बई, १८८७।

चचनामा---मूल ग्रन्थ अरबी भाषा में है किन्तु इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। इसमें अरबों द्वारा सिन्ध विजय का वर्णन है तथा समकालीन अन्य ऐतिहासिक बातें इसमें आई हैं। सन् ७१२ में अरबों ने सिन्ध के हिन्दू शासक चच के पुत्र दाहिर को पराजित करके सिन्ध पर कब्जा कर लिया था। ग्रन्थ का अनुवाद पहले फारसी में हुआ था और उसी से सर हेनरी इलियट तथा प्रो० डाउसन ने अंग्रेजी अनुवाद किया। चचनामा पुस्तक अलग से प्रकाशित नहीं है—वह इलियट और डाउसन की अंग्रेजी पुस्तक "भारत का इतिहास, भाग १" का एक अंश है। उसी अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद डॉ० मथुरा लाल शर्मा ने किया है और जिसका प्रकाशन शिवलाल अग्रवाल कम्पनी, आगरा ने सन् १९७३ में किया है।

तबकाते-नासिरी—एच० जी० रैवर्टी (H. G. Raverty) द्वारा अंग्रेजी में अनुदित (लन्दन, १८८१)।

तारीखे फरिश्ता—यह फारसी भाषा में मोहम्मद कासिम फरिश्ता द्वारा लिखा गया भारत में मुसलमानी शक्ति के विकास का इतिहास है। मुसलमानी आधिपत्य के पहले की भी कतिपय बातों का इसमें वर्णन है। फरिश्ता का जन्म सन् १५७० के लगभग फारस में हुआ था किन्तु वह अपने बाल्यकाल ही में अपने विद्वान पिता के साथ भारत आया और कुछ समय तक दक्षिण के अहमदनगर राज्य में रहा जहाँ उसके पिता ने अपनी विद्वत्ता के कारण शासक का संरक्षण प्राप्त किया। सन् १५८९ के लगभग फरिश्ता बीजापुर राज्य में चला गया और वहाँ के शासक सुलतान इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय के आग्रह पर और उसी की सहायता से उक्त ग्रन्थ को १६०९ में पूरा किया। सन् १८२९ में कर्नल जान ब्रिग्स (Col. John Briggs) ने चार जिल्दों में इसका अंग्रेजी अनुवाद 'भारत में मुसलमानी शक्ति के विकास का इतिहास' (History of the Rise of Mohamedan power in India) के नाम से किया। फरिश्ता का ग्रन्थ भारत के तत्कालिक इतिहास का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। (फरिश्ता वास्तविक नाम मोहम्मद कासिम हिन्दू शाह था, अपने पिता के नाम पर जो गुलाम अली हिन्दू शाह कहलाता था)।

नैषध चरित—महाकवि श्रीहर्ष विरचित। पं० शिवदत्त शास्त्री द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९१९।

पुराण—अट्ठारह पुराणों में से कई पुराणों में प्राचीन राजवंशों आदि का विवरण मिलता है। अनेक बिन्दुओं में वह विवरण ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुरूप पाया गया है अतः इस पुस्तक में उक्त पुराणों का भी यथास्थान आधार लिया गया है। प्रश्नगत पुराण निम्नांकित हैं—

१. अग्नि पुराण—इसमें भारतीय ऐतिहासिक जनश्रुतियों का सबसे पूर्ण क्रमबद्ध उल्लेख है।

२. पद्म पुराण, कुमारिका खंड:, कन्याकुब्ज माहात्म्य—कन्याकुब्ज माहात्म्य के शीर्षक से नारायण प्रसाद मिश्र (लखीमपुर-खीरी निवासी) ने एक अलग पुस्तक लिखी है जिसमें मूल संस्कृत श्लोकों का भाषा टीका भी है। यह साहित्य रत्नाकर प्रेस, कन्नौज, द्वारा प्रकाशित हुई है। इसमें कान्यकुब्ज देश तथा नगर सम्बन्धित बातों के साथ-साथ वहाँ के प्राचीन धार्मिक स्थानों का भी विवरण है जो उक्त कुमारिका खंड पर आधारित है।

३. ब्रह्म पुराण—इसमें भी कतिपय ऐतिहासिक बातें मिलती हैं।

४. भविष्य पुराण—इसमें प्राचीन राजाओं, राजवंशों आदि का विस्तृत विवरण है। कान्यकुब्ज देश के शासकों का जो वर्णन इसमें उल्लिखित है वह बहुत अंशों में ऐतिहासिक तथ्यों के अनुरूप है।

५. मत्स्य पुराण—इसका मूल भाग काफी पुराना है और वह चौथी सदी ई० में वर्तमान था। उसका अब का रूप बाद का है। इसमें अन्य बातों के अतिरिक्त भारतीय राजाओं की वंशावलियाँ दी गई हैं। आधुनिक शोधों से प्रमाणित हुआ है कि यह वंशावलियाँ अधिकांश में शुद्ध हैं।

पुरुष-परीक्षा—विद्यापति कृत, नेरुर्कर (Nerurkar) द्वारा सम्पादित व अनुदित (अंग्रेजी में), बम्बई, १९१४।

पूर्व-मध्य कालीन भारत—लेखक वासुदेव उपाध्याय। प्रकाशक, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

पृथ्वीराज रासो (या चन्द-रायसा)—रचयिता चन्दबरदाई जो पृथ्वीराज चौहान (११७०-९०, शासनकाल) का दरबारी कवि था। बाद में चारणों ने इस ग्रन्थ में कुछ अंश जोड़ कर इसकी आकारवृद्धि कर दी। अब इसमें लगभग सवा लाख छन्द मिलते हैं। महाराज पृथ्वीराज के जीवन, कन्नौज के महाराज जयचन्द्र से उनकी शत्रुता, संयोगिता स्वयंवर, मुसलमानों के साथ पृथ्वीराज के युद्ध, उनकी वीरगति, के बारे में इसमें बृहत् सामग्री है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार इसमें की बहुत सी बातें आधारहीन तथा पृथ्वीराज का गौरव दर्शाने के लिए कल्पनाभूत हैं। ग्रन्थ का सम्पादन एस० एस० दास ने किया है (बनारस, वाराणसी, १९०४)।

पृथ्वीराज-विजय—यह एक संस्कृत में लिखित ग्रन्थ है जिसे काश्मीर के किसी विद्वान ने रचा था जिसका नाम ज्ञात नहीं है। यह सन् ११७८ से १२०० के बीच में लिखा गया था कदाचित् सन् ११९१ के बाद। पृथ्वीराज के बारे में इसमें उल्लिखित बातें चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो से अधिक प्रमाणिक सिद्ध हुई हैं।

प्रबन्ध कोश—रचयिता जैन कवि राजशेखर सूरि जिन्होंने इस ग्रन्थ को सन् १३४८ के लगभग समाप्त किया। यह विद्वान उन कवि और नाटककार राजशेखर से भिन्न हैं जो कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार शासकों के राजाश्रय में थे और जो महेन्द्रपाल प्रतिहार (८९०-९१० ई०) के गुरु भी थे।

प्रबन्ध-चिन्तामणि—मेरुतुंग कृत। अंग्रेजी में अनुवाद सी० एच० तावने द्वारा (C. H. Tawney), कलकत्ता, १८९९।

प्रभावक-चरित—एच० एम० शर्मा द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९०९।

प्राचीन भारत—लेखक डॉ० राजबली पाण्डेय, भूतपूर्व प्राचार्य तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, आदि। नन्द किशोर एण्ड संस, वाराणसी, १९६८।

प्राचीन भारत का इतिहास, भाग २ (६०० ई० पू० से ६०० ई० तक)—लेखक डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी (रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) कैलाश प्रकाशन, लखनऊ (१९७६)।

प्राचीन भारतीय शासन पद्धति—लेखक प्रोफेसर अनन्त सदाशिव अलतेकर, भूतपूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास और संस्कृति विभाग, काशी तथा पटना विश्वविद्यालय एवं निदेशक काशी प्रसाद जायसवाल अनुशोधन संस्थान, पटना। प्रकाशक, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद (१९५९)।

भागवत—महर्षि वेदव्यास कृत। सम्राट बलि (जिनकी राजधानी कन्नौज थी) तथा भगवान वामन की कथा श्रीमद्भागवत पर ही आधारित है।

भारतीय इतिहास कोश— A Dictionary of Indian History का हिन्दी रूपान्तर। मूल लेखक सच्चिदानन्द भट्टाचार्य (१९६७ ई०), भूतपूर्व प्राध्यापक, इतिहास, प्रेसीडेन्सी कालेज, कलकत्ता। हिन्दी रूपान्तर उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति, लखनऊ, द्वारा सन् १९७६ में प्रकाशित हुआ। इसमें आदिकाल से लेकर सन् १९६५ तक समय के प्रमुख व्यक्तियों, स्थानों और घटनाओं की चर्चा की गई है।

भारतीय राजनीति का इतिहास—लेखक स्वामी विद्वतानन्द। प्रकाशक राजबहादुर सिंह चन्देल, वकील हरदोई (१९५८)। पुस्तक का प्रथम भाग रामायण काल से सम्बन्धित है।

भारतीय संस्कृति और कला—लेखक वाचस्पति गैरोला। प्रकाशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ (१९७३)।

महाभारत—वेदव्यास कृत। गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा छः जिल्दों में प्रकाशित। पौराणिक काल के इतिहास की अनेक बातें इसमें मिलती हैं।

मंजुश्री मूलकल्प—गनपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम्, १९२५।

रम्भामंजरी—नयचन्द्र कृत नाटक। इसमें गोविन्दचन्द्र तथा जयचन्द्र के बारे में कुछ जानकारी मिलती है।

राजतरंगिणी—संस्कृत में लिखित प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ। इसकी रचना कश्मीर के विख्यात विद्वान् कल्हण ने लगभग ११५० ई० में की। इसमें प्राचीन काल से चले आ रहे कश्मीर के शासकों का पद्यबद्ध इतिहास है। कश्मीर के इतिहास से सम्बन्धित अन्य राजाओं का भी इसमें वृतान्त है। सन् १००६ तक

की घटनाओं का विवरण इसमें मिलता है। कन्नौज के सम्बन्ध में भी इसमें कतिपय बातें हैं। संस्कृत साहित्य में राजतरंगिणी के समान ऐतिहासिक दृष्टि से रचा गया अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। कन्नौज के बाणभट्ट विरचित हर्षचरित का स्थान इसके बाद आता है क्योंकि उसमें केवल कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन का ही इतिहास है।

राजतरंगिणी का अंग्रेजी अनुवाद सर आरेल स्टीन (Sir Aurel Stein) ने किया है। (लन्दन, १९००)।

राजपूत राजवंश (प्राचीन भारत का इतिहास)—लेखक डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी, रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय। कैलाश प्रकाशन, लखनऊ (१९७०)।

रामायण--बाल्मीक कृत। इसमें पौराणिक काल का इतिहास मिलता है। कन्नौज के शासक विश्वामित्र का विवरण विशेष रूप से इसमें आता है।

सुभाषितावली--वल्लभदेव कृत। Edited by Peterson, Bombay, 1886.

हर्षचरित संस्कृत--रचयिता बाणभट्ट जो कन्नौज सम्राट हर्षवर्धन का दरबारी कवि था। ग्रन्थ की रचना लगभग ६२० ई० में की गई। हर्ष के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों का विवरण उसमें मिलता है। इसका अंग्रेजी अनुवाद कावेल और थामस (Cowell and Thomas) ने किया है (लन्दन, सन् १८९७)। बाद में (सन् १९०९ में) इसका सम्पादन फुहरर महोदय ने किया जो बम्बई से प्रकाशित हुआ था।

Works in English

ALTEKAR, A. S.,....*Rashtrakutas and Their Times* Poona, 1934.

BARNETT, L. D.....*Antiquities of India, London* 1913.

BASAK, RADHA GOVIND, *History of North Eastern India*, Calcutta, 1934.

BEAL, SAMUEL,....*Hwvi-li' s Life of Yuan Chwang*. London, 1917.

BRIGGS, JOHN,....*Rise of the Mahomedan Power in India* (Tarikh-i-Firishta). Newal Kishore Press, Lucknow. 1905.

CORPUS INSCRIPTIONUM INDICARUM, Volume III. Published by Director General of Archeological Survey of India. Some ancient inscriptions concerning Kanauj were published in it. In 1892, the publication of the C. I. I. was Stopped and its place was taken by the Epigraphia India.

ELLIOT (SIR HENRY) and DOWSON (Prof. J.)....*History of India as told by its own Historians.* The book has been translated into Hindi by Dr. Mathura Lal Sharma and published by Shiva Lal Agrawal & Co., Agra, 1972. The English version contains the translation of the following Persian works :

- कामिल-उत्-तवारीख, इब्न नसीर कृत (उद्धरण);
- तबकाते-अकबरी, निजामउद्दीन कृत;
- ताजुल-मासीर, हसन निजामी कृत;
- तारीख-ए-यामिनी, अल उतबी (या मीर खोंद) कृत;
- रौजत-उस्-सफा, मीर खोंद (या खोंद मीर) कृत।

EPIGRAPHIA INDICA....Published by Director General of Archeological Survey of India in Several volumes, containing the historic Indian inscriptions in photo-copies with their edited versions in print and English translations.

GAZETTER OF INDIA....Imperial Gazetteer, Volumes VI and XIV. (Government of India publication).

GAZETTEERS of the districts of :

Farrukhabad;
Fatehpur;
Jaunpur;
Kanpur;
Mirzapur.
(Published by U. P. Government, previously Government of North-Western provinces).

GENSE, JAMES S.,....*History of India (From the earliest times to the present day)*. Published by J. H. Collins for Macmillan & Co., Bombay (1954 reprint).

HOLDICH, SIR THOMAS HUNGERFORD, ...*India*. The author was Deputy Superintendent, Survey of India. Published by Light & Life Publishers, New Delhi (Indian Reprint, 1975).

INDIAN ANTIQUARY....A journal devoted to ancient Indian history, publishing research papers of learred historians. Articles on old iniscriptions (on copper-plates, stones, etc.) are also published.

MAJUMDAR, R. C.,....*An Advanced History of India*. Calcutta, 1922

MAJUMDAR R.. C.,....*Ancient India*. The author was Principal, College of Indology, Varanasi Hindu University Published by Motilal Banarsi Das, Varanasi, 1952.

MAJUMDAR, R. C.,....*Corporate Life in Ancient India*. Calcutta, 1922.

MUKERJI, PROF RADHA KUMUD,....*Fundamental Unity of India*. The author was Professor of History, Lucknow University. Published by Longmans Green & Co., London, 1914.

MUKERJI, PROF. RADHA KUMUD.,....*Harsha*. Oxford, 1926.

NIYOGI, Dr. (MISS) ROMA.,....*History of the Gaharvala Dynasty*. Calcutta, 1959.

PANIKAR, K. M.,....*Harsha (or Sri Harsha) of Kanauj*. Bombay, 1922.

PIRES, EDWARD A., ...The Maukharis, Madras, 1934.

POWELL-PRICE, J. C.,....*History of India*. The author was a member or the Indian Educational Service who

retired as Director or Public Instruction (now Director of Education), U. P. Published by Nelson & Sons, London, 1955.

PURI, Dr. BAIJ NATH.....*History of the Gurjar Pratiharas.* Published by Hind Kitab, Bombay, 1957.

RAY, H. C.,....*Dynastic History of Northern India.* Volumes I and II (1931 and 1936 respectively). Calcutta

SRIVASTAVA, BIRESHWAR NATH,,....*History of MAUKHARIS of Kanauj during Seventh Century, A. D.* Published .by U. P. Historical Society, Lucknow.

TOD, COLONEL JAMES,....*Annals and Antiquities of Rajasthan.* Edited by Crooke. Oxford University Press, 1920.

TRIPATHI, Dr RAMA SHANKAR,....*History of Kanauj.* Published by Motilal Banarasi Das, Delhi, Varanasi; 1937 (First edition). Photo-process impiression, 1959.

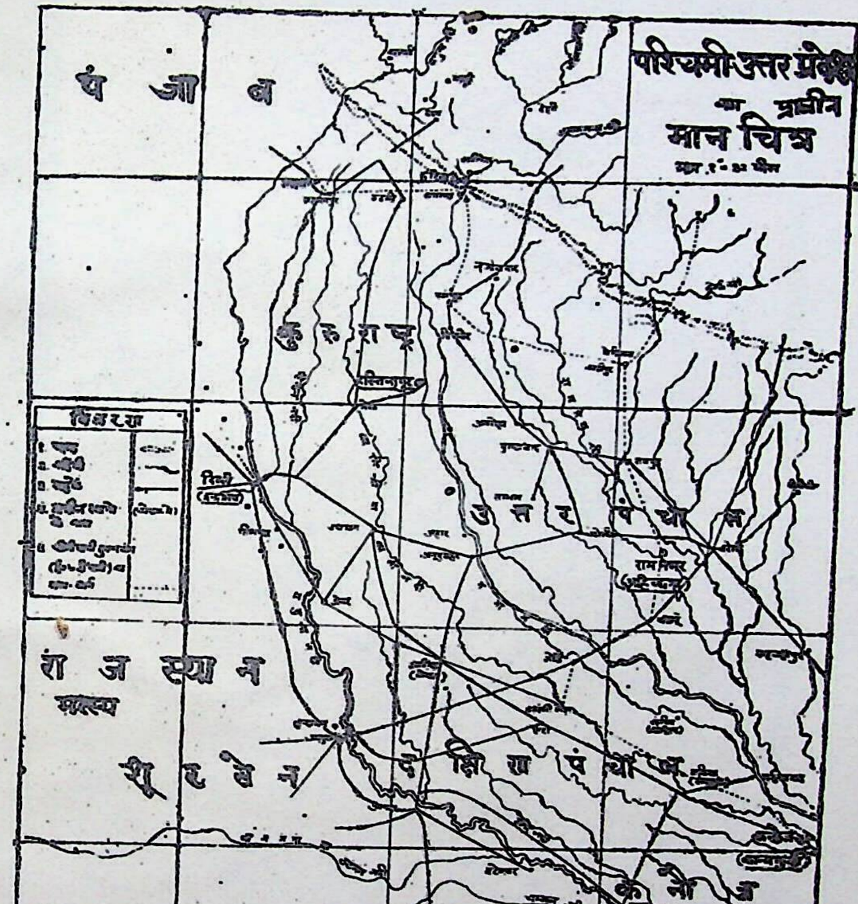
VAIDYA, C. V.,....History of Mediaeval Hindu India, Volumes I, II and III (1921, 1924 and 1926 respectively). Poona.

WATTERS, THOMAS,....On yuan Chwang (Si-yu-Ki), 1904.

परिशिष्ट १०

चित्र संग्रह

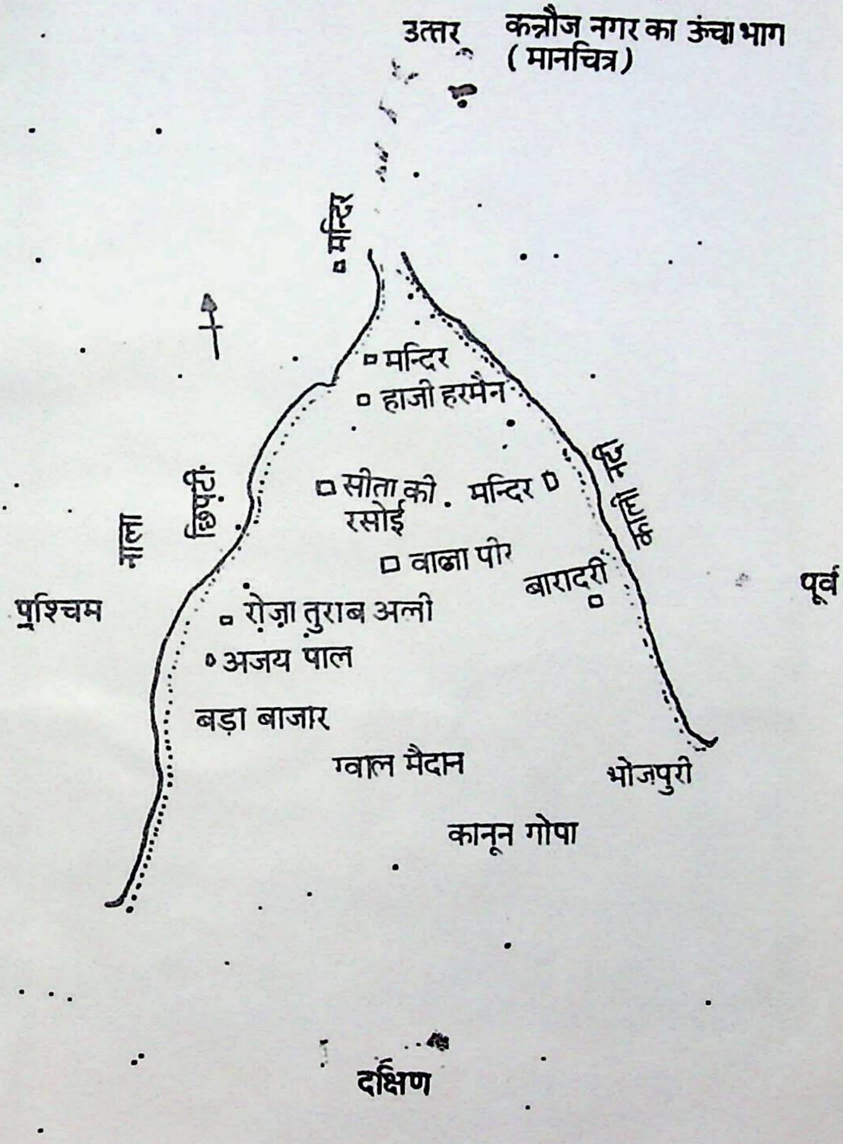
[इस संग्रह में मानचित्र, प्राचीन मूर्तियों के चित्र तथा कुछ अन्य चित्र संगृहीत हैं]



पश्चिमी उत्तर प्रदेश का प्राचीन मान चित्र



INDIA
750-1175 A.D.

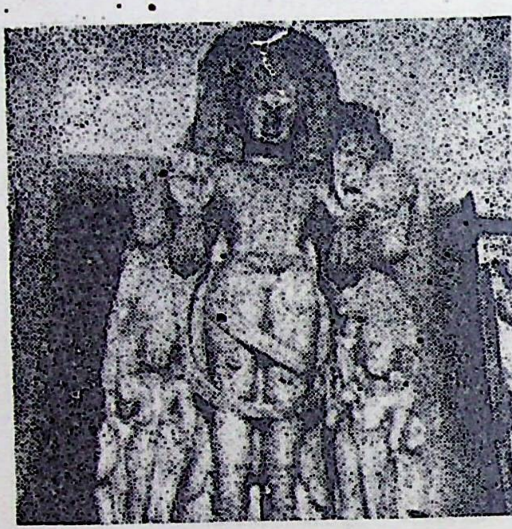

कन्नौज नगर का ऊंचा भाग
(मानचित्र)
उत्तर
मन्दिर
मन्दिर
हाजी हरमैन
सीता की रसोई
मन्दिर
वाला पीर
बारादरी
काली नदी
नाला
पश्चिम
रोज़ा तुराब अली
अजय पाल
बड़ा बाजार
ग्वाल मैदान
भोजपुरी
कानून गोपा
पूर्व
दक्षिण



पृथिवी का उद्धार करते हुए वीर भाव में वराह की मूर्ति;
समय—लगभग ७०० ई० (कनौज)



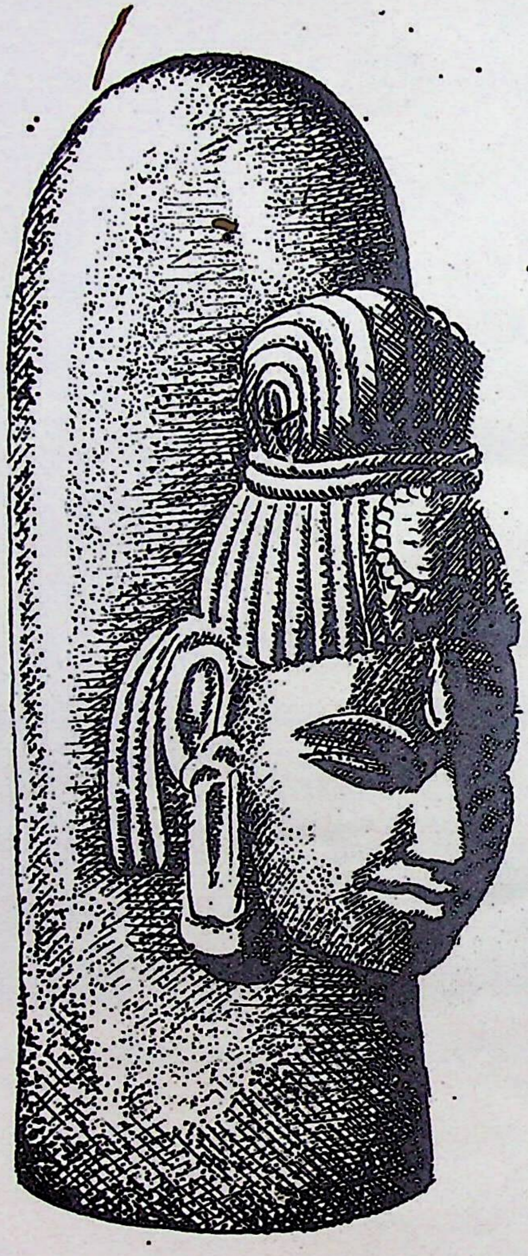
चतुर्मुख शिवलिंग; बायीं ओर जटाजूट सहित शिव का मस्तक तथा दायीं ओर अलंकृत केश-संभार युक्त पार्वती का सिर है; ई० सातवीं शती (कनौज)



ख—चतुर्मुख शिवलिंग; सामने हाथों में सनाल कमल लिये सूर्य की मूर्ति है, ई० आठवीं शती (कनौज)



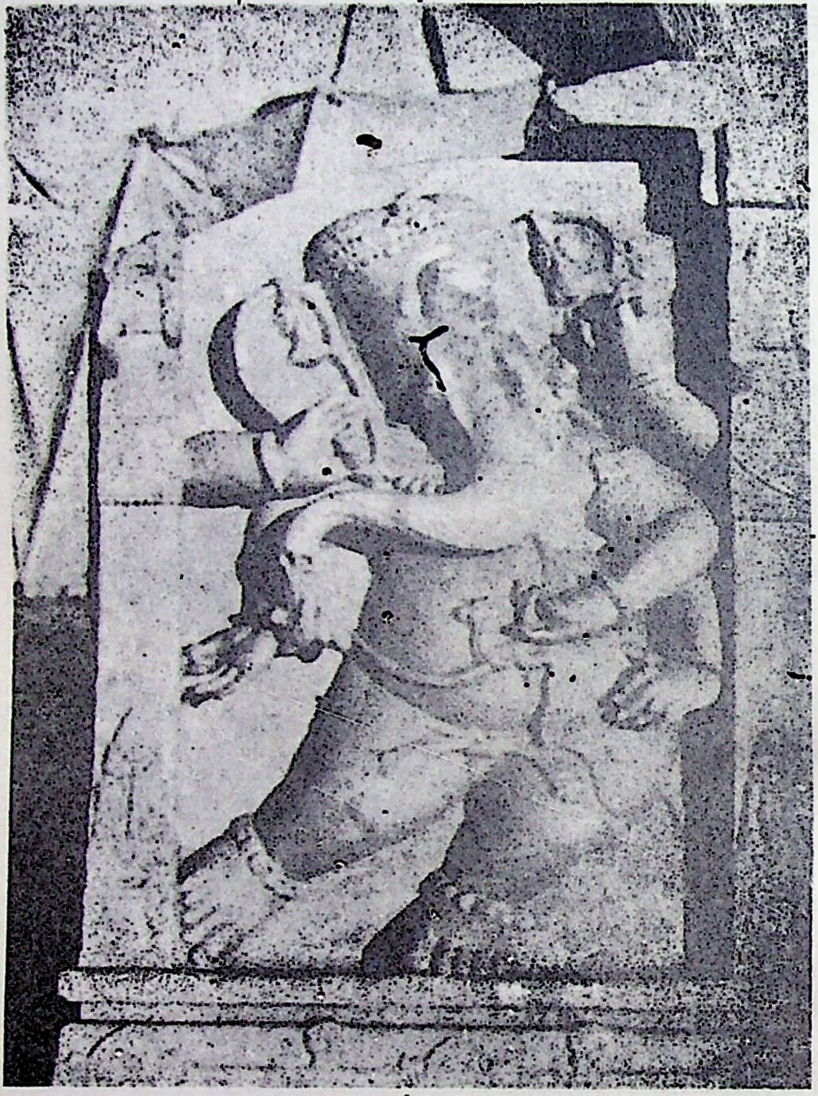
सामने की ओर पार्वती-मस्तक सहित चतुर्मुख शिवलिंग (कनौज)



एक मुख शिवलिंग, ई० आठवीं शती (कनौज)



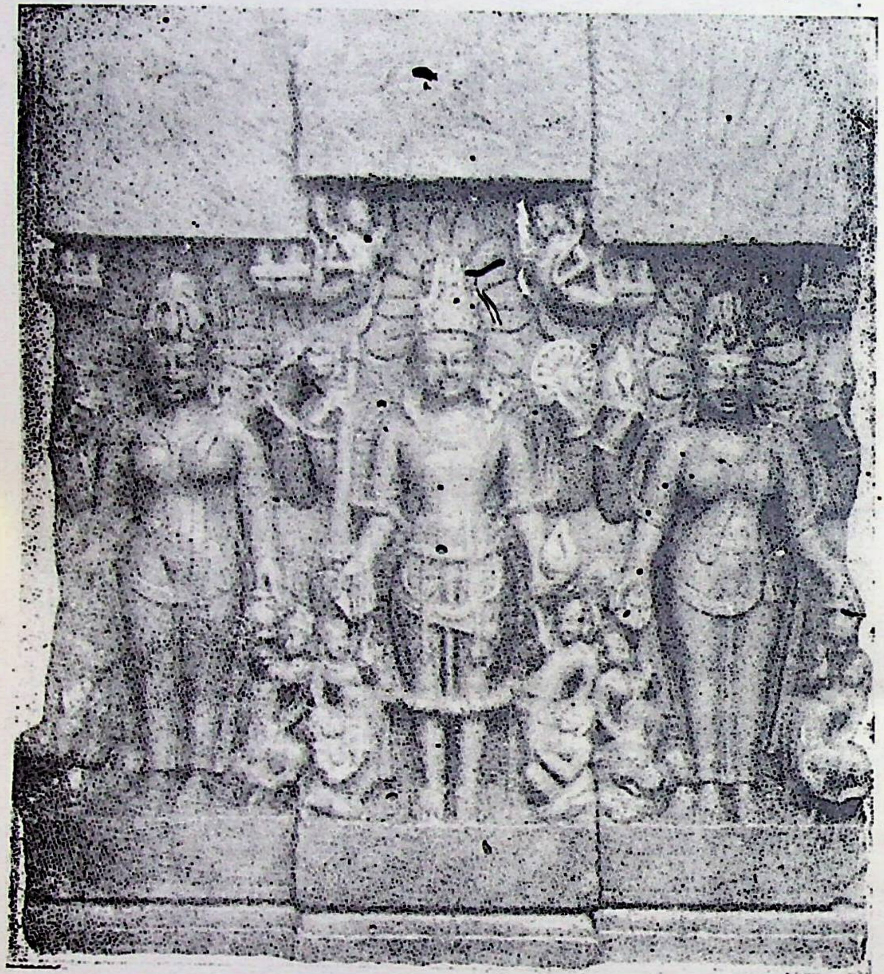
कल्याणसुन्दर मूर्ति—शिव-पार्वती परिणय; ई० आठवीं शती (कनौज)



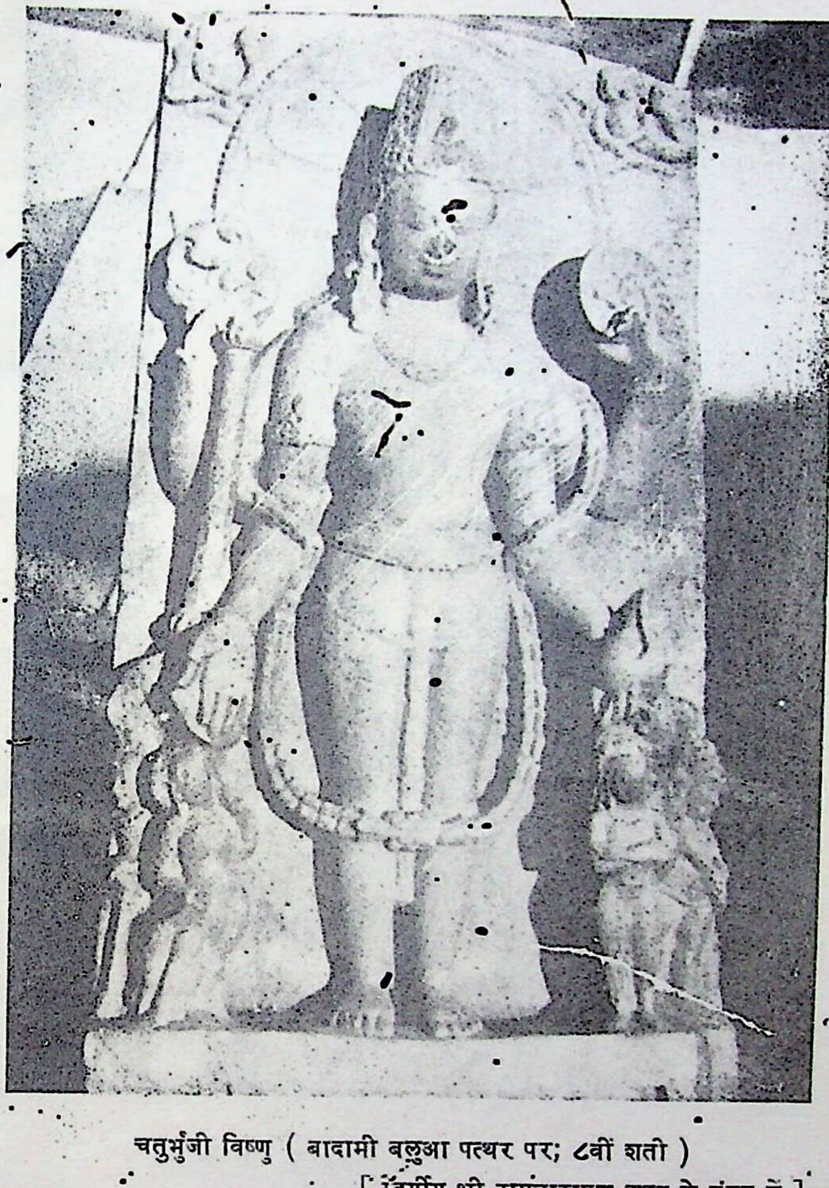
नृत्य करते हुए चतुर्भुज गणेश [पूर्व मध्य काल]



विविध आयुधधारी विष्णु का विराट रूप [ई० ८वीं शती; (कनौज)]



श्री तथा भूदेवी के साथ खड़े विष्णु-समय—आठवीं शती (कनौज)

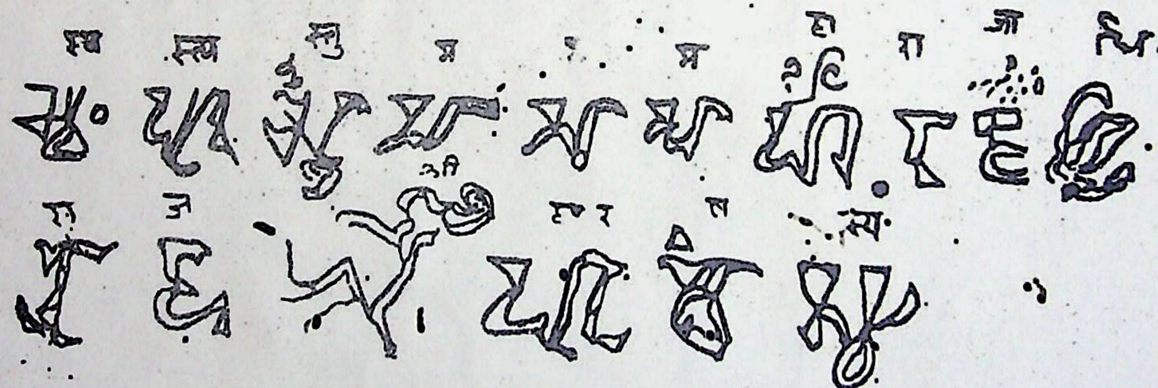


चतुर्भुजी विष्णु (बादामी बलुआ पत्थर पर; ८वीं शती)

[स्वर्गीय श्री रामनारायण कपूर के संग्रह में]



मयूरारुढ़ कार्तिकेय का अभिषेक [७वीं शती ई०]
(पटकाना मंदिर, कनौज)



[बांसखेड़ा तथा मधुवन पट्ट के लेखों के अन्त में यह हस्ताक्षर मिलते हैं जो स्वयं हर्ष द्वारा किए जाने के बाद कलाकार द्वारा उत्कीर्ण किए गए]